आपसे प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटायें नहीं, प्रयत्न करके किन्हीं सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण प्रयत्नसे आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५. आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफेपर आपका जो ग्राहक-नंबर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नंबर भी नोट कर लेना चाहिये।

६. 'श्रीरामवचनामृताङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग जल्दी-से-जल्दी भेजनेकी चेष्टा करेंगे, तो भी सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो-तीन सप्ताह तो लग ही सकते हैं। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें 'विशेषाङ्क' ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार जायगा। यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७. 'कल्याण'—व्यवस्था-विभाग, 'कल्याण'—सम्पादन-विभाग, 'कल्याण-कल्पतरु' (अंग्रेजी), 'साधक-सङ्घ' और 'गीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ'के नाम गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये तथा उनपर 'गोरखपुर' न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८. किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका चंदा समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल इस विशेषाङ्कका ही मूल्य रु० ८.५० (आठ रुपये पचास पैसे) है।

९. जिन ग्राहकोंका सजिल्दका मूल्य आया हुआ है, उनको यदि वर्तमान परिस्थितिवश सजिल्द अङ्क जानेकी सम्भावना नहीं होगी तो अजिल्द विशेषाङ्क भेज दिया जायगा और जिल्द-चार्ज मनीआर्डरद्वारा लौटा दिया जा सकेगा। इस बार 'विशेषाङ्क'के प्रकाशनमें कई कारणोंसे कुछ विलम्ब हो गया है। इसके लिये हम क्षमाप्रार्थना करते हैं।

१०. आजीवन ग्राहक अब नहीं बनाये जाते हैं। अतएव कोई सज्जन आजीवन ग्राहकके रुपये कृपया न भेजें।

'कल्याण'के पुराने प्राप्य विशेषाङ्क (डाकखर्च सबमें हमारा है)

१—**हिन्दू-संस्कृति-अङ्क**—पृष्ठ-सं० ९०४, लेख-सं० ३४४, कविता ४६, संगृहीत २९, चित्र २४८, मूल्य स० रु० ६.५०।

२—**मानवता-अङ्क**—पृष्ठ-सं० ७०४, मानवताकी प्रेरणा देनेवाले सुन्दर चित्र—बहुरंगे ३९, दुरंगा १, एकरंगे १०१ और रेखाचित्र ३९, मूल्य रु० ७.५०।

३—**संक्षिप्त शिवपुराणाङ्क**—प्रसिद्ध शिवपुराणका संक्षिप्त सार-रूप है। इसमें ७०४ पृष्ठोंकी ठोस पाठ्य-सामग्री है, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, सादा १२ तथा रेखाचित्र १३८, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्दका रु० ८.७५।

४—**संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त्तपुराणाङ्क**—इसमें भगवान् श्रीकृष्णकी विविध दिव्य लीलाओंका बड़ा ही रोचक वर्णन है। पृष्ठ-संख्या ७०४, बहुरंगे चित्र १७, दोरंगा १, इकरंगे ६, रेखाचित्र १२०, मूल्य रु० ७.५०, सजिल्द रु० ८.७५।

५—**धर्माङ्क**—धर्म-सम्बन्धी विवेचनाओं, सुरुचि-पूर्ण कथाओं, सरस सूक्तियों तथा रोचक निबन्धोंसे युक्त। पृष्ठ-सं० ७००, बहुरंगे चित्र १४, दोरंगा १, सादे चित्र ४ तथा रेखाचित्र ८१, सजिल्द (कपड़ेकी जिल्द) मूल्य रु० ८.७५।

चित्र-सूची

बहुरंगा

श्रीराम-स्तवन

सुतीक्ष्ण उवाच

त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय
सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे ।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद
रामाभिराम सततं तव दासदासः ॥

मामद्य सर्वजगतामविगोचरस्त्वं
त्वन्मायया सुतकलत्रगृहान्धकूपे ।
मग्नं निरीक्ष्य मलपुद्गलपिण्डमोह-
पाशानुबद्धहृदयं स्वयमागतोऽसि ॥

त्वं सर्वभूतहृदयेषु कृतालयोऽपि
त्वन्मन्त्रजाप्यविमुखेषु तनोषि मायाम् ।
त्वन्मन्त्रसाधनपरेष्वपयाति माया
सेवानुरूपफलदोऽसि यथा महीपः ॥

विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेक-
स्त्वं मायया त्रिगुणया विधिरीशविष्णू ।
भासीश मोहितधियां विविधाकृतिस्त्वं
यद्वद्रविः सलिलपात्रगतो ह्यनेकः ॥

प्रत्यक्षतोऽद्य भवतश्चरणारविन्दं
पश्यामि राम तमसः परतः स्थितस्य ।
दृग्रूपतस्त्वमसतामविगोचरोऽपि
त्वन्मन्त्रपूतहृदयेषु सदा प्रसन्नः ॥

पश्यामि राम तव रूपमरूपिणोऽपि
मायाविडम्बनकृतं सुमनुष्यवेषम् ।
कंदर्पकोटिसुभगं कमनीयचाप-
बाणं दयार्द्रहृदयं स्मितचारुवक्त्रम् ॥

सीतासमेतमजिनाम्बरमप्रधृष्यं
सौमित्रिणा नियतसेवितपादपद्मम् ।
नीलोत्पलद्युतिमनन्तगुणं प्रशान्तं
मद्भागधेयमनिशं प्रणमामि रामम् ॥

जानन्तु राम तव रूपमशेषदेश-
कालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम् ।
प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव
रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे ॥

*

सुतीक्ष्ण बोले—हे अनन्त-गुण अप्रमेय सीतापते! मैं आपका ही मन्त्र जपता हूँ। हे अभिराम राम! शिव और ब्रह्मा आपके चरणोंके आश्रित हैं, आपके चरण संसार-सागरसे पार करनेके लिये सुदृढ़ पोत (जहाज) हैं। हे नाथ! मैं सर्वदा आपके दासोंका दास हूँ। आप समस्त जंगम जीवोंकी इन्द्रियोंके अविषय हैं; तथापि इस मल-मूत्रके पुतले शरीरके मोह-पाशमें जिसका हृदय बँधा हुआ है, ऐसे मुझ दीनको अपनी ही मायासे मोहित होकर पुत्र-कलत्र और गृह आदिके अन्धकूपमें पड़ा देखकर आप स्वयं ही (मुझे उस अन्धकूपसे उबारनेके लिये) पधारे हैं! आप समस्त प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं; तथापि जो लोग आपके मन्त्रजापसे विमुख हैं, उन्हें आप अपनी मायासे मोहित करते हैं और जो उस मन्त्रके जापमें तत्पर हैं, उनकी माया (आपकी कृपासे अनायास) दूर हो जाती है। इस प्रकार राजाके समान आप सबको उनकी सेवाके अनुसार फल देनेवाले हैं। हे ईश! वास्तवमें एकमात्र आप ही इस विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण होते हुए त्रिगुणमयी मायाके कारण ब्रह्मा, विष्णु और महादेवके रूपोंमें भासते हैं; आप ही मुग्धचित्त पुरुषोंकी दृष्टिमें (मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) नाना प्रकारकी आकृतियोंसे प्रतीत हो रहे हैं, जिस प्रकार जलके पात्रोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे सूर्य अनेक होकर भासता है। हे राम! आप अज्ञानसे सर्वथा परे हैं। तथापि आपके चरणकमलोंको आज मैं

याद रक्खो—भगवान् श्रीराम उत्पत्ति-स्थिति-संहारकारिणी, सर्वक्लेश-शोक-हारिणी, सर्वश्रेयस्करी, परमानन्दमयी नित्य निरवद्य अनुपमेय अतुलनीय दिव्य श्रीसुषमामयी, सीमारहित नित्य निरतिशय सहज अखण्ड-अचिन्त्य-अनन्त गुणसमूहप्रतिमा, निजशक्तिस्वरूपा एकमात्र धर्मपत्नी श्रीजानकीजीके परम प्रियतम पति हैं। दिव्यगुणसम्पन्ना माता श्रीकौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि माताओंके आदर्श पुत्र हैं। परम सौभाग्यशाली चक्रवर्ती महाराज श्रीदशरथके सत्यरक्षक, पिताकी रुचिका अनुसरण करनेवाले आज्ञाकारी प्रणत सुपुत्र हैं। तत्त्वदर्शी, ज्ञान-विज्ञान-मूर्ति महर्षि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि गुरुओंके परम स्नेहभाजन परमादरणीय ...य-सेवा-सम्पन्न शिष्य हैं। भाग्यवान् गुहराज, वानरराज ...ीव और राक्षसेन्द्र विभीषणके आदर्श मित्र हैं। अनन्य ...स्वरूप श्रीहनुमान् आदि सेवकोंके हाथ विके हुए परम आदर्श स्वामी हैं। प्रजारञ्जनके लिये सर्वथा दोषरहित प्राणाधिका सीताका भी परित्याग करनेवाले प्रजावत्सल राजा हैं, शरणागतको सर्वस्व देनेवाले शरणागतवत्सल परम शरण्य हैं। नगण्य-से-नगण्य याचकोंकी असम्भव आकाङ्क्षाको पूर्ण करनेवाले चिन्मय ऐश्वर्यनिधि दिव्य कल्पवृक्षस्वरूप परम दाता हैं। असुर-वानर-भालू आदि पशुओं और आमिषाहारी पक्षियोंको दुर्लभ प्रीति, आश्रय और निजस्वरूपका दान करनेवाले परम वदान्यशिरोमणि हैं एवं शत्रुभावसे दुर्व्यवहार करनेवालोंको मुक्तिदान करनेवाले सहज दयालु हैं।

याद रक्खो—भगवान् श्रीराम आदर्श धर्मज्ञ, धर्मस्वरूप, धर्मसंस्थापक, धर्मरक्षक और धर्मपालक हैं। अखण्ड एकपत्नीव्रती, एक बार मुखसे निकले हुए वाक्यको परमसत्य सिद्ध करनेवाले, एक ही बाणसे दुर्दान्त असुरका उद्धार करनेवाले, परम ब्रह्मण्य, सनातनधर्म तथा गो-ब्राह्मण-रक्षाके लिये ही विविध विचित्र आदर्श लीला करनेवाले आदर्श महामानव, आदर्श सम्राट्, आदर्श लोकनायक और परमादर्श मर्यादापुरुषोत्तम हैं।

याद रक्खो—भगवान् श्रीराम ही तुम्हारे-हमारे सबके परम ईश्वर, परम आश्रय, परमगति, परम-धर्म, परम संरक्षक, परम कल्याणस्वरूप, कल्याणकारी, स्नेह-वात्सल्यपूर्ण माता-पिता-गुरु, परम आदर्श हितैषी भाई-बन्धु, अनन्त सम्पत्ति-वैभव, सत्यज्ञान-वैराग्य, अक्षय कीर्ति-यश, एकमात्र लोक-परलोक एवं सर्व-सर्वस्व हैं। श्रीराम ही तुम्हारे-हमारे परम आराध्य और परम पूजनीय हैं। श्रीराम अपनेसे अधिक अपने हैं। और श्रीराम महामहिम होते हुए ही हमारे-तुम्हारे संकोच-सम्भ्रमशून्य परम प्रेमास्पद हैं।

याद रक्खो—भगवान् श्रीराम दिव्यधाममें तो नित्य विराजित हैं ही, त्रेतायुगमें उन्होंने पुण्यभूमि भारतके परमपवित्र अवधमें प्रकट होकर आदर्श लीलाका प्रकाश किया ही था—वे आज भी यहीं हैं, सदा तुम्हारे-हमारे साथ हैं। इस सत्यपर विश्वास करो, उनका अनुभव करो, उनके दर्शन करो और उनकी वस्तु उनके समर्पण करके कृतार्थ हो जाओ।

याद रक्खो—उनका 'राम' नाम सर्वापत्तिनाशक, सर्व-सुखदाता, परम मधुर तथा परम कल्याणमय है। दिन-रात मन-ही-मन उसका स्मरण-चिन्तन-मनन करो। जीभसे दिन-रात उसी 'रामनाम'को रटो और उसी रामनाममें अपने जीवनको सर्वथा तल्लीन कर दो। तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।

'शिव'

जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी

(१)

नाम जपा संतत गणपतिने श्रद्धासे, सद्भावसे।
प्रथम पूज्य बन गये सुरोंमें परिचित नाम-प्रभावसे॥
नाम-भजनकी ही महिमासे धरा धारते शेष हैं।
ले रुद्राक्ष हाथ जपते नित नाम समोद महेश हैं॥
तारक वही मुक्तिका साधक महिमा काशीधामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(२)

नाम जपा प्रह्लाद भक्तने दृढ़तासे, विश्वाससे।
उरमें भक्ति भरे कल्याणी मन-वाणीसे, साँससे॥
पिता क्रूर करता निज शिशुपर दारुण अत्याचार था।
उसे हटाने हेतु भजनसे, करता कठिन प्रहार था॥
बाल न बाँका हुआ कृपासे उसका करुणाधामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(३)

हाथी हटे, भुजंगम भागे, कृत्या भी बेकार थी।
गिरिसे गिरा, डुबाया सागरमें, शस्त्रोंकी मार थी॥
चली जलाने 'हरिबोला' को होला जलकर राख थी।
उठा खड्ग ले स्वयं दैत्य तब, उसके मनमें माख थी॥
प्रकट खंभसे हो नरहरि बन उसकी क्रिया तमाम की।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(४)

रामनामकी ज्योति जगायी, उर सुतीक्ष्ण मुनि धीरने।
जिनकी प्रेमदशा देखी थी निकट खड़े रघुवीरने॥
मुनि शरभङ्ग अभङ्ग भावसे जपते थे नित नामको।
तन तजकर सम्मुख रघुवरके गये उन्हींके धामको॥
नाम-भजनमें लगी रहे जो, वही जिंदगी कामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(५)

नाम-भजनपर खग जटायुका रहा सदा ही ध्यान था।
दिया रीझ रघुवरने जिनको पिता-तुल्य सम्मान था॥
राम-काजमें किया गीधने निज तनुका बलिदान था।
स्वयं श्राद्धकर जिन्हें रामने निज पद किया प्रदान था॥
उतरा भवसे पार, शरण ली जिसने रघुपति-नामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(६)

शबरीने भी किया नामजप सदा भावसे, भक्तिसे।
खिंच आये रघुवीर वहाँ जिसकी निर्मल अनुरक्तिसे॥
भोग लगाये प्रभुने जूठे बेर भीलनीके दिये।
धन्य हो गयी अधम जाति वह, अमर सर्वदाके लिये॥
शबरी हुई वरिष्ठ नारियोंमें करुणासे रामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(७)

वायुपुत्रने रामनामका भजन किया सद्भावसे।
हुआ असम्भव भी था सम्भव जिसके अमित प्रभावसे॥
कपिके अद्भुत उपकारोंसे ऋणी हुए श्रीराम थे।
रोम-रोममें उर-अन्तरमें उनके सीताराम थे॥
नाम-भजन हित अमर हुए वे तज तृष्णा सुरधामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

(८)

भीषण लङ्का बीच विभीषण बसे सहारे नामके।
दीवारोंमें घरकी अङ्कित अक्षर रघुवर रामके॥
साक्षी थे हनुमान, डिगे वे कभी न रामभरोससे।
उन्हें निकाला था दशमुखने लात मारकर रोषसे॥
रावण मरा, विभीषण राजा हुए कृपासे रामकी।
जय बोलो रघुवर-भक्तोंकी, जय बोलो हरिनामकी॥

—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम'

आराम चाहिये तो रामको हृदयमें विराजित कीजिये

(लेखक—ब्रह्मलीन गोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु अनन्तश्री शंकराचार्य स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

जब नलके हाथसे फेंके हुए पत्थर आदिसे समुद्रपर सेतुके बन सकनेकी आशा होने लगती है और भगवान् श्रीरामको यह खबर मिलती है, तब भगवान् स्वयं जाकर उस अद्भुत दृश्यको देख नलसे पूछते हैं—'नल ! तुमको यह महिमा कहाँसे मिली ?' वह कहता है—'भगवन् ! आपके ही नामोच्चारणके प्रतापसे यह काम हो रहा है ।' तब भगवान्ने अपने ही हाथसे एक पत्थर समुद्रमें फेंका और जब वह डूबने लगा, तब भगवान्ने फिर पूछा—'नल ! मेरे नामके प्रभावसे जो कार्य तुमसे हो सकता है और हो रहा है, वह मेरे हाथसे क्यों नहीं होता ?' तब नलने शब्द-श्लेषसे बड़ा ही चमत्कारी उत्तर दिया—'भगवन् ! आप तो त्रिलोकीके नाथ हैं । पत्थरकी तो बात ही कौन-सी है, साक्षात् देवेन्द्र भी अगर आपके हाथसे फेंक दिया जायगा तो वह तो अवश्य डूबेगा ही । जिसको आपने हाथसे फेंक दिया, वह कैसे बच सकता है ।'

यस्तु रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति । निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हति ॥

अर्थात् जो (भक्ति और प्रेमके भावसे) रामको नहीं देखता तथा जिसको (दया तथा सौहार्दकी दृष्टिसे) राम नहीं देखते, वह तो दुनियामें और अपनी दृष्टिमें भी घृणित ही होगा ।

इस उपाख्यानमें यद्यपि 'डूबने' शब्दपर किये हुए शब्द-श्लेषके चमत्कारसे लाभ उठाया गया है, तो भी तात्पर्य तो सिद्धान्तरूपसे यही निकलता है कि जो मनुष्य भगवान्‌को अपने हृदयसे फेंककर भगवान्‌के हाथमें (या वशमें अर्थात् सेवामें) नहीं रहता, वह तो भगवान्‌के हाथसे छूट जानेपर, भगवान्‌के हाथसे छोड़े हुए पत्थरकी भाँति (संसाररूपी या अज्ञानरूपी) महासमुद्रमें एकदम डूब ही जायगा, वह कभी बच नहीं सकता ।

अतएव हमलोगोंको चाहिये कि हम अपने हृदयरूपी सिंहासनको बिल्कुल खाली तथा शुद्ध करके उसपर भगवान्‌को बिठा दें; फिर भगवान्, जो केवल भक्तवत्सल ही नहीं हैं, बल्कि वे तो स्वयं अपनेको भक्त-भक्त और भक्त-पराधीन बतलाते हैं, वे तो अपनी ही इन—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'
'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ।'
'तेषां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।' —इत्यादि

—प्रतिज्ञाओंको अवश्य पूर्ण करेंगे और स्वयमेव ही हमारे पापों तथा तज्जन्य दुःखोंको—सब प्रकारके भयोंको दूर करके हमारे योगक्षेमके भारको अपने कंधोंपर वैसे ही उठा लेंगे, जैसे उन्होंने प्रह्लाद, सुग्रीव, द्रौपदी, मीराँबाई आदि अपने भक्तोंके भारको बारंबार उठाया था ।

× × × × ×

हम सभी दुःखोंसे मुक्त होकर शान्ति और आनन्दसे रहना चाहते हैं; परंतु शान्तिरूपिणी सीताजी आत्मारामरूपी रामको छोड़कर दूसरे किसीके साथ कभी नहीं रह सकतीं और—

'अशान्तस्य कुतः सुखम् ।'

—बिना शान्तिके आनन्द भी नहीं रह सकता; इसलिये हम संस्कृत और हिंदीके एक अति सरल शब्द-श्लेषसे लाभ उठाते हुए यह कहते हैं कि 'हे कल्याण-पाठको और कल्याणाकाङ्क्षी सज्जनो ! यदि तुम

आराम चाहते हो तो मनसे, वाणीसे और अपने कामसे खूब जोरसे कहो 'आ राम !' अभी तो 'जा राम' 'जा राम' कहते रहते हो, अर्थात् अपने हृदयके भीतर रामको स्थान नहीं देते तो राम कैसे आ सकता है अर्थात् 'आराम' कैसे हो सकता है।

अतएव अगर चाहते हो 'आराम', तो मनसे चाहो-'आ राम', वाणीसे कहो 'आ राम' और फिर पाते रहो 'आराम'—

जय भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी ॥

तीर्त्वा मोहमहार्णवं स्थिरनिजानन्देप्सया रावणं हत्वा काममुखासुरवृताहंकारलङ्काधिपम् ।
भूयः प्राप्य विचाररूपहनुमत्पूर्वेक्षितां प्रेयसीं सीतां शान्तिनिजाकृतिं विजयते ह्यात्माभिरामो हरिः ॥

(संकलित

शरण्य भगवान् श्रीरामके दिव्य गुण

(लेखक—श्रीकाञ्चीपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजाचार्य वैकुण्ठवासी अनन्तश्री श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

मोक्षरूप परमपुरुषार्थ-सिद्धिके लिये जो शरणागति की जाती है, वह यदि आवश्यक समस्त गुणपू व्यक्तिके प्रति की जाय, तभी सफल होती है; अन्यथा वह श्रीरामचन्द्रजीकी समुद्रदेव-शरणागति के समान निष्फल होती है। श्रीरामकृत समुद्र-शरणागतिके निष्फल होनेका कोई कारण है तो यही है और कोई नहीं। श्रीरामचन्द्र भगवान्ने जो समुद्रकी शरणागति की थी, उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं दिखायी जा सकती। उसमें करनेवालेकी ओरसे कोई अभाव नहीं बतलाया जा सकता। परं शरण्यमें जिन गुणोंका होना अत्यावश्यक है, समुद्रमें उन गुणोंके अभावके कारण ही वह शरणागति निष्फल हुई। अतएव मोक्षार्थ-शरणागति जिन परमात्माके प्रति करनी चाहिये, उनका समस्त गुणपूर्णत्व श्रीरामायणमें विस्तारके साथ वर्णित हुआ है। श्रीरामरूपसे अवतीर्ण परमात्मा श्रीमन्नारायण के गुणोंका वर्णन श्रीरामायणभरमें सर्वत्र ही मिलेगा।

वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य, ज्ञान, शक्ति आदि जिन मुख्य गुणोंकी आवश्यकता शरण्यमें होत है, उनका श्रीरामचन्द्र भगवान्में पूर्णरूपसे होना श्रीरामायणमें अनेक स्थलोंमें स्पष्ट वर्णित है।

वात्सल्यगुण—दोषभोग्यत्व या दोषादर्शित्वको कहते हैं, दूसरोंके दोषोंको गुणके रूपसे ग्रह करना अथवा दोषोंको न देखना—यही वात्सल्य है। युद्धकाण्डके १८वें सर्गमें भगवान् श्रीरामचन्द्रज कहते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम् ॥

'जो मित्रभावसे आये, उसको मैं किसी हालतमें नहीं छोड़ सकता; उसका चाहे कोई दोष क्यों न हो, सत्पुरुषोंके लिये वह निन्दनीय नहीं है।' यह उक्ति श्रीरामचन्द्र भगवान्के वात्सल गुणका प्रमाण है।

महान् पुरुषका अपनेसे छोटे पुरुषोंके साथ अभिन्न भावसे मिलनसार स्वभावका नाम 'सौशील्य है। यह गुण श्रीरामचन्द्रजीमें वर्तमान था। इसके कई प्रमाण हैं। अयोध्याकाण्डमें श्रीरामके गुणों वर्णन करते हुए अयोध्यावासी जन दशरथके सामने कहते हैं—

संग्रामात्पुनरागम्य कुञ्जरेण रथेन वा । पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति ॥
व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः । उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति ॥

'श्रीराम सदा (प्रतिवार) जब रणयात्रासे लौटकर आते हैं, तब नगरवासियोंसे स्वजनके समान कुशल-प्रश्न करते हैं। वे नगरवासियोंके दुःख देखकर स्वयं दुःखित हो जाते हैं तथा उनके उत्सवमें जैसे पिता पुत्रके उत्सवमें संतुष्ट होता है, वैसे संतुष्ट होते हैं।'

निषाद गुहके साथ श्रीराम किस प्रकार मिलते थे, यह बात-'भुजाभ्यां साधु पीनाभ्यां पीडयन्वाक्यमब्रवीत्' इस श्लोकसे स्पष्ट हो जाती है। अपनी भुजाओंसे वे गुहको आलिङ्गन करते थे। श्रीविभीषणको अङ्गीकार करनेके पश्चात् उनके साथ भी भगवान् श्रीरामचन्द्र इसी प्रकार मिले थे—'इति ब्रुवाणं रामस्तु परिष्वज्य विभीषणम् ।' विभीषणका भी आलिङ्गन रामचन्द्रने किया था। यह 'सुशीलता'का ही कार्य है।

श्रीरामचन्द्रका 'सौलभ्यगुण' सर्वविदित है । 'सर्वदाभिगतः सद्भिरदीनात्मा विचक्षणः ।' यह श्लोक सौलभ्यगुणका प्रमाण है। इसमें कहा गया है कि सत्पुरुष सर्वदा उनके पास पहुँचते रहते थे।

भगवान् श्रीरामचन्द्रका 'ज्ञान' 'बुद्धिमान्नीतिमान्वाग्मी,' 'यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः,' 'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः,' 'सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्' इत्यादि स्थलोंमें उल्लिखित हुआ है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रकी शक्ति—अघटितघटनासामर्थ्य उनके चरित्रमें यत्र-तत्र देखने योग्य है। अहल्याका उद्धार, काकासुरको प्राणदान करना, जटायुको मोक्ष देना, सुग्रीवकी रक्षा करना, समुद्रको प्रक्षुभित करना, अयोध्यावासी जीवमात्रको सांतानिक लोक पहुँचाना इत्यादि कार्य उनकी शक्तिके निदर्शन हैं। (संकलित)

श्रीराम—आदर्श राजा और उनका पवित्र सुखमय राज्य

(लेखक—ब्र० स्वामीजी श्रीदयानन्दजी महाराज)

इन्द्र, कुबेर, वरुण, चन्द्र, सूर्य, यम, अग्नि, पवन—इन अष्ट लोकपालोंके अंशसे राजाका निर्माण होता है, यही आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है। इन्द्रका अंश रहनेके कारण राजामें प्रभुत्व करनेकी शक्ति आती है। कुबेरका अंश रहनेसे धन एकत्रित करनेकी शक्ति और वरुणका अंश रहनेसे आवश्यकतानुसार प्रजाको धन-दानकी शक्ति आती है। चन्द्रके अंशसे प्रजाको सुखी रखनेकी शक्ति और सूर्यके अंशसे प्रजामें ज्ञान-विद्या-प्रसारकी शक्ति आती है। यमके अंशसे न्यायानुकूल विचार-शक्ति, अग्निके अंशसे पवित्रता और पवनके अंशसे गुप्तचरद्वारा प्रजाकी कुशल जाननेकी नीति राजाको प्राप्त होती है। इस प्रकारसे अष्टगुणविभूषित राजा ही वास्तवमें प्रजारञ्जक राजा हो सकते हैं। शुक्रनीतिमें लिखा है—

यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् । अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीडाकरो भवेत् ॥

धर्मपरायण राजामें ही उपर्युक्त आठ देवताओंके अंश होते हैं, अधार्मिक राजामें असुर तथा राक्षसोंके अंश होते हैं। ऐसा राजा प्रजारञ्जक न होकर प्रजापीड़क होता है और प्रजाका सर्वनाश करके भी अपना स्वार्थसाधन करता है। इस प्रकार प्रजापीड़नका अन्तिम परिणाम क्या होता है, उसे महर्षि याज्ञवल्क्यके शब्दोंमें सुनिये—

प्रजापीडनसंतापात् समुद्भूतो हुताशनः । राज्यं कुलं श्रियं प्राणांश्चादग्ध्वा विनिवर्तते ॥

प्रजापीड़नरूपी संतापसे उत्पन्न दावानल (विद्रोहाग्नि) राजाके राज्यको, वंशको, लक्ष्मीको और प्राणोंको जलाये बिना निवृत्त नहीं होता। आज समस्त भारतवर्ष इसी घोर संतापसे संतप्त है, किंतु राम राज्यमें ठीक इससे विपरीत था। श्रीभगवान् रामचन्द्र अत्यन्त प्रजावत्सल थे। प्रजारञ्जन ही उनका एकमात्र व्रत था। प्रजाके सुखके लिये ही उनका जीवन-धारण था। संसारमें ऐसा कोई कार्य नहीं था, जो केवल प्रजारञ्जनार्थ वे नहीं कर सकते थे। उनके समस्त प्राण, समस्त सुख, समस्त पुरुषार्थ प्रजारञ्जनरूपी होमाग्नि में पवित्र घृतकी तरह होमे जा चुके थे। संसारमें ऐसा कोई नरपति नहीं मिलेगा, जो केवल प्रजारञ्जनके लिये पूर्ण निर्दोषा, परमप्रिया, पतिव्रता सीता-सी अपनी सहधर्मिणीका भी परित्याग कर दे। किंतु श्रीरामचन्द्र के जीवनमें ऐसा हुआ था। उन्होंने सब ओरके कर्तव्यको तिलाञ्जलि देकर, यहाँतक कि अपने हृदयके शुद्ध ज्ञानका भी गला घोंटकर, पूर्ण पवित्र जाननेपर भी केवल प्रजारञ्जनके लिये परम सती, परमप्रेमवती निर्दोषा सीताको वनवास दे दिया था। ये सब उनके अपूर्व जीवनमें अलौकिक मर्यादा-स्थापनके दृष्टान्त हैं उन्होंने एक समय अन्य राजाओंसे भी कहा था—

> भूयो भूयो भाविनो भूमिपालाः नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
> मद्भद्रोऽयं धर्मसेतुर्नराणां काले काले पालनीयो भवद्भिः॥

श्रीरामचन्द्रने अत्यन्त विनयके साथ राजाओंसे प्रार्थना की कि वे उनके द्वारा निर्मित धर्मसेतुकी सुरक्षा सदा करते रहें। इस धर्मसेतुकी सुरक्षाका ही प्रत्यक्ष फल एकादशसहस्रवर्षव्यापी रामराज्यमें आर्यप्रजाको प्राप्त हुआ था, जिसकी मधुर स्मृतिको आजतक भी आर्यप्रजा नहीं भूल सकी है। रामायणके युद्धकाण्डमें कहा गया है—

'श्रीरामचन्द्र महाराजके राज्यकालमें स्त्रियोंको वैधव्य-दुःख नहीं देखना पड़ता था और किसीको भी सर्पभय तथा रोगका भय नहीं था। चोर, दस्यु आदिका अत्याचार नहीं था। किसी प्रकारका उपद्रव नहीं था। वृद्ध माता-पिताको कभी अपने जीवनमें मृत पुत्रका श्राद्ध-कर्म नहीं करना पड़ता था। सभी लोग आनन्दपूर्ण तथा धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्रके धार्मिक भावका आदर्श पाकर कोई भी परस्पर हिंसामें लिप्त नहीं होता था। सहस्रों पुत्रोंके साथ सहस्रों वर्षोंतक रोग और शोकशून्य होकर मनुष्य जीवित रहते थे वृक्ष सदा ही फल-फूलोंसे सुशोभित रहा करते थे। इच्छामात्रसे ही मेघ जल बरसाते और शीतल मन्द, सुगन्ध, सुखस्पर्शी वायु बहा करती थी। अपने कर्मसे तृप्त होकर प्रजा अपने कर्ममें ही तत्पर रहती थी। सभी लोग धर्मपरायण थे, कहीं भी मिथ्या व्यवहारका प्रचार नहीं था और सभी सुलक्षणसम्पन्न थे यदि राजा-प्रजामें सच्ची राम-पूजा प्रचलित होगी तो पुनः भारतमें आदर्श क्षत्रिय नरपति और आदर्श राजभक्त प्रजा उत्पन्न हो जायगी, जिससे सबको रामराज्यका विमल सुख पुनः प्राप्त हो सकेगा—इसमें जरा भी संदेह नहीं है। यही हिंदू-समाजपर राम-पूजाके प्रभावका किंचित् दिग्दर्शन है। (संकलित

श्रीराम—मर्यादापुरुषोत्तम

(लेखक—ब्र० स्वामी श्रीविवेकानन्दजी)

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका प्रादुर्भाव अन्य सकल अवतारोंकी अपेक्षा अनेक विशेष महत्त्व रखता है। × × × × ×

आदर्श सामने होनेसे मनुष्योंकी शिक्षामें अत्यन्त सुभीता होता है। श्रीरामको सदादर्शोंका खजाना कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। उनके चरित्रसे मनुष्य सब तरहकी सत्-शिक्षा प्राप्त कर सकता है मनुष्योंकी सत्-शिक्षाके लिये जितना गुरुपदका कार्य श्रीरामचरित्र कर सकता है, उतना अन्य किसीका चरित्र नहीं कर सकता। श्रीरामका 'मर्यादा-पुरुषोत्तम' नाम इसी कारणसे पड़ा है। (संकलित)

श्रीरामके अनुकरणसे रामराज्य

(लेखक—स्व० महामना पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय)

रामायण और महाभारत हिंदुओंकी अतुल सम्पत्ति हैं। मुझे इनके अध्ययनसे बहुत सुख मिलता है। रामायणमें हिंदू-सभ्यताके जिस ऊँचे आदर्शका इतिहास है, वह सदा पढ़ने और मनन करने योग्य है। रामायणको काव्य कहना उसका अपमान करना है। उसमें तो भक्तिरसका प्रवाह बहता है, जो जीवनको पवित्र कर देता है। रामायणमें हिंदू-गृहस्थ-जीवनका आदर्श बतलाया गया है। मैं चाहता हूँ सब लोग प्रतिदिन नियमपूर्वक रामायणका पाठ करें और उसमें बतलाये हुए मार्गपर चलकर हिंदू-जातिको पुनः रामराज्यके सुख भोगनेवाली बना दें। (संकलित)

श्रीराम—देवता और मनुष्य

(लेखक—विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर)

श्रीरामचन्द्रजी जो एक ही कालमें हमारे निकट देवता और मनुष्य हैं। रामायण, जो एक ही कालमें हमारी भक्ति और प्रीतिभाजन हुई है, यह कभी सम्भव नहीं होता, यदि इस महाग्रन्थकी कविता भारतवर्षकी दृष्टिमें केवल कवियोंकी कपोल-कल्पना ही होती और वह हमारे लोक-व्यवहारके [illegible]में न आ सकती।

इस प्रकारके ग्रन्थको यदि विदेशी समालोचक अपने काव्योंके विचारके आदर्शके अनुसार अप्राकृत [illegible] तो उनके देशके सहित तुलना करनेमें भारतवर्षकी एक और भी विशेषता प्रकट होती है। [illegible]में भारतवर्षने जो चाहा, वही पाया है। (संकलित)

भगवान् श्रीरामकी तपस्या

(लेखक—स्वर्गीय श्रीसाधु टी० एल० वस्वानीजी)

यद्यपि महाभारतके समान रामायण विश्वकोष नहीं है, तथापि वह महाभारतकी भाँति ही एक महान् सांस्कृतिक धर्म-ग्रन्थ है। महाभारतके समान रामायण केवल विशिष्ट भारतीय साहित्य ही नहीं प्रत्युत यह एक मानव-धर्म-शास्त्र है।

सुदूर अतीतकी एक निष्प्राण कथाकी भाँति नहीं, वरं एक नूतन सभ्यता, नवीन भारतके पुनर्निर्माण-के लिये एक संदेश और एक सत्ता रखते हुए जीवन-पथके रूपमें इसका नये सिरेसे अध्ययन करना चाहिये।

श्रीरामजी तभी अपनी प्यारी अयोध्या—अपने घर विजयी होकर लौटते हैं, जब वर्षों तपोवनमें व्यतीत कर चुकते हैं। उन्होंने तप किया और विजयी हुए। अतः इस पुरातन धर्मशास्त्रका संदेश है—तपसः विजयम् (तपस्यासे विजय प्राप्त करो)।

बड़ी-बड़ी कलोंमें, मशीन-गनोंमें, काञ्चनकामनामें तथा विलासितामयी सभ्यताके उपकरणोंमें नहीं, केवल तपस्याकी क्रियात्मक शक्तिमें ही संसारके नवयुगकी आशाएँ निहित हैं।

भारत पतितावस्थामें है, किंतु तब भी मेरा उसमें विश्वास है। उसका अधःपतन उसी दिन हुआ, जब उसने अपनी तपस्याकी आन्तरिक भावना, अपने आदर्श तथा अपने आपको विस्मृत कर दिया।

किसी पाश्चात्य राष्ट्रके अनुकरणसे नहीं, किंतु इस चेतनासे—भगवान् रामकी इस चेतनासे ही हमारा उद्धार होगा।

श्रीरामकी चेतना नष्ट नहीं हुई है। अब भी हमारे हृदयमें उसकी आवाज सुनायी देती है—हिंसा नहीं, परोपकार नहीं, केवल तपस्या ही हमारा कल्याण करेगी। (संकलित)

सर्वसद्गुणसागर भगवान् श्रीराम

(लेखक—ब्रह्म० श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम ।
मम हिय-गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान मर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहीं हुआ, यों कहना अत्युक्ति नहीं होगा। श्रीराम साक्षात् परमात्मा थे, वे धर्मकी रक्षा और लोगोंके उद्धारके लिये ही अवतीर्ण हुए थे। उनके आदर्श लीलाचरित्रको पढ़ने, सुनने और स्मरण करनेसे हृदयमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन मुग्ध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, मनोमुग्धकारी और अनुकरण करने योग्य है। × × × श्रीराम सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, उपरामता, नीतिज्ञता, तेज, प्रेम, मर्यादा-संरक्षकता, एकपत्नीव्रत, प्रजारञ्जकता, ब्रह्मण्यता, मातृपितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, भ्रातृप्रेम, सरलता, व्यवहारकुशलता, प्रतिज्ञा-तत्परता, शरणागत-वत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्ट-विनाश, निर्वैरता, सख्य एवं लोकप्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहीं नहीं मिलता। माता-पिता, बन्धु-मित्र, स्त्री-पुत्र, सेवक-प्रजा आदिके साथ उनका जैसा आदर्श बर्ताव है, उसकी ओर ख्याल करते ही मन मुग्ध हो जाता है। श्रीराम-जैसी लोकप्रियता तो आजतक कहीं नहीं देखनेमें आयी। कैकेयी और मन्थराको छोड़कर उस समय ऐसा कोई भी प्राणी नहीं था, जो श्रीरामके व्यवहार और प्रेमके बर्तावसे मुग्ध न हो गया हो। वास्तवमें कैकेयी भी श्रीरामके प्रभाव और प्रेमसे सदा मुग्ध थी। रामराज्याभिषेककी बात सुनकर वह मन्थराको पुरस्कार देनेके लिये प्रस्तुत हुई थी। श्रीरामके गुणोंपर उसका बड़ा भारी विश्वास था। वनवास भेजनेके समय शत्रु बनी हुई कैकेयीके मुखसे भी ये सच्चे उद्‌गार निकल पड़ते हैं—

तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता।
जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू।
तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

कैकेयीका रामके प्रति अप्रिय और कठोर बर्ताव तो भगवान्‌की इच्छा और देवताओंकी प्रेरणासे लोक-हितार्थ हुआ था। इससे यह नहीं सिद्ध होता कि कैकेयीको श्रीराम प्रिय नहीं थे। देव, मनुष्य, राक्षस और पशु-पक्षी—किसीका भी रामसे विरोध नहीं था। यज्ञविध्वंसकारी राक्षसों और शूर्पणखाके कान-नाक काटनेपर खर-दूषण, त्रिशिरा, रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदिके साथ जो वैर-भाव और युद्धका प्रसङ्ग आता है, उसमें भी रहस्य भरा है। वास्तवमें रामके मनमें उनमेंसे किसीके साथ वैर था ही नहीं। राक्षसगण भी अपने सकुटुम्ब-उद्धारके लिये ही उन्हें वैर-भावसे भजते थे। रावण और मारीचकी उक्तियोंसे यह स्पष्ट है—

सुर रंजन भंजन महि भारा।
जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ।
प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा।
मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥

—रावण

मम पाछें धर धावत धरें सरासन बान।
फिरि फिरि प्रभुहि बिलोकिहउँ धन्य न मो सम आन॥

—मारीच

इससे यह सिद्ध है कि श्रीरामके जमानेमें चराचर

श्रीसीताका श्रीरामके प्रति जैसा आदर्श प्रेम था, वैसा आजतक किसीके सम्बन्धमें भी देखने-सुननेमें नहीं आया ।

श्रीरामकी मातृ-भक्ति कैसी आदर्श है ! स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करनेवाली कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानसे पूर्ण ही बर्ताव किया ।

जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आज्ञा दी, उस समय श्रीराम उसके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए बोले—'माता ! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है'—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर ॥

श्रीरामने कुपित हुए भाई लक्ष्मणसे कहा—

... मदभिषेकार्थं मानसं परितप्यते ।
माता नः सा यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्त्तमपि नोत्सहे ।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन ।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥
(वा० रा० २ । २२ । ६-८)

'लक्ष्मण ! मेरे राज्याभिषेकके संवादसे अत्यन्त परिताप पायी हुई माता कैकेयीके मनमें किसी प्रकारकी शङ्का न हो, तुम्हें वैसा ही करना चाहिये । मैं उसके मनमें उपजे हुए शङ्कारूप दुःखको एक घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता । हे भाई ! जहाँतक मुझे याद है, मैंने अपने जीवनमें जानमें या अनजानमें माताओंका और पिताजीका कभी कोई जरा-सा भी अप्रिय कार्य नहीं किया ।'

इसके बाद वनसे लौटते हुए भरतजीसे श्रीरामने कहा—

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्त्तव्यं वर्त्तितव्यं च मातृवत् ॥
(वा० रा० २ । ११२ । १९)

'माता कैकेयीने (तुम्हारी हित-) कामनासे या (राज्यके) लोभसे जो यह कार्य किया, इसके लिये मनमें कुछ भी विचार न करके भक्तिभावसे उनकी माताकी भाँति सेवा करना ।'

इससे पता लगता है कि रामकी अपनी माताओंके प्रति कितनी भक्ति थी । एक बार लक्ष्मणने वनमें कैकेयीकी कुछ निन्दा कर डाली । इसपर मातृभक्त और भ्रातृप्रेमी श्रीरामने जो कुछ कहा, वह सदा मनन करने योग्य है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥
(वा० रा० ३ । १६ । ३७)

'भाई ! बिचली माता (कैकेयी)की निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये । चर्चा करनी हो तो इक्ष्वाकुनाथ भरतके सम्बन्धमें करनी चाहिये (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत ही प्रिय है) ।'

इसी प्रकार उनकी पितृभक्ति भी अद्भुत है । पिताके वचनोंको सत्य करनेके लिये श्रीरामने क्या नहीं किया ! पिताको दुखी देखकर जब श्रीरामने कैकेयीसे दुःखका कारण पूछा, तब उसने कहा—'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं हैं । तुम इन्हें बहुत प्यारे हो । तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन ही नहीं निकलते । यदि तुम राजाके आज्ञापालनकी प्रतिज्ञा करो तो ये कह सकते हैं । तुमको वह कार्य अवश्य ही करना चाहिये, जिसके लिये इन्होंने मुझसे प्रतिज्ञा की है ।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

'अहो मुझे धिक्कार है । हे देवि ! तुमको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये । मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।'

लक्ष्मणने जब यह कहा कि ऐसे कामासक्त पिताकी आज्ञा मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगरपुत्र और

परशुरामजी आदिका उदाहरण देते हुए कहा—'पिता प्रत्यक्ष देवता हैं। उन्होंने किसी भी कारणसे वचन दिया हो, मुझे उसका विचार नहीं करना है। मैं विचारक नहीं हूँ, मैं तो निश्चय ही पिताके वचनोंका पालन करूँगा।'

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्पष्ट ही कह दिया था—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥

(वा० रा० २। २१। ३०)

'मैं चरणोंमें सिर टेककर तुम्हें मनाता हूँ, मुझे वन जानेके लिये आज्ञा दो। माता! पिताजीके वचनोंको टालनेकी मुझमें शक्ति नहीं है।'

श्रीरामका एकपत्नीव्रत आदर्श है। पत्नी सीताके प्रति रामका कितना प्रेम था, इसका कुछ दिग्दर्शन सीताहरणके पश्चात् श्रीरामकी दशा देखनेसे होता है। महान् धीर-वीर राम विरहोन्मत्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे कदम्ब, बेल, अशोकादि वृक्षोंसे और हरिणोंसे सीताका पता पूछते हैं। यहाँ भगवान् श्रीरामने अपने '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' के वचनको मानो चरितार्थ कर दिया है। वे विलाप करते हैं, प्रलाप करते हैं, पागलकी भाँति ज्ञानशून्यसे हो जाते हैं, मूर्च्छित हो पड़ते हैं और 'हा सीते, हा सीते' पुकार उठते हैं।

श्रीरामका सख्य-प्रेम भी आदर्श है। सुग्रीवके साथ मित्रता होनेपर उसे आश्वासन देते हुए श्रीराम कहते हैं—

सखा सोच त्यागहु बल मोरें।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

इसी प्रकार रामका भ्रातृप्रेम भी अतुलनीय है। रामायणमें हमें जिस भ्रातृप्रेमकी शिक्षा मिलती है, भ्रातृ-प्रेमका जैसा उच्चातिउच्च आदर्श प्राप्त होता है, वैसा जगत्‌के इतिहासमें कहीं नहीं है। पाण्डवोंमें भी परस्पर बड़ा भारी प्रेम था। उनके भ्रातृप्रेमकी कथाएँ पढ़ सुनकर चित्त द्रवित हो उठता है और हम उनकी महिमा गाने लगते हैं; परंतु रामायणके भ्रातृप्रेमसे उसकी तुलना नहीं हो सकती।

वस्तुतः राम अनन्ताचिन्त्य सद्गुणोंके समुद्र हैं।

(संकलित)

आदर्श राजाका धर्म—प्रजाराधन तथा सत्यप्रतिज्ञत्व

(लेखक—सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्वर्गीय रायबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

प्रजाराधन राजाका परम कर्तव्य है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

'मुझे सीता प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है; परंतु लोकाराधन उससे भी अधिक प्रिय और अधिक श्रेष्ठ कर्तव्य है। इसलिये प्राण और प्राणसे भी प्रिय जानकीका भी मैं त्याग करूँगा।' इस चरित्रसे यह राजाका मर्यादारूप कर्तव्य प्रतीत होता है। अर्थात् यहाँ प्रभु श्रीरामचन्द्र किस प्रकार 'उत्तम राजा' थे, यह बतलाया गया है।

'उत्तम' राजाका कर्तव्य जैसे लोकाराधन है, वैसे ही 'सत्यप्रतिज्ञ' होना भी है। यह श्रीरामके अन्य चरित्रभागसे ज्ञात होता है। श्रीरामचन्द्रजी चित्रकूटपर मुनिवृत्तिसे रहने लगे। भरतने वहाँ पहुँचकर वनवास की प्रतिज्ञा त्याग देनेके लिये उनसे अत्यन्त आग्रह किया और कहा—'पिताजीने आपको मेरे लिये ही यह आज्ञा दी थी; परंतु मैं राज्य नहीं चाहता, आप ही राज्य कीजिये।' प्रभु श्रीरामचन्द्रने इसको अस्वीकार कर दिया। उस समय वसिष्ठ आदि अनेक लोगोंने कहा कि 'जब भरत राजी है, तब प्रतिज्ञा-पालनकी आवश्यकता नहीं।' तब भगवान् श्रीरामने भरतसे कहा—'तुम मुझे राज्य करनेके लिये ले जाते हो

परंतु जो सत्यप्रतिज्ञ नहीं है, वह राज्य करने योग्य भी नहीं है। क्योंकि राज्यकी प्रतिष्ठा ही सत्यपर है— 'सत्ये राज्यं प्रतिष्ठितम्।' असत्य बोलनेवाला अच्छा राजा नहीं हो सकता।

प्रजाराधन और सत्यप्रतिज्ञत्व—इन दो गुणोंपर ही रामराज्य प्रतिष्ठित था। फिर वह सुखी क्यों नहीं होता? यदि कभी प्रजाको दुःख हो तो उसका भी भार राजापर आता है, यह प्रभु श्रीरामचन्द्रजीकी उच्च भावना थी। तात्पर्य, इस उदात्त राज-कर्तव्यकी कल्पना अन्य किसी भी राजा या राज्यमें दिखायी नहीं देती। इसी कारण प्रभु श्रीरामचन्द्रको हम 'उत्तम राजा' कहते हैं और सुराज्यका उच्चतम आदर्श (Highest Ideal) 'रामराज्य' बताते हैं।

(संकलित)

भगवान् श्रीरामकी अपने उत्तराधिकारियोंके नाम अपने वचनामृतद्वारा अद्भुत वसीयत

(पूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीस्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराजका महत्त्वपूर्ण सदुपदेश)

[प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदास, पिलखुवा]

कुछ समय पूर्व भारतके सुप्रसिद्ध महान् धर्माचार्य परमपूज्यपाद श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्त-श्रीविभूषित गोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीस्वामी श्रीनिरंजन-देवतीर्थजी महाराज दिल्ली पधारे हुए थे। मैं उनके दर्शनार्थ गया था, मैंने उनसे निवेदन किया कि अबकी बार 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'श्रीरामवचनामृताङ्क' निकलने जा रहा है। यह सुनकर पूज्य श्रीश्रीआचार्यचरण बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कृपापूर्वक अपना शुभाशीर्वाद देते हुए विशेषाङ्कके लिये मुझे अपना एक महत्त्वपूर्ण सदुपदेश लिखवा दिया था, वही यहाँपर दिया जा रहा है। आशा है पाठक इसे ध्यानसे पढ़नेकी कृपा करेंगे। इसमें कहीं कुछ गलती रह गयी हो तो वह मेरी है, पूज्यपाद श्रीश्रीआचार्यचरणकी नहीं।

भगवान् श्रीरामने अपने वचनामृतद्वारा अद्भुत वसीयत क्या की?

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्परब्रह्म भगवान् श्री-मद्राघवेन्द्र प्रभुके अवतार लेनेका एकमात्र प्रधान उद्देश्य और एकमात्र मुख्य प्रयोजन रहा है अपने प्राणप्रिय सत्य सनातनधर्मकी, वर्णाश्रमधर्मकी और अपने प्रा पूज्य गो-ब्राह्मणोंकी रक्षा करना। कलिपावन पूज्यपाद गोस्वामी श्रीश्रीतुलसीदासजी महाराजने भ बताया है—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।

और भी स्पष्ट शब्दोंमें वे कहते हैं—

गो द्विज धेनु देव हितकारी।
कृपासिंधु मानुष तनु धारी।

गो-ब्राह्मण भगवान्को अत्यन्त प्रिय हैं। स धर्मको तो भगवान् अपना प्राण ही समझते है धर्मपर घोर विपत्ति देखते ही प्रभु विकल हो हैं और झटसे अवतार लेकर धर्मकी रक्षा करते तभी तो कहा है—

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकै
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्प्रभुः

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक करुणावरुणालय भ श्रीरामके श्रीचरणोंमें दण्डकारण्यके नुकीले काँटे ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये ही चुभे हैं, ऐसी रि

उन्हीं परात्परब्रह्म भगवान् श्रीरामके भक्त कहलानेके अधिकारी तो हमलोग तभी हो सकते हैं, जब हम उनके परमप्रिय पूज्य गो-ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने सिरमें काँटे चुभवानेके लिये तत्पर हों और इतनेपर भी हमारे मुखसे आह न निकले। यही जीवनतत्त्व परात्परब्रह्म भगवान् श्रीराम अपने उत्तराधिकारियोंको भी सर्वोत्कृष्ट उत्तराधिकारके रूपमें अपने श्रीमुखसे निकले वचनामृतके द्वारा सौंपकर गये हैं। उनका कहना है कि मेरे द्वारा जिस धर्मकी—जिस मर्यादाकी स्थापना की गयी है, उसका पूर्णतया परिपालन समय-समयपर आनेवाले इस धर्मप्राण भारतके शासकोंको [अ]वश्य ही करना चाहिये। यह एकमात्र मर्यादापुरुषोत्तम [भ]गवान् श्रीरामकी ही महिमा है, जो अपने इस [आ]देशको भी, वार-वार प्रणाम करके याचनाके रूपमें [ज्ञा]पित करते हैं। परब्रह्म भगवान् श्रीरामभद्रके श्रीमुखसे [नि]कले ये महत्त्वपूर्ण वचन हैं—

भूयो भूयो भाविनो भूमिपाला
नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणां
काले काले पालनीयो भवद्भिः॥

भगवान् श्रीराम प्रभु भविष्यमें समय-समयपर होनेवाले भारतके शासकोंसे अत्यन्त विनम्रतापूर्वक बार-बार प्रणाम कर याचना करते हुए कहते हैं कि 'हे भारतके भावी भूमिपालो! मैं तुमसे अपने उत्तराधिकारके रूपमें यही चाहता हूँ कि वेद-शास्त्रोंके सिद्धान्तोंकी रक्षा तथा गो-ब्राह्मणपरिपालनकी जिस मर्यादाको मैंने स्थापित किया है, उसका तुम भी बराबर पालन करते रहना।'

विश्वके शासकोंमें और उनकी शासन-परिपाटियोंमें आज्ञा देनेके भाव तो सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं; किंतु किसी आज्ञाको कातर करुणामयी प्रार्थनाके रूपमें बारंबार प्रणाम करके अपने उत्तराधिकारके स्वरूपमें भावी वंशजोंको सावधान करते हुए उसको [पा]लन [का] आग्रह करना एकमात्र श्रीमद्रामचन्द्र-जी[की] [म]र्यादापुरुषोत्तमकी ही विशेषता [है]। [दु]ःखकी [बात] तो यह है कि आज अपने आपको उन्हीं भ[गवान्] श्रीरामका भक्त कहलानेवाले भी उनकी भ[क्तिके] नामपर केवल पूजा, अर्चा, कंठी, तिलक, माला, कीर्तनमात्रसे ही संतोष कर लेते हैं पर उनके पर[म प्रिय] रुद्रोंकी माता और समस्त संसारको आप्यायित कर[नेवाली] आदित्योंकी भगिनी एवं निखिल ब्रह्माण्डको धन-धा[न्यसे] पूर्ण करनेका दायित्व सँभालनेवाली वसुओंकी पूज्या गोमाताकी रक्षाके लिये सक्रियरूपमें [भाग लेने] करनेके अवसरपर उदासीनता प्रदर्शित करनेके अ[तिरिक्त] कुछ नहीं करते। उनको भगवान् श्रीरामके आदेशपर विचार करके 'विप्रधेनु सुर संतहित' बलिदान करनेके लिये तैयार हो जाना चाहिये। पूज्य 'गो-ब्राह्मण तथा सनातनधर्म'की रक्षाके [लिये] उनके परमाराध्य भगवान् श्रीरामके श्रीचरणोंमें [काँटे] चुभे, उनकी रक्षाके लिये अपने इस सारे शरीर[में काँटे] चुभोने, लाठी खाने, गोली खाने और [अपना] बलिदान करनेका अवसर आ चुका है। भगव[द्भक्तोंकी] यही विशेषता है और यही भगवद्भक्तोंके लक्षण [हैं कि] वे इस अवसरको अपने हाथसे न जाने दें। परम इष्टदेव भगवान् श्रीरामके श्रीमुखसे निकले [वचनोंका] पालन करना और जिस कारण पृथ्वीपर प्र[भु] अवतीर्ण हुए उसकी पूर्ति करना—यही श्रीरा[म-भक्तोंका] परम कर्तव्य है। भगवान् श्रीराम प्रभुकी पू[जा] करना और उनके नामको ही मालापर खू[ब जपना] पर उनके श्रीमुखसे निकले वचनोंकी अवहेलना [करना], उनपर तनिक भी ध्यान न देना और जि[स कारण] उनका अवतार होता है, उसकी ओर दृ[ष्टि न] डालना—ये भगवद्भक्तोंके लक्षण कदापि [नहीं हैं]। यदि हम वास्तवमें सच्चे रूपमें भगवान् श्रीर[ामके]

हैं तो जिस धर्मकी और जिन पूज्य गो-ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये हमारे भगवान् श्रीरामका अवतार हुआ था और उन्होंने अपने वचनामृतद्वारा जो कुछ कहा है, हमें उस धर्मका पालन करनेके लिये और उसकी रक्षा करनेके लिये अविलम्ब कटिबद्ध हो जाना चाहि इसीमें हमारा परम कल्याण है और यही श्री राघवेन्द्र प्रभुको प्रसन्न करनेका परम साधन है।

बोलो सनातनधर्मकी जय!

श्रीरामके कुछ आदर्श चरित्र

(लेखक—महामण्डलेश्वर श्रीस्वामीजी श्रीभजनानन्द सरस्वतीजी महाराज)

'कल्याण'के यशस्वी सम्पादक भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारने 'श्रीराम-वचनामृताङ्क'के रूपमें 'कल्याण'का इकतालीसवाँ विशेषाङ्क निकालनेका निश्चय किया है। समयानुकूल यह विचार स्तुत्य है और आशा की जाती है कि यह अङ्क भारतका ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वका मार्ग-दर्शन करनेमें सक्षम होगा। एक बार देवी पार्वतीने भगवान् शंकरसे कुछ आध्यात्मिक प्रश्न किये। उत्तर देनेके पूर्व चन्द्रमौलिने दो क्षण अपने आराध्यका ध्यान किया—

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥
(रा० मानस, बाल० १११)

और फिर कहा—

धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥
पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥
तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥
(रा० मानस, बा० १११। ४-५)

अर्थात् इस प्रकारके प्रश्नोत्तर गङ्गासलिलवत् पवित्र हैं। गङ्गामें अनेकों सर-सरिताएँ मिलती हैं और वे गङ्गाके समान ही पवित्र हो जाती हैं। इसी प्रकार राम-कथा और राम-नामका कथन-श्रवण एवं अनुमोदन करके बड़े-बड़े पापात्मा व्यक्ति भी परम पुनीत हो जाते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जीने कहा है—

पाई न केहिं गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥
(रा० मानस, उ० १०१)

वे केवल पुनीत ही नहीं होते, अपितु जगत्-वन्द्य होते हैं। भला, कर्मनाशाका जल गङ्गामें मिल जानेके कौन उसे सिरपर चढ़ाना पसंद नहीं करेगा!

कर्मनास जल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धर

इसी प्रकार भगवान् श्रीरामके शील, सौन्दर्य, गाम्भीर्य, भक्तवात्सल्यादि गुणोंका चिन्तन करनेवाला भी करणीय गुणोंका भंडार हो जाता है। भगवान्का गुण-चि अनन्त है। जिनके डमरूसे विश्व-ज्ञानके प्रतीक व्याकरणके चौ मूल सूत्र (अ, इ, उण्। ऋ, लृक्। ए, ओ ऐ, औच्। ह, य, व, रट्। लण्। ञ, म, ङ, नम्। झ, भञ्। घ, ढ, धष्। ज, ब, ग, ड, द ख, फ, छ, ठ, थ, च ट, तव्। क, पय्। श, सर्। हल्।) निकले, वे भी श्रीरामके गुणोंका पार पा सकते। वे कहते हैं—

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु सयानी

यहाँ 'सयानी' शब्दका प्रयोग सार्थ है। दोहावल श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

तुलसी सोई चतुरता, राम चरन लयलीन।
पर धन पर मन हरन कौं बेस्या बड़ी प्रबीन॥

भाव यह कि संसार छल-कपटसे धन कमानेवालों भले ही बुद्धिमान् समझे, किंतु संत उसे बुद्धिमान् कभी न कह सकते। उर्दूके किसी कविने कहा है—

होशियार बस वही तो है,जो उस यारका दीवाना है।
इल्मे मुहब्बत जो पढ़ा, उस्तादे वह ज़माना है॥

जिन राजा जनकके द्वारपर शुकदेव-जैसे विरक्त संतक चौदह दिनोंतक खड़ा रहना पड़ा, वे जनक भी श्रीरामक गुण-शील वर्णन करनेमें असमर्थ हैं—

राम करौं केहि भाँति प्रसंसा । मुनि महेस मन मानसहंसा ॥
ब्यापकु ब्रह्म अलखु अबिनासी । चिदानंद निर्गुन गुनरासी ॥
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई । जो तिहुँ काल एकरस रहई ॥

भाव यह कि जब शंकर और जनक-जैसे विज्ञजन भी श्रीरामके गुणोंकी थाह नहीं पा सकते, उनकी बड़ाई करनेमें समर्थ नहीं हैं, तब इन पंक्तियोंका लेखक कर ही कैसे सकता है। असलमें यह सारा प्रयास अपनी वाणीको पुनीत एवं सफल बनानेके लिये ही किया जा रहा है। यथा—

आदि अंत कोउ जासु न पावा । मति अनुमानि निगम जस गावा ॥
सब जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहे बिनु रहा न कोई ॥
बुध बरनहिं हरि जस अस जानी । करन पुनीत हेतु निज बानी ॥

जिस प्रकार कोई इतना बड़ा पात्र नहीं हो सकता, जिसमें सम्पूर्ण क्षीर-समुद्र समा सकता हो, तथापि अपने पात्र (श्रद्धारूपी पात्र) के अनुसार लाभ तो उठाना ही चाहिये। इसी प्रकार मैं भी कुछ श्रीराघवेन्द्रके गुणोंका स्मरण करता हूँ।

बैरिउ राम बड़ाई करहीं ।

ग्रन्थोंमें कथा आती है कि लक्ष्मणके द्वारा मारे गये मेघनादकी दक्षिण भुजा सती सुलोचनाके समीप जाकर गिरी और पतिव्रताका आदेश पाकर उस भुजाने सारा वृत्तान्त लिखकर बता दिया। सुलोचनाने निश्चय किया कि मुझे अब सती हो जाना चाहिये, किंतु पतिका शव तो राम-दलमें पड़ा हुआ था। फिर वह कैसे सती होती ? जब अपने श्वशुर रावणसे उसने अपना अभिप्राय कहकर अपने पतिका शव मँगानेके लिये कहा, तब रावणने उत्तर दिया—'देवि ! तुम स्वतः ही राम-दलमें जाकर अपने पतिका शव प्राप्त करो। जिस समाजमें बालब्रह्मचारी श्रीहनुमान्, परम जितेन्द्रिय श्रीलक्ष्मण तथा एकपत्नीव्रती भगवान् श्रीराम वर्तमान हैं, उस समाजमें तुम्हें जानेसे डरना नहीं चाहिये। मुझे विश्वास है कि इन स्तुत्य महापुरुषोंके द्वारा तुम निराश भी नहीं लौटायी जाओगी।'

जब रावण सुलोचनासे ये बातें कह रहा था, उस समय कुछ मन्त्री भी उसके पास बैठे थे। उन लोगोंने कहा—'जिनकी पत्नीको आपने बंदिनी बनाकर अशोकवाटिकामें रख छोड़ा है, उनके पास आपकी बहूका जाना कहाँतक उचित है ? यदि वह गयी तो क्या सुरक्षित वापस लौट सकेगी ?'

रावणने उत्तर दिया—'मन्त्रियो ! लगता है तुम्हारी बुद्धि विनष्ट हो गयी है। अरे, यह तो रावणका काम है कि दूसरेकी स्त्रीको अपने घरमें बंदिनी बनाकर रख सकता है, रामका नहीं।'

धन्य है श्रीरामका चरित्र-बल जिसका विश्वास शत्रु भी करता है और प्रशंसा करते थकता नहीं। हमें रामके उदात्त चरित्रसे अवश्य प्रेरणा लेनी चाहिये। एक ... लिखा है—

गिरि से गिरि पर जो गिरे, मरे एक ही बार ।
जो चरित्र गिरि तें गिरे बिगड़े जन्म हजार ॥

अर्थात् पहाड़से पहाड़पर गिरनेवालेकी मृत्यु तो एक बार होती है; किंतु जो चरित्ररूपी पहाड़से गिरते हैं, ... 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्' ... चक्रमें बार-बार जन्म लेना और मरना पड़ता है। वे अ... दुःख भोगते रहते हैं।

श्रीरामकी नकल करनेवालोंकी भी बुद्धि पवित्र हो ज... है। अपने दलके लगभग सम्पूर्ण योद्धाओंका विनाश ... जानेपर रावणने कुम्भकर्णको जगाया। जगनेके बाद—

कुंभकरन बोला अकुलाई । काहे तव मुख रहेउ सुखा...

तब—

कथा कही सब तेहि अभिमानी । जेहि प्रकार सीता हरि आनी ...
तात कपिन्ह सब निसिचर मारे । महा महा जोधा संहा...

रावणकी बातोंको सुनकर कुम्भकर्ण दो क्षणके ... किंकर्तव्यविमूढ़-सा हो गया। फिर कुछ सोचकर बोला—

'राक्षसराज ! सीताका अपहरण करके तुमने बहुत ... काम किया है, किंतु यह तो बताओ कि सीता तुम्हारे व... हुई भी या नहीं ?' रावणके यह कहनेपर कि 'मैंने सारे उ... करके देख लिये, किंतु सीताको वशमें नहीं कर सक...' कुम्भकर्णने पूछा—'क्या तुम राम बनकर कभी उन... सम्मुख गये ?'

रावणने उत्तर दिया—

रामः किं नु भवानभून्न तच्छृणु सखे तालीदलश्यामलम् ।
रामाङ्गं भजतो ममापि कलुषो भावो न संजायते ॥

अर्थात् जब मैं रामका रूप बननेके लिये दूर्वादल-श्याम रामचन्द्रके अङ्गोंका ध्यान करने लगा, तब एक-एक करके मेरे हृदयके सारे कलुष समाप्त होने लगे। फिर तो सीताको वशमें करनेका प्रश्न ही समाप्त हो गया।

इसी संदर्भमें किसी हिंदीके कविने कहा है—

जब जब रूप राम कर धारौं। पर तिय लखहिं मनहुँ महतारी॥

रामके ध्यानसे निष्पाप होनेकी कितनी अच्छी बात कही गयी है!

राम अपना अहित करनेवालोंकी भी प्रशंसा करते हैं—

कैकेयीने जब राजा दशरथसे दो वरदान माँगे—

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बर भरतहि टीका॥
मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥

तब भी इस प्रतिकूलताका रामके हृदयपर कोई प्रभा नहीं पड़ा। जब भी अवसर आया, रामने कैकेयीकी प्रशं ही की। चित्रकूटमें एकत्रित समस्त अवधवासियों एवं गुरुदे श्रीवसिष्ठके समक्ष वे कहते हैं—

दोष देइ जननी जड़ तेई। जे गुरु साधु सभा नहिं सेई

इतना ही नहीं, जंगलसे अवध वापस आनेपर श्रीरा मिलते भी सर्वप्रथम कैकेयीजीसे ही हैं—

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी

जो जरा-जरा-सी बातको लेकर परिवारमें वैषम्य-भ पैदा करके घरको नरक बना डालते हैं, मेरी समझमें उन भगवान् श्रीरामके पवित्र जीवनचरित्रसे अवश्य ही प्रेरणा ग्रह करनी चाहिये।

ॐ शान्तिः

श्रीरामवचनामृत-प्रस्तावना

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

इस संसारमें ऐसा कोई विरला ही मनुष्य होगा, जिसे एक भी सूक्ति, सुभाषित या कहावत याद न हो। संसारके सभी महात्मा, महाभाग जन किन्हीं सदुक्तियोंको ही आधार मानकर—सहारा लेकर—पथप्रदर्शक मानकर अग्रसर हुए और उन्होंने सफलता प्राप्त की। इतना ही नहीं, संसारमें जितने भी भौतिक, वैज्ञानिक आविष्कार हुए, जितनी भी आध्यात्मिक, सामाजिक या वैयक्तिक उन्नतियाँ हुईं—उन सभीका कारण भी वस्तुतः ये सदुक्तियाँ अथवा उनके संग्रहभूत सत्साहित्य ही हैं। इसीलिये सत्साहित्यके अध्ययनको भी श्रेष्ठ सत्सङ्ग माना गया है और गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥*

इस कथनमें भी यही भाव निहित है।

इस तरह हम देखते हैं कि विश्वका सारा कल्याणका सत्-साहित्य ही, चाहे वह किसी भी धर्म या देशका है 'सदुक्ति' ही है। Encyclopedia of quotatio इत्यादि द्वारा इस सदुक्तिसंग्रहकार्यमें निस्सं विश्वके सभी देशोंने भरपूर प्रयत्न किया तथापि भारत इसमें बहुत आगे है। यों तो हम वेदादि सभी सच्छास्त्र, पुराण, रामायण, महाभा आदि सूक्ति-ग्रन्थ ही हैं। तथापि सूक्ति-मुक्तावली (इ

* इसी प्रकार शिवपुराण, उमासंहिता १३ । ३६ के—

ज्ञानावाप्तिर्यदा न स्याद् योगमार्गान्महेश्वरि ।
अध्येतव्यं हि पौराणं शास्त्रं श्रोतव्यमेव च ॥

तथा वाक्पदीय १ । ३० के—

ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ।
[illegible] ...र्शिनामपि । 'तेषां ज्ञानं शास्त्रजन्यमेव' 'स्वोपज्ञ-प्रकाशव्याख्या' आदिमें आगमोंको ही एकमात्र ज्ञान उपाय माना है। विशेष जानकारीके लिये मनु० २ । ६० विविध (धरणीधर, मेधातिथि, राघवानन्द, गोविन्दराज, कुल्लूकादि व्याख्यान भी द्रष्टव्य हैं।

महाभारत १२ । ६० । १२; २३८ । १३, विष्णुस्मृ ५५ । १८, बृहत्पारा० ४ । ६०, भविष्यपुराण १ । ४ । २६-२ का भी यही मत है। भगवान् व्यासने सत्सङ्ग-स्वाध्यायद्वारा ऐसी सिद्धि पायी थी। विशेष जानकारीके लिये देखिये 'कल्याण' 'संतवाणी-अङ्क'के आरम्भका हमारा लेख—'सूक्तिसुधा-सार' त 'महाभारत-परिचय' (गीताप्रेस) भूमिकाका व्यास-प्रसङ्ग।

नामकी बहुत-सी पुस्तकें हैं—१. जल्हणकी, २. सोमप्रभ जैनाचार्यकी काव्यमालागुच्छक ७ में प्रकाशित, ३. राजशेखरकी, ४. श्रीगोकुलनाथ उपाध्यायकी तथा ५. हरिहरराय इत्यादिकी] सदुक्तिकर्णामृत, सूक्तिसंग्रह, सूक्तिसुधाकर, सुभाषितभंडार, सुभाषितार्णव, शार्ङ्गधरपद्धति, सुभाषितमहोदधि, सुभाषितावली (वल्लभदेव), स्मृत्यर्थसंग्रह, सूक्तिरत्नहार (कृष्ण साम्बशिव शास्त्री), सुभाषितरत्नाकर (क० स० भारवडेकर), सुभाषित त्रिशती इत्यादि सूक्तियोंके अनेक बड़े विशाल स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ भी हैं । बृहस्पति-नीतिसार, शुक्रनीतिसार, चाणक्यनीति, चाणक्यशतक, शान्तिशतक, नीतिशतक, वैराग्यशतक (इस नामके भी विभिन्न लेखकोंके प्रायः ८-१० ग्रन्थ हैं) आदि संग्रह भी ऐसे ही हैं । 'कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते' के व्याजसे (कथाके बहाने) पुराणोंके अतिरिक्त हितोपदेश, पुरुष-परीक्षा, पञ्चतन्त्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुष, तन्त्राख्यायिका, प्रबन्धचिन्तामणि आदि कथा-ग्रन्थोंमें भी कथासहित प्रायः इन्हीं नीतिकी सूक्तियोंको ही संगृहीत किया है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां
विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । १४)

इधर संतवाणी-संग्रह आदि ग्रन्थोंमें परवर्ती हिंदीके संत कवियोंकी वाणियोंका भी सुन्दर संग्रह हुआ है ।

सदुक्तियोंकी भी पुरुषार्थ-भेदसे तथा वक्तृत्वादिके भेदसे अनेक कोटियाँ होती हैं । जो सदुक्तियोंके श्रवण-मनन, अध्ययन-अनुशीलन-अनुगमनादिमें जितना ही अधिक दत्तचित्त होते हैं, वे उतनी ही उनकी अधिक सूक्ष्म कोटियों (बारीकियों-खूबियों) के मर्मज्ञ होते हैं और उतना ही श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करते हैं । इस दृष्टिसे कोई चाहे भगवान् श्रीरामको मानव मानें या देवता, सदाचारी—मर्यादापुरुषोत्तम मानें या साक्षात् परब्रह्म परमात्मा—उनमें कोई भी अन्तर नहीं पड़ता । उनके वचनामृत—उनकी सूक्तियाँ इसीलिये विशेष महत्त्वपूर्ण हैं कि उनका आचरण अत्यन्त शुद्ध और स्वाध्याय, सत्सङ्ग सुविशद था और तभी वे 'मर्यादापुरुषोत्तम' कहलाये । उनके ज्ञानके लिये भी कहा गया है—

न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्

(शुक्रनीतिसार ६ । ११ । ६

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सम जान जथा

राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ ।

(रामचरितमानस २ । २

न भवन्तं मतिश्रेष्ठं समर्थं वदतां वरम् ।
अतिशाययितुं शक्तो बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।

(वाल्मीकिरा०, युद्ध० १७ ।

उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ।

(वाल्मीकिरा०, अयोध्या० १ । १७, २ । ४३) इ

भगवद्वचनामृतकी विशेषताएँ

तथापि सूक्ष्मदर्शी ऋषि-मुनियोंने समस्त ज्यो सामुद्रिक आदि बाह्यान्तर लक्षणों एवं योगज ऋत प्रज्ञादिद्वारा इनके परमात्मत्वको भी ठीक-ठीक समझा थ तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा । प्रभु अवतरेउ हरन महिम

अहं वेद्मि महात्मानं रामं सत्यपराक्रमम् ।
वसिष्ठश्च महाभागो ये चान्ये तपसि स्थिताः ॥

(वाल्मीकि० १ । ः

और परमात्माकी वाणीकी विशेषता सामान्य सद् संतसूक्तियोंसे कहीं विलक्षण भी है । प्रायः सभी ध सद्ग्रन्थ ईश्वरप्रोक्त कहे जाते हैं । अपने यहाँ भी वेद तथा गीता आदिको भगवान्का निःश्वास—आज्ञा—वचन माना है—'यस्य निःश्वसितं वेदाः' 'श्रुतिस्मृती ममै (वायुपुराण, माघमा० वाधूलस्मृति-इत्यादि) ।

पर इसके अतिरिक्त भी साक्षात् भगवद्वाणी-श्रव महा-महिमा, फलश्रुति शास्त्रोंमें बहुधा निर्दिष्ट है । यथा—

परम गँभीर कृपामृत सानी ।

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई । श्रवन रंध्र होइ उर जब अ हृष्ट पुष्ट तनु भए सुहाए । मानहुँ अबहिं भवन ते अ

अर्थात् मनु-शतरूपा—जो 'अस्थिमात्र होइ रहे स हो रहे थे, भगवद्वाणीको सुनते ही तत्काल स्वस्थ हृष्ट-पुष्ट हो गये । इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें कर्दम लिये भी कहा गया है—

नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥

(श्रीमद्भागवत ३ । २१ । ४८

* इसी प्रकार भगवान्की कृपादृष्टि तथा स्पर्शादिका बतलाया गया है—

भगवतो यद्व्याहृतं वाक्यं स एव अमृतकलः चन्द्रः। तस्यासमन्ताद् यत्पीयूषं तस्य श्रवणेन च भगवद्वाक्यं निरन्तरामृतोत्पत्तिरूपमितिवाक्यश्रवणेनापि पुष्टिप्रतिपादनार्थममृतकलत्वेन निरूपितं…पुष्टिरेवोक्ता।

(श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी ३ । २१ । ४६)

वचनामृतसर्वस्व या सूक्तिसुधासार

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामकी वाणीकी बार-बार अनेकों प्रकारसे प्रशंसा की है। वे श्रीरामकी वाणीको 'वाणीसर्वस्व सरस्वतीका', 'सर्वस्व', 'सब कुछ', 'सारधन' कहकर 'अमृतमय' भी कहते हैं। यथा—

देखि दयालु दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥
धरम धुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥
बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥

(रामचरितमानस २ । ३०४ । ५-८)

प्रायः दूसरोंके वचन या तो सुननेमें सुखद, परिणाममें दुःखद होते हैं। जैसे—

सुनत नीक आगें दुख पावा। सचिवन्ह अस मत तुम्हहि सुनावा॥

(रामचरितमानस, लंकाकाण्ड)

या यदि परिणाममें सुखद होते हैं तो सुननेमें ही कठोर। जैसे—

बचन परम हित सुनत कठोरे। कहहिं सुनहिं ते नर जग थोरे॥

(राम० मानस, लंका०)

पर प्रभुकी वाणी सुननेमें 'ससि-रस'—अमृततुल्य मधुर सुखद है और परिणाममें भी परम हितकर है। इसीलिये तथा तत्त्वदृष्ट्या भी भगवद्वचन सरस्वतीका एवं वचन-ज्ञान-सूक्ति-जगत्का सर्वस्व कहा गया है।

गिरिपातविनिष्पिष्टान् विलोक्यामरदानवान्।
ईक्षया जीवयामास निर्जरान् निर्व्रणान् यथा॥

(श्रीमद्भागवत ८ । ६ । ३७)

विशेष जानकारीके लिये देखिये 'कल्याण' २९ । ४ में प्रकाशित मेरे लेख 'केहू भाँति कृपासिंधु! मेरी ओर हेरिये' के बहुसंख्यक उदाहरण और उद्धरण।

इसी प्रकार महा० ५ । ५९ । १७ में आता है—

वाचं तां वचनार्हस्य शिक्षाक्षरसमन्विताम्।
अश्रौषमहमिष्टार्थां पश्चाद्धृदयहारिणीम्॥

इसी तरह और भी तुलसीदासजीने कहा है—

बोले गुरु आयसु अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगलमूला॥

(रा० मा० २ । २५९ । ३)

बोले उचित बचन रघुनंदू। दिनकर कुल कैरव बनचंदू॥

(रा० मा० २ । २६३ । ४)

बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग बिभूषन॥

(राम० मानस, अयोध्या० ४१ । ७)

देस काल अवसर सरिस बोले रामु प्रबीन॥

(राम० मा० २ । ३१४)

उत्तरकाण्डमें श्रीकाकभुशुण्डिजी महाराज कहते हैं—

प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥
सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥
प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥

(रामचरितमानस ७ । ८८ । १-२)

योगवासिष्ठमें आता है कि भगवान्की वाणी सुनकर पशु-पक्षी सब मुग्ध हो गये—

मुहूर्तममृताम्भोधिवीचिविलुलिता इव।
ता गिरो रामभद्रस्य तस्य चित्रार्पितैरिव।
संश्रुताः श्रृणुकैरन्तरानन्दपदपीवरैः॥
वसिष्ठविश्वामित्राद्यैर्मुनिभिः संसदि स्थितैः।
जयन्तधृष्टिप्रमुखैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रकोविदैः॥
× × ×
तथा भृत्यैरमात्यैश्च पञ्जरस्थैश्च पक्षिभिः।
क्रीडामृगैर्गतस्पन्दैस्तुरङ्गैस्त्यक्तचर्वणैः॥
कौसल्याप्रमुखैश्चैव निजवातायनस्थितैः।
संशान्तभूषणारावैरस्पन्दैर्वनितागणैः॥
× × ×
अक्षुब्धपक्षततिभिर्विहङ्गैर्विततारवैः।
सिद्धैर्नभश्चरैश्चैव तथा गन्धर्वकिन्नरैः॥
नारदव्यासपुलहप्रमुखैर्मुनिपुंगवैः॥
अन्यैश्च देवदेवेशविद्याधरमहोरगैः।
रामस्य ता विचित्रार्था महोदारा गिरः श्रुताः॥
× × ×
अथ तूष्णीं स्थितवति रामे राजीवलोचने।
तस्मिन् रघुकुलाकाशशशाङ्के शशिसुन्दरे॥
साधुवादगिरा सार्धं सिद्धसार्थसमीरिता।
वितानकसमा व्योम्नः पौष्पी वृष्टिः पपात ह॥
× × ×

पतितेव धरापृष्ठे स्वर्गस्त्रीहसितच्छटा ।

× × ×

निरभ्रोत्पलसंकाशव्योमवृष्टिरनाकुला ।
अदृष्टपूर्वा सर्वस्य जनस्य जनितस्मया ॥
अदृश्याम्बरसिद्धौघकरोत्करसमीरिता ॥

× × ×

इमं सिद्धगणालापं शुश्रुवुस्ते समागताः ।
अपूर्वमिदमस्माभिः श्रुतं श्रुतिरसायनम् ॥
यदनेन किलोदारमुक्तं रघुकुलेन्दुना ॥
वीतरागतया तद्धि वाक्पतेरप्यगोचरम् ॥

(योगवासि० १ । ३२ । ३–२५)

तात्पर्य कि भगवान् श्रीरामके अमृतमय वचनोंको सुनकर घोड़े घास खाना भूल जाते हैं। रानियाँ गवाक्षसे देखती हुई चित्रलिखित-सी खड़ी रह जाती हैं। पिंजरोंके पक्षी, क्रीड़ामृग सभी निःस्पन्दित होकर उनकी वाणी सुनते रहते हैं। सिद्ध, गन्धर्व, किंनर, सभी ऋषि-मुनिगण भी तल्लीन होकर उनकी शब्दावलीमें खो जाते हैं। गन्धर्वोंको उसमें गीतका स्वारस्य, मुनियोंको दर्शनका तत्त्व तथा स्त्रियोंको एवं पशु-पक्षियोंको भी मन्त्रमय मधुर आकर्षण दीखता है। और बादमें लगातार प्रहरपर्यन्त पुष्पवृष्टिके बाद साधुवाद-धन्यवादोंकी परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। सिद्ध-मुनिगणोंके मुँहसे हठात् ध्वनि निकल पड़ती है—'अहो, ऐसा अद्भुत अपूर्व श्रुतिरसायन—कर्णामृत—वचनपीयूष तो कर्णपुटोंसे कभी किसीने पान नहीं किया होगा। भला, बृहस्पतिके लिये भी दुर्गम यह रघुकुलाकाशके निर्मल सुन्दर शशाङ्ककी उदार, रम्य शब्दावली प्रतिभा, सूक्ष्मता, वीतरागिता आदि किन-किन गुणोंसे युक्त नहीं है।'

वनवासिनी स्त्रियाँ उनकी शब्दावली—मीठी वाणी सुननेके लिये उनके पीछे दौड़ पड़ती हैं। एक कहती है—'सखि, ये हमसे क्यों बोलने लगे—राजकुमार तथा महान् पुरुष हैं।' तो दूसरी कहती है कि 'हमसे न सही, आपसमें ये लोग जब बातें करेंगे, तब तो सुननेका अवसर मिलेगा—

सुख पाइहैं कान सुनें बतियाँ,
कल आपस में कुछ पै कहि हैं।

(कवितावली २ । २३)

वचनामृतकी अन्य सूक्ष्म गुणावलियाँ

स्वर-माधुर्यादिके अतिरिक्त श्रेष्ठ वाणीकी और क्या विशेषता होती है, इसे हम भगवान् श्रीरामकी ही शब्दाव[ली] (वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्ड ३ । २८–३३) में देख[ते] हैं। जब हनुमान्‌जी इनकी पहली मुलाकात होती है, त[ब] उनके सम्भाषणपर प्रभु मुग्ध हो जाते हैं और उनकी प्रशंस[ा] करते हुए लक्ष्मणसे कहने लगते हैं—'लक्ष्मण! देखे[ा], जो साङ्ग ऋगादि तीनों वेदोंको नहीं जानता, वह इस प्रका[र] सुन्दर मधुर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता। निस्संदे[ह] इस व्यक्तिने सभी व्याकरणोंका अनेक बार स्वाध्याय कि[या] है; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे को[ई] अपशब्द—अशुद्ध शब्द नहीं निकला। साथ ही इनके मुँ[ह,] नेत्र, ललाट, भौंह आदिसे भी कोई दोष प्रकट नहीं हुआ। इन्होंने बहुत कम शब्दोंमें ही बड़ी स्पष्टताके साथ अपन[ा] पूर्ण अभिप्राय व्यक्त कर दिया। इनकी बातोंको समझने[में] हमें कहीं कोई भी संदेह नहीं हुआ। इन्होंने न तो किस[ी] कर्णकटु शब्दका प्रयोग किया और न कहीं रुक-रुकक[र] संदिग्ध वाणीका ही उच्चारण किया। बोलते समय इनक[ी] आवाज भी विलक्षण ही मध्यमस्वरमें रही है। इन्हों[ने] संस्कार एवं क्रमसे सम्पन्न अद्भुत, अविलम्बित कल्याणमय[ी] हृदयहारिणी वाणीका उच्चारण किया है। ऐसी वाणी[से] तो वधके लिये हाथमें तलवार उठाये शत्रुका हृदय भ[ी] तुरंत बदल जाय, फिर अन्योंकी क्या बात?—

संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम् ।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम् ॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया ।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ॥

(वाल्मीकिरा० ४ । ३ । ३२-३३)

यह तो हुई भगवान्‌द्वारा हनुमान्‌जीकी वचनावलीक[ी] प्रशंसा। अब अनुमान कीजिये कि रामजीकी वाणीका, भला हनुमान्‌जीके हृदयपर क्या प्रभाव पड़ा होगा। और क्य[ा] फिर इसका प्रकाश कहीं न हुआ? अवश्य ही दोनों ह[ी] बातें हुई हैं। जब विभीषणजी भगवान्‌की शरणमें आये, त[ब] प्रभुने हनुमान्‌जीसे पूछा कि 'सुग्रीव तो इन्हें नहीं रखन[ा] चाहते; अब बताओ, तुम्हारा क्या मत है?' इसप[र] श्रीहनुमान्‌जीने कहा, 'प्रभो! आपके सामने तो बृहस्पति भी बोले तो लज्जित, तिरस्कृत तथा उपहासको प्राप्त होंगे (आपकी वाणीको सुनकर); फिर, भला, दूसरा कौन ऐसा व्यक्ति होगा, जो आपके सम्मुख अपनी बुद्धि—वाणीक[े]

प्रकाशित करनेका साहस करेगा।' इसी प्रकार वाल्मीकि-रामायणमें अन्य चतुरोंके भाषण—बुद्धि-कौशलादिको भी अष्टाङ्गमति-सम्पन्न कहा है।

पर वाक्पदीय, सरस्वतीकण्ठाभरण, पृष्ठ ४, स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कुमारिकाखण्ड अध्याय ४५ तथा महाभारत, शान्तिपर्वके जनक-सुलभा-संवादादिमें वाणीके अठारह तथा तन्मूलिका बुद्धिके ९ दोष कहे गये हैं। पुनः बुद्धिके ८ एवं वाणीके १८ गुण भी कहे गये हैं। प्रायः सर्वत्र श्लोकादि एक ही प्रकारके हैं। वाक्पदीय तथा सरस्वती-कण्ठाभरणमें विस्तार विशेष है।

अष्टाङ्ग-बुद्धि

वाणीकी प्रेरिका बुद्धि है। श्रीवाल्मीकिरामायण ४। ५४। ३ में अङ्गदके भाषणपर श्रीहनुमान्जी अनुमान [illegible]ते हैं कि इनमें अष्टाङ्गबुद्धि, ४ बल और १४ गुण हैं। [illegible] वहाँ इसकी व्याख्या नहीं है। इसी प्रकार रघुवंश ३। ३०, महाभारत, वनपर्व २। १८, स्कन्दपुराण, माहेश्वर-खण्ड, कुमारिकाखण्ड ४६। २३ आदिमें भी इसकी चर्चा है।* पर मूलतः इसकी व्याख्या सांख्य-ग्रन्थों एवं राजनीति-शास्त्रमें हुई दीखती है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी—**बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः।** (५। ८) में इसकी चर्चा है और ब्रह्मसूत्र २। ३-२९ में इसपर विस्तृत विचार है। सांख्यशास्त्रमें बुद्धिका नाम 'महत्' भी है। उसके सात्त्विकादि ३ भेद हैं। सात्त्विक बुद्धिके प्रसङ्गमें कारिकामें कहा गया है—**'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपां** (२३ का०)। इकसी माठरवृत्तिमें आचार्य कहते हैं—धर्म-ज्ञान-वैराग्यादि इसका लक्षण है। वाचस्पतिमिश्र, सांख्य-जयमङ्गलाकार, सांख्यचन्द्रिकाकार आदि भी यही कहते हैं। इन ग्रन्थोंमें अणिमादि सिद्धियोंको भी बुद्धि-धर्म-फल ही माना है। (द्रष्टव्य—सांख्यदर्शन २। १२-१५ पर अनिरुद्धवृत्ति, प्राच्यभारती-प्रकाशन एवं सांख्यप्रवचनभाष्य।) राजनीति-ग्रन्थोंमें अष्टाङ्गबुद्धिकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

> शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
> ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥
> (कामन्दकीयनीतिसार ४। २१)

कौटल्य भी यही लिखते हैं—

> शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः।
> (कौटल्य अर्थ० ६। ६। १। ४)

दोनोंकी ही 'जयमङ्गला' व्याख्याओंमें प्रायः समान ही टीकाएँ हैं—'उपाध्याय-निरपेक्षा'में कुछ विशेष है। यथा—**१-शुश्रूषा—जन्मान्तरवासनया विद्यासु गुरोः श्रोतुमिच्छा सा*। ३-श्रुतक्रमेणैव व्याख्यातस्यादानं ग्रहणम्, ४-धारण-मवधारणं मनसि।† ५-विविधं ज्ञानं विज्ञानम्, ६-ऊहो वितर्कः, ७-विचार्य असतः श्रुतस्य परित्यागः अपोहः,‡ ८-तत्त्वं—परमार्थः, तत्राभिनिवेशः, चित्तस्यावेशनं इत्यष्टावपि गुणाः धियः। इत्यादि।**

स्पष्टतः ये सभी गुण भगवान्की प्रतिभामें थे ही। **'एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।'** (श्रीमद्भागवत १। १६। २९) इत्यादि।

स्कन्दपुराण तथा महाभारतके अनुसार निर्दोष शुद्ध वाक्य उसे कहेंगे, जिसमें सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन—ये पाँच पदार्थ हों—

> **सौक्ष्म्यं संख्या क्रमश्चापि निर्णयः सप्रयोजनः।**
> **पञ्चैतान्यर्थजातानि यत्र तद्वाक्यमुच्यते॥**
> (स्क० माहे० कुमारि० ४५। ६२, महा० शान्ति० ३२०। ७९)

अनेक ज्ञेय विषयोंकी कोटिका ठीक-ठीक निर्देश सौक्ष्म्य है। दोष-गुणोंका क्रमशः साधन-बाधन संख्या है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्षादिके उद्देश्यसे कथन प्रयोजन है।

---

* (क) अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वाश्रेयोविघातिनीम्।
श्रुतिस्मृत्यविरुद्धा सा बुद्धिस्त्वय्यस्ति निर्मला॥
(महा० वन० २। १८, स्कन्द० माहे०, कुमा० ४६। २३, वा० रा० ४)

(ख) धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः
क्रमाच्चतस्रश्चतुर्णवोपमाः।
ततार विद्याः पवनातिपातिभि-
र्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः॥
(रघुवंश ३। ३०)

* श्रवणाहेंपु श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा। (जयमङ्गला)
† गृहीतानामविस्मरणं धारणम्। (जयमङ्गला)
‡ अयुक्तियुक्तस्य त्यजनमपोहः। (जयमङ्गला)

प्रतिज्ञानुसार भाषण–विश्लेषण निर्णय है । इसे पहले कहना चाहिये और इसे बादमें—इस क्रमका निर्वाह ही क्रम है—

इदं पूर्वमिदं पश्चाद् वक्तव्यं यत् क्रमेण हि ।
क्रमयोगं तमप्याहुर्वाक्यतत्त्वविदो बुधाः ॥
(स्क० १ । २ । ४५ । ६६)

सामान्य वाणीके अठारह दोष

अपेतार्थ (निरर्थक शब्दजाल) अर्थात् निरर्थक वाणी बोलना वाक्य या वाणीका पहला दोष है । अनेक वाक्योंमें एक ही भावको बार-बार दुहराते चले जाना वाणीका दूसरा दोष है । ग्राम्य–अशुद्ध–अश्लील वाणीका प्रयोग तीसरा दोष है । इसी प्रकार आवश्यकतासे अधिक कहना, बहुत विस्तारसे कहना, कटुवचन कहना, संदिग्ध वाणीमें कहना, दीर्घान्त पदोच्चारण करना, श्रोतासे मुँह फेरकर बोलना, असत्य बोलना, त्रिवर्गके अथवा चतुर्वर्ग (अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष) के विरुद्ध बोलना, कर्णकटु एवं कठिनतासे उच्चारण करने योग्य शब्दोंको कहना, उलटे-पलटे ढंगसे—विपर्यस्तक्रमसे कहना, अत्यन्त न्यून अर्थात् आवश्यकतासे बहुत कममें कहनेकी चेष्टा करना, जिससे श्रोता कुछ समझ ही न पाये, ऐसी—एवं निष्कारण, निष्प्रयोजन, निरर्गल वाणी बकना—ये वाणीके १८ दोष कहे गये हैं—

अपेतार्थमभिन्नार्थमपवृत्तं तथाधिकम् ।
अश्लक्ष्णं चापि संदिग्धं पदान्ते गुरु चाक्षरम् ॥
पराङ्मुखमुखं यच्च अनृतं चाप्यसंस्कृतम् ।
विरुद्धं यत्त्रिवर्गेण न्यूनं कष्टातिशब्दकम् ॥
व्युत्क्रमाभिहतं यच्च सशेषं चाप्यहेतुकम् ।
निष्कारणं च वाग्दोषान् बुद्धिजान् शृणु त्वं च यान् ॥*
(स्कन्द० १ । २ । ४५ । ६८–७२)

पुनः आगे कहा गया है कि काम, क्रोध, लोभ, भय, दैन्य, अनार्यता, हीनता, गर्व एवं दयासे गद्गद होकर बोलना—ये नौ दुर्बुद्धिजन्य वाक्यदोष हैं । श्रोता या वक्ता—इन दोनोंमेंसे ही किसीके भी कपटपूर्वक भाषण करने यथार्थ बात छिपी ही रह जाती है । † अतः शुद्धरीति अन्तर्हृदयकी बात कहना ही उचित है । ‡

इसके अतिरिक्त असंख्य काव्यगुणोंका ध्वन्यालोक, रस गङ्गाधर, सरस्वतीकण्ठाभरण पृ०–५० § (जिन्हें पं० नीलकण्ठ चातुरध्वरिकने महाभारत, शान्ति० ३२० । ८७ की टीका सविस्तर ससमारोह उद्धृत किया है) काव्यादर्श, काव्यालंकार (भामह, वामन, रुद्रट, उद्भट, केशव, राजानक, रुय्यानक प्रायः एक नामके ग्रन्थमें), मन्दारमरन्द चम्पू, साहित्यदर्पण भावप्रकाशन, काव्यप्रकाशादि अलंकारादि ग्रन्थोंमें निर्देश है संक्षेपमें जैसे—

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता ॥

---

* वाल्मीकिरामा० ४ । ३ । ३१–३३; महा० शा० ३२० । ८२–८८ में तथा सरस्वतीकण्ठाभरण १ । १३–६ तथा २४–२७ में भी ये बातें आयी हैं ।

† संत कहहिं असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव ।
होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन किएँ दुराव ॥
(राम० मा० १ । ४५)

पर इस वचनका प्रभाव दीखता है ।

‡ (क) यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः ।
तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः ॥
(मनु० ८ । ९२, नारद ३ । महा० १ । ७४ । १२; विष्णुधर्म० ३ । ३२८ । ३३)

(ख) द्रष्टव्य मनु० ४ । २५५-५६, महाभारत १ । ७४ । २७, २८, विष्णुधर्म० ३ । २११, २११–१२, वाल्मी० २ । १०० । ३८-३९, [illegible]पुराण २५ । १५, नारदस्मृति २ । १०५ के निम्नलिखित वचन—

वाच्यार्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिस्सृताः ।
तांस्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

§ किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥

* जैन-प्रभाकर यन्त्रालयसे मुद्रित-प्रकाशित- सं० १८४३ का संस्करण ।

श्रीभरतजीकी वाणी भी कुछ ऐसी ही है—

ओजस्तथान्यद्गौर्जित्यं प्रेयानथ सुशब्दता ।
तद्वत्समाधिसौक्ष्म्यं च गाम्भीर्यमर्थविस्तरः ॥*
संक्षेपसम्मितत्वं च भाविकत्वं तथा गतिः ।
रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढिः·····················॥

इत्यादि

श्लेष, प्रसाद, समता, मधुरता, सौकुमार्य, अर्थकी सुस्पष्टता, कान्ति, उदारता, उदात्तता, ओज, ऊर्जस्वलता, प्रियता, श्रेष्ठशब्द, समाधि, सूक्ष्मता, गम्भीरता, अर्थकी व्यापकता, संक्षिप्तमें बहुत कहनेकी शैली, भाविकता, गति, रीति, उक्ति एवं प्रौढि—ये (वाणियोंके) गुण हैं ।†

ये सभी गुण तथा इनसे भी बहुत अधिक गुण भगवान्‌की वाणीमें भी सलक्ष्मीक सुस्थिर कहे गये हैं।‡ अतः श्रीभगवद्वचनोंके पठन-श्रवण-मनन-चिन्तनसे जितना श्रेय होगा, उतना और किसी प्रकारसे होना दुष्कर ही है। जिनका नाम, यश, चरित्र ही 'श्रवणमङ्गल' है, भला उनके मुखपद्मविनिस्सृत आत्मभावोपेत वचनोंमें अवगाहन करना कितना मङ्गलप्रद है, यह कौन कह सकता है ।

अतः कल्याणकामीको इन वचनोंको तपस्याके समान पुण्यमङ्गलप्रद समझकर परम श्रद्धा, भक्ति एवं स्नेहसे तन्मय होकर इनमें अवगाहन करना ही चाहिये, यह विनीत प्रार्थना है—

भवविपिनदवाग्निनामधेयं भवमुखदैवतदैवतं दयालुम् । दनुजपतिसहस्रकोटिनाशं रवितनया सदृशं हरिं प्रपद्ये ॥
धनपरदारवर्जितानां परगुणभूतिषु तुष्टमानसानाम् । परहितनिरतात्मनां सुसेव्यं रघुवरमम्बुजलोचनं प्रपद्ये ॥

जिनका नाम संसार-वनके लिये दावानलके समान है, जो महादेव आदि देवोंके भी देव हैं, जो करोड़ों दानवेन्द्रोंका नाश करनेवाले हैं और यमुनाजीके समान श्यामवर्ण हैं, उन दयामय हरिकी मैं शरण लेता हूँ । जो परधन और पर-स्त्रीसे सदा दूर रहते हैं तथा पराये गुण और परायी विभूतिको देखकर प्रसन्न होते हैं ऐसे उन निरन्तर परहितपरायण महात्माओंके द्वारा सुसेव्य कमल-लोचन श्रीरघुनाथजीकी मैं शरण लेता हूँ ।

---

* 'भरत वचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ ॥ सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे । अरथ अमित अति आखर थोरे ॥ ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अदभुत बानी ॥' आदिमें भी कुछ ऐसे ही भाव निर्दिष्ट हैं ।

† इन सभी शब्दोंकी विस्तृत परिभाषा 'काव्यालंकारसूत्र-संग्रह या साहित्यदर्पणादिमें देखनी चाहिये । यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें कुछ लिखा जा रहा है । सुश्लिष्टपदोंका होना 'श्लेष' कहा जाता है । इसी प्रकार प्रसिद्ध अर्थवाले सुप्रसिद्ध स्पष्ट शब्दोंका प्रयोग 'प्रसाद', मृदु, प्रस्फुट वर्णोंका प्रयोग 'समता', पृथक् पदोंका प्रयोग 'माधुर्य', अनिष्ठुर अक्षरोंका प्रयोग 'सुकुमारता' एवं पूर्णवाक्यता 'अर्थव्यक्ति' कहलाती है । वाणीकी उज्ज्वलता 'कान्ति' है, विकटाक्षरोंका भी ठीक-ठीक प्रयोग 'उदारता' नामक गुण है, विशेषणोंका प्रयोग 'उदात्तता' है, समासयुक्त संक्षिप्त पदोंका प्रयोग 'ओज' नामक गुण है एवं गाढपदबन्ध 'और्जित्य' कहलाता है । चाटूक्ति तथा प्रिय कथनका नाम 'प्रेय' एवं संज्ञा तथा क्रिया शब्दोंका समुचित प्रयोग 'सुशब्दता' नामक गुण है । चेतनमें अचेतन और अचेतनमें चेतनके धर्मका आरोप नामक चमत्कार 'समाधि' गुण है (यथा—भागवत १० । २१ । १९ का 'अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां' अथवा मानसका 'अचर सचर चर अचर करत को' एवं 'सूरसागर' का 'डुलति लता नहिं, मरुत मंद गति, सुनि सुंदर मुख बैन । खग-मृग-मीन अधीन भए सब कियो जमुन जल सैन ॥ (कृष्णमाधुरी १७४ । १३; योगवासिष्ठ ३ । ९० । १२९) आदि । भावसे कथन भाविकता, आरोहावरोहका नाम गति, उपक्रमका निर्वाह 'रीति', विशेष कथनका नाम 'उक्ति' एवं विचित्र महत्त्वका कथन 'प्रौढि' कहलाता है । शेष साधारण तथा स्पष्ट हैं ।

‡ देखिये 'कल्याण' ३० । ३ में मेरा 'विश्ववशीकरण' लेख ।

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना।
उपजहिं जासु अंस ते नाना॥

'जिनके अंशसे अनेक भगवान् शम्भु, ब्रह्मा और विष्णु प्रकट होते हैं।'

वाल्मीकिजी कहते हैं—

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे।
बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा।
औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥

'तुम (अपने अंशस्वरूप) ब्रह्मा, विष्णु और शंकरको भी नचानेवाले हो; जब वे भी तुम्हारे मर्मको नहीं जानते, तब और कौन तुम्हें जाननेवाला है ? (वस्तुतः अंशीरूपमें वही नचाते हैं और वे ही अंशरूपमें नाचते हैं। यह भेद केवल लीलाके लिये है।' यह भी स्मरण रखना चाहिये कि भगवान् श्रीरामका दिव्य मङ्गल-शरीर न तो मायिक है न प्रकृति-तत्त्वसे निर्मित है, न पाञ्चभौतिक है न कर्मजनित है और न उसमें देह-देहीका भेद है। वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, इच्छामय है और है सच्चिदानन्दघन।

निज इच्छा निरमित तनु माया गुन गो पार।
× × ×
सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार॥
× × ×
निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि।
× × ×
चिदानंदमय देह तुम्हारी।
बिगत बिकार जान अधिकारी॥

'जिनका शरीर स्वेच्छासे निर्मित है, जो माया, तीन गुण, लौकिक बुद्धि और मन-इन्द्रियोंसे अतीत हैं, वे ही सच्चिदानन्द-घनविग्रह भगवान् श्रेष्ठ नरलीला करते हैं।' 'ये प्रभु देवता, धरणी, गौ तथा ब्राह्मणके हितके लिये अपनी इच्छासे अवतीर्ण होते हैं।' वाल्मीकिजीने कहा है—'तुम्हारा शरीर विकारोंसे रहित चिदानन्दमय है, इसे अधिकारी ही जानते हैं।' भगवान् शंकर कहते हैं—

उमा अवधवासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंद घन रघुनायक जहँ भूप॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

'उमा ! अयोध्यामें रहनेवाले पुरुष और स्त्री सभी कृतार्थस्वरूप हैं, जहाँ स्वयं सच्चिदानन्दघन ब्रह्म श्रीरघुनाथ-जी राजा हैं।'

भुशुण्डिजीने कहा है—

ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन कर नर चरित उदार॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड)

'जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे और जन्मरहित हैं तथा माया, मन और तीनों गुणोंसे परे हैं, वे ही सच्चिदा-नन्दघन भगवान् श्रेष्ठ नर-लीला करते हैं।'

ये श्रीराम ही विष्णुभगवान् भी हैं—इसीसे मानसमें स्थान-स्थानपर इन्हें 'रमापति,' 'रमारमण,' 'इन्दिरा-रमण' और 'रमानिवास' आदि कहा गया है।

ये ही निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म हैं। अतएव इनके लिये 'अव्यक्त', 'अनुभवगम्य', 'निर्गुण', 'ब्रह्म' आदि शब्द आये हैं। ये ही आत्मा हैं—इसीलिये 'सब के हृदय निरंतर बासी'—'सर्ब उरालय' कहा गया है। पर ये केवल निर्गुण निर्विशेष ही नहीं हैं, ये स्वरूपभूत अखिल दिव्य गुणोंके महान् समुद्र भी हैं।

'जय निर्गुन जय जय गुन सागर।'
'जय सगुन निर्गुन रूप राम अनूप भूप सिरोमने।'
'जय राम रूप अनूप निरगुन सगुन गुनप्रेरक सही।'

'जय हो निर्गुणकी ! जय हो, जय हो गुण-सागरकी !' 'सगुण-निर्गुण-रूप अनुपम भूपशिरोमणि रामकी जय हो।' [ये केवल सगुण-निर्गुण भगवान् ही नहीं हैं, ये ही दशरथकुमार राजाओंके शिरोमणि अयोध्या-सम्राट् हैं।]

केवल भगवान् श्रीराम ही नहीं, इनकी लीलासङ्गिनी स्वरूपभूता ह्लादिनीशक्ति श्रीजानकीजी ही सबकी अंशिनी तथा अवतारि-स्वरूपा हैं; पार्वती, लक्ष्मी, ब्रह्माणी—सब इन्हींके अंशसे प्रकट हैं—

जासु अंस उपजहिं गुनखानी।
अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥

वास्तवमें श्रीराम परात्पर समग्र ब्रह्म स्वयं भगवान् हैं। ब्रह्मसूत्रके 'ब्रह्म', गीताके 'समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तम',

श्रीमद्भागवतके 'स्वयं भगवान्' और श्रीमानसके 'श्रीराम' एक ही स्वरूप-तत्त्व हैं। इन्हींको वाल्मीकि-रामायणने भगवान् विष्णुका अवतार माना है।

यहाँ श्रीरामचरितमानसके कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

ब्रह्मनिष्ठशिरोमणि सनकादि मुनि श्रीरामका स्तवन करते हुए कहते हैं—

जय भगवंत अनंत अनामय।
अनघ अनेक एक करुनामय॥
जय निर्गुन जय जय गुन सागर।
सुख मंदिर सुंदर अति नागर॥
जय इंदिरा रमन जय भूधर।
अनुपम अज अनादि सोभाकर॥
ग्यान निधान अमान मानप्रद।
पावन सुजस पुरान बेद बद॥
तग्य कृतग्य अग्यता भंजन।
नाम अनेक अनाम निरंजन॥
सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय।
बससि सदा हम कहुँ परिपालय॥
परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥(उ० ३४)

'भगवन्! आपकी जय हो। आप अन्तरहित, विकाररहित, पापरहित, अनेक (समस्त रूपोंमें प्रकट), एक (अद्वितीय) और करुणामय हैं। निर्गुण! आपकी जय हो। गुणके समुद्र! आपकी जय हो, जय हो। हे पृथ्वीके धारण करनेवाले! आपकी जय हो। आप उपमारहित, जन्मरहित, अनादि और शोभाकी खान हैं। आप ज्ञानके भंडार, (स्वयं) मानरहित, (दूसरोंको) मान देनेवाले हैं; वेद और पुराण आपका सुन्दर यश गाते हैं। आप तत्त्वके जाननेवाले, की हुई सेवाको माननेवाले और अज्ञानका नाश करनेवाले हैं। हे निरञ्जन (मायारहित)! आपके अनेक (अनन्त) नाम हैं और कोई भी नाम नहीं है (सब नामोंसे परे हैं)। आप सर्वरूप हैं, आप सबमें व्याप्त हैं और सबके हृदयरूपी घरमें निवास करते हैं। आप हमारा परिपालन कीजिये। [हमारे राग-द्वेष, मान-अपमान, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जन्म-मृत्यु आदि] द्वन्द्व, विपत्ति और भवके पाशको काट दीजिये। हे श्रीरामजी! आप हमारे हृदयमें बसकर काम और मद[का] नाश कर दीजिये। आप परमानन्दस्वरूप, कृपाके धा[म] और मनकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं। श्रीराम हमें अपनी अविचल प्रेमभक्ति प्रदान कीजिये।'

श्रीकाकभुशुण्डिजीका कथन है—

जो माया सब जगहि नचावा।
जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा।
नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानंद घन रामा।
अज बिग्यान रूप बल धामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता।
अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।
सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा।
नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी।
ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं।
रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥
भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥
असि रघुपति लीला उरगारी।
दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥
जे मति मलिन बिषयबस कामी।
प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
(श्रीरामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

'जो माया सारे जगत्को नचाती है, जिसकी कर[नी] किसीने नहीं लख पायी, गरुड़जी! वही माया प्र[भु] श्रीरामचन्द्रजीकी भृकुटीके इशारेपर अपने समाज (परिवार) सहित नटीकी तरह नाचती है। श्रीरामजी वे ही सच्चिदानन्दघ[न] हैं, जो अजन्मा, विज्ञानस्वरूप, रूप और बलके धाम, सर्वव्यापक एवं व्याप्य (सर्वमय), अखण्ड, अनन्त, सम्पूर्ण, अमोघशक्ति (जिनकी शक्ति कभी व्यर्थ नहीं

होती) और (छः ऐश्वर्योंसे युक्त) भगवान् हैं। वे निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे रहित), महान्, वाणी और इन्द्रियोंसे परे, सब कुछ देखनेवाले, दोषरहित, अजेय, ममतारहित, निराकार (प्राकृतिक आकारसे रहित), मोहरहित, मायारहित, नित्य सुखकी राशि, प्रकृतिसे परे, प्रभु (सबसे समर्थ स्वामी), सदा सबके हृदयमें बसनेवाले, इच्छारहित, विकाररहित, अविनाशी ब्रह्म हैं। इनमें मोहका कारण ही नहीं है। क्या अन्धकारका समूह कभी सूर्यके सामने जा सकता है ? भगवान् प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने भक्तोंके लिये राजाका शरीर धारण किया और साधारण मनुष्योंके-से अनेक परम पावन चरित्र किये। जैसे कोई नट (खेल करनेवाला) अनेक वेष धारण करके नृत्य करता है और (अपने वेषके अनुकूल) वही-वही भाव दिखलाता है, पर स्वयं उनमेंसे कोई हो नहीं जाता, गरुड़जी ! ऐसी ही श्रीरघुनाथजीकी यह लीला है, जो राक्षसोंको विशेष मोहित करनेवाली और भक्तोंको सुख देनेवाली है। स्वामी ! जो मनुष्य मलिन-बुद्धि, विषयासक्त और कामी हैं, वे ही प्रभुपर मोहका आरोप लगाते हैं।'

इससे सिद्ध है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र ही परात्पर अवतारी समग्र ब्रह्म हैं और वे ही दाशरथि श्रीरामचन्द्रजी हैं। भगवान् श्रीकृष्णको जैसे श्रीमद्भागवतमें 'स्वयं भगवान्' (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्) कहा गया है, वैसे ही महारामायणमें श्रीरामके लिये भी कहा गया है—

भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः।
करुणः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥

अन्तमें भगवान् श्रीशंकरके शब्दोंमें भगवान् श्रीरामके पावन पदारविन्दोंमें प्रणाम करें—

राम सच्चिदानंद दिनेसा।
नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥
हरष बिषाद ग्यान अग्याना।
जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।
परमानंद परेस पुराना॥
पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

'श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दस्वरूप सूर्य हैं। वहाँ मोह (अज्ञान) रूपी रात्रिका लवलेश भी नहीं है। वे स्वभावसे ही प्रकाशरूप और (षडैश्वर्यपूर्ण) भगवान् हैं। (जब अज्ञानरूपी रात्रि ही नहीं है, तब) विज्ञानरूपी प्रातःकाल भी वहाँ नहीं होता। हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहंता और अभिमान—ये सब जीवके धर्म हैं। श्रीरामजी तो व्यापक ब्रह्म, परमानन्दस्वरूप, परात्पर प्रभु और पुराण-पुरुष हैं—इस बातको सब जानते हैं। जो (पुराण-) पुरुष प्रसिद्ध हैं, प्रकाशके भंडार हैं, सब रूपोंमें प्रकट हैं, जीव, माया और जगत्—सबके स्वामी हैं, वे ही श्रीरघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं। यों कहकर श्रीशिवजीने उनको मस्तक नवाया।'

ऐसा कहा जाता है कि 'वाल्मीकि-रामायण' में न तो अवतारका, न अवतारतत्त्वका प्रतिपादन है और न श्रीरामको ही अवतारी भगवान् या अवतार माना है। पर यह कथन सत्य नहीं है। बालकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड आदिमें अवतारोंका वर्णन आया है। रामावतारका तो विशद वर्णन है (देखिये—बालकाण्ड सर्ग १५, १६, १७; अयोध्याकाण्ड सर्ग १, ५४, ११०; इसी प्रकार अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड आदिके विभिन्न प्रसङ्ग)। श्रीराम स्वयं भगवान् थे, भगवान् विष्णुके अवतार थे। इस विषयमें आगे दिये हुए उद्धरण ध्यानपूर्वक पढ़ने चाहिये।

भगवान् विष्णुसे ब्रह्मादि देवताओंकी स्तुति

समस्त सुर भूमिदेवीके साथ सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके समीप उपस्थित हुए थे। दशग्रीवके अत्याचारसे अत्यन्त उत्पीड़ित सब थे। राक्षसोंके पापके भारको सहनेमें सर्वसहा पृथ्वी असमर्थ हो गयी थी। किसीको परित्राणका कोई पथ सूझ नहीं रहा था। ब्रह्माजी भी क्या करते ? वे रावणको वरदान दे चुके थे। ब्रह्मलोकमें यह विचार-विनिमय देरतक चलता रहा।

एतस्मिन्नन्तरे विष्णुरुपयातो महाद्युतिः।
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जगत्पतिः॥
वैनतेयं समारुह्य भास्करस्तोयदं यथा।
तप्तहाटककेयूरो वन्द्यमानः सुरोत्तमैः॥

ब्रह्मणा च समागत्य तत्र तस्थौ समाहितः ।
तमब्रुवन् सुराः सर्वे समभिष्टूय संनताः ॥
(वा० रा०, बाल० २५ । १६—१८)

'इसी समय महान् तेजस्वी जगत्पति भगवान् विष्णु भी मेघके ऊपर स्थित हुए सूर्यकी भाँति गरुड़पर सवार हो वहाँ आ पहुँचे । उनके शरीरपर पीताम्बर और हाथोंमें शङ्ख, चक्र एवं गदा आदि आयुध शोभा पा रहे थे । उनकी दोनों भुजाओंमें तपाये हुए सुवर्णके बने केयूर प्रकाशित हो रहे थे । उस समय सम्पूर्ण देवताओंने उनकी वन्दना की और वे ब्रह्माजीसे मिलकर सावधानीके साथ सभामें विराजमान हो गये । तब समस्त देवताओंने विनीत भावसे उनकी स्तुति करके कहा—

त्वां नियोक्ष्यामहे विष्णो लोकानां हितकाम्यया ।
राज्ञो दशरथस्य त्वमयोध्याधिपतेर्विभो ॥
धर्मज्ञस्य वदान्यस्य महर्षिसमतेजसः ।
अस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च ॥
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ।
तत्र त्वं मानुषो भूत्वा प्रवृद्धं लोककण्टकम् ॥
अवध्यं दैवतैर्विष्णो समरे जहि रावणम् ।
स हि देवान् सगन्धर्वान् सिद्धांश्च ऋषिसत्तमान् ॥
राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योद्रेकेण बाधते ।
ऋषयश्च ततस्तेन गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥
क्रीडन्तो नन्दनवने रौद्रेण विनिपातिताः ।
वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह ॥
सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः ।
त्वं गतिः परमा देव सर्वेषां नः परंतप ॥
वधाय देवशत्रूणां नृणां लोके मनः कुरु ।
(वा० रा०, बाल० १५, १९—२५½)

'सर्वव्यापी परमेश्वर ! हम तीनों लोकोंके हितकी कामनासे आपके ऊपर एक महान् कार्यका भार दे रहे हैं । प्रभो ! अयोध्याके राजा दशरथ धर्मज्ञ, उदार तथा महर्षियोंके समान तेजस्वी हैं । उनके तीन रानियाँ हैं, जो ह्री, श्री और कीर्ति—इन तीन देवियोंके स[…] हैं । विष्णुदेव ! आप अपने चार स्वरूप ब[…] राजाकी उन तीनों रानियोंके गर्भसे पुत्ररूपमें अ[…] ग्रहण कीजिये । इस प्रकार मनुष्यरूपमें प्रकट हो[…] आप संसारके लिये प्रबल कण्टकरूप रावणको, देवताओंके लिये अवध्य है, समरभूमिमें मार डालि[…] वह मूर्ख राक्षस रावण अपने बढ़े हुए पराक्रमसे दे[…] गन्धर्व, सिद्ध तथा श्रेष्ठ महर्षियोंको बहुत कष्ट दे[…] है । उस रौद्र निशाचरने ऋषियोंको तथा नन्दन[…] क्रीड़ा करनेवाले गन्धर्वों और अप्सराओंको भी स्[…] भूमिपर गिरा दिया है । इसलिये मुनियोंसहित हम सिद्ध, गन्धर्व, यक्ष तथा देवता उसके वधके लिये आ[…] शरणमें आये हैं । शत्रुओंको संताप देनेवाले दे[…] आप ही हम सब लोगोंकी परमगति हैं, अतः इन [...] द्रोहियोंका वध करनेके लिये आप मनुष्यलोकमें अव[…] लेनेका निश्चय कीजिये ।'

भगवान्‌का अवतीर्ण होनेका वरदान

एवं स्तुतस्तु देवेशो विष्णुस्त्रिदशपुंगवः ।
पितामहपुरोगांस्तान् सर्वलोकनमस्कृतः ।
अब्रवीत् त्रिदशान् सर्वान् समेतान् धर्मसंहितान् ।
भयं त्यजत भद्रं वो हितार्थं युधि रावणम् ।
सपुत्रपौत्रं सामात्यं समन्त्रिज्ञातिबान्धवम् ॥
हत्वा क्रूरं दुराधर्षं देवर्षीणां भयावहम् ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
वत्स्यामि मानुषे लोके पालयन् पृथिवीमिमाम् ।
एवं दत्त्वा वरं देवो देवानां विष्णुरात्मवान् ॥
मानुष्ये चिन्तयामास जन्मभूमिमथात्मनः ।
ततः पद्मपलाशाक्षः कृत्वाऽऽत्मानं चतुर्विधम् ॥
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ।
(वा० रा०, बाल० १५ । २६—३१½)

''उनके इस प्रकार स्तुति करनेपर सर्वलोकवन्दित दे[…] प्रवर देवाधिदेव भगवान् विष्णुने वहाँ एकत्र हुए उन समस[…]

ब्रह्मा आदि धर्मपरायण देवताओंसे कहा—'देवगण ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम भयको त्याग दो । मैं तुम्हारा हित करनेके लिये रावणको पुत्र, पौत्र, अमात्य, मन्त्री और बन्धु-बान्धवोंसहित युद्धमें मार डालूँगा । देवताओं तथा ऋषियोंको भय देनेवाले उस क्रूर एवं दुर्धर्ष राक्षसका नाश करके मैं ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन करता हुआ मनुष्यलोकमें निवास करूँगा ।' देवताओंको ऐसा वर देकर मनस्वी भगवान् विष्णुने मनुष्यलोकमें पहले अपनी जन्मभूमिके सम्बन्धमें विचार किया । इसके बाद कमलनयन श्रीहरिने अपनेको चार स्वरूपोंमें प्रकट करके राजा दशरथको पिता बनानेका निश्चय किया ।"

देवताओंकी सम्मतिके अनुसार राजा दशरथके पुत्र-रूपमें प्रकट होनेकी भगवान्‌की इच्छा

नारायणो विष्णुर्नियुक्तः सुरसत्तमैः ।
जानन्नपि सुरानेवं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत् ॥
उपायः को वधे तस्य राक्षसाधिपतेः सुराः ।
यमहं तं समास्थाय निहन्यामृषिकण्टकम् ॥

(वा० रा०, बाल० १६ । १-२)

"तदनन्तर उन श्रेष्ठ देवताओंद्वारा इस प्रकार रावण-वधके लिये नियुक्त होनेपर सर्वव्यापी नारायणने रावण-वधके उपायको जानते हुए भी देवताओंसे यह मधुर वचन कहा—'देवगण ! राक्षसराज रावणके वधके लिये कौन-सा उपाय है, जिसका आश्रय लेकर मैं महर्षियोंके लिये कण्टक-रूप उस निशाचरका वध करूँ ?'"

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्विष्णुमव्ययम् ।
मानुषं रूपमास्थाय रावणं जहि संयुगे ॥
स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिंदमः ।
येन तुष्टोऽभवद् ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः ॥
संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥
अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः ।
एवं पितामहात् तस्माद् वरदानेन गर्वितः ॥
उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति ।
तस्मात् तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परंतप ॥
इत्येतद् वचनं श्रुत्वा सुराणां विष्णुरात्मवान् ।
पितरं रोचयामास तदा दशरथं नृपम् ॥

(वा० रा०, बाल० १६ । ३—८)

"उनके इस तरह पूछनेपर सब देवता उन अविनाशी भगवान् विष्णुसे बोले—'प्रभो ! आप मनुष्यका रूप धारण करके युद्धमें रावणको मार डालिये । उस शत्रुदमन निशाचरने दीर्घकालतक तीव्र तपस्या की थी, जिससे सब लोगोंके पूर्वज लोकस्रष्टा ब्रह्माजी उसपर प्रसन्न हो गये । उसपर संतुष्ट हुए भगवान् ब्रह्माने उस राक्षसको यह वर दिया कि तुम्हें नाना प्रकारके प्राणियोंमेंसे मनुष्यके सिवा और किसीसे भय नहीं है । पूर्वकालमें वरदान लेते समय उस राक्षसने मनुष्योंको दुर्बल समझकर उनकी अवहेलना कर दी थी । इस प्रकार पितामहसे मिले हुए वरदानके कारण उसका घमंड बढ़ गया है । शत्रुओंको संताप देनेवाले देव ! वह तीनों लोकोंको पीड़ा देता और स्त्रियोंका भी अपहरण कर लेता है; अतः उसका वध मनुष्यके हाथसे ही निश्चित हुआ है ।' समस्त जीवात्माओंको वशमें रखनेवाले भगवान् विष्णुने देवताओंकी यह बात सुनकर अवतार-कालमें राजा दशरथको ही पिता बनानेकी इच्छा की ।"

सब देवताओंको भगवान्‌के परिकर रूपमें पुत्र उत्पन्न करनेकी ब्रह्माजीकी आज्ञा

श्रीराम ही अवतीर्ण परम-पुरुष हैं, यह तो है ही; उनके समस्त परिकर, वानर-रीछ भी देवताओंके अंशसे उत्पन्न हैं ।

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः ।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम् ॥
सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः ।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः ॥

मायाविदश्च शूरांश्च वायुवेगसमान् जवे ।
नयज्ञान् बुद्धिसम्पन्नान् विष्णुतुल्यपराक्रमान् ॥
असंहार्यानुपायज्ञान् दिव्यसंहननान्वितान् ।
सर्वास्त्रगुणसम्पन्नानमृतप्राशनानिव ॥
अप्सरस्सु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च ।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च ॥
किंनरीणां च गात्रेषु वानरीणां तनूषु च ।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान् ॥
पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः ।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत ॥

(वा० रा०, बाल० १७ । १—७)

"जब भगवान् विष्णु महामनस्वी राजा दशरथके पुत्रभावको प्राप्त हो गये, तब भगवान् ब्रह्माजीने सम्पूर्ण देवताओंसे इस प्रकार कहा—'देवगण ! भगवान् विष्णु सत्यप्रतिज्ञ, वीर और हम सब लोगोंके हितैषी हैं । तुमलोग उनके सहायकरूपसे ऐसे पुत्रोंकी सृष्टि करो, जो बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ, माया जाननेवाले, शूरवीर, वायुके समान वेगशाली, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, विष्णुतुल्यपराक्रमी, किसीसे परास्त न होनेवाले, तरह-तरहके उपायोंके जानकार, दिव्य शरीरधारी तथा अमृतभोजी देवताओंके समान सब प्रकारकी अस्त्रविद्याके गुणोंसे सम्पन्न हों । प्रधान-प्रधान अप्सराओं, गन्धर्वोंकी स्त्रियों, यक्ष और नागोंकी कन्याओं, रीछोंकी स्त्रियों, विद्याधरियों, किंनरियों तथा वानरियोंके गर्भसे वानररूपमें ही अपने ही तुल्य पराक्रमी पुत्र उत्पन्न करो । मैंने पहलेसे ही ऋक्षराज जाम्बवान्की सृष्टि कर रक्खी है । एक बार मैं जँभाई ले रहा था, उसी समय वह सहसा मेरे मुँहसे प्रकट हो गया ।'"

कौन-कौन कहाँ-कहाँ प्रकट हुए ?

ते तथोक्ता भगवता तत् प्रतिश्रुत्य शासनम् ।
जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः ॥

ऋषयश्च महात्मानः सिद्धविद्याधरोरगाः
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारिणः
वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो वालिनमात्मज
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः
बृहस्पतिस्त्वजनयत् तारं नाम महाकपि
सर्ववानरमुख्यानां बुद्धिमन्तमनुत्तमम्
धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादन
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम्
पावकस्य सुतः श्रीमान् नीलोऽग्निसदृशप्रभ
तेजसा यशसा वीर्यादत्यरिच्यत वीर्यवान्
रूपद्रविणसम्पन्नावश्विनौ रूपसम्पन्न
मैन्दं च द्विविदं चैव जनयामासतुः स्वय
वरुणो जनयामास सुषेणं नाम वानरम्
शरभं जनयामास पर्जन्यस्तु महाबल
मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान् नाम वानर
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवान्
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यतः
अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपि
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबला
ऋक्षवानरगोपुच्छाः क्षिप्रमेवाभिजज्ञि
यस्य देवस्य यद्रूपं वेषो यश्च पराक्रम
अजायत समं तेन तस्य तस्य पृथक् पृथ
गोलाङ्गूलेषु चोत्पन्नाः किंचिदुन्नतविक्रम
ऋक्षीषु च तथा जाता वानराः किंनरीषु
देवा महर्षिगन्धर्वास्तार्क्ष्ययक्षा यशस्विन
नागाः किम्पुरुषाश्चैव सिद्धविद्याधरोरग
बहवो जनयामासुर्हृष्टास्तत्र सहस्रश
चारणाश्च सुतान् वीरान् ससृजुर्वनचारि
वानरान् सुमहाकायान् सर्वान् वै वनचारिण
अप्सरस्सु च मुख्यासु तथा विद्याधरीषु च

बात सुनो—महायशस्वी श्रीरामचन्द्रजी चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण लोकोंका संहार करके फिर उनका नये सिरेसे निर्माण करनेकी शक्ति रखते हैं। भगवान् श्रीराम श्रीविष्णुके तुल्य पराक्रमी हैं। देवता, असुर, मनुष्य, यक्ष, राक्षस, सर्प, विद्याधर, नाग, गन्धर्व, मृग, सिद्ध, किंनर, पक्षी एवं अन्य समस्त प्राणियोंमें कहीं किसी समय कोई भी ऐसा नहीं है, जो श्रीरघुनाथजीके साथ लोहा ले सके। सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर राजसिंह श्रीरामका ऐसा महान् अपराध करके तुम्हारा जीवित रहना कठिन है। निशाचरराज ! श्रीरामचन्द्रजी तीनों लोकोंके स्वामी हैं। देवता, दैत्य, गन्धर्व, विद्याधर, नाग तथा यक्ष—ये सब मिलकर भी युद्धमें उनके सामने नहीं टिक सकते। चार मुखोंवाले स्वयम्भू ब्रह्मा, तीन नेत्रोंवाले त्रिपुर-नाशक रुद्र अथवा देवताओंके स्वामी महान् ऐश्वर्यशाली इन्द्र भी समराङ्गणमें श्रीरघुनाथजीके सामने नहीं ठहर सकते।'

मन्दोदरीकी उक्ति

राक्षस-सम्राज्ञी मन्दोदरी रावणकी मृत्युके पश्चात् विलाप करती हुई कहती है—

व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा सनातनः ॥
अनादिमध्यनिधनो महतः परमो महान्।
तमसः परमो धाता शङ्खचक्रगदाधरः ॥
श्रीवत्सवक्षा नित्यश्रीरजय्यः शाश्वतो ध्रुवः।
मानुषं रूपमास्थाय विष्णुः सत्यपराक्रमः ॥
सर्वैः परिवृतो देवैर्वानरत्वमुपागतैः।
सर्वलोकेश्वरः श्रीमाँल्लोकानां हितकाम्यया ॥
स राक्षसपरीवारं देवशत्रुं भयावहम्।

(वा० रा०, युद्ध० १११। ११—१४½)

'निश्चय ही ये श्रीरामचन्द्रजी महान् योगी एवं सनातन परमात्मा हैं। इनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। ये महान्‌से भी महान्, अज्ञानान्धकारसे तथा सबको धारण करनेवाले परमेश्वर हैं। जो अ[illegible] हाथमें शङ्ख, चक्र और गदा धारण करते हैं, जि[illegible] वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है, भगवती लक्ष्मी जि[illegible] कभी साथ नहीं छोड़तीं, जिन्हें परास्त करना स[illegible] असम्भव है तथा जो नित्य स्थिर एवं सम्पूर्ण लोव[illegible] अधीश्वर हैं, उन सत्यपराक्रमी भगवान् विष्णुने ही स[illegible] लोकोंका हित करनेकी इच्छासे मनुष्यका रूप ध[illegible] करके वानररूपमें प्रकट हुए सम्पूर्ण देवताओंके [illegible] आकर राक्षसोंसहित आपका वध किया है; क्योंकि [illegible] देवताओंके शत्रु और समस्त संसारके लिये भयंकर थे[illegible]

देवताओंकी उक्ति

श्रीराम साक्षात् भगवान् हैं, यह बात उनसे ही देव[illegible] कहते हैं और सृष्टिके रचयिता स्वयं इसे स्वीकार करके श्रीर[illegible] के विराट् स्वरूपका वर्णन करते हैं—

कर्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः।
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने।
कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुद्ध्यसे।
ऋतधामा वसुः पूर्वं वसूनां च प्रजापतिः।
त्रयाणामपि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः।
रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामपि पञ्चमः।
अश्विनौ चापि कर्णौ ते सूर्याचन्द्रमसौ दृशौ ॥
अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप।

(वा० रा०, युद्ध० ११७। ६—८

'श्रीराम ! आप सम्पूर्ण विश्वके उत्पादक, ज्ञानि[illegible] श्रेष्ठ और सर्वव्यापक हैं। फिर इस समय आगमें गि[illegible] हुई सीताकी उपेक्षा कैसे कर रहे हैं ? आप सम[illegible] देवताओंमें श्रेष्ठ विष्णु ही हैं, इस बातको कैसे [illegible] समझ रहे हैं। पूर्वकालमें वसुओंके प्रजापति जो ऋतधा[illegible] नामक वसु थे, वे आप ही हैं। आप तीनों लोक[illegible] आदिकर्ता स्वयं प्रभु हैं। रुद्रोंमें आठवें रुद्र [illegible] साध्योंमें पाँचवें साध्य भी आप ही हैं। दोनों अश्वि[illegible]

कुमार आपके कान हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा नेत्र हैं। शत्रुओंको संताप देनेवाले देव! सृष्टिके आदि, अन्त और मध्यमें भी आप ही दिखायी देते हैं।'

भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥
अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः।
अजितः खड्गधृग् विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः॥
सेनानीर्ग्रामणीश्च त्वं बुद्धिः सत्त्वं क्षमा दमः।
प्रभवश्चाप्ययश्च त्वमुपेन्द्रो मधुसूदनः॥
इन्द्रकर्मा महेन्द्रस्त्वं पद्मनाभो रणान्तकृत्।
शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः॥
सहस्रशृङ्गो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः।
त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः॥
सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः।
त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारः परात्परः॥
प्रभवं निधनं चापि नो विदुः को भवानिति।
दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेषु च॥
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च।
सहस्रचरणः श्रीमाञ्छतशीर्षः सहस्रदृक्॥
त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान्।
अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः॥
त्रींल्लोकान् धारयन् राम देवगन्धर्वदानवान्।

(वा० रा०, युद्ध० ११७। १३—२२½)

'आप चक्र धारण करनेवाले सर्वसमर्थ श्रीमान् भगवान् नारायण देव हैं, एक दाढ़वाले पृथ्वीधारी वराह हैं तथा देवताओंके भूत एवं भावी शत्रुओंको जीतनेवाले हैं। रघुनन्दन! आप अविनाशी परब्रह्म हैं, सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें सत्यरूपसे विद्यमान हैं। आप ही लोकोंके परम धर्म हैं। आप ही विष्वक्सेन तथा चार भुजाधारी श्रीहरि हैं। आप ही शार्ङ्गधन्वा, हृषीके[श] अन्तर्यामी पुरुष और पुरुषोत्तम हैं। आप किसी[से] पराजित नहीं होते। आप नन्दकनामक खड्ग धार[ण] करनेवाले विष्णु एवं महाबली कृष्ण हैं। आप ही दे[व]सेनापति तथा गाँवोंके मुखिया अथवा नेता हैं। आ[प] ही बुद्धि, सत्त्व, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह तथा सृष्टि एवं प्रल[य] के कारण हैं। आप ही उपेन्द्र (वामन) औ[र] मधुसूदन हैं। इन्द्रको भी उत्पन्न करनेवाले महे[न्द्र] और युद्धका अन्त करनेवाले शान्तस्वरूप पद्मनाभ आप ही हैं। दिव्य महर्षिगणने आपको शरणदाता त[था] शरणागतवत्सल बतलाया है। आप ही सहस्रों शाखारू[प] सींग तथा सैकड़ों विधिवाक्यरूप मस्तकोंसे युक्त वेदरू[प] महावृषभ हैं। आप ही तीनों लोकोंके आदिकर्ता औ[र] स्वयंप्रभु (परम स्वतन्त्र) हैं। आप सिद्ध औ[र] साध्योंके आश्रय तथा पूर्वज हैं। यज्ञ, वषट्कार औ[र] ओंकार भी आप ही हैं। आप श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठ परमा[त्मा] हैं। आपके आविर्भाव और तिरोभावको कोई न[हीं] जानता। आप कौन हैं, इसका भी किसीको प[ता] नहीं है। समस्त प्राणियोंमें, गौओंमें तथा ब्राह्मणोंमें आप ही दिखायी देते हैं। समस्त दिशाओंमें, आका[श]में, पर्वतोंमें और नदियोंमें भी आपकी ही सत्ता है। आपके सहस्रों चरण, सैकड़ों मस्तक और सह[स्रों] नेत्र हैं। आप ही सम्पूर्ण प्राणियोंको, पृथिवीको औ[र] समस्त पर्वतोंको धारण करते हैं। पृथ्वीका अन्त [हो] जानेपर आप ही जलके ऊपर महान् सर्प—शेषना[ग]के रूपमें दिखायी देते हैं। श्रीराम! सबके हृदयमें र[मण] करनेवाले परमात्मन्! आप ही तीनों लोकोंको त[था] देवता, गन्धर्व और दानवोंको धारण करनेवाले वि[राट्] पुरुष नारायण हैं।'

अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती।
देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो।
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा।

संस्कारास्त्वभवन् वेदा नैतदस्ति त्वया विना ।
जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ॥
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः ।
त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः ॥
महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम् ।
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ।
तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर ॥
निहतो रावणो राम प्रहृष्टो दिवमाक्रम ।
अमोघं देव वीर्यं ते न तेऽमोघाः पराक्रमाः ॥
अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः ।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि ॥
ये त्वां देवं ध्रुवं भक्ताः पुराणं पुरुषोत्तमम् ।
प्राप्नुवन्ति तथा कामानिह लोके परत्र च ॥

(वा० रा०, युद्ध० ११७ । २३—३१)

'मैं ब्रह्मा आपका हृदय हूँ और देवी सरस्वती पकी जिह्वा हैं । प्रभो ! मुझ ब्रह्माने जिनकी सृष्टि । है, वे सब देवता आपके विराट् शरीरमें रोम हैं । पके नेत्रोंका बंद होना रात्रि और खुलना ही दिन । वेद आपके संस्कार हैं । आपके बिना इस जगत्- । अस्तित्व नहीं है । सम्पूर्ण विश्व आपका शरीर है । वी आपकी स्थिरता है । अग्नि आपका कोप है और न्द्रमा प्रसन्नता है, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न धारण रनेवाले भगवान् विष्णु आप ही हैं । पूर्वकालमें वामनावतारके समय) आपने ही अपने तीन पगोंसे नों लोक नाप लिये थे । आपने अत्यन्त दारुण यराज बलिको बाँधकर इन्द्रको तीनों लोकोंका राजा नाया था । सीता साक्षात् लक्ष्मी हैं और आप भगवान् ष्णु हैं । आप ही सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण एवं प्रजापति हैं । धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ रघुवीर ! आपने रावणका वध करनेके लिये ही इस लोकमें मनुष्यके शरीरमें प्रवेश किया था । हमलोगोंका कार्य आपने सम्पन्न कर दिया । श्रीराम ! आपके द्वारा रावण मा गया । अब आप प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धाम पधारिये । देव ! आपका बल अमोघ है आपके पराक्रम भी व्यर्थ होनेवाले नहीं हैं श्रीराम ! आपका दर्शन अमोघ है । आपका स्तव भी अमोघ है तथा आपमें भक्ति रखनेवाले मनुष्य भ इस भूमण्डलमें अमोघ ही होंगे । आप पुराणपुरुषोत्त हैं । दिव्यरूपधारी परमात्मा हैं । जो लोग आपमें भत्ति रक्खेंगे, वे इस लोक और परलोकमें अपने सभी मनोर प्राप्त कर लेंगे ।'

अध्यात्मरामायणमें रामस्वरूपका वर्णन

(भगवान् श्रीरामके स्वमुखके वचन)

रामः परात्मा प्रकृतेरनादिरानन्द एकः पुरुषोत्तमो हि

(अध्यात्म०, बाल० १ । १७)

'श्रीराम प्रकृतिसे परे, परमात्मा, अनादि, आनन्दघन अद्वितीय एवं निश्चय ही पुरुषोत्तम हैं ।'

जगज्जननी श्रीविदेह-नन्दिनीने पवनकुमारको उपदेश करते हुए जिनके सम्बन्धमें कहा—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥

(अध्यात्म०, बाल० १ । ३२)

'जो सच्चिदानन्द, अद्वितीय, समस्त उपाधियोंसे रहित, सत्तामात्र, अवाङ्मनसगोचर परम ब्रह्म हैं, वे श्रीराम हैं, ऐसा समझो ।'

—वे मर्यादापुरुषोत्तम शीलसमुद्र संकोची नाथ अपने सम्बन्धमें—अपने निखिल ऐश्वर्यसागर परात्पर स्वरूपके सम्बन्धमें स्वयं बहुत कम बोलते हैं, किंतु बोलते हैं; क्योंकि जो उनके अपने हैं, जिन्होंने उनके चरणोंमें अपनेको उत्सर्ग कर दिया है, उनसे वे अपना स्वरूप छिपा नहीं सकते । उनके सम्मुख कोई दुराव, कोई आवरण—भले वह मर्यादावरण ही हो, टिक नहीं पाता ।

श्रीभरतजीके साथ चित्रकूटमें श्रीरामके समीप सभी माताएँ आयी थीं। अयोध्याका पूरा समाज शोक-संतप्त था; किंतु माता कैकेयीकी व्यथाका भी कहीं वर्णन सम्भव है ? वे क्या कहें ? किससे कहें ? जो अयोध्यामें सबसे सम्मानिता थीं, आज वे सबकी दृष्टिमें अपना तिरस्कार देखती हैं। उन्हें न शोक प्रकट करनेका अधिकार रहा है, न दो शब्द बोलनेका। जिस पुत्रको राज्य दिलानेके लिये उन्होंने यह सब कलङ्क सिर लिया, वह उनसे बोलना भी अपराध मानने लगा है। उसकी व्यथा—उसकी वेदना और यह श्रीराम—श्रीराम तो उनको सदासे भरतसे अधिक अपने थे; किंतु यह उनसे क्या हो गया ? कैसे हो गया ?

ये इतने ऋषि-मुनि—सब कहते हैं कि 'श्रीराम परमात्मा हैं। वे सर्वप्रेरक, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता हैं।' तब क्या जो कुछ हुआ, वह इन श्रीरामकी प्रेरणासे, इनकी इच्छासे, इनके इङ्गितसे नहीं हुआ ?

'राम तो अपने हैं।' माता कैकेयी उन अपने श्रीरामसे एकान्तमें मिलीं। माताने स्तुति की और कहा—'जब तुम्हीं सर्वेश्वर हो, तब मुझसे जो कुछ हुआ, तुमने ही कराया है। तुम क्या अपनी इस माताको क्षमा नहीं करोगे ?'

श्रीराम अब अपनेको नर-नाट्यमें छिपाये नहीं रह सके। वे 'सस्मित' बोल उठे—

यदाह मां महाभागे नानृतं सत्यमेव तत्।
मयैव प्रेरिता वाणी तव वक्त्राद्विनिर्गता॥
देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थमत्र दोषः कुतस्तव।
गच्छ त्वं हृदि मां नित्यं भावयन्ती दिवानिशम्॥
सर्वत्र विगतस्नेहा मद्भक्त्या मोक्ष्यसेऽचिरात्।
अहं सर्वत्र समदृग् द्वेष्यो वा प्रिय एव वा॥
नास्ति मे कल्पकस्येव भजतोऽनुभजाम्यहम्।
मन्मायामोहितधियो मामम्ब मनुजाकृतिम्॥
सुखदुःखाद्यनुगतं जानन्ति न तु तत्त्वतः।
दृष्ट्या मद्गोचरं ज्ञानमुत्पन्नं ते भवापहम्॥
स्मरन्ती तिष्ठ भवने लिप्यसे न च कर्मभिः।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ९। ६३—६७½)

'हे महाभागे! तुमने जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है, मिथ्या नहीं। मेरी प्रेरणासे ही देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये तुम्हारे मुखसे ये शब्द निकले थे। इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं है। अब तुम जाओ, अहर्निश निरन्तर हृदयमें मेरी ही भावना करनेसे तुम सर्वत्र स्नेहरहित होकर मेरी भक्तिद्वारा शीघ्र ही मुक्त हो जाओगी। मैं सर्वत्र समदर्शी हूँ, मेरा कोई भी प्रिय या अप्रिय नहीं है। मायावी पुरुष जिस प्रकार अपनी ही मायासे रचे पदार्थोंमें राग-द्वेष नहीं करता, उसी प्रकार मेरा भी किसीमें राग-द्वेष नहीं है। जो पुरुष जिस प्रकार मेरा भजन करता है, मैं भी वैसे ही उसका ध्यान रखता हूँ। हे मातः! मेरी मायासे मोहित होकर लोग मुझे सुख-दुःखके वशीभूत साधारण मनुष्य जानते हैं। वे मेरे वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते। तुम्हारा बड़ा भाग्य है जो तुम्हें संसार-भयको दूर करनेवाला मेरा तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है। तुम मेरा स्मरण करती हुई घरमें ही रहो, इससे तुम कर्म-बन्धनमें नहीं बँधोगी।'

पद्मपुराणमें देवताओंकी उक्ति

शेषजी कहते हैं—मुने! जब श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक हो गया, तब राक्षसराज रावणके वधसे प्रसन्नचित्त हुए देवताओंने प्रणाम करके उनका इस प्रकार स्तवन किया—

सर्वदेवकृत श्रीरामस्तुति

देवा ऊचुः

जय दाशरथे सुरार्तिहन्-
जय जय दानववंशदाहक।
जय देववराङ्गनागण-
ग्रहणव्यग्रकरारिदारक॥
तव यद्दनुजेन्द्रनाशनं
कवयो वर्णयितुं समुत्सुकाः।
प्रलये जगतां ततीः पुन-
र्ग्रससे त्वं भुवनेश लीलया॥

जय जन्मजरादिदुःखकैः
परिमुक्त प्रबलोद्धरोद्धर ।
जय धर्मकरान्वयाम्बुधौ
कृतजन्मन्नजरामराच्युत ॥
तव देववरस्य नामभि-
र्बहुपापा अपि ते पवित्रिताः ।
किमु साधुद्विजवर्य पूर्वकाः
सुतनुं मानुषतामुपागताः ॥
रविरिञ्चिनुतं तव पादयो-
र्युगलमीप्सितकामसमृद्धिदम् ।
दि पवित्रयवादिकचिह्नितैः
सुरचितं मनसा स्पृहयामहे ॥
दि भवान्न दधात्यभयं भुवो
मदनमूर्तितिरस्करकान्तिभृत् ।
रगणा हि कथं सुखिनः पुन-
र्ननु भवन्ति घृणामय पावन ॥
(पद्म०, पाताल० ५ । २–७)

देवता बोले—'देवताओंकी पीड़ा दूर करनेवाले थनन्दन श्रीराम ! आपकी जय हो । आप उस (रावण) के विदारक हैं, जिसके हाथ (सदा) देवाङ्गनाओंको हस्तगत करनेके लिये आतुर थे । आपके द्वारा जो राक्षसराजका श हुआ है, उस अद्भुत कथाका समस्त जन उत्कण्ठापूर्वक वर्णन करेंगे । भुवनेश्वर ! कालमें आप सम्पूर्ण लोकोंकी परम्पराको लीलापूर्वक लेते हैं । प्रभो ! आप जन्म और जरा आदिके ोंसे सदा मुक्त हैं । प्रबल शक्तिसम्पन्न परमात्मन् ! आपकी जय हो ! आप हमारा उद्धार कीजिये, उद्धार कीजिये । धार्मिक पुरुषोंके कुलरूपी समुद्रमें प्रकट होने-वाले अजर-अमर और अच्युत परमेश्वर ! आपकी जय हो। भगवन् ! आप देवताओंसे श्रेष्ठ हैं । आपका नाम लेकर अनेकों प्रसिद्ध पातकी पवित्र हो गये; फिर जिन्होंने श्रेष्ठ द्विज-वंशमें जन्म ग्रहण करके उत्तम मानव-शरीरको प्राप्त किया है, उनका उद्धार होना कौन बड़ी बात है ! शिव और ब्रह्माजी भी जिनको मस्तक झुकाते हैं, जो पवित्र यव आदिके चिह्नोंसे सुशोभित तथा मनोवाञ्छित कामना एवं समृद्धि देनेवाले हैं, उन आपके चरणोंका हम निरन्तर अपने हृदयमें चिन्तन करते रहें—यही हमारी अभिलाषा है । आप कामदेवकी भी शोभाको तिरस्कृत करनेवाली मनोहर कान्ति धारण करते हैं । परमपावन दयामय ! यदि आप इस भूमण्डलको अभय-दान न दें तो देवता कैसे सुखी हो सकते हैं ?'

यदा यदा नो दनुजा हि दुःखदा-
स्तदा तदा त्वं भुवि जन्मभाग्भवेः ।
अजोऽव्ययोऽपीश वरोऽपि सन्विभो
स्वभावमास्थाय निजं निजार्चितः ॥
मृतसुधासदृशैरघनाशनैः
सुचरितैरवकीर्य महीतलम् ।
अमनुजैर्गुणशंसिभिरीडितः
प्रविश चाशु पुनर्हि स्वकं पदम् ॥
अनादिराद्योऽजररूपधारी
हारी किरीटी मकरध्वजाभः ।
जयं करोतु प्रसभं हतारिः
स्मरारिसंसेवितपादपद्मः ॥
(पद्म०, पाताल० ५ । ८–१०)

'नाथ ! जब-जब दानवी शक्तियाँ हमें दुःख देने लगें, तब-तब आप इस पृथ्वीपर अवतार ग्रहण करें । विभो ! यद्यपि आप सबसे श्रेष्ठ, अपने भक्तोंद्वारा पूजित, अजन्मा तथा अविकारी हैं तथापि अपनी मायाका आश्रय लेकर भिन्न-भिन्न रूपमें प्रकट होते हैं । आपके सुन्दर चरित्र (पवित्र लीलाएँ) मरनेवाले प्राणियोंके लिये अमृतके समान दिव्य जीवन प्रदान करनेवाले हैं । उनके श्रवण-

त्रसे समस्त पापोंका नाश हो जाता है। आपने अपनी इन लीलाओंसे समस्त भूमण्डलको व्याप्त कर रक्खा है तथा गुणोंका गान करनेवाले देवताओंद्वारा भी आपकी स्तुति की गयी है। जो सबके आदि हैं, परंतु जिनका आदि कोई नहीं है, जो अजर (तरुण) रूप धारण करनेवाले हैं, जिनके गलेमें हार और मस्तकपर किरीट शोभा पाता है, जो कामदेवकी भी कान्तिको लज्जित करनेवाले हैं, साक्षात् भगवान शिव जिनके चरण-कमलोंकी सेवामें लगे रहते हैं तथा जिन्होंने अपने शत्रु रावणका बलपूर्वक वध किया है, वे श्रीरघुनाथजी सदा ही विजयी हों।'

निवेदन

श्रीराम साक्षात् स्वयं भगवान् थे, इसके सम्बन्धमें ऊपर कुछ लिखा गया है। इस प्रकारके प्रसङ्ग तथा वाक्य और भी बहुत-से हैं। इन ग्रन्थोंपर विश्वास करनेवाले तथा अनुभवी उपासकोंके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है; जो लोग शिथिल विश्वासवाले हैं, वे उपर्युक्त ग्रन्थोंके उद्धरणोंपर विचार करें। आजकल जो यह कहा जाता है कि वाल्मीकिके राम ऐसे थे, अध्यात्मके ऐसे थे और मानसके ऐसे हैं, इससे यह सूचित किया जाता है कि विभिन्न कवियोंने अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार रामके स्वरूपका वर्णन किया है, वह यथार्थ नहीं है; पर बात ऐसी नहीं है। निश्चय ही आजकलके कवि अधिकांश कल्पना-काननमें ही विचरते हैं; पर वाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें कल्पभेदसे आयी हुई विभिन्न लीलाओंका ही यथार्थ वर्णन है—कल्पना नहीं। इसी प्रकार भक्तराज श्रीतुलसीदासजी कवि पीछे हैं, अनुभवी भक्त पहले हैं। भगवान श्रीरामकी प्रत्यक्ष कृपासे उन्होंने जिन लीलाओंका जैसा साक्षात्कार किया है, वैसा ही लिखा है और वह सत्य है।

श्रीरामकी पितृ-मातृ-भक्ति

कोपभवनमें कैकेयीसे रामजीका प्रश्न

श्रीरामके राज्याभिषेकका निश्चय हो जानेपर राजा दशरथके अनुरोधसे महर्षि वशिष्ठ श्रीरामके अन्तःपुरमें पधारे और सीता तथा रामको उपवास-व्रतकी दीक्षा देकर चले गये। उस समय राजभवन तथा अयोध्यानगरीमें सर्वत्र हर्षोल्लास छा रहा था। पुरवासियोंने अपने घरों, देवमन्दिरों, चौराहों तथा अट्टालिकाओंको सजा दिया। महलों, सभाओं और वृक्षोंपर ऊँचे-ऊँचे ध्वज फहरा दिये गये। यत्र-तत्र नट-नर्तकोंके समूह नृत्यकी कला दिखाने लगे। गानेवाले गायकोंकी मनोरम एवं श्रवणसुखद वाणी झुंड-की-झुंड जनता सुन रही थी। घर-घरमें लोगोंकी जिह्वापर श्रीरामके अभिषेककी ही चारु चर्चा थी। चौराहों और चबूतरोंपर, घरों और दरवाजोंपर क्रीडा करते हुए समूह-के-समूह बालक श्रीरामके राज्याभिषेककी ही बातें करते थे। पुरवासी नगरको सुसज्जित करके रामके यौवराज्याभिषेककी मङ्गल-कामना करते हुए परस्पर उसीकी चर्चा तथा उस शुभ निश्चयके लिये महाराजकी प्रशंसा करते थे। अयोध्याकी इस विचित्र साज-सज्जा, बरबस मनको खींचनेवाली सजावटको देख कैकेयीकी दासी मन्थराको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसकी दृष्टि पास ही खड़ी हुई रामकी धायपर पड़ी, जिसके नेत्र हर्षसे खिल रहे थे। वह श्वेत रंगकी रेशमी साड़ी पहने बड़ी शोभा पा रही थी। मन्थराने उससे पूछा—'आज क्या बात है कि रामकी माता लोगोंको प्रचुर धन बाँट रही हैं? इस अतिशय हर्षका कारण क्या है?' धायने बड़े हर्षसे उत्तर दिया—'क्या तुम नहीं जानतीं, कल श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक होनेवाला है?'

मन्थराके हृदयमें अमर्षकी आग जल उठी। उसने अन्तःपुरमें सोयी हुई कैकेयीके पास जाकर कहा—'मूढे! उठ, क्या सो रही है? तुझपर चारों ओरसे भय आ रहा है। तुझे अपनी स्थितिका पता नहीं है। अपने सौभाग्यको लेकर तू बड़ी डींग हाँका करती है, किंतु तेरा वह सौभाग्य चञ्चल है।' कैकेयीने पूछा—'क्यों क्या बात है? कुशल तो है न? तेरे मुँहपर विषाद छाया है। तू बहुत दुखी दिखायी दे रही है।'

मन्थराका रोष और बढ़ गया। वह बोली—'रानी! तेरे विनाशकी घड़ी आ पहुँची है। महाराज दशरथ श्रीरामका

युवराजके पदपर अभिषेक करने जा रहे हैं, भरतको बाहर भेजकर कल ही रामको राज्यसिंहासनपर बिठाने जा रहे हैं। अब इस अवसरपर तेरे लिये जो उचित है, सो कर।' मन्थराके द्वारा रामके राज्याभिषेककी बात सुनकर कैकेयीका हृदय हर्षसे भर गया। उसने कुब्जाको अपना दिव्य आभूषण उतारकर दे दिया और कहा—'दासी! यह तूने मुझे अत्यन्त प्रिय समाचार सुनाया है। मेरे लिये राम और भरतमें कोई भेद नहीं है। तू इस प्रिय समाचारके लिये मुझसे कोई वर माँग ले।'

मन्थराने आभूषण उठाकर फेंक दिया और कैकेयीके मनमें राम और कौसल्याके प्रति भेदभाव भरना आरम्भ कर दिया। वह अपनी कुटिल नीतिमें सफल हुई और उसके कुचक्रसे रानी कैकेयीने कोपभवनमें प्रवेश किया। राजा दशरथ कैकेयीको राज्याभिषेकका समाचार देने आये तो वह कोपभवनमें पड़ी मिली। राजाके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी उसने द्वेष और दुराग्रह नहीं छोड़ा। राजाको प्रतिज्ञाके बन्धनमें बाँधकर उसने उनसे दो वर माँगे—एकके द्वारा भरतका राज्याभिषेक और दूसरेके द्वारा रामका चौदह वर्षोंका वनवास। राजाने पहले कभी कैकेयीको दो वर देनेकी प्रतिज्ञा कर रक्खी थी, जिसका अनुचित लाभ उसने इस अवसरपर उठाया। राजाको बड़ी चिन्ता हुई। वे विलाप करने लगे। उन्होंने कैकेयीको फटकारा, फिर समझाया और वैसे वर माँगनेसे निवृत्त होनेके लिये अनुरोध किया; पर कैकेयी टस-से-मस न हुई। वह वर माँगनेके दुराग्रहपर दृढ़तापूर्वक डटी रही। महर्षि वशिष्ठ आये। राजाने सुमन्त्रको भेजकर फिर श्रीरामको अपने पास बुलवाया। रामने आकर पिताके दर्शन किये। वे विषादमें डूबे हुए थे। रानियोंमें केवल कैकेयी उनके साथ थी। राजाका मुँह सूखा जा रहा था। रामने पहले पिताके चरणोंमें विनीत भावसे प्रणाम किया। तदनन्तर एकाग्रचित्त हो माता कैकेयीके चरणोंका स्पर्श किया। 'राम!' इतना कह दयनीय दशाको प्राप्त हुए राजा दशरथ श्रीरामकी ओर न तो देख सके और न उनसे कोई बात ही कर सके। उनके नेत्रोंसे अविरल अश्रुधारा बहती रही। महाराजका वह अदृष्टपूर्व रूप बड़ा भयंकर था। उसे देखकर रामको भी भय हो गया। वे सोचने लगे कि 'आज ही पहला अवसर है कि राजा मुझे देखकर प्रसन्नता नहीं प्रकट कर रहे हैं। इसका क्या कारण हो सकता है? और दिन तो कुपित होनेपर भी ये मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, किंतु आज मुझपर दृष्टि प[ड़ते] ही इन्हें महान् क्लेश होने लगा है। ऐसा क्यों हो रहा है?' उन्होंने कैकेयीको प्रणाम करके इस प्रकार पूछा—

'पिताजी क्यों खिन्न हैं?'—

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय॥
अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः।
विषण्णवदनो दीनः नहि मां प्रति भाषते॥
शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते।
संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम्॥
कच्चिन्न किंचिद् भरते कुमारे प्रियदर्शने।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम्॥
अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे॥
यतोमूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते॥
कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात् पिता मम।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः॥
एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः।
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे॥
(वा० रा०, अयोध्या० १८। ११—१८)

'मा! मुझसे अनजानमें कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिससे पिताजी मुझपर नाराज हो गये हैं? तुम यह बात मुझे बताओ और तुम्हीं इन्हें मना दो। ये तो सदा मुझे प्यार करते थे, आज इनका मन अप्रसन्न क्यों हो गया? देखता हूँ, ये आज मुझसे बोलतेतक नहीं हैं, इनके मुखपर विषाद छा रहा है और ये अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। कोई शारीरिक व्याधिजनित संताप अथवा मानसिक अभिताप (चिन्ता) तो इन्हें पीड़ित नहीं कर रहा है? क्योंकि मनुष्यको सदा सुख-ही-सुख मिले—ऐसा सुयोग प्रायः दुर्लभ होता

है। प्रियदर्शन कुमार भरत, महाबली शत्रुघ्न अथवा मेरी माताओंका तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ है? महाराजको असंतुष्ट करके अथवा इनकी आज्ञा न मानकर इन्हें कुपित कर देनेपर मैं दो घड़ी भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा। मनुष्य जिसके कारण इस जगत्में अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है, उस प्रत्यक्ष देवता पिताके जीते-जी वह उसके अनुकूल बर्ताव क्यों न करेगा? कहीं तुमने तो अभिमान या रोषके कारण मेरे पिताजीसे कोई कठोर बात नहीं कह डाली, जिससे इनका मन दुखी हो गया है? देवि! मैं सच्ची बात पूछता हूँ—बताओ, किस कारणसे महाराजके मनमें आज इतना विकार (संताप) है? इनकी ऐसी अवस्था तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी।'

कैकेयी स्वार्थ-साधनके लिये लज्जा-संकोचको तिलाञ्जलि दे बैठी थी। उसने धृष्टतापूर्वक कहा—'राम! राजा न तो कुपित हैं और न इन्हें कोई डर ही है। इनके मनमें कोई बात है। ये तुम्हारे भयसे कह नहीं पा रहे हैं। तुम इनके प्रिय पुत्र हो। अतः तुमसे अप्रिय बात कहनेको इनकी जबान नहीं खुलती! मुझे इन्होंने पूर्वकालमें दो वर दिये थे। वे मैंने आज माँगे हैं। उन वरोंकी पूर्ति तुम्हारे अधीन है। यदि राजाकी कही हुई वह बात तुम-तक पहुँचकर नष्ट या निष्फल न हो जाय तो मैं ही तुमसे वह बात बताऊँगी। ये नहीं कह सकेंगे।' कैकेयीकी यह बात सुनकर रामको बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने महाराजके निकट ही रानी कैकेयीसे कहा—

मैं पिताकी आज्ञासे सब कुछ कर सकता हूँ।

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

(वा० रा०, अयोध्या० १८। २८-३०)

'अहो! धिक्कार है! देवि! तुम्हें मेरे प्रति बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं महारा कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता महाराज मेरे गुरु, पिता और हितैषी हैं, मैं उन आज्ञा पाकर क्या नहीं कर सकता? इसलिये देवि राजाको जो अभीष्ट है, वह बात मुझे बताओ प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा। राम कभी तरहकी बात नहीं करता।'

ऐसे भोलेभाले सत्यवादी श्रीरामसे कैकेयीने अत कठोर यह बात कह डाली—'राम! पहले देवासुर-संग्रा तुम्हारे पिता संकटमें पड़ गये थे। उस समय मैंने इन रक्षा की थी। इससे प्रसन्न हो इन्होंने मुझे दो वर दि वे ही वर आज मैंने माँगे हैं। उन वरोंके रूपमें मेरी म है कि भरतका राज्याभिषेक हो और तुम चौदह वर्षोंके लि दण्डकारण्यको चले जाओ।' यदि चाहते हो कि तुम पिता सत्यप्रतिज्ञ बने रहें तो तुम इन वरोंकी पूर्ति करो।'

कैकेयीकी यह बात वस्तुतः मृत्युके समान अप्रिय तो भी इसे सुनकर श्रीरामके मनमें तनिक भी व्य नहीं हुई। वे सहज सरलता प्रकट करते हुए कैकेयीसे बोले

पिता-माताका प्रिय करनेके लिये मैं सम्पूर्ण सुखोंका त्याग कर सकता हूँ।

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन्॥
इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः॥
मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम्॥
अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम्।

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥
तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥
गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥
दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १९ । २–११)

'मा ! बहुत अच्छा ! ऐसा ही हो । मैं महाराजकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये जटा और चीर धारण करके वनमें रहनेके निमित्त अवश्य यहाँसे चला जाऊँगा । परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आज दुर्जय तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज मुझसे पहलेकी तरह प्रसन्नतापूर्वक बोलते क्यों नहीं । देवि ! मैं तुम्हारे सामने ऐसी बात पूछ रहा हूँ, इसलिये तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये । निश्चय चीर और जटा धारण करके मैं वनमें चला जाऊँगा, तुम प्रसन्न रहो । राजा मेरे हितैषी, गुरु, पिता और कृतज्ञ हैं । इनकी आज्ञा होनेपर मैं इनका कौन-सा ऐसा प्रिय कार्य है, जिसे निःशङ्क होकर न कर सकूँ ? किंतु मेरे मनको एक ही हार्दिक दुःख अधिक जला रहा है कि स्वयं महाराजने मुझसे भरतके अभिषेककी बात नहीं कही । मैं केवल तुम्हारे कहनेसे भी अपने भाई भरतके लिये इस राज्यको, सीताको, प्यारे प्राणोंको तथा सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ । फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिताजी आज्ञा दें और वह भी तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये, तो मैं प्रतिज्ञाका पालन करते हुए उस कार्यको क्यों नहीं करूँगा ? तुम मेरी ओरसे विश्वास दिलाकर इन लज्जाशील महाराजको आश्वासन दो । ये पृथ्वीनाथ पृथ्वीकी ओर दृष्टि किये धीरे-धीरे आँसू क्यों बहा रहे हैं ? आज ही महाराजकी आज्ञासे दूत शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर भरतको मामाके यहाँसे बुलानेके लिये चले जायँ । मैं अभी पिताकी बातपर कोई विचार न करके चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये तुरंत दण्डकारण्यको चला ही जाता हूँ ।'

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई । उसे विश्वास हो गया कि राम अब अवश्य वनको चले जायँगे । अतः उन्हें जल्दी जानेकी प्रेरणा देती हुई बोली—'राम ! तुम ठीक कहते हो । ऐसा ही होना चाहिये । भरतको मामाके यहाँसे बुला लानेके लिये दूत जायँगे; किंतु तुम वनमें जानेके लिये स्वयं ही उत्सुक हो, इसलिये तुम्हारा विलम्ब करना मैं ठीक नहीं समझती । तुम्हें तो जितना शीघ्र सम्भव हो, यहाँसे वनको चल ही देना चाहिये । राजा लज्जित हैं, इसलिये स्वयं तुमसे नहीं कह रहे हैं । अतः इसका दुःख तुम अपने मनसे निकाल दो । जबतक तुम इस नगरसे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान या भोजन नहीं करेंगे ।' कैकेयीकी बात सुनकर शोकमें डूबे हुए राजा दशरथ लंबी साँस खींचकर बोले—'धिक्कार है ।' इतना कहकर वे मूर्छित हो पलँगपर गिर पड़े । उस समय श्रीरामने राजाको उठाकर बैठा दिया और व्यथाशून्य हृदयसे कैकेयीको सम्बोधित करके कहा—

पिताकी सेवासे बढ़कर कोई धर्म नहीं ।

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥
यत् तत्रभवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥
न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥
अनुक्तोऽप्यत्र भवता भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥
न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान् ।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् ।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद् वनम् ॥
भरतः पालयेद् राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा ।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥

(वा० रा०, अयोध्या० १९ । २०–२६)

'देवि ! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता । तुम विश्वास रक्खो ! मैंने भी ऋषियोंकी ही भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रक्खा है । पूज्य पिताजीका जो भी प्रिय कार्य मैं कर सकता हूँ, उसे प्राण देकर भी करूँगा । तुम उसे सर्वथा मेरेद्वारा हुआ ही समझो । पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन करना जैसा महत्त्वपूर्ण धर्म है, उससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है । यद्यपि पूज्य पिताजीने स्वयं मुझसे नहीं कहा है, तथापि मैं तुम्हारे ही कहनेसे चौदह वर्षोंतक इस भूतलपर निर्जन वनमें निवास करूँगा । कैकेयि ! तुम्हारा मुझपर पूरा अधिकार है । मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सकता हूँ; फिर भी तुमने स्वयं मुझसे न कहकर इस कार्यके लिये महाराजसे कहा—इनको कष्ट दिया । इससे जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती । अच्छा ! अब मैं माता कौसल्यासे आज्ञा ले लूँ और सीताको भी समझा-बुझा लूँ, इसके बाद आज ही विशाल दण्डकवनकी यात्रा करूँगा । तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे भरत इस राज्यका पालन और पिताजीकी सेवा करते रहें; क्योंकि यही सनातन धर्म है ।'

सीतासहित श्रीरामने वशिष्ठ-पुत्र सुयशको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदि दिये । फिर लक्ष्मणसहित श्रीरामने ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों और सेवकोंको, त्रिजट नामके ब्राह्मणको और सुहृद्-जनोंको धनका वितरण किया । इसके बाद सीता,

बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें ग[illegible] राजा दशरथके पास जाकर उनसे वनवासके लिये [illegible] माँगी । यह सुनकर राजाने कहा—'रघुनन्दन ! मैं कैकेय[illegible] दिये हुए वरके कारण मोहमें पड़ गया हूँ । तुम मुझे [illegible] करके अब स्वयं ही अयोध्याके राजा बन जाओ ।' महार[illegible] के ऐसा कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने दोनों हाथ [illegible] पिताको इस प्रकार उत्तर दिया—

मुझे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं है

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता ।
नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ।

(वा० रा०, अयोध्या० ३४ । २८-२

'महाराज ! आप सहस्रों वर्षोंतक इस पृ[illegible] अधिपति बने रहें । मैं तो अब वनमें ही निवास करूँ[illegible] मुझे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं है । नरेश्वर ! चौ[illegible] वर्षोंतक वनमें घूम-फिरकर आपकी प्रतिज्ञा पूरी [illegible] लेनेके पश्चात् मैं पुनः आपके युगल चरणोंमें म[illegible] झुकाऊँगा ।'

राजा दशरथ एक तो सत्यके बन्धनमें बँधे हुए थे, [illegible] कैकेयी उन्हें श्रीरामको तुरंत वनमें भेजनेके लिये बार[illegible] प्रेरित कर रही थी । इस अवस्थामें वे आर्तभावसे रोते [illegible] वहाँ अपने प्रिय पुत्र श्रीरामसे बोले—'बेटा ! तुम कल्य[illegible] लिये, अभ्युदयके लिये और पुनः लौट आनेके लिये [illegible] भावसे यात्रा करो । तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित [illegible] निर्भय हो । मैं तुम्हारे विचारको तो नहीं पलट सकता, [illegible] यह अनुरोध करता हूँ कि केवल एक रात्रिके लिये [illegible] यात्रा रोक दो । कल प्रातःकाल चले जाना । मैं स[illegible] शपथ खाकर कहता हूँ कि मुझे यह अभीष्ट नहीं [illegible] कैकेयीने मुझे धोखा दिया है ।' अपने शोकाकुल पि[illegible] यह कथन सुनकर श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ । वे बो[illegible]

पिताको सान्त्वना देना

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्य[illegible]

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला ।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥
वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति ।
यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव ।
अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह ।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥
नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम् ।
यथा निदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥
अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः ।
नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरिताम्पतिः ॥
नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् ।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥
न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो ।
स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ३४ । ४०—४९)

'महाराज ! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (लाभों) को पाऊँगा, उन्हें कल कौन मुझे देगा? अतः मैं सम्पूर्ण कामनाओंके बदले आज यहाँसे निकल जाना ही अच्छा समझता हूँ और इसीका वरण करता हूँ। राष्ट्र और यहाँके निवासी मनुष्योंसहित धन-धान्यसे सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप इसे भरतको दे दें। मेरा वनवासविषयक निश्चय अब बदल नहीं सकेगा। वरदायक नरेश! आपने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको जो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्णरूपसे दीजिये और सत्यवादी बनिये। मैं आपकी उक्त आज्ञाका पालन करता हुआ चौदह वर्षोंतक वनमें वनचारी प्राणियोंके साथ निवास करूँगा। आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये। आप यह सारी पृथ्वी भरतको दे दीजिये। रघुनन्दन! मैंने अपने मनको सुख देने अथवा स्वजनोंका प्रिय करनेके उद्देश्यसे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की थी। आपकी आज्ञाका यथावत्‌रूपसे पालन करनेके लिये ही मैंने उसे ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी। आपका दुःख दूर हो जाय, आप इस प्रकार आँसू न बहायें। सरिताओंका स्वामी दुर्धर्ष समुद्र क्षुब्ध नहीं होता—अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता (इसी तरह आपको भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये)। मुझे न तो इस राज्यकी, न सुखकी, न पृथ्वीकी, न इन सम्पूर्ण भोगोंकी, न स्वर्गकी और न जीवनकी ही इच्छा है। पुरुषशिरोमणे! मेरे मनमें यदि कोई इच्छा है तो यही कि आप सत्यवादी बनें। आपका वचन मिथ्या न होने पाये। यह बात मैं आपके सामने सत्य और शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ। तात! प्रभो! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। अतः आप इस शोकको अपने भीतर ही दबा लें। मैं अपने निश्चयके विपरीत कुछ नहीं कर सकता।'

श्रीरामके यों कहनेपर राजा दशरथने दुःख और संतापसे पीड़ित हो उन्हें छातीसे लगाया और फिर वे अचेत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। यह देख सब रानियाँ रो पड़ीं तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया। तब राजा दशरथने श्रीरामके साथ सेना और खजाना भेजनेका आदेश दिया; किंतु कैकेयीने इसका घोर विरोध किया। फिर प्रधान मन्त्री सिद्धार्थने कैकेयीको समझानेका असफल प्रयास किया। उस समय राजा दशरथने स्वयं भी श्रीरामके साथ जानेकी इच्छा प्रकट की। मन्त्री और पिताकी बातें सुनकर श्रीरामने विनीत भावसे कहा—

मुझे सेनाकी आवश्यकता नहीं।

त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः ।
किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥
यो हि दत्त्वा द्विपश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः ।
रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥

तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते ।
सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥
खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ३७ । २—५)

'राजन् ! मैं भोगोंका परित्याग कर चुका हूँ । मुझे जंगलके फल-मूलोंसे जीवन निर्वाह करना है । जब मैं सब ओरसे आसक्ति छोड़ चुका हूँ, तब मुझे सेनासे क्या प्रयोजन है ? जो श्रेष्ठ गजराजका दान करके उसके रस्सेमें मन लगाता है—लोभवश रस्सेको रख लेना चाहता है, वह अच्छा नहीं करता; क्योंकि उत्तम हाथीका त्याग करनेवाले पुरुषको उसके रस्सेमें आसक्ति रखनेकी क्या आवश्यकता है ? सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ महाराज ! इसी तरह मुझे सेना लेकर क्या करना है ? मैं ये सारी वस्तुएँ भरतको अर्पित करनेकी अनुमति देता हूँ । मेरे लिये तो (माता कैकेयीकी दासियाँ) चीर (चिथड़े या वल्कलवस्त्र) ला दें । दासियो ! आओ, खन्ती और पेटारी अथवा कुदारी और खाँची—ये दोनों वस्तुएँ लाओ । चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये ये चीजें उपयोगी हो सकती हैं ।'

अध्यात्मरामायण और मानसके प्रसङ्ग

अध्यात्मरामायण एवं श्रीरामचरितमानसमें यह प्रसङ्ग कुछ अन्तरसे है; किंतु उनके अनुसार भी—सुना यह था कि आज यौवराज्य पद प्राप्त होगा और सवेरे-सवेरे देखना यह पड़ा कि महाराज दशरथ माता कैकेयीके सदनमें भूमिपर मूर्च्छित पड़े हैं। पूछनेपर भी श्रीकैकेयी माताने स्पष्ट न कहकर व्यंग किया—'तुम्हारे ही कारण तुम्हारे पिताकी यह दशा है। इनके हितके लिये तुम्हें कुछ करना होगा । तुम इन्हें सत्यवादी बना सकते हो ।'

बड़ी अटपटी बातें—बड़ा अकल्पित व्यवहार, किंतु परम गम्भीर श्रीराम तनिक विचलित नहीं हुए । बड़े स्पष्ट एवं स्थिर स्वरमें बोले—'माता ! आप इस प्रकार क्यों

पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम् ॥
सीतां त्यक्षेऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्
अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः ॥
उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः ।
उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते ॥
अतः करोमि तत्सर्वं यन्मामाह पिता मम ।
सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ३ । ५९—६२)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, भयंकर विष पी सकता हूँ और सीता, कौसल्या तथा राज्यको भी छोड़ सकता हूँ । जो पुत्र पिताकी आज्ञाके बिना ही उनका अभीष्ट कार्य करता है, वह उत्तम है । जो पिताके कहनेपर करता है, वह मध्यम होता है और जो कहनेपर भी नहीं करता, वह पुत्र तो विष्ठाके समान है । अतः पिताजीने मेरे लिये जो कुछ आज्ञा की है, उसे मैं अवश्य पूर्ण करूँगा । यह सर्वथा सत्य है, राम दो बात कभी नहीं कहता ।'

कैकेयीने अपने वरदान माँगनेकी पूरी बात सुना दी । श्रीरघुनाथजीने भी शान्तिपूर्वक सुना; कोई उन्हें खेद, कोई भी क्षोभ चित्तमें नहीं । वे प्रसन्नतापूर्वक बोले—

भरतस्यैव राज्यं स्यादहं गच्छामि दण्डकान् ।
किंतु राजा न वक्तीह मां न जानेऽत्र कारणम् ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ३ । ६७)

श्रीरामचन्द्रजी बोले—माता ! भरत आनन्दसे यह राज्य भोगें और मैं भी अभी दण्डकारण्यको जाता हूँ । किंतु इसका कारण ज्ञात नहीं होता कि महाराज मुझसे क्यों नहीं कहते ।

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी ।
जो पितु मातु बचन अनुरागी ॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा ।

दो०—मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू।
बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा।
प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥
सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी।
परिहरि अमृत लेहिं बिषु मागी॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं।
देखि बिचारि मातु मन माहीं॥
(रामचरित०, अयोध्या० ४० । ४;४१, ४१ । १-२)

'आनन्दनिधान श्रीरामने माता कैकेयीसे कहा—'हे माता! सुनो—वही पुत्र बड़भागी है, जो माता-पिताके चरणोंका अनुरागी (पालन करनेवाला) है। [आज्ञा-पालनके द्वारा] माता-पिताको संतुष्ट करनेवाला पुत्र, हे जननी! सारे संसारमें दुर्लभ है। वनमें विशेषरूपसे मुनियोंका मिलाप होगा, जिसमें मेरा सभी प्रकारसे कल्याण है। उसमें भी, फिर पिताजीकी आज्ञा और हे जननी! तुम्हारी सम्मति है! प्राणप्रिय भरत राज्य पायेंगे। [इन सभी बातोंको देखकर यह प्रतीत होता है कि] आज विधाता सब प्रकारसे मुझे सम्मुख हैं (मेरे अनुकूल हैं)। यदि ऐसे कामके लिये भी मैं वनको न जाऊँ तो मूर्खोंके समाजमें सबसे पहले मेरी गिनती करनी चाहिये। जो कल्पवृक्षको छोड़कर रेंडकी सेवा करते हैं और अमृत त्यागकर विष माँग लेते हैं; हे माता! तुम मनमें विचारकर देखो, वे (महामूर्ख) भी ऐसा मौका पाकर कभी न चूकेंगे।'

अंब एक दुखु मोहि बिसेषी।
निपट बिकल नरनायकु देखी॥
थोरिहिं बात पितहि दुख भारी।
होति प्रतीति न मोहि महतारी॥
राउ धीर गुन उदधि अगाधू।
भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥
जातें मोहि न कहत कछु राऊ।
मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ॥
(रामचरित, अयोध्या० ४१ । ३-४)

'हे माता! मुझे एक ही दुःख विशेषरूपसे हो रहा है, वह महाराजको अत्यन्त व्याकुल देखकर। इस थोड़ी-सी बातके लिये ही पिताजीको इतना भारी दुःख हो, हे माता! मुझे इस बातपर विश्वास नहीं होता; क्योंकि महाराज तो बड़े ही धीर और गुणोंके अथाह समुद्र हैं। अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण महाराज मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें मेरी शपथ है, माता! तुम सच-सच कहो।'

पिताको आश्वासन

महाराज दशरथकी मूर्छा दूर हुई। उनका हृदय व्यथासे विदीर्ण हुआ जा रहा था। श्रीरघुनाथजीने अपने पटुकेसे पिताके अश्रु पोंछे और वे स्वयं उन्हें आश्वासन देने लगे—

किमत्र दुःखेन विभो राज्यं शास्तु मेऽनुजः॥
अहं प्रतिज्ञां निस्तीर्य पुनर्यास्यामि ते पुरम्।
राज्यात्कोटिगुणं सौख्यं मम राजन्वने सतः॥
त्वत्सत्यपालनं देवकार्यं चापि भविष्यति।
कैकेय्याश्च प्रियो राजन्वनवासो महागुणः॥
इदानीं गन्तुमिच्छामि व्येतु मातुश्च हृज्ज्वरः।
सम्भाराश्चोपहीयन्तामभिषेकार्थमाहृताः॥
मातरं च समाश्वास्य अनुनीय च जानकीम्।
आगत्य पादौ वन्दित्वा तव यास्ये सुखं वनम्॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ३ । ७३—७७)

'प्रभो! यदि मेरे छोटे भाई भरत राज्यशासन करें तो इसमें दुःखकी क्या बात है? मैं भी इस प्रतिज्ञाका पालन कर फिर आपके पास अयोध्या लौट ही आऊँगा। हे राजन्! वनमें रहनेसे तो मुझे राज्यसे भी करोड़गुना सुख होगा। इसमें आपके सत्यकी रक्षा होगी, देवताओंका कार्य सिद्ध होगा और कैकेयीका भी हित होगा। अतः हे राजन्! वनवासमें सब प्रकार महान् गुण है। अब मैं शीघ्र ही जाना चाहता हूँ; माता कैकेयीकी हार्दिक व्यथा शान्त हो। अभिषेकके लिये एकत्रित की हुई यह सामग्री अलग रख दी जाय। माता कौसल्याको सान्त्वना देकर और जानकीको समझा-बुझाकर मैं अभी आता हूँ और

आपके चरणोंकी वन्दना करके आनन्दपूर्वक वनको जाता हूँ।'

प्रसन्नचित्तसे आज्ञा माँगना

तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई।
अनुचित छमब जानि लरिकाई॥
अति लघु बात लागि दुखु पावा।
काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा॥
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता।
सुनि प्रसंगु भए सीतल गाता॥
दो०—मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ कहि पुलके प्रभु गात॥
धन्य जनमु जगतीतल तासू।
पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें।
प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥
आयसु पालि जनम फलु पाई।
ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई॥
बिदा मातु सन आवउँ मागी।
चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी॥
(रामचरित अयोध्या० ४४। ३-४; ४५, ४५। १-२)

श्रीरामचन्द्रजीने महाराज दशरथसे कहा—'हे तात! मैं कुछ कहता हूँ, यह ढिठाई करता हूँ। इस अनौचित्यको मेरा लड़कपन समझकर क्षमा कीजियेगा। इस अत्यन्त तुच्छ बातके लिये आपने इतना दुःख पाया। मु किसीने पहले कहकर यह बात नहीं जनायी। स्वामी (आप) को इस दशामें देखकर मैंने मातासे पूछा। उनसे सारा प्रसङ्ग सुनकर मेरे सब अङ्ग शीतल हो गये (मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई)। हे पिताजी! इस मङ्गलके समय स्नेहवश होकर सोच करना छोड़ दीजिये और हृदयमें प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिये।' यह कहते हुए प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सर्वाङ्ग पुलकित हो गये। (वे फिर बोले—) 'इस पृथ्वीतल-पर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित्र सुनकर पिताको परम आनन्द हो। जिसको माता-पिता प्राणोंके समान प्रिय हैं, चारों पदार्थ (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) उसके करतलगत (मुट्ठीमें) रहते हैं। आपका आज्ञापालन करके और जन्मका फल पाकर मैं जल्दी ही लौट आऊँगा, अतः कृपया आज्ञा दीजिये। मातासे विदा माँग आता हूँ, फिर आपके पैर लगकर (प्रणाम करके) वनको चलूँगा।'

वन जानेके लिये श्रीराम गङ्गातटपर आये। उस समय सुमन्त्रने हाथ जोड़कर पूछा—'प्रभो! अब मेरे लिये क्या आज्ञा है?' श्रीरामने उन्हें महाराजके पास लौट जानेका आदेश दिया और अब पैदल ही वनकी यात्रा करनेका विचार व्यक्त किया। सुमन्त्रने दुखी होकर कहा—'श्रीराम! हमलोग हर तरहसे मारे गये। आपने हम पुरवासियोंको साथ न ले जाकर अपने दर्शनजनित सुखसे वञ्चित कर दिया। अब हम कैकेयीके वशमें पड़ेंगे और दुःख भोगेंगे।' यों कहकर दुःखसे व्याकुल सुमन्त्र फूट-फूटकर रोने लगे। तब श्रीरामचन्द्रजीने मधुर वाणीमें कहा—

माता-पितासे कहनेके लिये संदेश देना

इक्ष्वाकूणां त्वया तुल्यं सुहृदं नोपलक्षये।
यथा दशरथो राजा मां न शोचेत् तथा कुरु॥
शोकोपहतचेताश्च वृद्धश्च जगतीपतिः।
कामभारावसन्नश्च तस्मादेतद् ब्रवीमि ते॥
यद् यथा ज्ञापयेत् किंचित् स महात्मा महीपतिः।
कैकेय्याः प्रियकामार्थं कार्यं तदविकाङ्क्षया॥
एतदर्थं हि राज्यानि प्रशासति नराधिपाः।
यदेषां सर्वकृत्येषु मनो न प्रतिहन्यते॥
यद् यथा स महाराजो नालीकमधिगच्छति।
न च ताम्यति शोकेन सुमन्त्र कुरु तत् तथा॥
अदृष्टदुःखं राजानं वृद्धमार्यं जितेन्द्रियम्।
ब्रूयास्त्वमभिवाद्यैव मम हेतोरिदं वचः॥
न चाहमनुशोचामि लक्ष्मणो न च शोचति।
अयोध्यायाश्च्युताश्चेति वने वत्स्यामहेति वा।
चतुर्दशसु वर्षेषु निवृत्तेषु पुनः पुनः।
मणं मां च सीतां च द्रक्ष्यसे शीघ्रमागतान्।
एवमुक्त्वा तु राजानं मातरं च सुमन्त्र मे।
अन्याश्च देवीः सहिताः कैकेयीं च पुनः पुनः।
आरोग्यं हि कौसल्यामथ पादाभिवन्दनम्।
सीताया मम चार्यस्य वचनाल्लक्ष्मणस्य —।

ब्रूयाश्चापि महाराजं भरतं क्षिप्रमानय।
आगतश्चापि भरतः स्थाप्यो नृपमते पदे॥
भरतं च परिष्वज्य यौवराज्येऽभिषिच्य च।
अस्मत्संतापजं दुःखं न त्वामभिभविष्यति॥
भरतश्चापि वक्तव्यो यथा राजनि वर्तसे।
तथा मातृषु वर्तेथाः सर्वास्वेवाविशेषतः॥
यथा च तव कैकेयी सुमित्रा चाविशेषतः।
तथैव देवी कौसल्या मम माता विशेषतः॥
तातस्य प्रियकामेन यौवराज्यमवेक्षता।
लोकयोरुभयोः शक्यं नित्यदा सुखमेधितुम्॥
(वा० रा०, अयोध्या० ५२। २२-३६)

"सुमन्त्रजी! मेरी दृष्टिमें इक्ष्वाकुवंशियोंका हित करनेवाला सुहृद् आपके समान दूसरा कोई नहीं है। आप ऐसा प्रयत्न करें, जिससे महाराज दशरथको मेरे लिये शोक न हो। पृथ्वीपति महाराज दशरथ एक तो बूढ़े हैं, दूसरे उनका सारा मनोरथ चूर-चूर हो गया है; इसलिये उनका हृदय शोकसे पीड़ित है। यही कारण है कि मैं आपको उनकी सँभालके लिये कहता हूँ। वे महामनस्वी महाराज कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे आपको जो कुछ जैसी भी आज्ञा दें, उसका आप आदरपूर्वक पालन करें—यही मेरा अनुरोध है। राजालोग इसीलिये राज्यका पालन करते हैं कि किसी भी कार्यमें इनके मनकी इच्छा-पूर्तिमें विघ्न न डाला जाय। सुमन्त्रजी! जिस किसी भी कार्यमें जिस किसी तरह भी महाराजको अप्रिय बातसे खिन्न होनेका अवसर न आये तथा वे शोकसे दुबले न हों, वह आपको उसी प्रकार करना चाहिये। जिन्होंने कभी दुःख नहीं देखा है, उन आर्य, जितेन्द्रिय और वृद्ध महाराजको मेरी ओरसे प्रणाम करके यह बात कहियेगा—'हमलोग अयोध्यासे निकल गये अथवा हमें वनमें रहना पड़ेगा, इस बातको लेकर न तो मैं कभी शोक करता हूँ और न लक्ष्मणको ही इसका शोक है। चौदह वर्ष समाप्त होनेपर हम पुनः शीघ्र ही लौट आयँगे और उस समय आप मुझे, लक्ष्मणको और सीताको भी फिर देखेंगे।' सुमन्त्रजी! महाराजसे यों कहकर आप मेरी मातासे, उनके साथ बैठी हुई अन्य देवियों (माताओं) से तथा कैकेयीसे भी वारंवार मेरा कुशल-समाचार कहियेगा। माता कौसल्यासे कहियेगा कि 'तुम्हारा पुत्र स्वस्थ एवं प्रसन्न है।' इसके बाद सीताकी ओरसे, मुझ ज्येष्ठ पुत्रकी ओरसे तथा लक्ष्मणकी ओरसे भी माताकी चरण-वन्दना कह दीजियेगा। तदनन्तर मेरी ओरसे महाराजसे भी यह निवेदन कीजियेगा कि 'आप भरतको शीघ्र ही बुलवा लें और जब वे आ जायँ, तब अपने अभीष्ट युवराजपद-पर उनका अभिषेक कर दें। भरतको छातीसे लगानेपर और युवराजके पदपर अभिषिक्त कर देनेपर आपको हम-लोगोंके वियोगसे होनेवाला दुःख दबा नहीं सकेगा।' भरतसे भी हमारा यह संदेश कह दीजियेगा कि 'महाराजके प्रति जैसा तुम्हारा बर्ताव है, वैसा ही समान-रूपसे सभी माताओंके प्रति होना चाहिये। तुम्हारी दृष्टिमें कैकेयीका जो स्थान है, वही समानरूपसे सुमित्रा और मेरी माता कौसल्याका भी होना उचित है; इन सबमें कोई अन्तर न रखना। पिताजीका प्रिय करनेकी इच्छासे युवराजपदको स्वीकार करके यदि तुम राजकाज-की देखभाल करते रहोगे तो इहलोक और परलोकमें सदा ही सुख पाओगे।'"

सुमन्त्रका दशरथको श्रीरामका संदेश सुनाना

सुमन्त्र अयोध्या लौटे। श्रीरामको शृङ्गवेरपुरतक पहुँचाकर अयोध्या आनेपर महाराज दशरथके पूछनेपर श्रीरामका संदेश वे सुनाते हैं। यह संदेश ही इसका जाग्रत् प्रमाण है कि श्रीरामके हृदयमें पिता तथा माताके लिये कितनी भक्ति और कितनी चिन्ता है।

अब्रवीन्मे महाराज धर्ममेवानुपालयन्।
अञ्जलिं राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च॥

सूत मद्वचनात् तस्य तातस्य विदितात्मनः ।
शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ पादौ महात्मनः ॥
सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात् त्वया ।
आरोग्यमविशेषेण यथार्हमभिवादनम् ॥
माता च मम कौसल्या कुशलं चाभिवादनम् ।
अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्चैनामिदं वचः ॥
धर्मनित्या यथाकालमग्न्यगारपरा भव ।
देवि देवस्य पादौ च देववत् परिपालय ॥
अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्व मातृषु ।
अनुराजानमार्यां च कैकेयीमम्ब कारय ॥
कुमारे भरते वृत्तिर्वर्तितव्या च राजवत् ।
अप्यज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥
भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च ।
सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥
वक्तव्यश्च महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥
अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यपरोरुधः ।
कुमारराज्ये जीवस्व तस्यैवाज्ञाप्रवर्तनात् ॥
अब्रवीच्चापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५८ । १४—२४)

"महाराज ! श्रीरामचन्द्रजीने धर्मका ही निरन्तर पालन करते हुए दोनों हाथ जोड़कर और मस्तक झुकाकर कहा है—'सूत ! तुम मेरी ओरसे आत्मज्ञानी तथा वन्दनीय मेरे महात्मा पिताके दोनों चरणोंमें प्रणाम कहना तथा अन्तःपुरमें सभी माताओंको मेरे आरोग्यका समाचार देते हुए उनसे विशेषरूपसे मेरा यथोचित प्रणाम निवेदन करना । इसके बाद मेरी माता कौसल्याको मेरी ओरसे प्रणाम करके बताना कि 'मैं कुशलसे हूँ और धर्मपालनमें सावधान रहता हूँ ।' फिर उनको मेरा यह संदेश सुनाना कि 'माँ ! तुम सदा धर्ममें तत्पर रहकर यथासमय अग्निशालाके सेवन (अग्निहोत्र-कार्य) में संलग्न रहना । दे[illegible] महाराजको देवताके समान मानकर उनके चर[illegible] सेवा करना । अभिमान और मानको त्यागकर माताओंके प्रति समान बर्ताव करना—उनके हिल-मिलकर रहना । अम्ब ! जिसमें राजाका अ[illegible] है, उस कैकेयीको भी श्रेष्ठ मानकर उसका स[illegible] करना और कुमार भरतके प्रति राजोचित बर्ताव कर[illegible] राजा छोटी उम्रके हों तो भी वे आदरणीय ही हैं—इस राजधर्मको याद रखना ।' कुमार भरतसे मेरा कुशल-समाचार बताकर उनको मेरी ओरसे कहना 'भैया ! तुम सभी माताओंके प्रति न्यायोचित ब[illegible] करते रहना ।' इक्ष्वाकुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले महा[illegible] भरतसे यह भी कहना चाहिये कि 'युवराजप[illegible] अभिषिक्त होनेके बाद भी तुम राज्यसिंहास[illegible] विराजमान पिताजीकी रक्षा एवं सेवामें संलग्न रह[illegible] राजा बहुत बूढ़े हो गये हैं—ऐसा मानकर उनका विरोध न करना—उन्हें राजसिंहासनसे उतारना । युवराज-पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर उन[illegible] आज्ञाका पालन करते हुए ही जीवन-निर्वाह करना फिर उन्होंने नेत्रोंसे बहुत आँसू बहाते हुए [illegible] भरतसे कहनेके लिये ही यह संदेश दिया—'भरत मेरी पुत्र-वत्सला माताको अपनी ही माताके सम[illegible] समझना ।"

भरतजीसे श्रीरामजीका प्रश्न

लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीने अपने गुरुभक्त भ[illegible] भरतको अच्छी तरह समझाकर अथवा उन्हें अपनेमें अनुर[illegible] जानकर उनसे इस प्रकार पूछना आरम्भ किया—

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया ।
यस्मात् त्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥

---

१. मुख्य पटरानी होनेका अहंकार । २. अपने बड़प्पन घमंडमें आकर दूसरोंके तिरस्कार करनेकी भावना ।

यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०१ । २-३)

'भाई ! तुम राज्य छोड़कर वल्कल, कृष्णमृगचर्म और जटा धारण करके जो इस देशमें आये हो, इसका क्या कारण है ? जिस निमित्तसे इस वनमें तुम्हारा प्रवेश हुआ है, यह मैं तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहता हूँ । तुम्हें सब कुछ साफ-साफ बताना चाहिये ।'

भरतकी श्रीरामके चरणोंमें प्रार्थना और श्रीरामका उत्तर

श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर भरत आन्तरिक शोकको दबाये हाथ जोड़कर बोले—'आर्य ! हमारे महाबाहु पिता अत्यन्त दुष्कर कर्म करके पुत्रशोकसे पीड़ित हो हमें छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये । मेरी माता कैकेयीकी प्रेरणासे ही विवश हो पिताजीको ऐसा कठोर कार्य करना पड़ा था । मेरी माताने अपने सुयशको नष्ट करनेवाला यह बड़ा भारी पाप किया है । वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गयी और अब शोकसे दुर्बल हो महाघोर नरकमें पड़ेगी । मैं आपका दास हूँ । मुझपर कृपा कीजिये और आज ही अयोध्याके राज्यपर अपना अभिषेक कराइये । ये सारी प्रकृतियाँ (मन्त्री, सेना और प्रजा आदि) तथा विधवा माताएँ आपके पास आयी हैं । आप इन सबपर कृपा करें । न्यायतः आपको ही राज्य मिलना चाहिये । अतः आप धर्मानुसार राज्य ग्रहण करें और अपने सुहृदोंको सफल-मनोरथ बनायें ।' यों कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए भरतने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें मस्तक रख दिया । तब श्रीरामने भरतको उठाकर हृदयसे लगाया और बोले—

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥
न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।
न चापि जननीं बाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥
कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥
वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥
वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥
यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते ।
तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥
एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे ॥
त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥
एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ ।
व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः ॥
स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।
पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥
चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥
यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम् ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०१ । १६–२७)

'भाई ! तुम्हीं बताओ—उत्तम कुलमें उत्पन्न, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी और श्रेष्ठ व्रतोंका पालन करनेवाला मेरे-जैसा मनुष्य राज्यके लिये पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप पाप कैसे कर सकता है ? शत्रुसूदन ! मैं तुम्हारे अंदर थोड़ा-सा भी दोष नहीं देखता । अज्ञानवश तुम्हें अपनी माताकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । निष्पाप महाप्राज्ञ ! गुरुजनोंका अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रोंपर सदा पूर्ण अधिकार होता है । वे उन्हें चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं । सौम्य ! माताओंसहित हम भी इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा महाराजके स्त्री-पुत्र और शिष्य कहे गये हैं, अतः हमें भी उनको सब तरहकी आज्ञा देनेका अधिकार था । इस बातको तुम भी समझने योग्य हो । सौम्य ! महाराज

मुझे वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण कराकर वनमें ठहरायें अथवा राज्यपर बिठायें—इन दोनों बातोंके लिये वे सर्वथा समर्थ थे। धर्मज्ञ! धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भरत! मनुष्यकी विश्ववन्द्य पितामें जितनी गौरव-बुद्धि होती है, उतनी ही मातामें भी होनी चाहिये। रघुनन्दन! इन धर्मशील माता और पिता दोनोंने जब मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दे दी है, तब मैं उनकी आज्ञाके विपरीत दूसरा कोई बर्ताव कैसे कर सकता हूँ? तुम्हें अयोध्यामें रहकर समस्त जगत्‌के लिये आदरणीय राज्य प्राप्त करना चाहिये और मुझे वल्कल वस्त्र धारण करके दण्डकारण्यमें रहना चाहिये; क्योंकि महाराज दशरथ बहुत लोगोंके सामने हम दोनोंके लिये इस प्रकार पृथक्-पृथक् दो आज्ञाएँ देकर स्वर्गको सिधारे हैं। इस विषयमें लोकगुरु धर्मात्मा राजा ही तुम्हारे लिये प्रमाणभूत हैं—उन्हींकी आज्ञा तुम्हें माननी चाहिये और पिताने तुम्हारे हिस्सेमें जो कुछ दिया है, उसीका तुम्हें यथावत् उपभोग करना चाहिये। सौम्य! चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहनेके बाद ही महात्मा पिताके दिये हुए राज्य-भागका मैं उपभोग करूँगा। मनुष्यलोकमें सम्मानित और देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी मेरे महात्मा पिताने मुझे जो वनवासकी आज्ञा दी है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ। उनकी आज्ञाके विरुद्ध सर्वलोकेश्वर ब्रह्माका अविनाशी पद भी मेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है।'

पिताके शोकमें व्याकुल श्रीरामके उद्गार

भरतने पुनः श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेका अनुरोध किया और पिताकी मृत्युका स्मरण दिलाकर उनके उद्देश्यसे जलाञ्जलि देनेके लिये प्रेरणा दी। पिताको याद करके श्रीराम बहुत दुखी हो गये और कटे हुए वृक्षकी भाँति पृथ्वीपर गिर पड़े। थोड़ी देर बाद होशमें आनेपर वे दीन वाणीमें रोते हुए बोले—

किं करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते।
कस्तां राजवराद्धीनामयोध्यां पालयिष्यति॥
किं नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः।
यो मृतो मम शोकेन स मया न च संस्कृतः॥
अहो भरत सिद्धार्थो येन राजा त्वयानघ।
शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः॥
निष्प्रधानामनेकाग्रां नरेन्द्रेण विना कृताम्।
निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे॥
समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परंतप।
कोऽनुशासिष्यति पुनस्ताते लोकान्तरं गते॥
पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन्।
वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०३। ८-१[illegible])

'भैया! जब पिताजी परलोकवासी हो गये, अयोध्यामें चलकर अब मैं क्या करूँगा? राजशिरोमणि पितासे हीन हुई उस अयोध्याका कौन पालन करेगा? हाय! जो पिताजी मेरे शोकसे मृत्युको प्राप्त हुए, उन्हींका मैं दाहसंस्कार न कर सका। मुझ-जैसे व्यर्थ जन्म लेनेवाले पु[illegible] उन महात्मा पिताका कौन-सा कार्य सिद्ध हुआ निष्पाप भरत! तुम्हीं कृतार्थ हो, तुम्हारा अहोभ[illegible] है, जिसके कारण तुमने और शत्रुघ्नने सभी प्रेतक[illegible] (पारलौकिक कृत्यों) में संस्कार-कर्मके द्वारा महारा[illegible] पूजन किया है। महाराज दशरथसे हीन हुई अयो[illegible] अब प्रधान शासकसे रहित हो अस्वस्थ एवं आ[illegible] हो उठी है; अतः वनवाससे लौटनेपर भी मेरे म[illegible] अयोध्या जानेका उत्साह नहीं रह गया है। पर भरत! वनवासकी अवधि समाप्त करके यदि अयोध्यामें जाऊँ तो फिर कौन मुझे कर्तव्यका उप[illegible] देगा; क्योंकि पिताजी तो परलोकवासी हो ग[illegible] पहले जब मैं उनकी किसी आज्ञाका पालन क[illegible] था, तब वे मेरे सद्व्यवहारको देखकर मेरा उत[illegible] बढ़ानेके लिये जो-जो बातें कहा करते थे, काने[illegible]

सुख पहुँचानेवाली उन बातोंको अब मैं किसके मुखसे सुनूँगा ?'

भरतसे यों कहकर शोकसंतप्त श्रीरामचन्द्रजी पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली अपनी पत्नीके पास आकर बोले—

सीते मृतस्ते श्वशुरः पितृहीनोऽसि लक्ष्मण ।
भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतिं पृथिवीपतेः ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०३ । १५)

'सीते ! तुम्हारे श्वशुर चल बसे । लक्ष्मण ! तुम पितृहीन हो गये । भरत पृथ्वीपति महाराज दशरथके स्वर्गवासका दुःखदायी समाचार सुना रहे हैं ।'

तदनन्तर रोती हुई जनककुमारीको सान्त्वना देकर दुःखमग्न श्रीरामने अत्यन्त दुखी हुए लक्ष्मणसे कहा—

श्रीरामका पिताको जल तथा पिण्ड देना

आनयेङ्गुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम् ।
जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥
सीता पुरस्ताद् व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज ।
अहं पश्चाद् गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०३ । २०-२१)

'भाई ! तुम इङ्गुदीका पिसा हुआ फल और चीर एवं उत्तरीय ले आओ । मैं महात्मा पिताको जलदान देनेके लिये चलूँगा । सीता आगे-आगे चलें । इनके पीछे तुम चलो और तुम्हारे पीछे मैं चलूँगा । शोकके समयकी यही परिपाटी है, जो अत्यन्त दारुण होती है ।'

तत्पश्चात् उनके कुलके परम्परागत सेवक, आत्मज्ञानी, परम बुद्धिमान्, कोमल स्वभाववाले, जितेन्द्रिय, तेजस्वी और श्रीरामके सुदृढ़ भक्त सुमन्त्र समस्त राजकुमारोंके साथ श्रीरामको धैर्य बँधाकर उन्हें हाथका सहारा दे कल्याणमयी मन्दाकिनीके तटपर ले गये । वे यशस्वी राजकुमार सदा पुष्पित काननसे सुशोभित, शीघ्र गतिसे प्रवाहित होनेवाली और उत्तम घाटवाली रमणीय नदी मन्दाकिनीके तटपर कठिनाईसे पहुँचे तथा उसके पङ्करहित, कल्याणप्रद, तीर्थभूत जलको लेकर उन्होंने राजाके लिये जल दिया । उस समय वे बोले—'पिताजी ! यह जल आपकी सेवामें उपस्थित हो ।'

प्रगृह्य तु महीपालो जलापूरितमञ्जलिम् ।
दिशं याम्यामभिमुखो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥
एतत् ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।
पितृलोकगतस्याद्य मद्दत्तमुपतिष्ठतु ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०३ । २६-२७)

"पृथ्वीपालक श्रीरामने जलसे भरी हुई अञ्जलि ले दक्षिण दिशाकी ओर मुँह करके रोते हुए इस प्रकार कहा—'मेरे पूज्य पिता राजशिरोमणि महाराज दशरथ ! आज मेरा दिया हुआ यह निर्मल जल पितृलोकमें गये हुए आपको अक्षयरूपसे प्राप्त हो ।'"

इसके बाद मन्दाकिनीके जलसे निकलकर किनारेपर आकर तेजस्वी श्रीरघुनाथजीने अपने भाइयोंके साथ मिलकर पिताके लिये पिण्डदान किया । उन्होंने इङ्गुदीके गूदेमें बेर मिलाकर उसका पिण्ड तैयार किया और बिछे हुए कुशोंपर उसे रखकर अत्यन्त दुःखसे आर्त हो रोते हुए यह बात कही—

इदं भुङ्क्ष्व महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।
यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०३ । ३०)

'महाराज ! प्रसन्नतापूर्वक यह भोजन स्वीकार कीजिये; क्योंकि आजकल यही हमलोगोंका आहार है । मनुष्य स्वयं जो अन्न खाता है, वही उसके देवता भी ग्रहण करते हैं ।'

श्रीरामका शोक तथा भरतको सान्त्वना देना

तत्पश्चात् उसी मार्गसे पुरुषसिंह श्रीराम सुन्दर शिखरवाले चित्रकूट पर्वतपर चढ़े और पर्णकुटीके द्वारपर आकर भरत तथा लक्ष्मणको दोनों हाथोंसे पकड़कर रोने लगे । उस समय नीचे ठहरे हुए लोग भी श्रीरामका दर्शन करनेके लिये सहसा आश्रमपर आ गये । उन्हें देखकर सबके नेत्रोंसे

आँसुओंकी धारा बहने लगी। इसी समय वसिष्ठजीके साथ कौसल्या आदि माताएँ वहाँ आ पहुँचीं। उन्हें देखते ही श्रीराम उठकर खड़े हो गये और बारी-बारीसे उन सबके चरणारविन्दोंका स्पर्श किया। वे सब माताएँ कोमल हाथों-द्वारा श्रीरामकी पीठकी धूल पोछने लगीं। माताओंकी दुरवस्था देख लक्ष्मणको भी बड़ा दुःख हुआ और उन्होंने स्नेहपूर्वक धीरे-धीरे उनके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर आँसूभरे नेत्रवाली दुःखिनी सीता भी सभी सासुओंके चरणोंमें प्रणाम करके उनके आगे खड़ी हो गयी। जैसे माता अपनी बेटीको हृदयसे लगा लेती है, उसी प्रकार दुःखसे पीड़ित हुई माता कौसल्याने वनवासके दुःखसे दुर्बल हुई सीताको छातीसे लगा लिया। इसी समय श्रीरामचन्द्रजी वशिष्ठजीके दोनों पैर पकड़कर उनके साथ ही पृथ्वीपर बैठे। मन्त्री आदिके साथ भरत भी बड़े भाईके पीछे जा बैठे। भरतने पुनः श्रीरामसे अयोध्यामें चलकर राज्य ग्रहण करनेके लिये कहा। उन्हें रोते-बिलखते देख श्रीरामने जीवनकी क्षणभङ्गुरता बताकर सान्त्वना देते हुए कहा—

श्रीराम उवाच*

नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्॥
यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम्॥
यथाऽऽगारं दृढस्थूणं जीर्णं भूत्वोपसीदति।
तथावसीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः॥
अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णं समुद्रमुदकार्णवम्॥
अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह।
आयूंषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः॥
आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि।
आयुस्तु हीयते यस्य स्थितस्यास्य गतस्य च॥
सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति।
गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युर्निवर्तते॥
गात्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्चैव शिरोरुहाः।
जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत्॥
नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमितेऽहनि।
आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम्॥
हृष्यन्त्यृतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिवागतम्।
ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य तु व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः॥
नात्र कश्चिद् यथाभावं प्राणी समतिवर्तते।
तेन तस्मिन् न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः॥
यथा हि सार्थं गच्छन्तं ब्रूयात् कश्चित् पथि स्थितः।
अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति॥
एवं पूर्वैर्गतो मार्गः पैतृपितामहैर्ध्रुवः।
तमापन्नः कथं शोचेद् यस्य नास्ति व्यतिक्रमः॥
वयसः पतमानस्य स्रोतसो वानिवर्तिनः।
आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०५। १५—३१)

'भाई! यह जीव ईश्वरके समान स्वतन्त्र नहीं है, अतः कोई यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता। काल इस पुरुषको इधर-उधर खींचता रहता है। समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है। लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है। संयोगका अन्त वियोग है और जीवनका अन्त मरण है। जैसे पके हुए फलोंको पतनके सिवा और किसीसे भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्यको मृत्युके सिवा और किसीसे भय नहीं है। जैसे सुदृढ़ खंभेवाला मकान भी पुराना होनेपर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्युके वशमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं। जो रात बीत जाती है, वह लौटकर फिर नहीं आती, जैसे यमुना जलसे भरे

* भरतके प्रति दिये गये रामके इस उपदेशको 'वाल्मीकीय रामगीता' भी कहते हैं।

हुए समुद्रकी ओर जाती ही है, उधरसे लौटती नहीं। दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और इस संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्र गतिसे नाश कर रहे हैं— ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यकी किरणें ग्रीष्म ऋतुमें जलको शीघ्रतापूर्वक सोखती रहती हैं। तुम अपने ही लिये चिन्ता करो, दूसरेके लिये क्यों बार-बार शोक करते [illegible] कोई इस लोकमें स्थित हो या अन्यत्र गया हो, किसीकी भी आयु तो निरन्तर क्षीण ही हो रही मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और बड़े मार्गकी यात्रामें भी साथ ही जाकर वह [illegible]के साथ ही लौटती है। शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, [illegible] बाल सफेद हो गये। फिर जरावस्थासे जीर्ण मनुष्य कौन-सा उपाय करके मृत्युसे बचनेके लिये [illegible] प्रभाव प्रकट कर सकता है? लोग सूर्योदय [illegible]र प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश होते [illegible]न्तु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका [illegible] हो रहा है। किसी ऋतुका प्रारम्भ देखकर मानो नयी-नयी आयी हो (पहले कभी आयी ही न ऐसा समझकर लोग हर्षसे खिल उठते हैं, परंतु [न]हीं जानते कि इन ऋतुओंके परिवर्तनसे प्राणियोंके [illegible]का (आयुका) क्रमशः क्षय हो रहा है। जैसे [सा]गरमें बहते हुए दो काठ कभी एक दूसरेसे मिल हैं और कुछ कालके बाद अलग भी हो जाते हैं, प्रकार स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब और धन भी मिलकर [illegible] जाते हैं; क्योंकि इनका वियोग अवश्यम्भावी है। [सं]सारमें कोई भी प्राणी यथासमय प्राप्त होनेवाले [म]रणका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। इसलिये जो मरे हुए व्यक्तिके लिये बारंबार शोक करता है, [illegible]भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह अपनी ही [illegible]ो टाल सके। जैसे आगे जाते हुए यात्रियों अथवा [illegible]रियोंके समुदायसे रास्तेमें खड़ा हुआ पथिक यों कि मैं भी आपलोगोंके पीछे-पीछे आऊँगा और तदनुसार वह उनके पीछे-पीछे जाय, उसी प्रकार हमारे पूर्वज पिता-पितामह आदि जिस मार्गसे गये हैं, जिसपर जाना अनिवार्य है तथा जिससे बचनेका कोई उपाय नहीं है, उसी मार्गपर स्थित हुआ मनुष्य किसी औरके लिये शोक कैसे करे? जैसे नदियोंका प्रवाह पीछे नहीं लौटता, उसी प्रकार दिन-दिन ढलती हुई अवस्था फिर नहीं लौटती। उसका क्रमशः नाश हो रहा है, यह सोचकर आत्माको कल्याणके साधनभूत धर्ममें लगाये; क्योंकि सभी लोग अपना कल्याण चाहते हैं।'

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
धूतपापो गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः॥
भृत्यानां भरणात् सम्यक् प्रजानां परिपालनात्।
अर्थादानाच्च धर्मेण पिता नस्त्रिदिवं गतः॥
कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः।
स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः॥
इष्ट्वा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांश्चावाप्य पुष्कलान्।
उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः॥
आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः।
न स शोच्यः पिता तात स्वर्गतः सत्कृतः सताम्॥
स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम्॥
तं तु नैवंविधः कश्चित् प्राज्ञः शोचितुमर्हसि।
त्वद्विधो मद्विधश्चापि श्रुतवान् बुद्धिमत्तरः॥
एते बहुविधाः शोका विलापरुदिते तदा।
वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता॥
स स्वस्थो भव मा शोको यात्वा चावस तां पुरीम्।
तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना वदतां वर॥
यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा।
तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम्॥
न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिंदम।
स त्वयापि सदा मान्यः स वै बन्धुः स नः पिता॥

तद् वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणाम् ।
कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥
धार्मिकेणानृशंसेन नरेण गुरुवर्तिना ।
भवितव्यं नरव्याघ्र परलोकं जिगीषता ॥
आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नरर्षभ ।
निशाम्य तु शुभं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०५ । ३२-४५)

'तात ! हमारे पिता धर्मात्मा थे । उन्होंने पर्याप्त दक्षिणाएँ देकर प्रायः सभी परम शुभकारक यज्ञोंका अनुष्ठान किया था । उनके सारे पाप धुल गये थे । अतः वे महाराज स्वर्गलोकमें गये हैं । वे भरण-पोषणके योग्य परिजनोंका भरण करते थे, प्रजाजनोंका भलीभाँति पालन करते थे और प्रजाजनोंसे धर्मके अनुसार कर आदिके रूपमें धन लेते थे—इन सब कारणोंसे हमारे पिता उत्तम स्वर्ग-लोकमें पधारे हैं । सर्वप्रिय शुभकर्मों तथा प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंके अनुष्ठानोंसे हमारे पिता पृथ्वीपति महाराज दशरथ स्वर्गलोकमें गये हैं । उन्होंने नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा यज्ञपुरुषकी आराधना की, प्रचुर भोग प्राप्त किये और उत्तम आयु पायी थी, इसके बाद वे महाराज यहाँसे स्वर्गलोकको पधारे हैं । तात ! अन्य राजाओंकी अपेक्षा उत्तम आयु और श्रेष्ठ भोगोंको पाकर हमारे पिता सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सम्मानित हुए हैं; अतः स्वर्गवासी हो जानेपर भी वे शोक करनेयोग्य नहीं हैं । हमारे पिताने जराजीर्ण मानव-शरीरका परित्याग करके दैवी सम्पत्ति प्राप्त की है, जो ब्रह्मलोकमें विहार करानेवाली है । कोई भी ऐसा विद्वान्, जो तुम्हारे और मेरे समान शास्त्र-ज्ञानसम्पन्न एवं परम बुद्धिमान् है, पिताजीके लिये शोक नहीं कर सकता । धीर एवं प्रज्ञावान् पुरुषको सभी अवस्थाओंमें ये नाना प्रकारके शोक, विलाप तथा रोदन त्याग देने चाहिये । इसलिये तुम स्वस्थ हो जाओ, तुम्हारे मनमें शोक नहीं होना चाहिये । वक्ताओंमें श्रेष्ठ भरत ! तुम यहाँसे जाकर अयोध्यापुरीमें निवास करो; क्योंकि मनको वशमें रखनेवाले पूज्य पिताजीने तुम्हारे लिये यही आदेश दिया है । उन पुण्यकर्मा महाराजने मुझे भी जहाँ रहनेकी आज्ञा दी है, वहीं रहकर मैं उन पूज्य पिताके आदेशका पालन करूँगा । शत्रुदमन भरत ! पिताकी आज्ञाकी अवहेलना करना मेरे लिये कदापि उचित नहीं है । वे तुम्हारे लिये भी सर्वदा सम्मानके योग्य हैं; क्योंकि वे ही हमलोगोंके हितैषी, बन्धु और जन्मदाता थे । रघुनन्दन ! मैं इस वनवासरूपी कर्मके द्वारा पिताजीके ही वचनका, जो धर्मात्माओंको भी मान्य है, पालन करूँगा । नरश्रेष्ठ ! परलोकपर विजय पानेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यको धार्मिक, क्रूरतासे रहित और गुरुजनोंका आज्ञापालक होना चाहिये । मनुष्योंमें श्रेष्ठ भरत ! हमारे पूज्य पिता दशरथके शुभ आचरणोंपर दृष्टिपात करके तुम अपने धार्मिक स्वभावके द्वारा आत्माकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करो ।'

श्रीरामका भरतको समझाना

भरतलाल अपने आग्रहपर दृढ़ थे । उन्होंने कह दिया—'आप मेरी बात स्वीकार नहीं करते तो मैं भी आपके साथ वनमें जाऊँगा ।'

श्रीरामने भाईका स्नेहपूर्वक सत्कार करते हुए उन्हें समझाया—

उपपन्नमिदं वाक्यं यस्त्वमेवमभाषथाः ।
जातः पुत्रो दशरथात् कैकेय्यां राजसत्तमात् ॥
पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
मातामहे समाश्रौषीद् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥
देवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।
सम्प्रहृष्टो ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥
ततः सा सम्प्रतिश्राव्य तव माता यशस्विनी ।
अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौ वरौ वरवर्णिनी ॥
तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा ।
तच्च राजा तथा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरम् ॥

तेन पित्राहमप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ ।
चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥
सोऽयं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः ।
सीतया चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥
भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।
कर्तुमर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात् ॥
ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०७ । २—१०)

'भाई ! तुम नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथके द्वारा केकयराजसुता माता कैकेयीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो; अतः तुमने जो ऐसे उत्तम वचन कहे हैं, वे सर्वथा तुम्हारे योग्य हैं । भैया ! आजसे बहुत पहलेकी बात है—पिताजीका जब तुम्हारी माताजीके साथ विवाह हुआ था, तभी उन्होंने तुम्हारे नानासे कैकेयीके पुत्रको राज्य देनेकी उत्तम शर्त कर ली थी । इसके बाद देवासुर-संग्राममें तुम्हारी माताने प्रभावशाली महाराजकी बड़ी सेवा की; इससे संतुष्ट होकर राजाने उन्हें वरदान दिया । उसीकी पूर्तिके लिये प्रतिज्ञा कराकर तुम्हारी श्रेष्ठ वर्णवाली यशस्विनी माताने उन नरश्रेष्ठ पिताजीसे दो वर माँगे । पुरुषसिंह ! एक वरके द्वारा इन्होंने तुम्हारे लिये राज्य माँगा और दूसरेके द्वारा मेरा वनवास । इनसे इस प्रकार प्रेरित होकर राजाने वे दोनों वर इन्हें दे दिये । पुरुषप्रवर ! इस प्रकार उन पिताजीने वरदानके रूपमें मुझे चौदह वर्षोंतक वनवासकी आज्ञा दी है । यही कारण है कि मैं सीता और लक्ष्मणके साथ इस निर्जन वनमें चला आया हूँ । यहाँ मेरा कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है । मैं यहाँ पिताजीके सत्यकी रक्षामें स्थित रहूँगा । राजेन्द्र ! तुम भी उनकी आज्ञा मानकर शीघ्र ही राज्यपदपर अपना अभिषेक करा लो और पिताको सत्यवादी बनाओ—यही तुम्हारे लिये उचित है । धर्मज्ञ भरत ! तुम मेरे लिये पूज्य पिता राजा दशरथको कैकेयीके ऋणसे मुक्त करो, उन्हें नरकमें गिरनेसे बचाओ और माताका भी आनन्द बढ़ाओ ।'

श्रूयते धीमता तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।
गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितॄन् प्रति ॥
पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥
एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।
तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत् ॥
एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता रघुनन्दन ।
तस्मात् त्राहि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात् प्रभो ॥
अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरुपरञ्जय ।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥
प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो वीर वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥
त्वं राजा भरत भव स्वयं नराणां
वन्यानामहमपि राजराण्मृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य सम्प्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान् प्रवेक्ष्ये ॥
छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
वर्षत्रं भरत करोतु मूर्ध्नि शीताम् ।
एतेषामहमपि काननद्रुमाणां
छायां तामतिशयिनीं शनैः श्रयिष्ये ॥
शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः
सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम् ।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०७ । ११—१९)

"तात ! सुना जाता है कि बुद्धिमान्, यशस्वी राजा गयने गयदेशमें ही यज्ञ करते हुए पितरोंके प्रति एक कहावत कही थी । (वह इस प्रकार है—) बेटा 'पुत्' नामक नरकसे पिताका उद्धार करता है, इसलिये वह पुत्र कहा गया

है। पुत्र वही है, जो पितरोंकी सब ओरसे रक्षा करता है। बहुत-से गुणवान् और बहुश्रुत पुत्रोंकी इच्छा करनी चाहिये। सम्भव है कि प्राप्त हुए उन पुत्रोंमेंसे कोई एक भी गयाकी यात्रा करे। रघुनन्दन! नरश्रेष्ठ भरत! इस प्रकार सभी राजर्षियोंने पितरोंके उद्धारका निश्चय किया है; अतः प्रभो! तुम भी अपने पिताका नरकसे उद्धार करो। वीर भरत! तुम शत्रुघ्न तथा समस्त ब्राह्मणोंको साथ लेकर अयोध्याको लौट जाओ और प्रजाको सुख दो। वीर! अब मैं भी लक्ष्मण और सीताके साथ शीघ्र ही दण्डकारण्यमें प्रवेश करूँगा। भरत! तुम स्वयं मनुष्योंके राजा बनो और मैं जंगली पशुओंका सम्राट् बनूँगा। अब तुम अत्यन्त हर्षपूर्वक श्रेष्ठ नगर अयोध्याको जाओ और मैं भी प्रसन्नतापूर्वक दण्डकवनमें प्रवेश करूँगा। भरत! सूर्यकी प्रभाको तिरोहित कर देनेवाला छत्र तुम्हारे मस्तकपर शीतल छाया करे। अब मैं भी धीरे-धीरे इन जंगली वृक्षोंकी घनी छायाका आश्रय लूँगा। भरत! अतुलित बुद्धिवाले शत्रुघ्न तुम्हारी सहायतामें रहें और सुविख्यात सुमित्राकुमार लक्ष्मण मेरे प्रधान मित्र (सहायक) हैं। हम चारों पुत्र अपने पिता राजा दशरथके सत्यकी रक्षा करें। तुम विषाद मत करो।'

गुरु वशिष्ठके प्रति श्रीरामका निवेदन

कुलगुरु महर्षि वशिष्ठने इक्ष्वाकु-कुलकी परम्परा बताकर ज्येष्ठके ही राज्याभिषेकका औचित्य सिद्ध किया और श्रीरामसे राज्य ग्रहण करनेको कहा; साथ ही यह भी बताया कि मैं तुम्हारे पिताका और तुम्हारा भी आचार्य हूँ। मेरी बात मानकर राज्य ग्रहण करो। इन सभासदों, बन्धु-बान्धवों तथा सामन्त राजाओंकी बात मानो। अपनी बड़ी-बूढ़ी धर्मशीला माता कौसल्याकी आज्ञा तो तुम्हें कभी लाँघनी ही नहीं चाहिये। राज्याधिकारी भरत जब स्वयं ही तुमसे राज्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना कर रहे हैं, तब तुम्हें उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिये। हम सबकी बात मान यदि तुम राज्य ग्रहण कर लोगे तो तुम्हारे द्वारा धर्मका उल्लङ्घन कदापि नहीं माना जायगा। गुरुजीकी यह बात सुनकर श्रीरघवेन्द्रने उन्हें यों उत्तर दिया—

माता-पिताकी आज्ञा लाँघने योग्य नहीं

यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुतः सदा।
न सुप्रतिकरं तत् तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम्॥
यथाशक्तिप्रदानेन स्नापनोच्छादनेन च।
नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च॥
स हि राजा दशरथः पिता जनयिता मम।
आज्ञापयन्मां यत् तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति॥
(वा० रा०, अयोध्या० १११। ९–११)

'माता और पिता पुत्रके प्रति जो सर्वदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं, अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम खाद्य पदार्थ देने, अच्छे बिछौनेपर सुलाने, उबटन आदि लगाने, सदा मीठी बातें बोलने तथा पालन-पोषण करने आदिके द्वारा माता और पिताने जो उपकार किया है, उसका बदला सहज ही नहीं चुकाया जा सकता। अतः मेरे जन्मदाता पिता महाराज दशरथने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी।'

भरतके धरना देनेको उद्यत होनेपर श्रीरामका उनको समझाना

श्रीरामके किसी प्रकार अयोध्या न लौटनेका निश्चय जानकर भरतका मन बहुत उदास हो गया। वे सुमन्त्रसे बोले—'सारथे! वेदीपर कुशोंका आसन बिछा दो। जबतक भैया मुझपर प्रसन्न नहीं होंगे, तबतक मैं यहीं धरना दूँगा—आमरण उपवास करूँगा।' यह सुनकर सुमन्त्र श्रीरामचन्द्रजीका मुँह ताकने लगे। उन्हें इस अवस्थामें देख भरतके मनमें बड़ा दुःख हुआ। वे स्वयं कुश बिछाकर भूमिपर ही बैठ गये।

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः।
किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसे॥
ब्राह्मणो ह्येकपार्श्वेन नरान् रोद्धुमिहार्हति।
न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हित्वैतद् दारुणं व्रतम् ।
पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥

(वा० रा०, अयोध्या० १११ । १६—१८)

तब महातेजस्वी राजर्षिशिरोमणि श्रीरामने उनसे कहा—'तात भरत ! मैं तुम्हारी क्या बुराई करता हूँ जो मेरे आगे धरना दोगे ? ब्राह्मण एक करवटसे सोकर—धरना देकर मनुष्योंको अन्यायसे रोक सकता है, परंतु राजतिलक ग्रहण करनेवाले क्षत्रियोंके लिये इस प्रकार धरना देनेका विधान नहीं है। अतः नरश्रेष्ठ रघुनन्दन ! इस कठोर व्रतका परित्याग करके उठो और यहाँसे शीघ्र ही अयोध्यापुरीको जाओ।'

भरतके प्रति श्रीरामका उत्तर

यह सुनकर भरत उठकर खड़े हो गये और श्रीराम ने जलका स्पर्श करके बोले—'मेरे सभासद और मन्त्री—लोग सुनें। मैंने पिताजीसे कभी राज्य नहीं माँगा, माँसे भी इसके लिये कुछ नहीं कहा और श्रीरामके वनवासमें भी मेरी कोई सम्मति नहीं है। फिर भी यदि इनके लिये पिताजीकी आज्ञाका पालन करना और वनमें रहना अनिवार्य है तो इनके बदले मैं ही चौदह वर्षोंतक वनमें निवास करूँगा।' भरतके इस सत्य-वचनसे धर्मात्मा श्रीराम चकित हो गये। उन्होंने जनपद और नगरके लोगोंकी ओर देखकर कहा—

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत् पित्रा जीवता मम ।
न तल्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥
उपाधिर्न मया कार्यो वनवासे जुगुप्सितः ।
युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥
जानामि भरतं क्षान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।
सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसंधे महात्मनि ॥
अनेन धर्मशीलेन वनात् प्रत्यागतः पुनः ।
भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥
वृतो राजा हि कैकेय्या मया तद्वचनं कृतम् ।
अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥

(वा० रा०, अयोध्या० १११ । २८—३२)

'पिताजीने अपने जीवनकालमें जो वस्तु बेंच दी है या धरोहर रख दी है अथवा खरीदी है, उसे मैं अथवा भरत कोई भी पलट नहीं सकता। मुझे वनवासके लिये किसीको प्रतिनिधि नहीं बनाना चाहिये; क्योंकि सामर्थ्य रहते हुए प्रतिनिधिसे काम लेना लोकमें निन्दित है। कैकेयीने उचित माँग ही प्रस्तुत की थी और मेरे पिताजीने उसे देकर पुण्यकर्म ही किया था। मैं जानता हूँ, भरत बड़े क्षमाशील और गुरुजनोंका सत्कार करनेवाले हैं; इन सत्यप्रतिज्ञ महात्मामें सभी कल्याणकारी गुण मौजूद हैं। चौदह वर्षोंकी अवधि पूरी करके जब मैं वनसे लौटूँगा, तब अपने इन धर्मशील भाईके साथ इस भूमण्डलका श्रेष्ठ राजा होऊँगा। कैकेयीने राजासे वर माँगा और मैंने उसका पालन स्वीकार कर लिया; अतः भरत ! अब तुम मेरा कहना मानकर उस वरके पालनद्वारा अपने पिता महाराज दशरथको असत्यके बन्धनसे मुक्त करो।'

भरतके प्रति श्रीरामका आदेश

उन अनुपम तेजस्वी भ्राताओंका वह रोमाञ्चकारी समागम देख वहाँ आये हुए महर्षियोंको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने भरतको श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार लौट जानेकी सलाह दी। श्रीरामने उन महर्षियोंकी सादर प्रशंसा की। किंतु भरतका सारा शरीर काँप उठा। उन्होंने पुनः श्रीरामसे अयोध्या चलनेकी प्रार्थना की और उनके चरणोंमें वे गिर पड़े। श्रीरामने भरतको उठाकर गोदमें बैठा लिया और मधुर वाणीमें समझाया।

भरतको राज्यकी रक्षामें समर्थ बताकर स्वयं पिताकी प्रतिज्ञाको न तोड़नेका निश्चय प्रकट करना तथा कैकेयीके प्रति पूज्यभाव रखनेका आदेश देना

आगता त्वामियं बुद्धिः स्वजा वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥

अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः।
सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय ॥
लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद् वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥
कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्।
न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ११२।१६-१९)

'तात! तुम्हें जो यह स्वाभाविक विनयशील बुद्धि प्राप्त हुई है, इस बुद्धिके द्वारा तुम समस्त भूमण्डलकी रक्षा करनेमें भी पूर्णरूपसे समर्थ हो सकते हो। इसके सिवा अमात्यों, सुहृदों और बुद्धिमान् मन्त्रियोंसे सलाह लेकर उनके द्वारा सब कार्य, वे कितने ही बड़े क्यों न हों, करा लेना। चन्द्रमासे उसकी प्रभा अलग हो जाय, हिमालय हिमका परित्याग कर दे, अथवा समुद्र अपनी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ जाय, किंतु मैं पिताकी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ सकता। तात! माता कैकेयी-ने कामनासे अथवा लोभवश तुम्हारे लिये जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना और उसके प्रति सदा वैसा ही बर्ताव करना, जैसा अपनी पूजनीया माताके प्रति करना उचित है।'

भरतकी प्रार्थनापर श्रीरामका पादुका-दान

श्रीरामचन्द्रजीके यों कहनेपर भरत बोले—'आर्य! ये दो सुवर्णभूषित पादुकाएँ आपके चरणोंमें अर्पित हैं। आप इनपर अपने चरण रक्खें। ये ही सम्पूर्ण जगत्के योगक्षेमका निर्वाह करेंगी।' तब पुरुषसिंह श्रीरामने उन पादुकाओंपर चढ़कर उन्हें फिर अलग कर दिया और महात्मा भरतको सौंप दिया। उन पादुकाओंको प्रणाम करके भरतने श्रीराम-से कहा—'भैया! मैं भी चौदह वर्षोंतक जटा और चीर धारण करके फल-मूलका भोजन करता हुआ आपके आगमन-की प्रतीक्षामें नगरसे बाहर ही रहूँगा। इतने दिनोंतक राज्य-का सारा भार आपकी इन चरणपादुकाओंपर ही रखकर मैं आपकी बाट जोहता रहूँगा। चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर नूतन वर्षके प्रथम दिन ही यदि मुझे आपका दर्शन नहीं मिलेगा तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा।' 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीरामने स्वीकृति दे दी और बड़े आदरके साथ भरतको हृदयसे लगाया। (इसमें राम-भरतके भ्रातृप्रेमकी भी विलक्षण झाँकी दर्शनीय है।)

(अध्यात्मरामायणका प्रसङ्ग)

भरतको समझाना

अध्यात्मरामायणके अनुसार यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—श्रीरामको मनाने भरतलाल चित्रकूट पहुँचे। श्रीरघुनाथने उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया और समझाया—

शृणु वत्स प्रवक्ष्यामि त्वयोक्तं यत्तथैव तत्।
किंतु मामब्रवीत्तातो नव वर्षाणि पञ्च च ॥
उषित्वा दण्डकारण्ये पुरं पश्चात्समाविश।
इदानीं भरतायेदं राज्यं दत्तं मयाखिलम् ॥
ततः पित्रैव सुव्यक्तं राज्यं दत्तं तवैव हि।
दण्डकारण्यराज्यं मे दत्तं पित्रा तथैव च ॥
अतः पितुर्वचः कार्यमावाभ्यामतियत्नतः।
पितुर्वचनमुल्लङ्घ्य स्वतन्त्रो यस्तु वर्तते ॥
स जीवन्नेव मृतको देहान्ते निरयं व्रजेत्।
तस्माद्राज्यं प्रशाधि त्वं वयं दण्डकपालकाः ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ९।२८-३२)

'भाई! मैं जो कहता हूँ, वह सुनो। तुम जो कुछ कहते हो, वह बिल्कुल ठीक है; किंतु पिताजीने मुझे आज्ञा दी थी कि चौदह वर्ष दण्डकारण्यमें रहकर फिर अयोध्यामें आना, इस समय यह सम्पूर्ण राज्य मैं भरतको देता हूँ। अतः स्पष्ट ही पिताजीने यह राज्य तो तुम्हीं-को दिया है और वैसे ही मुझे उन्होंने दण्डकारण्यका राज्य दिया है। इसलिये हम दोनोंको ही प्रयत्नपूर्वक पिताजीके वचनोंको सफल करना चाहिये। जो मनुष्य अपने पिताके वचनोंका उल्लङ्घन करके स्वेच्छापूर्वक बर्तता है, वह जीता हुआ भी मृतकके समान है और शरीर छोड़नेपर नरकको जाता है। अतः तुम राज्य-शासन करो, हम दण्डकवनकी रक्षा करेंगे।'

भरतका कहना था और सम्भवतः दूसरोंकी भी मान्यता थी कि महाराज दशरथ स्त्री-जित हो गये थे, उन्होंने मोहवश कैकेयीको वरदान दिया था, अतः ऐसे भ्रान्त पुरुषकी बात नहीं माननी चाहिये; किंतु पितृवत्सल श्रीरामने इसका प्रतिवाद किया—

न स्त्रीजितः पिता ब्रूयान्न कामी नैव मूढधीः ।
पूर्वं प्रतिश्रुतं तस्य सत्यवादी ददौ भयात् ॥
असत्याद्भीतिरधिका महतां नरकादपि ।
करोमीत्यहमप्येतत्सत्यं तस्यै प्रतिश्रुतम् ॥
कथं वाक्यमहं कुर्यामसत्यं राघवो हि सन् ।
(अध्यात्म०, अयोध्या० ९ । ३४—३५½)

'पिताजीने स्त्रीवश, कामवश अथवा मूढ़बुद्धि होकर ऐसा नहीं कहा । उन सत्यवादीने अपनी पूर्व-प्रतिज्ञानुसार ही प्रतिज्ञा-भङ्गके भयसे ये वर दिये थे । महान् पुरुषोंको असत्यसे नरककी अपेक्षा भी अधिक भय हुआ करता है । मैं भी 'ऐसा ही, करूँगा,' यह कहकर उनसे सत्य प्रतिज्ञा कर चुका हूँ । फिर मैं रघुवंशमें जन्म लेकर अपना वचन कैसे उलट सकता हूँ ?'

भरतने आग्रह किया—'वनमें किसीको रहना ही है तो मैं चौदह वर्ष वनमें रहूँगा । आप अयोध्या लौटें ।'

श्रीरघुनाथजीने स्नेहपूर्वक भाईको समझाया—

पित्रा दत्तं तवैवैतद्राज्यं मह्यं वनं ददौ ।
व्यत्ययं यद्यहं कुर्यामसत्यं पूर्ववत् स्थितम् ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ९ । ३८)

'पिताजीने तुमको यह राज्य और मुझे वनवास दिया है । अब यदि मैं इससे उलटा करूँ तो असत्य ज्यों-का-त्यों ही रहता है ।'

जनकके प्रति श्रीरामके विनम्र वचन

पितृतुल्य महाराज जनकके प्रति भी श्रीराम सम्पूर्ण विनम्र हैं । चित्रकूटमें महाराज जनकको विदा करते हुए कहते हैं—

देव दया बस बड़ दुखु पायउ ।
सहित समाज काननहिं आयउ ॥
पुर पगु धारिअ देइ असीसा ।
(रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड)

छोटे भाई लक्ष्मणसमेत श्रीरामजीने राजा जनकजीको सिर नवाकर उनकी बहुत प्रकारसे विनती और बड़ाई की [और कहा—] 'हे देव ! दयावश आपने बहुत दुःख पाया । आप समाजसहित वनमें आये । अब आशीर्वाद देकर नगरको पधारिये ।'

श्रीरामकी मातृ-पितृ-भक्ति

देखनेकी बात यह है कि अन्ध-स्नेहकी अपेक्षा श्रीरामको यह पूरा ध्यान है कि माताके धर्मकी रक्षा हो ।

माता कैकेयीने बड़ा रूक्षतापूर्ण व्यवहार किया था । अपने वरदानकी बात विना हिचक वे सुना गयी थीं । उनकी बात शान्तचित्तसे सुनकर श्रीराम अचेत पड़े हुए पिता तथा कैकेयीके भी चरणोंमें प्रणाम करके उस भवनसे निकल गये । जानेसे पहले उन्होंने पिता दशरथ और माता कैकेयीकी परिक्रमा भी की । अन्तःपुरसे बाहर निकलकर वे अपने सुहृदोंसे मिले । उनके प्रति होनेवाले इस अन्यायको देखकर लक्ष्मण अत्यन्त कुपित हो उठे थे तथा दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर वे चुपचाप श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले गये । श्रीराम अयोध्याका राज्य छोड़कर वनमें जानेको उद्यत थे, तथापि उनके चित्तमें सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्माकी भाँति कोई विकार नहीं देखा गया । उन्होंने अपने ऊपर छत्र लगानेकी मनाही कर दी । चँवर डुलाना भी रोक दिया तथा यह अप्रिय समाचार सुनानेके लिये वे अपनी माता कौसल्याके महलमें गये । श्रीरामके निकटवर्ती लोगोंने भी उनके मुखपर तनिक-सी भी उदासी नहीं देखी । श्रीरामने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताको उसी तरह नहीं छोड़ा था, जैसे शरत्कालका उद्दीप्त किरणोंवाला चन्द्रमा अपने सहज तेजका परित्याग नहीं करता । उनके मुखमण्डलपर सदाकी भाँति ही प्रसन्नता लहरा रही थी और वे अपनी मधुर वाणीसे सब लोगोंका सम्मान करते हुए माताके पास गये । उधर श्रीरामके

निकल आनेसे दशरथके अन्तःपुरमें रहनेवाली समस्त रानियोंका घोर आर्तनाद प्रकट हुआ। वे बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगीं। इधर श्रीराम जब अन्तःपुरमें पहुँचे, उस समय देवी कौसल्या पुत्रकी मङ्गल-कामनासे रातभर जागकर प्रातःकाल एकाग्रचित्त हो भगवान् विष्णुकी पूजा करके अग्निमें आहुति दे रही थीं। श्रीरामको उपस्थित देख माता बड़े हर्षमें भरकर उनकी ओर चलीं। श्रीरामने निकट आयी हुई माताके चरणोंका स्पर्श किया। माताने उन्हें भुजाओंमें कसकर छातीसे लगा लिया और बड़े प्यारसे उनका मस्तक सूँघा। फिर बैठनेको आसन देकर भोजनके लिये कहा। श्रीरामने उस आसनका स्पर्शमात्र कर लिया और अञ्जलि बाँधकर मातासे इस प्रकार कहा—

मातासे वनमें जानेके लिये आज्ञा माँगना

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम्।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च॥
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे।
विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम्॥
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति।
मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम्॥
स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन्॥
(वा० रा०, अयोध्या० २०। २७—३१)

उन्होंने कहा—'देवि! निश्चय ही तुम्हें पता नहीं है, तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है। इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर तुमको, सीताको और लक्ष्मणको भी दुःख होगा; तथापि कहूँगा। अब तो मैं दण्डकारण्यमें जाऊँगा; अतः ऐसे बहुमूल्य आसनकी मुझे क्या आवश्यकता है? अब मेरे लिये यह कुशकी चटाईपर बैठनेका समय आया है। मैं राजभोग्य वस्तुका त्याग करके मुनिकी भाँति कंद, मूल और फलोंसे जीवन निर्वाह करता हुआ चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करूँगा। महाराज युवराजका पद भरतको दे रहे हैं और मुझे तापसी बनाकर दण्डकारण्यमें भेज रहे हैं। अतः चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें रहूँगा और जंगलमें सुलभ वल्कल आदिको धारण करके फल-मूलके आहारसे ही जीवन-निर्वाह करता रहूँगा।'

यह अप्रिय बात सुनकर देवी कौसल्या कटी हुई वृक्षकी शाखाके समान पृथ्वीपर गिर पड़ीं। श्रीरामने हाथका सहारा देकर उन्हें उठाया और अपने हाथसे उनके अङ्गोंकी धूल पोंछी। उस समय माताने उनसे कहा—'बेटा रघुनन्दन! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे केवल एक ही बातका दुःख रहता कि मेरे कोई संतान नहीं है। आज जो भारी दुःख आ पड़ा है, इसे देखनेका अवसर नहीं आता। मैं सोचा करती थी कि पतिके राज्यमें जो सुख मुझे नहीं मिला, उसे पुत्रके राज्यमें देख लूँगी। इसी आशासे अबतक जीती रही। निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है। यमराजके घरमें भी मेरे लिये मौत नहीं है। मैंने संतानके हितकी कामनासे जो तप किया, वह भी ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति निष्फल हो गया। तुम्हारे बिना यहाँ जीवित रहनेका मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं है। अतः अब मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चली चलूँगी।' यों कहकर माता कौसल्या बिलख-बिलखकर रोने लगीं।

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम्॥
अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः॥
जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम्।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात्॥
एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम्।
पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम्॥
न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम्।

एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥
नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये ।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥
तदेतत् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा ।
पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१ । ३०, ३२—३७)

'माता ! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ । मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है । अतः मैं वनमें ही जाना चाहता हूँ । हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं, जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए बुरी तरहसे मारे गये । जमदग्निके पुत्र परशुरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही वनमें फरसेसे अपनी माता रेणुकाका गला काट डाला था । देवि ! इन्होंने तथा और भी बहुत-से देवतुल्य मनुष्योंने उत्साहके साथ पिताके आदेशका पालन किया है । अतः मैं भी कायरता छोड़कर पिताका हित-साधन करूँगा । देवि ! केवल मैं ही इस प्रकार पिताके आदेशका पालन नहीं कर रहा हूँ । जिनकी मैंने अभी चर्चा की है, उन सबने भी पिताके आदेशका पालन किया है । मा ! मैं तुम्हारे प्रतिकूल किसी नवीन धर्मका प्रचार नहीं कर रहा हूँ । पूर्वकालके धर्मात्मा पुरुषोंको भी यह अभीष्ट था । मैं तो उनके चले हुए मार्गका ही अनुसरण करता हूँ । इस भूमण्डलपर जो सबके लिये करने योग्य है, वही मैं भी करने जा रहा हूँ । इसके विपरीत कोई न करने योग्य काम नहीं कर रहा हूँ । पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला कोई भी पुरुष धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता ।'

वनवासके लिये अनुमतिकी प्रार्थना, माताको आश्वासन तथा लक्ष्मणसे सहयोगका अनुरोध

श्रीरामने माता कौसल्याके चरणोंमें मस्तक रख दिया और हाथ जोड़कर कहा—

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम् ।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥
तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात् पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥
शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥
त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥
अम्ब सम्भृत्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१ । ४६—५०)

'देवि ! मैं यहाँसे वनमें जाऊँगा । तुम मुझे आज्ञा दो और स्वस्तिवाचन कराओ । यह बात मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ । जैसे पूर्वकालमें राजर्षि ययाति स्वर्गलोकका त्याग करके पुनः भूतलपर उतर आये थे, उसी प्रकार मैं भी प्रतिज्ञा पूर्ण करके पुनः वनसे अयोध्यापुरीमें लौट आऊँगा । मा ! शोकको अपने हृदयमें ही अच्छी तरह दबाये रक्खो । शोक न करो । पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं फिर वनवाससे यहाँ लौट आऊँगा । तुमको, मुझको, सीताको, लक्ष्मणको और माता सुमित्राको भी पिताजीकी आज्ञामें ही रहना चाहिये । यही सनातन धर्म है । मा ! यह अभिषेककी सामग्री ले जाकर रख दो । अपने मनका दुःख मनमें ही दबा लो और वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा धर्मानुकूल विचार है, उसका अनुसरण करो—मुझे जानेकी आज्ञा दो ।'

श्रीरामके द्वारा धर्मकी महत्ताका प्रतिपादन

श्रीरामके वनगमनका विरोध करनेपर वे लक्ष्मणको भी बड़े मीठे और धर्मयुक्त वचनोंमें समझाते हैं—

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम् ॥

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१ । ५६—५८)

"लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो और तुम्हारा पराक्रम कितना महान् है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है; तथापि तुम मेरे अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर माताजीके साथ स्वयं भी मुझे पीड़ा दे रहे हो ! इस तरह मुझे अत्यन्त दुःखमें न डालो । इस जीवजगत्में पूर्वकृत धर्मके फलकी प्राप्तिके अवसरोंपर जो धर्म, अर्थ और काम तीनों देखे गये हैं, वे सब-के-सब जहाँ धर्म है, वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं—इसमें संशय नहीं है—ठीक उसी तरह, जैसे भार्या धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी साधन होती है । वह पतिके वशीभूत या अनुकूल रहकर अतिथि-सत्कार आदि धर्मके पालनमें सहायक होती है, प्रेयसीरूपसे कामका साधन बनती है और पुत्रवती होकर उत्तम लोककी प्राप्तिरूप अर्थकी साधिका होती है। जिस कर्ममें धर्म आदि सभी पुरुषार्थोंका समावेश न हो, उसको नहीं करना चाहिये । जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, उसीका आरम्भ करना चाहिये। जो केवल 'अर्थपरायण' होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है तथा 'धर्मविरुद्ध काम'में अत्यन्त आसक्त होना प्रशंसा नहीं, निन्दाकी बात है ।"

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥
न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमां न कर्तुं सकलां यथावत् ।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥
तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्
कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥
सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥
यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकाले न तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥

(वा० रा०, अयोध्या० २१ । ५९—६३)

'महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही बड़े-बूढ़े माननीय पुरुष हैं । वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामसे प्रेरित होकर भी यदि किसी कार्यके लिये आज्ञा दें तो हमें धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये । जिसके आचरणोंमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष पिताकी आज्ञाके पालनरूप धर्मका आचरण नहीं करेगा ? इसलिये मैं पिताकी इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता । भैया लक्ष्मण ! वे हम दोनोंको आज्ञा देनेमें समर्थ गुरु हैं और माताजीके तो वे ही पति, गति तथा धर्म हैं । वे धर्मके प्रवर्तक महाराज अभी जीवित हैं और विशेषतः अपने धर्ममय मार्गपर स्थित हैं; ऐसी दशामें माताजी, जैसे दूसरी कोई विधवा स्त्री बेटेके साथ रहती है, उस प्रकार मेरे साथ यहाँसे वनमें कैसे चल सकती हैं ? अतः देवि ! तुम मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दो और हमारे मङ्गलके लिये

स्वस्तिवाचन कराओ, जिससे वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर मैं फिर तुम्हारी सेवामें आ जाऊँ, जैसे राजा ययाति सत्यके प्रभावसे फिर स्वर्गमें लौट आये थे। केवल धर्महीन राज्यके लिये मैं महान् फलदायक धर्म-पालनरूप सुयशको पीछे नहीं ढकेल सकता। मा! जीवन अधिक कालतक रहनेवाला नहीं है; इसके लिये मैं आज अधर्मपूर्वक इस तुच्छ पृथ्वीका राज्य लेना नहीं चाहता।'

श्रीरामके यों कहनेपर कौसल्याने आँखोंमें आँसू भर-कर कहा—'बेटा! मैं तुम्हारे वनमें जानेके निश्चयको नहीं पलट सकती। निश्चय ही दैवकी गतिको समझना अत्यन्त कठिन है। जाओ और कुशलपूर्वक पुनः लौटकर सान्त्वना-भरे मधुर मनोहर वचनोंद्वारा मुझे आनन्दित करना। तुम प्रसन्नतापूर्वक जिस धर्मका पालन कर रहे हो, वह धर्म तुम्हारी सब ओरसे रक्षा करे। देवता और महर्षि वनमें तुम्हारा संरक्षण करें। महर्षि विश्वामित्रके दिये हुए अस्त्र-शस्त्र सब ओरसे तुम्हारी रक्षामें तत्पर रहें। तुम माता-पिताकी सेवा और सत्यभाषणके पुण्यसे चिरंजीवी बने रहो। शुक्र, सोम आदि ग्रह दण्डकारण्यमें तुम्हारा पालन करें। ब्रह्मा आदि देवता तुम्हारी रक्षा करें।' यों कहकर माता कौसल्या-ने गन्धादि उपचारोंद्वारा देवताओंका पूजन किया। उनकी प्रेरणासे पुरोहितजीने समस्त उपद्रवोंकी शान्ति एवं आरोग्यके लिये हवन किया और वेदीसे बाहर दसों दिशाओंमें इन्द्र आदि लोकपालोंके लिये बलि अर्पित की। तदनन्तर माताने मङ्गलाशासन किया और बेटेको हृदयसे लगाकर कहा—'वत्स राम! तुम सुखपूर्वक वनमें जाओ। वनवाससे लौट-कर जब तुम राज्यसिंहासनपर बैठोगे, उस समय मैं पुनः तुम्हारा दर्शन करूँगी।' यों कहकर उन्होंने श्रीरामको विदा दी और वे माताको प्रणाम करके सीताके महलकी ओर चल दिये।

वनके लिये प्रस्थान करते समय श्रीरामकी पिता महाराज दशरथसे प्रार्थना

इयं धार्मिक कौसल्या मम माता यशस्विनी।
वृद्धा चाक्षुद्रशीला च न च त्वां देव गर्हते ॥
मया विहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः सम्मन्तुमर्हसि ॥
पुत्रशोकं यथा नर्च्छेत् त्वया पूज्येन पूजिता।
मां हि संचिन्तयन्ती सा त्वयि जीवेत् तपस्विनी ॥
इमां महेन्द्रोपम जातगर्धिनीं
तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्शिता
न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ३८। १४–१७

'धर्मात्मन्! ये मेरी यशस्विनी माता कौसल्या अ[illegible] वृद्ध हो चली हैं। इनका स्वभाव बहुत ही उच्च औ[illegible] उदार है। देव! ये कभी आपकी निन्दा नहीं करतीं इन्होंने पहले कभी ऐसा भारी संकट नहीं देखा होगा वरदायक नरेश! ये मेरे न रहनेसे शोकके समुद्र[illegible] डूब जायँगी। अतः आप सदा इनका अधिक सम्मा[illegible] करते रहें। आप पूज्यतम पतिसे सम्मानित हो जि[illegible] प्रकार ये मेरी तपस्विनी माता पुत्रवियोगका अनुभव [illegible] कर सकें और मेरा चिन्तन करती हुई भी आपके आश्रयमें ही जीवन धारण करें, ऐसा प्रयत्न आपको करना चाहिये। इन्द्रके समान तेजस्वी महाराज! [illegible] निरन्तर अपने बिछुड़े हुए बेटेको देखनेके लिये उत्सुक रहेंगी। कहीं ऐसा न हो मेरे वनमें रहते समय ये शोकसे कातर हो अपने प्राणोंको त्याग करके यमलोक चली जायँ। अतः आप मेरी माताको सदा ऐसी ही परिस्थितिमें रक्खें, जिससे उक्त आशङ्काके लिये अवकाश ही न रह जाय।'

माता कौसल्यासे उन्होंने हाथ जोड़कर कहा—

अम्ब मा दुःखिता भूत्वा पश्येस्त्वं पितरं मम।
क्षयोऽपि वनवासस्य क्षिप्रमेव भविष्यति ॥

सुखायास्ते गमिष्यन्ति नव वर्षाणि पञ्च च ।
समग्रमिह सम्प्राप्तं मां द्रक्ष्यसि सुहृद्‌वृतम् ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ३९ । ३४-३५)

'मा ! (इन्हींके कारण मेरे पुत्रका वनवास हुआ है, यों समझकर) तुम मेरे पिताजीकी ओर दुःखित होकर न देखना । वनवासकी अवधि भी शीघ्र ही समाप्त हो जायगी । ये चौदह वर्ष तो तुम्हारे सोते-सोते निकल जायँगे, फिर एक दिन देखोगी कि मैं अपने सुहृदोंसे घिरा हुआ सीता और लक्ष्मणके साथ अक्षत-रूपसे यहाँ आ पहुँचा हूँ ।'

(श्रीरामचरितमानसके अनुसार इस प्रसङ्गको देखिये—)

माता कौसल्याको वनवासका समाचार देना है, उनसे अनुमति लेनी है। कितने स्नेहसे मातासे श्रीराघव कहते हैं—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू ।
जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ॥
आयसु देहि मुदित मन माता ।
जेहिं मुद मंगल कानन जाता ॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें ।
आनँदु अंब अनुग्रह तोरें ॥
बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रमान ।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु जनि करसि मलान ॥
(रामचरित०, अयोध्या० ५२ । ३—८; ५३)

श्रीरामने माता कौसल्यासे कहा—'माता ! पिताजीने मुझे वनका राज्य दिया है, जहाँ सब प्रकारसे मेरा बड़ा काम बननेवाला है । माता ! तू प्रसन्न मनसे मुझे आज्ञा दे, जिससे मेरी वनयात्रामें आनन्द-मङ्गल हो । मेरे स्नेहवश भूलकर भी डरना नहीं । मा ! तेरी कृपासे आनन्द ही होगा । चौदह वर्ष वनमें रहकर, पिताजीके वचनको प्रमाणित (सत्य) कर फिर लौटकर तेरे चरणोंके दर्शन करूँगा । तू मनको म्लान (दुखी) न कर ।'

लक्ष्मणने कहा है—'मोरे सबुइ एक तुम्ह स्वामी ।' लेकिन श्रीरामको यह स्वीकार नहीं है कि लक्ष्मण मातासे बिना अनुमति लिये उनका अनुगमन करें । अतः आदेश देते हैं—

मागहु बिदा मातु सन जाई ।
आवहु बेगि चलहु बन भाई ॥
(रामचरित०, अयोध्या० ७२ । १)

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'भाई (लक्ष्मण) ! जाकर मातासे विदा माँग आओ और जल्दी वनको चलो ।'

अयोध्यासे विदा होते समय समस्त पुरवासियोंसे प्रभु यह कह रहे हैं—

सोइ सब भाँति मोर हितकारी ।
जेहि तें रहै भुआल सुखारी ॥
मातु सकल मोरे बिरहँ जेहिं न होहिं दुख दीन ।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु सब पुर जन परम प्रबीन ॥
(रामचरित०, अयोध्या० ७९ । ८; ८०)

श्रीरामचन्द्रजीने (सबसे) कोमल वाणीमें कहा—'मेरा सब प्रकारसे हितकारी मित्र वही होगा, जिसकी चेष्टा महाराज सुखी रहें । हे परम चतुर पुरवासी सज्जनो आपलोग सब वही उपाय कीजियेगा, जिससे मेरी सब माता मेरे विरहके दुःखसे दुखी न हों ।'

शृङ्गवेरपुरमें गङ्गापार करते समय भी श्रीरामको ध्या है कि माता कैकेयीकी इच्छा सम्यक् पूर्ण होनी चाहिये—

श्रीरामके सुमन्त्रके प्रति वचन—श्रीरामकी मातृभा
(माता कैकेयीके प्रति)

श्रीरघुनाथने गङ्गातटसे सुमन्त्रको लौट जानेका आदे देकर समझाया । उनकी बातें सुनकर सुमन्त्र बोले—'तात जब मेरा रथ आपके बिना अयोध्याको खाली लौटेगा, वहाँके लोगों और उस पुरीका हृदय विदीर्ण हो जायगा आपने आते समय जो आर्तनाद देखा-सुना था, वह अकेले लौटनेपर सौगुना बढ़ जायगा । बताइये, मैं कौसल्यासे क्या कहूँगा ? ये घोड़े आपसे रहित अयोध्याकी ओर नहीं ले जा सकेंगे । अतः मैं आपके अयोध्या नहीं लौट सकूँगा । मुझे भी वनमें चलनेकी आज्ञा दीजिये । यदि आप मुझे त्याग देंगे तो मैं रथसहित अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा । प्रसन्न होइये मुझे अपने साथ रहनेकी आज्ञा दीजिये ।' सुमन्त्रके ये वचन सुनकर सेवकोंपर कृपा करनेवाले श्रीरामने कहा, क्योंकि माता कैकेयीकी इच्छा वे सम्यक् पूर्ण, व पक्षमें हैं—

जानामि परमां भक्तिमहं ते भर्तृवत्सल।
शृणु चापि यदर्थं त्वां प्रेषयामि पुरीमितः॥
नगरीं त्वां गतं दृष्ट्वा जननी मे यवीयसी।
कैकेयी प्रत्ययं गच्छेदिति रामो वनं गतः॥
विपरीते तुष्टिहीना वनवासं गते मयि।
राजानं नातिशङ्केत मिथ्यावादीति धार्मिकम्॥
एष मे प्रथमः कल्पो यदम्बा मे यवीयसी।
भरतारक्षितं स्फीतं पुत्रराज्यमवाप्स्यते॥
मम प्रियार्थं राज्ञश्च सुमन्त्र त्वं पुरीं व्रज।
संदिष्टश्चापि यानर्थांस्तांस्तान् ब्रूयास्तथा तथा॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५२। ६०—६४)

'सुमन्त्रजी! आप स्वामीके प्रति स्नेह रखनेवाले हैं। मुझमें आपकी जो उत्कृष्ट भक्ति है, उसे मैं जानता हूँ; फिर भी जिस कार्यके लिये मैं आपको यहाँसे अयोध्यापुरी भेज रहा हूँ, उसे सुनिये। जब आप नगरको लौट जायँगे, तब आपको देखकर मेरी छोटी माता कैकेयीको यह विश्वास हो जायगा कि राम वनको चले गये। इसके विपरीत यदि आप नहीं गये तो उसे संतोष नहीं होगा। मेरे वनवासी हो जानेपर भी वह धर्मपरायण महाराज दशरथके प्रति मिथ्यावादी होनेका संदेह करे, ऐसा मैं नहीं चाहता। आपको भेजनेमें मेरा मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरी छोटी माता कैकेयी भरतद्वारा सुरक्षित समृद्धिशाली राज्यको हस्तगत कर ले। सुमन्त्रजी! मेरा तथा महाराजका प्रिय करनेके लिये आप अयोध्यापुरीको अवश्य पधारिये और आपको जिनके लिये जो संदेश दिया गया है, वह सब वहाँ जाकर उन लोगोंसे कह दीजिये।'

जिन कैकेयीने वनवास दिया है, उनके प्रति भी श्रीरामकी मातृभक्ति तनिक भी शिथिल नहीं हुई है। चित्रकूटसे भरत-शत्रुघ्नको अयोध्या लौटाते समय प्रभु अपनी तथा जानकीजीकी शपथ देकर कहते हैं—

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥
मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुनन्दन।

(वा० रा०, अयोध्या० ११२। २७½)

'रघुनन्दन! मैं तुम्हें अपनी और सीताकी शपथ दिलाकर कहता हूँ कि तुम माता कैकेयीकी रक्षा करना, उनके प्रति कभी क्रोध न करना।'

श्रीरामका पत्नी-प्रेम

श्रीजानकीका विलाप और श्रीरामका उन्हें उपदेश

युवराज-पदके स्थानपर वनवासकी आज्ञा मिली। श्रीराम कैकेयीके सदनसे माता कौसल्याके यहाँ गये और वहाँसे किसी प्रकार विदा लेकर अपने निज सदन पहुँचे। उन्हें राजचिह्नोंसे रहित पैदल एकाकी आते देखकर श्रीजानकी व्याकुल हो गयीं। वे नाना प्रकारकी कुशङ्काओंके कारण विलाप करने लगीं।

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम्॥
कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम॥
राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ॥
तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते।
प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः॥
तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः॥
अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन्।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि॥
याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम्।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे॥

(वा० रा०, अयोध्या० २६। १९, २३, २७—२९)

"इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे रघुनन्दन श्रीरामने कहा—'सीते! आज पूज्य पिताजी मुझे

वनमें भेज रहे हैं। महान् कुलमें उत्पन्न, धर्मको जाननेवाली तथा धर्मपरायणा जनकनन्दिनि! जिस कारण यह वनवास आज मुझे प्राप्त हुआ है, वह क्रमशः बताता हूँ, सुनो। मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिता महाराज दशरथने माता कैकेयीको पहले कभी दो महान् वर दिये थे। इधर जब महाराजके उद्योगसे मेरे राज्याभिषेककी तैयारी होने लगी, तब कैकेयीने उस वरदानकी प्रतिज्ञाको याद दिलाया और महाराजको धर्मतः अपने काबूमें कर लिया। इससे विवश होकर पिताजीने भरतको तो युवराजके पदपर नियुक्त किया और मेरे लिये दूसरा वर स्वीकार किया, जिसके अनुसार मुझे चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें निवास करना होगा। सीते! राजाने उन्हें सदाके लिये युवराजपद दे दिया है, इसलिये तुम्हें विशेष प्रयत्नपूर्वक उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये; क्योंकि अब वे ही राजा होंगे। मैं भी पिताजीकी उस प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये आज ही वनको चला जाऊँगा। मनस्विनि! तुम धैर्य धारण करके रहना। कल्याणि! निष्पाप सीते! मेरे मुनिजनसेवित वनको चले जानेपर तुम्हें प्रायः व्रत और उपवासमें संलग्न रहना चाहिये।

कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः॥
माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति॥
वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम॥
विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च॥
आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये॥
औरस्यानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः॥
सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा॥
अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम॥
(वा० रा०, अयोध्या० २६। ३०—३८)

"प्रतिदिन सबेरे उठकर देवताओंकी विधिपूर्वक पूजा करके तुम्हें मेरे पिता महाराज दशरथकी वन्दना करनी चाहिये। मेरी माता कौसल्याको भी प्रणाम करना चाहिये। एक तो वे बूढ़ी हुईं, दूसरे दुःख और संतापने उन्हें दुर्बल कर दिया है; अतः धर्मको ही सामने रखकर तुमसे वे विशेष सम्मान पानेके योग्य हैं। जो मेरी शेष माताएँ हैं, उनके चरणोंमें भी तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये; क्योंकि स्नेह, उत्कृष्ट प्रेम और पालन-पोषणकी दृष्टिसे सभी माताएँ मेरे लिये समान हैं। भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं; अतः तुम्हें उन दोनोंको विशेषतः अपने भाई और पुत्रके समान देखना और मानना चाहिये। विदेहनन्दिनि! तुम्हें भरतकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुलके राजा हैं। अनुकूल आचरणके द्वारा आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा करनेपर राजा लोग प्रसन्न होते हैं तथा विपरीत बर्ताव करनेपर वे कुपित हो जाते हैं। जो अहित करनेवाले हैं, वे अपने औरस पुत्र ही क्यों न हों, राजा उन्हें त्याग देते हैं और आत्मीय न होनेपर भी जो सामर्थ्यवान् होते हैं, उन्हें वे अपना बना लेते हैं। अतः कल्याणि! तुम राजा भरतके अनुकूल

बर्ताव करती हुई धर्म एवं सत्यव्रतमें तत्पर रहकर यहाँ निवास करो। प्रिये! अब मैं उस विशाल वनमें चला जाऊँगा। भामिनि! तुम्हें यहीं निवास करना होगा। तुम्हारे बर्तावसे किसीको कष्ट न हो, इसका ध्यान रखते हुए तुम्हें यहाँ मेरी इस आज्ञाका पालन करते रहना चाहिये।"

श्रीरामके यों कहनेपर सीता प्रेमसे ही कुछ कुपित-सी होकर बोलीं—'प्राणनाथ! आप यह क्या कह रहे हैं! आप वनमें जायँ और मैं महलमें रहूँ, यह कैसे सम्भव है! आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई और पुत्र आदि अपने-अपने भाग्यके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं; केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है। अतः आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है। नारियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुश और काँटोंको रौंदती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी। स्त्रीके लिये पतिके चरणोंकी छायामें रहना ही सबसे बढ़कर है। मेरा कर्तव्य क्या है, इसकी शिक्षा मुझे माता और पितासे भलीभाँति मिल चुकी है। अतः इसके विषयमें इस समय मुझे कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है। मेरे हृदयका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है। आपके सिवा और कहीं मेरा मन नहीं जाता। यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी। इसलिये आप मेरी याचना सफल करें। मुझे साथ ले चलें। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ, मेरे रहनेसे आपपर कोई भार नहीं पड़ेगा।'

सीताके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे। धर्मात्मा श्रीराम उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये सान्त्वना देते हुए बोले—

सीताको सान्त्वना और वनमें चलनेसे मना करना

सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम्॥
सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे॥
सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते॥
हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम्॥
गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥
क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम्॥
सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥
लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम्॥
सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम्॥
अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम्॥
(वा० रा० अयोध्या० २८। ३—१२)

'सीते! तुम अत्यन्त उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और सदा धर्मके आचरणमें ही लगी रहती हो; अतः यहीं रहकर धर्मका पालन करो, जिससे मेरे मनको संतोष हो। सीते! मैं तुमसे जैसा कहूँ, वैसा ही करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम अबला हो, वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं; उन्हें बता रहा हूँ, मुझसे सुनो। सीते! वनवासके लिये चलनेका यह विचार छोड़ दो, वनको अनेक प्रकारके दोषोंसे व्याप्त और दुर्गम बताया जाता है। तुम्हारे हितकी भावनासे ही मैं ये सब बातें कह रहा हूँ। जहाँतक मेरी जानकारी है, वनमें सदा सुख नहीं मिलता। वहाँ तो सदा दुःख ही मिला करता है। पर्वतोंसे गिरनेवाले झरनोंके शब्दको सुनकर उन पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहनेवाले सिंह दहाड़ने लगते हैं। उनकी वह गर्जना सुननेमें बड़ी दुःखदायिनी प्रतीत

होती है, इसलिये वन दुःखमय ही है। सीते! सूने वनमें निर्भय होकर क्रीड़ा करनेवाले मतवाले जंगली पशु मनुष्यको देखते ही उसपर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है। वनमें जो नदियाँ होती हैं, उनके भीतर ग्राह निवास करते हैं, उनमें कीचड़ अधिक होनेके कारण उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके सिवा वनमें मतवाले हाथी सदा घूमते रहते हैं। इन सब कारणोंसे वन बहुत ही दुःखदायक होता है। वनके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे रहते हैं। वहाँ जंगली मुर्गे बोला करते हैं। उन मार्गोंपर चलनेमें बड़ा कष्ट होता है तथा वहाँ आस-पास जल नहीं मिलता, इससे वनमें दुःख-ही-दुःख है। दिनभरके परिश्रमसे थके-माँदे मनुष्यको रातमें जमीनके ऊपर अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्तोंके बिछौनेपर सोना पड़ता है; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है। सीते! वहाँ मनको वशमें रखकर वृक्षोंसे स्वतः गिरे हुए फलोंके आहारपर ही दिन-रात संतोष करना पड़ता है, अतः वन दुःख देनेवाला ही है।'

उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम्॥
देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम्॥
कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम्॥
उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः।
आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम्॥
यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम्॥
अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चाति नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम्॥
सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम्॥
नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम्॥
पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह।
बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम्॥
द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम्॥
कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम्॥
क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः।
न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम्॥
तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव।
विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० २८। १३–२५)

'मिथिलेशकुमारी! अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना, सिरपर जटाका भार ढोना और वल्कल वस्त्र धारण करना—यही वहाँकी जीवनशैली है। देवताओंका, पितरोंका तथा आये हुए अतिथियोंका प्रतिदिन शास्त्रोक्तविधिके अनुसार पूजन करना—यह वनवासीका प्रधान कर्तव्य है। वनवासीको प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनों समय स्नान करना होता है, इसलिये वन बहुत ही कष्ट देनेवाला है। सीते! वहाँ स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंद्वारा वेदोक्त-विधिसे वेदीपर देवताओंकी पूजा करनी पड़ती है। इसलिये वनको कष्टप्रद कहा गया है। मिथिलेशकुमारी जानकी! वनवासियोंको जब जैसा आहार मिल जाय, उसीपर संतोष करना पड़ता है; अतः वन दुःखरूप ही है। वनमें प्रचण्ड आँधी, घोर अन्धकार, प्रतिदिन भूखका कष्ट तथा और भी बड़े-बड़े भय प्राप्त होते हैं; अतः वन अत्यन्त कष्टप्रद है। भामिनि! वहाँ बहुत-से पहाड़ी सर्प, जो अनेक प्रकारके रूपवाले होते हैं, दर्पवश बीच रास्तेमें विचरते रहते हैं; अतः वन अत्यन्त कष्टदायक है। जो नदियोंमें निवास करते और नदियोंके समान ही कुटिल गतिसे चलते हैं, ऐसे बहुसंख्यक

सर्प वनमें रास्तेको घेरकर पड़े रहते हैं; इसलिये वन बहुत ही कष्टदायक है। अबले! पतंगे, बिच्छू, कीड़े, डाँस और मच्छर वहाँ सदा कष्ट पहुँचाते रहते हैं; अतः सारा वन दुःखरूप ही है। भामिनि! वनमें काँटेदार वृक्ष, कुश और कास होते हैं, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओर फैले हुए होते हैं; इसलिये वन विशेष कष्टदायक होता है। वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से शारीरिक क्लेशों और नाना प्रकारके भयोंका सामना करना पड़ता है, अतः वन सदा दुःखरूप ही होता है। वहाँ क्रोध और लोभको त्याग देना होता है, तपस्यामें मन लगाना पड़ता है और जहाँ भयका स्थान है, वहाँ भी भयभीत न होनेकी आवश्यकता होती है; अतः वनमें सदा दुःख-ही-दुःख है। इसलिये तुम्हारा वनमें जाना ठीक नहीं है। वहाँ जाकर तुम सकुशल नहीं रह सकती। मैं बहुत सोच-विचारकर देखता और समझता हूँ कि वनमें रहना अनेक दोषोंका उत्पादक—बहुत ही कष्टदायक है।'

सीताको साथ चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा वनमें चलनेसे पूर्व घरकी वस्तुओंका दान कर देनेकी आज्ञा देना

सीता श्रीरामके इस विचारसे सहमत नहीं हुईं। उन्होंने श्रीरामके समक्ष नाना प्रकारकी युक्तियोंद्वारा अपने वनगमनका औचित्य सिद्ध किया। प्रणयकोपका प्रदर्शन करती हुई साथ चलनेके लिये सीताने अधिक आग्रह किया। वे रोने-बिलखने लगीं और भावी वियोगके भयसे अत्यन्त घबरा गयीं। उन्हें संज्ञाहीन-सी होती देख श्रीरामने दोनों हाथोंसे सँभाला और हृदयसे लगाकर सान्त्वना देते हुए कहा—

**न देवि बत दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये।
नहि मेऽस्ति भयं किंचित् स्वयम्भोरिव सर्वतः॥
तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे॥
यत् सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि।
न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा॥
धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला॥
न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम्॥
एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे॥
अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्॥
यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते॥
न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्यासदक्षिणाः।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता॥
स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम्॥
देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान्।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः॥
स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः॥**

(वा० रा०, अयोध्या० ३०। २७-३८)

'देवि! तुम्हें दुःख देकर मुझे स्वर्गका सुख मिलता हो तो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूँगा। स्वयम्भू ब्रह्माजीकी भाँति मुझे किसीसे किंचित् भी भय नहीं है। शुभानने! यद्यपि वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ, तो भी तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्णरूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना मैं उचित नहीं समझता था। मिथिलेशकुमारी! जब तुम मेरे साथ वनमें रहनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो तो मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता—ठीक उसी तरह,

जैसे आत्मज्ञानी पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताका त्याग नहीं करते। हाथीकी सूँड़के समान जाँघवाली जनक-किशोरी! पूर्वकालके सत्पुरुषोंने अपनी पत्नीके साथ रहकर जिस धर्मका आचरण किया था, उसीका मैं भी तुम्हारे साथ रहकर अनुसरण करूँगा तथा जैसे सुवर्चला (संज्ञा) अपने पति सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार तुम भी मेरा अनुसरण करो। जनकनन्दिनि! यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है कि मैं वनको न जाऊँ; क्योंकि पिताजीका वह सत्ययुक्त वचन ही मुझे वनकी ओर ले जा रहा है। सुश्रोणि! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जीवित नहीं रह सकता। जो अपनी सेवाके अधीन हैं, उन प्रत्यक्ष देवता माता, पिता एवं गुरुका उल्लङ्घन करके जो सेवाके अधीन नहीं है, उस अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किस तरह आराधना की जा सकती है? सुन्दर नेत्रप्रान्तवाली सीते! जिनकी आराधना करनेपर धर्म, अर्थ और काम—तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है, उन माता, पिता और गुरुके समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है। इसीलिये भूतलके निवासी इन तीनों देवताओंकी आराधना करते हैं। सीते! पिताकी सेवा करना कल्याणकी प्राप्तिका जैसा प्रबल साधन माना गया है, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं। गुरुजनोंकी सेवाका अनुसरण करनेसे स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है। माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये सत्य और धर्मके मार्गपर स्थित रहनेवाले पूज्य पिताजी मुझे जैसी आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही बर्ताव करना चाहता हूँ; क्योंकि वह सनातनधर्म है।'

मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम्।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता॥
सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव॥
सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम्॥
आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते॥
ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम्॥
भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० ३० । ३९—४५)

'सीते! 'मैं आपके साथ वनमें निवास करूँगी'—ऐसा कहकर तुमने मेरे साथ चलनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है; इसलिये तुम्हें दण्डकारण्य ले चलनेके सम्बन्धमें जो मेरा पहला विचार था, वह अब बदल गया है। मदभरे नेत्रोंवाली सुन्दरी! अब मैं तुम्हें वनमें चलनेके लिये आज्ञा देता हूँ। भीरु! तुम मेरी अनुगामिनी बनो और मेरे साथ रहकर धर्मका आचरण करो। प्राणवल्लभे सीते! तुमने मेरे साथ चलनेका जो यह परम सुन्दर निश्चय किया है, यह तुम्हारे और मेरे कुलके सर्वथा योग्य ही है। सुश्रोणि! अब तुम वनवासके योग्य दान आदि कर्म प्रारम्भ करो। सीते! इस समय तुम्हारे इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता। ब्राह्मणोंको रत्नस्वरूप उत्तम वस्तुएँ दान करो और भोजन माँगनेवाले भिक्षुकोंको भोजन दो। शीघ्रता करो, विलम्ब नहीं होना चाहिये। तुम्हारे पास जितने बहुमूल्य आभूषण हों, जो-जो अच्छे-अच्छे वस्त्र हों,

जो कोई भी रमणीय पदार्थ हों तथा मनोरञ्जनकी जो-जो सुन्दर सामग्रियाँ हों, मेरे और तुम्हारे उपयोगमें आनेवाली जो उत्तमोत्तम शय्याएँ, सवारियाँ तथा अन्य वस्तुएँ हों, उनमेंसे ब्राह्मणोंको दान करनेके पश्चात् जो बचें, उन सबको अपने सेवकोंको बाँट दो।'

इस आदेशसे सीता बहुत प्रसन्न हुईं और शीघ्रतापूर्वक धन, रत्न आदि समस्त वस्तुओंका दान करनेमें जुट गयीं।

(अध्यात्मरामायण और रामचरितमानसके अनुसार—)

अध्यात्मरामायण, रामचरितमानस और गीतावलीमें भी यह प्रसङ्ग अत्यन्त मार्मिक है।

श्रीजनकनन्दिनीको अपने वन-गमनका समाचार देना है। कितने कोमल शब्दोंमें यह बात प्रभुने कही—साथ ही यह प्रयत्न भी कि श्रीवैदेही अवधमें ही रह जायँ तो उन्हें वनके कष्ट नहीं होंगे—

राज्ञा मे दण्डकारण्ये राज्यं दत्तं शुभेऽखिलम्।
अतस्तत्पालनार्थाय शीघ्रं यास्यामि भामिनि॥
अद्यैव यास्यामि वनं त्वं तु श्वश्रूसमीपगा।
शुश्रूषां कुरु मे मातुर्न मिथ्यावादिनो वयम्॥
...... कैकेय्यै राजा प्रीतो वरं ददौ।
भरताय ददौ राज्यं वनवासं ममानघे॥
चतुर्दश समास्तत्र वासो मे किल याचितः।
तया देव्या ददौ राजा सत्यवादी दयापरः॥
अतः शीघ्रं गमिष्यामि मा विघ्नं कुरु भामिनि।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ४। ५७-५८, ६०-६१½)

'हे शुभे! पिताजीने मुझे दण्डकारण्यका सम्पूर्ण राज्य दिया है, अतः हे भामिनि! मैं शीघ्र ही उसका पालन करनेके लिये वहाँ जाऊँगा। मैं आज ही वनमें जाऊँगा। तुम अपनी सासके पास जाकर उनकी सेवा-शुश्रूषामें रहो। मैं झूठ नहीं बोलता। हे अनघे! महाराजने प्रसन्नतापूर्वक कैकेयीको वर देकर भरतको राज्य और मुझे वनवास दे दिया है। देवी कैकेयीने मेरे लिये चौदह वर्षतक वनमें रहना माँगा था, सत्यवादी दयालु महाराजने देना स्वीकार कर लिया है; अतः हे भामिनि! मैं शीघ्र ही वहाँ जाऊँगा, तुम इसमें किसी प्रकारका विघ्न खड़ा न करना।'

श्रीसीताजीने साथ चलनेका अनुरोध किया; वह अनुरोध केवल अनुरोध नहीं था, उसमें आत्यन्तिक आग्रह था और ऐसे आग्रहको अनुमति तो देनी ही पड़ती है। किंतु एक बार श्रीरामने वनके कष्ट समझाकर रोकनेका प्रयत्न किया। उन्होंने कहा—

कथं वनं त्वां नेष्येऽहं बहुव्याघ्रमृगाकुलम्॥
राक्षसा घोररूपाश्च सन्ति मानुषभोजिनः।
सिंहव्याघ्रवराहाश्च संचरन्ति समन्ततः॥
कट्वम्लफलमूलानि भोजनार्थं सुमध्यमे।
अपूपानि व्यञ्जनानि विद्यन्ते न कदाचन॥
काले काले फलं वापि विद्यते कुत्र सुन्दरि।
मार्गो न दृश्यते क्वापि शर्कराकण्टकान्वितः॥
गुहागह्वरसम्बाधं झिल्लीदंशादिभिर्युतम्।
एवं बहुविधं दोषं वनं दण्डकसंज्ञितम्॥
पादचारेण गन्तव्यं शीतवातातपादिमत्।
राक्षसादीन् वने दृष्ट्वा जीवितं हास्यसेऽचिरात्॥
तस्माद्भद्रे गृहे तिष्ठ शीघ्रं द्रक्ष्यसि मां पुनः।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ४। ६४—६९½)

'मैं तुम्हें अनेकों व्याघ्रादि वन्य पशुओंसे पूर्ण वनमें कैसे साथ ले चलूँ? वहाँ मनुष्योंको खानेवाले भयंकर राक्षस रहते हैं और सब ओर सिंह, व्याघ्र तथा सूकर आदि हिंस्र जीव फिरते हैं। हे सुन्दर कमरवाली! वहाँ भोजनके लिये कड़ुए और खट्टे फल-मूलादि ही मिलते हैं। किसी प्रकारके पूए आदि व्यञ्जन वहाँ कभी नहीं मिलते। हे सुन्दरि! वे फल भी सदा नहीं मिलते, किसी-किसी समय कहीं मिलते हैं। उस वनमें कहीं-कहीं तो धूलि और काँटोंसे ढके रहनेके कारण मार्ग भी दिखायी नहीं देता। व

ज्योतिषी शिवकी गोदमें राम

कौशल्याकी गोदमें राम
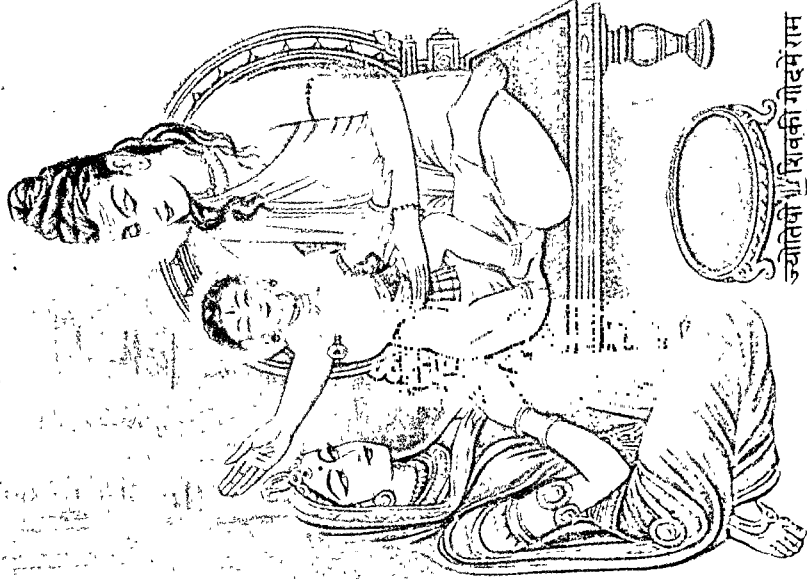
दशरथकी गोदमें राम

श्रीरामकी तीन बाल-लीला

दण्डकारण्य ऐसे ही अनेकों दोषोंसे भरा हुआ है। उसमें अनेकों गुफाएँ और गड्ढे हैं तथा वह झिल्लियों और डाँसों आदिसे भरा हुआ है। ऐसे वनमें शीत, वायु और घाम आदिके समय भी पैदल ही चलना पड़ता है। मुझे भय है कि तुम वनमें राक्षसादिकी भयंकर मूर्ति देखकर तुरंत ही प्राणत्याग कर बैठोगी। इसलिये हे भद्रे! तुम घर ही रहो, मुझे शीघ्र ही फिर देख पाओगी।'

राजकुमारि सिखावनु सुनहू।
आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू॥
आपन मोर नीक जौं चहहू।
बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई।
सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥
एहि ते अधिक धरमु नहिं दूजा।
सादर सासु ससुर पद पूजा॥
जब जब मातु करिहि सुधि मोरी।
होइहि प्रेम बिकल मति भोरी॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी।
सुंदरि समुझाएहु मृदु बानी॥
कहउँ सुभायँ सपथ सत मोही।
सुमुखि मातु हित राखउँ तोही॥
गुर श्रुति संमत धरम फलु पाइअ बिनहिं कलेस।
हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस॥
मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी।
बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी॥
दिवस जात नहिं लागिहि बारा।
सुंदरि सिखवनु सुनहु हमारा॥
जौं हठ करहु प्रेम बस बामा।
तौ तुम्ह दुखु पाउब परिनामा॥
काननु कठिन भयंकरु भारी।
घोर घामु हिम बारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना।
चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥
चरन कमल मृदु मंजु तुम्हारे।
मारग अगम भूमिधर भारे॥
कंदर खोह नदीं नद नारे।
अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
भालु बाघ बृक केहरि नागा।
करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥
भूमि सयन बलकल बसन असनु कंद फल मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं सबुइ समय अनुकूल॥
नर अहार रजनीचर चरहीं।
कपट बेष बिधि कोटिक करहीं॥
लागइ अति पहार कर पानी।
बिपिन बिपति नहिं जाइ बखानी॥
ब्याल कराल बिहग बन घोरा।
निसिचर निकर नारि नर चोरा॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ।
मृगलोचनि तुम्ह भीरु सुभाएँ॥
हंसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू।
सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू॥
मानस सलिल सुधाँ प्रतिपाली।
जिअइ कि लवन पयोधि मराली॥
नव रसाल बन बिहरनसीला।
सोह कि कोकिल बिपिन करीला॥
रहहु भवन अस हृदयँ बिचारी।
चंदबदनि दुखु कानन भारी॥
सहज सुहृद गुर स्वामि सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछिताइ अघाइ उर अवसि होइ हित हानि॥
(रामचरित०, अयोध्या० ६०।२–८; ६१–६३)

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'हे राजकुमारी! मेरी सिखावन सुनो। मनमें कुछ दूसरी तरह न समझ लेना। जो अपना और मेरा भला चाहती हो, तो मेरा वचन मानकर घरपर रहो। हे भामिनी! मेरी आज्ञाका पालन होगा, सासकी सेवा बन पड़ेगी। घर रहनेमें सभी प्रकारसे भलाई है। आदरपूर्वक सास-ससुरके चरणोंकी पूजा (सेवा) करनेसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जब-जब माता मुझे याद करेंगी और प्रेमसे व्याकुल हो जानेके कारण उनकी बुद्धि भोली हो जायगी (वे अपने-आपको भूल जायँगी), हे सुन्दरी! तब-तब तुम कोमल वाणीसे पुरानी कथाएँ कह-कहकर इन्हें समझाना। हे सुमुखि! मुझे सैकड़ों सौगंध हैं, मैं यह स्वभावसे ही कहता हूँ कि मैं तुम्हें केवल माताके लिये ही घरपर रखता हूँ। [मेरी

आज्ञा मानकर घरपर रहनेसे] गुरु और वेदके द्वारा सम्मत धर्म [के आचरण] का फल तुम्हें बिना ही क्लेश मिल जाता है; किंतु हठके वश होकर गालव मुनि और राजा नहुष आदि सबने संकट ही सहे।

'हे सुमुखि ! हे सयानी ! सुनो, मैं भी पिताके वचनको सत्य करके शीघ्र ही लौटूँगा। दिन जाते देर नहीं लगती। हे सुन्दरी ! हमारी यह सीख सुनो। हे वामा ! यदि प्रेमवश ठ करोगी तो तुम परिणाममें दुःख पाओगी। वन बड़ा ठिन (क्लेशदायक) और भयानक है। वहाँकी धूप, ाड़ा, वर्षा और हवा—सभी बड़े भयानक हैं। रास्तेमें ुश, काँटे और बहुत-से कंकड़ हैं। उनपर बिना जूतेके दल ही चलना होगा। तुम्हारे चरणकमल कोमल और ुन्दर हैं और रास्तेमें बड़े-बड़े दुर्गम पर्वत हैं। पर्वतोंकी फाएँ, खोह (दर्रे), नदियाँ, नद और नाले ऐसे ागम्य और गहरे हैं कि उनकी ओर देखातक नहीं जाता। छ, बाघ, भेड़िये, सिंह और हाथी ऐसे (भयानक) ब्द करते हैं कि उन्हें सुनकर धीरज भाग जाता है। मीनपर सोना, पेड़ोंकी छालके वस्त्र पहनना और द, मूल, फलका भोजन करना होगा। और वे भी क्या दा सब दिन मिलेंगे ? सब कुछ अपने-अपने समयके ानुकूल ही मिल सकेगा।

'मनुष्योंको खानेवाले निशाचर (राक्षस) फिरते रहते । वे करोड़ों प्रकारके कपटरूप धारण कर लेते हैं। हाड़का पानी बहुत ही लगता है। वनकी विपत्ति बखानी हीं जा सकती। वनमें भीषण सर्प, भयानक पक्षी और स्त्री-रुषोंको चुरानेवाले राक्षसोंके झुंड-के-झुंड रहते हैं। वनकी भयंकरता) याद आनेमात्रसे धीर पुरुष डर जाते हैं। र हे मृगलोचनि ! तुम तो स्वभावसे ही डरपोक हो। हंसगमनी ! तुम वनके योग्य नहीं हो। तुम्हारे वन ानेकी बात सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे (बुरा कहेंगे)। ानसरोवरके अमृतके समान जलसे पाली हुई हंसिनी हीं खारे समुद्रमें जी सकती है ? नवीन आमके वनमें हार करनेवाली कोयल क्या करीलके जंगलमें शोभा पाती ? हे चन्द्रमुखी ! हृदयमें यों विचारकर तुम घरपर ही हो। वनमें बड़ा कष्ट है। स्वाभाविक ही हित चाहनेवाले ुरु और स्वामीकी सीखको जो सिर चढ़ाकर नहीं मानता, ह हृदयमें भरपेट पछताता है और उसके हितकी हानि ावश्य होती है।'

रहहु भवन हमरे कहें, कामिनि !
सादर सासु-चरन सेवहु नित,
जो तुम्हरे अति हित, गृह-स्वामिनि ॥
राजकुमारि ! कठिन कंटक मग,
क्यों चलिहौ मृदु पद गजगामिनि।
दुसह बात, बरषा, हिम, आतप
कैसे सहिहौ अगनित दिन-जामिनि ॥
हौं पुनि पितु-आग्या प्रमान करि
ऐहौं बेगि सुनहु दुति-दामिनि।
तुलसिदास प्रभु-बिरह-बचन सुनि
सहि न सकी, मुरछित भइ भामिनि ॥
(गीतावली, अयोध्या० ५)

[फिर सीताजीको साथ चलनेके लिये हठ करती देख भगवान् रामने कहा—] 'हे प्रिये ! हमारे कहनेसे तुम घर ही रहो। हे गृहस्वामिनी ! तुम सासके चरणोंकी सर्वदा आदरपूर्वक सेवा करो, यह तुम्हारे लिये अत्यन्त भली बात होगी। हे राजकुमारि ! वनका मार्ग बड़ा ही कठिन और कण्टकाकीर्ण है। हे गजगामिनि ! तुम अपने कोमल चरणोंसे उसपर कैसे चल सकोगी ? अगणित दिन और रात्रियोंतक तुम दुस्सह वायु, वर्षा, शीत और घाम कैसे सहन कर सकोगी ? हे विद्युत्कान्तिमयि ! मैं भी पिताजीकी आज्ञाका पालन करके शीघ्र ही लौट आऊँगा।' तुलसीदासजी कहते हैं, प्रभुके ये वियोगसूचक वचन सुनकर सीताजी उन्हें सह न सकीं और मूर्च्छित हो गयीं।'

वनका प्रसङ्ग

जानकीकी प्रसन्नता श्रीरामको इष्ट

एक दिन शूर्पणखाने आकर श्रीरामके समक्ष अशिष्ट व्यवहार किया। अतः भाईकी आज्ञासे लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये। शूर्पणखाने चिल्ला-चिल्लाकर सारे वनमें कोलाहल मचा दिया। उसके तिरस्कारसे उत्तेजित हो खर-दूषण और त्रिशिरा नामक तीन महाबली राक्षस चौदह हजार सैनिकोंके साथ श्रीरामपर चढ़ आये। किंतु वे सब-के-सब युद्धमें मार गिराये गये। तब शूर्पणखाने लङ्कापति रावणको उभारा और रावणने मारीचको मृगके वेषमें इसलिये भेजा कि वह श्रीरामको मृगयाके लिये आश्रमसे दूर हटा ले जाय। मारीचने वैसा ही किया। आश्रमके समक्ष सुवर्णमय मृगको देखकर सीताने श्रीरामको उसे जीवित या मृत किसी अवस्थामें पकड़ लानेके लिये कहा।

लक्ष्मणने उसे राक्षसी माया समझकर उसके प्रति आकृष्ट न होनेके लिये सलाह दी। उस समय श्रीरामने श्रीजानकीको प्रसन्न करनेके लिये लक्ष्मणसे कहा—

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः स्पृहामुल्लसितामिमाम्।
रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति॥

× × × ×

यदि वायं तथा यन्मां भवेद् वदसि लक्ष्मण।
मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया॥
एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना।
वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुंगवाः॥
उत्थाय बहवोऽनेन मृगयायां जनाधिपाः।
निहताः परमेष्वासास्तस्माद् वध्यस्त्वयं मृगः॥
पुरस्तादिह वातापिः परिभूय तपस्विनः।
उदरस्थो द्विजान् हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव॥
स कदाचिच्चिराल्लोभादाससाद महामुनिम्।
अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्ष्यस्तस्य बभूव ह॥
समुत्थाने च तद्रूपं कर्तुकामं समीक्ष्य तम्।
उत्स्मयित्वा तु भगवान् वातापिमिदमब्रवीत्॥
त्वयाविगण्य वातापे परिभूताश्च तेजसा।
जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः॥
तद् रक्षो न भवेदेव वातापिरिव लक्ष्मण।
मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम्॥
भवेद्धतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मा गतः।
इह त्वं भव संनद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम्॥
अस्यामायत्तमस्माकं यत् कृत्यं रघुनन्दन।
अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यथवा मृगम्॥
यावद् गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम्।
पश्य लक्ष्मण वैदेह्या मृगत्वचि गतां स्पृहाम्॥
त्वचा प्रधानया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति।
अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रमस्थेन सीतया॥
यावत् पृषतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम्।
हत्वैतच्चर्म चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण॥
प्रदक्षिणेनातिबलेन पक्षिणा
जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण।
भवाप्रमत्तः प्रतिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः॥

(वा० रा०, अरण्य० ४३। २५, ३८—५१)

'लक्ष्मण! देखो तो सही, विदेहनन्दिनी सीताके मनमें इस मृगको पानेके लिये कितनी प्रबल इच्छा जाग उठी है! वास्तवमें इसका रूप है भी बहुत ही सुन्दर। अपने रूपकी इस श्रेष्ठताके कारण ही यह मृग आज जीवित नहीं रह सकेगा। लक्ष्मण! तुम मुझसे जैसा कह रहे हो, यदि वैसा ही यह मृग हो, यदि यह राक्षसकी माया ही हो, तो भी मुझे उसका वध करना ही चाहिये; क्योंकि अपवित्र (दुष्ट) चित्तवाले इस क्रूरकर्मा मारीचने वनमें विचरते समय पहले अनेकानेक श्रेष्ठ मुनियोंकी हत्या की है। इसने मृगयाके समय प्रकट होकर बहुत-से महाधनुर्धर नरेशोंका वध किया है, अतः इस मृगके रूपमें इसका भी वध अवश्य करने योग्य है। इसी वनमें पहले वातापि नामक राक्षस रहता था, जो तपस्वी महात्माओंका तिरस्कार करके कपटपूर्ण उपायसे उनके पेटमें पहुँच जाता और जैसे खच्चरीको अपने ही गर्भका बच्चा नष्ट कर देता है उसी प्रकार उन ब्रह्मर्षियोंको नष्ट कर देता था। वह वातापि एक दिन दीर्घकालके पश्चात् लोभवश तेजस्वी महामुनि अगस्त्यजीके पास जा पहुँचा और (श्राद्धकालमें) उनका आहार बन गया—उनके पेटमें पहुँच गया। श्राद्धके अन्तमें जब वह अपना राक्षसरूप प्रकट करनेकी इच्छा करने लगा—उनका पेट फाड़कर निकल आनेको उद्यत हुआ, तब उस वातापिको लक्ष्य करके भगवान् अगस्त्य मुसकराये और उससे इस प्रकार बोले—'वातापे! तुमने बिना सोचे-विचारे इस जीव-जगत्‌में बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको अपने तेजसे तिरस्कृत किया है, उसी पापसे अब तुम पच गये।' लक्ष्मण! जो सदा धर्ममें तत्पर

रहनेवाले मुझ-जैसे जितेन्द्रिय पुरुषका भी अतिक्रमण करे, उस मारीच नामक राक्षसको भी वातापिके समान ही नष्ट हो जाना चाहिये। जैसे वातापि अगस्त्यके द्वारा नष्ट हुआ, उसी प्रकार यह मारीच अब मेरे सामने ...कर अवश्य ही मारा जायगा। तुम अस्त्र और कवच देसे सुसज्जित हो जाओ और यहाँ सावधानीके साथ ...लेशकुमारीकी रक्षा करो। रघुनन्दन! हमलोगोंका आवश्यक कर्तव्य है, वह सीताकी रक्षाके ही अधीन मैं इस मृगको मार डालूँगा अथवा इसे जीता ही ड़ लाऊँगा। सुमित्राकुमार लक्ष्मण! देखो, इस ...का चर्म हस्तगत करनेके लिये विदेहनन्दिनीको ...नी उत्कण्ठा हो रही है! इसलिये इस मृगको ले ...के लिये मैं तुरंत ही जा रहा हूँ। इस मृगको ...नेका प्रधान हेतु है—इसके चमड़ेको प्राप्त करना। ...ा इसीके कारण यह मृग जीवित नहीं रह सकेगा। ...ण! तुम आश्रमपर रहकर सीताके साथ सावधान ...ा—सावधानीके साथ तबतक इसकी रक्षा करना, ...तक कि मैं एक ही बाणसे इस चितकबरे मृगको नहीं डालूँ। मारनेके पश्चात् इसका चमड़ा ...र मैं शीघ्र लौट आऊँगा। लक्ष्मण! बुद्धिमान् ... गृध्रराज जटायु बड़े ही बलवान् और सामर्थ्यशाली ...। उनके साथ ही यहाँ सदा सावधान रहना। ...लेशकुमारी सीताको अपने संरक्षणमें लेकर प्रतिक्षण दिशाओंमें रहनेवाले राक्षसोंकी ओरसे चौकन्ने रहना।'

लक्ष्मणको सीताकी रक्षाका भार देकर श्रीरामने मृगका ...ा किया और उसे मार गिराया। मरते समय मारीचने ...उसके स्वरका अनुकरण करके सीता और लक्ष्मणको पुकारा। ...सकी इस कृत्रिम वाणीको सुनकर आश्रमपर कोई अनर्थ ...त न हो जाय, इस आशङ्कासे श्रीराम उसी ओर चल ...। उधर सीताने घबराकर लक्ष्मणको श्रीरामके पास जानेकी आज्ञा दी। लक्ष्मणको विलम्ब करते देख सीताने मर्मभेदी वचनोंद्वारा उन्हें जानेको विवश कर दिया। आश्रममें सीताको अकेली देख रावण साधुवेशमें वहाँ आया और बलपूर्वक उनका अपहरण करके चल दिया। मार्गमें बाधा देनेवाले जटायुको उसने मौतके घाट उतार दिया। उधर आश्रमकी ओर लौटते समय श्रीरामको मार्गमें लक्ष्मण मिले। उन्हें देखकर श्रीरामको बड़ी चिन्ता हुई। वे बोले—

अहो लक्ष्मण गर्ह्यं ते कृतं यत् त्वं विहाय ताम् ॥
सीतामिहागतः सौम्य कच्चित् स्वस्ति भवेदिति।
न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥
विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः।
अशुभान्येव भूयिष्ठं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥
अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्र्यं प्राप्नुयामहे।
जीवन्त्याः पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥
यथा वै मृगसंघाश्च गोमायुश्चैव भैरवम्।
वाश्यन्ते शकुनाश्चापि प्रदीप्तामभितो दिशम्।
अपि स्वस्ति भवेत् तस्या राजपुत्र्या महाबल ॥
इदं हि रक्षो मृगसंनिकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम्।
हतं कथंचिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्म्रियमाण एव ॥
मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम्।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥
(वा० रा०, अरण्य० ५७। १७—२३)

'अहो सौम्य लक्ष्मण! यह तुमने बहुत बुरा किया, जो सीताको अकेली छोड़कर यहाँ चले आये। क्या वहाँ सीता सकुशल होगी? वीर! मुझे इस बातमें संदेह नहीं है कि वनमें विचरनेवाले राक्षसोंने जनककुमारी सीताको या तो सर्वथा नष्ट कर दिया होगा या वे उन्हें खा गये होंगे; क्योंकि मेरे आसपास बहुत-से अपशकुन हो रहे हैं। पुरुषसिंह लक्ष्मण! क्या हमलोग जीती-जागती हुई जनकदुलारी सीताको पूर्णतः स्वस्थ एवं सकुशल पा सकेंगे? महाबली लक्ष्मण! ये मृगोंके झुंड

(दाहिनी ओरसे आकर) जैसा अमङ्गल सूचित कर रहे हैं, ये गीदड़ जिस तरह भैरवनाद कर रहे हैं तथा जलती-सी प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण दिशाओंमें पक्षी जिस तरहकी बोली बोल रहे हैं—इन सबसे यही अनुमान होता है कि राजकुमारी सीता शायद ही कुशलसे हों। यह राक्षस मृगके समान रूप धारण करके मुझे लुभाकर दूर चला आया था। महान् परिश्रम करके जब मैंने इसे किसी तरह मारा, तब यह मरते ही राक्षस हो गया। लक्ष्मण! मेरा मन अत्यन्त दीन और अप्रसन्न हो रहा है। मेरी बायीं आँख फड़क रही है, इससे जान पड़ता है निस्संदेह आश्रमपर सीता नहीं है। उसे कोई हर ले गया, वह मारी गयी अथवा (किसी राक्षसके साथ) मार्गमें होगी।'

लक्ष्मणको दीन, संतोषशून्य तथा सीताको साथ लिये बिना आया देख धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामने पूछा—

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगाम ह।
क्व सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः॥
राज्यभ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान् परिधावतः।
क्व सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुमध्यमा॥
यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम्।
क्व सा प्राणसहाया मे सीता सुरसुतोपमा॥
पतित्वममराणां हि पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण।
विना तां तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम्॥
कच्चिज्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम।
कच्चित् प्रव्राजनं वीर न मे मिथ्या भविष्यति॥
सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि।
कच्चित् सकामा कैकेयी सुखिता सा भविष्यति॥
सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्विनी।
उपस्थास्यति कौसल्या कच्चित् सौम्येन कैकयीम्॥
यदि जीवति वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः।
संवृत्ता यदि वृत्ता सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण॥
यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते।
पुरः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण॥
ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा।
त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी॥
सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखभागिनी।
मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः॥
सर्वथा रक्षसा तेन जिह्मेन सुदुरात्मना।
वदता लक्ष्मणेत्युच्चैस्तवापि जनितं भयम्॥
श्रुतश्च मन्ये वैदेह्या स स्वरः सदृशो मम।
त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः॥
सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने।
प्रतिकर्तुं नृशंसानां रक्षसां दत्तमन्तरम्॥
दुःखिताः खरघातेन राक्षसाः पिशिताशनाः।
तैः सीता निहता घोरैर्भविष्यति न संशयः॥
अहोऽस्मि व्यसने मग्नः सर्वथा रिपुनाशन।
किं त्विदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम्॥
(वा० रा०, अरण्य० ५८। २—१७)

"लक्ष्मण! जो दण्डकारण्यकी ओर प्रस्थित होनेप अयोध्यासे मेरे पीछे-पीछे चली आयी तथा जिसे तुम अकेली छोड़कर यहाँ आ गये, वह विदेहराजकुमारी सीता इस समय कहाँ है? मैं राज्यसे भ्रष्ट और दीन होकर दण्डकारण्यमें चक्कर लगा रहा हूँ। इस दुःखमें जो मेरी सहायिका हुई, वह विदेहराजकुमारी कहाँ है? वीर! जिसके बिना मैं दो घड़ी भी जीवित नहीं रह सकता तथा जो मेरे प्राणोंकी सहचरी है, वह देवकन्याके समान सुन्दरी सीता इस समय कहाँ है? लक्ष्मण! तपाये हुए सोनेके समान कान्तिवाली जनकनन्दिनी सीताके बिना मैं पृथ्वीका राज्य और देवताओंका आधिपत्य भी नहीं चाहता। वीर! जो मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय है, वह विदेहराजकुमारी सीता क्या अब जीवित होगी? मेरा वनमें आना सीताको खो देनेके कारण व्यर्थ तो नहीं हो जायगा? लक्ष्मण! यदि विदेहनन्दिनी

सीता जीवित होगी, तभी मैं फिर आश्रममें पैर रखूँगा। यदि सदाचारपरायणा मैथिली मर गयी होगी तो मैं भी प्राणोंका परित्याग कर दूँगा। लक्ष्मण! यदि आश्रममें जानेपर विदेहराजकुमारी सीता हँसते हुए मुखसे सामने आकर मुझसे बात नहीं करेगी तो मैं जीवित नहीं रहूँगा। लक्ष्मण! बोलो तो सही, वैदेही जीवित है या नहीं? तुम्हारे असावधान होनेके कारण राक्षस उस तपस्विनीको खा तो नहीं गये? जो कुमारी है, बाला (भोली-भाली) है तथा जिसने नवासके पहले दुःखका अनुभव नहीं किया था, वह देही आज मेरे वियोगसे व्यथित-चित्त होकर अवश्य । शोक कर रही होगी। उस कुटिल एवं दुरात्मा क्षसने उच्चस्वरसे 'हा! लक्ष्मण!' यों पुकारकर म्हारे मनमें भी सर्वथा भय उत्पन्न कर दिया। न पड़ता है वैदेहीने भी मेरे स्वरसे मिलता-जुलता स राक्षसका स्वर सुन लिया और भयभीत होकर म्हें भेज दिया और तुम भी शीघ्र ही मुझे देखनेके लिये ले आये। जो भी हो, तुमने वनमें सीताको अकेली ोड़कर सर्वथा दुःखद कार्य कर डाला, क्रूर कर्म रनेवाले राक्षसोंको बदला लेनेका अवसर दे दिया। ांसभक्षी निशाचर मेरे हाथों खरके मारे जानेसे बहुत ुखी थे। उन घोर राक्षसोंने सीताको मार डाला होगा, समें संशय नहीं है। शत्रुनाशन! मैं सर्वथा संकटके मुद्रमें डूब गया हूँ। ऐसे दुःखका अवश्य ही अनुभव करना पड़ेगा—ऐसी शङ्का हो रही है। अतः अब मैं क्या करूँ?'

सीताके आदेशानुसार आश्रमसे अपने पास आये हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे मार्गमें भी रघुकुलनन्दन श्रीरामने बड़े दुःखसे यह बात पूछी—

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोऽपास्य मैथिलीम्।
यदा सा तव विश्वासाद् वने विरहिता मया॥
दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण।
शङ्कमानं महत् पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः॥
स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि॥

(वा० रा०, अरण्य० ५९। २-४)

'लक्ष्मण! जब मैंने तुम्हारे विश्वासपर ही वनमें सीताको छोड़ा था, तब तुम उसे अकेली छोड़कर क्यों चले आये? लक्ष्मण! मिथिलेशकुमारीको छोड़कर तुम जो मेरे पास आये हो, इससे तुम्हें देखते ही जिस महान् अनिष्टकी आशङ्का करके मेरा मन व्यथित हो रहा था, वह सत्य जान पड़ने लगा है। लक्ष्मण! मेरी बायीं आँख और बायीं भुजा फड़क रही है। तुम्हें आश्रमसे दूर सीताके बिना ही मार्गपर आते देख मेरा हृदय भी धक-धक कर रहा है।'

श्रीरामचन्द्रजीके यों कहनेपर उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मण अत्यन्त दुखी होकर अपने शोकग्रस्त भाई श्रीरामसे बोले—'भैया! मैं स्वयं अपनी इच्छासे उन्हें छोड़कर नहीं आया हूँ। उन्हींके कठोर वचनोंसे प्रेरित होकर मुझे आपके पास आना पड़ा है।' लक्ष्मणकी ऐसी बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी संतापसे मोहित हो गये और उनसे बोले—'सौम्य! तुमने बड़ा बुरा किया, जो तुम सीताको छोड़कर यहाँ चले आये।'

जानन्नपि समर्थं मां रक्षसामपवारणे।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निर्गतो भवान्॥
नहि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यदसि मैथिलीम्।
क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्त्रिया यत् त्वमिहागतः॥
सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत् प्रचोदितः।
क्रोधस्य वशमागम्य नाकरोः शासनं मम॥
असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया।
मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः॥
विकृष्य चापं परिधाय सायकं
सलीलबाणेन च ताडितो मया।

मार्गी तनुं त्यज्य च विक्लवस्वरो
बभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥
शराहतेनैव तदाऽऽर्तया गिरा
स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसुश्रवम् ।
उदाहृतं तद् वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥

(वा० रा०, अरण्य० ५९ । २२-२७)

'मैं राक्षसोंका निवारण करनेमें समर्थ हूँ, यह जानते हुए भी तुम मैथिलीके क्रोधयुक्त वचनसे उत्तेजित होकर निकल पड़े ! क्रोधमें भरी हुई नारीके कठोर वचनको सुनकर जो तुम मिथिलेशकुमारीको छोड़कर यहाँ चले आये, इससे मैं तुम्हारे ऊपर संतुष्ट नहीं हूँ । सीतासे प्रेरित होकर क्रोधके वशीभूत हो तुमने मेरे आदेशका पालन नहीं किया, यह सर्वथा तुम्हारा अन्याय है । जिसने मृगरूप धारण करके मुझे आश्रमसे दूर हटा दिया, वह राक्षस मेरे बाणोंसे घायल होकर सदाके लिये सो रहा है । धनुष खींचकर उस बाणका संधान करके मैंने लीलापूर्वक चलाये हुए बाणसे ज्यों ही उस मृगको मारा, त्यों ही वह मृगके शरीरका परित्याग करके बाँहोंमें बाजूबंद धारण करनेवाला राक्षस बन गया । उसके स्वरमें बड़ी व्याकुलता आ गयी थी । बाणसे आहत होनेपर ही उसने आर्तवाणीमें मेरे स्वरकी नकल करके बहुत दूरतक सुनायी देनेवाला वह अत्यन्त दारुण वचन कहा था, जिससे तुम मिथिलेशकुमारी सीताको छोड़कर यहाँ चले आये हो ।'

सब ओर मृगचर्म और कुश बिखरे हुए थे । चटाइयाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं । पर्णशालाको सूनी देख भगवान् श्रीराम बारंबार विलाप करने लगे—

हृता मृता वा नष्टा वा भक्षिता वा भविष्यति ।
निलीनाप्यथवा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥
गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।
अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥

(वा० रा०, अरण्य० ६० । ८-९)

'हाय ! सीताको किसीने हर तो नहीं लिया ? उसकी मृत्यु तो नहीं हो गयी अथवा वह खो तो नहीं गयी या किसी राक्षसने उसे खा तो नहीं लिया ? वह भीरु कहीं छिप तो नहीं गयी है अथवा फल-फूल लानेके लिये वनके भीतर तो नहीं चली गयी ? सम्भव है, फल-फूल लानेके लिये ही गयी हो या जल लानेके लिये किसी पुष्करिणी अथवा नदीके तटपर गयी हो ।'

श्रीरामचन्द्रजीने प्रयत्नपूर्वक अपनी प्रिय पत्नी सीताको वनमें चारों ओर ढूँढ़ा, किंतु कहीं भी उनका पता न लगा । शोकके कारण श्रीमान् रामकी आँखें लाल हो गयीं । वे उन्मत्तके समान दिखायी देने लगे । एक वृक्षसे दूसरे वृक्षके पास दौड़ते हुए वे पर्वतों, नदियों और नदोंके किनारे घूमने लगे । शोक-समुद्रमें डूबे हुए श्रीरामचन्द्रजी विलाप करते-करते वृक्षोंसे पूछने लगे—

अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।
कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥
स्निग्धपल्लवसंकाशां पीतकौशेयवासिनीम् ।
शंसस्व यदि सा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी ॥
अथवार्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।
जनकस्य सुता तन्वी यदि जीवति वा न वा ॥
ककुभः ककुभोरुं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।
लतापल्लवपुष्पाढ्यो भाति ह्येष वनस्पतिः ॥
भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो ह्यसि ।
एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥
अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतनम् ।
त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासंदर्शनेन माम् ॥
यदि ताल त्वया दृष्टा पक्वतालोपमस्तनी ।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥
यदि दृष्टा त्वया जम्बो जाम्बूनदसमप्रभा ।
प्रियां यदि विजानासि निःशङ्कं कथयस्व मे ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य पुष्पितः शोभसे भृशम् ।
कर्णिकार प्रियां साध्वीं शंस दृष्टा यदि प्रिया ॥

(वा० रा०, अरण्य० ६० । १२–२०)

'कदम्ब ! मेरी प्रिया सीता तुम्हारे पुष्पोंसे बहुत प्रेम करती थी, क्या वह यहाँ है ? क्या तुमने उसे देखा है ? यदि जानते हो तो उस शुभानना सीताका पता बताओ । उसके अङ्ग सुस्निग्ध पल्लवोंके समान कोमल हैं तथा शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पाती है । बिल्व ! यदि तुमने उसे देखा हो तो बताओ । अथवा अर्जुन ! तुम्हारे फूलोंपर मेरी प्रियाका विशेष अनुराग था, अतः तुम्हीं उसका कुछ समाचार बताओ । कृशाङ्गी जनक-किशोरी जीवित है या नहीं ? यह ककुभ मिथिलेशकुमारीको अवश्य जानता होगा; क्योंकि यह वनस्पति लता, पल्लव तथा फूलोंसे सम्पन्न हो बड़ी शोभा पा रहा है । ककुभ ! तुम सब वृक्षोंमें श्रेष्ठ हो; क्योंकि ये भ्रमर तुम्हारे समीप आकर अपने झंकारोंद्वारा तुम्हारा यशोगान करते हैं । (तुम्हीं सीताका पता बताओ । अहो ! यह भी कोई उत्तर नहीं दे रहा है !) यह तिलक-वृक्ष अवश्य सीताके विषयमें जानता होगा; क्योंकि मेरी प्रिया सीताको भी तिलकसे प्रेम था । अशोक ! तुम शोक दूर करनेवाले हो । इधर मैं शोकसे अपनी चेतना खो बैठा हूँ । मुझे मेरी प्रियतमाका दर्शन कराकर शीघ्र ही अपने-जैसे नामवाला बना दो—मुझे अशोक (शोकहीन) करा दो । ताल वृक्ष ! सीताको यदि तुमने देखा हो तो बताओ । यदि मुझपर तुम्हें दया आती हो तो उस सुन्दरीके विषयमें अवश्य कुछ कहो । जामुन ! जाम्बूनद (सुवर्ण) के समान कान्तिवाली मेरी प्रिया यदि तुम्हारी दृष्टिमें पड़ी हो, यदि तुम उसके विषयमें कुछ जानते हो तो निःशङ्क होकर मुझे बताओ । कनेर ! आज तो फूलोंके लगनेसे तुम्हारी बड़ी शोभा हो रही है । अहो ! मेरी प्रिया साध्वी सीताको तुम्हारे ये पुष्प बहुत पसंद थे । यदि तुमने उसे कहीं देखा हो तो मुझसे कहो ।'

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम् ।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥
गज सा गजनासोरुर्यदि दृष्टा त्वया भवेत् ।
तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥
शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।
मैथिली मम विस्रब्धः कथयस्व न ते भयम् ॥
किं धावसि प्रिये नूनं दृष्टासि कमलेक्षणे ।
वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिभाषसे ॥
तिष्ठ तिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलासि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥
पीतकौशेयकेनासि सूचिता वरवर्णिनि ।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥
नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी ।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति ॥
व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः ।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥
नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं शुभकुण्डलम् ।
पूर्णचन्द्रनिभं ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥
सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयकोचिता ।
कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥
नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।
भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥
मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।
सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥
हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसे त्वं प्रियां क्वचित् ।
हा प्रिये क्व गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥
इत्येवं विलपन् रामः परिधावन् वनाद् वनम् ।
क्वचिदुद्भ्रमते वेगात् क्वचिद् विभ्रमते बलात् ॥

(वा० रा०, अरण्य० ६० । २३—३६)

अपने सामने हरिणको देखकर वे बोले—'मृग ! अथवा तुम्हीं बताओ, मृगनयनी मैथिलीको जानते हो ? मेरी प्रियाकी दृष्टि भी तुम हरिणोंकी-सी है, अतः सम्भव है वह हरिणियोंके ही साथ हो । श्रेष्ठ गजराज ! सीताको सम्भवतः तुमने देखा होगा । जान पड़ता है, तुम्हें उसका पता विदित है; अतः बताओ, वह कहाँ है ? व्याघ्र ! यदि तुमने मेरी प्रिया चन्द्रमुखी मैथिलीको देखा हो तो निःशङ्क होकर बता दो, मुझसे तुम्हें कोई भय नहीं होगा । (इतनेमें ही उनको भ्रम हुआ कि सीता उधर भागकर छिप रही है, तब वे बोले—) प्रिये ! क्यों भागी जा रही हो ? कमललोचने ! निश्चय ही मैंने तुम्हें देख लिया है । तुम वृक्षोंकी ओटमें अपने आपको छिपाकर मुझसे बात क्यों नहीं करती ? वरारोहे ! ठहरो, ठहरो । क्या तुम्हें मुझपर दया नहीं आती ? अधिक हास-परिहास करनेका तुम्हारा स्वभाव तो नहीं था, फिर किसलिये मेरी उपेक्षा करती हो ? सुन्दरि ! तुम कहाँ हो—यह सूचना पीली रेशमी साड़ीसे ही मिल जाती है । भागी जाती हो तो भी मैंने तुम्हें देख लिया है । यदि मेरे प्रति स्नेह एवं सौहार्द हो तो खड़ी हो जाओ । (फिर भ्रम दूर होनेपर बोले—) अथवा निश्चय ही वह नहीं है । उस मनोहर मुसकानवाली सीताको राक्षसोंने मार डाला, अन्यथा इस तरह संकटमें पड़े हुएकी (मेरी) वह कदापि उपेक्षा नहीं कर सकती थी । स्पष्ट जान पड़ता है कि मांसभक्षी राक्षसोंने मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी भोली-भाली प्रिया मैथिलीको उसके सारे अङ्ग बाँटकर खा लिया । सुन्दर दाँत, मनोहर ओष्ठ, सुघड़ नासिकासे युक्त तथा रुचिर कुण्डलोंसे अलंकृत वह पूर्ण चन्द्रमाके समान अभिराम मुख राक्षसोंका ग्रास बनकर निश्चय ही अपनी प्रभा खो बैठा होगा । रोती-बिलखती हुई प्रियतमा सीताकी वह चम्पाके समान वर्णवाली कोमल एवं सुन्दर ग्रीवा, जो हार और हँसली आदि आभूषण पहननेके योग्य थी, निशाचरोंका आहार बन गयी ! वे नूतन पल्लवोंके समान कोमल भुजाएँ जो इधर-उधर पटकी जा रही होंगी और जिनके अग्रभाग काँप रहे होंगे, हाथोंके आभूषण तथा बाजूबंदसहित निश्चय ही राक्षसोंके पेटमें चली गयीं । मैंने राक्षसोंका भक्ष्य बननेके लिये ही उस बालाको अकेली छोड़ दिया । यद्यपि उसके बन्धु-बान्धव बहुत हैं, तथापि वह यात्रियोंके समुदायसे विलग हुई किसी अकेली स्त्रीकी भाँति निशाचरोंका ग्रास बन गयी । हा महाबाहु लक्ष्मण ! क्या तुम कहीं मेरी प्रियतमाको देखते हो ? हा प्रिये ! हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहाँ चली गयी ?' इस तरह बारंबार विलाप करते हुए श्रीरामचन्द्रजी एक वनसे दूसरे वनमें दौड़ने लगे । वे कहीं सीताकी समानता पाकर उद्भ्रान्त हो उठते (उछल पड़ते थे) और कहीं शोककी प्रबलताके कारण विभ्रान्त हो जाते (बवंडरकी भाँति चक्कर काटने लगते) थे ।

चारों ओर ढूँढ़नेपर भी जब विदेहकुमारीका कहीं पता नहीं लगा, तब श्रीरामचन्द्रजी अपनी दोनों सुन्दर भुजाएँ ऊपर उठाकर सीताका नाम ले जोर-जोरसे पुकार करके लक्ष्मणसे बोले—

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।
केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥
वृक्षेणावार्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।
अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥
यैः परिक्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।
एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यस्राविलेक्षणाः ॥
सीतया रहितोऽहं वै नहि जीवामि लक्ष्मण ।
वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥
परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।
कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥
अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।
कामवृत्तमनार्यं वा मृषावादिनमेव च ॥

धिक् त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता।
विवशं शोकसंतप्तं दीनं भग्नमनोरथम् ॥
मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्तिर्नरमिवानृजुम्।
क्व गच्छसि वरारोहे मा मोत्सृज सुमध्यमे ॥
त्वया विरहितश्चाहं त्यक्ष्ये जीवितमात्मनः।
इतीव विलपन् रामः सीतादर्शनलालसः ॥
न ददर्श सुदुःखार्तो राघवो जनकात्मजाम्।
(वा० रा०, अरण्य० ६१। ३—११½)

"भैया लक्ष्मण ! विदेहराजकुमारी कहाँ है ? यहाँसे किस देशमें चली गयी ? सुमित्रानन्दन ! मेरी प्रिया सीताको कौन हर ले गया ? अथवा किस राक्षसने खा डाला ? (फिर वे सीताको सम्बोधित करके बोले—) सीते ! यदि तुम वृक्षोंकी आड़में अपनेको छिपाकर मुझसे हँसी करना चाहती हो तो इस समय यह हँसी ठीक नहीं है। मैं बहुत दुखी हो रहा हूँ, तुम मेरे पास आ जाओ। सौम्य स्वभाववाली सीते ! जिन विश्वस्त मृगछौनोंके साथ तुम खेला करती थी, वे आज तुम्हारे बिना दुखी हो आँखोंमें आँसू भरकर चिन्तामग्न हो गये हैं। लक्ष्मण ! सीतासे रहित होकर मैं जीवित नहीं रह सकता। सीताहरणजनित महान् शोकने मुझे चारों ओरसे घेर लिया है। निश्चय ही अब परलोकमें मेरे पिता महाराज दशरथ मुझे देखेंगे। वे मुझे उपालम्भ देते हुए कहेंगे—'मैंने तो तुम्हें वनवासके लिये आज्ञा दी थी और तुमने भी वहाँ रहनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी। फिर उतने समयतक वहाँ रहकर उस प्रतिज्ञाको पूर्ण किये बिना ही तुम यहाँ मेरे पास कैसे चले आये ? तुम-जैसे स्वेच्छाचारी, अनार्य और मिथ्यावादीको धिक्कार है।' यह बात परलोकमें पिताजी मुझसे अवश्य कहेंगे। वरारोहे ! सुमध्यमे ! सीते ! मैं विवश, शोकसंतप्त, दीन, भग्नमनोरथ हो करुणाजनक अवस्थामें पड़ गया हूँ। जैसे कुटिल मनुष्यको कीर्ति त्याग देती है, उसी प्रकार तुम मुझे यहाँ छोड़कर कहाँ चली जा रही हो ? मुझे न छोड़ो, न छोड़ो वियोगमें मैं अपने प्राण त्याग दूँगा।" इस प्रकार दुःखसे आतुर हो विलाप करते हुए रघुवु श्रीराम सीताके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित किंतु वे जनकनन्दिनी उन्हें दिखायी न पड़ीं।

तब लक्ष्मणने कहा—'महामते ! आप ि करें। मेरे साथ जानकीको ढूँढ़नेका प्रयत्न करें जहाँ-जहाँ जानकीके होनेकी सम्भावना हो, उ स्थानोंपर हम दोनों शीघ्र ही उनकी खोजके लि करें। रघुनन्दन ! यदि आपको मेरी यह बात ठ तो आप शोक छोड़ दें।' लक्ष्मणके द्वारा इस प्रकार पूर्वक समझाये जानेपर श्रीरामचन्द्रजी सावधान हो ग उन्होंने सुमित्राकुमारके साथ सीताको खोजना आरम्भ

श्रीरामका विलाप

सीताको न देखकर शोकसे व्याकुलचित्त धर्मात्मा महाबाहु कमलनयन श्रीराम विलाप करने रघुनाथजी सीताके प्रति अधिक प्रेमके कारण वियोगमें कष्ट पा रहे थे। वे उन्हें न देखकर भी हुएके समान ऐसी बात कहने लगे, जो वि आश्रय होनेसे गद्गदकण्ठके कारण कठिनतासे जा रही थी—

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतरा प्रिये
आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी
कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे
अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै
विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते
अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये
आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव
सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृतापि वा
न हि सा विलपन्तं मामुपसम्प्रैति लक्ष्मण
एतानि मृगयूथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण
शंसन्तीव हि मे देवीं भक्षितां रजनीचरैः
हा ममार्ये क्व यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि

अवतारके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थना

[पृष्ठ २८

देवताओंको ब्रह्माजीका आदेश

[पृष्ठ ३०

लंकामें देवताओंद्वारा स्तवन

[पृष्ठ ३४

राज्याभिषेकपर देवताओंद्वारा स्तुति

[पृष्ठ ३७

कल्याण

वनगमनसे पूर्व लक्ष्मणको उपदेश
[पृष्ठ २९४

लक्ष्मणको उपदेश (रामगीता)
[पृष्ठ ३५३

हनुमान्‌को उपदेश (रामगीता)
[पृष्ठ ३६५

मुक्तिकोपनिषद् [पृष्ठ ४०१

हा सकामाद्य कैकेयी देवि मेऽद्य भविष्यति।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः॥
कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तःपुरं मम।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति॥
कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम्॥
कुशलं परिपृच्छन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम्।
विदेहराजो नूनं मां दृष्ट्वा विरहितं तया॥
सुताविनाशसंतप्तो मोहस्य वशमेष्यति।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम्॥
स्वर्गोऽपि हि तया हीनः शून्य एव मतो मम।
तन्मामुत्सृज्य हि वने गच्छायोध्यापुरीं शुभाम्॥
न त्वहं तां विना सीतां जीवेयं हि कथंचन।
गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात् त्वया॥
अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति वसुंधराम्।
अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो॥
कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाज्ञया।
रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तचारिणा॥
सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रसूदन।
विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत्॥

(वा० रा०, अरण्य० ६२। ३, ५—१९)

'प्रिये! तुम्हें फूल अधिक प्रिय हैं, इसलिये खिली हुई अशोककी शाखाओंसे अपने शरीरको छिपाती हो और मेरा शोक बढ़ा रही हो। भद्रे! देवि! तुम हँसती हुई कनेर-पुष्पोंकी वाटिकाका सेवन करती हो। बंद करो इस परिहासको, इससे मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। विशेषतः आश्रमके स्थानमें यह हास-परिहास अच्छा नहीं बताया जाता। प्रिये! मैं जानता हूँ, तुम्हारा स्वभाव परिहासप्रिय है। विशाललोचने! आओ, तुम्हारी यह पर्णशाला सूनी है।' (फिर भ्रम दूर होनेपर वे सुमित्राकुमारसे बोले —) 'लक्ष्मण! अब तो भलीभाँति स्पष्ट हो गया कि राक्षसोंने सीताको खा लिया अथवा हर लिया; क्योंकि मैं विलाप कर रहा हूँ और वह मेरे पास नहीं आ रही है। लक्ष्मण! ये जो मृगसमूह हैं, ये भी अपने नेत्रोंमें आँसू भरकर मानो मुझसे यही कह रहे हैं कि देवी सीताको निशाचर खा गये। हा मेरी आर्ये (आदरणीये)! तुम कहाँ चली गयी? हा साध्वि! हा वरवर्णिनि! तुम कहाँ गयी? हा देवि! आज कैकेयी सफलमनोरथ हो जायगी। सीताके साथ अयोध्यासे निकला था। यदि सीताके बिना ही वहाँ लौटा तो अपने सूने अन्तःपुरमें कैसे प्रवेश करूँगा? सारा संसार मुझे पराक्रमहीन और निर्दय कहेगा। सीताके अपहरणसे मेरी कायरता ही प्रकाशमें आयेगी। जब वनवाससे लौटनेपर मिथिलानरेश जनक मुझसे कुशल पूछने आयेंगे, उस समय मैं कैसे उनकी ओर देख सकूँगा? मुझे सीतासे रहित देख विदेहराज जनक अपनी पुत्रीके विनाशसे संतप्त हो निश्चय ही मूर्च्छित हो जायँगे। अथवा अब मैं भरतद्वारा पालित अयोध्यापुरीमें नहीं जाऊँगा। जानकीके बिना मुझे स्वर्ग भी सूना ही जान पड़ेगा। इसलिये अब तुम मुझे वनमें ही छोड़कर सुन्दर अयोध्यापुरीको लौट जाओ। मैं तो अब सीताके बिना किसी तरह जीवित नहीं रह सकता। भरतका गाढ़ आलिङ्गन करके तुम उनसे मेरा संदेश कह देना—कैकेयीनन्दन! तुम सारी पृथ्वीका पालन करो, इसके लिये रामने तुम्हें आज्ञा दे दी है। विभो! मेरी माता कौसल्या, कैकेयी तथा सुमित्राको प्रतिदिन यथोचित रीतिसे प्रणाम करते हुए उन सबकी रक्षा करना और सदा उनकी आज्ञाके अनुसार चलना। यह तुम्हारे लिये मेरी आज्ञा है। शत्रुसूदन! मेरी माताके समक्ष सीताके विनाशका यह समाचार विस्तारपूर्वक कह सुनाना।'

अपनी प्रिया सीतासे रहित हो प्रेमके मर्मी श्रीराम शोक और मोहसे पीड़ित होने लगे। वे स्वयं तो पीड़ित थे

ही, अपने भाई लक्ष्मणको भी विषादमें डालते हुए पुनः तीव्र शोकमें मग्न हो गये और बोले—

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुंधरायाम् ।
शोकानुशोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन् हृदयं मनश्च ॥
पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥
राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः
पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।
सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेग-
मापूरयन्ति प्रविचिन्तितानि ॥
सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं
शान्तं शरीरे वनमेत्य क्लेशम् ।
सीतावियोगात् पुनरप्युदीर्णं
काष्ठैरिवाग्निः सहसोपदीप्तः ॥
सा नूनमार्या मम राक्षसेन
ह्यभ्याहृता खं समुपेत्य भीरुः ।
अपस्वरं सुस्वरविप्रलापा
भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्ष्णम् ॥
तच्छ्लक्ष्णसुव्यक्तमृदुप्रलापं
तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।
रक्षोवशं नूनमुपागताया
न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥
तां हारपाशस्य सदोचितान्तां
ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
शून्ये हि भित्त्वा रुधिराशनानि ॥
मया विहीना विजने वने सा
रक्षोभिराहृत्य विकृष्यमाणा ।
नूनं विनादं कुररीव दीना
सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥
अस्मिन् मया सार्धमुदारशीला
शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥
गोदावरीयं सरितां वरिष्ठा
प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥
पद्मानना पद्मपलाशनेत्रा
पद्मानि वाऽऽनेतुमभिप्रयाता ।
तदप्ययुक्तं नहि सा कदाचि-
न्मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥
कामं त्विदं पुष्पितवृक्षषण्डं
नानाविधैः पक्षिगणैरुपेतम् ।
वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्त-
मेकाकिनी सातिबिभेति भीरुः ॥
आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क्व गता हृता वा
शंसस्व मे शोकहतस्य सर्वम् ॥
लोकेषु सर्वेषु न नास्ति किंचिद्
यत् ते न नित्यं विदितं भवेत् तत् ।
शंसस्व वायो कुलपालिनीं तां
मृता हृता वा पथि वर्तते वा ॥

(वा० रा०, अरण्य० ६३ । ३–७, ९–१७)

'सुमित्रानन्दन ! जान पड़ता है मेरे-जैसा पाप-कर्म करनेवाला मनुष्य इस पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है; क्योंकि एकके बाद दूसरा शोक मेरे हृदय (प्राण) और मनको विदीर्ण करता हुआ लगातार मुझपर आता जा रहा है । निश्चय ही पूर्वजन्ममें मैंने

अपनी इच्छाके अनुसार बारंबार बहुत-से पापकर्म किये हैं; उन्हींमेंसे कुछ कर्मोंका यह परिणाम आज प्राप्त हुआ है, जिससे मैं एक दुःखसे दूसरे दुःखमें पड़ता जा रहा हूँ। पहले तो मैं राज्यसे वञ्चित हुआ, फिर मेरा स्वजनोंसे वियोग हुआ। तत्पश्चात् पिताजीका परलोकवास हुआ, फिर मातासे भी मुझे बिछुड़ जाना पड़ा। लक्ष्मण! ये सारी बातें जब मुझे याद आती हैं, तब मेरे शोकके वेगको बढ़ा देती हैं। लक्ष्मण! वनमें आकर क्लेशका अनुभव करके भी यह सारा दुःख सीताके समीप रहनेसे मेरे शरीरमें ही शान्त हो गया था, परंतु सीताके वियोगसे वह फिर उद्दीप्त हो उठा है—जैसे सूखे काठका संयोग पाकर आग सहसा प्रज्वलित हो उठती है। हाय! मेरी श्रेष्ठ स्वभाववाली भीरु पत्नीको अवश्य ही राक्षसने आकाशमार्गसे हर लिया। उस समय सुमधुर स्वरमें विलाप करनेवाली सीता भयके मारे बारंबार विकृत स्वरमें क्रन्दन करने लगी होगी। राक्षसके वशमें पड़ी हुई मेरी प्रियाका वह मुख, जो स्निग्ध एवं सुस्पष्ट मधुर वार्तालाप करनेवाला तथा काले-काले घुँघराले केशोंके भारसे सुशोभित था, वैसे ही श्रीहीन हो गया होगा, जैसे राहुके मुखमें पड़ा हुआ चन्द्रमा शोभा नहीं पाता। हाय! उत्तम व्रतका पालन करनेवाली मेरी प्रियतमाका कण्ठ हर समय हारसे सुशोभित होने योग्य था, किंतु रक्तभोजी राक्षसोंने सूने वनमें अवश्य उसे फाड़कर उसका रक्त पिया होगा। मेरे न रहनेके कारण निर्जन वनमें राक्षसोंने उसे ले-लेकर घसीटा होगा और विशाल एवं मनोहर नेत्रोंवाली वह जानकी अत्यन्त दीनभावसे कुररीकी भाँति विलाप करती रही होगी। लक्ष्मण! यह वही शिलातल है, जिसपर उदार स्वभाववाली सीता पहले एक दिन मेरे साथ बैठी थी। उसकी मुसकान कितनी मनोहर थी! उस समय उसने हँस-हँसकर तुमसे भी बहुत-सी बातें कही थीं। सरिताओंमें श्रेष्ठ यह गोदावरी मेरी प्रियतमाको सदा ही प्रिय रही है। सोचता हूँ शायद वह इसीके तटपर गयी हो; किंतु अकेली तो वह कभी वहाँ नहीं जाती थी। उसका मुख और विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलोंके समान सुन्दर हैं। सम्भव है वह कमलपुष्प लानेके लिये ही गोदावरीतट-पर गयी हो। परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि वह मुझे साथ लिये बिना कभी कमलोंके पास नहीं जाती थी। हो सकता है कि वह इन पुष्पित वृक्षसमूहोंसे युक्त और नाना प्रकारके पक्षियोंसे सेवित वनमें भ्रमणके लिये गयी हो। परंतु यह भी ठीक नहीं लगता; क्योंकि वह भीरु तो अकेली वनमें जानेसे बहुत डरती थी। सूर्यदेव! संसारमें किसने क्या किया और क्या नहीं किया—इसे तुम जानते हो; लोगोंके सत्य-असत्य (पुण्य और पाप) कर्मोंके तुम्हीं साक्षी हो। मेरी प्रिया सीता कहाँ गयी अथवा उसे किसने हर लिया, यह सब मुझे बताओ; क्योंकि मैं उसके शोकसे पीड़ित हूँ। वायुदेव! समस्त विश्वमें ऐसी कोई बात नहीं है, जो तुम्हें सदा ज्ञात न रहती हो। मेरी कुलपालिका सीता कहाँ है, यह बता दो। वह मर गयी, हर ली गयी अथवा मार्गमें ही है?'

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी स्वयं ही गोदावरी नदीके तटपर गये।

स तामुपस्थितो रामः क्व सीतेत्येवमब्रवीत् ॥
भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि ।
न तां शशंसू रामाय तथा गोदावरी नदी ॥

(वा० रा०, अरण्य० ६४ । ६-७)

"वहाँ पहुँचकर श्रीरामने पूछा—'सीता कहाँ है?' परंतु वधके योग्य राक्षसराज रावणद्वारा हरी गयी सीताके विषयमें समस्त भूतोंमेंसे किसीने कुछ नहीं कहा। गोदावरी नदीने भी श्रीरामको कोई उत्तर नहीं दिया।"

सीताके दर्शनके विषयमें जब नदीने उन्हें पूर्ण निराश कर दिया, तब सीताको न देखनेसे कष्टमें पड़े हुए श्रीराम सुमित्राकुमारसे इस प्रकार बोले—

...षा गोदावरी सौम्य किंचिन्न प्रतिभाषते ।
...िं नु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥
...तरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।
... मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥
...र्वं व्यपानयच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।
...ातिवर्गविहीनस्य वैदेहीमप्यपश्यतः ॥
...न्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।
...दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्रवणं गिरिम् ॥
...र्ाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि लभ्यते ।
...े महामृगा वीर मामीक्षन्ते पुनः पुनः ॥
...ुकामा इह हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।
...स्तु दृष्ट्वा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥
...सीतेति निरीक्षन् वै बाष्पसंरुद्धया गिरा ।
...मुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहसोत्थिताः ॥
...क्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।
(वा० रा०, अरण्य० ६४ । ११—१७½)

...सौम्य लक्ष्मण ! यह गोदावरी नदी तो मुझे कोई ...ी नहीं देती । अब मैं राजा जनकसे मिलनेपर ...या जवाब दूँगा ? जानकीके विना उसकी मातासे ... भी मैं उनसे यह अप्रिय बात कैसे सुनाऊँगा ? ...न होकर वनमें जंगली फल-मूलोंसे निर्वाह करते ...ो जो मेरे साथ रहकर मेरे सभी दुःखोंको दूर किया ...थी, वह विदेहराजकुमारी कहाँ चली गयी ? बन्धु-...से तो मेरा बिछोह हो ही गया था, अब सीताके ... भी मुझे वञ्चित होना पड़ा; उसकी चिन्तामें ... जागते रहनेके कारण अब मेरी सभी रातें बहुत ... जायँगी । मन्दाकिनी नदी, जनस्थान तथा ... पर्वत—इन सभी स्थानोंपर मैं बारंबार भ्रमण ... । शायद वहाँ सीताका पता चल जाय । वीर लक्ष्मण ! ये विशाल मृग मेरी ओर बारंबार देख रहे हैं, मानो यहाँ ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं । मैं इनकी चेष्टाओंको समझ रहा हूँ ।'

तदनन्तर उन सबकी ओर देखकर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—'बताओ, सीता कहाँ है ?' उन मृगोंकी ओर देखते हुए राजा श्रीरामने जब अश्रुगद्गद वाणीसे इस प्रकार पूछा, तब वे मृग सहसा उठकर खड़े हो गये और ऊपरकी ओर देखकर आकाशमार्गकी ओर लक्ष्य कराते हुए सब-के-सब दक्षिण दिशाकी ओर मुँह किये दौड़े ।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर श्रीमान् रामचन्द्रजी लक्ष्मणको साथ ले पृथ्वीकी ओर ध्यानसे देखते हुए दक्षिण दिशाकी ओर चल दिये । वे दोनों भाई आपसमें इसी प्रकारकी बातें करते हुए ऐसे मार्गपर जा पहुँचे, जहाँ भूमिपर कुछ फूल गिरे दिखायी देते थे । पृथ्वीपर फूलोंकी उस वर्षाको देखकर वीर श्रीरामने दुखी हो लक्ष्मणसे यह दुःखभरा वचन कहा—

अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण ॥
अपिनद्धानि वैदेह्या मया दत्तानि कानने ।
मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी ॥
अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम् ।
एवमुक्त्वा महाबाहुर्लक्ष्मणं पुरुषर्षभम् ॥
उवाच रामो धर्मात्मा गिरिं प्रस्रवणाकुलम् ।
कच्चित् क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥
रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।
क्रुद्धोऽब्रवीद् गिरिं तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥
तां हेमवर्णां हेमाङ्गीं सीतां दर्शय पर्वत ।
यावत् सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥
एवमुक्तस्तु रामेण पर्वतो मैथिलीं प्रति ।
दर्शयन्निव तां सीतां नादर्शयत राघवे ॥
ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्चयम् ।
मम बाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥

असेव्यः सर्वतश्चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।
इमां वा सरितं चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ॥
यदि नाख्याति मे सीतामद्य चन्द्रनिभाननाम् ।
(वा० रा०, अरण्य० ६४ । २६—३४½)

'लक्ष्मण ! मैं इन फूलोंको पहचानता हूँ। ये वे ही फूल यहाँ गिरे हैं, जिन्हें वनमें मैंने विदेहनन्दिनीको दिया था और उन्होंने अपने केशोंमें लगा लिया था। मैं समझता हूँ सूर्य, वायु और यशस्विनी पृथ्वीने मेरा प्रिय करनेके लिये ही इन फूलोंको सुरक्षित रखा है।' पुरुषप्रवर लक्ष्मणसे यों कहकर धर्मात्मा महाबाहु श्रीरामने झरनोंसे भरे हुए प्रस्रवण गिरिसे कहा—'पर्वतराज ! क्या तुमने इस वनके रमणीय प्रदेशमें मुझसे बिछुड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी रमणी सीताको देखा है ?' तदनन्तर जैसे सिंह छोटे मृगको देखकर दहाड़ता है, उसी प्रकार वे कुपित हो वहाँ उस पर्वतसे बोले—'पर्वत ! मैं तुम्हारे सारे शिखरोंका विध्वंस कर डालूँ, इसके पहले ही तुम उस काञ्चनकी-सी कायाकान्तिवाली सीताका मुझे दर्शन करा दो।' श्रीरामके द्वारा मैथिलीके लिये यों कहे जानेपर उस पर्वतने सीताको दिखाता हुआ-सा कुछ चिह्न प्रकट कर दिया। श्रीरघुनाथजीके समीप वह सीताको साक्षात् उपस्थित न कर सका। तब दशरथनन्दन श्रीरामने उस पर्वतसे कहा—'अरे ! तू मेरे बाणोंकी आगसे जलकर भस्मीभूत हो जायगा। किसी भी ओरसे तू सेवनके योग्य नहीं रह जायगा। तेरे तृण, वृक्ष और पल्लव नष्ट हो जायँगे।' (इसके बाद वे सुमित्राकुमारसे बोले—) 'लक्ष्मण ! यदि यह नदी आज मुझे चन्द्रमुखी सीताका पता नहीं बताती तो मैं अब इसे भी सुखा डालूँगा।'

आगे रावणके भयसे संत्रस्त हो जो इधर-उधर भागती फिरी थीं, उन विदेहराजकुमारी सीताके चरणचिह्न भी वहाँ दिखायी दिये। सीता और राक्षसके पैरोंके निशान, टूटे धनुष, तरकस और छिन्न-भिन्न होकर अनेक टुकड़ोंमें बिखरे हुए रथको देखकर श्रीरामचन्द्रजीका हृदय घबरा उठा। वे अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमारसे बोले—

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः कीर्णाः कनकबिन्दवः ।
भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥
तप्तबिन्दुनिकाशैश्च चित्रैः क्षतजबिन्दुभिः ।
आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥
मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामरूपिभिः ।
भित्त्वा भित्त्वा विभक्ता वा भक्षिता वा भविष्यति ॥
तस्या निमित्तं सीताया द्वयोर्विवदमानयोः ।
बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥
मुक्तामणिचितं चेदं रमणीयं विभूषितम् ।
धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद् धनुः ॥
राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवापि वा ।
तरुणादित्यसंकाशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥
विशीर्णं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम् ।
छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥
भग्नदण्डमिदं सौम्य भूमौ कस्य निपातितम् ।
काञ्चनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः ॥
भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहिता रणे ।
दीप्तपावकसंकाशो द्युतिमान् समरध्वजः ॥
अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य सांग्रामिको रथः ।
रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥
कस्येमे निहिता बाणाः प्रकीर्णा घोरदर्शनाः ।
शरावरौ शरैः पूर्णौ विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥
प्रतोदाभीषुहस्तोऽयं कस्य वा सारथिर्हतः ।
पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥
वैरं शतगुणं पश्य मम तैर्जीवितान्तकम् ।
सुघोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥
हृता मृता वा वैदेही भक्षिता वा तपस्विनी ।
न धर्मस्त्रायते सीतां ह्रियमाणां महावने ॥
भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण ।
के हि लोके प्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं करुणवेदिनम् ।
अज्ञानादवमन्येरन् सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥
(वा० रा०, अरण्य० ६४ । ३९—५४)

'लक्ष्मण ! देखो, ये सीताके आभूषणोंमें लगे हुए सोनेके घुँघुरू बिखरे पड़े हैं। सुमित्रानन्दन ! उसके नाना प्रकारके हार भी टूटे पड़े हैं। सुमित्रा-कुमार ! देखो, यहाँकी भूमि सब ओरसे सुवर्णकी बूँदोंके समान ही विचित्र रक्तबिन्दुओंसे रँगी दिखायी देती है। लक्ष्मण ! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले राक्षसोंने यहाँ ... के टुकड़े-टुकड़े करके उसे आपसमें बाँटा और ... होगा। सुमित्रानन्दन ! सीताके लिये परस्पर ... करनेवाले दो राक्षसोंमें यहाँ घोर युद्ध भी हुआ ... सौम्य ! तभी तो यहाँ यह मोती और मणियोंसे ... एवं विभूषित किसीका अत्यन्त सुन्दर और विशाल ... खण्डित होकर पृथ्वीपर पड़ा है। यह किसका ... हो सकता है ? वत्स ! पता नहीं, यह राक्षसोंका ... या देवताओंका; यह प्रातःकालके सूर्यकी भाँति ... शित हो रहा है तथा इसमें वैदूर्यमणि (पुखराज) ... टुकड़े जड़े हुए हैं। सौम्य ! उधर पृथ्वीपर टूटा एक सोनेका कवच पड़ा है, न जाने वह किसका ... दिव्य मालाओंसे सुशोभित यह सौ कमानियोंवाला ... किसका है ? इसका डंडा टूट गया है और यह ... पर गिरा दिया गया है। इधर ये पिशाचोंके समान ... वाले भयंकर रूपधारी गधे मरे पड़े हैं। इनका ... बहुत ही विशाल रहा है, इन सबकी छातीमें ... के कवच बँधे हैं। ये युद्धमें मारे गये जान पड़ते ... पता नहीं ये किसके थे। तथा संग्राममें काम ... वाला यह किसका रथ पड़ा है ? इसे किसीने ... गिराकर तोड़ डाला है। समराङ्गणमें स्वामीको ... त करनेवाली ध्वजा भी इसमें लगी थी। यह ... खी रथ प्रज्वलित अग्निके समान दमक रहा है। ये भयंकर बाण, जो यहाँ टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरे पड़े हैं, किसके हैं ? इनकी लंबाई और मोटाई रथके धुरेके समान प्रतीत होती है। इनके फल-भाग टूट गये हैं तथा ये सुवर्णसे विभूषित हैं। लक्ष्मण ! उधर देखो, ये बाणोंसे भरे हुए दो तरकस पड़े हैं, जो नष्ट कर दिये गये हैं। यह किसका सारथि मरा पड़ा है, जिसके हाथमें चाबुक और लगाम अभीतक मौजूद हैं ? सौम्य ! यह अवश्य ही किसी राक्षसका पदचिह्न दिखायी देता है। इन अत्यन्त क्रूर हृदयवाले कामरूपी राक्षसोंके साथ मेरा वैर सौगुना बढ़ गया है। देखो, यह वैर उनके प्राण लेकर ही शान्त होगा। अवश्य ही तपस्विनी विदेहराजकुमारी हर ली गयी, मृत्युको प्राप्त हो गयी अथवा राक्षसोंने उसे खा लिया। इस विशाल वनमें हरी जाती हुई सीताकी रक्षा धर्म भी नहीं कर रहा है। सौम्य लक्ष्मण ! जब विदेहनन्दिनी राक्षसोंका ग्रास बन गयी अथवा उनके द्वारा हर ली गयी और कोई सहायक नहीं हुआ, तब इस जगत्‌में कौन ऐसे पुरुष हैं, जो मेरा प्रिय करनेमें समर्थ हों ? लक्ष्मण ! जो समस्त लोकोंकी सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले, 'त्रिपुर-विजय' आदि शौर्यसे सम्पन्न महेश्वर हैं, वे भी जब अपने करुणामय स्वभावके कारण चुप बैठे रहते हैं, तब सारे प्राणी उनके ऐश्वर्यको न जाननेसे उनका तिरस्कार करने लग जाते हैं।'

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं करुणवेदिनम् ।
निर्वीर्य इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥
मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।
अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥
संहृत्यैव शशिज्योत्स्नां महान् सूर्य इवोदितः ।
संहृत्यैव गुणान् सर्वान् मम तेजः प्रकाशते ॥
नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।
किंनरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥

समाक्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।
असम्पातं करिष्यामि ह्यद्य त्रैलोक्यचारिणाम् ॥
संनिरुद्धग्रहगणमावारितनिशाकरम् ।
विप्रणष्टानलमरुद्भास्करद्युतिसंवृतम् ॥
विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।
ध्वस्तद्रुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥
त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालकर्मणा ।
न ते कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति ममेश्वराः ॥
अस्मिन् मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।
नाकाशमुत्पतिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥
मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम् ।
मर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥
समाकुलममर्यादं जगत् पश्याद्य लक्ष्मण ।
आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीवलोकदुरावरैः ॥
करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।
मम रोषप्रयुक्तानां विशिखानां बलं सुराः ॥
द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानाममर्षाद् दूरगामिनाम् ।
नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥
भविष्यन्ति मम क्रोधात् त्रैलोक्ये विप्रणाशिते ।
देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥
बहुधा निपतिष्यन्ति बाणौघैः शकलीकृताः ।
निर्मर्यादानिमाँल्लोकान् करिष्याम्यद्य सायकैः ॥
हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः ।
तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥
नाशयामि जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।
यावद् दर्शनमस्या वै तापयामि च सायकैः ॥

(वा० रा०, अरण्य० ६४ । ५५–७१)

'मैं लोकहितमें तत्पर, युक्तचित्त, जितेन्द्रिय तथा जीवोंपर करुणा करनेवाला हूँ; इसीलिये ये इन्द्र आदि देवेश्वर निश्चय ही मुझे निर्बल मान रहे हैं (तभी तो इन्होंने सीताकी रक्षा नहीं की)। लक्ष्मण ! देखो तो सही, ये दयालुता आदि गुण मेरे पास आकर दोष बन गये (तभी तो मुझे निर्बल मानकर मेरी सीताका अपहरण किया गया है । अतः अब मुझे पुरुषार्थ ही प्रकट करना होगा)। जैसे प्रलयकालमें उदित हुआ महान् सूर्य चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना (चाँदनी) का संहार करके प्रचण्ड तेजसे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार अब मेरा तेज आज ही समस्त प्राणियों तथा राक्षसोंका अन्त करनेके लिये मेरे उन कोमल स्वभाव आदि गुणोंको समेटकर प्रचण्डरूपमें प्रकाशित होगा, यह भी तुम देखो । लक्ष्मण ! अब न तो यक्ष न गन्धर्व, न पिशाच न राक्षस, न किंनर और न मनुष्य ही चैनसे रहने पायेंगे । सुमित्रानन्दन ! देखना, थोड़ी ही देरमें आकाशको मैं अपने चलाये हुए बाणोंसे भर दूँगा और तीनों लोकोंमें विचरनेवाले प्राणियोंको हिलने-डुलने भी न दूँगा । ग्रहोंकी गति रुक जायगी, चन्द्रमा छिप जायगा, अग्नि, मरुद्गण तथा सूर्यका तेज नष्ट हो जायगा, सब कुछ अन्धकारसे आच्छन्न हो जायगा, पर्वतोंके शिखर मथ डाले जायँगे, सारे जलाशय (नदी-सरोवर आदि) सूख जायँगे, वृक्ष, लता और गुल्म नष्ट हो जायँगे और समुद्रोंका भी नाश कर दिया जायगा । इस तरह मैं सारी त्रिलोकीमें ही कालकी विनाशलीला आरम्भ कर दूँगा । सुमित्रानन्दन ! यदि देवेश्वरगण इसी मुहूर्तमें मुझे सीता देवीको सकुशल नहीं लौटा देंगे तो वे मेरा पराक्रम देखेंगे । लक्ष्मण ! मेरे धनुषकी प्रत्यञ्चासे छूटे हुए बाणसमूहोंद्वारा आकाशके ठसाठस भर जानेके कारण उसमें कोई प्राणी उड़ नहीं सकेंगे । सुमित्रानन्दन ! देखो, आज मेरे नाराचोंसे रौंदा जाकर यह सारा जगत् व्याकुल और मर्यादारहित हो जायगा । यहाँके मृग और पक्षी आदि प्राणी नष्ट एवं उद्भ्रान्त हो जायँगे । धनुषको कानतक खींचकर छोड़े गये मेरे बाणोंको रोकना जीव-जगत्के लिये बहुत कठिन होगा । मैं सीताके लिये उन बाणोंद्वारा इस जगत्के समस्त पिशाचों और राक्षसोंका संहार कर

डालूँगा। रोष और अमर्षपूर्वक छोड़े गये मेरे फलरहित दूरगामी बाणोंका बल आज देवतालोग देखेंगे। मेरे क्रोधसे त्रिलोकीका विनाश हो जानेपर न देवता रह जायँगे न दैत्य, न पिशाच रहने पायँगे न राक्षस। देवताओं, दानवों, यक्षों और राक्षसोंके जो लोक हैं, मेरे बाणसमूहोंसे टुकड़े-टुकड़े होकर बारंबार नीचे गिरेंगे। सुमित्रानन्दन! यदि देवेश्वरगण मेरी हरी या मरी हुई सीताको लाकर मुझे नहीं देंगे तो आज मैं अपने सायकोंकी मारसे इन तीनों लोकोंको मर्यादासे भ्रष्ट कर दूँगा। यदि वे मेरी प्रिया विदेहराजकुमारीको मुझे उसी रूपमें वापस नहीं लौटायेंगे तो मैं चराचर प्राणियोंसहित समस्त त्रिलोकीका नाश कर डालूँगा। जबतक सीताका दर्शन न होगा, तबतक मैं अपने सायकोंसे समस्त संसारको संतप्त करता रहूँगा।'

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः।
नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्ष्मण।
तथाहं क्रोधसंयुक्तो न निवार्योऽस्म्यसंशयम्॥
पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां
दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम्।
सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं
जगत् सशैलं परिवर्तयाम्यहम्॥
(वा० रा०, अरण्य० ६४। ७६–७७)

'लक्ष्मण! जैसे बुढ़ापा, जैसे मृत्यु, जैसे काल और जैसे विधाता सदा समस्त प्राणियोंपर प्रहार करते हैं, किंतु उन्हें कोई रोक नहीं पाता, उसी प्रकार निस्संदेह क्रोधमें भर जानेपर मेरा भी कोई निवारण नहीं कर सकता। यदि देवता आदि आज पहलेकी ही भाँति मनोहर दाँतोंवाली अनिन्द्यसुन्दरी मिथिलेश-कुमारी सीताको मुझे लौटा नहीं देंगे तो मैं देवता, गन्धर्व, मनुष्य, नाग और पर्वतोंसहित सारे संसारको उलट दूँगा।'

श्रीरामचरितमानसमें यह प्रसङ्ग संक्षिप्त किंतु बहुत मार्मिक है। श्रीरघुनाथको राक्षस मारीच कपटसे स्वर्णमृग बनकर दूर ले गया। मरते समय भी उसने छल किया। श्रीरामके स्वरमें आर्तकण्ठसे 'हा लक्ष्मण!' पुकारकर मरा। उस आर्त-स्वर-श्रवणसे व्याकुल वैदेहीके आग्रहसे लक्ष्मणजीको अपने अग्रजके समीप जाना पड़ा। इस अवसरका लाभ रावणने उठाया। उसने एकाकिनी सीताका हरण कर लिया।

श्रीराम मारीचको मारकर लौटे तो कुटिया सूनी मिली। श्रीजानकीके वियोगमें सुध-बुध भूलकर श्रीराम प्रलाप करते वनमें भटकने लगे—

हा गुन खानि जानकी सीता।
रूप सील ब्रत नेम पुनीता॥
× × ×
हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥
खंजन सुक कपोत मृग मीना।
मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥
कुंद कली दाड़िम दामिनी।
कमल सरद ससि अहिभामिनी॥
बरुन पास मनोज धनु हंसा।
गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं।
नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू।
हरषे सकल पाइ जनु राजू॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० २९। ४–७)

[जगज्जननी जानकीजीके वियोगमें विकल होकर श्रीरामचन्द्रजी विलाप करने लगे—] 'हा गुणोंकी खान जानकी! हा रूप, शील, व्रत और नियमोंमें पवित्र सीते! हे पक्षियो! हे पशुओ! हे भौंरोंकी पंक्तियो! तुमने कहीं मृगनयनी सीताको देखा है? खंजन, तोता, कबूतर, हिरन, मछली, भौंरोंका समूह, प्रवीण कोयल, कुन्दकली, अनार, बिजली, कमल, शरद्‌का चन्द्रमा और नागिनी, वरुणका पाश, कामदेवका धनुष, हंस, गज और सिंह—ये सब आज अपनी प्रशंसा सुन रहे हैं। बेल, सुवर्ण और केला हर्षित हो रहे हैं। इनके मनमें जरा भी शङ्का और संकोच नहीं है। हे जानकी! सुनो, तुम्हारे बिना ये सब आज

ऐसे हर्षित हैं मानो राज पा गये हों । (अर्थात् तुम्हारे अङ्गोंके सामने ये सब तुच्छ, अपमानित और लज्जित थे । आज तुम्हें न देखकर ये अपनी शोभाके अभिमानमें फूल रहे हैं ।')

पम्पासरोवरका नैसर्गिक सौन्दर्य श्रीरामकी वियोग-वह्निको अधिक उद्दीप्त करनेवाला बन गया । वे अत्यन्त व्याकुल होकर लक्ष्मणसे बोले—

श्यामा पद्मपलाशाक्षी प्रिया विरहिता मया ।
कथं धारयति प्राणान् विवशा जनकात्मजा ॥
किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनम् ।
जनकं पृष्टसीतं तं कुशलं जनसंसदि ॥
या मामनुगता मन्दं पित्रा प्रस्थापितं वनम् ।
सीता धर्मं समास्थाय क्व नु सा वर्तते प्रिया ॥
तया विहीनः कृपणः कथं लक्ष्मण धारये ।
या मामनुगता राज्याद् भ्रष्टं विहतचेतसम् ॥
तच्चार्वञ्चितपद्माक्षं सुगन्धि शुभमव्रणम् ।
अपश्यतो मुखं तस्याः सीदतीव मतिर्मम ॥
स्मितहास्यान्तरयुतं गुणवन्मधुरं हितम् ।
वैदेह्या वाक्यमतुलं कदा श्रोष्यामि लक्ष्मण ॥
प्राप्य दुःखं वने श्यामा मां मन्मथविकर्शितम् ।
नष्टदुःखेव हृष्टेव साध्वी साध्वभ्यभाषत ॥
किं नु वक्ष्याम्ययोध्यायां कौसल्यां हि नृपात्मज ।
क्व सा स्नुषेति पृच्छन्तीं कथं चापि मनस्विनीम् ॥
गच्छ लक्ष्मण पश्य त्वं भरतं भ्रातृवत्सलम् ।
नह्यहं जीवितुं शक्तस्तामृते जनकात्मजाम् ॥
(वा० रा०, कि० १ । १०५–११३)

'हाय ! वह नयी अवस्थावाली कमललोचना जनकनन्दिनी प्रिया सीता मुझसे बिछुड़कर बेबसीकी दशामें अपने प्राणोंको कैसे धारण करती होगी ? लक्ष्मण ! धर्मके जाननेवाले सत्यवादी राजा जनक जब जन-समुदायमें बैठकर मुझसे सीताका कुशल-समाचार पूछेंगे, तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? हाय ! पिताके द्वारा वनमें भेजे जानेपर जो धर्मका आश्रय ले मेरे पीछे-पीछे यहाँ चली आयी, वह मेरी प्रिया इस समय कहाँ है ? लक्ष्मण ! जिसने राज्यसे वञ्चित और हताश हो जानेपर भी मेरा साथ नहीं छोड़ा— मेरा ही अनुसरण किया, उसके बिना अत्यन्त दीन होकर मैं कैसे जीवन धारण करूँगा ? जो कमलदलके समान सुन्दर, मनोहर एवं प्रशंसनीय नेत्रोंसे सुशोभित है, जिससे मीठी-मीठी सुगन्ध निकलती रहती है, जो निर्मल तथा चेचक आदिके चिह्नसे रहित है, जनककिशोरीके उस दर्शनीय मुखको देखे बिना मेरी सुध-बुध खोयी जा रही है । लक्ष्मण ! वैदेहीके द्वारा कभी हँसकर और कभी मुस्कराकर कही हुई वे मधुर, हितकर एवं लाभदायक बातें, जिनकी कहीं तुलना नहीं है, मुझे अब कब सुननेको मिलेंगी ? सोलह वर्षकी-सी अवस्थावाली साध्वी सीता यद्यपि वनमें आकर कष्ट उठा रही थी, तथापि जब मुझे मानसिक कष्टसे पीड़ित देखती, तब मानो उसका अपना सारा दुःख नष्ट हो गया हो, इस प्रकार प्रसन्न-सी होकर मेरी पीड़ा दूर करनेके लिये अच्छी-अच्छी बातें करने लगती थी । राजकुमार ! अयोध्यामें चलनेपर जब मनस्विनी माता कौसल्या पूछेंगी कि 'मेरी बहूरानी कहाँ है ?' तब मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? लक्ष्मण ! तुम जाओ, भ्रातृवत्सल भरतसे मिलो । मैं तो जनकनन्दिनी सीताके बिना जीवित नहीं रह सकता ।'

सुग्रीवने श्रीरामको बतलाया—'एक दिन मैंने देखा भयंकर कर्म करनेवाला कोई राक्षस किसी स्त्रीको लि[illegible] जा रहा है । मैं अनुमानसे समझता हूँ, वे मिथिलेशकुमा[illegible] सीता ही रही होंगी; इसमें संशय नहीं है; क्योंकि वे टूटे हु[illegible] स्वरमें 'हा राम ! हा राम ! हा लक्ष्मण !' पुकारती [illegible] रो रही थीं तथा रावणकी गोदमें नागराजकी [illegible] (नागिन) की भाँति छटपटाती हुई प्रकाशित हो [illegible] थीं । चार मन्त्रियोंसहित पाँचवाँ मैं इस शैल-शिख[illegible] बैठा हुआ था । मुझे देखकर देवी सीताने अपनी चा[illegible]

और कई सुन्दर आभूषण ऊपरसे गिराये। रघुनन्दन! वे सब वस्तुएँ हमलोगोंने लेकर रख ली हैं। मैं अभी उन्हें लाता हूँ, आप उन्हें पहचान सकते हैं।' तब श्रीरामने यह प्रिय संवाद सुनानेवाले सुग्रीवसे कहा—'सखे! शीघ्र ले आओ; क्यों विलम्ब करते हो?' उनके यों कहनेपर सुग्रीव शीघ्र ही श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेकी इच्छासे पर्वतकी एक गहन गुफामें गये और चादर तथा वे आभूषण लेकर निकल आये। बाहर आकर वानरराजने 'लीजिये, यह देखिये' यों कहकर श्रीरामको वे सारे आभूषण दिखाये। उन वस्त्र और सुन्दर आभूषणोंको लेकर श्रीरामचन्द्रजी कुहासेसे ढके हुए चन्द्रमाकी भाँति आँसुओंसे अवरुद्ध हो गये। सीताके स्नेहवश बहते हुए आँसुओंसे उनका मुख और वक्षःस्थल भीगने लगे। वे 'हा प्रिये!' यों कहकर रोने लगे और धैर्य छोड़कर पृथ्वीपर गिर पड़े। उनके आँसुओंका वेग रुकता ही नहीं था। अपने पास खड़े हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणकी ओर देखकर श्रीराम दीनभावसे विलाप करते हुए बोले—

पश्य लक्ष्मण वैदेह्या संत्यक्तं ह्रियमाणया।
उत्तरीयमिदं भूमौ शरीराद् भूषणानि च॥
शाद्वलिन्यां ध्रुवं भूम्यां सीतया ह्रियमाणया।
उत्सृष्टं भूषणमिदं तथा रूपं हि दृश्यते॥
(वा० रा०, कि० ६। २०-२१)

'लक्ष्मण! देखो, राक्षसके द्वारा हरी जाती हुई विदेहनन्दिनी सीताने यह चादर और ये गहने अपने शरीरसे उतारकर पृथ्वीपर डाल दिये थे। निशाचरके द्वारा अपहृत होती हुई सीताके द्वारा त्यागे गये ये आभूषण निश्चय ही घासवाली भूमिपर गिरे होंगे; क्योंकि इनका रूप ज्यों-का-त्यों दिखायी देता है—ये टूटे-फूटे नहीं हैं।'

श्रीरामके यों कहनेपर लक्ष्मण बोले—'भैया! मैं इन बाजूबंदोंको तो नहीं जानता और न इन कुण्डलोंको ही समझ पाता हूँ कि किसके हैं; परंतु प्रतिदिन भाभीके चरणोंमें प्रणाम करनेके कारण मैं इन दोनों नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ।'

ततस्तु राघवो वाक्यं सुग्रीवमिदमब्रवीत्॥
ब्रूहि सुग्रीव कं देशं ह्रियन्ती लक्षिता त्वया।
रक्षसा रौद्ररूपेण मम प्राणप्रिया हृता॥
क्व वा वसति तद् रक्षो महद्व्यसनदं मम।
यन्निमित्तमहं सर्वान् नाशयिष्यामि राक्षसान्॥
हरता मैथिलीं येन मां च रोषयता ध्रुवम्।
आत्मनो जीवितान्ताय मृत्युद्वारमपावृतम्॥
मम दयिततमा हृता वनाद्
रजनिचरेण विमथ्य येन सा।
कथय मम रिपुं तमद्य वै
प्लवगपते यमसंनिधिं नयामि॥
(वा० रा०, कि० ६। २३-२७)

तब श्रीरघुनाथजी सुग्रीवसे इस प्रकार बोले—'सुग्रीव! तुमने तो देखा है; वह भयंकर रूपधारी राक्षस मेरी प्राणप्यारी सीताको किस दिशाकी ओर ले गया है, यह बताओ। मुझे महान् संकट देनेवाला वह राक्षस कहाँ रहता है? मैं केवल उसीके अपराधके कारण समस्त राक्षसोंका विनाश कर डालूँगा। उस राक्षसने मैथिलीका अपहरण करके मेरा रोष बढ़ाकर निश्चय ही अपने जीवनका अन्त करनेके लिये मौतका दरवाजा खोल दिया है। वानरराज! जिस निशाचरने मुझे धोखेमें डालकर मेरा अपमान करके मेरी प्रियतमाका वनसे अपहरण किया है, वह मेरा घोर शत्रु है। तुम उसका पता बताओ। मैं अभी उसे यमराजके पास पहुँचाता हूँ।'

तब सुग्रीवने श्रीरामको अनेक प्रकारसे समझाया सुग्रीवके वचनसे शोकका परित्याग करके स्वस्थचित्त हो ककुत्स्थकुलभूषण भगवान् श्रीरामने मित्रवर सुग्रीवको हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—

कर्तव्यं यद् वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च।
अनुरूपं च युक्तं च कृतं सुग्रीव तत् त्वया॥

एष च प्रकृतिस्थोऽहमनुनीतस्त्वया सखे ।
दुर्लभो हीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः ॥
किं तु यत्नस्त्वया कार्यो मैथिल्याः परिमार्गणे ।
राक्षसस्य च रौद्रस्य रावणस्य दुरात्मनः ॥
मया च यदनुष्ठेयं विस्रब्धेन तदुच्यताम् ।
वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं सम्पद्यते तव ॥
मया च यदिदं वाक्यमभिमानात् समीरितम् ।
तत्त्वया हरिशार्दूल तत्त्वमित्युपधार्यताम् ॥
अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन ।
एतत्ते प्रतिजानामि सत्येनैव शपाम्यहम् ॥
(वा० रा०, कि० ७ । १७—२२)

'सुग्रीव ! एक स्नेही और हितैषी मित्रको जो कुछ करना चाहिये, वही तुमने किया है। तुम्हारा कार्य सर्वथा उचित और तुम्हारे योग्य है। सखे ! तुम्हारे आश्वासनसे मेरी सारी चिन्ता जाती रही। अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। तुम्हारे-जैसे बन्धुका विशेषतः ऐसे संकटके समय मिलना कठिन होता है। परंतु तुम्हें मिथिलेशकुमारी सीता तथा रौद्ररूपधारी दुरात्मा राक्षस रावणका पता लगानेके लिये प्रयत्न करना चाहिये। साथ ही मुझे भी इस समय तुम्हारे लिये जो कुछ करना आवश्यक हो, उसे बिना किसी संकोचके बताओ। जैसे वर्षाकालमें अच्छे खेतमें बोया हुआ बीज अवश्य फल देता है, उसी प्रकार तुम्हारा सारा मनोरथ सफल होगा। वानरश्रेष्ठ ! मैंने जो अभिमानपूर्वक यह वालीके वध आदि करनेकी बात कही है, इसे तुम ठीक ही समझो। मैंने पहले भी कभी झूठी बात नहीं कही है और भविष्यमें भी कभी असत्य नहीं बोलूँगा। इस समय जो कुछ कहा है, उसे पूर्ण करनेके लिये प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हें विश्वास दिलानेके लिये सत्यकी ही शपथ खाता हूँ।'

सुनहरे रंगकी धातुओंसे चित्रित [illegible] शिखरपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी [illegible] आकाशकी ओर दृष्टिपात करके मन-ही-मन [illegible] पत्नी सीताका ध्यान करने लगे।

सारसारावसंनादैः सारसारावनादिनी ।
याऽऽश्रमे रमते बाला साद्य मे रमते कथम् ॥
पुष्पितांश्चासनान् दृष्ट्वा काञ्चनानिव निर्मलान् ।
कथं सा रमते बाला पश्यन्ती मामपश्यती ॥
या पुरा कलहंसानां कलेन कलभाषिणी ।
बुध्यते चारुसर्वाङ्गी साद्य मे रमते कथम् ॥
निःस्वनं चक्रवाकानां निशम्य सहचारिणाम् ।
पुण्डरीकविशालाक्षी कथमेषा भविष्यति ॥
सरांसि सरितो वापीः काननानि वनानि च ।
तां विना मृगशावाक्षीं चरन्नाद्य सुखं लभे ॥
अपि तां मद्वियोगाच्च सौकुमार्याच्च भामिनीम् ।
सुदूरं पीडयेत् कामः शरद्गुणनिरन्तरः ॥
(वा० रा०, कि० ३० । ७–१२)

वे बोले—'जिसकी बोली सारसोंकी आवाजके समान मीठी थी तथा जो मेरे आश्रमपर सारसोंद्वारा परस्पर एक दूसरेको बुलानेके लिये किये गये मधुर शब्दोंसे मन बहलाती थी, वह मेरी भोली-भाली स्त्री सीता आज किस तरह मनोरञ्जन करती होगी ? सुवर्णमय वृक्षोंके समान निर्मल और खिले हुए असन नामक वृक्षोंको देखकर बार-बार उन्हें निहारती हुई भोली-भाली सीता जब मुझे अपने पास नहीं देखती होगी, तब कैसे उसका मन लगता होगा ? जिसके सभी अङ्ग मनोहर हैं तथा जो स्वभावसे ही मधुर भाषण करनेवाली है, वह सीता पहले कलहंसोंके मधुर शब्दसे जागा करती थी; किंतु आज वह मेरी प्रिया वहाँ कैसे प्रसन्न रहती होगी ? जिसके विशाल नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पाते हैं, वह मेरी प्रिया जब साथ विचरनेवाले चकवोंकी बोली

सुनती होगी, तब उसकी कैसी दशा हो जाती होगी ? हाय ! मैं नदी, तालाब, बावली, कानन और वन—सब जगह घूमता हूँ; परंतु कहीं भी उस मृगशावकनयनी सीताके बिना अब मुझे सुख नहीं मिलता । कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि शरद्-ऋतुके गुणोंसे निरन्तर वृद्धिको प्राप्त होनेवाला काम भामिनी सीताको अत्यन्त पीड़ित कर दे; क्योंकि ऐसी सम्भावनाके दो कारण हैं—एक तो उसे मेरे वियोगका कष्ट है, दूसरे वह अत्यन्त सुकुमारी होनेके कारण इस कष्टको सहन नहीं कर पाती होगी ।'

इन्द्रसे पानीकी याचना करनेवाले प्यासे पपीहेकी भाँति नरश्रेष्ठ नरेन्द्रकुमार श्रीरामने इस तरहकी बहुत-सी बातें कहकर विलाप किया, तब लक्ष्मणने आश्वासन देने योग्य बातें कहीं ।

सलक्षणं लक्ष्मणमप्रधृष्यं
स्वभावजं वाक्यमुवाच रामः ।
हितं च पथ्यं च नयप्रसक्तं
ससामधर्मार्थसमाहितं च ॥
निस्संशयं कार्यमवेक्षितव्यं
क्रियाविशेषोऽप्यनुवर्तितव्यः ।
न तु प्रवृद्धस्य दुरासदस्य
कुमार वीर्यस्य फलं च चिन्त्यम् ॥
(वा० रा०, कि० ३० । १९-२०)

लक्ष्मण उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न थे । उन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता था । भगवान् श्रीरामने उनसे यह स्वाभाविक बात कही—'कुमार ! तुमने जो बात कही है, वह वर्तमान समयमें हितकर, भविष्यमें भी सुख पहुँचानेवाली, राजनीतिके सर्वथा अनुकूल तथा सामके साथ-साथ धर्म और अर्थसे भी संयुक्त है । निश्चय ही सीताके अनुसंधानकार्यपर ध्यान देना चाहिये तथा उसके लिये विशेष कार्य या उपायका भी अनुसरण करना चाहिये; प्रयत्न छोड़कर पूर्णरूपसे बढ़े हुए दुर्लभ एवं बलवान् कर्मके फलपर ही दृष्टि रखना उचित नहीं है ।'

ऋष्यमूकपर श्रीजानकीका स्मरण आता है । समस्त प्रकृति जैसे श्रीरामको उन विदेह-नन्दिनीका ही स्मरण कराती है । वे भाईसे कहते हैं—

लछिमन देखु बिपिन कइ सोभा ।
देखत केहि कर मन नहिं छोभा ॥
नारि सहित सब खग मृग बृंदा ।
मानहुँ मोरि करत हहिं निंदा ॥
हमहि देखि मृग निकर पराहीं ।
मृगीं कहहिं तुम्ह कहँ भय नाहीं ॥
तुम्ह आनंद करहु मृग जाए ।
कंचन मृग खोजन ए आए ॥
संग लाइ करिनीं करि लेहीं ।
मानहुँ मोहि सिखावनु देहीं ॥
सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ ।
भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ ॥
राखिअ नारि जदपि उर माहीं ।
जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं ॥
देखहु तात बसंत सुहावा ।
प्रिया हीन मोहि भय उपजावा ॥

बिरह बिकल बलहीन मोहि जानेसि निपट अकेल ।
सहित बिपिन मधुकर खग मदन कीन्ह बगमेल ॥
देखि गयउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात ।
डेरा कीन्हेउ मनहुँ तब कटकु हटकि मनजात ॥

बिटप बिसाल लता अरुझानी ।
बिबिध बितान दिए जनु तानी ॥
कदलि ताल बर धुजा पताका ।
देखि न मोह धीर मन जाका ॥
बिबिध भाँति फूले तरु नाना ।
जनु बानैत बने बहु बाना ॥
कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए ।
जनु भट बिलग बिलग होइ छाए ॥
कूजत पिक मानहुँ गज माते ।
ढेक महोख ऊँट बिसराते ॥

मोर चकोर कीर बर बाजी।
पारावत मराल सब ताजी॥
तीतिर लावक पदचर जूथा।
बरनि न जाइ मनोज बरूथा॥
रथ गिरि सिला दुंदुभीं झरना।
चातक बंदी गुन गन बरना॥
मधुकर मुखर भेरि सहनाई।
त्रिबिध बयारि बसीठीं आई॥
चतुरंगिनी सेन सँग लीन्हें।
बिचरत सबहि चुनौती दीन्हें॥
लछिमन देखत काम अनीका।
रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका॥
एहि कें एक परम बल नारी।
तेहि तें उबर सुभट सोइ भारी॥

तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥
लोभ कें इच्छा दंभ बल काम कें केवल नारि।
क्रोध कें परुष बचन बल मुनिबर कहहिं बिचारि॥
(रामचरित०, अरण्य० ३६।२—५; ३७-३८ (ख))

'हे लक्ष्मण! जरा वनकी शोभा तो देखो, इसे देखकर किसका मन क्षुब्ध नहीं होगा? पक्षी और पशुओंके समूह सभी स्त्रीसहित हैं, मानो वे मेरी निन्दा कर रहे हैं। हमें देखकर (जब डरके मारे) हिरनोंके झुंड भागने लगते हैं, तब हिरनियाँ उनसे कहती हैं—तुमको भय नहीं है। तुम तो साधारण हिरनोंसे पैदा हुए हो, अतः तुम आनन्द करो। ये तो सोनेका हिरन खोजने आये हैं। हाथी हथिनियोंको साथ लगा लेते हैं। वे मानो मुझे शिक्षा देते हैं [कि स्त्रीको कभी अकेली नहीं छोड़ना चाहिये]। भलीभाँति चिन्तन किये हुए शास्त्रको भी बार-बार देखते रहना चाहिये। अच्छी तरह सेवा किये हुए भी राजाको वशमें नहीं समझना चाहिये और स्त्रीको चाहे हृदयमें ही क्यों न रक्खा जाय, युवती स्त्री, शास्त्र और राजा किसीके वशमें नहीं रहते। हे तात! इस सुन्दर वसन्तको तो देखो! प्रियाके बिना मेरे मनमें यह भय उत्पन्न कर रहा है।

'मुझे विरहसे व्याकुल, बलहीन और बिल्कुल अकेला जानकर कामदेवने वन, भौंरों और पक्षियोंको साथ लेकर मुझपर धावा बोल दिया। परंतु जब उसका दूत यह देख गया कि मैं भाईके साथ हूँ (अकेला नहीं हूँ), तब उसकी बात सुनकर कामदेवने मानो सेनाको रोककर डेरा डाल दिया है।

'विशाल वृक्षोंमें लताएँ उलझी हुई ऐसी मालूम देती हैं मानो नाना प्रकारके तंबू तान दिये गये हैं। केला और ताड़ सुन्दर ध्वजा-पताकाके समान हैं। इन्हें देखकर वही नहीं मोहित होता, जिसका मन धीर है। अनेकों वृक्ष नाना प्रकारसे फूले हुए हैं। मानो अलग-अलग बाना (वर्दी) धारण किये हुए बहुत-से तीरंदाज हों। कहीं-कहीं सुन्दर वृक्ष [ऐसी] शोभा दे रहे हैं मानो योद्धालोग अलग-अलग होकर छावनी डाले हों। कोयलें कूज रही हैं, वे ही मानो मतवाले हाथी (चिग्घाड़ रहे) हैं। ढेक और महोख पक्षी मानो ऊँट और खच्चर हैं। मोर, चकोर, तोते, कबूतर और हंस मानो सब सुन्दर ताजी (अरबी) घोड़े हैं। तीतर और बटेर पैदल सिपाहियोंके झुंड हैं। कामदेवकी सेनाका वर्णन नहीं हो सकता। पर्वतोंकी शिलाएँ रथ और जलके झरने नगारे हैं। पपीहे भाट हैं, जो गुणसमूह (बिरदावली) का वर्णन करते हैं। भौंरोंकी गुंजार भेरी और शहनाई है। शीतल, मन्द और सुगन्धित हवा मानो दूतका काम लेकर आयी है। इस प्रकार चतुरङ्गिणी सेना साथ लिये कामदेव मानो सबको चुनौती देता हुआ विचर रहा है। हे लक्ष्मण! कामदेवकी इस सेनाको देखकर जो धीर बने रहते हैं, जगत्‌में उन्हींकी (वीरोंमें) प्रतिष्ठा होती है। इस कामदेवके एक स्त्रीका बड़ा भारी बल है। उससे जो बच जाय, वही श्रेष्ठ योद्धा है।

'हे तात! काम, क्रोध और लोभ—ये तीन अत्यन्त प्रबल दुष्ट हैं। ये विज्ञानके धाम मुनियोंके भी मनोंको पलभरमें क्षुब्ध कर देते हैं। लोभको इच्छा और दम्भका बल है, कामको केवल स्त्रीका बल है और क्रोधको कठोर वचनोंका बल है—श्रेष्ठ मुनि विचारकर ऐसा कहते हैं।'

हनुमान्‌जी समुद्र लाँघकर लङ्कामें गये। उन्होंने सीताका दर्शन किया। उन्हें मुद्रिका और सान्त्वना दी। अशोकवाटिका उजाड़ बहुत-से राक्षस वीरोंको मार डाला। रावणसे भेंट की, लङ्काको जलाकर भस्म कर डाला और सीताजीसे पहचानके रूपमें चूड़ामणि लेकर वे पुनः समुद्र लाँघ इस पार आये। वहाँ अपने साथियोंसे भेंट की। सबने मिलकर सुग्रीवके

मधुवनमें मधुपान किया औ फिर सब-के-सब सुग्रीव और श्रीरामचन्द्रजीके पास चले आये । हनुमान्‌जीने श्रीरामको अपनी लङ्का-यात्राका सब समाचार सुनाया, सीताकी बातें बतायीं और चूडामणि हाथमें दे दी । श्रीराम उस मणिको छातीसे लगाकर रो पड़े । यही दशा लक्ष्मणकी भी हुई । श्रीरघुनाथजी दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर सुग्रीव आदिसे इस प्रकार बोले—

यथैव धेनुः स्रवति स्नेहाद् वत्सस्य वत्सला ।
तथा ममापि हृदयं मणिश्रेष्ठस्य दर्शनात् ॥
मणिरत्नमिदं दत्तं वैदेह्याः श्वशुरेण मे ।
वधूकाले यथा बद्धमधिकं मूर्ध्नि शोभते ॥
अयं हि जलसम्भूतो मणिः प्रवरपूजितः ।
यज्ञे परमतुष्टेन दत्तः शक्रेण धीमता ॥
इमं दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं तथा तातस्य दर्शनम् ।
अद्यास्म्यवगतः सौम्य वैदेहस्य तथा विभोः ॥
अयं हि शोभते तस्याः प्रियाया मूर्ध्नि मे मणिः ।
अद्यास्य दर्शनेनाहं प्राप्तां तामिव चिन्तये ॥
किमाह सीता वैदेही ब्रूहि सौम्य पुनः पुनः ।
परासुमिव तोयेन सिञ्चन्ती वाक्यवारिणा ॥
इतस्तु किं दुःखतरं यदिमं वारिसम्भवम् ।
मणिं पश्यामि सौमित्रे वैदेहीमागतां विना ॥
चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति ।
क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम् ॥
नय मामपि तं देशं यत्र दृष्टा मम प्रिया ।
न तिष्ठेयं क्षणमपि प्रवृत्तिमुपलभ्य च ॥
कथं सा मम सुश्रोणी भीरुभीरुः सती तदा ।
भयावहानां घोराणां मध्ये तिष्ठति रक्षसाम् ॥
शारदस्तिमिरोन्मुक्तो नूनं चन्द्र इवाम्बुदैः ।
आवृतो वदनं तस्या न विराजति साम्प्रतम् ॥
किमाह सीता हनुमंस्तत्त्वतः कथयस्व मे ।
एतेन खलु जीविष्ये भेषजेनातुरो यथा ॥
मधुरा मधुरालापा किमाह मम भामिनी ।
मद्विहीना वरारोहा हनुमन् कथयस्व मे ।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य कथं जीवति जानकी ॥

(वा० रा०, सु० ६६ । ३-१५)

'मित्र ! जैसे वत्सला धेनु अपने बछड़ेके स्नेहसे थनोंसे दूध बहाने लगती है, उसी प्रकार इस उत्तम मणिको देखकर आज मेरा हृदय भी द्रवीभूत हो रहा है । मेरे श्वशुर राजा जनकने विवाहके समय वैदेहीको यह मणिरत्न दिया था, जो उसके मस्तकपर आवद्ध होकर बड़ी शोभा पाता था । जलसे प्रकट हुई यह मणि श्रेष्ठ देवताओंद्वारा पूजित है । किसी यज्ञमें बहुत संतुष्ट हुए बुद्धिमान् इन्द्रने राजा जनकको यह मणि दी थी । सौम्य ! इस मणिरत्नका दर्शन करके आज मुझे मानो अपने पूज्य पिताका और विदेहराज महाराज जनकका भी दर्शन मिल गया हो, ऐसा अनुभव हो रहा है । यह मणि सदा मेरी प्रिया सीताके सीमन्तपर शोभा पाती थी । आज इसे देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो सीता ही मुझे मिल गयी । सौम्य पवनकुमार ! जैसे बेहोश हुए मनुष्यको होशमें लानेके लिये उसपर जलके छींटे दिये जाते हैं, उसी प्रकार विदेहनन्दिनी सीताने मूर्च्छित हुए-से मुझ रामको अपने वाक्यरूपी शीतल जलसे सींचते हुए क्या-क्या कहा है—यह बारबार बताओ' । (अब वे लक्ष्मणसे बोले—) 'सुमित्रानन्दन ! सीताके यहाँ आये बिना ही जो जलसे उत्पन्न हुई इस मणिको मैं देख रहा हूँ, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है ।' (फिर वे हनुमान्‌जीसे बोले—) 'वीर पवनकुमार ! यदि विदेहनन्दिनी सीता एक मासतक जीवन धारण कर लेगी, तब तो वह बहुत समयतक जीती रहेगी । मैं तो कजरारे नेत्रोंवाली जानकीके बिना अब एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता । तुमने जहाँ मेरी प्रियाको देखा है, उसी देशमें मुझे भी ले चलो । उसका समाचार पाकर अब मैं एक क्षण भी यहाँ नहीं रुक सकता ।

हाय ! मेरी सती-साध्वी सुमध्यमा सीता बड़ी भीरु है। वह उन घोर रूपधारी भयंकर राक्षसोंके बीचमें कैसे रहती होगी ? निश्चय ही अन्धकारसे मुक्त किंतु बादलोंसे ढके हुए शरत्कालीन चन्द्रमाके समान सीताका मुख इस समय शोभा नहीं पा रहा होगा। हनुमन् ! मुझे ठीक-ठीक बताओ, सीताने क्या-क्या कहा है ? जैसे रोगी दवा लेनेसे जीता है, उसी प्रकार मैं सीताके इस संदेश-वाक्यको सुनकर ही जीवन धारण करूँगा। हनुमन् ! मुझसे बिछुड़ी हुई मेरी सुन्दर कटिप्रदेशवाली मधुरभाषिणी सुन्दरी प्रियतमा जनकनन्दिनी सीताने मेरे लिये कौन-सा संदेश दिया है ? वह दुःख-पर-दुःख उठाकर भी कैसे जीवन धारण कर रही है ?'

किष्किन्धासे वानरी सेनाने कूच किया। समुद्रके किनारे सेनाका पड़ाव पड़ जानेपर श्रीरामचन्द्रजीने अपने पास बैठे हुए लक्ष्मणकी ओर देखकर कहा—

शोकश्च किल कालेन गच्छता ह्यपगच्छति।
मम चापश्यतः कान्तामहन्यहनि वर्धते॥
न मे दुःखं प्रिया दूरे न मे दुःखं हृतेति च।
एतदेवानुशोचामि वयोऽस्या ह्यतिवर्तते॥
वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः॥
तन्मे दहति गात्राणि विषं पीतमिवाशये।
हा नाथेति प्रिया सा मां ह्रियमाणा यदब्रवीत्॥
तद्वियोगेन्धनवता तच्चिन्ताविमलार्चिषा।
रात्रिंदिवं शरीरं मे दह्यते मदनाग्निना॥
अवगाह्यार्णवं स्वप्स्ये सौमित्रे भवता विना।
एवं च प्रज्वलन् कामो न मां सुप्तं जले दहेत्॥
बह्वेतत् कामयानस्य शक्यमेतेन जीवितुम्।
यदहं सा च वामोरुरेकां धरणिमाश्रितौ॥
केदारस्येव केदारः सोदकस्य निरूदकः।
उपस्नेहेन जीवामि जीवन्तीं यच्छृणोमि ताम्॥
कदा नु खलु सुश्रोणीं शतपत्रायतेक्षणाम्।
विजित्य शत्रून् द्रक्ष्यामि सीतां स्फीतामिव श्रियम्॥
सा नूनमसितापाङ्गी रक्षोमध्यगता सती।
मन्नाथा नाथहीनेव त्रातारं नाधिगच्छति॥
कथं जनकराजस्य दुहिता मम च प्रिया।
राक्षसीमध्यगा शेते स्नुषा दशरथस्य च॥
अविक्षोभ्याणि रक्षांसि सा विधूयोत्पतिष्यति।
विधूय जलदान् नीलाञ्शशिलेखा शरत्स्विव॥
स्वभावतनुका नूनं शोकेनानशनेन च।
भूयस्तनुतरा सीता देशकालविपर्ययात्॥
कदा नु राक्षसेन्द्रस्य निधायोरसि सायकान्।
शोकं प्रत्याहरिष्यामि शोकमुत्सृज्य मानसम्॥
कदा नु खलु मे साध्वी सीतामरसुतोपमा।
सोत्कण्ठा कण्ठमालम्ब्य मोक्ष्यत्यानन्दजं जलम्॥
कदा शोकमिमं घोरं मैथिलीविप्रयोगजम्।
सहसा विप्रमोक्ष्यामि वासः शुक्लेतरं यथा॥

(वा० रा०, युद्ध० ५। ४—१२, १५—२१)

'सुमित्रानन्दन ! कहा जाता है कि शोक बीतते हुए समयके साथ स्वयं भी दूर हो जाता है; परंतु मेरा शोक तो अपनी प्राणवल्लभाको न देखनेके कारण दिनोंदिन बढ़ रहा है। मुझे इस बातका दुःख नहीं है कि मेरी प्रिया मुझसे दूर है। उसका अपहरण हुआ—इसका भी दुःख नहीं है। मैं तो बारंबार इसीलिये शोकमें डूबा रहता हूँ कि उसके जीवित रहनेके लिये जो अवधि नियत कर दी गयी है, वह शीघ्रता-पूर्वक बीती जा रही है। हवा ! तू वहाँ बह, जहाँ मेरी प्राणवल्लभा है। उसका स्पर्श करके मेरा भी स्पर्श कर। उस दशामें तुझसे जो मेरे अङ्गोंका स्पर्श होगा, वह चन्द्रमासे होनेवाले दृष्टिसंयोगकी भाँति मेरे सारे संतापको दूर करनेवाला और आह्लादजनक होगा। अपहरण होते समय मेरी प्यारी सीताने जो मुझे 'हा

नाथ !' कहकर पुकारा था, वह पीये हुए उदरस्थित विषकी भाँति मेरे सारे अङ्गोंको दग्ध किये देता है। प्रियतमाका वियोग ही जिसका ईंधन है, उसकी चिन्ता ही जिसकी दीप्तिमती लपटें हैं, वह प्रेमाग्नि मेरे शरीरको रात-दिन जलाती रहती है। सुमित्रानन्दन ! तुम यहीं रहो। मैं तुम्हारे बिना अकेला ही समुद्रके भीतर घुसकर सोऊँगा। इस तरह जलमें शयन करनेपर यह प्रज्वलित प्रेमाग्नि मुझे दग्ध नहीं कर सकेगी। मैं और वह ... सीता एक ही भूतलपर सोते हैं। प्रियतमाके ...की इच्छा रखनेवाले मुझ विरहीके लिये इतना ही ... है। इतनेसे भी मैं जीवित रह सकता हूँ। जैसे ... भरी हुई क्यारीके सम्पर्कसे बिना जलकी क्यारी- ...धान भी जीवित रहता है—सूखता नहीं, उसी ...र मैं जो यह सुनता हूँ कि सीता अभी जीवित है, ... जी रहा हूँ। कब वह समय आयेगा, जब ...ओंको परास्त करके मैं समृद्धिशालिनी राजलक्ष्मीके ...न कमलनयनी सुमध्यमा सीताको देखूँगा ? ...रारे नेत्रप्रान्तवाली वह सती-साध्वी सीता, जिसका ...ही नाथ हूँ, आज अनाथकी भाँति राक्षसोंके बीचमें ...कर निश्चय ही कोई रक्षक नहीं पा रही होगी। ...ा जनककी पुत्री, महाराज दशरथकी पुत्रवधू और ... प्रियतमा सीता राक्षसियोंके बीचमें कैसे सोती ...ी ? वह समय कब आयेगा, जब सीता मेरे ...ा उन दुर्धर्ष राक्षसोंका विनाश करके उसी प्रकार ...ना उद्धार करेगी, जैसे शरत्कालमें चन्द्रलेखा काले ...दलोंका निवारण करके उनके आवरणसे मुक्त हो ...ती है ? स्वभावसे ही दुबले-पतले शरीरवाली सीता ...परीत देश-कालमें पड़ जानेके कारण निश्चय ही शोक ...र उपवास करके और भी लट गयी होगी। मैं ...क्षसराज रावणकी छातीमें अपने सायकोंको धँसाकर ...पने मानसिक शोकका निराकरण करके कब सीताका ...ोक दूर करूँगा ? देवकन्याके समान सुन्दरी मेरी सती-साध्वी सीता कब उत्कण्ठापूर्वक मेरे गलेसे लगकर अपने नेत्रोंसे आनन्दके आँसू बहायेगी ? ऐसा समय कब आयेगा, जब मैं मिथिलेशकुमारीके वियोगसे होनेवाले इस भयंकर शोकको मलिन वस्त्रकी भाँति सहसा त्याग दूँगा ?'

बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजी वहाँ इस प्रकार विलाप कर ही रहे थे कि दिनका अन्त होनेके कारण मन्द किरणोंवाले सूर्यदेव अस्ताचलपर जा पहुँचे। उस समय लक्ष्मणके धैर्य बँधानेपर शोकसे व्याकुल हुए श्रीरामने कमलनयनी सीताका चिन्तन करते हुए संध्योपासना की।

रावण-विजयके पश्चात् श्रीरामने हाथ जोड़कर विनीतभावसे खड़े हुए पर्वताकार वीर वानर हनुमान्‌जीसे कहा—

अनुज्ञाप्य महाराजमिमं सौम्य विभीषणम्।
प्रविश्य नगरीं लङ्कां कौशलं ब्रूहि मैथिलीम्॥
वैदेह्यै मां च कुशलं सुग्रीवं च सलक्ष्मणम्।
आचक्ष्व वदतां श्रेष्ठ रावणं च हतं रणे॥
प्रियमेतदिहाख्याहि वैदेह्यास्त्वं हरीश्वर।
प्रतिगृह्य तु संदेशमुपावर्तितुमर्हसि॥

(वा० रा०, युद्ध० ११२। २४—२६)

'सौम्य ! तुम इन महाराज विभीषणकी आज्ञा ले लङ्कानगरीमें प्रवेश करके मिथिलेशकुमारी सीतासे उनका कुशल-समाचार पूछो। साथ ही उन विदेहराजकुमारीसे सुग्रीव और लक्ष्मणसहित मेरा कुशल-समाचार निवेदन करो। वक्ताओंमें श्रेष्ठ कपीश्वर ! तुम वैदेहीको यह प्रिय समाचार सुना दो कि रावण युद्धमें मारा गया। तत्पश्चात् उनका संदेश लेकर लौट आओ।'

अन्ततः लङ्कासे अयोध्या चलनेका समय आया। श्रीराम-की आज्ञा पाकर वह हंसयुक्त उत्तम विमान महान् शब्द करता हुआ आकाशमें उड़ने लगा। उस समय रघुकुलनन्दन श्रीरामने सब ओर दृष्टि डालकर चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली मिथिलेशकुमारी सीतासे कहा—

कैलासशिखराकारे त्रिकूटशिखरे स्थिताम् ।
लङ्कामीक्षस्व वैदेहि निर्मितां विश्वकर्मणा ॥
एतदायोधनं पश्य मांसशोणितकर्दमम् ।
हरीणां राक्षसानां च सीते विशसनं महत् ॥
एष दत्तवरः शेते प्रमाथी राक्षसेश्वरः ।
तव हेतोर्विशालाक्षि निहतो रावणो मया ॥
कुम्भकर्णोऽत्र निहतः प्रहस्तश्च निशाचरः ।
धूम्राक्षश्चात्र निहतो वानरेण हनूमता ॥
विद्युन्माली हतश्चात्र सुषेणेन महात्मना ।
लक्ष्मणेनेन्द्रजिच्चात्र रावणिर्निहतो रणे ॥
अङ्गदेनात्र निहतो विकटो नाम राक्षसः ।
विरूपाक्षश्च दुष्प्रेक्षो महापार्श्वमहोदरौ ॥
अकम्पनश्च निहतो बलिनोऽन्ये च राक्षसाः ।
त्रिशिराश्चातिकायश्च देवान्तकनरान्तकौ ॥
युद्धोन्मत्तश्च मत्तश्च राक्षसप्रवरावुभौ ।
निकुम्भश्चैव कुम्भश्च कुम्भकर्णात्मजौ बली ॥
वज्रदंष्ट्रश्च दंष्ट्रश्च बहवो राक्षसा हताः ।
मकराक्षश्च दुर्धर्षो मया युधि निपातितः ॥
अकम्पनश्च निहतः शोणिताक्षश्च वीर्यवान् ।
यूपाक्षश्च प्रजङ्घश्च निहतौ तु महाहवे ॥
विद्युज्जिह्वोऽत्र निहतो राक्षसो भीमदर्शनः ।
यज्ञशत्रुश्च निहतः सुप्तघ्नश्च महाबलः ॥
सूर्यशत्रुश्च निहतो ब्रह्मशत्रुस्तथापरः ।
अत्र मन्दोदरी नाम भार्या तं पर्यदेवयत् ॥
सपत्नीनां सहस्रेण साग्रेण परिवारिता ।
एतत् तु दृश्यते तीर्थं समुद्रस्य वरानने ॥
यत्र सागरमुत्तीर्य तां रात्रिमुषिता वयम् ।
एष सेतुर्मया बद्धः सागरे लवणार्णवे ॥
तव हेतोर्विशालाक्षि नलसेतुः सुदुष्करः ।
पश्य सागरमक्षोभ्यं वैदेहि वरुणालयम् ॥
अपारमिव गर्जन्तं शङ्खशुक्तिसमाकुलम् ।
हिरण्यनाभं शैलेन्द्रं काञ्चनं पश्य मैथिलि ॥
विश्रमार्थं हनुमतो भित्त्वा सागरमुत्थितम् ।
एतत् कुक्षौ समुद्रस्य स्कन्धावारनिवेशनम् ॥
अत्र पूर्वं महादेवः प्रसादमकरोद् विभुः ।
एतत् तु दृश्यते तीर्थं सागरस्य महात्मनः ॥
सेतुबन्ध इति ख्यातं त्रैलोक्येन च पूजितम् ।
एतत् पवित्रं परमं महापातकनाशनम् ॥
अत्र राक्षसराजोऽयमाजगाम विभीषणः ।
एषा सा दृश्यते सीते किष्किन्धा चित्रकानना ॥
सुग्रीवस्य पुरी रम्या यत्र वाली मया हतः ।

(वा० रा०, युद्ध० १२३ । ३–२१½)

'विदेहराजनन्दिनि ! कैलास-शिखरके समान सुन्दर त्रिकूट पर्वतके विशाल शृङ्गपर वसी हुई विश्वकर्माकी बनायी लङ्कापुरीको देखो, कैसी सुन्दर दिखायी देती है ! इधर इस युद्धभूमिको देखो, यहाँ रक्त और मांसकी कीच जमी हुई है । सीते ! इस युद्धक्षेत्रमें वानरों और राक्षसोंका महान् संहार हुआ है । विशाललोचने ! यह राक्षसराज रावण राखका ढेर बनकर सो रहा है । यह बड़ा भारी हिंसक था और इसे ब्रह्माजीने वरदान दे रक्खा था; किंतु तुम्हारे लिये मैंने इसका वध कर डाला । यहींपर मैंने कुम्भकर्णको मारा था, यहीं निशाचर प्रहस्त मारा गया है और इसी समराङ्गणमें वानरवीर हनुमान्‌ने धूम्राक्षका वध किया है । यहीं महामना सुषेणने विद्युन्मालीको मारा था और इसी रणभूमिमें लक्ष्मणने रावणपुत्र इन्द्रजित्‌का संहार किया था । यहीं अङ्गदने विकटनामक राक्षसका वध किया था । जिसकी ओर देखना भी कठिन था, वह विरूपाक्ष तथा महापार्श्व और महोदर भी यहीं मारे गये हैं । अकम्पन तथा दूसरे बलवान् राक्षस यहीं मौतके घाट उतारे गये थे । त्रिशिरा, अतिकाय, देवान्तक और नरान्तक भी यहीं मार डाले गये थे । युद्धोन्मत्त और मत्त—ये दोनों श्रेष्ठ राक्षस तथा बलवान् कुम्भ और निकुम्भ—ये कुम्भकर्णके दोनों पुत्र भी यहीं मृत्युको प्राप्त हुए ।

वज्रदंष्ट्र और दंष्ट्र आदि बहुत-से राक्षस यहीं कालके ग्रास बन गये। दुर्धर्ष वीर मकराक्षको इसी युद्धस्थलमें मैंने मार गिराया था। अकम्पन और पराक्रमी शोणिताक्ष-का भी यहीं काम तमाम हुआ था। यूपाक्ष और प्रजङ्घ भी इसी महासमरमें मारे गये थे। जिसकी ओर देखनेसे भी भय होता था, वह राक्षस विद्युज्जिह्व यहीं मौतका ग्रास बन गया। यज्ञशत्रु और महाबली सुप्तघ्नको भी यहीं मारा गया था। सूर्यशत्रु और ब्रह्मशत्रु नामक निशाचरोंका भी यहीं वध किया गया था। यहीं रावणकी भार्या मन्दोदरीने उसके लिये विलाप किया था। उस समय वह अपनी हजारोंसे भी अधिक सौतोंसे घिरी हुई थी। सुमुखि! यह समुद्रका तीर्थ दिखायी देता है, जहाँ समुद्रको पार करके हमलोगोंने वह रात बितायी थी। विशाललोचने! खारे पानीके समुद्रमें यह मेरा बँधवाया हुआ पुल है, जो नलसेतुके नामसे विख्यात है। देवि! तुम्हारे लिये ही यह अत्यन्त दुष्कर सेतु बाँधा गया था। विदेहनन्दिनि! इस अक्षोभ्य वरुणालय समुद्रको तो देखो, जो अपार-सा दिखायी देता है। शङ्ख और सीपियोंसे भरा हुआ यह सागर कैसी गर्जना कर रहा है! मिथिलेशकुमारी! इस सुवर्णमय पर्वतराज हिरण्यनाभको तो देखो, जो हनुमान्‌जीको विश्राम देनेके लिये समुद्रकी जल-राशिको चीरकर ऊपरको उठ गया था। यह समुद्रके उदरमें ही विशाल टापू है, जहाँ मैंने सेनाका पड़ाव डाला था। यहीं पूर्वकालमें भगवान् महादेवने मुझपर कृपा की थी—सेतु बाँधनेसे पहले मेरेद्वारा स्थापित होकर वे यहाँ विराजमान हुए थे। इस पुण्यस्थलमें विशालकाय समुद्रका तीर्थ दिखायी देता है, जो सेतुनिर्माणका मूलप्रदेश होनेके कारण सेतुबन्ध नामसे विख्यात तथा तीनों लोकोंद्वारा पूजित होगा। यह तीर्थ परम पवित्र और महान् पातकोंका नाश करनेवाला होगा। यहीं ये राक्षसराज विभीषण आकर मुझसे मिले थे। सीते! यह विचित्र वनप्रान्तसे सुशोभित किष्किन्धा दिखायी देती है, जो वानरराज सुग्रीवकी सुरम्य नगरी है। यहीं मैंने वालीका वध किया था।'

तदनन्तर वालिपालित किष्किन्धापुरीका दर्शन करके सीताने प्रेमसे विह्वल हो श्रीरामसे विनयपूर्वक कहा- 'महाराज! मैं सुग्रीवकी तारा आदि प्रिय भार्याओं तथा अन्य वानरेश्वरोंकी स्त्रियोंको साथ लेकर आपके साथ अपनी राजधानी अयोध्यामें चलना चाहती हूँ।' विदेहनन्दिनी सीताके यों कहनेपर श्रीरघुनाथजीने कहा—'ऐसा ही हो।' फिर किष्किन्धामें पहुँचनेपर उन्होंने विमान ठहराया और सुग्रीवकी ओर देखकर कहा—'वानरश्रेष्ठ! तुम समस्त वानरयूथपतियोंसे कहो कि वे सब लोग अपनी-अपनी स्त्रियोंको साथ लेकर सीताके साथ अयोध्या चलें तथा महाबली वानरराज सुग्रीव! तुम भी अपनी सब स्त्रियोंके साथ शीघ्र चलनेकी तैयारी करो, जिससे हम सब लोग जल्दी वहाँ पहुँचें।' अमित तेजस्वी श्रीरघुनाथजीके यों कहनेपर उन सब वानरोंसे घिरे हुए श्रीमान् वानरराज सुग्रीवने शीघ्र ही अन्तःपुरमें प्रवेश करके तारासे भेंट की और इस प्रकार कहा—'प्रिये! तुम मिथिलेशकुमारी सीताका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रीरघुनाथजीकी आज्ञाके अनुसार सभी प्रधान-प्रधान महात्मा वानरोंकी स्त्रियोंके साथ शीघ्र चलनेकी तैयारी करो। हमलोग इन वानर-पत्नियोंको साथ लेकर चलेंगे और उन्हें अयोध्यापुरी तथा महाराज दशरथकी सब रानियोंका दर्शन करायेंगे।' सुग्रीवकी यह बात सुनकर सर्वाङ्गसुन्दरी ताराने समस्त वानर-पत्नियोंको बुलाकर चलनेको कहा। ताराकी यह आज्ञा पाकर सारी वानर-पत्नियोंने शृङ्गार करके उस विमानकी परिक्रमा की और सीताजीके दर्शनकी इच्छासे वे उसपर चढ़ गयीं। उन सबके साथ विमानको शीघ्र ही ऊपर उठा देख श्रीरघुनाथजीने ऋष्यमूकके निकट आनेपर पुनः विदेह-नन्दिनीसे कहा—

दृश्यतेऽसौ महान् सीते सविद्युदिव तोयदः ॥
ऋष्यमूको गिरिवरः काञ्चनैर्धातुभिर्वृतः ।
अत्राहं वानरेन्द्रेण सुग्रीवेण समागतः ॥
समयश्च कृतः सीते वधार्थं वालिनो मया ।
एषा सा दृश्यते पम्पा नलिनी चित्रकानना ॥

त्वया विहीनो यत्राहं विललाप सुदुःखितः ।
अस्यास्तीरे मया दृष्टा शबरी धर्मचारिणी ॥
अत्र योजनबाहुश्च कबन्धो निहतो मया ।
दृश्यतेऽसौ जनस्थाने श्रीमान् सीते वनस्पतिः ॥
जटायुश्च महातेजास्तव हेतोर्विलासिनि ।
रावणेन हतो यत्र पक्षिणां प्रवरो बली ॥
खरश्च निहतो यत्र दूषणश्च निपातितः ।
त्रिशिराश्च महावीर्यो मया बाणैरजिह्मगैः ॥
एतत् तदाश्रमपदमस्माकं वरवर्णिनि ।
पर्णशाला तथा चित्रा दृश्यते शुभदर्शने ॥
यत्र त्वं राक्षसेन्द्रेण रावणेन हृता बलात् ।
एषा गोदावरी रम्या प्रसन्नसलिला शुभा ॥
अगस्त्यस्याश्रमश्चैव दृश्यते कदलीवृतः ।
दीप्तश्चैवाश्रमो ह्येष सुतीक्ष्णस्य महात्मनः ॥
दृश्यते चैव वैदेहि शरभङ्गाश्रमो महान् ।
उपयातः सहस्राक्षो यत्र शक्रः पुरंदरः ॥
अस्मिन् देशे महाकायो विराधो निहतो मया ।
एते ते तापसा देवि दृश्यन्ते तनुमध्यमे ॥
अत्रिः कुलपतिर्यत्र सूर्यवैश्वानरोपमः ।
अत्र सीते त्वया दृष्टा तापसी धर्मचारिणी ॥
असौ सुतनु शैलेन्द्रश्चित्रकूटः प्रकाशते ।
अत्र मां कैकयीपुत्रः प्रसादयितुमागतः ॥
एषा सा यमुना रम्या दृश्यते चित्रकानना ।
भरद्वाजाश्रमः श्रीमान् दृश्यते चैष मैथिलि ॥
इयं च दृश्यते गङ्गा पुण्या त्रिपथगा नदी ।
नानाद्विजगणाकीर्णा सम्प्रपुष्पितकानना ॥
शृङ्गवेरपुरं चैतद् गुहो यत्र सखा मम ।
एषा सा दृश्यते सीते सरयूर्यूपमालिनी ॥
एषा सा दृश्यते सीते राजधानी पितुर्मम ।
अयोध्यां कुरु वैदेहि प्रणामं पुनरागता ॥

(वा० रा०, युद्ध० १२३ । ३८—५५)

'सीते ! वह जो बिजलीसहित मेघके समान सुवर्णमय धातुओंसे युक्त श्रेष्ठ एवं महान् पर्वत दिखायी देता है, उसका नाम ऋष्यमूक है । सीते ! यहीं मैं वानरराज सुग्रीवसे मिला था और उनके साथ मित्रता करनेके पश्चात् वालीका वध करनेके लिये मैंने प्रतिज्ञा की थी । यही वह पम्पा नामक पुष्करिणी है, जो तटवर्ती विचित्र काननोंसे सुशोभित हो रही है । यहाँ तुम्हारे वियोगसे अत्यन्त दुःखी होकर मैंने विलाप किया था । इसी पम्पाके तटपर मुझे धर्मपरायणा शबरीका दर्शन हुआ था । इधर वह स्थान है, जहाँ एक योजन लंबी भुजावाले कबन्ध नामक असुरका मैंने वध किया था । विलासशालिनी सीते ! जनस्थानमें वह शोभाशाली विशाल वृक्ष दिखायी दे रहा है, जहाँ बलवान् एवं महातेजस्वी पक्षिप्रवर जटायु तुम्हारी रक्षा करनेके कारण रावणके हाथसे मारे गये थे । यह वह स्थान है, जहाँ मेरे सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा खर मारा गया, दूषण धराशायी किया गया और महापराक्रमी त्रिशिरा भी मौतके घाट उतार दिया गया । वरवर्णिनि ! शुभदर्शने ! यह हमलोगोंका आश्रम है तथा वह विचित्र पर्णशाला दिखायी देती है, जहाँ आकर राक्षसराज रावणने बलपूर्वक तुम्हारा अपहरण किया था । यह स्वच्छ जलराशिसे सुशोभित मङ्गलमयी रमणीय गोदावरी नदी है तथा केलेके कुञ्जोंसे घिरा हुआ महर्षि अगस्त्यका आश्रम दिखायी देता है । यह महात्मा सुतीक्ष्णका दीप्तिमान् आश्रम है और विदेहनन्दिनि ! वह शरभङ्ग मुनिका महान् आश्रम दिखायी देता है, जहाँ सहस्रनेत्रधारी पुरंदर इन्द्र पधारे थे । यह वह स्थान है, जहाँ मैंने विशालकाय विराधका वध किया था । देवि ! तनुमध्यमे ! ये वे तापस दिखायी देते हैं, जिनका दर्शन हमलोगोंने पहले किया था । सीते ! इस तापसाश्रमपर ही सूर्य और अग्निके समान तेजस्वी कुलपति अत्रि मुनि निवास करते हैं । यहीं तुमने धर्मपरायणा तपस्विनी अनसूयादेवीका

दर्शन किया था। सुतनु! वह गिरिराज चित्रकूट प्रकाशित हो रहा है। यहीं कैकेयीकुमार भरत मुझे प्रसन्न करके लौटा लेनेके लिये आये थे। मिथिलेशकुमारी! यह विचित्र काननोंसे सुशोभित रमणीय यमुना नदी दिखायी देती है और यह शोभाशाली भरद्वाजाश्रम दृष्टिगोचर हो रहा है। ये पुण्यसलिला त्रिपथगा गङ्गा नदी दीख रही हैं, जिनके तटपर नाना प्रकारके पक्षी कलरव करते हैं और द्विजवृन्द पुण्यकर्मोंमें रत हैं। इनके तटवर्ती वनके वृक्ष सुन्दर फूलोंसे भरे हुए हैं। यह शृङ्गवेरपुर है, जहाँ मेरा मित्र गुह रहता है। सीते! यह यूपमालाओंसे अलंकृत सरयू दिखायी देती है, जिसके तटपर मेरे पिताजीकी राजधानी है। विदेहनन्दिनि! तुम वनवासके बाद फिर लौटकर अयोध्याके ऊपर आयी हो। इसलिये इस पुरीको प्रणाम करो।'

कठोर मर्यादारक्षक लोकनायक श्रीरामका एकपत्नीव्रत और सीता-प्रेम

सामान्य व्यक्ति उस कठिनाईका कभी अनुभव नहीं करता जिसका सामना किसी लोकनायकको करना पड़ता है। लोकनायकके प्रत्येक आचरणपर समाजकी दृष्टि होती है। वह अपनी इच्छा एवं रुचिके अनुसार प्रायः कुछ नहीं कर पाता। लोकादर्शकी स्थापना एवं उसे बनाये रखनेके लिये उसे अनेक बार अपनी इच्छा, रुचि एवं प्रवृत्तिके सर्वथा विपरीत आचरण करना पड़ता है और इस प्रकार करना पड़ता है जैसे वही उसकी वास्तविक रुचि हो। बड़ा निष्ठुर है लोकनायकका कर्तव्य। वही कर्तव्य श्रीरामके सम्मुख उपस्थित हुआ, जब रावणवधके पश्चात् श्रीमैथिली उनके समीप आयीं। अतः मिथिलेशकुमारी सीताको विनयपूर्वक अपने समीप खड़ी देख श्रीरामचन्द्रजीने अपना अभिप्राय बताना आरम्भ किया—

एषासि निर्जिता भद्रे शत्रुं जित्वा रणाजिरे।
पौरुषाद् यदनुष्ठेयं मयैतदुपपादितम्॥
गतोऽस्म्यन्तममर्षस्य धर्षणा सम्प्रमार्जिता।
अवमानश्च शत्रुश्च युगपन्निहतौ मया॥
अद्य मे पौरुषं दृष्टमद्य मे सफलः श्रमः।
अद्य तीर्णप्रतिज्ञोऽहं प्रभवाम्यद्य चात्मनः॥
या त्वं विरहिता नीता चलचित्तेन रक्षसा।
दैवसम्पादितो दोषो मानुषेण मया जितः॥
सम्प्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महताप्यल्पचेतसः॥
लङ्घनं च समुद्रस्य लङ्कायाश्चापि मर्दनम्।
सफलं तस्य च श्लाघ्यमद्य कर्म हनूमतः॥
युद्धे विक्रमतश्चैव हितं मन्त्रयतस्तथा।
सुग्रीवस्य ससैन्यस्य सफलोऽद्य परिश्रमः॥
विभीषणस्य च तथा सफलोऽद्य परिश्रमः।
विगुणं भ्रातरं त्यक्त्वा यो मां स्वयमुपस्थितः॥

(वा० रा०, युद्ध० ११५। २–९)

'भद्रे! समराङ्गणमें शत्रुको पराजित करके मैंने तुम्हें उसके चंगुलसे छुड़ा लिया। पुरुषार्थके द्वारा जो कुछ किया जा सकता था, वह सब मैंने किया। अब मेरे अमर्षका अन्त हो गया। मुझपर जो कलङ्क लगा था, उसका मैंने मार्जन कर दिया। शत्रुजनित अपमान और शत्रु—दोनोंको एक साथ ही नष्ट कर डाला। आज सबने मेरा पराक्रम देख लिया। अब मेरा परिश्रम सफल हो गया और इस समय प्रतिज्ञा पूर्ण करके मैं उसके भारसे मुक्त एवं स्वतन्त्र हो गया। जब तुम आश्रममें अकेली थीं, उस समय वह चञ्चल चित्तवाला राक्षस तुम्हें हर ले गया। यह दोष मेरे ऊपर दैववश प्राप्त हुआ था, जिसका मैंने मानवसाध्य पुरुषार्थके द्वारा मार्जन कर दिया। जो पुरुष प्राप्त हुए अपमानका अपने तेज या बलसे मार्जन नहीं कर देता, उस मन्दबुद्धि मानवके महान् पुरुषार्थसे भी क्या लाभ

हुआ ? हनुमान्‌ने जो समुद्रको लाँघा और लङ्काका विध्वंस किया, उनका वह प्रशंसनीय कर्म आज सफल हो गया । सेनासहित सुग्रीवने युद्धमें पराक्रम दिखाया तथा समय-समयपर ये मुझे हितकर सलाह देते रहे हैं, इनका परिश्रम भी अब सार्थक हो गया । ये विभीषण दुर्गुणोंसे भरे हुए अपने भाईका परित्याग करके स्वयं ही मेरे पास उपस्थित हुए थे । अबतकका किया हुआ इनका परिश्रम भी निष्फल नहीं हुआ ।'

वे अपने स्वामीकी हृदयवल्लभा थीं । उनके प्राणवल्लभ राजा श्रीरामका हृदय लोकापवादके भयसे उस समय विदीर्ण हो रहा था । वे काले-काले घुँघराले बालोंवाली कमललोचना सुन्दरी सीतासे वानर और राक्षसोंकी भरी सभामें पुनः इस प्रकार कहने लगे—

यत् कर्तव्यं मनुष्येण धर्षणां प्रतिमार्जता ।
तत् कृतं रावणं हत्वा मयेदं मानकाङ्क्षिणा ॥
निर्जिता जीवलोकस्य तपसा भावितात्मना ।
अगस्त्येन दुराधर्षा मुनिना दक्षिणेव दिक् ॥
विदितश्चास्तु भद्रं ते योऽयं रणपरिश्रमः ।
सुतीर्णः सुहृदां वीर्यान्न त्वदर्थं मया कृतः ॥
रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता ॥
प्राप्तचारित्रसंदेहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा ॥
तद् गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे ।
एता दश दिशो भद्रे कार्यमस्ति न मे त्वया ॥
कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात् सुहृल्लोभेन चेतसा ॥
रावणाङ्कपरिक्लिष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥
यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितो मया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥
तदद्य व्याहृतं भद्रे मयैतत् कृतबुद्धिना ।
लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम् ॥
नहि त्वां रावणो दृष्ट्वा दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
मर्षयेत चिरं सीते स्वगृहे पर्यवस्थिताम् ॥

(वा० रा०, युद्ध० ११५ । १३-२२, २४)

'अपने तिरस्कारका बदला चुकानेके लिये मनुष्यका जो कर्तव्य है, वह सब मैंने अपनी मानरक्षाकी अभिलाषासे रावणका वध करके पूर्ण किया । जैसे तपस्यासे भावित अन्तःकरणवाले अथवा तपस्यापूर्वक परमात्मस्वरूपका चिन्तन करनेवाले महर्षि अगस्त्यने वातापि और इल्वलके भयसे जीवजगत्‌के लिये दुर्गम हुई दक्षिण दिशाको जीता था, उसी प्रकार मैंने रावणके वशमें पड़ी हुई तुमको जीता है । तुम्हारा कल्याण हो । तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैंने जो यह युद्धका परिश्रम उठाया है तथा इन मित्रोंके पराक्रमसे जो इसमें विजय पायी है, यह सब तुम्हें पानेके लिये नहीं किया गया है । सदाचारकी रक्षा, सब ओर फैले हुए अपवादका निवारण तथा अपने सुविख्यात वंशपर लगे हुए कलङ्कका परिमार्जन करनेके लिये ही यह सब मैंने किया है । तुम्हारे चरित्रमें संदेहका अवसर उपस्थित है, फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो । जैसे आँखके रोगीको दीपककी ज्योति नहीं सुहाती, उसी प्रकार आज तुम मुझे अत्यन्त अप्रिय जान पड़ती हो । अतः जनककुमारी ! तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चली जाओ । मैं अपनी ओरसे तुम्हें अनुमति देता हूँ । भद्रे ! ये दसों दिशाएँ तुम्हारे लिये खुली हैं । अब तुमसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है । कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरेके घरमें रही हुई स्त्रीको, केवल इस लोभसे कि यह मेरे साथ बहुत दिनोंतक रहकर सौहार्द स्थापित कर चुकी है, मनसे भी ग्रहण कर सकेगा ? रावण तुम्हें अपनी गोदमें उठाकर ले गया और तुमपर अपनी दूषित दृष्टि डाल चुका है, ऐसी दशामें अपने कुलको महान् बताता हुआ मैं फिर तुम्हें

कैसे ग्रहण कर सकता हूँ ? अतः जिस उद्देश्यसे मैंने तुम्हें जीता था, वह सिद्ध हो गया—मेरे कुलके कलङ्कका मार्जन हो गया। अब मेरी तुम्हारे प्रति ममता या आसक्ति नहीं है; अतः तुम जहाँ जाना चाहो, जा सकती हो। भद्रे! मेरा यह निश्चित [illegible]ार है। इसके अनुसार ही आज मैंने तुम्हारे सामने [illegible]ातें कही हैं। तुम चाहो तो भरत या लक्ष्मणके [illegible]णमें सुखपूर्वक रहनेका विचार कर सकती हो। [illegible]! तुम-जैसी दिव्यरूप-सौन्दर्यसे सुशोभित मनोरम [illegible]को अपने घरमें स्थित देखकर रावण चिरकालतक [illegible]े दूर रहनेका कष्ट नहीं सह सका होगा।'

सीताने श्रीरामकी बातोंका विनयपूर्वक उपालम्भपूर्ण [illegible]र दिया और अपने सतीत्वकी परीक्षा देनेके लिये अग्निमें [illegible] करनेका विचार किया। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—[illegible]त्रानन्दन! मेरे लिये चिता तैयार कर दो। मेरे इस [illegible]की यही दवा है। मिथ्या कलङ्कसे कलङ्कित होकर मैं [illegible]त नहीं रह सकती।' श्रीरामका इशारा पाकर लक्ष्मणने [illegible] तैयार कर दी। चितामें अग्नि प्रज्वलित हो उठी। [illegible]म सिर झुकाये खड़े थे। उसी अवस्थामें उनकी परिक्रमा [illegible] वैदेही प्रज्वलित अग्निके समीप गयीं। देवताओं और [illegible]णोंको प्रणाम करके मिथिलेश-कुमारीने दोनों हाथ जोड़ और अग्निदेवके समीप इस प्रकार कहा—

यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः॥
कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्।
राघवं सर्वधर्मज्ञं तथा मां पातु पावकः॥
आदित्यो भगवान् वायुर्दिशश्चन्द्रस्तथैव च।
अहश्चापि तथा संध्ये रात्रिश्च पृथिवी तथा।
यथान्येऽपि विजानन्ति तथा चारित्रसयुताम्॥
(वा० रा०, युद्ध० ११६। २५–२८)

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें। मेरा चरित्र शुद्ध है, फिर भी श्रीरघुनाथजी मुझे दूषित समझ रहे हैं। यदि मैं सर्वथा निष्कलङ्क होऊँ तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव सब ओरसे मेरी रक्षा करें। यदि मैंने मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता श्रीरघुनाथजीका अतिक्रमण न किया हो तो अग्निदेव मेरी रक्षा करें। यदि भगवान् सूर्य, वायु, दिशाएँ, चन्द्रमा, दिन, रात, दोनों संध्याएँ, पृथ्वी देवी तथा अन्य देवता भी मुझे शुद्ध चरित्रसे युक्त जानते हों तो अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करें।'

यों कहकर सीता निःशङ्कचित्तसे उस प्रज्वलित अग्निमें समा गयीं। ऋषियों, देवताओं और गन्धर्वोंने महाभागा सीताको प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करते देखा। वहाँ आयी हुई सभी स्त्रियाँ यह दारुण दृश्य देखकर चीख उठीं। उनके अग्निमें प्रवेश करते समय राक्षस और वानर जोर-जोरसे हाहाकार करने लगे। उनका वह अद्भुत आर्तनाद चारों ओर जोरसे गूँज उठा। धर्मात्मा श्रीराम हाहाकार करनेवाले राक्षसों और वानरोंकी बातें सुनकर मन-ही-मन बहुत दुखी हुए और आँखोंमें आँसू भरकर दो घड़ीतक कुछ सोचते रहे। इसी समय यम, पितृगण, इन्द्र, महादेवजी तथा ब्रह्माजी अपने तेजस्वी विमानोंद्वारा लङ्कापुरीमें श्रीरामके निकट आये और इस प्रकार बोले—'रघुनन्दन! आप सम्पूर्ण विश्वके उत्पादक, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ और सर्वव्यापक हैं। फिर इस समय अग्निमें गिरी हुई सीताकी उपेक्षा कैसे कर रहे हैं? आप समस्त देवताओंमें श्रेष्ठ विष्णु, ऋतधामा वसु, आठवें रुद्र तथा पाँचवें साध्य हैं। दोनों अश्विनीकुमार आपके कान हैं तथा सूर्य और चन्द्रमा नेत्र। सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें भी आप ही दिखायी देते हैं। फिर एक साधारण मनुष्यकी भाँति सीताकी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं?'

ब्रह्माजीके कहे हुए इन शुभ वचनोंको सुनकर उस समय मूर्तिमान् अग्निदेव सीताको पिताकी भाँति गोदमें लिये चितासे ऊपरको उठे। तपाये हुए सुवर्णके आभूषणोंसे विभूषित सीता प्रातःकालके सूर्यकी भाँति अरुण-पीत कान्तिसे प्रकाशित हो रही थीं। उनके श्रीअङ्गोंपर लाल रंगकी रेशमी साड़ी लहरा रही थी। अग्निदेवने उन्हें श्रीरामके हाथमें सौंपा और इनकी शुद्धताका साक्षी बनकर समर्थन किया। अग्निदेवकी बात सुनकर श्रीरामका मन प्रसन्न हो गया। उनके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू छलक आये। वे अग्निदेवसे बोले—

अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति ।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥
बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः ।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥
अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥
इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा ।
रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधिः ॥
प्रत्ययार्थं तु लोकानां त्रयाणां सत्यसंश्रयः ।
उपेक्षे चापि वैदेहीं प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥
न च शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम् ।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥
नेयमर्हति वैक्लव्यं रावणान्तःपुरे सती ।
अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा ॥
विशुद्धा त्रिषु लोकेषु मैथिली जनकात्मजा ।
न विहातुं मया शक्या कीर्तिरात्मवता यथा ॥
अवश्यं च मया कार्यं सर्वेषां वो वचो हितम् ।
स्निग्धानां लोकनाथानामेवं च वदतां हितम् ॥
(वा० रा०, युद्ध० ११८ । १३–२१)

'भगवन्! लोगोंमें सीताजीकी पवित्रताका विश्वास दिलानेके लिये इनकी यह शुद्धिविषयक परीक्षा आवश्यक थी; क्योंकि शुभलक्षणा सीताको विवश होकर दीर्घकाल-तक रावणके अन्तःपुरमें रहना पड़ा है। यदि मैं जनकनन्दिनीकी शुद्धिके विषयमें परीक्षा न करता तो लोग यही कहते कि दशरथपुत्र राम बड़ा ही मूर्ख और कामी है। यह बात मैं भी जानता हूँ कि मिथिलाकी राजकुमारी जनकनन्दिनी सीताका हृदय सदा मुझमें ही लगा रहता है, मुझसे कभी अलग नहीं होता। ये सदा मेरा ही मन रखतीं—मेरी इच्छाके अनुसार चलती हैं। मुझे यह भी विश्वास है कि जैसे महासागर अपनी तटभूमिको नहीं लाँघ सकता, उसी प्रकार रावण अपने ही तेजसे सुरक्षित इन विशाललोचना सीतापर अत्याचार नहीं कर सकता था। तथापि तीनों लोकोंके प्राणियोंके मनमें विश्वास दिलानेके लिये एकमात्र सत्यका सहारा लेकर मैंने अग्निमें प्रवेश करती हुई विदेहकुमारी सीताको रोकनेकी चेष्टा नहीं की। मिथिलेशकुमारी सीता प्रज्वलित अग्निशिखाके समान दुर्धर्ष तथा दूसरेके लिये अलभ्य हैं। दुष्टात्मा रावण मनके द्वारा भी इनपर अत्याचार करनेमें समर्थ नहीं हो सकता था। ये सती-साध्वी देवी रावणके अन्तःपुरमें रहकर भी व्याकुलता या घबराहटमें नहीं पड़ सकती थीं; क्योंकि ये मुझसे उसी तरह अभिन्न हैं, जैसे सूर्यदेवसे उनकी प्रभा। मिथिलेशकुमारी जानकी तीनों लोकोंमें परम पवित्र हैं। जैसे मनस्वी पुरुष कीर्तिका त्याग नहीं कर सकता, उसी तरह मैं भी इन्हें नहीं छोड़ सकता। आप सभी लोकपाल मेरे हितकी ही बात कह रहे हैं और आपलोगों-का मुझपर बड़ा स्नेह है; अतः आप सभी देवताओंके हितकर वचनका मुझे अवश्य पालन करना चाहिये।'

सीता-त्याग

राज्याभिषेकके पश्चात् श्रीरामकी राजसभामें बहुत-से महर्षि आये और उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीका अभिनन्दन किया। फिर श्रीरामके पूछनेपर उन्होंने राक्षसकुलकी उत्पत्तिका तथा रावण-मेघनाद आदिके उत्कर्षका इतिहास विस्तारपूर्वक सुनाया, वाली आदि वानरोंकी सृष्टिपरम्पराका भी वर्णन किया तथा हनुमान्‌जीके जीवन-वृत्तको भी बताया। तदनन्तर अपने भावी यज्ञमें ऋषियोंको पधारनेके लिये प्रार्थनापूर्वक कहकर श्रीरामने उन्हें विदा दी, सम्बन्धी राजाओंको स्वदेश पठाया तथा सामन्त राजाओंने उनके लिये जो उपहार भेजे थे, उन्हें वानर आदि मित्रोंको बाँट दिया। इसके बाद श्रीरघुनाथजीने रीछों, वानरों तथा राक्षसोंको स्वदेश लौटनेकी अनुमति दी। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें प्रजा सुखपूर्वक रहने लगी। कुछ काल बाद सीता गर्भवती हुईं। एक दिन श्रीरामने सीतासे कहा—

अपत्यलाभो वैदेहि त्वय्ययं समुपस्थितः ॥
किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव ।
(वा० रा०, उत्तर० ४२ । ३१½)

'सीते ! संतानप्राप्तिका समय तुम्हें प्राप्त है, अतः वरारोहे ! तुम क्या चाहती हो ? तुम्हारी कौन-सी कामना पूर्ण करूँ ?'

सीताने मुस्कराकर कहा—'रघुनन्दन ! मैं पुण्य तपोवन देखना चाहती हूँ । गङ्गातटपर फल-मूल खाकर रहनेवाले तेजस्वी ऋषियोंके चरणोंमें अभिवादन करूँ और एक दिन तपोवनमें रहूँ, यह मेरी इच्छा है ।' श्रीरामने उनकी इस इच्छाको पूर्ण करनेका आश्वासन दिया । सीताको आश्वासन देकर श्रीराम मध्यम कक्षमें गये । वहाँ मित्रोंके साथ वार्तालापमें — समय व्यतीत किया । तदनन्तर भद्रनामक गुप्तचरसे सीताविषयक लोकापवादकी बात ज्ञात हुई । यह [illegible]र श्रीरामको बड़ा दुःख हुआ । उन्होंने मित्रोंको [illegible] कर दिया और द्वारपालको भेजकर अपने तीनों भाइयोंको [illegible]या । वे तीनों आये और श्रीरामके चरणोंमें मस्तक [illegible] कर खड़े हो गये । श्रीरामके नेत्रोंसे अश्रुवर्षा हो रही [illegible] उन्होंने सब भाइयोंको हृदयसे लगाया और आसनोंपर [illegible] की आज्ञा दे इस प्रकार कहा—

[illegible]वन्तो मम सर्वस्वं भवन्तो जीवितं मम ।
[illegible]वद्भिश्च कृतं राज्यं पालयामि नरेश्वराः ॥
[illegible]वन्तः कृतशास्त्रार्था बुद्ध्या च परिनिष्ठिताः ।
[illegible]म्भूय च मदर्थोऽयमन्वेष्टव्यो नरेश्वराः ॥
(वा० रा०, उत्तर० ४४ । १९-२०)

'राजकुमारो ! तुमलोग मेरे सर्वस्व हो । तुम्हीं [illegible] जीवन हो और तुम्हारे द्वारा सम्पादित इस [illegible]का मैं पालन करता हूँ । नरेश्वरो ! तुम सभी [illegible]के ज्ञाता और उनमें बताये कर्तव्यका पालन [illegible]वाले हो । तुम्हारी बुद्धि भी परिपक्व है । इस [illegible] मैं जो कार्य तुम्हारे सामने उपस्थित करनेवाला हूँ, [illegible]ता तुम सबको मिलकर सम्पादन करना चाहिये ।'

[illegible]वं शृणुत भद्रं वो मा कुरुध्वं मनोऽन्यथा ।
[illegible]राणां मम सीतायां यादृशी वर्तते कथा ॥
[illegible]रापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
[illegible]र्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति ॥

अहं किल कुले जात इक्ष्वाकूणां महात्मनाम् ।
सीतापि सत्कुले जाता जनकानां महात्मनाम् ॥
जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥
प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा ।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
चन्द्रादित्यौ च शंसेते सुराणां संनिधौ पुरा ॥
ऋषीणां चैव सर्वेषामपापां जनकात्मजाम् ।
एवं शुद्धसमाचारा देवगन्धर्वसंनिधौ ॥
लङ्काद्वीपे महेन्द्रेण मम हस्ते निवेशिता ।
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ॥
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ।
अयं तु मे महान् वादः शोकश्च हृदि वर्तते ॥
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् ॥
पतत्येवाधमाँल्लोकान् यावच्छब्दः प्रकीर्त्यते ।
अकीर्तिर्निन्द्यते देवैः कीर्तिर्लोकेषु पूज्यते ॥
कीर्त्यर्थं तु समारम्भः सर्वेषां सुमहात्मनाम् ।
अप्यहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभाः ॥
अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ।
तस्माद् भवन्तः पश्यन्तु पतितं शोकसागरे ॥
नहि पश्याम्यहं भूतं किंचिद् दुःखमतोऽधिकम् ।
श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ॥
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ।
गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः ॥
आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः ।
तत्रैतां विजने देशे विसृज्य रघुनन्दन ॥
शीघ्रमागच्छ सौमित्रे कुरुष्व वचनं मम ।
न चास्मि प्रतिवक्तव्यः सीतां प्रति कथंचन ॥

*

तस्मात् त्वं गच्छ सौमित्रे नात्र कार्या विचारणा ।
अप्रीतिर्हि परा मह्यं त्वयैतत् प्रतिवारिते ॥
शापिता हि मया यूयं पादाभ्यां जीवितेन च ।
ये मां वाक्यान्तरे ब्रूयुरनुनेतुं कथंचन ॥
अहिता नाम ते नित्यं मदभीष्टविघातनात् ।
मानयन्तु भवन्तो मां यदि मच्छासने स्थिताः ॥
इतोऽद्य नीयतां सीता कुरुष्व वचनं मम ।
पूर्वमुक्तोऽहमनया गङ्गातीरेऽहमाश्रमान् ॥
पश्येयमिति तस्याश्च कामः संवर्त्यतामयम् ।
(वा० रा०, उत्तर० ४५ । २—२३½)

'बन्धुओ ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम सब लोग मेरी बात सुनो । मनको इधर-उधर न ले जाओ । पुरवासियोंके यहाँ मेरे और सीताके विषयमें जैसी चर्चा चल रही है, उसीको बता रहा हूँ । इस समय पुरवासियों और जनपदके लोगोंमें सीताके सम्बन्धमें महान् अपवाद फैला हुआ है । मेरे प्रति भी उनका बड़ा घृणापूर्ण भाव है । उन सबकी वह घृणा मेरे मर्मस्थलको विदीर्ण किये देती है । मैं इक्ष्वाकुवंशी महात्मा नरेशोंके कुलमें उत्पन्न हुआ हूँ । सीताने भी महात्मा जनकोंके उत्तम कुलमें जन्म लिया है । सौम्य लक्ष्मण ! तुम तो यह जानते ही हो कि किस प्रकार रावण निर्जन दण्डकारण्यसे उन्हें हरकर ले गया था और मैंने उसका विध्वंस भी कर डाला । उसके बाद लङ्कामें ही जानकीके विषयमें मेरे अन्तःकरणमें यह विचार उत्पन्न हुआ था कि इनके इतने दिनोंतक यहाँ रह लेनेपर भी मैं इन्हें राजधानीमें कैसे ले जा सकूँगा । सुमित्राकुमार ! उस समय अपनी पवित्रताका विश्वास दिलानेके लिये सीताने तुम्हारे सामने ही अग्निमें प्रवेश किया था और देवताओंके समक्ष स्वयं अग्निदेवने उन्हें निर्दोष बताया था । आकाशचारी वायु, चन्द्रमा और सूर्यने भी उस समय देवताओं तथा समस्त ऋषियोंके समीप जनकनन्दिनीको निष्पाप घोषित किया था । इस प्रकार विशुद्ध आचारवाली सीताको देवताओं और गन्धर्वोंके समीप साक्षात् देवराज इन्द्रने लङ्काद्वीपके अंदर मेरे हाथमें सौंपा था । मेरी अन्तरात्मा भी यशस्विनी सीताको शुद्ध समझती है । इसीलिये मैं इन विदेहनन्दिनीको साथ लेकर अयोध्या आया था । परंतु अब यह महान् अपवाद फैलने लगा है । पुरवासियों और जनपदके लोगोंमें मेरी बड़ी निन्दा हो रही है । इसके लिये मेरे हृदयमें बड़ा शोक है । जिस किसी भी प्राणीकी अपकीर्ति लोकमें सबकी चर्चाका विषय बन जाती है, वह अधम लोकों (नरकों) में गिर जाता है और जबतक उस अपयशकी चर्चा होती है, तबतक वहीं पड़ा रहता है । देवगण लोकोंमें अपकीर्तिकी निन्दा और कीर्तिकी प्रशंसा करते हैं । समस्त श्रेष्ठ महात्माओंका सारा शुभ आयोजन उत्तम कीर्तिकी स्थापनाके लिये ही होता है । नरश्रेष्ठ बन्धुओ ! मैं लोकनिन्दाके भयसे अपने प्राणोंको और तुम सबको भी त्याग सकता हूँ, फिर सीताको त्यागना कौन बड़ी बात है ? अतः तुमलोग मेरी ओर देखो । मैं शोकके समुद्रमें गिर गया हूँ । इससे बढ़कर कभी कोई दुःख मुझे उठाना पड़ा हो, इसकी मुझे याद नहीं है । अतः सुमित्राकुमार ! कल सबेरे तुम सारथि सुमन्त्रके द्वारा संचालित रथपर आरूढ़ हो सीताको भी उसीपर चढ़ाकर इस राज्यकी सीमाके बाहर छोड़ दो । गङ्गाके उस पार तमसाके तटपर महात्मा वाल्मीकि मुनिका दिव्य आश्रम है । रघुनन्दन ! उस आश्रमके निकट निर्जन वनमें तुम सीताको छोड़कर शीघ्र लौट आओ । सुमित्रानन्दन ! मेरी इस आज्ञाका पालन करो । सीताके विषयमें मुझसे किसी तरह कोई दूसरी बात तुम्हें नहीं कहनी चाहिये । इसलिये लक्ष्मण ! अब तुम जाओ । इस विषयमें कोई सोच-विचार न करो । यदि मेरे इस निश्चयमें तुमने किसी प्रकारकी अड़चन डाली तो मुझे महान् कष्ट होगा । मैं तुम्हें अपने चरणों और

जीवनकी शपथ दिलाता हूँ, मेरे निर्णयके विरुद्ध कुछ न कहना। जो मेरे इस कथनके बीचमें कूदकर किसी प्रकार मुझसे अनुनय-विनयके रूपमें कुछ कहेंगे, वे मेरे अभीष्ट कार्यमें बाधा डालनेके कारण सदाके लिये मेरे शत्रु होंगे। यदि तुमलोग मेरा सम्मान करते हो और मेरी आज्ञामें रहना चाहते हो तो अब सीताको यहाँसे वनमें ले जाओ। मेरी इस आज्ञाका पालन करो। सीताने पहले मुझसे कहा था कि मैं गङ्गातटपर ऋषियोंके आश्रम देखना चाहती हूँ; अतः उनकी यह इच्छा भी पूर्ण की जाय।'

सीताजीको वनमें छोड़कर राजमहलके द्वारपर रथसे उतरकर वे नरश्रेष्ठ लक्ष्मण नीचे मुख किये दुखी मनसे बेरोक-टोक भीतर चले गये। उन्होंने देखा श्रीरघुनाथजी दुखी होकर एक सिंहासनपर बैठे हैं और उनके दोनों नेत्र आँसुओंसे भरे हैं। इस अवस्थामें बड़े भाईको सामने देख दुखी मनसे लक्ष्मणने उनके दोनों पैर पकड़ लिये और हाथ जोड़, चित्तको एकाग्र करके वे दीन वाणीमें बोले—'वीर महाराज! आपकी आज्ञा शिरोधार्य करके मैं उन शुभ आचारवाली, यशस्विनी जनककिशोरी सीताको गङ्गातटपर वाल्मीकिके शुभ आश्रमके समीप निर्दिष्ट स्थानमें छोड़कर पुनः आपके श्रीचरणोंकी सेवाके लिये यहाँ लौट आया हूँ। पुरुषसिंह! आप शोक न करें। कालकी ऐसी ही गति है। आप-जैसे बुद्धिमान् और मनस्वी मनुष्य शोक नहीं करते। नरेश्वर! जिस अपवादके भयसे आपने मिथिलेशकुमारीका त्याग किया है, निस्संदेह वह अपवाद इस नगरमें फिर होने लगेगा (लोग कहेंगे कि दूसरेके घरमें रही हुई स्त्रीका त्याग करके ये रात-दिन उसीकी चिन्तासे दुखी रहते हैं)। अतः पुरुषसिंह! आप धैर्यसे चित्तको एकाग्र करके इस दुर्बल शोक-बुद्धिका त्याग करें, संतप्त न हों।' महात्मा लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर मित्रवत्सल श्रीरघुनाथजीने बड़ी प्रसन्नताके साथ उन सुमित्राकुमारसे कहा—

एवमेतन्नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण।
परितोषश्च मे वीर मम कार्यानुशासने॥
निवृत्तिश्चागता सौम्य संतापश्च निराकृतः।
भवद्वाक्यैः सुरुचिरैरनुनीतोऽसि लक्ष्मण॥

(वा० रा०, उत्तर० ५२। १८-१९)

'नरश्रेष्ठ वीर लक्ष्मण! तुम जैसा कहते हो, ठीक ऐसी ही बात है। तुमने मेरे आदेशका पालन किया, इससे मुझे बड़ा संतोष है। सौम्य लक्ष्मण! अब मैं दुःखसे निवृत्त हो गया। संतापको मैंने हृदयसे निकाल दिया और तुम्हारे सुन्दर वचनोंसे मुझे बड़ी शान्ति मिली है।'

सबसे उलझा प्रसङ्ग है यह और कदाचित् ही मनुष्यका ध्यान जाता है कि श्रीराम और सीता परस्पर अभिन्न हैं। श्रीराम यदि सीताका त्याग करते हैं तो जो दुःख श्रीजानकीको होता है, उससे कम दुःख श्रीरघुनाथको नहीं होता।

एक आदर्श शासक प्रजाकी तुष्टिके लिये, प्रजा भ्रमवश आदर्शच्युत न हो, इसके लिये कितना महान् त्याग कर सकता है—इसका यह उदाहरण है।

इस लीलाका रहस्य अध्यात्मरामायणके श्रीमुख-वचनोंसे स्पष्ट हो जाता है। एकान्तमें श्रीरघुनाथ श्रीजनककुमारीसे कहते हैं—

देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते।
कल्पयित्वा मिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥
त्यजामि त्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः।
भविष्यतः कुमारौ द्वौ वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
इदानीं दृश्यते गर्भः पुनरागत्य मेऽन्तिकम्।
लोकानां प्रत्ययार्थं त्वं कृत्वा शपथमादरात्॥
भूमेर्विवरमात्रेण वैकुण्ठं यास्यसि द्रुतम्।
पश्चादहं गमिष्यामि एष एव सुनिश्चयः॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ४। ४१-४४)

'देवि! मैं यह सब जानता हूँ। उसके लिये मैं तुम्हें उपाय बतलाता हूँ। मैं तुमसे सम्बन्ध रखनेवाले लोकापवादके मिषसे तुम्हें लोकनिन्दासे डरनेवाले अन्य

पुरुषोंके समान वनमें त्याग दूँगा। वहाँ श्रीवाल्मीकिजीके आश्रमके पास तुम्हारे दो बालक होंगे। इस समय तुम्हारे शरीरमें गर्भावस्थाके चिह्न दिखायी दे रहे हैं। (बालकोंके उत्पन्न होनेपर) तुम मेरे पास फिर आओगी और लोकोंकी प्रतीतिके लिये आदरपूर्वक शपथ करके तुरंत ही पृथ्वीके (फटनेपर उसके) छिद्रद्वारा वैकुण्ठमें चली जाओगी। पीछे मैं भी वहाँ आ जाऊँगा; बस, अब यही निश्चय रहा।'

कथाप्रसङ्गात्पप्रच्छ रामो विजयनामकम्।
पौरा जानपदा मे किं वदन्तीह शुभाशुभम्॥
सीतां वा मातरं वा मे भ्रातृन्वा कैकयीमथ।
न भेतव्यं त्वया ब्रूहि शापितोऽसि ममोपरि॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ४। ४७-४८)

यह सब करके तब लोकलीला करते हुए भगवान् श्रीरामने प्रसङ्गवश विजय नामक एक दूतसे पूछा—'मेरे, सीताके, मेरी माता और भाइयोंके अथवा कैकेयीके विषयमें पुरवासी लोग क्या कहते हैं? मैं तुम्हें अपनी शपथ देता हूँ, तुम भय न करके सच-सच कहना।'

दूतने सीताके अपवादकी चर्चा की।

श्रुत्वा तद्वचनं रामः स्वजनान्पर्यपृच्छत।
तेऽपि नत्वाब्रुवन् राममेवमेतन्न संशयः॥
ततो विसृज्य सचिवान्विजयं सुहृदस्तथा।
आहूय लक्ष्मणं रामो वचनं चेदमब्रवीत्॥
लोकापवादस्तु महान्सीतामाश्रित्य मेऽभवत्।
सीतां प्रातः समानीय वाल्मीकेराश्रमान्तिके॥
त्यक्त्वा शीघ्रं रथेन त्वं पुनरायाहि लक्ष्मण।
वक्ष्यसे यदि वा किंचित्तदा मां हतवानसि॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ४। ५३—५६)

उसके ये वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपने आत्मीयोंसे पूछा। उन्होंने भी श्रीरघुनाथजीको प्रणाम करके यही कहा कि निस्संदेह ऐसी ही बात है। तब श्रीरामचन्द्रजीने मन्त्रीगण, विजय और अपने सुहृदोंको विदाकर श्रीलक्ष्मणजीको बुलाया और उनसे इस प्रकार कहने लगे—'भैया लक्ष्मण! सीताके कारण मेरी बड़ी लोकनिन्दा हो रही है। अतः तुम कल सवेरे ही सीताको रथपर चढ़ाकर वाल्मीकि मुनिके आश्रमके समीप छोड़ आओ। इस विषयमें यदि तुम कुछ कहोगे तो मानो मेरी हत्या ही करोगे।'

इस प्रकार श्रीजानकीको लक्ष्मण वाल्मीकि-आश्रमके समीप छोड़ आये। वहाँ लव-कुशकी उत्पत्ति हुई। लव-कुशके रामायण-गानने सबको आकृष्ट किया। कुमारोंका परिचय पाकर श्रीरामने महर्षि वाल्मीकिको बुलानेका आदेश देते हुए कुमार शत्रुघ्नको आज्ञा दी—

भगवन्तं महात्मानं वाल्मीकिं मुनिसत्तमम्।
आनयध्वं मुनिवरं ससीतं देवसम्मितम्॥
अस्यास्तु पर्षदो मध्ये प्रत्ययं जनकात्मजा।
करोतु शपथं सर्वे जानन्तु गतकल्मषाम्॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ७। १७-१८)

'देवतुल्य महानुभाव मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीवाल्मीकि मुनिको सीताजीके सहित लाओ। इस सभामें जानकी-जी सबको विश्वास करानेके लिये शपथ करें, जिससे सब लोग सीताको निष्कलङ्क जान जायँ।'

शपथका नर-नाट्य होना था, वह तो हुआ; किंतु महर्षिके यह कहनेपर कि जानकी पवित्र हैं, श्रीरघुनाथजीने उन्हें स्वीकार किया—

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि सुव्रत।
प्रत्ययो जनितो मह्यं तव वाक्यैरकिल्बिषैः॥
लङ्कायामपि दत्तो मे वैदेह्या प्रत्ययो महान्।
देवानां पुरतस्तेन मन्दिरे सम्प्रवेशिता॥
सेयं लोकभयाद्ब्रह्मन्नपापापि सती पुरा।
सीता मया परित्यक्ता भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति॥

ममैव जातौ जानामि पुत्रावेतौ कुशीलवौ।
शुद्धायां जगतीमध्ये सीतायां प्रीतिरस्तु मे॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ७। ३४—३७)

'हे महाप्राज्ञ! हे सुव्रत! आप जैसा कहते हैं, बात ऐसी ही है। मुझे तो आपके निर्दोष वाक्योंसे ही विश्वास हो गया। जानकीजीने लङ्कामें भी देवताओंके सामने बड़ी विकट परीक्षा दी थी, इसीलिये मैंने उन्हें अपने घरमें रख लिया था। किंतु हे ब्रह्मन्! उन्हीं सती सीताजीको सर्वथा निर्दोष होते हुए भी मैंने लोकनिन्दाके भयसे कुछ दिन हुए छोड़ दिया, मेरा यह अपराध आप क्षमा करें। मैं यह भी जानता हूँ कि ये दोनों पुत्र कुश और लव मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं; संसारमें परम साध्वी सीताके प्रति मेरी प्रीति हो।'

श्रीरामके आदेशसे अश्वमेध यज्ञकी तैयारी हुई। नैमिषारण्यमें बड़े समारोहके साथ यज्ञका अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ। उस यज्ञमें महर्षि वाल्मीकिका भी आगमन हुआ और उन्होंने लवकुशको रामायण-गानके लिये आदेश दिया। श्रीरामने भरी सभामें वह गान सुना। श्रीरामने सीतासे उनकी शुद्धता प्रमाणित करनेके लिये शपथ करानेका विचार किया। महर्षि वाल्मीकि स्वयं जाकर सीताको अपने साथ ले आये और उन्होंने पहले स्वयं ही शपथपूर्वक सीताकी शुद्धताका समर्थन किया। वाल्मीकिजीके यों कहनेपर श्रीरघुनाथजी जन-समुदायके बीच हाथ जोड़कर बोले—

एवमेतन्महाभाग यथा वदसि धर्मवित्।
प्रत्ययस्तु मम ब्रह्मंस्तव वाक्यैरकल्मषैः॥
प्रत्ययश्च पुरा वृत्तो वैदेह्याः सुरसंनिधौ।
शपथश्च कृतस्तत्र तेन वेश्म प्रवेशिता॥
लोकापवादो बलवान् येन त्यक्ता हि मैथिली।
सेयं लोकभयाद् ब्रह्मन्नपापेत्यभिजानता।
परित्यक्ता मया सीता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति॥
जानामि चेमौ पुत्रौ मे यमजातौ कुशीलवौ।
शुद्धायां जगतो मध्ये मैथिल्यां प्रीतिरस्तु मे॥
(वा० रा०, उत्तर० ९७। २-५)

'महाभाग! आप धर्मके ज्ञाता हैं। सीताके सम्बन्धमें आप जैसा कह रहे हैं, वह सब ठीक है। ब्रह्मन्! आपके इन निर्दोष वचनोंसे मुझे जनकनन्दिनीकी शुद्धतापर पूरा विश्वास हो गया है। एक बार पहले भी देवताओंके समीप विदेहकुमारीकी शुद्धताका विश्वास मुझे प्राप्त हो चुका है। उस समय सीताने अपनी शुद्धिके लिये शपथ की थी, जिसके कारण मैंने इन्हें अपने भवनमें स्थान दिया। किंतु आगे चलकर फिर बड़े जोरका लोकापवाद उठा, जिससे विवश होकर मुझे मिथिलेशकुमारीका त्याग करना पड़ा। ब्रह्मन्! यह जानते हुए भी कि सीता सर्वथा निष्पाप हैं, मैंने केवल समाजके भयसे इन्हें छोड़ दिया था; अतः आप मेरे इस अपराधको क्षमा करें। मैं यह भी जानता हूँ कि ये जुड़वे उत्पन्न हुए कुमार कुश और लव मेरे ही पुत्र हैं; तथापि जनसमुदायमें शुद्ध प्रमाणित होनेपर ही मिथिलेशकुमारीमें मेरा प्रेम हो सकता है।'

श्रीरामके अभिप्रायको समझकर सीताके शपथके समय समस्त देवता और ऋषि वहाँ आ पहुँचे। उस समय श्रीरामने फिर कहा—

प्रत्ययो मे सुरश्रेष्ठ ऋषिवाक्यैरकल्मषैः।
शुद्धायां जगतो मध्ये वैदेह्यां प्रीतिरस्तु मे॥
(वा० रा०, उत्तर० ९७। १०)

'सुरश्रेष्ठगण! यद्यपि मुझे महर्षि वाल्मीकिके निर्दोष वचनोंसे ही पूरा विश्वास हो गया है, तथापि जनसमाजके बीच विदेहकुमारीकी विशुद्धता प्रमाणित हो जानेपर मुझे अधिक प्रसन्नता होगी।'

उस समय सीताजी तपस्वियोंके अनुरूप गेरुआ वस्त्र धारण किये हुए थीं। सबको उपस्थित जानकर वे दृष्टि और मुँहको नीचे किये हाथ जोड़कर बोलीं—

'मैं श्रीरघुनाथजीके सिवा दूसरे किसी पुरुषका (स्पर्श तो दूर रहा) मनसे चिन्तन भी नहीं करती; यदि यह सत्य है तो भगवती पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोदमें स्थान

दें। यदि मैं मन, वाणी और क्रियाके द्वारा केवल श्रीरामकी ही आराधना करती हूँ तो भगवती पृथ्वी देवी मुझे अपनी गोदमें स्थान दें। भगवान् श्रीरामको छोड़कर मैं दूसरे किसी पुरुषको नहीं जानती—मेरी कही हुई यह बात यदि सत्य हो तो भगवती पृथ्वीदेवी मुझे अपनी गोदमें स्थान दें।'*

विदेहकुमारीके इस प्रकार शपथ करते ही भूतलसे एक अद्भुत सिंहासन प्रकट हुआ, जिसे महापराक्रमी नागोंने अपने मस्तकपर उठा रक्खा था। धरतीकी अधिष्ठातृ-देवीने सशरीर प्रकट होकर मिथिलेशकुमारीको गोदमें उठा लिया और स्वागतपूर्वक उनका अभिनन्दन करके उन्हें उस सिंहासनपर बिठा दिया। सिंहासनके साथ सीताको रसातलमें प्रवेश करती देख आकाशसे उनपर दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगी। देवता 'साधु-साधु' कहकर उनके शीलकी प्रशंसा करने लगे। उस समय श्रीराम सिर झुकाये दुखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे तथा देरतक रोकर इस प्रकार बोले—

अभूतपूर्वं शोकं मे मनः स्प्रष्टुमिवेच्छति।
पश्यतो मे यथा नष्टा सीता श्रीरिव रूपिणी॥
सादर्शनं पुरा सीता लङ्कां पारे महोदधेः।
ततश्चापि मयाऽऽनीता किं पुनर्वसुधातलात्॥
वसुधे देवि भवति सीता निर्यात्यतां मम।
दर्शयिष्यामि वा रोषं यथा मामवगच्छसि॥
कामं श्वश्रूर्ममैव त्वं त्वत्सकाशात् तु मैथिली।
कर्षता फालहस्तेन जनकेनोद्धृता पुरा॥
तस्मान्निर्यात्यतां सीता विवरं वा प्रयच्छ मे।
पाताले नाकपृष्ठे वा वसेयं सहितस्तया॥
आनय त्वं हि तां सीतां मत्तोऽहं मैथिलीकृते।
न मे दास्यसि चेत् सीतां यथारूपां महीतले॥
सपर्वतवनां कृत्स्नां विधमिष्यामि ते स्थितिम्।
नाशयिष्याम्यहं भूमिं सर्वमापो भवन्त्विह॥

(वा० रा०, उत्तर० ९८। ४-१०)

'आज मेरा मन अभूतपूर्व शोकमें डूबना चाहता है; क्योंकि इस समय मेरी आँखोंके सामनेसे मूर्तिमती लक्ष्मीके समान सीता अदृश्य हो गयीं। पहली बार सीता समुद्रके पार लङ्कामें जाकर मेरी आँखोंसे ओझल हुई थीं। किंतु जब मैं वहाँसे भी उन्हें लौटा लाया, तब पृथ्वीके भीतरसे ले आना कौन बड़ी बात है?' (यों कहकर वे पृथ्वीसे बोले—) 'पूजनीये भगवति वसुंधरे! मुझे सीताको लौटा दो; अन्यथा मैं अपना क्रोध दिखाऊँगा। मेरा प्रभाव कैसा है, यह तुम जानती हो। देवि! वास्तवमें तुम्हीं मेरी सास हो। राजा जनक हाथमें फाल लिये तुम्हींको जोत रहे थे, जिससे तुम्हारे भीतरसे सीताका प्रादुर्भाव हुआ। अतः या तो तुम सीताको लौटा दो अथवा मेरे लिये भी अपनी गोदमें जगह दो; क्योंकि पाताल हो या स्वर्ग, मैं सीताके साथ ही रहूँगा। तुम मेरी सीताको लाओ! मैं मिथिलेशकुमारीके लिये मतवाला (बेसुध) हो गया हूँ। यदि इस पृथ्वीपर तुम उसी रूपमें सीताको मुझे लौटा नहीं दोगी तो मैं पर्वत और वन-सहित तुम्हारी स्थितिको नष्ट कर दूँगा, सारी भूमिका विनाश कर डालूँगा, फिर भले ही सब कुछ जलमय ही हो जाय।'

उस समय ब्रह्माजीने श्रीरामको समझाते हुए कहा—'सीता साकेत धाममें चली गयीं। अब वहीं उनसे आपकी भेंट होगी। रघुनन्दन! आप एकाग्र-चित्त हो भविष्यकी घटनाओंसे युक्त शेष रामायण-काव्यको भी सुन लीजिये।' यों कहकर ब्रह्माजी अपने धाममें चले गये। तदनन्तर श्रीरामने शेष रामायण-काव्यका श्रवण किया। वैदेहीके

---

* यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात् परं न च।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति॥
(वा० रा०, उत्तर० ९७। १४-१६)

बिना उन्हें यह सारा जगत् सूना दिखायी देने लगा। उन्होंने यज्ञमें पधारे हुए सभी अतिथियोंको विदा कर दिया और यज्ञकी समाप्ति करके वे अयोध्यामें चले आये। दोनों पुत्र उनके साथ रहे। सीताके अतिरिक्त दूसरी किसी स्त्रीके साथ उन्होंने विवाह नहीं किया। प्रत्येक यज्ञमें जब धर्मपत्नीकी आवश्यकता होती, तब श्रीरघुनाथजी सीताकी स्वर्णमयी प्रतिमा बनवा लिया करते थे। उनका समय यज्ञ एवं धर्मके अनुष्ठानमें ही व्यतीत होता था।

लोग अपने पुत्र—अपनी संतानको राज्य-धन-पद देनेके फेरमें क्या-क्या अनर्थ नहीं करते। अयोध्याका साम्राज्य सदासे ज्येष्ठ पुत्रको प्राप्त होता आया था। श्रीरामका अभिषेक होना था, तब उन्हें यह रीति प्रिय नहीं लगी थी। उनका मन्तव्य था—

विमल बंस यह अनुचित एकू।
बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू॥

उस समय तो वे पिता-परवश थे; किंतु जब उन्हें स्वयं अपना उत्तराधिकारी निश्चित करना हुआ, उन्होंने चारों भाइयोंके पुत्रोंमें राज्यको समान विभाजित किया।

श्रीरामके राज्यमें मेघ समयपर वर्षा करते एवं सदा सुकाल ही रहता था। कभी अकाल नहीं पड़ता था। सम्पूर्ण दिशाएँ प्रसन्न दिखायी देती थीं। नगर और जनपद हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे रहते थे। श्रीरामके राज्यशासन करते समय किसीकी अकाल-मृत्यु नहीं होती थी। प्राणियोंको कोई रोग नहीं सताता था और संसारमें कोई उपद्रव नहीं खड़ा होता था। इसके बाद दीर्घकाल व्यतीत होनेपर पुत्र-पौत्रोंसे घिरी हुई राममाता कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी तथा अन्य सब माताएँ जीवनकालमें नाना प्रकारके धर्मका अनुष्ठान करके साकेत धामको प्राप्त हुईं और राजा दशरथके साथ जा मिलीं। कुछ कालके बाद केकयदेशसे ब्रह्मर्षि गार्ग्य बहुत-सी भेंट-सामग्री लेकर आये। उन्होंने केकयराजका संदेश सुनाया और तदनुसार श्रीरामकी आज्ञासे कुमारों-सहित भरत गान्धर्व देशपर आक्रमण करनेके लिये गये। उस देशपर विजय प्राप्त करके उन्होंने वहाँ दो सुन्दर नगर बसाये—तक्षशिला और पुष्कलावती। तक्षशिलामें अपने पुत्र तक्षको और पुष्कलावतीमें पुष्कलको अभिषिक्त करके भरत अयोध्या लौट आये। तदनन्तर श्रीराघवेन्द्र अपने भाइयोंसे बोले—

इमौ कुमारौ सौमित्रे तव धर्मविशारदौ।
अङ्गदश्चन्द्रकेतुश्च राज्यार्थे दृढविक्रमौ॥
इमौ राज्येऽभिषेक्ष्यामि देशः साधु विधीयताम्।
रमणीयो ह्यसम्बाधो रमेतां यत्र धन्विनौ॥
न राज्ञां यत्र पीडा स्यान्नाश्रमाणां विनाशनम्।
स देशो दृश्यतां सौम्य नापराध्यामहे यथा॥

(वा० रा०, उत्तर० १०२। २-४)

'सुमित्रानन्दन! तुम्हारे ये दोनों कुमार अङ्गद और चन्द्रकेतु धर्मके ज्ञाता हैं। इनमें राज्यकी रक्षाके लिये उपयुक्त दृढ़ता और पराक्रम है। अतः मैं इनका भी राज्याभिषेक करूँगा। तुम इनके लिये किसी अच्छे देशका चुनाव करो, जो रमणीय होनेके साथ ही विघ्न-बाधाओंसे रहित हो और जहाँ ये दोनों धनुर्धर वीर आनन्दपूर्वक रह सकें। सौम्य! ऐसा देश देखो, जहाँ निवास करनेसे दूसरे राजाओंको पीड़ा या उद्वेग न हो, आश्रमोंका भी नाश न करना पड़े और हमलोगोंको किसीकी दृष्टिमें अपराधी भी न बनना पड़े।'

श्रीरामके यों कहनेपर भरतने कारुपथ नामक देशमें अङ्गदके लिये अङ्गदीपा और चन्द्रकेतुके लिये चन्द्रकान्ता नगरी बसानेका विचार प्रकट किया। श्रीरामने इसके लिये स्वीकृति दे दी। फिर भरत और लक्ष्मणने उस देशपर विजय पाकर पूर्वनिश्चयके अनुसार अङ्गद और चन्द्रकेतुको उन राजधानियोंमें अभिषिक्त कर दिया। फिर वे दोनों भाई श्रीरामकी सेवामें लौट आये।

श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम

अयोध्यामें महाराज दशरथके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेककी तैयारी बड़ी धूमधामसे की जा रही थी। उन्होंने सुमन्त्रको भेजकर श्रीरामको अपने पास बुलवाया और कहा—'बेटा! तुम जेठी रानीके गर्भसे उत्पन्न मेरे ज्येष्ठ पुत्र तो हो ही, गुणोंमें भी ज्येष्ठ (सबसे बढ़े-चढ़े) हो। तुमने अपने गुणोंसे समस्त प्रजाको प्रसन्न कर लिया है। अतः पुष्य नक्षत्रके योगमें अपना युवराज-पदपर अभिषेक करा लो। यद्यपि तुम स्वभावसे ही सदाचारी, संयमी और समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न हो, तथापि मैं स्नेहवश तुम्हारे हितकी बात बता रहा हूँ। तुम अधिकाधिक विनयका आश्रय ले अपनी इन्द्रियोंको सदा वशमें रखना। काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले व्यसनोंको त्याग देना। परोक्ष तथा प्रत्यक्ष वृत्तिसे अमात्य आदि सम्पूर्ण प्रजाओंको प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करना। जो अमात्य आदि समस्त प्रकृतियोंका अभीष्ट, प्रीतिपात्र और स्नेह-भाजन बनकर पृथ्वीका पालन करता है, उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दके भागी होते हैं, जैसे अमृत पाकर देवता प्रसन्न हुए थे।'

श्रीरामके मित्रोंने यह शुभ संवाद सुनकर माता कौसल्याको शीघ्र ही इसकी सूचना दी। माताने वह प्रिय संवाद सुनानेवालोंको सुवर्ण, रत्न एवं गौएँ प्रदान कीं। राजा दशरथने अन्तःपुरमें जानेके पश्चात् पुनः सुमन्त्रको भेजकर श्रीरामचन्द्रजीको बुलवाया और कहा—'वत्स! मैं बूढ़ा हुआ। दीर्घकालतक मनोवाञ्छित भोग भोगे। बहुत-से यज्ञ किये। मुझे तुम-जैसा अनुपम पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। दान, यज्ञ और स्वाध्याय सब मैंने कर लिये। मेरे सारे ऋण उतर गये। मेरे लिये अब कुछ भी करना शेष नहीं रहा। अब तो एक ही इच्छा है—तुम्हारा युवराज-पदपर अभिषेक हो जाय। समस्त प्रजाजनोंकी भी यही अभिलाषा है। कल ही यह शुभ कार्य सम्पन्न हो जाना चाहिये। गत रात्रिमें मैंने बड़े बुरे सपने देखे हैं। उन स्वप्नोंके अनुसार इस देशके राजाकी मृत्युतक हो सकती है। अतः जबतक मेरी चेतना लुप्त नहीं हो जाती, तबतक ही तुम अपना अभिषेक करा लो; क्योंकि प्राणियोंकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। इसलिये इसी समयसे लेकर तुम संयम-नियमका पालन आरम्भ कर दो। आजकी रातमें मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए तुम बहू सीताके साथ उपवास करो और कुशकी चटाईपर सोओ। ऐसे कार्योंमें बहुत-से विघ्न आते हैं। तुम्हारे सुहृद् तुम्हारी रक्षा करें। अच्छा, जाओ।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीराम माताके अन्तःपुरमें आये। माता कौसल्या रेशमी साड़ी पहने मौनभावसे देवमन्दिरमें लक्ष्मीकी अभ्यर्थना कर रही थीं। सुमित्रा और लक्ष्मण उनकी सेवामें पहलेसे ही उपस्थित थे। बहू सीता भी बुला ली गयी थीं। श्रीरामने माताके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया और उनका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—

संयम और उपवासका पालन

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि।
भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः॥
सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह।
एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान् पिता॥
यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय॥

(वा० रा०, अयोध्या० ४। ३५-३७)

'माँ! पिताजीने मुझे प्रजापालनके कर्ममें नियुक्त किया है। कल मेरा अभिषेक होगा। जैसा कि मेरे लिये पिताजीका आदेश है, उसके अनुसार सीताको भी मेरे साथ इस रातमें उपवास करना होगा। उपाध्यायोंने ऐसी ही बात बतायी थी, जिसे पिताजीने मुझसे कहा है। अतः कल होनेवाले अभिषेकके निमित्तसे आज मेरे और सीताके लिये जो-जो मङ्गलकार्य आवश्यक हों, वे सब कराओ।'

श्रीरामके मुखसे यह चिरवाञ्छित समाचार सुनकर कौसल्याके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भर आये और वे उनसे बोलीं—'वत्स राम! तुम चिरजीवी होओ, तुम्हारे शत्रु शान्त हो जायँ। तुम माताओं एवं भाई-बन्धुओंको आनन्दित करो। तुमने अपने गुणोंसे पिताकी आराधना करके उन्हें

प्रसन्न कर लिया। इससे सिद्ध है कि मैंने तुम्हें किसी मङ्गलकारी नक्षत्रमें जन्म दिया था।'

माताकी यह अभिनन्दन-वाणी सुनकर श्रीरामने हाथ जोड़ विनीतभावसे बैठे हुए लक्ष्मणकी ओर देखा और मुस्कराते हुए-से कहा—

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम्।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता॥
सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये॥
(वा० रा०, अयोध्या० ४। ४३-४४)

'लक्ष्मण! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीके राज्यका शासन (पालन) करो। तुम मेरे द्वितीय अन्तरात्मा हो। यह राजलक्ष्मी तुम्हींको प्राप्त हो रही है। सुमित्रानन्दन! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यके श्रेष्ठ फलोंका उपभोग करो। तुम्हारे लिये ही मैं इस जीवन तथा राज्यकी अभिलाषा करता हूँ।'

किंतु विधाताको यह कहाँ स्वीकार था, दूसरे दिनका सूर्योदय भी नहीं हुआ कि अयोध्यापर कैकेयीका वरदान-रूपी वज्र आ पड़ा।

श्रीरामकी माता-पिताके प्रति भक्तिके कारण सर्वथा अदोष-दर्शन—अनसूय-दृष्टि

श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण सुमित्रा-कुमार लक्ष्मण मानसिक व्यथासे बहुत दुखी थे। उनके मनमें विशेष अमर्ष भरा हुआ था। वे रोषसे भरे हुए गजराजकी भाँति क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। अपने मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम धैर्यपूर्वक चित्तको निर्विकाररूपसे काबूमें रखते हुए अपने हितैषी सुहृद् प्रिय भाई लक्ष्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्।
अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम्॥
उपक्लृप्तं यदेतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम्।
सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम्॥
सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः॥
यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥
सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥
तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम्॥
अभिषेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः॥
मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः॥
मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम्॥
बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम्।
तं नु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि माचिरम्॥
कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥
(वा० रा०, अयोध्या० २२। ३—१६)

'लक्ष्मण! केवल धैर्यका आश्रय लेकर अपने मनके क्रोध और शोकको दूर करो, चित्तसे अपमानकी भावना निकाल दो और हृदयमें भलीभाँति हर्ष भरकर मेरे अभिषेकके लिये यह जो उत्तम सामग्री एकत्र की गयी है, इसे शीघ्र हटा दो और ऐसा कार्य करो, जिससे मेरे वनगमनमें बाधा उपस्थित न हो। सुमित्रानन्दन! अबतक अभिषेकके लिये सामग्री जुटानेमें जो तुम्हारा

उत्साह था, वही अब इसे रोकने और मेरे वन जानेकी तैयारी करनेमें होना चाहिये। मेरे अभिषेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे किसी तरहकी शङ्का न रह जाय, वही काम करो। लक्ष्मण! उसके मनमें संदेहके कारण दुःख उत्पन्न हो, इस बातको मैं दो घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता और न इसकी उपेक्षा ही कर सकता हूँ। मैंने यहाँ कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओंका अथवा पिताजीका कोई छोटा-सा भी अपराध किया हो, ऐसा याद नहीं आता। पिताजी सदा सत्यवादी और सत्य-पराक्रमी रहे हैं। वे परलोकके भयसे सदा डरते रहते हैं; इसलिये मुझे वही काम करना चाहिये, जिससे मेरे पिताजीका पारलौकिक भय दूर हो जाय। यदि इस अभिषेकसम्बन्धी कार्यको रोक नहीं दिया गया तो पिताजीको भी मन-ही-मन यह सोचकर संताप होगा कि मेरी बात सच्ची नहीं हुई और उनका वह मनस्ताप मुझे सदा संतप्त करता रहेगा। लक्ष्मण! इन्हीं सब कारणोंसे मैं अपने अभिषेकका कार्य रोककर शीघ्र ही इस नगरसे वनमें चला जाना चाहता हूँ। आज मेरे चले जानेसे कृतकृत्य हुई राजकुमारी कैकेयी अपने पुत्र भरतका निर्भय एवं निश्चिन्त होकर अभिषेक कराये। मैं वल्कल और मृगचर्म धारण करके सिरपर जटाजूट बाँधे जब वनमें चला जाऊँगा, तभी कैकेयीके मनको सुख प्राप्त होगा। जिस विधाताने कैकेयीको ऐसी बुद्धि प्रदान की है तथा जिसकी प्रेरणासे उसका मन मुझे वन भेजनेमें अत्यन्त दृढ़ हो गया है, उसे विफलमनोरथ करके कष्ट देना मेरे लिये उचित नहीं है। सुमित्रा-कुमार! मेरे इस प्रवासमें तथा पिताद्वारा दिये हुए राज्यके फिर हाथसे निकल जानेमें दैवको ही कारण समझना चाहिये। मेरी समझसे कैकेयीका यह विपरीत मनोभाव दैवका ही विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह मुझे वनमें भेजकर पीड़ा देनेका विचार क्यों करती ?'

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा॥
सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद् दैवात् समर्थये॥
कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा।
ब्रूयात् सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसंनिधौ॥
यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥
कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते॥
सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥
असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥
तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम्।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम्॥
एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्भृतैः।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति॥
अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति॥
मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः॥

न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने
माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-
ज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम्॥

(वा० रा०, अयोध्या० २२। १७—३०)

'सौम्य ! तुम तो जानते ही हो कि मेरे मनमें पहले भी कभी माताओंके प्रति भेदभाव नहीं हुआ और कैकेयी भी पहले मुझमें या अपने पुत्रमें कोई अन्तर नहीं समझती थी। मेरे अभिषेकको रोकने और मुझे वनमें भेजनेके लिये उसने राजाको प्रेरित करनेके निमित्त जिन भयंकर और कटुवचनोंका प्रयोग किया है, उन्हें साधारण मनुष्योंके लिये भी मुँहसे निकालना कठिन है। उसकी ऐसी चेष्टामें मैं दैवके सिवा दूसरे किसी कारणका समर्थन नहीं करता। यदि ऐसी बात न होती तो वैसे उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमारी कैकेयी एक साधारण स्त्रीकी भाँति अपने पतिके समीप मुझे पीड़ा देनेवाली बात कैसे कहती—मुझे कष्ट देनेके लिये रामको वनमें भेजनेका प्रस्ताव कैसे उपस्थित करती? जिसके विषयमें कभी कुछ सोचा न गया हो, वही दैवका विधान है। प्राणियोंमें अथवा उनके अधिष्ठाता देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो उस दैवके विधानको मेट सके; अतः निश्चय ही उसीकी प्रेरणासे मुझमें और कैकेयीमें यह भारी उलट-फेर हुआ है। सुमित्रानन्दन ! कर्मोंके सुख-दुःखादिरूप फल प्राप्त होनेपर ही जिसका ज्ञान होता है, कर्मफलसे अन्यत्र कहीं भी जिसका पता नहीं चलता, उस दैवके साथ कौन पुरुष युद्ध कर सकता है। सुख-दुःख, भय-क्रोध (क्षोभ), लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने परिणाम प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कर्म हैं। उग्र तपस्वी ऋषि भी दैवसे प्रेरित होकर अपने तीव्र नियमोंको छोड़ बैठते और काम-क्रोधके द्वारा विवश हो मर्यादासे भ्रष्ट हो जाते हैं। जो बात विना सोचे-विचारे अकस्मात् सिरपर आ पड़ती है और प्रयत्नोंद्वारा आरम्भ किये हुए कार्यको रोककर एक नया ही काण्ड उपस्थित कर देती है, अवश्य वह दैवका ही विधान है। इस तात्त्विक बुद्धिके द्वारा स्वयं ही [illegible] कर लेनेके कारण मुझे अपने अभिषेक[illegible] जानेपर भी दुःख या संताप नहीं हो रह[illegible] प्रकार तुम भी मेरे विचारका अनुसरण क[illegible] शून्य हो राज्याभिषेकके इस आयोजनको शी[illegible] दो। लक्ष्मण ! राज्याभिषेकके लिये सँजोकर इन्हीं सब कलशोंद्वारा मेरा तापस-व्रतके संब[illegible] आवश्यक स्नान होगा। अथवा राज्याभि[illegible] मङ्गल द्रव्यमय इस कलशजलकी मुझे क्या [illegible] है? स्वयं मेरे द्वारा अपने हाथसे निकाला [illegible] ही मेरे व्रतादेशका साधक होगा। लक्ष्मण [illegible] इस उलट-फेरके विषयमें तुम कोई चिन्ता न [illegible] लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान [illegible] विशेष विचार करनेपर वनवास ही महान् अ[illegible] प्रतीत होता है। लक्ष्मण ! मेरे राज्याभिषेकमें [illegible] आया है, इसमें मेरी सबसे छोटी माता कारण [illegible] शङ्का ही नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह दैव[illegible] थी। इसी प्रकार पिताजी भी किसी तरह इस[illegible] नहीं हैं। तुम तो दैव और उसके अद्भुत [illegible] जानते ही हो, वही कारण है।'

श्रीरामने लक्ष्मणको समझा-बुझाकर शान्त कि[illegible] कहा—'सौम्य ! मुझे तो माता-पिताके आज्ञा-पा[illegible] दृढ़तापूर्वक स्थित समझो।'

भाईसे यों कहकर श्रीरघुनाथजी जनक[illegible] विदा लेने अपने भवनमें गये। लक्ष्मणने उनका [illegible] किया। वहाँ श्रीराम तथा सीताका संवाद सुनकर [illegible] मुखमण्डल आँसुओंसे भीग गया। भाईके विरहव[illegible] अब उनके लिये भी असह्य हो चुका। उन्होंने [illegible] चरण पकड़ लिये और कहा—'आर्य ! यदि आप[illegible] जानेका निश्चय कर ही लिया है तो मैं भी आपके [illegible] चलूँगा। आपके विना स्वर्ग, अमरत्व तथा ईश्वर[illegible] भी मुझे नहीं चाहिये।' लक्ष्मणकी यह बात सुनकर [illegible] उन्हें सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा समझाया और वनमें

मना किया—इतनेपर भी लक्ष्मण अपने संकल्पसे विरत नहीं हुए, तब महातेजस्वी श्रीरामने उनसे कहा—

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे ॥
मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥
अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥
सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥
न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥
तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥
एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥
एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ३१ । १०—१७)

'लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर-वीर तथा सदा सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो । मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले आज्ञापालक और सखा हो । सुमित्रानन्दन ! यदि आज मेरे साथ तुम भी वनको चल दोगे तो परमयशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्राकी सेवा कौन करेगा ? जैसे मेघ पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार जो सबकी कामनाएँ पूर्ण करते थे, वे महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयीके प्रेमपाशमें बँध गये हैं । केकयराज अश्वपतिकी पुत्री कैकेयी महाराजके इस राज्यको पाकर मेरे वियोगके दुःखमें डूबी हुई अपनी सौतोंके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करेगी । भरत भी राज्य पाकर कैकेयीके अधीन रहनेके कारण दुखिया कौसल्या और सुमित्राका भरण-पोषण नहीं करेंगे । अतः सुमित्राकुमार ! तुम यहीं रहकर अपने प्रयत्नसे अथवा राजाकी कृपा प्राप्त करके माता कौसल्याका पालन करो । मेरे बताये हुए इस प्रयोजनको ही सिद्ध करो । ऐसा करनेसे मेरे प्रति जो तुम्हारी भक्ति है, वह भी भलीभाँति प्रकट हो जायगी तथा धर्मज्ञ गुरुजनोंकी पूजा करनेसे जो अनुपम एवं महान् धर्म होता है, वह भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा । रघुकुलको आनन्दित करनेवाले सुमित्रा-कुमार ! तुम मेरे लिये ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोगोंसे बिछुड़ी हुई हमारी माको कभी सुख नहीं होगा (वह सदा हमारी ही चिन्तामें डूबी रहेगी) ।'

भरतकी प्रशंसा एवं उनके प्रति प्रेम रखनेका प्रजाजनोंको आदेश

'माताओंकी रक्षा तो भरत ही कर लेंगे, मुझे तो आप अपने साथ ही ले चलिये' यों कहकर लक्ष्मणने जब अधिक अनुनय-विनय की, तब श्रीरामनें उन्हें सुहृद्-जनोंकी अनुमति प्राप्त करके साथ चलनेकी आज्ञा दे दी । तदनन्तर श्रीरामने माताओंसे विदा माँगी । फिर सीता, राम और लक्ष्मणने राजा दशरथकी परिक्रमा करके कौसल्या आदिको प्रणाम किया, सुमित्राने लक्ष्मणको बड़े भाईकी सेवामें सतत संलग्न रहनेका उपदेश दिया । तत्पश्चात् सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मण रथमें बैठकर वनकी ओर प्रस्थित हुए । उस समय सम्पूर्ण नगर तथा राजभवनमें महान् शोक छा गया । जब श्रीरामजी वनकी ओर जाने लगे, उस समय उनके प्रति अनुराग रखनेवाले बहुसंख्यक अयोध्यावासी उन्हींके साथ वनमें निवास करनेके लिये उनके पीछे-पीछे चल दिये । राजा दशरथको तो बलपूर्वक लौटा दिया गया, किंतु वे पुरवासी फिर रामके रथका पीछा न छोड़ सके । उस समय उन्होंने उन प्रजाजनोंसे स्नेहपूर्वक कहा—

या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम् ।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयताम् ॥

स हि कल्याणचारित्रः कैकेय्यानन्दवर्धनः ।
करिष्यति यथावद् वः प्रियाणि च हितानि च ॥
...बालो मृदुर्वीर्यगुणान्वितः ।
। भर्ता भविष्यति भयापहः ॥
र्युक्तो युवराजः समीक्षितः ।
। शिष्टैः कार्यं वो भर्तृशासनम् ॥
श्चासौ वनवासं गते मयि ।
कार्यो मम प्रियचिकीर्षया ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ४५ । ६–१०)

सेयोंका मेरे प्रति जो प्रेम और आदर प्रसन्नताके लिये भरतके प्रति और चाहिये । उनका चरित्र बड़ा ही । कल्याण करनेवाला है । कैकेयीका के भरत आपलोगोंका यथावत् प्रिय । वे अवस्थामें छोटे होनेपर भी पराक्रमोचित गुणोंसे सम्पन्न होनेपर कोमल हैं । वे आपलोगोंके लिये योग्य प्रजाके भयका निवारण करेंगे । वे राजोचित गुणोंसे युक्त हैं, इसीलिये युवराज बनानेका निश्चय किया है; ...को अपने स्वामी भरतकी आज्ञाका लन करना चाहिये । मेरे वनमें चले जानेपर दशरथ जिस प्रकार भी शोकसे संतप्त न होने स बातके लिये आपलोग सदा चेष्टा रक्खें । मेरा करनेकी इच्छासे आपको मेरी इस प्रार्थनापर अवश्य ध्यान देना चाहिये ।'

भरतके शील-स्वभावकी स्मृतिसे और लक्ष्मणके अनुगमनसे रामकी प्रसन्नता

श्रीरामके यों कहनेपर भी वे पुरवासी नहीं लौटे । उनमें बहुत-से वृद्ध ब्राह्मण थे, जो पैदल ही श्रीरामके पीछे-पीछे जा रहे थे । उन्हें देखकर सीतासहित श्रीराम भी रथसे उतर पड़े और उनके साथ पैदल चलने लगे । उन्होंने श्रीरामसे लौट चलनेके लिये आग्रह किया । श्रीराम उन सबके साथ तमसा-तटपर जा पहुँचे । वहाँ संध्या हो गयी । रातमें उन सबने वहीं निवास किया ।

अयोध्यासे बाहर जाकर तमसा-तटपर रात्रि-विश्रामके समय भी श्रीरामको अयोध्याके दुखी प्रियजनोंकी तथा माता-पिताकी चिन्ता है, किंतु भरतपर विश्वास है । साथ ही लक्ष्मणके अनुगमनसे वे सुप्रसन्न हैं ।

इयमद्य निशा पूर्वा सौमित्रे प्रहिता वनम् ।
वनवासस्य भद्रं ते न चोत्कण्ठितुमर्हसि ॥
पश्य शून्यान्यरण्यानि रुदन्तीव समन्ततः ।
यथा निलयमायद्भिर्निलीनानि मृगद्विजैः ॥
अद्यायोध्या तु नगरी राजधानी पितुर्मम ।
सस्त्रीपुंसा गतानस्माञ्शोचिष्यति न संशयः ॥
अनुरक्ता हि मनुजा राजानं बहुभिर्गुणैः ।
त्वां च मां च नरव्याघ्र शत्रुघ्नभरतौ तथा ॥
पितरं चानुशोचामि मातरं च यशस्विनीम् ।
अपि नान्धौ भवेतां नौ रुदन्तौ तावभीक्ष्णशः ॥
भरतः खलु धर्मात्मा पितरं मातरं च मे ।
धर्मार्थकामसहितैर्वाक्यैराश्वासयिष्यति ॥
भरतस्यानृशंसत्वं संचिन्त्याहं पुनः पुनः ।
नानुशोचामि पितरं मातरं च महाभुज ॥
त्वया कार्यं नरव्याघ्र मामनुव्रजता कृतम् ।
अन्वेष्टव्या हि वैदेह्या रक्षणार्थं सहायता ॥
अद्भिरेव हि सौमित्रे वत्स्याम्यद्य निशामिमाम् ।
एतद्धि रोचते मह्यं वन्येऽपि विविधे सति ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ४६ । २—१०)

'सुमित्रानन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । हमलोग जो वनकी ओर प्रस्थित हुए हैं, हमारे उस वनवास-की आज यह पहली रात प्राप्त हुई है; अतः अब तुम्हें नगरके लिये उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये । इन सूने वनोंकी ओर तो देखो, इनमें वन्य पशु-पक्षी

अपने-अपने स्थानपर आकर अपनी बोली बोल रहे हैं। उनके शब्दसे सारी वनस्थली व्याप्त हो गयी है, मानो ये सारे वन हमें इस अवस्थामें देखकर खिन्न हो सब ओरसे रो रहे हैं। आज मेरे पिताकी राजधानी अयोध्या नगरी वनमें आये हुए हमलोगोंके लिये समस्त नर-नारियोंसहित शोक करेगी, इसमें संशय नहीं है। पुरुषसिंह! अयोध्याके मनुष्य बहुत-से सद्गुणोंके कारण महाराजमें, तुममें, मुझमें तथा भरत और शत्रुघ्नमें भी अनुरक्त हैं। इस समय मुझे पिता और यशस्विनी माताके लिये बड़ा शोक हो रहा है; कहीं ऐसा न हो कि वे निरन्तर रोते रहनेके कारण अंधे हो जायँ। परंतु भरत बड़े धर्मात्मा हैं। अवश्य ही वे धर्म, अर्थ और काम—तीनोंके अनुकूल वचनोंद्वारा पिताजीको और मेरी माताको भी सान्त्वना देंगे। महाबाहो! जब मैं भरतके कोमल स्वभावका बार-बार स्मरण करता हूँ, तब मुझे माता-पिताके लिये अधिक चिन्ता नहीं होती। नरश्रेष्ठ लक्ष्मण! तुमने मेरे साथ आकर बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; क्योंकि तुम न आते तो मुझे विदेहकुमारी सीताकी रक्षाके लिये कोई सहायक ढूँढ़ना पड़ता। सुमित्रानन्दन! यद्यपि यहाँ नाना प्रकारके जंगली फल-मूल मिल सकते हैं, तथापि आजकी यह रात मैं केवल जल पीकर ही बिताऊँगा। यही मुझे अच्छा जान पड़ता है।'

श्रीरामका भ्रातृप्रेम और भरतके प्रति परम सद्भाव

श्रीराम धर्मपत्नी जानकी और भाई लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये। सुमन्त्र लौट आये और श्रीरघुनाथके वियोगमें महाराज दशरथने देह त्याग दिया। कुलगुरु वशिष्ठने दूत भेजकर ननिहालसे भरत-शत्रुघ्नको बुलवाया। अयोध्या पहुँचकर भरतको पिताके स्वर्गवास, कैकेयीके वरदान, श्रीरामके वनवासका समाचार मिला। भरत शोकसे मूर्छित हुए कई बार। उनकी व्याकुलता असीम थी; किंतु मृत पिताका शरीर अभी उनके कर्तव्यकी प्रतीक्षा कर रहा था। अतः धैर्य धारण करके भरतने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार एवं विधिवत् श्राद्धकर्म सम्पन्न किया। उन्होंने राज्य ग्रहण करनेसे इन्कार किया और अभिषेक-सामग्रीकी परिक्रमा करके श्रीरामको लौटा लानेके लिये चित्रकूटकी यात्रा की। उनके साथ मन्त्री, पुरवासी तथा माताएँ भी चलीं। वे एक रात श्रृङ्गवेरपुरमें बिताकर दूसरे दिन भरद्वाज-आश्रमपर पहुँचे। वहाँ मुनिने सेनासहित भरतका सत्कार किया। फिर वे चित्रकूटकी ओर बढ़े। सैनिकोंके कोलाहलसे वनजन्तु इधर-उधर भागने लगे। तब श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणने शालवृक्षपर चढ़कर जब चारों ओर दृष्टि डाली, तब उन्हें भरतकी सेना आती दिखायी दी। फिर तो लक्ष्मण आग-बबूला हो उठे। उन्होंने श्रीरामके समक्ष भरतके प्रति अपना रोषपूर्ण उद्गार प्रकट किया। उस समय श्रीरामने उन्हें समझा-बुझाकर शान्त किया और इस प्रकार कहा—

> किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा।
> महाबले महोत्साहे भरते स्वयमागते॥
> पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमाहवे।
> किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण॥
> यद् द्रव्यं बान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत्।
> नाहं तत् प्रतिगृह्णीयां भक्ष्यान् विषकृतानिव॥
> धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण।
> इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते॥
> भ्रातॄणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण।
> राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे॥
> नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा।
> नहीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण॥
> यद् विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद।
> भवेन्मम सुखं किंचिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी॥
>
> (वा० रा०, अयोध्या० ९७। २–८)

'लक्ष्मण! महाबली और महान् उत्साही भरत जब स्वयं यहाँ आ गये हैं, तब इस समय यहाँ धनुष अथवा ढाल-तलवारसे क्या काम है? लक्ष्मण! पिताके सत्य

की रक्षाके लिये प्रतिज्ञा करके यदि मैं युद्धमें भरतको मारकर उनका राज्य छीन लूँ तो संसारमें मेरी कितनी निन्दा होगी। फिर उस कलङ्कित राज्यको लेकर मैं क्या करूँगा? अपने बन्धु-बान्धवों या मित्रोंका विनाश करके जिस धनकी प्राप्ति होती हो, वह तो विषमिश्रित भोजनके समान सर्वथा त्याग देने योग्य है; उसे मैं कदापि ग्रहण नहीं करूँगा। लक्ष्मण! मैं तुमसे प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम और पृथ्वीका राज्य भी मैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। सुमित्राकुमार! मैं भाइयोंके संग्रह और सुखके लिये ही राज्यकी भी इच्छा करता हूँ और इस बातकी सचाईके लिये मैं अपना धनुष छूकर शपथ खाता हूँ। सौम्य लक्ष्मण! समुद्रसे घिरी हुई यह पृथ्वी मेरे लिये दुर्लभ नहीं है, परंतु मैं अधर्मसे इन्द्रका पद पानेकी भी इच्छा नहीं कर सकता। मानद! भरतको, तुमको और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसे अग्निदेव जलाकर भस्म कर डालें।'

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः।
मम प्राणैः प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन्॥
श्रुत्वा प्रव्राजितं मां हि जटावल्कलधारिणम्।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषोत्तम॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः।
द्रष्टुमभ्यागतो ह्येष भरतो नान्यथाऽऽगतः॥
अम्बां च केकयीं रुष्य भरतश्चाप्रियं वदन्।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान् राज्यं मे दातुमागतः॥
प्राप्तकालं यथैषोऽस्मान् भरतो द्रष्टुमर्हति।
अस्मासु मनसाप्येष नाहितं किंचिदाचरेत्॥
विप्रियं कृतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम्।
ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं यद् विशङ्कसे॥
नहि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः।
अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते॥
कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि।
भ्राता वा भ्रातरं हन्यात् सौमित्रे प्राणमात्मनः॥
यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे।
वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम्॥
उच्यमानो हि भरतो मया लक्ष्मण तद्वचः।
राज्यमस्मै प्रयच्छेति बाढमित्येव मंस्यते॥

(वा० रा०, अयोध्या० ९७। ९—१८

'वीर पुरुषप्रवर! भरत बड़े भ्रातृभक्त हैं। वे मु प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं। मुझे तो ऐसा जा पड़ता है, भरतने अयोध्यामें आनेपर जब सुना है कि तुम्हारे और जानकीके साथ जटा-वल्कल धारण कर वनमें आ गया हूँ, तब उनकी इन्द्रियाँ शोकसे व्याकुल ह उठी हैं और वे कुलधर्मका विचार करके स्नेहयुक्त हृदय हमलोगोंसे मिलने आये हैं। इन भरतके आगमनक इसके सिवा दूसरा कोई उद्देश्य नहीं हो सकता माता कैकेयीके प्रति कुपित हो, उन्हें कठोर वचन सुन कर और पिताजीको प्रसन्न करके श्रीमान् भरत मु राज्य देनेके लिये आये हैं। भरतका हमलोगोंसे मिलने लिये आना सर्वथा समयोचित है। वे हमसे मिलने योग्य हैं। हमलोगोंका कोई अहित करनेका विचार त वे कभी मनमें भी नहीं ला सकते। भरतने तुम्हा प्रति पहले कब कौन-सा अप्रिय बर्ताव किया है, जिसर आज तुम्हें उनसे ऐसा भय लग रहा है और तुम उन विषयमें इस तरहकी आशङ्का कर रहे हो? भरत आनेपर तुम उनसे कोई कठोर या अप्रिय वचन बोलना। यदि तुमने उनसे कोई प्रतिकूल बात कह तो वह मेरे ही प्रति कही हुई समझी जायगी सुमित्रानन्दन! कितनी ही बड़ी आपत्ति क्यों न अ जाय, पुत्र अपने पिताको कैसे मार सकते हैं? अथव भाई अपने प्राणोंके समान प्रिय भाईकी हत्या कैसे क सकता है? यदि तुम राज्यके लिये ऐसी कठोर बात कहते हो तो मैं भरतसे मिलनेपर उन्हें कह दूँग

कि तुम यह राज्य लक्ष्मणको दे दो। लक्ष्मण! यदि मैं भरतसे यह कहूँ कि 'तुम राज्य इन्हें दे दो' तो वे 'बहुत अच्छा' कहकर अवश्य मेरी बात मान लेंगे।'

श्रीरामचरितमानसका यह प्रसङ्ग

भरत सामने नहीं हैं। सेनाके साथ भरत वनमें आ रहे हैं, यह समाचार मिला है। भरतके मनमें दुर्भाव है, ऐसी आशङ्का करके लक्ष्मण क्रुद्ध होकर बहुत कुछ कह गये हैं; किंतु श्रीरामका भरतपर अपार स्नेह, अपार विश्वास है। वे लक्ष्मणको समझा रहे हैं—

कही तात तुम्ह नीति सुहाई।
सब तें कठिन राजमदु भाई॥
जो अचवँत नृप मातहिं तेई।
नाहिन साधुसभा जेहिं सेई॥
सुनहु लखन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई।
गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी।
सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥
मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई।
होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना।
सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता।
मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरत हंस रबिबंस तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी।
निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥

(श्रीरामचरित०, अयोध्या० २३०। ३-४; २३१। १-४)

हे तात! तुमने बड़ी सुन्दर नीति कही। हे भाई! राज्यका मद सबसे कठिन मद है। जिन्होंने साधुओंकी सभाका सेवन नहीं किया, वे ही राजा राजमदरूपी मदिराका आचमन करते ही (पीते ही) मतवाले हो जाते हैं। हे लक्ष्मण! सुनो; भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें न तो कहीं सुना गया है न देखा ही गया है। [अयोध्याके तो राज्यकी बात ही क्या है] ब्रह्मा, विष्णु और महादेवका पद पाकर भी भरतको राजमद नहीं होनेका! क्या कभी काँजीकी बूँदोंसे क्षीरसमुद्र नष्ट हो सकता (फट सकता) है? अन्धकार चाहे तरुण (मध्याह्नके) सूर्यको निगल जाय, आकाश चाहे बादलोंमें समाकर मिल जाय, गौके खुर-जितने जलमें अगस्त्यजी चाहे डूब जायँ और पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमाको छोड़ दे, मच्छरकी फूँकसे चाहे सुमेरु उड़ जाय, परंतु भाई! भरतको राजमद कभी नहीं हो सकता। लक्ष्मण! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजीकी सौगंध खाकर कहता हूँ, भरतके समान पवित्र और उत्तम भाई संसारमें नहीं है। तात! गुणरूपी दूध और अवगुणरूपी जलको मिलाकर विधाता इस दृश्य-प्रपञ्च (जगत्) को रचता है। परंतु भरतने सूर्यवंशरूपी तालाबमें हंसरूप जन्म लेकर गुण और दोषका विभाग कर दिया (दोनोंको अलग-अलग कर दिया)। गुणरूपी दूधको ग्रहणकर और अवगुणरूपी जलको त्यागकर भरतने अपने यशसे जगत्में उजियाला कर दिया है।

चित्रकूटमें भरी सभामें महर्षि वशिष्ठसे प्रभु कहते हैं—केवल कहते ही नहीं, सम्पूर्ण निर्णय भरतपर छोड़ देते हैं—

नाथ सपथ पितु चरन दोहाई।
भयउ न भुअन भरत सम भाई॥
जे गुर पद अंबुज अनुरागी।
ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू।
को कहि सकइ भरत कर भागू॥
लखि लघु बंधु बुद्धि सकुचाई।
करत बदन पर भरत बड़ाई॥
भरतु कहहिं सोइ किएँ भलाई।

(श्रीरामचरित०, अयोध्या० २५८। २-४)

हे नाथ! आपकी सौगंध और पिताजीके चरणोंकी दुहाई है (मैं सत्य कहता हूँ कि) त्रिभुवनमें

कोई हुआ ही नहीं। जो लोग गुरुके चरणकमलोंके अनुरागी हैं, वे लोकमें (लौकिक दृष्टिसे) भी और वेदमें (पारमार्थिक दृष्टिसे) भी बड़भागी होते हैं। (फिर) जिसपर आप (गुरु) का ऐसा स्नेह है, उस भरतके भाग्यको कौन कह सकता है ? छोटा भाई जानकर भरतके मुँहपर उसकी बड़ाई करनेमें मेरी बुद्धि सकुचाती है। (फिर भी मैं तो यही कहूँगा कि) भरत जो कुछ कहें, वही करनेमें भलाई है।

तात ! बिचारो धौं, हौं क्यों आवौं।
तुम्ह सुचि, सुहृद, सुजान सकल बिधि,
बहुत कहा कहि कहि समुझावौं ॥
निज कर खाल खैंचि या तनु तें
जौ पितु पग पानही करावौं।
होउँ न उरिन पिता दसरथ तें,
कैसे ताके बचन मेटि पति पावौं ॥
तुलसिदास जाको सुजस तिहूँ पुर,
क्यों तेहि कुलहि कालिमा लावौं।
प्रभु-रुख निरखि निरास भरत भए,
जान्यौ है सबहि भाँति बिधि बावौं ॥
(गीतावली, अयोध्याकाण्ड, ७२)

[भरतजीसे श्रीरघुनाथजी कहने लगे—] 'भैया ! सोचो तो, मैं किस प्रकार लौट सकता हूँ, तुम सब प्रकार निर्दोष, सुहृद् और समझदार हो। तुम्हें बहुत कहकर क्या समझाऊँ ? यदि मैं अपने हाथसे ही इस शरीरकी खाल खींचकर पिताजीके चरणोंकी जूतियाँ बनवाऊँ, तो भी पिता दशरथजीसे मैं उऋण नहीं हो सकता; फिर उनके वाक्योंकी अवहेलना करके मैं कैसे प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता हूँ ? भैया ! जिस कुलका सुयश तीनों लोकोंमें छाया हुआ है, उसे मैं कैसे कलङ्कित कर सकता हूँ ?' तुलसीदास कहते हैं, प्रभुका ऐसा भाव देखकर भरतजी निराश हो गये और उन्होंने विधाताको सब प्रकार वाम समझा।

काहे को मानत हानि हियें हौ ?
प्रीति-नीति-गुन-सील-धरम कहँ तुम अवलंब दिये हौ ॥
तात ! जात जानिबे न ए दिन, करि प्रमान पितु-बानी।
ऐहौं बेगि, धरहु धीरज उर, कठिन काल गति जानी ॥
तुलसिदास अनुजहि प्रबोधि प्रभु चरनपीठ निज दीन्हे।
मनहु सबनि के प्रान-पाहरू भरत सीस धरि लीन्हे ॥
(गीतावली, अयोध्याकाण्ड ७५)

[भगवान् बोले—] 'भैया ! अपने हृदयमें ऐसी ग्लानि क्यों मानते हो ? तुमने तो प्रीति, नीति, गुण, शील और धर्म—सभीको सहारा दे रखा है। हे तात ! तुम्हें ये दिन तो जाते हुए मालूम भी न होंगे। इतनेमें ही मैं पिताके वचनोंको पूरा करके शीघ्र ही लौट आऊँगा। तुम कालकी गतिको कठिन जानकर हृदयमें धैर्य धारण करो।' तुलसीदास कहते हैं, भाईको इस प्रकार समझाकर भगवान्‌ने उन्हें अपनी चरणपादुकाएँ दे दीं और भरतजीने सबके प्राणोंके प्रहरीरूप उन पादुकाओंको अपने सिरपर लगाते हुए ग्रहण किया।

भरतकी स्नेहभरी प्रशंसा

एक दिन हेमन्त-वर्णनके प्रसङ्गमें लक्ष्मणने महात्मा भरतकी तो प्रशंसा की, किंतु कैकेयीके स्वभावकी कुछ कटु आलोचना कर दी। महात्मा श्रीराम माताकी निन्दा सहन न कर सके। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥
निश्चितैव हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता।
भरतस्नेहसंतप्ता बालिशीक्रियते पुनः ॥
संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च।
हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥
कदा ह्यहं समेष्यामि भरतेन महात्मना।
शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रघुनन्दन ॥
(वा० रा०, अरण्य० १६। ३७-४०)

'तात ! तुम्हें मझली माता कैकेयीकी कभी निन्दा नहीं करनी चाहिये। (यदि कुछ कहना हो तो) पहलेकी भाँति इक्ष्वाकुवंशके स्वामी भरतकी ही चर्चा करो। यद्यपि मेरी बुद्धि दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए वनमें रहनेका अटल निश्चय कर चुकी है, तथापि भरतके स्नेहसे संतप्त होकर पुनः चञ्चल हो उठती है। मुझे भरतकी वे परम प्रिय, मधुर, मनको भानेवाली और अमृतके समान हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाली बातें याद आ रही हैं। रघुकुलनन्दन लक्ष्मण ! कब वह

दिन आयेगा, जब मैं तुम्हारे साथ चलकर महात्मा भरत और वीरवर शत्रुघ्नसे मिलूँगा ?'

लक्ष्मणके लिये प्रभुका विलाप-प्रलाप

जब श्रीजानकीका हरण हुआ था, उनके प्रेममें श्रीराम प्रलाप करते वन-वन भटके थे। वे 'खग-मृग' से सीताका पता पूछते हुए प्रलापलीला कर रहे थे। श्रीजानकीके प्रति उनके हृदयमें जितना प्रेम है, उससे कम प्रेम लक्ष्मणके प्रति नहीं है। अतः युद्धभूमिमें जब शक्ति लगनेपर लक्ष्मण मूर्छित हो गये, तब उनके प्रेममें भी सुधि-बुधि भूलकर श्रीराम प्रलाप करने लगे। यहाँ वे जो कुछ कहते हैं, वह 'प्रभु-प्रलाप' है और प्रलाप कहते ही असंगत वचनोंको हैं। वचनकी असंगतता यहाँ शोककी अत्यन्त प्रबलता सूचित करती है।

युद्ध प्रारम्भ हुआ। लङ्काके चारों द्वारोंपर वानर सैनिकोंकी नियुक्ति की गयी। श्रीरामदूत अङ्गदने रावणके महलमें पराक्रम दिखाया तथा वानरोंके आक्रमणने राक्षसोंको भयभीत कर दिया। रात्रियुद्धमें अङ्गदने इन्द्रजित्‌को पराजित किया। इन्द्रजित् मायासे अदृश्य हो गया और उसने श्रीराम तथा लक्ष्मणको नाग-पाशद्वारा बाँध लिया। बद्धावस्थामें उसके बाणोंकी मारसे वे दोनों भाई अचेत हो गये। उन्हें मूर्च्छित देख वानरोंको शोक हुआ और इन्द्रजित् हर्षोद्गार प्रकट करने लगा। उसके मुखसे शत्रु-वधका वृत्तान्त सुनकर रावणने पुत्रका अभिनन्दन किया। वानर श्रीराम और लक्ष्मणके अचेत शरीरकी रक्षा करने लगे। रावणकी आज्ञासे राक्षसियोंने सीताको पुष्पक-विमानद्वारा रणभूमिमें ले जाकर श्रीराम और लक्ष्मणकी दशा दिखायी। यह देख सीता दुखी होकर विलाप करने लगी। त्रिजटाने उन्हें समझाया और श्रीराम-लक्ष्मणके जीवित होनेका विश्वास दिलाया। तत्पश्चात् वह उन्हें लङ्कामें ही लौटा लायी। थोड़ी देरमें श्रीरामको चेत हुआ और वे लक्ष्मणके लिये आतुर होकर विलाप करने लगे—

किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम्॥
शक्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः॥
परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।
यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः॥
किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम्।
कथमम्बां सुमित्रां च पुत्रदर्शनलालसाम्॥
विवत्सां वेपमानां च वेपन्तीं कुररीमिव।
कथमाश्वासयिष्यामि यदि यास्यामि तं विना॥
कथं वक्ष्यामि शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम्।
मया सह वनं यातो विना तेनाहमागतः॥
उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुमम्बासुमित्रया।
इहैव देहं त्यक्ष्यामि नहि जीवितुमुत्सहे॥
धिङ्मां दुष्कृतकर्माणमनार्यं यत्कृते ह्यसौ।
लक्ष्मणः पतितः शेते शरतल्पे गतासुवत्॥
त्वं नित्यं सुविषण्णं मामाश्वासयसि लक्ष्मण।
गतासुर्नाद्य शक्तोऽसि मामार्तमभिभाषितुम्॥
येनाद्य बहवो युद्धे निहता राक्षसाः क्षितौ।
तस्यामेवाद्य शूरस्त्वं शेषे विनिहतः शरैः॥
शयानः शरतल्पेऽस्मिन् सशोणितपरिस्रुतः।
शरभूतस्ततो भासि भास्करोऽस्तमिव व्रजन्॥
बाणाभिहतमर्मत्वान्न शक्नोषीह भाषितुम्।
रुजा चाब्रुवतो यस्य दृष्टिरागेण सूच्यते॥
यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥

(वा० रा०, युद्ध० ४९। ५-१७)

'हाय! यदि मुझे सीता मिल भी गयीं तो मैं उन्हें लेकर क्या करूँगा? अथवा इस जीवनको ही रखकर क्या करना है, जब कि आज मैं अपने पराजित हुए भाईको युद्धस्थलमें पड़ा हुआ देख रहा हूँ। मर्त्यलोकमें ढूँढ़नेपर मुझे सीता-जैसी दूसरी स्त्री मिल सकती है; परंतु लक्ष्मणके समान सहायक और युद्धकुशल भाई नहीं मिल सकता। सुमित्राके आनन्दको बढ़ानेवाले लक्ष्मण यदि जीवित न रहे तो मैं वानरोंके देखते-देखते अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगा। लक्ष्मणके बिना यदि मैं अयोध्याको लौटूँ तो माता कौसल्या और कैकेयीको क्या जवाब दूँगा तथा अपने पुत्रको देखनेके लिये

उत्सुक हो बछड़ेसे बिछुड़ी गायके समान काँपती और कुररीकी भाँति रोती-बिलखती माता सुमित्रासे क्या कहूँगा ? उन्हें किस तरह धैर्य बँधाऊँगा ? मैं यशस्वी भरत और शत्रुघ्नसे किस तरह यह कह सकूँगा कि लक्ष्मण मेरे साथ वनको गये थे; किंतु मैं उन्हें वहीं खोकर उनके बिना ही लौट आया हूँ। दोनों माताओं-सहित सुमित्राका उपालम्भ मैं नहीं सह सकूँगा; अतः यहीं इस देहको त्याग दूँगा। अब मुझमें जीवित रहनेका उत्साह नहीं है। मुझ-जैसे दुष्कर्मी और अनार्यको धिक्कार है, जिसके कारण लक्ष्मण मरे हुएके समान बाण-शय्यापर सो रहे हैं! लक्ष्मण! जब मैं अत्यन्त विषादमें डूब जाता था, उस समय तुम्हीं सदा मुझे आश्वासन देते थे; परंतु आज तुम्हारे प्राण नहीं रहे, इसलिये आज तुम मुझ दुखियासे बात करनेमें भी असमर्थ हो। भैया! जिस रणभूमिमें आज तुमने बहुत-से राक्षसोंको मार गिराया था, उसीमें शूरवीर होकर भी तुम बाणोंद्वारा मारे जाकर सो रहे हो। इस बाण-शय्यापर तुम खूनसे लथपथ होकर पड़े हो और बाणोंसे व्याप्त होकर अस्ताचलको जाते हुए सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे हो। बाणोंसे तुम्हारा मर्मस्थल विदीर्ण हो गया, इसलिये तुम यहाँ बात भी नहीं कर सकते। यद्यपि तुम बोल नहीं रहे हो, तथापि तुम्हारे नेत्रोंकी लालीसे तुम्हारी मार्मिक पीड़ा सूचित हो रही है। जिस तरह वनकी यात्रा करते समय महातेजस्वी लक्ष्मण मेरे पीछे-पीछे चले आये थे, उसी प्रकार मैं भी यमलोकमें इनका अनुसरण करूँगा।'

इष्टबन्धुजनो नित्यं मां च नित्यमनुव्रतः।
इमामद्य गतोऽवस्थां ममानार्यस्य दुर्नयैः॥
सुरुष्टेनापि वीरेण लक्ष्मणेन न संस्मरे।
परुषं विप्रियं चापि श्रावितं तु कदाचन॥
विससर्जैकवेगेन पञ्च बाणशतानि यः।
इष्वस्त्रेष्वधिकस्तस्मात् कार्तवीर्याच्च लक्ष्मणः॥
अस्त्रैरस्त्राणि यो हन्याच्छक्रस्यापि महात्मनः।
सोऽयमुर्व्यां हतः शेते महार्हशयनोचितः॥
तत्तु मिथ्या प्रलप्तं मां प्रधक्ष्यति न संशयः।
यन्मया न कृतो राजा राक्षसानां विभीषणः॥
अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रतियातुमितोऽर्हसि।
मत्वा हीनं मया राजन् रावणोऽभिभविष्यति॥
अङ्गदं तु पुरस्कृत्य ससैन्यं सपरिच्छदम्।
सागरं तर सुग्रीव नीलेन च नलेन च॥
कृतं हि सुमहत्कर्म यदन्यैर्दुष्करं रणे।
ऋक्षराजेन तुष्यामि गोलाङ्गूलाधिपेन च॥
अङ्गदेन कृतं कर्म मैन्देन द्विविदेन च।
युद्धं केसरिणा संख्ये घोरं सम्पातिना कृतम्॥
गवयेन गवाक्षेण शरभेण गजेन च।
अन्यैश्च हरिभिर्युद्धं मदर्थे त्यक्तजीवितैः॥
न चातिक्रमितुं शक्यं दैवं सुग्रीव मानुषैः।
यत्तु शक्यं वयस्येन सुहृदा वा परं मम॥
कृतं सुग्रीव तत् सर्वं भवता धर्मभीरुणा।
मित्रकार्यं कृतमिदं भवद्भिर्वानरर्षभाः॥
अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं गन्तुमर्हथ।

(वा० रा०, युद्ध० ४९। १८-२९½)

'जो मेरे प्रिय बन्धुजन थे और सदा मुझमें अनुराग एवं भक्तिभाव रखते थे, वे ही लक्ष्मण आज मुझ अनार्यकी दुर्नीतियोंके कारण इस अवस्थाको पहुँच गये। मुझे ऐसा कोई प्रसङ्ग याद नहीं आता, जब वीर लक्ष्मणने अत्यन्त कुपित होनेपर भी मुझे कभी कोई कठोर या अप्रिय बात सुनायी हो। लक्ष्मण एक ही वेगसे पाँच सौ बाणोंकी वर्षा करते थे; इसलिये धनुर्विद्यामें कार्तवीर्य अर्जुनसे भी बढ़कर थे। जो अपने अस्त्रोंद्वारा महात्मा इन्द्रके भी अस्त्रोंको काट सकते थे, वे ही बहुमूल्य शय्यापर सोने योग्य लक्ष्मण आज स्वयं मारे जाकर पृथ्वीपर सो रहे हैं। मैं विभीषणको राक्षसोंका राजा न बना सका; अतः मेरा वह झूठा प्रलाप मुझे सदा

जलाता रहेगा, इसमें संशय नहीं है । वानरराज सुग्रीव ! तुम इसी मुहूर्तमें यहाँसे लौट जाओ; क्योंकि मेरे विना तुम्हें असहाय समझकर रावण तुम्हारा तिरस्कार करेगा । मित्र सुग्रीव ! सेना और सामग्रियों-सहित अङ्गदको आगे करके नल और नीलके साथ तुम समुद्रके पार चले जाओ । मैं लंगूरोंके स्वामी गवाक्ष तथा ऋक्षराज जाम्बवान्से भी बहुत संतुष्ट हूँ । तुम सब लोगोंने युद्धमें वह महान् पुरुषार्थ कर दिखाया है, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त दुष्कर था । अङ्गद, मैन्द और द्विविदने भी महान् पराक्रम प्रकट किया है । केसरी और सम्पातिने भी समराङ्गणमें घोर युद्ध किया है । गवय, गवाक्ष, शरभ, गज तथा अन्य वानरोंने भी मेरे लिये प्राणोंका मोह छोड़कर संग्राम किया है । किंतु सुग्रीव ! मनुष्योंके लिये दैवके विधानको लाँघना असम्भव है । मेरे परम मित्र अथवा उत्तम सुहृद्के नाते तुम-जैसे धर्मभीरु पुरुषके द्वारा जो कुछ किया जा सकता था, वह सब तुमने किया है । वानरशिरोमणियो ! तुम सबने मिलकर मित्रके इस कार्यको सम्पन्न किया है । अब मैं आज्ञा देता हूँ—तुम सब जहाँ इच्छा हो, वहाँ चले जाओ ।'

महाबली रावणने शूरवीर लक्ष्मणको अपनी शक्तिसे युद्धमें धराशायी कर दिया था । वे रक्तके प्रवाहसे नहा उठे थे । यह देख भगवान् श्रीरामने दुरात्मा रावणके साथ घोर युद्ध करके बाणसमूहोंकी वर्षा करते हुए ही सुषेणसे इस प्रकार कहा—

एष रावणवीर्येण लक्ष्मणः पतितो भुवि ।
सर्पवच्चेष्टते वीरो मम शोकमुदीरयन् ॥
शोणितार्द्रमिमं वीरं प्राणैः प्रियतरं मम ।
पश्यतो मम का शक्तिर्योद्धुं पर्याकुलात्मनः ॥
अयं स समरश्लाघी भ्राता मे शुभलक्षणः ।
यदि पञ्चत्वमापन्नः प्राणैर्मे किं सुखेन वा ॥
लज्जतीव हि मे वीर्यं भ्रश्यतीव कराद् धनुः ।
सायका व्यवसीदन्ति दृष्टिर्बाष्पवशं गता ॥
अवसीदन्ति गात्राणि स्वप्नयाने नृणामिव ।
चिन्ता मे वर्धते तीव्रा मुमूर्षापि च जायते ॥
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा रावणेन दुरात्मना ।
विष्टनन्तं तु दुःखार्तं मर्मण्यभिहतं भृशम् ॥

(वा० रा०, युद्ध० १०१ । ३-८)

'ये वीर लक्ष्मण रावणके पराक्रमसे घायल होकर पृथ्वीपर पड़े हैं और चोट खाये हुए सर्पकी भाँति छटपटा रहे हैं । इस अवस्थामें इन्हें देखकर मेरा शोक बढ़ता जा रहा है । ये वीर सुमित्राकुमार मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं । इन्हें लहूलुहान देखकर मेरा मन व्याकुल हो रहा है, ऐसी दशामें मुझमें युद्ध करनेकी शक्ति क्या होगी ? ये मेरे शुभलक्षण भाई, जो सदा युद्धका हौसला रखते थे, यदि मर गये तो मुझे इन प्राणोंके रखने और सुख भोगनेसे क्या प्रयोजन है ? इस समय मेरा पराक्रम लज्जित-सा हो रहा है, हाथसे धनुष खसकता-सा जा रहा है, मेरे सायक शिथिल हो रहे हैं और नेत्रोंमें आँसू भर आये हैं । जैसे स्वप्नमें मनुष्योंके शरीर शिथिल हो जाते हैं, वही दशा मेरे इन अङ्गोंकी है । मेरी तीव्र चिन्ता बढ़ती जा रही है और दुरात्मा रावणके द्वारा घायल होकर मार्मिक आघातसे अत्यन्त पीड़ित एवं दुःखातुर हुए भाई लक्ष्मणको कराहते देख मुझे मर जानेकी इच्छा हो रही है ।'

श्रीरघुनाथजी बाहर विचरनेवाले प्राणोंके समान प्रिय भाई लक्ष्मणको इस अवस्थामें देख महान् दुःखसे व्याकुल हो गये, चिन्ता और शोकमें डूब गये । उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ । इन्द्रियोंमें व्याकुलता छा गयी और वे रणभूमिकी धूलमें घायल होकर पड़े हुए भाई लक्ष्मणकी ओर देखकर विलाप करने लगे—

विजयोऽपि हि मे शूर न प्रियायोपकल्पते ।
अचक्षुर्विषयश्चन्द्रः कां प्रीतिं जनयिष्यति ॥
किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते ।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्धनि लक्ष्मणः ॥

यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः ।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम् ॥
इष्टबन्धुजनो नित्यं मां स नित्यमनुव्रतः ।
इमामवस्थां गमितो राक्षसैः कूटयोधिभिः ॥
देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥
किं नु राज्येन दुर्धर्षलक्ष्मणेन विना मम ।
कथं वक्ष्याम्यहं त्वम्बां सुमित्रां पुत्रवत्सलाम् ॥
उपालम्भं न शक्ष्यामि सोढुं दत्तं सुमित्रया ।
किं नु वक्ष्यामि कौसल्यां मातरं किं नु कैकयीम् ॥
भरतं किं नु वक्ष्यामि शत्रुघ्नं च महाबलम् ।
सह तेन वनं यातो विना तेनागतः कथम् ॥
इहैव मरणं श्रेयो न तु बन्धुविगर्हणम् ।
किं मया दुष्कृतं कर्म कृतमन्यत्र जन्मनि ॥
येन मे धार्मिको भ्राता निहतश्चाग्रतः स्थितः ।
हा भ्रातर्मनुजश्रेष्ठ शूराणां प्रवर प्रभो ॥
एकाकी किं नु मां त्यक्त्वा परलोकाय गच्छसि ।
विलपन्तं च मां भ्रातः किमर्थं नावभाषसे ॥
उत्तिष्ठ पश्य किं शेषे दीनं मां पश्य चक्षुषा ।
शोकार्तस्य प्रमत्तस्य पर्वतेषु वनेषु च ॥
विषण्णस्य महाबाहो समाश्वासयिता मम ।

(वा० रा०, युद्ध० १०१ । ११–२२½)

'शूरवीर ! अब संग्राममें विजय भी मिल जाय तो मुझे प्रसन्नता नहीं होगी । अंधेके सामने चन्द्रमा अपनी चाँदनी बिखेर दें तो भी वह उसके मनमें कौन-सा आह्लाद पैदा कर सकेगा ? अब इस युद्धसे अथवा प्राणोंकी रक्षासे मुझे क्या प्रयोजन है ? अब लड़ने-भिड़नेकी कोई आवश्यकता नहीं है । जब संग्रामके मुहानेपर मारे जाकर लक्ष्मण ही सदाके लिये सो गये, तब युद्ध जीतनेसे क्या लाभ है ? वनमें आते समय जैसे महातेजस्वी लक्ष्मण मेरे पीछे-पीछे चले आये थे, उसी तरह यमलोकमें जाते समय मैं भी इनके पीछे-पीछे जाऊँगा । हाय ! जो सदा मुझमें अनुराग रखनेवाले मेरे प्रिय बन्धुजन थे, छलसे युद्ध करनेवाले निशाचरोंने आज उनकी यह दशा कर दी । प्रत्येक देशमें स्त्रियाँ मिल सकती हैं, देश-देशमें जाति-भाई उपलब्ध हो सकते हैं; परंतु ऐसा कोई देश मुझे नहीं दिखायी देता, जहाँ सहोदर भाई मिल सके । दुर्धर्ष वीर लक्ष्मणके बिना मैं राज्य लेकर क्या करूँगा ? पुत्रवत्सला माता सुमित्रासे किस तरह बात कर सकूँगा ? माता सुमित्राके दिये हुए उलाहनेको कैसे सह सकूँगा ? माता कौसल्या और कैकेयीको क्या जवाब दूँगा ? भरत और महाबली शत्रुघ्न जब पूछेंगे कि आप लक्ष्मणके साथ वनमें गये थे, फिर उनके बिना ही कैसे लौट आये तो उन्हें मैं क्या उत्तर दूँगा ? अतः मेरे लिये यहीं मर जाना अच्छा है, भाई-बन्धुओंमें जाकर उनकी कही हुई खोटी-खरी बातें सुनना अच्छा नहीं । मैंने पूर्वजन्ममें कौन-सा अपराध किया था, जिसके कारण मेरे सामने खड़ा हुआ मेरा धर्मात्मा भाई मारा गया । हा भाई नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! हा प्रभावशाली शूरप्रवर ! तुम मुझे छोड़कर अकेले क्यों परलोकमें जा रहे हो ? भैया ! मैं तुम्हारे बिना रो रहा हूँ । तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं ? प्रियबन्धु ! उठो । आँख खोलकर देखो । क्यों सो रहे हो ? मैं बहुत दुखी हूँ । मुझपर दृष्टिपात करो । महाबाहो ! पर्वतों और वनोंमें जब मैं शोकसे पीड़ित हो प्रमत्त एवं विषादग्रस्त हो जाता था, तब तुम्हीं मुझे धैर्य बँधाते थे (फिर इस समय मुझे क्यों नहीं सान्त्वना देते ?)'

श्रीरामको इस प्रकार विलाप करते देख सुषेणने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—'पुरुषसिंह ! आप शोक और चिन्ता छोड़िये । युद्धके मुहानेपर ऐसी चिन्ता बाणोंके आघातके समान दुःखदायिनी होती है । आपके भाई लक्ष्मण मरे नहीं हैं । देखिये, इनकी मुखाकृति बिगड़ी नहीं है और न चेहरेपर कालापन ही आया है । इनका

मुख प्रसन्न एवं कान्तिमान् है। अतः आप विषाद छोड़िये। ये जीवित हैं।' श्रीरामसे यों कहकर सुषेणने हनुमान्‌जीसे कहा—'सौम्य! तुम द्रोणाचल पर्वतपर जाकर विशल्यकर्णी एवं संजीवकर्णी ओषधियोंको यहाँ ले आओ।' हनुमान्‌जी वहाँ गये और ओषधियोंको न पहचाननेके कारण उसके शिखरको ही उखाड़ लाये। सुषेणने हनुमान्‌जीकी प्रशंसा करके उन ओषधियोंको उखाड़ा और कूट-पीसकर लक्ष्मण-जीकी नाकमें दे दिया। उन्हें सूँघते ही उनके शरीरसे बाण निकल गये और वे नीरोग हो तत्काल उठकर खड़े हो गये। वानरोंने साधुवाद देकर लक्ष्मणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। श्रीरामने 'आओ, आओ' कहकर लक्ष्मणको दोनों भुजाओंमें भर लिया। उनके दोनों नेत्र आँसुओंसे भरे थे।

श्रीरामचरितमानसका प्रसङ्ग

श्रीरामचरितमानसमें मेघनादके द्वारा शक्ति लगनेपर लक्ष्मणको मूर्च्छा हो गयी। लक्ष्मणको मूर्छित पड़ा देख श्रीराम बड़े दुखी हुए। तब सुषेणने समझाकर हनुमान्‌जीको ओषधि लाने भेजा। हनुमान्‌जीके पहुँचनेमें श्रीरामको बहुत देरीका अनुभव हुआ और वे यों प्रलाप करने लगे—

अर्ध राति गइ कपि नहिं आयउ।
राम उठाइ अनुज उर लायउ॥
सकहु न दुखित देखि मोहि काऊ।
बंधु सदा तव मृदुल सुभाऊ॥
मम हित लागि तजेहु पितु माता।
सहेहु बिपिन हिम आतप बाता॥
सो अनुराग कहाँ अब भाई।
उठहु न सुनि मम बच बिकलाई॥
जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
सुत बित नारि भवन परिवारा।
होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता।
मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
जथा पंख बिनु खग अति दीना।
मनि बिनु फनि करिबर कर हीना॥
अस मम जिवन बंधु बिनु तोही।
जौं जड़ दैव जिआवै मोही॥
जैहउँ अवध कौन मुहु लाई।
नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई॥
बरु अपजस सहतेउँ जग माहीं।
नारि हानि बिसेष छति नाहीं॥
अब अपलोकु सोकु सुत तोरा।
सहिहि निठुर कठोर उर मोरा॥
निज जननी के एक कुमारा।
तात तासु तुम्ह प्रान अधारा॥
सौंपेसि मोहि तुम्हहि गहि पानी।
सब बिधि सुखद परम हित जानी॥
उतरु काह दैहउँ तेहि जाई।
उठि किन मोहि सिखावहु भाई॥
बहु बिधि सोचत सोच बिमोचन।
स्रवत सलिल राजिव दल लोचन॥
उमा एक अखंड रघुराई।
नर गति भगत कृपाल देखाई॥
प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर।

(श्रीरामचरित०, लङ्का०, ६०। १-९; ६१)

'आधी रात बीत चुकी, हनुमान् नहीं आये।' यह कहकर श्रीरामजीने छोटे भाई लक्ष्मणको उठाकर हृदयसे लगा लिया [और बोले—] हे भाई! तुम मुझे कभी दुखी नहीं देख सकते थे। तुम्हारा स्वभाव सदासे ही कोमल था। मेरे हितके लिये तुमने माता-पिताको भी छोड़ दिया और वनमें जाड़ा, गरमी और हवा—सब सहन किया। हे भाई! वह प्रेम अब कहाँ है? मेरे व्याकुलतापूर्ण वचन सुनकर उठते क्यों नहीं? यदि मैं जानता कि वनमें भाईका विछोह होगा तो मैं पिताके उस वचनको (जिसका मानना मेरे लिये परम कर्तव्य था) भी नहीं मानता। पुत्र, धन, स्त्री, घर और परिवार—ये जगत्‌में बार-बार होते और जाते हैं, परंतु जगत्‌में सहोदर भाई बार-बार नहीं मिलता। हृदयमें यों विचारकर हे तात! जागो। जैसे पंख बिना पक्षी, मणि बिना सर्प और सूँड़ बिना श्रेष्ठ हाथी अत्यन्त दीन हो जाते हैं, हे भाई! यदि कहीं जड़ दैव मुझे जीवित रखे तो तुम्हारे बिना मेरा जीवन ऐसा ही होगा। स्त्रीके लिये प्यारे भाईको खोकर, मैं कौन-सा मुँह लेकर अवध जाऊँगा। मैं जगत्‌में बदनामी भले ही सह लेता (कि राममें कुछ भी वीरता नहीं है जो स्त्रीको खो बैठा)। स्त्रीकी हानिसे [इस हानि

देखते] कोई विशेष क्षति नहीं थी। अब तो हे पुत्र! मेरा निठुर और कठोर हृदय यह अपयश और तुम्हारा शोक—दोनों ही सहन करेगा। हे तात! तुम अपनी माताके एक ही पुत्र और उसके प्राणाधार हो। [अथवा मैं (राम) अपनी माताके एक ही पुत्र हूँ और उसके (मेरे) तुम प्राणाधार हो।] सब प्रकारसे सुख देनेवाला और परम हितकारी जानकर माताने तुम्हें हाथ पकड़कर मुझे सौंपा था। मैं अब जाकर उन्हें क्या उत्तर दूँगा? हे भाई! तुम उठकर मुझे सिखाते (समझाते) क्यों नहीं?

'सोचसे छुड़ानेवाले श्रीरामजी बहुत प्रकारसे सोच कर रहे हैं। उनके कमलकी पँखुड़ीके समान नेत्रोंसे [विषादके आँसुओंका] जल बह रहा है। [शिवजी कहते हैं—हे उमा! श्रीरघुनाथजी एक (अद्वितीय) और अखण्ड (वियोगरहित) हैं। भक्तोंपर कृपा करनेवाले भगवान्ने (लीला करके) मनुष्यकी दशा दिखलायी है। प्रभुके [लीलाके लिये किये गये] प्रलापको कानोंसे सुनकर वानरोंके समूह व्याकुल हो गये।'

लक्ष्मण-मूर्छा

राम लखन उर लाय लए हैं।
भरे नीर राजीव-नयन, सब अँग परिताप तए हैं॥
कहत ससोक बिलोकि बंधु-मुख बचन प्रीति-गुथए हैं।
सेवक-सखा भगति-भायप-गुन चाहत अब अथए हैं॥
निज कीरति-करतूति, तात! तुम सुकृती सकल जए हैं।
मैं तुम्ह बिनु तनु राखि लोक अपने अपलोक लए हैं॥
मेरे पनकी लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दए हैं।
लागति साँगि बिभीषन ही पर, सीपर आपु भए हैं॥
सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि-गन, सुर सोच सुखाइ गए हैं।
तुलसी आइ पवनसुत बिधि मानो फिरि निरमये नए हैं॥

मोपै तौ न कछू ह्वै आई।
ओर निबाहि भली बिधि भायप चल्यो लखन-सो भाई॥
पुर, पितु-मातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन-बिपति बँटाई।
ता सँग हौं सुरलोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई॥
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा-सुतको दरकि दरार न जाई॥
तात-मरन, तिय-हरन, गीध-बध, भुज दाहिनी गँवाई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु, सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेर्‌यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन-सो भ्राता॥
गिरि, कानन जैहैं साखामृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु-बचन भालु-कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवंत हनुमंत बोलि तब, औसर जानि प्रचारे॥
(गीतावली, लङ्काकाण्ड ५—७)

[जिस समय मेघनादकी शक्ति खाकर लक्ष्मणजी मूर्छित हो गये और हनुमान्‌जी उन्हें भगवान् रामके पास ले आये, उस समय] रघुनाथजीने लक्ष्मणजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। उनके नेत्र-कमल जलसे भर आये और सब अङ्ग परितापसे संतप्त हो गये। वे भाईका मुख देखकर अत्यन्त शोकयुक्त हो ये प्रीतिग्रथित वचन कहने लगे—'अब सेवक, सखा, भक्ति और भ्रातृत्वके सारे गुण अस्त होनेवाले हैं। हे तात! अपनी कीर्ति और कृतिसे तुमने समस्त सुकृतियोंको जीत लिया। अब तुम्हारे बिना इस शरीरको रखकर मैंने इस लोकमें अपकीर्ति ही कमायी है। अहो! मेरी प्रतिज्ञाकी तुम्हें यहाँतक लाज है कि उसके लिये अपने प्रिय प्राणतक दे डाले हैं; इसीलिये यद्यपि शक्ति तो विभीषणके हृदयपर लगनेवाली थी, परंतु उसकी रक्षा करनेके लिये तुम उसकी ढाल बन गये!' प्रभुके ये वचन सुनकर रीछ, वानर और देवतागण शोकसे सूख गये। तुलसीदासजी कहते हैं, इसी समय ब्रह्मारूप हनूमान्‌जीने [ओषधिके सहित आकर] मानो उन्हें फिरसे नया बना दिया।

'हाय! मुझसे तो कुछ भी नहीं बना! आज लक्ष्मण-जैसा भाई भी भ्रातृत्वका अन्ततक अच्छी तरह निर्वाह करके चला गया। जिसने नगर, पिता, माता और सब प्रकारके सुख त्यागकर मेरी वनकी विपत्तिको बँटाया था, उसके साथ मैं अपने प्राणोंको भी शोक त्यागकर सुरलोक नहीं भेज सका! जान पड़ता है, वज्रने भी मेरे इस कठोर हृदयसे ही कठिनता प्राप्त की है, इसीसे सुमित्रानन्दनके स्नेहका स्मरण करके इसमें फटकर कोई दरार नहीं पड़ी। हाय! मेरे कारण ही पिताजीकी मृत्यु हुई, स्त्रीका अपहरण हुआ, गृध्रराजके प्राण गये और अब मुझे यह दाहिनी भुजा (लक्ष्मण) भी गँवानी पड़ी। इस प्रकार मैंने सब तरह अपने कुलको कलङ्क ही लगाया है।

'अब मेरा सारा पुरुषार्थ थक गया। अपनी विपत्तिको बँटानेवाले भाईरूप भुजाके बिना अब मैं किसका भरोसा करूँ ? सुग्रीव ! सुनो, विधाताने सचमुच मेरी ओरसे मुँह फेर रक्खा है; इसीसे ऐसे समय युद्धका संकट उपस्थित होनेपर मुझे लक्ष्मण-जैसे भाईने त्याग दिया। वानर तो पर्वत और वनोंमें चले जायँगे और मैं भैया लक्ष्मणका साथ पकड़ूँगा; परंतु मेरे हृदयमें यही सोच भरा हुआ है कि विभीषणकी क्या गति होगी।' तुलसीदासजी कहते हैं, प्रभुके ये वचन सुनकर सब रीछ-वानर हृदयमें व्याकुल होकर थकित हो गये। तब जाम्बवान्‌ने हनुमान्‌जीको बुलाकर उत्तेजित किया।

पिता दशरथसे भरतके लिये प्रार्थना

युद्धभूमिमें महादेवजीने श्रीरामका अभिनन्दन किया और उनके भावी कार्य-क्रमकी ओर संकेत करके विमानपर बैठे हुए राजा दशरथको प्रणाम करनेकी आज्ञा दी। उनकी आज्ञासे दोनों भाइयोंने पिताको अच्छी तरह देखा और उन्हें प्रणाम किया। राजा दशरथने बारी-बारीसे दोनोंको हृदयसे लगाकर उनका अभिनन्दन किया और बताया—'सौम्य ! आज इन देवताओंके द्वारा मुझे ज्ञात हुआ कि रावणका वध करनेके लिये साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम ही तुम्हारे रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। आज तुम दोनों भाइयोंसे मिलकर मेरा सारा आन्तरिक दुःख दूर हो गया।' उस समय श्रीरामने हाथ जोड़कर पितासे कहा—

भरत और कैकेयीपर कृपाकी प्रार्थना

> कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च।
> सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता कैकयी त्वया॥
> स शापः कैकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो।
>
> (वा० रा०, युद्ध० ११९। २५½)

'धर्मज्ञ महाराज ! आप कैकेयी और भरतपर प्रसन्न हों—उन दोनोंपर कृपा करें। प्रभो ! आपने जो कैकेयी-से कहा था कि मैं पुत्रसहित तेरा त्याग करता हूँ, आपका वह घोर शाप पुत्रसहित कैकेयीका स्पर्श न करे।'

तब 'बहुत अच्छा' कहकर महाराज दशरथने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और लक्ष्मणको हृदयसे लगाकर फिर यह बात कही—'वत्स ! तुमने सीताके साथ श्रीरामकी भक्तिपूर्वक सेवा करके मुझे बहुत प्रसन्न किया है। तुम्हें धर्मका फल प्राप्त हुआ है। तुम भविष्यमें भी धर्मका फल और भूतलपर महान् यश प्राप्त करोगे।' इसके बाद वे सीतासे बोले—'बेटी ! तुमने विशुद्ध चरित्रको परिलक्षित करानेके लिये जो अग्नि-परीक्षा दी है, वह दूसरी स्त्रियोंके लिये अत्यन्त दुष्कर है। तुम्हारा यह कार्य अन्य नारियोंके यशको ढक लेगा। पतिकी सेवाके सम्बन्धमें भले ही तुम्हें कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता न हो; किंतु इतना तो मुझे अवश्य बता देना चाहिये कि ये श्रीराम ही तुम्हारे सबसे बड़े देवता हैं।' इतना कहकर पुत्रोंसे विदा ले राजा दशरथ देवराज इन्द्रके लोकमें चले गये।

लङ्कासे प्रस्थानके समय

श्रीरामको अयोध्या जाने और भ्राताओं तथा माताओंसे मिलनेकी आज्ञा दे देवतागण अपने-अपने लोकको चले गये। उस रात्रिको वहीं विश्राम करके जब शत्रुसूदन श्रीराम दूसरे दिन प्रातःकाल सुखपूर्वक उठे, तब विभीषणने हाथ जोड़ उनसे स्नान आदि करके अङ्गराग एवं वस्त्राभूषण धारण करनेकी प्रार्थना की।

> एवमुक्तस्तु काकुत्स्थः प्रत्युवाच विभीषणम्।
> हरीन् सुग्रीवमुख्यांस्त्वं स्नानेनोपनिमन्त्रय॥
> स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः।
> सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः॥
> तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
> न मे स्नानं बहु मतं वस्त्राण्याभरणानि च॥
> एतत् पश्य यथा क्षिप्रं प्रतिगच्छाम तां पुरीम्।
> अयोध्यां गच्छतो ह्येष पन्थाः परमदुर्गमः॥
>
> (वा० रा०, युद्ध० १२१। ४—७)

विभीषणके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे कहा—'मित्र ! तुम सुग्रीव आदि वानरवीरोंसे स्नानके लिये अनुरोध करो। मेरे लिये तो इस समय सत्यका

आश्रय लेनेवाले धर्मात्मा महाबाहु भरत बहुत कष्ट सह रहे हैं। वे सुकुमार हैं और सुख पानेके योग्य हैं। उन धर्मपरायण कैकेयीकुमार भरतसे मिले बिना न तो मुझे स्नान अच्छा लगता है, न वस्त्र और आभूषणोंको धारण करना ही। अब तो तुम इस बातकी ओर ध्यान दो कि हम किस तरह जल्दी-से-जल्दी अयोध्यापुरीको लौट सकेंगे; क्योंकि वहाँतक पैदल यात्रा करनेवालेके लिये यह मार्ग बहुत ही दुर्गम है।'

उनके यों कहनेपर विभीषणने श्रीरामचन्द्रजीको इस प्रकार उत्तर दिया—'राजकुमार! आप इसके लिये चिन्तित न हों। मैं एक दिनमें आपको उस पुरीमें पहुँचा दूँगा। आपका कल्याण हो। मेरे यहाँ मेरे बड़े भाई कुबेरका सूर्यतुल्य तेजस्वी पुष्पकविमान मौजूद है, जिसे महाबली रावणने संग्राममें कुबेरको हराकर छीन लिया था। अतुल पराक्रमी श्रीराम! वह इच्छानुसार चलनेवाला, दिव्य एवं उत्तम विमान मैंने यहाँ आपके ही लिये रख छोड़ा है।' जब विभीषणने ऐसी बात कही; तब श्रीराम समस्त राक्षसों और वानरोंके सुनते हुए ही उनसे बोले—

पूजितोऽसि त्वया वीर साचिव्येन परेण च।
सर्वात्मना च चेष्टाभिः सौहार्देन परेण च॥
न खल्वेतन्न कुर्यां ते वचनं राक्षसेश्वर।
तं तु मे भ्रातरं द्रष्टुं भरतं त्वरते मनः॥
मां निवर्तयितुं योऽसौ चित्रकूटमुपागतः।
शिरसा याचतो यस्य वचनं न कृतं मया॥
कौसल्यां च सुमित्रां च कैकेयीं च यशस्विनीम्।
गुहं च सुहृदं चैव पौराञ्जानपदैः सह॥
अनुजानीहि मां सौम्य पूजितोऽस्मि विभीषण।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः सखे त्वां चानुमानये॥
उपस्थापय मे शीघ्रं विमानं राक्षसेश्वर।
कृतकार्यस्य मे वासः कथं स्यादिह सम्मतः॥
(वा० रा०, युद्ध० १२१। १७—२२)

'वीर! मेरे परम सुहृद् और उत्तम सचिव बनकर ... प्रकारकी चेष्टाओंद्वारा मेरा सम्मान और पूजन किया है। राक्षसेश्वर! तुम्हारी इस बातको मैं निश्चय ही अस्वीकार नहीं कर सकता; परंतु इस समय मेरा मन अपने उन भाई भरतको देखनेके लिये उतावला हो उठा है, जो मुझे लौटा ले जानेके लिये चित्रकूटतक आये थे और मेरे चरणोंमें सिर झुकाकर याचना करनेपर भी जिनकी बात मैंने नहीं मानी थी। उनके सिवा माता कौसल्या, सुमित्रा, यशस्विनी कैकेयी, मित्रवर गुह और नगर एवं जनपदके लोगोंको देखनेके लिये भी मुझे बड़ी उत्कण्ठा हो रही है। सौम्य विभीषण! अब तो तुम मुझे जानेकी ही अनुमति दो। मैं तुम्हारे द्वारा बहुत सम्मानित हो चुका हूँ। सखे! मेरे इस हठके कारण मुझपर क्रोध न करना। इसके लिये मैं तुमसे बार-बार प्रार्थना करता हूँ। राक्षसराज! अब शीघ्र मेरे लिये पुष्पकविमानको यहाँ मँगाओ। जब मेरा यहाँ कार्य समाप्त हो गया, तब यहाँ ठहरना मेरे लिये कैसे ठीक हो सकता है।'

अध्यात्मरामायण और मानसमें यह प्रसङ्ग

युद्ध समाप्त हुआ। भूभारभूत रावण मारा गया। लङ्केश विभीषण चाहते हैं कि अब प्रभु स्नान करें; किंतु श्रीरामका चित्त तो अयोध्या पहुँच गया है। वे कह रहे हैं—

सुकुमारोऽतिभक्तो मे भरतो मामवेक्षते।
जटावल्कलधारी स ब्रह्मलसमाहितः॥
कथं तेन विना स्नानमलंकारादिकं मम।
अतः सुग्रीवमुख्यांस्त्वं पूजयाशु विशेषतः॥
पूजितेषु कपीन्द्रेषु पूजितोऽहं न संशयः।
(अध्यात्म०, युद्ध० १३। ४३—४५)

'मेरा भाई भरत अति सुकुमार और मेरा भ... है; वह जटा-वल्कल धारण किये भगवन्नाममें तत्... हुआ मेरी बाट देखता होगा। उससे मिले बिना

कैसे स्नान अथवा वस्त्राभूषण धारण कर सकता हूँ ? अतः अब तुम शीघ्र ही सुग्रीवादि वानरोंका ही विशेष सत्कार कर दो। इन वानर वीरोंका सत्कार होनेसे मेरा ही सत्कार होगा—इसमें संदेह नहीं।'

प्रभु विभीषणसे कहते हैं—

तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन सुनु भ्रात।
भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥
तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥
करेहु कल्प भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं।
पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं॥
(श्रीरामचरित, लंका० ११६ [क—घ])

[श्रीरामजीने कहा—] 'हे भाई ! सुनो, तुम्हारा खजाना और घर—सब मेरा ही है, यह बात सच है; पर भरतकी दशा याद करके मुझे एक-एक पल कल्पके समान बीत रहा है। वे तपस्वीके वेषमें कृश (दुबले) शरीरसे निरन्तर मेरा नाम-जप कर रहे हैं। हे सखा ! वही उपाय करो, जिससे मैं जल्दी-से-जल्दी उन्हें देख सकूँ। मैं तुमसे निहोरा (अनुरोध) करता हूँ। यदि अवधि बीत जानेपर जाता हूँ तो भाईको जीता न पाऊँगा।' छोटे भाई भरतजीकी प्रीतिका स्मरण करके प्रभुका शरीर बार-बार पुलकित हो रहा है। [श्रीरामजीने फिर कहा—] 'हे विभीषण ! तुम कल्पभर राज्य करना, मनमें निरन्तर मेरा स्मरण करते रहना। फिर तुम मेरे उस धामको पा जाओगे जहाँ सब संत जाते हैं।'

पुष्पकद्वारा प्रयाग पहुँचनेपर महर्षि भरद्वाजको प्रणाम करके पहली बात उनसे प्रभु यही पूछते हैं—

शृणोषि कच्चिद् भगवन् सुभिक्षानामयं पुरे।
कच्चित् स युक्तो भरतो जीवन्त्यपि च मातरः॥
(वा० रा०, युद्ध० १२४। २)

'भगवन् ! आपने अयोध्यापुरीके विषयमें भी कुछ सुना है ? वहाँ सुकाल और कुशल-मङ्गल तो है न ? भरत प्रजापालनमें तत्पर रहते हैं न ? मेरी माताएँ जीवित हैं न ?'

श्रीरामचन्द्रजीके इस प्रकार पूछनेपर महामुनि भरद्वाजने कहा—'रघुनन्दन ! भरत आपकी आज्ञाके अधीन हैं। वे जटा बढ़ाये आपके आगमनकी प्रतीक्षा करते हैं। आपकी चरणपादुकाओंको सामने रखकर सारा कार्य करते हैं। आपके घरपर और नगरमें भी सब कुशल है। आपके वनमें जानेके बादसे अबतक वहाँ जो घटनाएँ घटित हुई हैं, उन सबको मैं अपनी तपस्याके बलसे जानता रहा हूँ। देवराज इन्द्रने आपको वर दिया था। आज मैं भी आपको वर दे रहा हूँ। आपकी जो इच्छा हो, माँग लें। आजकी रातमें यहीं रहकर आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करें। कल सवेरे अयोध्याको जाइयेगा।' मुनिकी आज्ञा शिरोधार्य करके श्रीरामने उनसे यह वर माँगा—

मार्गके वृक्ष फलोंसे सम्पन्न हों

अकालफलिनो वृक्षाः सर्वे चापि मधुस्रवाः।
फलान्यमृतगन्धीनि बहूनि विविधानि च।
भवन्तु मार्गे भगवन्नयोध्यां प्रति गच्छतः॥
(वा० रा०, युद्ध० १२४। १९)

'भगवन् ! यहाँसे अयोध्या जाते समय मार्गके सब वृक्षोंमें समय न होनेपर भी फल उत्पन्न हो जायँ और वे सब-के-सब मधुकी धारा टपकानेवाले हों। उनमें नाना प्रकारके बहुत-से अमृतोपम सुगन्धित फल लग जायँ।'

भरत राज्य करना चाहते हैं तो मुझे इसमें प्रसन्नता है, मैं अयोध्या न जाऊँ—इस विचारसे पता लगानेके लिये हनुमान्‌को अयोध्या भेजना

महर्षि भरद्वाजसे समाचार सुन लेनेपर रामको पूरा संतोष नहीं हुआ। वे श्रीहनुमान्‌जीको अयोध्या भेजते हैं और यह आदेश देते हैं—स्पष्ट करते हैं कि भरत जैसे प्रसन्न हों, वही उन्हें अभीष्ट है।

अयोध्यां त्वरितो गत्वा शीघ्रं प्लवगसत्तम।
जानीहि कच्चित् कुशली जनो नृपतिमन्दिरे॥

शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहं गहनगोचरम् ।
निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम ॥
श्रुत्वा तु मां कुशलिनमरोगं विगतज्वरम् ।
भविष्यति गुहः प्रीतः स ममात्मसमः सखा ॥
अयोध्यायाश्च ते मार्गं प्रवृत्तिं भरतस्य च ।
निवेदयिष्यति प्रीतो निषादाधिपतिर्गुहः ॥
भरतस्तु त्वया वाच्यः कुशलं वचनान्मम ।
सिद्धार्थं शंस मां तस्मै सभार्यं सहलक्ष्मणम् ॥
हरणं चापि वैदेह्या रावणेन बलीयसा ।
सुग्रीवेण च संवादं वालिनश्च वधं रणे ॥
मैथिल्यन्वेषणं चैव यथा चाधिगता त्वया ।
लङ्घयित्वा महातोयमापगापतिमव्ययम् ॥
उपयानं समुद्रस्य सागरस्य च दर्शनम् ।
यथा च कारितः सेतू रावणश्च यथा हतः ॥
वरदानं महेन्द्रेण ब्रह्मणा वरुणेन च ।
महादेवप्रसादाच्च पित्रा मम समागमम् ॥
उपयातं च मां सौम्य भरताय निवेदय ।
सह राक्षसराजेन हरीणामीश्वरेण च ॥
जित्वा शत्रुगणान् रामः प्राप्य चानुत्तमं यशः ।
उपयाति समृद्धार्थः सह मित्रैर्महाबलैः ॥
एतच्छ्रुत्वा यमाकारं भजते भरतस्ततः ।
स च ते वेदितव्यः स्यात् सर्वं यच्चापि मां प्रति ॥
ज्ञेयाः सर्वे च वृत्तान्ता भरतस्येङ्गितानि च ।
तत्त्वेन मुखवर्णेन दृष्ट्या व्याभाषितेन च ॥
सर्वकामसमृद्धं हि हस्त्यश्वरथसंकुलम् ।
पितृपैतामहं राज्यं कस्य नावर्तयेन्मनः ॥
संगत्या भरतः श्रीमान् राज्येनार्थी स्वयं भवेत् ।
प्रशास्तु वसुधां सर्वामखिलां रघुनन्दनः ॥
तस्य बुद्धिं च विज्ञाय व्यवसायं च वानर ।
यावन्न दूरं याताः स्मः क्षिप्रमागन्तुमर्हसि ॥

(वा० रा०, युद्ध० १२५ । ३—१८)

'कपिश्रेष्ठ ! तुम शीघ्र ही अयोध्यामें जाकर पता लो कि राजभवनमें सब लोग सकुशल तो हैं न । शृङ्गवेरपुरमें पहुँचकर वनवासी निषादराज गुहसे भी मिलना और मेरी ओरसे कुशल कहना । मुझे सकुशल, नीरोग और चिन्तारहित सुनकर निषादराज गुहको बड़ी प्रसन्नता होगी; क्योंकि वह मेरा मित्र है, मेरे लिये आत्माके समान है । निषादराज गुह प्रसन्न होकर तुम्हें अयोध्याका मार्ग और भरतका समाचार बतायेगा । भरतके पास जाकर तुम मेरी ओरसे उनका कुशल पूछना और उन्हें सीता एवं लक्ष्मणसहित मेरे सफलमनोरथ होकर लौटनेका समाचार बताना । बलवान् रावणके द्वारा सीताजीके हरे जानेका, सुग्रीवसे बातचीत होनेका, रणभूमिमें वालीके वधका, सीताजीकी खोजका, तुमने जो महान् जलराशिसे भरे हुए अपार महासागरको लाँघकर जिस तरह सीताका पता लगाया था उसका, फिर समुद्रतटपर मेरे जानेका, सागरके दर्शन देनेका, उसपर पुल बनानेका, रावणके वधका, इन्द्र, ब्रह्मा और वरुणसे मिलने एवं वरदान पानेका और महादेवजीके प्रसादसे पिताजीके दर्शन होनेका वृत्तान्त उन्हें सुनाना । सौम्य ! फिर भरतसे यह भी निवेदन करना कि श्रीराम शत्रुओंको जीतकर परम उत्तम यश पाकर, सफलमनोरथ हो राक्षसराज विभीषण, वानरराज सुग्रीव तथा अपने अन्य महाबली मित्रोंके साथ आ रहे हैं और प्रयागतक आ पहुँचे हैं । यह बात सुनकर भरतकी जैसी मुख-मुद्रा हो, उसपर ध्यान रखना और समझना तथा भरतका मेरे प्रति जो कर्तव्य या बर्ताव हो, उसको भी जाननेका प्रयत्न करना । वहाँके सारे वृत्तान्त तथा भरतकी चेष्टाएँ तुम्हें यथार्थरूपसे जाननी चाहिये । मुखकी कान्ति, दृष्टि और बातचीतसे उनके मनोभावको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये । समस्त मनोवाञ्छित भोगोंसे सम्पन्न तथा हाथी, घोड़े और रथोंसे भरपूर बाप-दादोंका

राज्य सुलभ हो तो वह किसके मनको नहीं पलट देता ? यदि कैकेयीकी संगति अथवा चिरकालतक राज्यवैभवका संसर्ग होनेसे श्रीमान् भरत स्वयं ही राज्य पानेकी इच्छा रखते हों तो वे रघुकुलनन्दन भरत बेखटके समस्त भूमण्डलका राज्य करें (मुझे इसमें बड़ी प्रसन्नता होगी। उस दशामें मैं कहीं अन्यत्र रहकर तपस्वी-जीवन व्यतीत करूँगा)। वानरवीर ! तुम भरतके विचार और निश्चयको जानकर जबतक हमलोग इस आश्रमसे दूर न चले जायँ तभीतक शीघ्र लौट आना।'

प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई।
धरि बटु रूप अवधपुर जाई॥
भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु।
समाचार लै तुम्ह चलि आएहु॥
(श्रीरामचरित०, लंका० १२०।१)

तदनन्तर प्रभुने हनुमान्जीको समझाकर कहा—तुम ब्रह्मचारीका रूप धरकर अवधपुरीको जाओ। भरतको हमारी कुशल सुनाना और उनका समाचार लेकर चले आना।
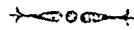
श्रीरामका मैत्रीधर्म

मित्र सुग्रीवके प्रति मैत्री-धर्मका वर्णन और उसके शत्रु वालीको मारनेकी प्रतिज्ञा

सीतान्वेषण करते ऋष्यमूकगिरिके समीप पहुँचनेपर श्रीरामके समीप सुग्रीवके भेजे हनुमान्जी आये। परस्पर परिचय हुआ। पवनकुमारने श्रीरामसे प्रस्ताव किया कि आप सुग्रीवसे मित्रता कर लें। तब लक्ष्मणने हनुमान्जीसे कहा—'साधुशिरोमणि हनुमान्जी ! हमें महात्मा सुग्रीवके गुण ज्ञात हो चुके हैं। हम उन्हींकी खोजमें यहाँ आये हैं। आप सुग्रीवके कथनानुसार जो मैत्रीकी बात चला रहे हैं, वह हमें स्वीकार है। हम आपके कहनेसे ऐसा कर सकते हैं।' तदनन्तर हनुमान्जीके पूछनेपर श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणने वनमें आने तथा सीताजीके हरे जानेका वृत्तान्त बताया और इस कार्यमें सुग्रीवसे सहयोग पानेकी इच्छा व्यक्त की। हनुमान्जीने उन्हें आश्वासन दिया और उन दोनों भाइयोंको अपने साथ ले गये। उन्होंने उन दोनों बन्धुओंको सुग्रीवके वासस्थानपर बिठा दिया और मलयपर्वतपर, जो ऋष्यमूकका एक शिखर है, जाकर सुग्रीवके समक्ष उन दोनों रघुवंशी वीरोंका परिचय देकर कहा—'पिताके द्वारा कैकेयीको दिये गये वचनका पालन करनेके लिये ये लोग इस वनमें आये हैं। यहाँसे रावणने इनकी पत्नीका अपहरण किया है, जिसकी खोजके लिये इन्हें आप-जैसे सहायककी आवश्यकता है। ये दोनों भाई आपसे मित्रता चाहते हैं। आप चलकर इन्हें अपनायें और उनका यथोचित सत्कार करें। ये दोनों वीर हम-लोगोंके लिये परम पूजनीय हैं।' हनुमान्जीकी यह बात सुनकर वानरराज सुग्रीव रघुनाथजीके पास आये और बड़े प्रेमसे बोले—'प्रभो ! आप धर्मात्मा, परम तपस्वी और सबपर दया करनेवाले हैं। पवनपुत्र हनुमान्जीसे मुझे आपके यथार्थ गुणोंका परिचय मिल चुका है। आप जो मेरे साथ मैत्री करना चाहते हैं, इसमें मेरा ही सत्कार है। मेरा यह हाथ फैला हुआ है। आप इसे अपने हाथमें ले लें और मैत्रीको अटूट बनानेके लिये कोई स्थिर मर्यादा बाँध दें।' सुग्रीवका यह सुन्दर वचन सुनकर श्रीरामका चित्त प्रसन्न हो गया। उन्होंने अपने हाथसे उनका हाथ पकड़कर दबाया और सौहार्दपूर्वक उन्हें छातीसे लगा लिया। हनुमान्जीने दो लकड़ियोंको रगड़कर आग पैदा की और उस अग्निको प्रज्वलित करके फूलोंद्वारा सादर अग्निदेवका पूजन किया। फिर उन्हींको उन दोनोंकी मैत्रीका साक्षी बनाया। सुग्रीव और श्रीरामने उस प्रज्वलित अग्निकी परिक्रमा की और दोनों एक दूसरेके मित्र बन गये। उस समय हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने श्रीरामसे कहा—'आप मेरे प्रिय मित्र हैं। आजसे हम दोनोंका सुख और दुःख एक है। महाभाग ! वालीके भयसे पीड़ित हुए मुझ सेवकको आप अभय-दान दीजिये।' तब श्रीरामने हँसते हुए-से अपने मित्रको इस प्रकार उत्तर दिया—

उपकारफलं मित्रं विदितं मे महाकपे॥
वालिनं तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम्।
अमोघाः सूर्यसंकाशा ममेमे निशिताः शराः।'

तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः ।
कङ्कपत्रप्रतिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः ॥
तीक्ष्णाग्रा ऋजुपर्वाणः सरोषा भुजगा इव ।
तमद्य वालिनं पश्य तीक्ष्णैराशीविषोपमैः ॥
शरैर्विनिहतं भूमौ प्रकीर्णमिव पर्वतम् ।
(वा० रा०, किष्किन्धा० ५ । २५–२८½)

'महाकपे ! मुझे ज्ञात है कि मित्र उपकाररूपी फल देनेवाला होता है । मैं तुम्हारी पत्नीका अपहरण करनेवाले वालीका वध कर दूँगा । मेरे तूणीरमें संगृहीत हुए ये सूर्यतुल्य तेजस्वी बाण अमोघ हैं—इनका वार खाली नहीं जाता । ये बड़े वेगशाली हैं । इनमें कङ्क पक्षीके परोंके पंख लगे हुए हैं, जिनसे ये आच्छादित हैं । इनके अग्रभाग बड़े तीखे हैं और गाँठें भी सीधी हैं । ये रोषमें भरे हुए सर्पोंके समान छूटते हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति भयंकर चोट करते हैं । उस दुराचारी वालीपर मेरे ये बाण अवश्य गिरेंगे । आज देखना, मैं अपने विषधर सर्पोंके समान तीखे बाणोंसे मारकर वालीको पृथ्वीपर गिरा दूँगा । वह इन्द्रके वज्रसे टूट-फूटकर गिरे हुए पर्वतके समान दिखायी देगा ।'

उस श्रेष्ठ पर्वतपर, जहाँ सब ओर सालके पुष्प बिखरे थे, सुखपूर्वक बैठे हुए श्रीराम शान्त समुद्रके समान ..न दिखायी देते थे । उन्हें देखकर अत्यन्त हर्षसे भरे हुए सुग्रीवने स्निग्ध एवं सुन्दर वाणीमें वार्तालाप आरम्भ किया—'प्रभो ! मेरे भाईने मुझे घरसे निकालकर मेरी स्त्रीको भी छीन लिया है । मैं उसीके भयसे अत्यन्त पीडित एवं दुखी होकर इस पर्वतश्रेष्ठ ऋष्यमूकपर विचरता रहता हूँ । मुझे बराबर उसका त्रास बना रहता है । मैं भयमें डूबा रहकर भ्रान्तचित्त हो इस वनमें भटकता फिरता हूँ । रघुनन्दन ! मेरे भाई वालीने मुझे घरसे निकालनेके बाद भी मेरे साथ वैर बाँध रक्खा है । प्रभो ! आप समस्त लोकोंको अभय देनेवाले हैं । मैं वालीके भयसे दुखी और अनाथ हूँ; अतः आपको मुझपर भी कृपा करनी चाहिये ।' सुग्रीवके यों कहनेपर तेजस्वी, धर्मज्ञ एवं धर्मवत्सल भगवान् श्रीरामने उन्हें हँसते हुए-से इस प्रकार उत्तर दिया—

उपकारफलं मित्रमपकारोऽरिलक्षणम् ।
अद्यैव तं वधिष्यामि तव भार्यापहारिणम् ॥
इमे हि मे महाभाग पत्रिणस्तिग्मतेजसः ।
कार्तिकेयवनोद्भूताः शरा हेमविभूषिताः ॥
कङ्कपत्रपरिच्छन्ना महेन्द्राशनिसंनिभाः ।
सुपर्वाणः सुतीक्ष्णाग्राः सरोषा भुजगा इव ॥
वालिसंज्ञममित्रं ते भ्रातरं कृतकिल्बिषम् ।
शरैर्विनिहतं पश्य विकीर्णमिव पर्वतम् ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ८ । २१–२४)

'सखे ! उपकार ही मित्रताका फल है और अपकार शत्रुताका लक्षण है; अतः मैं आज ही तुम्हारी स्त्रीका अपहरण करनेवाले उस वालीका वध करूँगा । महाभाग ! मेरे इन बाणोंका तेज प्रचण्ड है । सुवर्ण-भूषित ये शर कार्तिकेयकी उत्पत्तिके स्थानभूत शरोंके वनमें उत्पन्न हुए हैं (इसलिये अभेद्य हैं) । ये कङ्क-पक्षीके परोंसे युक्त हैं और इन्द्रके वज्रकी भाँति अमोघ हैं । इनकी गाँठें सुन्दर और अग्रभाग तीखे हैं । ये रोषमें भरे भुजंगोंकी भाँति भयंकर हैं । इन बाणोंसे तुम अपने वाली नामक शत्रुको, जो भाई होकर भी तुम्हारी बुराई कर रहा है, विदीर्ण हुए पर्वतकी भाँति मरकर पृथ्वीपर पड़ा देखोगे ।'

श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर वानरसेनापति सुग्रीवको अनुपम प्रसन्नता प्राप्त हुई । तब श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—'तुम दोनों भाइयोंमें वैर पड़नेका क्या कारण है, यह मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ।'

सुखं हि कारणं श्रुत्वा वैरस्य तव वानर ।
आनन्तर्याद् विधास्यामि सम्प्रधार्य बलाबलम् ॥
बलवान् हि ममामर्षः श्रुत्वा त्वामवमानितम् ।
वर्धते हृदयोत्कम्पी प्रावृड्वेग इवाम्भसः ॥
हृष्टः कथय विस्रब्धो यावदारोप्यते धनुः ।
सृष्टश्च हि मया बाणो निरस्तश्च रिपुस्तव ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ८ । ४२–४४)

'वानरराज ! तुमलोगोंकी शत्रुताका कारण सुनकर तुम दोनोंकी प्रबलता और निर्बलताका निश्चय करके फिर तत्काल ही तुम्हें सुखी बनानेवाला उपाय करूँगा । जैसे वर्षाकालमें नदी आदिका वेग बहुत बढ़ जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे अपमानित होनेकी बात सुनकर मेरा प्रबल रोष बढ़ता जा रहा है और मेरे हृदयको कम्पित किये देता है । मेरे धनुष चढ़ानेके पहले ही तुम अपनी सब बातें प्रसन्नतापूर्वक कह डालो; क्योंकि ज्यों ही मैंने बाण छोड़ा, तुम्हारा शत्रु तत्काल कालके गालमें चला जायगा ।'

महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके यों कहनेपर सुग्रीवको अपने चारों वानरोंके साथ अपार हर्ष हुआ । उनके इस प्रकार पूछनेपर सुग्रीवने श्रीरामचन्द्रजीको वालीके साथ अपने वैर होनेका कारण बताया । इसी प्रसङ्गमें उन्होंने यह भी कहा कि 'मुझसे अनजानमें जो अपराध हो गया था, उसके लिये मैंने वालीके चरणोंमें मस्तक रखकर क्षमा माँगी और उन्हें मनानेकी बहुतेरी चेष्टा की; किंतु वे प्रसन्न नहीं हुए । उन्होंने मुझे घरसे निकाल दिया और मेरी स्त्रीको भी छीन लिया । उस समय मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र रह गया था । उसके भयसे मैं सारी पृथ्वीपर मारा-मारा फिरता रहा । अन्ततोगत्वा इस पर्वतपर चला आया; क्योंकि शापवश वाली इस स्थानपर आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है ।' यों कहकर सुग्रीवने वालीके पराक्रमका वर्णन करते हुए उसके द्वारा दुन्दुभि दैत्यके मारे जाने, उसकी लाशके मतंग-वनमें फेंके जाने तथा मतंग मुनिके द्वारा वालीको शाप दिये जानेकी कथा कह सुनायी । तब श्रीरामने सुग्रीवको विश्वास दिलानेके लिये दुन्दुभि दैत्यके शरीरको पैरके अँगूठेसे ठोकर मारकर दस योजन दूर फेंक दिया तथा एक विशाल बाणद्वारा सात साल वृक्षोंका भेदन कर दिया । यह देख सुग्रीवको बड़ा विस्मय हुआ । उन्होंने हाथ जोड़कर धरतीपर माथा टेक दिया और श्रीरघुनाथजीको साष्टाङ्ग प्रणाम करके कहा—'प्रभो ! आज मेरा सारा शोक दूर हो गया । मैं हाथ जोड़ता हूँ । आप आज ही मेरे शत्रुका वध कर डालिये ।' तब श्रीरामने सुग्रीवको किष्किन्धामें भेजा । सुग्रीवने वहाँ वालीको ललकारा; किंतु युद्धमें वालीसे पराजित होकर वे मतङ्ग-वनमें भाग आये । वहाँ श्रीरामने उन्हें आश्वासन दिया और पहचानके लिये गलेमें गजपुष्पी लता डालकर उन्हें पुनः युद्धके लिये भेजा । श्रीराम भी किष्किन्धामें पहुँच गये । सुग्रीवने वहाँ विकट गर्जना की । गर्जना सुनकर वाली पुनः युद्धके लिये चला । किंतु ताराने उसे रोककर सुग्रीव और श्रीरामके साथ मैत्री कर लेनेके लिये समझाया । ताराको डाँटकर वाली सुग्रीवपर टूट पड़ा; किंतु श्रीरामके बाणसे घायल होकर वह पृथ्वीपर गिर पड़ा ।

श्रीरामचरितमानसके अनुसार भगवान्‌ने सुग्रीवको इस प्रकार कहा—

मित्रधर्म

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान ।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान ॥
जे न मित्र दुख होहिं दुखारी ।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी ॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना ।
मित्रक दुख रज मेरु समाना ॥
जिन्ह कें असि मति सहज न आई ।
ते सठ कत हठि करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा ।
गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई ।
बल अनुमान सदा हित करई ॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा ।
श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ॥
आगें कह मृदु बचन बनाई ।
पाछें अनहित मन कुटिलाई ॥
जा कर चित अहि गति सम भाई ।
अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई ॥
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी ।
कपटी मित्र सूल सम चारी ॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें ।
सब बिधि घटब काज मैं तोरें ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० ६, ६ । १—५)

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'सुग्रीव ! सुनो, मैं एक ही बाणसे वालीको मार डालूँगा । ब्रह्मा और रुद्रकी शरणमें जानेपर भी उसके प्राण न बचेंगे ।

'जो लोग मित्रके दुःखसे दुखी नहीं होते, उन्हें देखनेसे ही बड़ा पाप लगता है। अपने पर्वतके समान दुःखको धूलके समान और मित्रके धूलके समान दुःखको मेरु (बड़े भारी पर्वत) के समान जाने। जिन्हें स्वभावसे ही ऐसी बुद्धि प्राप्त नहीं है, वे मूर्ख हठ करके क्यों किसीसे मित्रता करते हैं? मित्रका धर्म है कि वह मित्रको बुरे मार्गसे रोककर अच्छे मार्गपर लाये। उसके गुण प्रकट करे और अवगुणोंको छिपाये। लेने-देनेमें मनमें शङ्का न रक्खे। अपने बलके अनुसार सदा हित ही करता रहे। विपत्तिके समयमें तो सदा सौगुना स्नेह करे। वेद कहते हैं कि संत (श्रेष्ठ) मित्रके गुण (लक्षण) ये हैं।

'जो सामने तो बना-बनाकर कोमल वचन कहता है और पीठ-पीछे बुराई करता है तथा मनमें कुटिलता रखता है—हे भाई! (इस तरह) जिसका मन साँपकी चालकी तरह टेढ़ा है, ऐसे कुमित्रको तो त्यागनेमें ही भलाई है। मूर्ख सेवक, कंजूस राजा, कुलटा स्त्री और कपटी मित्र—ये चारों शूलके समान (पीड़ा देनेवाले) हैं। हे सखा! मेरे बलपर अब तुम चिन्ता छोड़ दो। मैं सब प्रकारसे तुम्हारे काम आऊँगा (तुम्हारी सहायता करूँगा)।'

मैत्री-धर्म समानताका धर्म है। इसमें देना-लेना दोनों है। मित्र कर्तव्यच्युत हो तो उसे मित्र तर्जन-वर्जन करे, यह भी मित्रका ही धर्म है।

× × × ×

सुग्रीवका काम हो गया। वाली मारा गया और वे कपिपति हो गये। यह सब जिनकी कृपासे हुआ, उन अपने परम मित्रके कार्यको वे भूल गये। उनका प्रमाद देखकर श्रीरामको रोष आना चाहिये—आया; किंतु यह मित्रका मित्रपर रोष है, शत्रुपर क्रोध नहीं। अतः जब श्रीरामका रोष देखकर लक्ष्मण सचमुच क्रुद्ध हुए, तब श्रीरामने उन्हें समझाया भी।

श्रीवाल्मीकि-रामायणके अनुसार भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—

प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुरराभिविनादिताः।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः॥
अन्योन्यबद्धवैराणां जिगीषूणां नृपात्मज।
उद्योगसमयः सौम्य पार्थिवानामुपस्थितः॥
इयं सा प्रथमा यात्रा पार्थिवानां नृपात्मज।
न च पश्यामि सुग्रीवमुद्योगं च तथाविधम्॥
असनाः सप्तपर्णाश्च कोविदाराश्च पुष्पिताः।
दृश्यन्ते बन्धुजीवाश्च श्यामाश्च गिरिसानुषु॥
हंससारसचक्राह्वैः कुररैश्च समन्ततः।
पुलिनान्यवकीर्णानि नदीनां पश्य लक्ष्मण॥
चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः॥
चक्रवाकीव भर्तारं पृष्ठतोऽनुगता वनम्।
विषमं दण्डकारण्यमुद्यानमिव चाङ्गना॥
स किष्किन्धां प्रविश्य त्वं ब्रूहि वानरपुंगवम्।
मूर्खं ग्राम्यसुखे सक्तं सुग्रीवं वचनान्मम॥
अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः॥
शुभं वा यदि वा पापं यो हि वाक्यमुदीरितम्।
सत्येन परिगृह्णाति स वीरः पुरुषोत्तमः॥
कृतार्था ह्यकृतार्थानां मित्राणां न भवन्ति ये।
तान् मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान् नोपभुञ्जते॥
यदर्थमयमारम्भः कृतः परपुरंजय।
समयं नाभिजानाति कृतार्थः प्लवगेश्वरः॥
वर्षाः समयकालं तु प्रतिज्ञाय हरीश्वरः।
व्यतीतांश्चतुरो मासान् विहरन् नावबुध्यते॥
कुरुष्व सत्यं मम वानरेश्वर
प्रतिश्रुतं धर्ममवेक्ष्य शाश्वतम्।
मा वालिनं प्रेतगतो यमक्षये
त्वमद्य पश्येर्मम चोदितः शरैः॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । ५९—६५, ७०—७३, ७७-७८, ८४)

'सौम्य! सभी जलाशयोंके जल स्वच्छ हो गये हैं। वहाँ कुरर पक्षियोंके कलनाद गूँज रहे हैं और

चक्रवाकोंके समुदाय चारों ओर बिखरे हुए हैं। इस प्रकार उन जलाशयोंकी बड़ी शोभा हो रही है। सौम्य! राजकुमार! जिनमें परस्पर वैर बँधा हुआ है और जो एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखते हैं, उन भूमिपालोंके लिये यह युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय उपस्थित हुआ है। नरेशनन्दन! राजाओंकी विजय-यात्राका यह प्रथम अवसर है, किंतु न तो मैं सुग्रीवको यहाँ उपस्थित देखता हूँ और न उनका कोई वैसा उद्योग ही दृष्टिगोचर होता है। पर्वतके शिखरोंपर असन, छितवन, कोविदार, बन्धुजीव तथा श्याम तमाल फूले दिखायी देते हैं। लक्ष्मण! देखो तो सही, नदियोंके तटोंपर सब ओर हंस, सारस, चक्रवाक और कुरर नामके पक्षी फैले हुए हैं। मैं सीताको न देखनेके कारण शोकसे संतप्त हो रहा हूँ; अतः ये वर्षाके चार महीने मेरे लिये सौ वर्षोंके समान बीते हैं। जैसे चकवी अपने स्वामीका अनुसरण करती है, उसी प्रकार कल्याणी सीता इस भयंकर एवं दुर्गम दण्डकारण्यको उद्यान-सा समझकर मेरे पीछे यहाँतक चली आयी थी। अतः लक्ष्मण! तुम मेरी आज्ञासे किष्किन्धापुरीमें जाओ और विषय-भोगमें फँसे हुए मूर्ख वानरराज सुग्रीवसे इस प्रकार कहो—'जो बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा पहले ही उपकार करनेवाले कार्यार्थी पुरुषोंको प्रतिज्ञापूर्वक आशा देकर पीछे उसे तोड़ देता है, वह संसारके सभी पुरुषोंमें नीच है। जो अपने मुखसे प्रतिज्ञाके रूपमें निकले हुए भले या बुरे सभी तरहके वचनोंको अवश्य पालनीय समझकर सत्यकी रक्षाके उद्देश्यसे उनका पालन करता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ माना जाता है। जो अपना स्वार्थ सिद्ध हो जानेपर, जिनके कार्य पूरे नहीं हुए हैं, उन मित्रोंके सहायक नहीं होते—उनके कार्यको सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं करते, उन कृतघ्न पुरुषोंके मरनेपर मांसाहारी जन्तु भी उनका मांस नहीं खाते।' शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाले लक्ष्मण! जिसके लिये यह मित्रता आदिका सारा आयोजन किया गया, सीताकी खोजविषयक उस प्रतिज्ञाको इस समय वानरराज सुग्रीव भूल गया है—उसे याद नहीं कर रहा है; क्योंकि उसका अपना काम सिद्ध हो चुका। सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि वर्षाका अन्त होते ही सीताकी खोज आरम्भ कर दी जायगी; किंतु वह क्रीडाविहारमें इतना तन्मय हो गया है कि इन बीते हुए चार महीनोंका उसे कुछ पता ही नहीं है। सुग्रीवसे कहो—'वानरराज! तुम सनातन धर्मपर दृष्टि रखकर अपनी की हुई प्रतिज्ञाको सत्य कर दिखाओ; अन्यथा ऐसा न हो कि तुम्हें आज ही मेरे बाणोंसे प्रेरित हो प्रेतभावको प्राप्त होकर यमलोकमें वालीका दर्शन करना पड़े।''

मानव-वंशकी वृद्धि करनेवाले उग्र तेजस्वी लक्ष्मणने जब अपने बड़े भाईको दुखी, तीव्र क्षोभसे युक्त तथा अधिक बोलते देखा, तब वानरराज सुग्रीवके प्रति कठोर भाव धारण कर लिया। वे बोले—'मेरे क्रोधका वेग बढ़ा हुआ है। मैं इसे रोक नहीं सकता। असत्यवादी सुग्रीवको आज ही मारे डालता हूँ। अब वालिकुमार अङ्गद ही राजा होकर प्रधान वानर वीरोंके साथ राजकुमारी सीताकी खोज करे।' यों कहकर लक्ष्मण धनुष-बाण हाथमें ले बड़े वेगसे चल पड़े। उन्होंने अपने जानेका प्रयोजन स्पष्ट शब्दोंमें निवेदन कर दिया था। युद्धके लिये उनका प्रचण्ड कोप बढ़ा हुआ था तथा वे क्या करने जा रहे हैं, इसपर उन्होंने अच्छी तरह विचार नहीं किया था। उस समय विपक्षी वीरोंका संहार करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें शान्त करनेके लिये यह अनुनययुक्त बात कही—

नहि वै त्वद्विधो लोके पापमेवं समाचरेत्।
कोपमार्येण यो हन्ति स वीरः पुरुषोत्तमः॥
नेदमत्र त्वया ग्राह्यं साधुवृत्तेन लक्ष्मण।
तां प्रीतिमनुवर्तस्व पूर्ववृत्तं च संगतम्॥

सामोपहितया वाचा रूक्षाणि परिवर्जयन् ।
वक्तुमर्हसि सुग्रीवं व्यतीतं कालपर्यये ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३१ । ६-८)

'सुमित्रानन्दन ! तुम-जैसे श्रेष्ठ पुरुषको संसारमें ऐसा (मित्रवधरूप) निषिद्ध आचरण नहीं करना चाहिये । जो उत्तम विवेकके द्वारा अपने क्रोधको मार देता है, वह वीर समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ है । लक्ष्मण ! तुम सदाचारी हो । तुम्हें इस प्रकार सुग्रीवके मारनेका निश्चय नहीं करना चाहिये । उसके प्रति जो तुम्हारा प्रेम था, उसीका अनुसरण करो और उसके साथ पहले जो मित्रता की गयी है, उसे निबाहो । तुम्हें सान्त्वनापूर्ण वाणीद्वारा कटु वचनोंका परित्याग करते हुए सुग्रीवसे इतना ही कहना चाहिये कि तुमने सीताकी खोजके लिये जो समय नियत किया था, वह बीत गया (फिर भी चुप क्यों बैठे हो) ।'

अध्यात्मरामायण तथा श्रीरामचरितमानसमें भी यह प्रसङ्ग बहुत ही मार्मिक है—

पश्य लक्ष्मण मे सीता राक्षसेन हृता बलात् ।
मृतामृतां वा निश्चेतुं न जानेऽद्यापि भामिनीम् ॥
जीवतीति मम ब्रूयात्कश्चिद्वा प्रियकृत्स मे ।
यदि जानामि तां साध्वीं जीवन्तीं यत्र कुत्र वा ॥
हठादेवाहरिष्यामि सुधामिव पयोनिधेः ।
प्रतिज्ञां शृणु मे भ्रातर्येन मे जनकात्मजा ॥
नीता तं भस्मसात्कुर्यां सपुत्रबलवाहनम् ।
हे सीते चन्द्रवदने वसन्ती राक्षसालये ॥
दुःखार्ता मामपश्यन्ती कथं प्राणान् धरिष्यसि।
चन्द्रोऽपि भानुवद्भाति मम चन्द्राननां विना ॥
चन्द्र त्वं जानकीं स्पृष्ट्वा करैर्मां स्पृश शीतलैः ।
सुग्रीवोऽपि दयाहीनो दुःखितं मां न पश्यति ॥
नायाति शरदं पश्यन्नपि मार्गयितुं प्रियाम् ।
पूर्वोपकारिणं दुष्टः कृतघ्नो विस्मृतो हि माम् ॥
(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ५ । २-७, ९)

'लक्ष्मण ! देखो, हमारी सीताको राक्षस बलात् हर ले गया; वह सुन्दरी जीवित है या मर गयी इसका निश्चय करनेके लिये हमें अभीतक कोई सूत्र नहीं मिला । यदि कोई मुझे यह समाचार सु[नाये] कि 'वह जीवित है' तो वह मेरा बड़ा ही उप[कार] करेगा । यदि मुझे उस साध्वीके जीवित रहनेका [पता] लग जाय तो फिर वह कहीं भी क्यों न हो, समुद्र[से] अमृतके समान मैं जैसे होगा वैसे उसे अवश्य तुरंत ले आऊँगा । भाई ! मेरी प्रतिज्ञा सुनो— [जो] दुष्ट मेरी जानकीको ले गया है, उसे पुत्र, सेना [और] वाहनोंके सहित मैं भस्म कर डालूँगा ।' 'हे चन्द्रव[दने] सीते ! मुझे न देखनेसे अत्यन्त दुःखातुर होकर राक्ष[सके] घरमें रहती हुई तुम किस प्रकार प्राण धारण करोगी [?] हा ! चन्द्रमुखी सीताके बिना तो मुझे चन्द्रमा [भी] सूर्यके समान (तापप्रद) जान पड़ता है । हे चन्द्र[!] तुम अपनी किरणोंसे पहले जानकीका स्पर्श करो । (उनव[ा] स्पर्श करनेसे वे शीतल हो जायँगी) फिर उन शीत[ल] किरणोंसे मुझे स्पर्श करना । हाय ! सुग्रीव भी कैस[ा] निर्दय हो गया है जो मुझ दुखियाकी ओर नहीं झाँकता [।] शरद्-ऋतुका आगमन देखकर भी वह प्राणप्रिया सीताक[ी] खोज करानेके लिये नहीं आया । मैंने उसका पहले उपकार किया है, तथापि वह दुष्ट कृतघ्न होकर मुझे भूल गया ।'

परंतु नित्य अनुगत श्रीलक्ष्मण जब सचमुच धनुष चढ़ाकर सुग्रीवको मारनेके लिये उद्यत हो उठ खड़े होते हैं, तब श्रीरघुनाथ उन्हें स्नेहपूर्वक समझाते हैं—

न हन्तव्यस्त्वया वत्स सुग्रीवो मे प्रियः सखा ॥
किन्तु भीषय सुग्रीवं वालिवत्त्वं हनिष्यसे ।
इत्युक्त्वा शीघ्रमादाय सुग्रीवप्रतिभाषितम् ॥
आगत्य पश्चाद्यत्कार्यं तत्करिष्याम्यसंशयम् ।
(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ५ । १३-१४)

"वत्स! सुग्रीव मेरा प्यारा मित्र है, तुम उसे मारना मत। केवल यह कहकर कि 'तू वालीके समान मारा जायगा' उसे डराना और फिर शीघ्र ही उसका उत्तर लेकर चले आना। उस समय जो कुछ करना होगा, मैं अवश्य वही करूँगा।"

भाई श्रीरामचन्द्रके यथोचित रूपसे समझानेपर लक्ष्मणने सुग्रीवकी पुरीकी ओर प्रस्थान किया। उस समय उनकी बुद्धिमें सुग्रीवके प्रति शुभ भावनाका उदय हो गया था। तथापि वे रोषसे भरे हुए ही वहाँसे सुग्रीवके भवनकी ओर चले। जब वे नगर-द्वारपर पहुँचे, तो अङ्गद डरते-डरते उनके पास आये। लक्ष्मणने उनसे कहा—'बेटा! अंदर जाकर सुग्रीवको मेरे आनेकी सूचना दो और यहाँ आनेके लिये कहो।' अङ्गदने सूचना दे दी। सुग्रीवके मन्त्रियोंने भी इस बातकी सूचना दी। लक्ष्मणको रुष्ट हुआ सुनकर सुग्रीवके मनमें बड़ी चिन्ता हुई। उस समय हनुमान्‌जीने सुग्रीवको समझाया। सुग्रीवके महलमें प्रवेश करके लक्ष्मणने क्रोधपूर्वक धनुषको टंकारा। भयभीत सुग्रीवने ताराको उन्हें शान्त करनेके लिये भेजा तथा तारा समझा-बुझाकर उन्हें अन्तःपुरमें ले आयी। सुग्रीव उठकर लक्ष्मणके पास गये और लक्ष्मणने उन्हें फटकारा। ताराने लक्ष्मणको युक्तियुक्त वचनोंद्वारा शान्त किया। फिर सुग्रीवने अपनी लघुता तथा श्रीरामकी महत्ता बताते हुए लक्ष्मणसे क्षमा माँगी। तब लक्ष्मणने सुग्रीवकी प्रशंसा करके उन्हें अपने साथ चलनेके लिये कहा। सुग्रीवने हनुमान्‌जीको वानर-सेनाके संग्रहके लिये दूत भेजनेकी आज्ञा दी। दूतोंसे राजाज्ञा सुनकर वानरोंने किष्किन्धाके लिये प्रस्थान किया तथा दूतोंने लौटकर सुग्रीवको भेंट दी और वानरोंके आगमनका समाचार सुनाया। लक्ष्मणके साथ जाकर सुग्रीवने श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। श्रीरामने बड़े आदर और प्रेमके साथ उन्हें हृदयसे लगाया और इस प्रकार कहा—

धर्ममर्थं च कामं च काले यस्तु निषेवते ॥
विभज्य सततं वीर स राजा हरिसत्तम।
हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते ॥
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते।
अमित्राणां वधे युक्तो मित्राणां संग्रहे रतः ॥
त्रिवर्गफलभोक्ता च राजा धर्मेण युज्यते।
उद्योगसमयस्त्वेष प्राप्तः शत्रुनिषूदन ॥
संचिन्त्यतां हि पिङ्गेश हरिभिः सह मन्त्रिभिः।

(वा० रा०, किष्किन्धा० ३८। २०—२३½)

'वीर वानरशिरोमणे! जो धर्म, अर्थ और कामके लिये समयका विभाग करके सदा उचित समयपर उनका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वही श्रेष्ठ राजा है। किंतु जो धर्म-अर्थका त्याग करके केवल कामका ही सेवन करता है, वह वृक्षकी अगली शाखापर सोये हुए मनुष्यके समान है। गिरनेपर ही उसकी आँख खुलती है। जो राजा शत्रुओंके वध और मित्रोंके संग्रहमें संलग्न रहकर योग्य समयपर धर्म, अर्थ और कामका (न्याययुक्त) सेवन करता है, वह धर्मके फलका भागी होता है। शत्रुसूदन! यह हमलोगोंके लिये उद्योगका समय आया है। वानरराज! तुम इस विषयमें इन वानरों और मन्त्रियोंके साथ विचार करो।'

श्रीरामके यों कहनेपर सुग्रीवने उनसे कहा—'महाप्रभो! मेरी श्री, कीर्ति तथा सदासे चला आनेवाला वानरोंका राज्य—ये सब नष्ट हो चुके थे। आपकी कृपासे ही मुझे पुनः इन सबकी प्राप्ति हुई है।' सुग्रीवके यों कहनेपर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने अपनी दोनों भुजाओंसे उनका आलिङ्गन किया और हाथ जोड़कर खड़े हुए उनसे इस प्रकार कहा—

यदिन्द्रो वर्षते वर्षं न तच्चित्रं भविष्यति।
आदित्योऽसौ सहस्रांशुः कुर्याद् वितिमिरं नभः ॥
चन्द्रमा रजनीं कुर्यात् प्रभया सौम्य निर्मलाम्।
त्वद्विधो वापि मित्राणां प्रीतिं कुर्यात् परंतप ॥
एवं त्वयि न तच्चित्रं भवेद् यत् सौम्य शोभनम्।
जानाम्यहं त्वां सुग्रीव सततं प्रियवादिनम् ॥
त्वत्सनाथः सखे संख्ये जेतास्मि सकलानरीन्।
त्वमेव मे सुहृन्मित्रं साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥

जहारात्मविनाशाय मैथिलीं राक्षसाधमः ।
वञ्चयित्वा तु पौलोमीमनुह्लादो यथा शचीम् ॥
नचिरात् तं वधिष्यामि रावणं निशितैः शरैः ।
पौलोम्याः पितरं दृप्तं शतक्रतुरिवारिहा ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३९ । २—७)

'सखे ! इन्द्र जो जलकी वर्षा करते हैं, सहस्रों किरणोंसे शोभा पानेवाले सूर्यदेव जो आकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं तथा सौम्य ! चन्द्रमा अपनी प्रभासे जो अँधेरी रातको भी उज्ज्वल कर देते हैं, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि यह उनका स्वाभाविक गुण है । शत्रुओंको संताप देनेवाले सुग्रीव ! तुम्हारे समान पुरुष भी यदि अपने मित्रोंका उपकार करके उन्हें प्रसन्न कर दें तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये । सौम्य सुग्रीव ! इसी प्रकार तुममें जो मित्रोंका हितसाधनरूप कल्याणकारी ... है, वह आश्चर्यका विषय नहीं है; क्योंकि मैं जानता हूँ कि तुम सदा प्रिय बोलनेवाले हो—यह तुम्हारा स्वाभाविक गुण है । सखे ! तुम्हारी सहायतासे सनाथ होकर मैं युद्धमें समस्त शत्रुओंको जीत लूँगा । तुम्हीं मेरे हितैषी मित्र हो और मेरी सहायता कर सकते हो । राक्षसाधम रावणने अपना नाश करनेके लिये ही मिथिलेशकुमारीको धोखा देकर उसका अपहरण किया है—ठीक उसी तरह, जैसे अनुह्लादने अपने विनाशके लिये ही पुलोमपुत्री शचीको छलपूर्वक हर लिया था * । जैसे शत्रुहन्ता इन्द्रने शचीके घमंडी पिताको मार डाला था, उसी प्रकार मैं भी शीघ्र अपने तीखे बाणोंसे रावणका वध कर डालूँगा ।'

श्रीरामचरितमानसके अनुसार—

तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई ॥
अब सोइ जतनु करहु मन लाई ।
जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई ॥
(श्रीरामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड)

सुग्रीवके आनेपर श्रीरामजी कहते हैं—भाई ! तुम मुझे भरतके समान प्यारे हो । अब मन लगाकर वही उपाय करो, जिससे सीताकी खबर मिले ।

सुवेल पर्वतपर सुग्रीवके प्रति श्रीरामके मैत्री-धर्मसूचक वचन

सुवेल पर्वतसे लङ्कापुरीका निरीक्षण करते समय श्रीराम आदिने देखा कि रावण लङ्काके गोपुरपर विराजमान है । उसे देखते ही सुग्रीव उछले और रावणसे जा भिड़े । दोनोंमें बहुत देरतक मल्लयुद्ध होता रहा । जब रावण बहुत थक गया और माया-शक्तिके प्रयोगकी बात सोचने लगा, तब सुग्रीव विजयोल्लाससे सुशोभित हो पुनः उछलकर श्रीरामके पास चले आये । सुग्रीवके शरीरमें युद्धके चिह्न देख श्रीरामने उन्हें छातीसे लगा लिया और इस प्रकार कहा—

असम्मन्त्र्य मया सार्धं तदिदं साहसं कृतम् ।
एवं साहसयुक्तानि न कुर्वन्ति जनेश्वराः ॥
संशये स्थाप्य मां चेदं बलं चेमं विभीषणम् ।
कष्टं कृतमिदं वीर साहसं साहसप्रिय ॥
इदानीं मा कृथा वीर एवंविधमरिंदम ।
त्वयि किंचित्समापन्ने किं कार्यं सीतया मम ॥
भरतेन महाबाहो लक्ष्मणेन यवीयसा ।
शत्रुघ्नेन च शत्रुघ्न स्वशरीरेण वा पुनः ॥
त्वयि चानागते पूर्वमिति मे निश्चिता मतिः ।
जानतश्चापि ते वीर्यं महेन्द्रवरुणोपम ॥
हत्वाहं रावणं युद्धे सपुत्रबलवाहनम् ।

---

* पुलोम दानवकी कन्या शची इन्द्रदेवके प्रति अनुरक्त थीं, परंतु अनुह्लादने उनके पिताको फुसलाकर अपने पक्षमें कर लिया और उसकी अनुमतिसे शचीको हर लिया । जब इन्द्रको इसका पता लगा, तब वे अनुमति देनेवाले पुलोमको और अपहरण करनेवाले अनुह्लादको भी मारकर शचीको अपने घर ले आये । यह पुराण-प्रसिद्ध कथा है ।
(रामायणतिलकसे)

अभिषिच्य च लङ्कायां विभीषणमथापि च ॥
भरते राज्यमारोप्य त्यक्ष्ये देहं महाबल ।

(वा० रा०, युद्ध० ४१ । २—७½)

'सुग्रीव ! तुमने मुझसे सलाह लिये बिना ही यह बड़े साहसका काम कर डाला। राजालोग ऐसे दुस्साहस-पूर्ण कार्य नहीं किया करते। साहसप्रिय वीर! तुमने मुझको, इस वानरसेनाको और विभीषणको भी संशयमें डालकर जो यह साहसपूर्ण कार्य किया है, इससे हमें बड़ा कष्ट हुआ। शत्रुओंका दमन करनेवाले वीर! अब फिर तुम ऐसा दुस्साहस न करना। शत्रुसूदन महाबाहो! यदि तुम्हें कुछ हो गया होता तो मैं सीता, भरत, लक्ष्मण, छोटे भाई शत्रुघ्न तथा अपने इस शरीरको भी लेकर क्या करूँगा? महेन्द्र और वरुणके समान महाबली! यद्यपि मैं तुम्हारे बल-पराक्रम-को जानता था, तथापि तुम यहाँ लौटकर आये, उससे पहले मैंने यह निश्चित विचार कर लिया था कि युद्धमें पुत्र, सेना और वाहनोंसहित रावणका वध करके लङ्काके राज्यपर विभीषणका अभिषेक कर दूँगा और अयोध्याका राज्य भरतको देकर मैं अपने इस शरीरको त्याग दूँगा।'

श्रीरामकी शरणागतवत्सलता, भक्तवत्सलता और कृतज्ञता

पुरवासियोंके प्रति प्रेम

श्रीराघवेन्द्र राम पिताकी आज्ञा मानकर वनके लिये चले तो अयोध्याके लोग साथ चल पड़े। उनका कहना है 'जहाँ राम तहँ अवध निवासू।'

अयोध्यासे निकलनेपर प्रथम रात्रि-विश्राम तमसा नदीके तटपर हुआ। वहाँ निद्रित पुरवासियोंको देखकर श्रीराम भाईसे कह रहे हैं—

अस्मद्व्यपेक्षान् सौमित्रे निर्व्यपेक्षान् गृहेष्वपि ।
वृक्षमूलेषु संसक्तान् पश्य लक्ष्मण साम्प्रतम् ॥
यथैते नियमं पौराः कुर्वन्त्यस्मन्निवर्तने ।
अपि प्राणान् न्यसिष्यन्ति न तु त्यक्ष्यन्ति निश्चयम् ॥
यावदेव तु संसुप्तास्तावदेव वयं लघु ।
रथमारुह्य गच्छामः पन्थानमकुतोभयम् ॥
अतो भूयोऽपि नेदानीमिक्ष्वाकुपुरवासिनः ।
स्वपेयुरनुरक्ता मा वृक्षमूलेषु संश्रिताः ॥
पौरा ह्यात्मकृताद् दुःखाद् विप्रमोच्या नृपात्मजैः ।
न तु खल्वात्मना योज्या दुःखेन पुरवासिनः ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ४६ । १९—२३)

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण! इन पुरवासियोंकी ओर देखो, ये इस समय वृक्षोंकी जड़से सटकर सो रहे हैं। इन्हें केवल हमारी चाह है। ये अपने घरोंकी ओरसे भी पूर्ण निरपेक्ष हो गये हैं। हमें लौटा ले चलनेके लिये ये जैसा उद्योग कर रहे हैं, उससे जान पड़ता है, ये अपना प्राण त्याग देंगे, किंतु अपना निश्चय नहीं छोड़ेंगे। अतः जबतक ये सो रहे हैं, तभीतक हमलोग रथपर सवार होकर शीघ्रतापूर्वक यहाँसे चल दें। फिर हमें इस मार्गपर और किसीके आनेका भय नहीं रहेगा। अयोध्यावासी हमलोगोंके अनुरागी हैं। जब हम यहाँसे निकल चलेंगे, तब उन्हें फिर अब इस प्रकार वृक्षोंकी जड़ोंसे सटकर नहीं सोना पड़ेगा। राजकुमारोंका यह कर्तव्य है कि वे पुरवासियोंको अपनेद्वारा होनेवाले दुःखसे मुक्त करें, न कि अपना दुःख देकर उन्हें और दुखी बना दें।'

लक्ष्मणको श्रीरामकी यह राय ठीक जँची। वे बोले—'आप शीघ्र ही रथपर सवार होइये।' सुमन्त्र रथ जोतकर ले आये। तीनों उसपर सवार हुए और तमसा नदीको पार कर गये। पुरवासियोंको भ्रममें डालनेके लिये कुछ दूरतक रथको उत्तर दिशामें ले जाया गया। फिर उसे दक्षिण दिशाकी

और मोड़ दिया गया। प्रातःकाल उठनेपर पुरवासियोंने जब श्रीरामको नहीं देखा, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे रोने-बिलखने लगे और निराश होकर नगरको लौट गये। नगर-वासिनी स्त्रियोंने श्रीरामके लिये बड़ा विलाप किया। उधर विभिन्न ग्रामवासियोंकी बातें सुनते हुए श्रीराम कोसल जनपद-को लाँघकर आगे बढ़ गये। वेदश्रुति नदीको लाँघ गये। गोमतीको पीछे छोड़ दिया और सिन्दिका नदीको पार कर गये।

सुतीक्ष्णपर कृपा

महर्षि अगस्त्यके शिष्य महामुनि सुतीक्ष्ण परम भक्त थे। जब उनके आश्रमके समीप अवधनरेशके दोनों कुमार पहुँचे, तब भाव-गद्गद हुए मुनि उनके सामने आये। मुनिकी विह्वलता और उनकी प्रेम-परिपूर्ण स्तुतिने श्रीरामचन्द्रको भी प्रेमाप्लुत कर दिया। वे बोल उठे—

मुने जानामि ते चित्तं निर्मलं मदुपासनात् ॥
अतोऽहमागतो द्रष्टुं मदृते नान्यसाधनम् ।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरणं गताः ॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषां दृश्योऽहमन्वहम् ।
स्तोत्रमेतत्पठेद्यस्तु त्वत्कृतं मत्प्रियं सदा ॥
सद्भक्तिर्मे भवेत्तस्य ज्ञानं च विमलं भवेत् ।
त्वं ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वतः ॥
देहान्ते मम सायुज्यं लप्स्यसे नात्र संशयः ।

(अध्यात्म०, अरण्य० २ । ३५–३८½)

'मुने! मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त मेरी उपासनासे निर्मल हो गया है और तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसीलिये मैं तुम्हें देखनेके लिये आया हूँ। संसारमें जो लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरी ही शरणमें रहते हैं तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्यगति रहते हैं, उन्हें मैं नित्यप्रति दर्शन देता हूँ। जो व्यक्ति तुम्हारे किये हुए इस मेरे प्रिय स्तोत्रका सदा पाठ करता है, उसे मेरी शुद्ध भक्ति और निर्मल ज्ञान प्राप्त होता है। तुम केवल मेरी उपासनासे इस जीवितावस्थामें ही सर्वथा मुक्त हो गये हो। शरीर छूटनेपर तुम निस्संदेह मेरा सायुज्यपद प्राप्त करोगे।'*

---

*सुतीक्ष्णकृत स्तोत्र

त्वन्मन्त्रजाप्यहमनन्तगुणाप्रमेय
सीतापते शिवविरिञ्चिसमाश्रिताङ्घ्रे ।
संसारसिन्धुतरणामलपोतपाद
रामाभिराम सततं तव दासदासः ॥
मामद्य सर्वजगतामविगोचरस्त्वं
त्वन्मायया सुतकलत्रगृहान्धकूपे ।
मग्नं निरीक्ष्य मलपुद्गलपिण्डमोह-
पाशानुबद्धहृदयं स्वयमागतोऽसि ॥
त्वं सर्वभूतहृदयेषु कृतालयोऽपि
त्वन्मन्त्रजाप्यविमुखेषु तनोषि मायाम् ।
त्वन्मन्त्रसाधनपरेष्वपयाति माया
सेवानुरूपफलदोऽसि यथा महीपः ॥
विश्वस्य सृष्टिलयसंस्थितिहेतुरेक-
स्त्वं मायया त्रिगुणया विधिरीशविष्णू ।
भासीश मोहितधियां विविधाकृतिस्त्वं
यद्वद्रविः सलिलपात्रगतो ह्यनेकः ॥
प्रत्यक्षतोऽद्य भवतश्चरणारविन्दं
पश्यामि राम तमसः परतः स्थितस्य ।
दृग्रूपतस्त्वमसतामविगोचरोऽपि
त्वन्मन्त्रपूतहृदयेषु सदा प्रसन्नः ॥
पश्यामि राम तव रूपमरूपिणोऽपि
मायाविडम्बनकृतं सुमनुष्यवेषम् ।
कंदर्पकोटिसुभगं कमनीयचाप-
बाणं दयार्द्रहृदयं स्मितचारुवक्त्रम् ॥
सीतासमेतमजिनाम्बरमप्रधृष्यं
सौमित्रिणा नियतसेवितपादपद्मम् ।
नीलोत्पलद्युतिमनन्तगुणं प्रशान्तं
मद्भागधेयमनिशं प्रणमामि रामम् ॥
जानन्तु राम तव रूपमशेषदेश-
कालाद्युपाधिरहितं घनचित्प्रकाशम् ।
प्रत्यक्षतोऽद्य मम गोचरमेतदेव
रूपं विभातु हृदये न परं विकाङ्क्षे ॥

(अध्यात्म० अरण्य० २ । २७—३४)

भक्तहितके लिये स्वयं शाप ग्रहण किया

देवर्षि नारद भगवान्‌के भक्त हैं। वे एक बार माया-मोहित हो गये। उन्होंने विवाह करना चाहा। भगवान्‌ने उन्हें कृपावश सफलता प्राप्त नहीं होने दी। इसपर वे इतने क्षुब्ध हो गये कि श्रीरामको यह शाप दे बैठे कि 'तुम भी मेरी तरह स्त्री-विरहसे व्याकुल होकर भटकोगे।' माया उतरी, तब पश्चात्ताप किया। भगवान् श्रीरामको सीताके वियोगमें देखकर नारदजी उनके पास आये और मृदु वाणीसे बोले—'प्रभो! जब तुमने अपनी मायाकी प्रेरणासे मुझे मोहित कर दिया था, उस समय मैं विवाह करना चाहता था; पर तुमने नहीं करने दिया। ऐसा क्यों किया, इसका कारण बताइये?' इसके उत्तरमें भगवान् श्रीरामने कहा—

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥
मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

सुनु मुनि कह पुरान श्रुति संता। मोह बिपिन कहुँ नारि बसंता॥
जप तप नेम जलाश्रय झारी। होइ ग्रीषम सोषइ सब नारी॥
काम क्रोध मद मत्सर भेका। इन्हहि हरषप्रद बरषा एका॥
दुर्बासना कुमुद समुदाई। तिन्ह कहँ सरद सदा सुखदाई॥
धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा॥
पुनि ममता जवास बहुताई। पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई॥
पाप उलूक निकर सुखकारी। नारि निबिड़ रजनी अँधिआरी॥
बुधि बल सील सत्य सब मीना। बनसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना॥

अवगुन मूल सूलप्रद प्रमदा सब दुख खानि।
ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जियँ जानि॥

सुनि रघुपति के बचन सुहाए। मुनि तन पुलक नयन भरि आए॥
कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती॥
जे न भजहिं अस प्रभु भ्रम त्यागी। ग्यान रंक नर मंद अभागी॥

'हे मुनि! सुनो, मैं तुम्हें हर्षके साथ कहता हूँ कि जो समस्त आशा-भरोसा छोड़कर केवल मुझको ही भजते हैं। मैं सदा उनकी [illegible] करता हूँ, जैसे माता [illegible] है। छोटा बच्चा जब दौड़कर [illegible] पकड़ने जाता है, तब वहाँ माता [illegible] अलग करके बचा लेती है। [illegible] माता प्रेम तो करती है, परंतु [illegible] मातृपरायण शिशुकी तरह फिर उसकी [illegible] करती; क्योंकि वह मातापर निर्भर न [illegible] आप करने लगता है)। ज्ञानी मेरे प्रौढ़ ([illegible]) समान है और [तुम्हारे-जैसा] अपने [illegible] वाला सेवक मेरे शिशु पुत्रके समान है। [illegible] मेरा ही बल रहता है और उसे (ज्ञानीको) [illegible] होता है। पर काम-क्रोधरूपी शत्रु तो दोनोंके लिये हैं। [[illegible] के शत्रुओंको मारनेकी जिम्मेवारी मुझपर रहती है; क्योंकि वह मेरे परायण होकर मेरा ही बल मानता है; परंतु अपने बलको माननेवाले ज्ञानीके शत्रुओंका नाश करनेकी जिम्मेवारी मुझपर नहीं है।] यों विचारकर पण्डितजन (बुद्धिमान् लोग) मुझको ही भजते हैं। वे ज्ञान प्राप्त होनेपर भी भक्तिको नहीं छोड़ते। काम, क्रोध, लोभ और मद आदि मोह (अज्ञान) की प्रबल सेना है। इनमें मायारूपिणी (मायाकी साक्षात् मूर्ति) स्त्री तो अत्यन्त दारुण दुःख देनेवाली है। हे मुनि! सुनो—पुराण, वेद और संत कहते हैं कि मोहरूपी वन [को विकसित करने] के लिये स्त्री वसन्तऋतुके समान है। जप, तप, नियमरूपी सम्पूर्ण जलके स्थानोंको स्त्री ग्रीष्मरूप होकर सर्वथा सोख लेती है। काम, क्रोध, मद और मत्सर (डाह) आदि मेढक हैं। इनको वर्षाऋतु होकर हर्ष प्रदान करनेवाली एकमात्र यही (स्त्री) है। बुरी वासनाएँ कुमुदोंके समूहके समान हैं। उनको सदैव सुख देनेवाली यह शरद्‌ऋतु है। समस्त धर्म कमलोंके झुंड हैं। यह नीच (विषयजन्य) सुख देनेवाली स्त्री हिमऋतु होकर उन्हें जला डालती है। फिर ममतारूपी जवासका समूह (वन) स्त्रीरूपी शिशिरऋतुको पाकर हरा-भरा हो जाता है। पापरूपी उल्लुओंके समूहके लिये यह स्त्री सुख देनेवाली घोर अन्धकारमयी रात्रि है। बुद्धि, बल, शील और सत्य—ये सब मछलियाँ हैं। और उन [को फँसाकर नष्ट करने] के लिये स्त्री बंसीके समान है, चतुर पुरुष ऐसा कहते हैं। युवती स्त्री अवगुणोंकी मूल, पीड़ा देनेवाली और सब दुःखोंकी खान है। इसलिये हे मुनि! मैंने जीमें ऐसा जानकर तुमको विवाह करनेसे रोका था।'

भगवान् श्रीराघवेन्द्रके सुन्दर वचन सुनकर मुनि नारदका शरीर पुलकित हो गया और नेत्र [प्रेमाश्रुओंके जलसे] भर आये । [वे मन-ही-मन कहने लगे—] अहो तो किस प्रभुकी ऐसी रीति है; जिसका सेवकपर इतना ममत्व और प्रेम हो । जो मनुष्य भ्रमको त्यागकर ऐसे प्रभुको नहीं भजते, वे ज्ञानके कंगाल, दुर्बुद्धि और अभागे हैं ।

जटायुके प्रति प्रेम

सीताहरणके शोकसे पीड़ित श्रीराम जब रुष्ट हो समस्त संसारको दग्ध कर देनेकी इच्छा करने लगे, तब लक्ष्मणने उन्हें किसी तरह समझा-बुझाकर शान्त किया । तदनन्तर वे दोनों भाई जनस्थानमें सीताकी खोज करते हुए विचरण करने लगे । थोड़ी दूर आगे जानेपर उन्हें लहूलुहान पड़े हुए पक्षिराज जटायु दिखायी दिये । श्रीरामने पहले तो उन्हें कोई राक्षस समझकर बाणोंसे मार डालनेका विचार किया, किंतु उनकी दयनीय दशा देख वे वैसा न कर सके । उस समय जटायुने अत्यन्त दीन वाणीमें कहा—'आयुष्मन् ! इस महान् वनमें तुम जिसे जीवनौषधिके समान ढूँढ़ रहे हो, उस देवी सीताको तथा मेरे इन प्राणोंको भी रावणने हर लिया ।' यों कहकर उन्होंने रावणके साथ अपने युद्धका प्रसङ्ग कह सुनाया और उसके टूटे हुए रथ, छत्र, धनुष, खण्डित बाण और मरे हुए सारथिको दिखाया । फिर कहा—'रावणने मेरे दोनों पंख काट डाले और सीताको लेकर वह आकाशमें उड़ गया । मुझे तो उस राक्षसने ही मार डाला है । अब तुम न मारो ।' सीताजीसे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्रिय वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने अपना महान् धनुष फेंक दिया और गृध्रराज जटायुको गलेसे लगाकर वे शोकसे विवश हो पृथ्वीपर गिरकर लक्ष्मणके साथ ही रोने लगे । उन्होंने सुमित्राकुमारसे कहा—

राज्यं भ्रष्टं वने वासः सीता नष्टा मृतो द्विजः ।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्दहेदपि हि पावकम् ॥
सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं महोदधिम् ।
सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत् सरितां पतिः ॥
नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन् सचराचरे ।
येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥
अयं पितुर्वयस्यो मे गृध्रराजो महाबलः ।
शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ६७ । २४—२७)

'लक्ष्मण ! मेरा राज्य छिन गया, मुझे वनवास मिला, (पिताजीकी मृत्यु हुई,) सीताका अपहरण हुआ और ये मेरे परम सहायक पक्षिराज भी मर गये । ऐसा जो मेरा यह दुर्भाग्य है, वह तो अग्निको भी जलाकर भस्म कर सकता है । यदि आज मैं भरे हुए महासागरको पार करने लगूँ तो मेरे दुर्भाग्यकी आँचसे वह सरिताओंका स्वामी समुद्र भी निश्चय ही सूख जायगा । इस चराचर जगत्में मुझसे बढ़कर भाग्यहीन दूसरा कोई नहीं है, जिसके कारण इस विपत्तिके बड़े भारी जालमें फँसना पड़ा है । ये महाबली गृध्रराज जटायु मेरे पिताजीके मित्र थे, किंतु आज मेरे दुर्भाग्यवश मारे जाकर इस समय पृथ्वीपर पड़े हैं ।'

इस प्रकार बहुत-सी बातें कहकर लक्ष्मणसहित श्रीरघुनाथजीने जटायुके शरीरपर हाथ फेरा और पिताके प्रति जैसा स्नेह होना चाहिये, वैसा ही उनके प्रति प्रदर्शित किया । भयंकर राक्षस रावणने जिन्हें पृथ्वीपर मार गिराया था, उन गृध्रराज जटायुकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीराम मित्रोचित गुणसे सम्पन्न सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बोले—

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहंगमः ।
राक्षसेन हतः संख्ये प्राणांस्त्यजति मत्कृते ॥
अतिखिन्नः शरीरेऽस्मिन् प्राणो लक्ष्मण विद्यते ।
तथा स्वरविहीनोऽयं विक्लवं समुदीक्षते ॥
जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः ।
सीतामाख्याहि भद्रं ते वधमाख्याहि चात्मनः ॥
किंनिमित्तो जहारार्यां रावणस्तस्य किं मया ।
अपराधं तु यं दृष्ट्वा रावणेन हृता प्रिया ॥
कथं तच्चन्द्रसंकाशं मुखमासीन्मनोहरम् ।
सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन् काले द्विजोत्तम ॥

श्रीरामका बाल-पौगण्ड-तरुण रूप
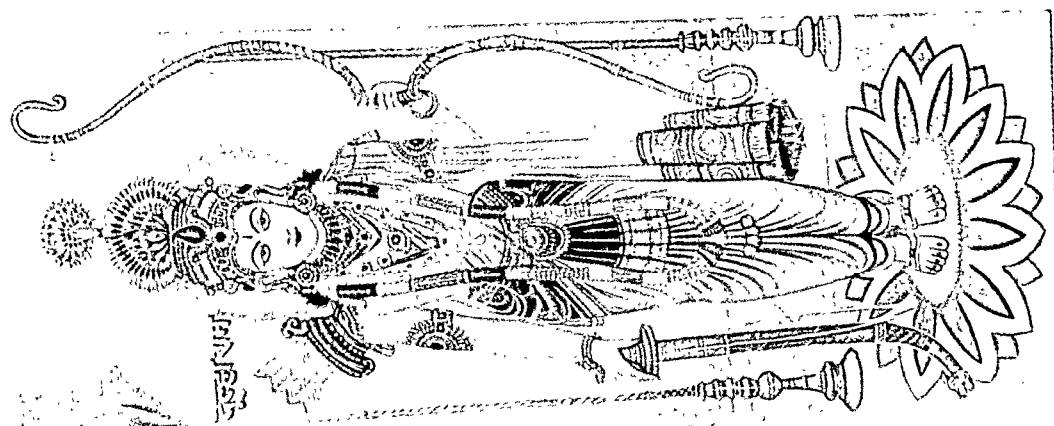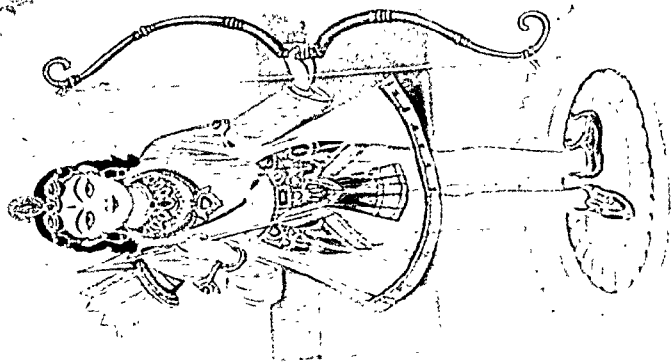
कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।
क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपृच्छतः ॥
(वा० रा०, अरण्य० ६८ । २–७)

'भाई ! यह पक्षी अवश्य मेरा ही कार्य सिद्ध करनेके लिये प्रयत्नशील था, किंतु उस राक्षसके द्वारा युद्धमें मारा गया । यह मेरे ही लिये अपने प्राणोंका परित्याग कर रहा है । लक्ष्मण ! इस शरीरके भीतर इसके प्राणोंको बड़ी वेदना हो रही है, इसीलिये इसकी आवाज बंद होती जा रही है तथा यह अत्यन्त व्याकुल होकर देख रहा है ।' (लक्ष्मणसे यों कहकर श्रीराम उस पक्षीसे बोले—) 'जटायो ! यदि आप पुनः बोल सकते हों तो आपका भला हो, बताइये, सीताकी क्या अवस्था है ? और आपका वध किस प्रकार हुआ ? जिस अपराधको देखकर रावणने मेरी प्रिय भार्याका अपहरण किया है, उसके प्रति वह अपराध क्या था ? और मैंने उसे कब किया ? किस निमित्तको लेकर रावणने आर्या सीताका हरण किया है ? पक्षिप्रवर ! सीताका चन्द्रमाके समान मनोहर मुख कैसा हो गया था तथा उस समय सीताने क्या-क्या बातें कही थीं ? तात ! उस राक्षसका बल-पराक्रम तथा रूप कैसा है ? वह क्या काम करता है ? और उसका घर कहाँ है ? मैं जो कुछ पूछ रहा हूँ, वह सब बताइये ।'

इस तरह अनाथकी भाँति विलाप करते हुए श्रीरामकी ओर देखकर धर्मात्मा जटायुने लड़खड़ाती जबानसे यों कहना आरम्भ किया—'रघुनन्दन ! दुरात्मा राक्षसराज रावणने विपुल मायाका आश्रय ले आँधी-पानीकी सृष्टि करके घबराहटकी अवस्थामें सीताका हरण किया था । तात ! जब मैं उससे लड़ता-लड़ता थक गया, उस अवस्थामें मेरे दोनों पंख काटकर वह निशाचर विदेहनन्दिनी सीताको साथ लिये यहाँसे दक्षिण दिशाकी ओर गया था ।' यह समाचार देकर जटायुने देह त्याग दिया । गृध्रराज जटायुकी आँखें लाल दिखायी देती थीं । प्राण निकल जानेसे वे पर्वतके समान अविचल हो गये । उन्हें इस अवस्थामें देखकर बहुत-से दुःखोंसे दुखी हुए श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्राकुमारसे कहा—

बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ।
अनेन दण्डकारण्ये विशीर्णमिह पक्षिणा ॥
अनेकवार्षिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ।
सोऽयमद्य हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ॥
पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ।
सीतामभ्यवपन्नो हि रावणेन बलीयसा ॥
गृध्रराज्यं परित्यज्य पितृपैतामहं महत् ।
मम हेतोरयं प्राणान् मुमोच पतगेश्वरः ॥
सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ।
शूराः शरण्याः सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि ॥
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परंतप ॥
राजा दशरथः श्रीमान् यथा मम महायशाः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च तथायं पतगेश्वरः ॥
सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम् ॥
नाथं पतगलोकस्य चितिमारोपयाम्यहम् ।
इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ॥
या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ।
अपरावर्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ।
गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया व्रज ॥
(वा० रा०, अरण्य० ६८ । २०–३०)

'लक्ष्मण ! राक्षसोंके निवासस्थान इस दण्डकारण्यमें बहुत वर्षोंतक सुखपूर्वक रहकर इन पक्षिराजने यहीं अपने शरीरका त्याग किया है । इनकी अवस्था बहुत वर्षोंकी थी । इन्होंने सुदीर्घ कालतक अपना अभ्युदय देखा है; किंतु आज इस वृद्धावस्थामें उस राक्षसके द्वारा मारे जाकर ये पृथ्वीपर सो रहे हैं; क्योंकि कालका उल्लङ्घन करना सबके ही लिये कठिन है । लक्ष्मण ! देखो, ये जटायु मेरे

बड़े उपकारी थे, किंतु आज मारे गये। सीताकी रक्षाके लिये युद्धमें प्रवृत्त होनेपर अत्यन्त बलवान् रावणके हाथसे इनका वध हुआ है। बाप-दादोंके द्वारा प्राप्त हुए गीधोंके विशाल राज्यका त्याग करके इन पक्षिराजने मेरे ही लिये अपने प्राणोंकी आहुति दी है। शूर, शरणागत-रक्षक, धर्मपरायण श्रेष्ठ पुरुष सभी जगह देखे जाते हैं। पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी उनका अभाव नहीं है। सौम्य! शत्रुओंको संताप देनेवाले लक्ष्मण! इस समय मुझे सीताके हरणका उतना दुःख नहीं है, जितना मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है। महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथ जैसे मेरे माननीय और पूज्य थे, वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं। सुमित्रानन्दन! तुम सूखे काष्ठ ले आओ, मैं मथकर आग निकालूँगा और मेरे लिये मृत्युको प्राप्त हुए इन गृध्रराजका दाह-संस्कार करूँगा। सुमित्राकुमार! उस भयंकर राक्षसके द्वारा मारे गये इन पक्षिराजको चितापर चढ़ाऊँगा और इनका दाह-संस्कार करूँगा।' (फिर वे जटायुको सम्बोधित करके बोले—) 'महान् बलशाली गृध्रराज! यज्ञ करनेवाले, अग्निहोत्री, युद्धमें पीठ न दिखानेवाले और भूमिदान करनेवाले पुरुषोंको जिस गतिकी—जिन उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, मेरी आज्ञासे उन्हीं सर्वोत्तम लोकोंमें तुम भी जाओ। मेरेद्वारा दाह-संस्कार किये जानेपर तुम्हारी सद्गति हो।'

यों कहकर धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजीने दुःखित हो पक्षिराजके शरीरको चितापर रक्खा और उसमें आग लगाकर अपने बन्धुकी भाँति उनका दाह-संस्कार किया। तदनन्तर लक्ष्मणसहित पराक्रमी श्रीराम वनमें जाकर मोटे-मोटे महारोही (कन्दमूलविशेष) काट लाये और उन्हें जटायुके लिये अर्पित करनेके उद्देश्यसे उन्होंने पृथ्वीपर कुश बिछाये। महायशस्वी श्रीरामने रोहीके गूदे निकालकर उनका पिण्ड बनाया और उन सुन्दर हरित कुशाओंपर जटायुको पिण्डदान किया। ब्राह्मणलोग परलोकवासी मनुष्यको स्वर्गकी प्राप्ति करानेके उद्देश्यसे जिन पितृसम्बन्धी मन्त्रोंका जप आवश्यक बतलाते हैं, उन सबका भगवान् श्रीरामने जप किया। तदनन्तर उन दोनों राजकुमारोंने गोदावरी नदीके तटपर जाकर उन गृध्रराजके लिये जलाञ्जलि दी। रघुकुलके उन दोनों महापुरुषोंने गोदावरीमें नहाकर शास्त्रीय विधिसे उन गृध्रराजके लिये उस समय जलाञ्जलिका दान किया। महर्षितुल्य श्रीरामके द्वारा दाहसंस्कार होनेके कारण गृध्रराज जटायुको आत्माका कल्याण करनेवाली परम पवित्र गति प्राप्त हुई।

श्रीरामचरितमानसमें यह प्रसङ्ग अधिक मार्मिक है—

गृध्रराज जटायुने श्रीजानकीको रावणसे छुड़ानेका प्रयत्न किया और इस प्रयत्नमें वे सांघातिकरूपसे आहत हो गये।

गीध-देह बहुत पवित्र देह नहीं है। श्रीरामके दर्शनका लाभ सुर-मुनि चाहते हैं। यह महालाभ तो जटायुको मिला ही, जटायुको श्रीरघुनाथने अपना धाम दिया, पिताका सम्मान दिया तथा उनकी उत्तर-क्रिया स्वयं की। इतना सब करके भी वे परमोदार मानते हैं कि जटायुके साथ उन्होंने कुछ किया नहीं। जटायु ही महान् हैं।

जल भरि नयन कहहिं रघुराई।
तात कर्म निज तें गति पाई॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं।
तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा।
देउँ काह तुम्ह पूरनकामा॥

सीता हरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौं मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ॥

गीध देह तजि धरि हरि रूपा।
भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी।
अस्तुति करत नयन भरि बारी॥

(श्रीरामचरित०, अरण्य० ३०।४-५; ३१; ३१।१)

नेत्रोंमें जल भरकर श्रीरघुनाथजी कहने लगे—हे तात! आपने अपने श्रेष्ठ कर्मोंसे (दुर्लभ) गति पायी है। जिनके मनमें दूसरेका हित बसता है (समाया रहता है), उनके लिये जगत्में कुछ भी (कोई भी गति)

दुर्लभ नहीं है। हे तात ! शरीर छोड़कर आप मेरे परमधाममें जाइये। मैं आपको क्या दूँ ? आप तो पूर्णकाम हैं (सब कुछ पा चुके हैं)।

'हे तात ! सीताहरणकी बात आप जाकर पिताजीसे न कहियेगा। यदि मैं राम हूँ तो दशमुख रावण कुटुम्बसहित वहाँ जाकर स्वयं ही कहेगा।'

जटायुने गीधका शरीर त्यागकर श्रीहरिका रूप धारण किया और बहुत-से अनुपम (दिव्य) आभूषण और (दिव्य) पीताम्बर पहन लिये। श्याम शरीर है, विशाल चार भुजाएँ हैं और नेत्रोंमें (प्रेम तथा आनन्दके आँसुओंका) जल भरकर वह स्तुति कर रहा है।

गीतावलीमें श्रीराम जटायुसे कहते हैं—

मेरे जान तात ! कछू दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन-सेवा-सुख, मोहि पितु को सुख दीजै॥
दिब्य देह, इच्छा-जीवन जग, बिधि मनाइ माँगि लीजै।
हरि-हर-सुजस सुनाइ, दरस दै, लोग कृतारथ कीजै॥
देखि बदन, सुनि बचन अमिय, तन राम-नयन-जल भीजै।
बोल्यो बिहग बिहँसि—रघुबर ! बलि, कहौं सुभाय, पतीजै॥
मेरे मरिबे सम न चारि फल, होंहि तौ, क्यों न कहीजै ?
तुलसी प्रभु दियो उतरु मौन हीं, परी मानो प्रेम सहीजै॥

(गीतावली, अरण्य० १५)

[भगवान् श्रीराम कहते हैं—] 'हे तात ! मेरे विचारसे तो आप कुछ दिन और जीवित रहिये। आप अपने इस पुत्रकी सेवाका सुख देखिये और मुझे पिताका आनन्द दीजिये। अब विधाता आपपर प्रसन्न हैं; अतः आप दिव्यदेह और संसारमें इच्छाजीवन माँग लीजिये तथा भगवान् विष्णु और शंकरका सुयश सुनाकर अपना दर्शन देते हुए लोगोंको कृतार्थ कीजिये।' तब पक्षिराज भगवान्के मुखकी ओर देखकर उनके अमृतमय वचन सुन तथा शरीरको रामके नयनजलसे भीगा जान हँसकर बोले—'रघुनाथजी ! मैं बलिहारी जाऊँ। आप विश्वास कीजिये, मैं स्वभावसे ही कहता हूँ। मेरे मरनेके समान तो [सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यमुक्ति] चारों फल भी नहीं हैं और यदि हों तो बतलाइये।' तुलसीदासजी कहते हैं, इसका उत्तर भगवान्ने मौन ही दिया; इससे मानो गृध्रराजके प्रेमपर सही पड़ गयी।

हनुमान्‌के प्रति प्रेम और कृतज्ञता

श्रीहनुमान्‌जीने लङ्कासे लौटकर वहाँ जो कुछ देखा था, जो कुछ कर आये थे, वह सब सुनाकर श्रीजानकीका संदेश तथा चिह्नस्वरूप उनकी चूड़ामणि दी। श्रीराम इस कार्यसे प्रसन्न होकर बोले—

कृतं हनूमता कार्यं सुमहद् भुवि दुर्लभम्।
मनसापि यदन्येन न शक्यं धरणीतले॥
नहि तं परिपश्यामि यस्तरेत महोदधिम्।
अन्यत्र गरुडाद् वायोरन्यत्र च हनूमतः॥
देवदानवयक्षाणां गन्धर्वोरगरक्षसाम्।
अप्रधृष्यां पुरीं लङ्कां रावणेन सुरक्षिताम्॥
प्रविष्टः सत्त्वमाश्रित्य जीवन् को नाम निष्क्रमेत्।
को विशेत् सुदुराधर्षां राक्षसैश्च सुरक्षिताम्॥
यो वीर्यबलसम्पन्नो न समः स्याद्धनूमतः।
भृत्यकार्यं हनुमता सुग्रीवस्य कृतं महत्।
एवं विधाय स्वबलं सदृशं विक्रमस्य च॥
यो हि भृत्यो नियुक्तः सन् भर्त्रा कर्मणि दुष्करे।
कुर्यात् तदनुरागेण तमाहुः पुरुषोत्तमम्॥
यो नियुक्तः परं कार्यं न कुर्यान्नृपतेः प्रियम्।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुर्मध्यमं नरम्॥
नियुक्तो नृपतेः कार्यं न कुर्याद् यः समाहितः।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुः पुरुषाधमम्॥
तन्नियोगे नियुक्तेन कृतं कृत्यं हनूमता।
न चात्मा लघुतां नीतः सुग्रीवश्चापि तोषितः॥
अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च महाबलः।
वैदेह्या दर्शनेनाद्य धर्मतः परिरक्षिताः॥
इदं तु मम दीनस्य मनो भूयः प्रकर्षति।
यदिहास्य प्रियाख्यातुर्न कुर्मि सदृशं प्रियम्॥
एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मनः॥

(वा० रा०, युद्ध० १। २-१३)

'हनुमान्‌ने बड़ा भारी कार्य किया है। भूतलपर ऐसा कार्य होना कठिन है। इस भूमण्डलमें दूसरा कोई तो ऐसा कार्य करनेकी बात मनके द्वारा सोच भी नहीं सकता। गरुड़, वायु और हनुमान्‌को छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो महासागरको लाँघ सके। देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व, नाग और राक्षस—इनमेंसे किसीके लिये भी जिसपर आक्रमण करना असम्भव है तथा जो रावणके द्वारा भलीभाँति सुरक्षित है, उस लङ्कापुरीमें अपने बलके भरोसे प्रवेश करके कौन वहाँसे जीवित निकल सकता है? जो हनुमान्‌के समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न न हो, ऐसा कौन पुरुष राक्षसोंद्वारा सुरक्षित अत्यन्त दुर्जय लङ्कामें प्रवेश कर सकता है? हनुमान्‌ने समुद्र-लङ्घन आदि कर्मोंके द्वारा अपने पराक्रमके अनुरूप बल प्रकट करके एक सच्चे सेवकके योग्य सुग्रीवका बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न किया है। जो सेवक स्वामीके द्वारा किसी दुष्कर कार्यमें नियुक्त होनेपर उसे पूरा करके तदनुरूप दूसरे कार्यको भी (यदि वह मुख्य कार्यका विरोधी न हो) सम्पन्न करता है, वह सेवकोंमें उत्तम कहा गया है। जो एक कार्यमें नियुक्त होकर योग्यता और सामर्थ्य होनेपर भी स्वामीके दूसरे प्रिय कार्यको नहीं करता (स्वामीने जितना कहा है, उतना ही करके लौट आता है) वह मध्यम श्रेणीका सेवक बताया गया है। जो सेवक मालिकके किसी कार्यमें नियुक्त होकर अपनेमें योग्यता और सामर्थ्यके होते हुए भी उसे सावधानीसे पूरा नहीं करता, वह अधम कोटिका कहा गया है। हनुमान्‌ने स्वामीके एक कार्यमें नियुक्त होकर उसके साथ ही दूसरे महत्त्वपूर्ण कार्योंको भी पूरा किया, अपने गौरवमें भी कमी नहीं आने दी—अपने-आपको दूसरोंकी दृष्टिमें छोटा नहीं बनने दिया और सुग्रीवको भी पूर्णतः संतुष्ट कर दिया। आज हनुमान्‌ने विदेहनन्दिनी सीताका पता लगाकर—उन्हें अपनी आँखों देखकर धर्मके अनुसार मेरी, समस्त रघुवंशकी और महाबली लक्ष्मणकी भी रक्षा की है। आज मेरे पास पुरस्कार देने योग्य वस्तुका अभाव है। यह बात मेरे मनमें बड़ी कसक पैदा कर रही है कि यहाँ जिसने मुझे ऐसा प्रिय संवाद सुनाया, उसका मैं कोई वैसा ही प्रिय कार्य नहीं कर पा रहा हूँ। इस समय इन महात्मा हनुमान्‌को मैं केवल अपना प्रगाढ़ आलिङ्गन प्रदान करता हूँ; क्योंकि यही मेरा सर्वस्व है।'

जो सर्वेश्वर सर्वसमर्थ हैं, जिनकी शक्तिसे ही सब सचेष्ट हैं, वे भक्तके अल्प प्रयासको भी अत्यधिक मानकर उसके कृतज्ञ बन जाते हैं। समस्त वानरी-सेनाके सम्मुख श्रीरघुनाथजी पवनकुमार हनुमान्‌के सम्बन्धमें कह रहे हैं—

कार्यं कृतं हनुमता देवैरपि सुदुष्करम्।
मनसापि यदन्येन स्मर्तुं शक्यं न भूतले॥
शतयोजनविस्तीर्णं लङ्घयेत्कः पयोनिधिम्।
लङ्कां च राक्षसैर्गुप्तां को वा धर्षयितुं क्षमः॥
भृत्यकार्यं हनुमता कृतं सर्वमशेषतः।
सुग्रीवस्येदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥
अहं च रघुवंशश्च लक्ष्मणश्च कपीश्वरः।
जानक्या दर्शनेनाद्य रक्षिताः स्मो हनूमता॥
सर्वथा सुकृतं कार्यं जानक्याः परिमार्गणम्।

(अध्यात्म०, युद्ध० १। २–५½)

'हनुमान्‌जीने जो कार्य किया है, उसका करना देवताओंके लिये भी अति कठिन है; पृथ्वीतलपर और कोई तो उसका मनसे भी स्मरण (कल्पना) नहीं कर सकता। भला, ऐसा कौन है, जो सौ योजन विस्तारवाले समुद्रको लाँघने और राक्षसोंसे सुरक्षिता लङ्कापुरीका ध्वंस करनेमें समर्थ हो? हनुमान्‌ने सुग्रीवके सेवकका समग्र कार्य भली भाँति सम्पन्न किया। संसारमें ऐसा न कोई हुआ और न आगे होगा ही। हनुमान्‌ने जानकीजीको देखकर आज मुझको तथा रघुवंश, लक्ष्मण और सुग्रीव

आदि सभीको बचा लिया है। जानकीजीकी खोजका कार्य तो बिल्कुल ठीक तरहसे हो गया।'

श्रीरामचरितमानसके अनुसार श्रीहनुमान्‌जीने श्री-राम-लक्ष्मणके चरणोंमें पड़कर श्रीजानकीजीकी दी हुई चूड़ामणि श्रीरघुनाथजीको दी। राघवेन्द्रने उसे हृदयसे लगाया। फिर हनुमान्‌जीने सीताजीके निम्नलिखित वचन सुनाते हुए कहा—

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना।
दीन बंधु प्रनतारति हरना॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी।
केहिं अपराध नाथ हौं त्यागी॥
अवगुन एक मोर मैं माना।
बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा।
निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा।
स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी।
जरैं न पाव देह बिरहागी॥
सीता कै अति बिपति बिसाला।
बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥
निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥
सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना।
भरि आए जल राजिव नयना॥

(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ३०।२-४½; ३१; ३१।½)

'छोटे भाईसमेत प्रभुके चरण पकड़ना [और कहना कि] आप दीनबन्धु हैं, शरणागतके दुःखोंको हरनेवाले हैं और मैं मन, वचन और कर्मसे आपके चरणोंकी अनुरागिणी हूँ। फिर स्वामी (आप) ने मुझे किस अपराधसे त्याग दिया ? [हाँ] एक दोष मैं अपना [अवश्य] मानती हूँ कि आपका वियोग होते ही मेरे प्राण नहीं चले गये। किंतु हे नाथ! यह तो नेत्रोंका अपराध है, जो प्राणोंके निकलनेमें हठपूर्वक बाधा देते हैं। विरह अग्नि है, शरीर रूई है और श्वास पवन है; इस प्रकार [अग्नि और पवनका संयोग होनेसे] यह शरीर क्षणमात्रमें जल सकता था। परंतु नेत्र अपने हितके लिये (प्रभुका स्वरूप देखकर सुखी होनेके लिये) जल (आँसू) बरसाते हैं, जिससे विरहकी आगसे भी देह जलने नहीं पाती। सीताजीकी विपत्ति बहुत बड़ी है। हे दीनदयालु! वह बिना कही ही अच्छी है, (कहनेसे आपको बड़ा क्लेश होगा)। हे करुणानिधान! उनका एक-एक पल कल्पके समान बीतता है। अतः हे प्रभु! तुरंत चलिये और अपनी भुजाओंके बलसे दुष्टोंके दलको जीतकर सीताजीको ले आइये।' सीताजीका दुःख सुनकर सुखके धाम प्रभुके कमलनेत्रोंमें जल भर आया।

वे बोले—

बचन कायँ मन मम गति जाही।
सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही॥

(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ३१।१)

'मन, वचन और शरीरसे जिसे मेरी ही गति (मेरा ही आश्रय) है उसे क्या स्वप्नमें भी विपत्ति हो सकती है?'

इसपर हनुमान्‌जीने कहा—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥
केतिक बात प्रभु जातुधान की।
रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥

(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ३१।२)

'हे प्रभु! विपत्ति तो वही (तभी) है, जब आपका भजन-स्मरण न हो। हे प्रभो! राक्षसोंकी बात ही कितनी है? आप शत्रुको जीतकर जानकीजीको ले आयेंगे।'

फिर भगवान्‌ने अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करते हुए हनुमान्‌से कहा—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा।
सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।
देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता।
लोचन नीर पुलक अति गाता॥

(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ३१।३-४)

'हे हनुमान् ! सुन; तेरे समान मेरा उपकारी देवता, मनुष्य अथवा मुनि—कोई शरीरधारी नहीं है। मैं तेरा प्रत्युपकार (बदलेमें उपकार) तो क्या करूँ, मेरा मन भी तेरे सामने नहीं हो सकता। हे पुत्र! सुन; मैंने मनमें [खूब] विचारकर देख लिया कि मैं तुझसे उऋण नहीं हो सकता।' देवताओंके रक्षक प्रभु बार-बार हनुमान्‌जीको देख रहे हैं। नेत्रोंमें प्रेमाश्रुओंका जल भरा है और शरीर अत्यन्त पुलकित है।

स्वयं हनुमान्‌जीसे तो उन्होंने ऋष्यमूकपर मिलते ही कहा था—

सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥
समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० २। ४; ३)

'हे कपि ! सुनो, मनमें ग्लानि मत मानना (मन छोटा मत करना)। तुम मुझे लक्ष्मणसे भी दूने प्रिय हो। सब कोई मुझे समदर्शी कहते हैं (मेरे लिये न कोई प्रिय है, न अप्रिय)। पर मुझको सेवक प्रिय है; क्योंकि वह अनन्यगति होता है—मुझे छोड़कर उसको कोई दूसरा सहारा नहीं होता। और हनुमान्! अनन्य वही है, जिसकी ऐसी बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर (जड-चेतन) जगत् मेरे स्वामी भगवान्‌का रूप है।'

शरणागत विभीषण

रावणके द्वारा तिरस्कृत विभीषण श्रीरामकी शरणमें आये हैं। उनके आनेका समाचार पाकर सुग्रीव कहते हैं—'यह मायावी राक्षस है, अवसर पाकर धोखा दे सकता है। इसे मार ही देना चाहिये।'

श्रीरामके नीतिका उपदेश करनेपर भी सुग्रीव अपनी बातपर अड़े हैं। अतः सुग्रीवकी सब बातें सुनकर और उनपर भलीभाँति विचार करके श्रीरामने उन वानरशिरोमणिसे यह परम मङ्गलमयी बात कही—

स दुष्टो वाप्यदुष्टो वा किमेष रजनीचरः।
सूक्ष्ममप्यहितं कर्तुं मम शक्तः कथंचन॥
पिशाचान् दानवान् यक्षान् पृथिव्यां चैव राक्षसान्
अङ्गुल्यग्रेण तान् हन्यामिच्छन् हरिगणेश्वर॥
श्रूयते हि कपोतेन शत्रुः शरणमागतः।
अर्चितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः॥
स हि तं प्रतिजग्राह भार्याहर्तारमागतम्।
कपोतो वानरश्रेष्ठ किं पुनर्मद्विधो जनः॥
ऋषेः कण्वस्य पुत्रेण कण्डुना परमर्षिणा।
शृणु गाथा पुरा गीता धर्मिष्ठा सत्यवादिना॥
बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप॥
आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
स चेद् भयाद् वा मोहाद् वा कामाद् वापि न रक्षति
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत् पापं लोकगर्हितम्॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आनाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः॥
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥
करिष्यामि यथार्थं तु कण्डोर्वचनमुत्तमम्।
धर्मिष्ठं च यशस्यं च स्वर्ग्यं स्यात् तु फलोदये॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥

(वा० रा०, युद्ध० १८। २२-३)

'वानरराज ! विभीषण दुष्ट हो या साधु, क्या यह निशाचर किसी तरहसे मेरा सूक्ष्म-से-सूक्ष्मरूपमें भी अहित कर सकता है ? वानरयूथपते ! यदि मैं चाहूँ तो पृथ्वीपर जितने भी पिशाच, दानव, यक्ष और राक्षस हैं, उन सबको एक अँगुलीके अग्रभागसे मार सकता हूँ। सुना जाता है कि एक कबूतरने अपनी शरणमें आये हुए अपने ही शत्रु एक व्याधका यथोचित आतिथ्य-सत्कार किया था और उसे निमन्त्रण दे अपने शरीरके मांसका भोजन कराया था। उस व्याधने उस कबूतरकी भार्या कबूतरीको पकड़ लिया था, तो भी अपने घर आनेपर कबूतरने उसका आदर किया; फिर मेरे-जैसा मनुष्य शरणागतपर अनुग्रह करे, इसके लिये तो कहना ही क्या है। पूर्वकालमें कण्व मुनिके पुत्र सत्यवादी महर्षि कण्डुने एक धर्मविषयक गाथाका गान किया था। उसे बताता हूँ, सुनो। परंतप ! यदि शत्रु भी शरणमें आये और दीनभावसे हाथ जोड़कर दयाकी याचना करे तो उसपर प्रहार नहीं करना चाहिये। शत्रु दुखी हो या अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षीकी शरणमें जाय तो शुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ पुरुषको अपने प्राणोंका मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि वह भय, मोह अथवा किसी कामनासे न्यायानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा नहीं करता तो उसके उस पापकर्मकी लोकमें बड़ी निन्दा होती है। यदि शरणमें आया हुआ पुरुष संरक्षण न पाकर उस रक्षकके देखते-देखते नष्ट हो जाय तो वह उसके सारे पुण्यको अपने साथ ले जाता है। इस प्रकार शरणागतकी रक्षा न करनेमें महान् दोष बताया गया है। शरणागतका त्याग स्वर्ग और सुयशकी प्राप्तिको मिटा देता है और मनुष्यके बल और वीर्यका नाश करता है। इसलिये मैं तो महर्षि कण्डुके उस यथार्थ और उत्तम वचनका ही पालन करूँगा; क्योंकि वह परिणाममें धर्म, यश और स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला है। जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है। अतः, कपिश्रेष्ठ सुग्रीव ! वह विभीषण हो या स्वयं रावण आ गया हो, तुम उसे ले आओ। मैंने उसे अभयदान दे दिया।'

यों अन्यान्य वानर योद्धाओंको भी भगवान् श्रीरामने शरणागतरक्षाका महत्त्व समझाया। तदनन्तर विभीषणको आदरपूर्वक ले आया गया।

विभीषणको श्रीरामने मधुर वाणीद्वारा सान्त्वना दी और नेत्रोंसे मानो उन्हें पी जायँगे, इस प्रकार प्रेमपूर्वक उनकी ओर देखते हुए कहा—'विभीषण ! तुम मुझे ठीक-ठीक राक्षसोंका बलाबल बताओ।' अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामके ऐसा कहनेपर राक्षस विभीषणने रावणके सम्पूर्ण बलका परिचय दिया। विभीषणकी वह बात सुनकर रघुकुलतिलक श्रीरामने मन-ही-मन उस सबपर बारंबार विचार किया और इस प्रकार कहा—

यानि कर्मापदानानि रावणस्य विभीषण।
आख्यातानि च तत्त्वेन ह्यवगच्छामि तान्यहम्॥
अहं हत्वा दशग्रीवं सप्रहस्तं सहात्मजम्।
राजानं त्वां करिष्यामि सत्यमेतच्छृणोतु मे॥
रसातलं वा प्रविशेत् पातालं वापि रावणः।
पितामहसकाशं वा न मे जीवन् विमोक्ष्यते॥
अहत्वा रावणं संख्ये सपुत्रजनबान्धवम्।
अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि त्रिभिस्तैर्भ्रातृभिः शपे॥

(वा० रा०, युद्ध० १९। १८—२१)

'विभीषण ! तुमने रावणके युद्धविषयक जिन-जिन पराक्रमोंका वर्णन किया है, उन्हें मैं अच्छी तरह जानता हूँ। परंतु सुनो, मैं सच कहता हूँ कि प्रहस्त और

पुत्रोंके सहित रावणका वध करके मैं तुम्हें लङ्काका राजा बनाऊँगा। रावण रसातल या पातालमें प्रवेश कर जाय अथवा पितामह ब्रह्माजीके पास चला जाय तो भी वह अब मेरे हाथसे जीवित नहीं छूट सकेगा। मैं अपने तीनों भाइयोंकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि युद्धमें पुत्र, भृत्यजन और बन्धु-बान्धवोंसहित रावणका वध किये बिना अयोध्यापुरीमें प्रवेश नहीं करूँगा।'

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर धर्मात्मा विभीषणने मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—'प्रभो! राक्षसोंके संहारमें और लङ्कापुरीपर आक्रमण करके उसे जीतनेमें मैं आपकी यथाशक्ति सहायता करूँगा तथा प्राणोंकी बाजी लगाकर युद्धके लिये रावणकी सेनामें भी प्रवेश करूँगा।'

इति ब्रुवाणं रामस्तु परिष्वज्य विभीषणम्।
अब्रवील्लक्ष्मणं प्रीतः समुद्राज्जलमानय॥
तेन चेमं महाप्राज्ञमभिषिञ्च विभीषणम्।
राजानं रक्षसां क्षिप्रं प्रसन्ने मयि मानद॥

(वा० रा०, युद्ध० १९। २४-२५)

विभीषणके ऐसा कहनेपर भगवान् श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगा लिया और प्रसन्न होकर लक्ष्मणसे कहा—'दूसरोंको मान देनेवाले सुमित्रानन्दन! तुम समुद्रसे जल ले आओ और उसके द्वारा इन परम बुद्धिमान् राक्षसराज विभीषणका लङ्काके राज्यपर शीघ्र ही अभिषेक कर दो। मेरे प्रसन्न होनेपर इन्हें यह लाभ मिलना ही चाहिये।'

अध्यात्मरामायण तथा श्रीरामचरितमानसमें यह प्रसङ्ग किंचित् अन्तरसे है—

समाचार मिलता है कि रावणका भाई मिलने आया है। सुग्रीवादिकी सम्मति है—'राक्षस मायावी होते हैं। उनपर विश्वास नहीं किया जा सकता। इसे बंदी बना लेना चाहिये।'

भक्तवत्सल कौन कहता श्रीरामको यदि वे इतने सशङ्क रहते? वे नित्य निर्भय, नित्य कृपालु कहते हैं—'सुग्रीव! राम दुर्बल नहीं है, कापुरुष भी नहीं है। सावधान होकर सुनो—

यदीच्छामि कपिश्रेष्ठ लोकान्सर्वान्सहेश्वरान्।
निमिषार्धेन संहन्यां सृजामि निमिषार्धतः॥
अतो मयाभयं दत्तं शीघ्रमानय राक्षसम्॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

(अध्यात्म०, युद्ध० ३। १०-१२)

'हे कपिश्रेष्ठ! यदि मेरी इच्छा हो जाय तो मैं आधे निमेषमें ही लोकपालोंके सहित सम्पूर्ण लोकोंको नष्ट कर सकता हूँ और आधे निमेषमें ही सबको (पुनः) रच सकता हूँ, अतः (तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो) मैं इस राक्षसको अभयदान देता हूँ, तुम इसे शीघ्र ही ले आओ। मेरा यह नियम है कि जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' यों कहकर मुझसे अभय माँगता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ।'

'श्रीरामचरितमानस' में श्रीराम सुग्रीवसे कहते हैं—

सखा नीति तुम्ह नीकि बिचारी।
मम पन सरनागत भयहारी॥
सुनि प्रभु बचन हरष हनुमाना।
सरनागत बच्छल भगवाना॥

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि॥

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू।
आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ॥
पापवंत कर सहज सुभाऊ।
भजनु मोर तेहि भाव न काऊ ॥
जौं पै दुष्टहृदय सोइ होई।
मोरें सनमुख आव कि सोई ॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥
भेद लेन पठवा दससीसा।
तबहुँ न कछु भय हानि कपीसा ॥
जग महुँ सखा निसाचर जेते।
लछिमनु हनइ निमिष महुँ तेते ॥
जौं सभीत आवा सरनाईं।
रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं ॥
उभय भाँति तेहि आनहु हँसि कह कृपानिकेत।
(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ४२ । ४-५;४३;४३ । १-४;४४)

'मित्र ! तुमने नीति तो अच्छी विचारी; परंतु मेरा प्रण तो है शरणागतके भयको हर लेना।'

प्रभुके वचन सुनकर हनुमान्जी हर्षित हुए [और मन-ही-मन कहने लगे---] भगवान् कैसे शरणागतवत्सल हैं (शरणमें आये हुएपर पिताकी भाँति प्रेम करनेवाले हैं)।

[श्रीरामजी फिर बोले---] 'जो मनुष्य अपने अहितका अनुमान करके शरणमें आये हुएका त्याग कर देते हैं, वे पामर (क्षुद्र) हैं, पापमय हैं; उन्हें देखनेमें भी हानि है (पाप लगता है)। जिसे करोड़ों ब्राह्मणोंकी हत्या लगी हो, शरणमें आनेपर मैं उसे भी नहीं त्यागता। जीव ज्यों ही मेरे सम्मुख होता है, त्यों ही उसके करोड़ों जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं। पापीका यह सहज स्वभाव होता है कि मेरा भजन उसे कभी नहीं सुहाता। यदि वह (रावणका भाई) निश्चय ही दुष्ट हृदयका होता तो क्या वह मेरे सम्मुख आ सकता था ? जो मनुष्य निर्मल मनका होता है, वही मुझे पाता है। मुझे कपट और छल-छिद्र नहीं सुहाते। और यदि उसे रावणने भेद लेनेको भेजा है, तब भी हे सुग्रीव ! अपनेको कुछ भी भय या हानि नहीं है; क्योंकि सखे ! जगत्में जितने भी राक्षस हैं, लक्ष्मण क्षणभरमें उन सबको मार सकते हैं और यदि वह भयभीत होकर आया है तो मैं उसे प्राणोंकी तरह रक्खूँगा।' कृपाके धाम श्रीरामजीने हँसकर कहा---'दोनों ही स्थितियोंमें उसे ले आओ।'

रावणने विभीषणके लिये ठीक कहा था---'राज करत लंका'; क्योंकि रावणको तो दिग्विजय तथा अपने विलासमें ही अवकाश न था। लङ्काके वास्तविक प्रशासक विभीषण-जी ही प्रारम्भसे थे; किंतु दशग्रीवके अन्याय-अधर्माचरणसे उनका हृदय कभी सहमत नहीं हुआ। उन अनन्य भगवद्भक्तका दशाननने तिरस्कार किया, उन्हें पादताड़ित किया और भक्तके लिये अपने भगवान्को छोड़कर अन्य कोई शरण तो है नहीं। विभीषण सीधे उन शरणागतवत्सलकी शरणमें पहुँच गये। अब श्रीराम उनसे न कहें तो किससे अपना रहस्य कहें ? वे कहते हैं---

शृणु वक्ष्यामि ते भद्र रहस्यं मम निश्चितम् ॥
मद्भक्तानां प्रशान्तानां योगिनां वीतरागिणाम्।
हृदये सीतया नित्यं वसाम्यत्र न संशयः ॥
तस्मात्त्वं सर्वदा शान्तः सर्वकल्मषवर्जितः।
मां ध्यात्वा मोक्ष्यसे नित्यं घोरसंसारसागरात् ॥
(अध्यात्म०, युद्ध० ३ । ३८-४०)

'भद्र ! सुनो, मैं तुम्हें अपना निश्चित रहस्य सुनाता हूँ। जो मेरे शान्तस्वभाव, विरक्त और योगनिष्ठ भक्त हैं, उनके हृदयमें मैं सीताजीके सहित सदा रहता हूँ---इसमें संदेह नहीं। अतः तुम सर्वदा शान्त और पापरहित रहकर मेरा ध्यान करनेसे घोर संसार-सागरसे पार हो जाओगे।'

श्रीरामका सहज स्वभाव-कथन

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ।
जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ ॥

जौं नर होइ चराचर द्रोही।
आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना।
करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा।
तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी।
मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं।
हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें।
लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें।
धरउँ देह नहिं आन निहोरें॥
सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम॥
सुनु लंकेस सकल गुन तोरें।
तातें तुम्ह अतिसय प्रिय मोरें॥
(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ४७। १—४; ४८, ४८। १)

श्रीरामजीने कहा—सखा! सुनो; मैं तुम्हें अपना स्वभाव कहता हूँ, जिसे काकभुशुण्डि, शिवजी और पार्वतीजी भी जानती हैं। कोई मनुष्य सम्पूर्ण जड-चेतन जगत्का द्रोही हो, यदि वह भी भयभीत होकर मेरी शरण तककर आ जाय और मद, मोह तथा नाना प्रकारके छल-कपट त्याग दे तो मैं उसे बहुत शीघ्र साधुके समान कर देता हूँ। माता, पिता, भाई, पुत्र, स्त्री, शरीर, धन, घर, मित्र और परिवार—इन सबके ममत्वरूपी तागोंको बटोरकर और उन सबकी एक डोरी बटकर उसके द्वारा जो अपने मनको मेरे चरणोंमें बाँध लेता है—सारे सांसारिक सम्बन्धोंका केन्द्र मुझे बना लेता है, जो समदर्शी है, जिसे कुछ भी इच्छा नहीं हैऔर जिसके मनमें हर्ष, शोक और भय नहीं है—ऐसा सज्जन मेरे हृदयमें कैसे बसता है, जैसे लोभीके हृदयमें धन बसा करता है। तुम-सरीखे संत ही मुझे प्रिय हैं। मैं और किसीके निहोरेसे कृतज्ञतावश देह धारण नहीं करता। जो सगुण साकार भगवान्के उपासक हैं, दूसरेके हितमें लगे रहते हैं, नीति और नियमोंमें दृढ़ हैं और जिन्हें ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम है, वे मनुष्य मेरे प्राणोंके समान हैं। लङ्कापति! सुनो, तुम्हारे अंदर उपर्युक्त सब गुण हैं। इससे तुम मुझे अत्यन्त ही प्रिय हो।

विभीषणको केवल शरण ही प्राप्त नहीं हुई। उसी समय उनको लङ्काके अधीश्वरपदपर अभिषेककी बात भी हो गयी। श्रीरघुनाथजीने तत्काल आदेश दिया—

पश्यत्विदानीमेवैष मम संदर्शने फलम्॥
लङ्काराज्येऽभिषेक्ष्यामि जलमानय सागरात्।
यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत्तिष्ठति मेदिनी॥
यावन्मम कथा लोके तावद्राज्यं करोत्वसौ।
(अध्यात्म०, युद्ध० ३। ४२-४३½)

'लक्ष्मण! यह अभी मेरे दर्शनका फल देखे। तुम समुद्रसे जल ले आओ, मैं इसे लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किये देता हूँ। जबतक चन्द्र, सूर्य और पृथ्वीकी स्थिति है तथा जबतक लोकमें मेरी कथा रहेगी, तबतक यह लङ्काका राज्य करेगा।'

सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति, लंकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ॥
सब बिधि हीन-दीन, अति जड़मति, जाको कतहुँ न ठाउँ।
आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिषिराउ॥
जिन के हौं हित सब प्रकार चित, नाहिन और उपाउ।
तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब, डरौं न सुजस नसाउ॥
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौं, सकल सभा पतिआउ।
नहि कोउ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥
सुनि रघुपति के बचन बिभीषन प्रेम-मगन, मन चाउ।
तुलसिदास तजि आस-त्रास सब, ऐसे प्रभु कहँ गाउ॥
(गीतावली, सुन्दर० ४५)

[भगवान् रामने कहा—] 'मित्र सुग्रीव और लंकापति

विभीषण! सुनिये, आपलोगोंसे क्या छिपाना है। जो मेरा सहज स्वभाव है, उसे सच-सच बतलाता हूँ। जो सब प्रकार पतित, दीन और अत्यन्त जडबुद्धि है और जिसका कहीं भी ठिकाना नहीं है, वह यदि शरण आता है तो मैं उसकी सब प्रकार सेवा करता हूँ और उसे कभी नहीं त्यागता—यह बात वाल्मीकि आदि ऋषीश्वर जानते हैं। जिनके चित्तमें एकमात्र मैं ही परम हितकारी हूँ तथा जिन्हें और कोई भी उपाय नहीं सूझता, उन्हींके लिये मैं देह धारणकर सारे कार्य करता हूँ और 'मेरा सुयश नष्ट हो जायगा' इस बातसे नहीं डरता। मैं बारंबार भुजा उठाकर कहता हूँ, सम्पूर्ण सभा मेरा विश्वास करे—'मुझे अपने दासके समान कोई प्रिय नहीं है, हाँ, निष्कपट प्रीति करनेवाला दास होना चाहिये (क्योंकि मोहि कपट छल छिद्र न भावा)।' रघुनाथजीके ये वचन सुनकर विभीषण प्रेममें मग्न हो गये और उनके मनमें बड़ा चाव बढ़ा। तुलसीदासजी कहते हैं, सब प्रकारकी आशा और भय छोड़कर ऐसे प्रभुका ही गुणगान करो।''

कृतज्ञता-ज्ञापन

लङ्काकी युद्ध-भूमिमें विजय-प्राप्तिके पश्चात् वे सर्वसमर्थ भगवान् कपियोंसे कह रहे हैं—

भवतां बाहुवीर्येण निहतो रावणो मया॥
कीर्तिः स्थास्यति वः पुण्या यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
कीर्तयिष्यन्ति भवतां कथां त्रैलोक्यपावनीम्॥
मयोपेतां कलिहरां यास्यन्ति परमां गतिम्।

(अध्यात्म०, युद्ध० १२। २–३½)

'आपलोगोंके बाहुबलसे आज मैंने रावणको मार दिया। आप सब लोगोंकी पवित्र कीर्ति जबतक सूर्य और चन्द्र रहेंगे, तबतक स्थिर रहेगी और जो लोग मेरेसहित आप सबकी कलि-कल्मषनाशिनी त्रिलोकपावनी पवित्र कथाका कीर्तन करेंगे, वे परमपदको प्राप्त होंगे।'

रावणविजयके पश्चात् श्रीरामने इन्द्रके दिये हुए दिव्य रथको ले जानेकी आज्ञा देकर मातलिका बड़ा सम्मान किया। उनके चले जानेपर श्रीरामने प्रसन्नता-पूर्वक सुग्रीवसे [illegible] लक्ष्मणसे कहा—

विभीषणमिमं सौम्य लङ्कायामभिषेचय॥
अनुरक्तं च भक्तं च तथा पूर्वोपकारिणम्।
एष मे परमः कामो यदिमं रावणानुजम्॥
लङ्कायां सौम्य पश्येयमभिषिक्तं विभीषणम्।

(वा० रा०, युद्ध० [illegible])

'सौम्य! अब तुम लङ्कामें जाकर इन विभीषणका राज्याभिषेक करो; क्योंकि ये मेरे प्रेमी, [illegible] पहले उपकार करनेवाले हैं। सौम्य! [illegible] है कि रावणके छोटे भाई इन विभीषणको मैं लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त देखूँ।'

सुग्रीवको युद्धभूमिमें हृदयसे लगाकर कह रहे हैं—

सहायेन त्वया वीर जितो मे रावणो महान्।
विभीषणोऽपि लङ्कायामभिषिक्तो मयानघ॥

(अध्यात्म०, युद्ध० १२। ५०)

'वीर! तुम्हारी सहायतासे ही मैंने महाबली रावणको जीता है और अनघ! (उसीसे) विभीषणको भी लङ्काके राज्यपर अभिषिक्त किया है।'

हनुमान्‌जीके मुखसे श्रीरामका रावण-विजय-संदेश सुनकर सीताको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा—'हनुमन्! इस प्रिय संवादके अनुरूप उपहारमें देनेके योग्य कोई भी ऐसी वस्तु मुझे दिखायी नहीं देती, जिसे देकर मैं संतुष्ट हो सकूँ।' हनुमान्‌जीने कहा—'आपका यह स्नेहयुक्त वचन ही मेरे लिये देवताओंके राज्यसे बढ़कर है।' यह कहकर हनुमान्‌जीने आसपास बैठी हुई राक्षसियोंको मार डालनेकी आज्ञा माँगी। सीताजीने कहा—'नहीं, ये बेचारी परवश थीं। इनके प्रति मेरे मनमें कोई रोष नहीं है। अब मैं श्रीरघुनाथजीका दर्शन चाहती हूँ।' हनुमान्‌जी उन्हें आश्वासन देकर लौट आये और श्रीरामसे वहाँकी सारी बातें उन्होंने कह सुनायीं। तब श्रीरामने पास ही खड़े हुए विभीषणसे कहा—

'तुम विदेहनन्दिनी सीताको स्नान कराकर दिव्य अङ्गराग तथा दिव्य आभूषणोंसे विभूषित करके शीघ्र मेरे पास ले आओ।' विभीषणने ऐसा ही किया। वे दीप्तिमती सीतादेवीको शिविकामें बैठाकर भगवान् श्रीरामके पास ले आये। श्रीराम ध्यानमग्न थे। राक्षसके घरमें चिरकालतक निवास करनेके बाद आज सीता सामने आयी हैं, सोचकर श्रीरघुनाथजीको एक ही समय रोष, हर्ष और दुःख प्राप्त हुए। उन्होंने तर्क-वितर्कपूर्ण विचार करके विभीषणसे कहा—'राक्षसराज! तुम वैदेहीसे कहो, वे शीघ्र मेरे पास आयें।' श्रीरघुनाथजीकी यह बात सुनकर धर्मज्ञ विभीषणने वहाँसे दूसरे लोगोंको हटाना प्रारम्भ किया। पगड़ी बाँधे और अंगा पहने हुए बहुत-से सिपाही हाथोंमें झाँझकी तरह बजती हुई छड़ी लिये उन वानर योद्धाओंको हटाते हुए चारों ओर घूमने लगे। रीछ, वानर और राक्षस—दूर जाकर खड़े हो गये। उनके हटाये जाने और हटनेसे बड़ा कोलाहल मच गया। श्रीरामको यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने विभीषणकी ओर तनिक रोषपूर्ण दृष्टिसे देखा और उलाहना देते हुए कहा—

किमर्थं मामनादृत्य क्लिश्यतेऽयं त्वया जनः।
निवर्तयैनमुद्वेगं जनोऽयं स्वजनो मम॥
न गृहाणि न वस्त्राणि न प्राकारस्तिरस्क्रिया।
नेदृशा राजसत्कारा वृत्तमावरणं स्त्रियाः॥
व्यसनेषु न कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे।
न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियाः॥
सैषा विपद्गता चैव कृच्छ्रेण च समन्विता।
दर्शने नास्ति दोषोऽस्या मत्समीपे विशेषतः॥
विसृज्य शिविकां तस्मात् पद्भ्यामेवापसर्पतु।
समीपे मम वैदेहीं पश्यन्त्वेते वनौकसः॥
(वा० रा०, युद्ध० ११४। २६—३०)

'तुम किसलिये मेरा अनादर करके इन सब लोगोंको कष्ट दे रहे हो? रोक दो इस उद्वेगजनक कार्यको। यहाँ जितने लोग हैं, सब मेरे आत्मीय जन हैं। घर, वस्त्र (कनात आदि) और चहारदीवारी आदि वस्तुएँ स्त्रीके लिये परदा नहीं हुआ करती हैं। इस तरह ... हैं वे भी लोगोंको दूर हटानेके ज... स्त्रीके लिये आवरण या पर्देका काम नहीं देते पतिसे प्राप्त होनेवाले सत्कार तथा नारीका अपना सदाचार—ये ही उसके लिये आवरण हैं विपत्तिकालमें, शारीरिक या मानसिक पीड़ाके अवसरोंपर, युद्धमें, स्वयंवरमें, यज्ञमें अथवा विवाहमें स्त्रीका दीखना (या दूसरोंकी दृष्टिमें आना) दोषकी बात नहीं है। ये सीता इस समय विपत्तिमें हैं, मानसिक कष्टसे भी युक्त हैं और विशेषतः मेरे पास हैं; इसलिये इनका परदेके बिना सबके सामने आना दोषकी बात नहीं है। अतः जानकी शिविका (पालकी) छोड़कर पैदल ही मेरे पास आयें और ये सभी वानर उनका दर्शन करें।'

अध्यात्मरामायणके अनुसार माता जानकीके दर्शनोंकी उत्कण्ठा सभीको है। विभीषणने उन्हें शिविकामें प्रभुके समीप भेजा है। वानर शिविकाके समीप जाते हैं तो शिविका-रक्षक उन्हें डाँटकर दूर हटा देते हैं। भक्तवत्सलसे यह देखा नहीं गया। वे बोले—

विभीषण किमर्थं ते वानरान्तारयन्ति हि।
पश्यन्तु वानराः सर्वे मैथिलीं मातरं यथा॥
पादचारेण साऽऽयातु जानकी मम सन्निधिम्।
(अध्यात्म०, युद्ध० १२। ७२½)

'विभीषण! तुम्हारे ये छड़ीदार वानरोंको क्यों रोकते हैं? समस्त वानरगण जानकीका माताके समान दर्शन करें और जानकीजी मेरे पास पैदल चलकर आयें।'

कह रघुबीर कहा मम मानहु।
सीतहि सखा पयादें आनहु॥
देखहुँ कपि जननी की नाईं।
बिहसि कहा रघुनाथ गोसाईं॥
(श्रीरामचरित०, लंका०)

वरदाता श्रीरामका वानरोंके लिये इन्द्रसे वर माँगना

रावण-विजयके पश्चात् देवराज इन्द्र युद्धस्थलमें आये ... उन्होंने श्रीरामसे कहा—'तुम कोई मनोवाञ्छित वर

माँगो।' उनके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने प्रसन्नतापूर्ण हृदयसे कहा—

यदि प्रीतिः समुत्पन्ना मयि ते विबुधेश्वर।
वक्ष्यामि कुरु मे सत्यं वचनं वदतां वर॥
मम हेतोः पराक्रान्ता ये गता यमसादनम्।
ते सर्वे जीवितं प्राप्य समुत्तिष्ठन्तु वानराः॥
मत्कृते विप्रयुक्ता ये पुत्रैर्दारैश्च वानराः।
तान् प्रीतमनसः सर्वान् द्रष्टुमिच्छामि मानद॥
विक्रान्ताश्चापि शूराश्च न मृत्युं गणयन्ति च।
कृतयत्ना विपन्नाश्च जीवयैतान् पुरंदर॥
मत्प्रियेष्वभिरक्ताश्च न मृत्युं गणयन्ति ये।
त्वत्प्रसादात् समेयुस्ते वरमेतमहं वृणे॥
नीरुजो निर्व्रणांश्चैव सम्पन्नबलपौरुषान्।
गोलाङ्गूलांस्तथर्क्षांश्च द्रष्टुमिच्छामि मानद॥
अकाले चापि पुष्पाणि मूलानि च फलानि च।
नद्यश्च विमलास्तत्र तिष्ठेयुर्यत्र वानराः॥
(वा० रा०, युद्ध० १२०। ४-१०)

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ देवेश्वर! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं आपसे एक प्रार्थना करूँगा। आप मेरी उस प्रार्थनाको सफल करें। मेरे लिये युद्धमें पराक्रम करके जो यमलोकको चले गये हैं, वे सब वानर नया जीवन पाकर उठ खड़े हों। मानद! जो वानर मेरे लिये अपने स्त्री-पुत्रोंसे बिछुड़ गये हैं, उन सबको मैं प्रसन्नचित्त देखना चाहता हूँ। पुरंदर! वे पराक्रमी और शूरवीर थे तथा मृत्युको कुछ भी नहीं गिनते थे। उन्होंने मेरे लिये बड़ा प्रयत्न किया है और अन्तमें कालके गालमें चले गये हैं। आप उन सबको जीवित कर दें। जो वानर सदा मेरा प्रिय करनेमें लगे रहते थे और मौतको कुछ भी न समझते थे, वे सब आपकी कृपासे फिर मुझसे मिलें—यह वर मैं चाहता हूँ। दूसरोंको मान देनेवाले देवराज! मैं उन वानर, लंगूर और भालुओंको नीरोग, व्रणहीन और बल-पौरुषसे सम्पन्न देखना चाहता हूँ। ये वानर जिस स्थानपर रहें, वहां असमयमें भी फल-मूल और पुष्पोंकी भरमार रहे तथा निर्मल जलवाली नदियाँ बहती रहें।'

वानरोंको मान तथा धनदानके लिये विभीषणको आदेश

अन्तमें राक्षसराज विभीषणने दोनों हाथ जोड़कर बड़ी विनय और उतावलीके साथ श्रीरघुनाथजीसे पूछा—'प्रभो! अब मैं क्या सेवा करूँ?' तब महातेजस्वी श्रीरघुनाथजीने कुछ सोचकर लक्ष्मणके सुनते हुए यह स्नेहयुक्त वचन कहा—

कृतप्रयत्नकर्माणः सर्व एव वनौकसः।
रत्नैरर्थैश्च विविधैः सम्पूज्यन्तां विभीषण॥
सहामीभिस्त्वया लङ्का निर्जिता राक्षसेश्वर।
हृष्टैः प्राणभयं त्यक्त्वा संग्रामेष्वनिवर्तिभिः॥
त इमे कृतकर्माणः सर्वे एव वनौकसः।
धनरत्नप्रदानैश्च कर्मैषां सफलं कुरु॥
एवं सम्मानिताश्चैते नन्द्यमाना यथा त्वया।
भविष्यन्ति कृतज्ञेन निर्वृता हरियूथपाः॥
त्यागिनं संग्रहीतारं सानुक्रोशं जितेन्द्रियम्।
सर्वे त्वामभिगच्छन्ति ततः सम्बोधयामि ते॥
हीनं रतिगुणैः सर्वैरभिहन्तारमाहवे।
सेना त्यजति संविग्ना नृपतिं तं नरेश्वर॥
(वा० रा०, युद्ध० १२२। ४—९)

'विभीषण! इन सारे वानरोंने युद्धमें बड़ा यत्न एवं परिश्रम किया है, अतः तुम नाना प्रकारके रत्न और धन आदिके द्वारा इन सबका सत्कार करो। राक्षसेश्वर! ये वीर वानर संग्रामसे कभी पीछे नहीं हटे और सदा हर्ष एवं उत्साहसे भरे रहे। प्राणोंका भय छोड़कर लड़नेवाले इन वानरोंके सहयोगसे तुमने लङ्कापर विजय पायी है। ये सभी वानर इस समय अपना काम पूरा कर चुके हैं, अतः इन्हें रत्न और धन आदि देकर तुम इनके इस कर्मको सफल करो। तुम कृतज्ञ होकर जब इनका इस प्रकार सम्मान

और अभिनन्दन करोगे, तब ये वानर-यूथपति बहुत संतुष्ट होंगे। यों करनेसे सब लोग यह जानेंगे कि विभीषण उचित अवसरपर धनका त्याग एवं दान करते हैं, यथासमय न्यायोचित रीतिसे धन और रत्न आदि-का संग्रह करते रहते हैं, दयालु हैं और जितेन्द्रिय हैं; इसलिये तुम्हें यों करनेके लिये समझा रहा हूँ। नरेश्वर! जो राजा सेवकोंमें प्रेम उत्पन्न करनेवाले दान-मान आदि सब गुणोंसे रहित होता है, उसे युद्ध-के अवसरपर उद्विग्न हुई सेना छोड़कर चल देती है; वह समझती है कि यह व्यर्थ ही हमारा वध करा रहा है—हमारे भरण-पोषणका या योग-क्षेमकी चिन्ता इसे बिल्कुल नहीं है।'

वानरोंको तथा विभीषणको घर लौटनेका अनुरोध तथा स्वयं अयोध्या जानेके लिये उनसे अनुमति चाहना

विमानपर बैठकर समस्त वानरोंका समादर करते हुए उन ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने विभीषणसहित महापराक्रमी सुग्रीवसे कहा—

मित्रकार्यं कृतमिदं भवद्भिर्वानरर्षभाः।
अनुज्ञाता मया सर्वे यथेष्टं प्रतिगच्छत॥
यत् तु कार्यं वयस्येन स्निग्धेन च हितेन च।
कृतं सुग्रीव तत् सर्वं भवताधर्मभीरुणा॥
किष्किन्धां प्रति याह्याशु स्वसैन्येनाभिसंवृतः।
स्वराज्ये वस लङ्कायां मया दत्ते विभीषण।
न त्वां धर्षयितुं शक्ताः सेन्द्रा अपि दिवौकसः॥
अयोध्यां प्रति यास्यामि राजधानीं पितुर्मम।
अभ्यनुज्ञातुमिच्छामि सर्वानामन्त्रयामि वः॥
(वा० रा०, युद्ध० १२२। १४—१७)

'वानरश्रेष्ठ वीरो! आपलोगोंने अपने इस मित्रका कार्य मित्रोचित रीतिसे ही भलीभाँति सम्पन्न किया। अब आप सब अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंको चले जायँ। सखे सुग्रीव! एक हितैषी एवं प्रेमी मित्रको जो काम करना चाहिये, वह सब तुमने पूरा-पूरा कर दिखाया; क्योंकि तुम अधर्मसे डरनेवाले हो। वानरराज! अब तुम अपनी सेनाके साथ शीघ्र ही किष्किन्धापुरीको चले जाओ। विभीषण! तुम भी लङ्कामें मेरे दिये हुए अपने राज्यपर स्थिर रहो; अब इन्द्र आदि देवता भी तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकते। अब इस समय मैं अपने पिताकी राजधानी अयोध्याको जाऊँगा। इसके लिये आप सब लोगोंसे पूछता हूँ और सबकी अनुमति चाहता हूँ।'

सबको अयोध्या चलनेकी प्रसन्नतापूर्वक अनुमति

श्रीरामचन्द्रजीके यों कहनेपर सभी वानर-सेनापति तथा राक्षसराज विभीषण हाथ जोड़कर कहने लगे—'भगवन्! हम भी अयोध्यापुरीको चलना चाहते हैं, आप हमें भी अपने साथ ले चलिये। वहाँ हम प्रसन्नतापूर्वक वनों और उपवनोंमें विचरेंगे।' विभीषणसहित वानरोंके इस प्रकार अनुरोध करनेपर श्रीरामने सुग्रीव तथा विभीषणसहित उन वानरोंसे कहा—

प्रियात् प्रियतरं लब्धं यदहं ससुहृज्जनः।
सर्वैर्भवद्भिः सहितः प्रीतिं लप्स्ये पुरीं गतः॥
क्षिप्रमारोह सुग्रीव विमानं सह वानरैः।
त्वमप्यारोह सामात्यो राक्षसेन्द्र विभीषण॥
(वा० रा०, युद्ध० १२२। २२-२३)

'मित्रो! यह तो मेरे लिये प्रियसे-भी-प्रिय बात होगी—परम प्रिय वस्तुका लाभ होगा, यदि मैं आप सभी सुहृदोंके साथ अयोध्यापुरीको चल सकूँ। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होगी। सुग्रीव! तुम सब वानरोंके साथ शीघ्र ही इस विमानपर चढ़ जाओ। राक्षसराज विभीषण! तुम भी मन्त्रियोंके साथ विमान-पर आरूढ़ हो जाओ।'

अयोध्यामें सबका सम्मान-सत्कार

लंका-विजय करके अयोध्या लौटनेपर श्रीराघवेन्द्र गुरु वसिष्ठको कपियोंका परिचय देते हुए कहते हैं—

ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।
भए समर सागर कहँ बेरे॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे।
भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० ७ । ४)

'हे मुनि ! सुनिये, ये सब मेरे सखा हैं। ये संग्रामरूपी समुद्रमें मेरे लिये बेड़े (जहाज) के समान हुए। मेरे हितके लिये इन्होंने अपने जन्मतक हार दिये (अपने प्राणतकको होम दिया)। ये मुझे भरतसे अधिक प्रिय हैं।'

राज्याभिषेकके अनन्तर विदाईके समय प्रभु गद्गदकण्ठ वानर-रीछ-नायकोंसे कहते हैं—

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई।
मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥
ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे।
मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥
अनुज राज संपति बैदेही।
देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना।
मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती।
मोरें अधिक दास पर प्रीती॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० १५ । २–४)

'तुमलोगोंने मेरी बड़ी सेवा की है। मुँहपर किस प्रकार तुम्हारी बड़ाई करूँ ? मेरे हितके लिये तुमलोगोंने घरोंको तथा सब प्रकारके सुखोंको त्याग दिया। इससे तुम मुझे अत्यन्त ही प्रिय लग रहे हो। छोटे भाई, राज्य, सम्पत्ति, जानकी, अपना शरीर, घर, कुटुम्ब और मित्र—ये सभी मुझे प्रिय हैं, परंतु तुम्हारे समान नहीं। मैं झूठ नहीं कहता, यह मेरा स्वभाव है। सेवक सभीको प्यारे लगते हैं, यह नीति (नियम) है। (पर मेरा तो दासपर स्वाभाविक ही) विशेष प्रेम है।'

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० १६)

'सखागण ! अब सब लोग घर जाओ; वहाँ दृढ़ नियमसे मुझे भजते रहना। मुझे सदा सर्वव्यापक और सबका हित करनेवाला जानकर अत्यन्त प्रेम करना।'

फिर कृपालु श्रीरामजीने निषादराजको बुला लिया और उसे भूषण-वस्त्र प्रसादमें दिये।

जाहु भवन मम सुमिरन करेहू।
मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।
सदा रहेहु पुर आवत जाता॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० १९ । १-२)

फिर कहा—'अब तुम भी घर जाओ, वहाँ मेरा स्मरण करते रहना तथा मन, वचन और कर्मसे धर्मके अनुसार चलना।'

देवर्षि नारदसे प्रभुने अपना स्वभाव स्पष्ट बतलाया है—

जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ।
जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥
कवन बस्तु असि प्रिय मोहि लागी।
जो मुनिबर न सकहु तुम्ह मागी॥
जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें।
अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० ४१ । २-३)

'मुनि ! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो। क्या मैं अपने भक्तोंसे कभी कुछ छिपाव करता हूँ ? मुझे ऐसी कौन-सी वस्तु प्रिय लगती है, जिसे हे मुनिश्रेष्ठ ! तुम नहीं माँग सकते। मुझे भक्तोंके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। ऐसा विश्वास भूलकर भी मत छोड़ना।'

गरुड़के प्रति श्रीरामका कृतज्ञता-ज्ञापन

लक्ष्मणके नाग-पाशबद्ध होकर मूर्च्छित होनेपर श्रीरामका विलाप सुनकर सब वानर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे। इतनेमें ही गरुड़जी आ गये और उनके भयसे उन दोनों भाइयोंको बाँधनेवाले नाग भाग खड़े हुए। गरुड़जीके स्पर्शसे उनके शरीरके सारे घाव भर गये और वे पूर्ववत् उत्साहसम्पन्न हो गये। उस समय श्रीरामने [illegible] उनसे कहा—

भवत्प्रसादाद् व्यसनं रावणिप्रभवं महत्।
उपायेन व्यतिक्रान्तौ शीघ्रं च बलिनौ कृतौ ॥
यथा तातं दशरथं यथाजं च पितामहम्।
तथा भवन्तमासाद्य हृदयं मे प्रसीदति ॥
को भवान् रूपसम्पन्नो दिव्यस्रगनुलेपनः।
वसानो विरजे वस्त्रे दिव्याभरणभूषितः ॥
(वा० रा०, युद्ध० ५० । ४२-४४)

'इन्द्रजित्के कारण हमलोगोंपर जो महान् संकट आ गया था, उसे हम आपकी कृपासे लाँघ गये। आप विशिष्ट उपायके ज्ञाता हैं; अतः आपने हम दोनोंको शीघ्र ही पूर्ववत् बलसे सम्पन्न कर दिया। जैसे पिता दशरथ और पितामह अजके पास जानेसे मेरा मन प्रसन्न हो सकता था, वैसे ही आपको पाकर मेरा हृदय हर्षसे खिल उठा है। आप बड़े रूपवान् हैं, दिव्य पुष्पोंकी माला और दिव्य अङ्गरागसे विभूषित हैं। आपने दो स्वच्छ वस्त्र धारण कर रक्खे हैं तथा दिव्य आभूषण आपकी शोभा बढ़ाते हैं। हम जानना चाहते हैं कि आप कौन हैं।' (सर्वज्ञ होते हुए भी भगवान्ने मानवभावका आश्रय लेकर गरुड़से ऐसा प्रश्न किया।)

तब गरुड़ने कहा—'मैं आपका प्रिय मित्र गरुड़ हूँ। बाहर विचरनेवाला आपका प्राण हूँ। आप दोनोंकी सहायताके लिये ही मैं यहाँ आया हूँ।' ऐसा कहकर श्रीरामको नीरोग करके गरुड़ तीव्र गतिसे आकाशमें उड़ गये।

भक्तवत्सल श्रीराम

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

अयोध्यामें राज्याभिषेकके अनन्तर जब महाराजाधिराज रघुनाथजी लङ्कासे साथ आये लोगोंको विदा करने लगे, [इन्]हें अभीष्ट उपहार देकर विदा किया। विभीषणको [विदा] करनेका समय आया तो उन्होंने इक्ष्वाकुकुलमें [पर]म्परासे आराधित श्रीरङ्गजी (भगवान् नारायण) का विग्रह माँग लिया। उदार-चक्रचूड़ामणि श्रीरामने वह [आ]राध्यमूर्ति विभीषणको दे दी।

विभीषण अयोध्यासे उस श्रीविग्रहको लेकर लङ्का जा [रहे] थे। मार्गमें कावेरीके मध्यके अन्तिम द्वीपमें वे नित्यकर्म [ए]वं पूजनादिके लिये रुके। पूजनोपरान्त जब श्रीमूर्तिको [उठा]ने लगे, तब वह उठी ही नहीं। इससे विभीषण बहुत [खि]न्न हुए। वे अन्न-जल त्यागकर वहीं बैठ गये।

तीन दिन-रात निर्जल उपवास करते बीत चुके थे। [च]तुर्थ रात्रिको उन्हें स्वप्नमें भगवान् नारायणके दर्शन हुए। [भ]गवान्ने कहा—'वत्स विभीषण! हठ मत करो। यहाँका [न]रेश श्रीरामके राज्याभिषेकमें गया था। वहाँ मेरे इस श्रीविग्रहको देखकर मुग्ध हो गया। श्रीरघुनाथसे उनके कुलकी आराध्यमूर्ति माँगनेका साहस तो उसमें था नहीं, यहाँ आकर वह तप करने लगा। उसी समयसे वह मेरी प्राप्तिके लिये तप कर रहा है। मुझे उसका मनोरथ पूर्ण करने दो। तुम समर्थ हो, लङ्कासे यहाँतक आना तुम्हारे लिये साधारण बात है। मैं लङ्काकी ओर मुख करके स्थित होऊँगा। तुम यहाँ आकर मेरा प्रतिदिन पूजन कर लिया करो।'

भक्त दुराग्रही नहीं होता। विभीषणकी निद्रा टूटी। प्रभुकी आज्ञा उन्होंने स्वीकार कर ली और प्रातः पूजनादि करके लङ्का चले गये। श्रीरङ्गजी दक्षिणमुख अब भी स्थित हैं। विभीषण प्रतिदिन उनका पूजन करने रङ्गद्वीप आने लगे।

एक दिन नित्यकी भाँति विभीषण श्रीरङ्गजीका दर्शन-पूजन करने आये। समुद्र-तटवर्ती अग्नि-तीर्थमें स्नान करके भगवान्का पूजन करनेके लिये वे पुष्प लेने उपवनमें चले गये। पुष्पोद्यानमें एक सघन स्थानपर एक अत्यन्त वृद्ध ब्राह्मण ध्यानस्थ बैठे थे। विभीषणका मन लगा था श्रीरङ्गजीमें और वे पुष्पचयनमें शीघ्रता कर रहे थे। इस जल्दीमें उन ध्यानस्थ ब्राह्मणपर उनकी दृष्टि नहीं पड़ी।

पुष्प तोड़ने बढ़े तो ब्राह्मणको पैरकी ठोकर लग गयी। अत्यन्त वृद्ध तो वे ब्राह्मण थे ही—ठोकर खाकर उठे तो लड़खड़ाते दो पद चलकर गिर पड़े और मर गये।

पूरे श्रीरङ्गद्वीपमें यह समाचार फैल गया। वहाँके ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधमें भरे दौड़ पड़े—'इस राक्षसने ब्राह्मणको मार डाला!' बस, एक ही धुन सबको चढ़ी थी। ब्राह्मणके मर जानेसे विभीषण स्वयं अत्यन्त दुखी थे। वे पश्चात्तापसे सिर झुकाये मौन खड़े थे। उनसे किसीने कुछ पूछा ही नहीं। ब्राह्मणोंने उन्हें लौह-शृङ्खलाओंसे जकड़ दिया। नाना प्रकारसे उनको मार डालनेका प्रयत्न किया; किंतु कोई आघात विभीषणके शरीरपर घाव नहीं बना सका। तब ब्राह्मणोंने उन्हें एक गुफामें बंद कर दिया।

विभीषण लौह-शृङ्खलामें बँधे बंदी हो गये हैं, यह समाचार किसी प्रकार अयोध्या पहुँचा। इसे सुनकर भक्तवत्सल श्रीराम व्याकुल हो गये। उन्होंने पुष्पक-विमानका स्मरण किया। उनके स्मरण करते ही विमान उपस्थित हो गया। उसमें बैठकर श्रीराम श्रीरङ्गद्वीप पहुँचे। वहाँके लोगोंने उनका स्वागत किया।

उचित स्वागतादिके पश्चात् श्रीरामने वहाँके लोगोंसे पूछा—'विभीषण कहाँ हैं?'

वहाँके ब्राह्मण तो स्वयं विभीषणको दण्ड दिलानेके लिये सम्राट्के सम्मुख लाना चाहते थे। अतः वे विभीषणको गुफासे निकालकर ले आये। लौह-शृङ्खलाओंसे जकड़े, मुख नीचे किये विभीषणको देखकर श्रीरामने ब्राह्मणोंसे विभीषण-का अपराध पूछा।

ब्राह्मण बोले—'एक तो यह जातिसे देवता-ब्राह्मण एवं वैदिक मर्यादाका द्रोही राक्षस है, दूसरे आपने इसे अपने सेवकोंमें मान लिया, इससे और अधिक मदमत्त हो गया है। यहाँके सबसे वृद्ध तपस्वी ब्राह्मण पुष्पोद्यानमें ध्यानस्थ बैठे थे। इस दुष्टने पैरसे उन्हें ऐसी ठोकर मारी कि वे वहाँसे दो पद भी नहीं चल सके। वहीं लड़खड़ा-कर गिरे और मर गये। यह मायावी राक्षस है। इस ब्रह्मघातीको हमलोग प्राणदण्ड देना चाहते थे, किंतु हमारे किसी प्रयत्नसे यह मरता ही नहीं। आप सम्राट् हैं, समर्थ हैं; अतः आप अपने हाथोंसे इसका सिर काट दें!'

श्रीरामके कमल-दल-लोचन भर आये। वे बोले—'विप्रो! इन्होंने अपराध किया है और उसके लिये आप ब्राह्मण जो दण्ड-विधान करते हैं, उसे मैं कैसे अस्वीकार कर सकता हूँ; किंतु—

> **वरं ममैव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।**
> **राज्यमायुर्मया दत्तं तथैव स भविष्यति॥**
> **भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनो दण्ड इष्यते।**
>
> (पद्मपुराण, पाताल० १०४। १५०-१)

'विप्रवरो! इन विभीषणको मैंने कल्पान्त आयु और निरापद राज्यका वरदान दिया है। मेरा वरदान असत्य नहीं होगा। वह तो सत्य ही होगा। दूसरे, सेवक यदि अपराध करे तो (वह अपराध स्वामीका माना जाता है और) उसका दण्ड स्वामीको मिलना चाहिये। अतः (यदि विभीषणके अपराधका दण्ड प्राणदण्ड है तो) मेरा मरना ही उत्तम है। मेरे सेवकको कैसे मारा जा सकता है? (मैं प्राणदण्ड स्वीकार करनेको प्रस्तुत हूँ।)'

अब तो परिस्थिति ही बदल गयी। ब्राह्मणोंने कह दिया—'जिसका राज्याभिषेक हुआ है, उसे प्राणदण्ड देनेकी विधि नहीं है। सम्राट्को प्राणदण्ड दिया नहीं जा सकता। आप अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठ तथा दूसरे ऋषियोंसे स्वयं प्रायश्चित्त पूछें।'

अब मुनियोंसे पूछा गया तो उन्होंने विभीषणसे पूछा—'तुमने ब्राह्मणको क्यों मारा?' क्योंकि कर्मका प्रायश्चित्त तो केवल कार्यका बाह्यरूप तथा उसका परिणाम देखकर नहीं बतलाया जा सकता। कर्ताकी भावना तथा परिस्थिति-का विचार आवश्यक है। विभीषणका सत्य उत्तर सुनकर सबने कहा—'यह अनजानमें हुई ब्रह्महत्या है। इसका प्रायश्चित्त शास्त्रमें है।' मुनियोंने विभीषणको प्रायश्चित्त बतला दिया।

ब्राह्मणोंका प्रायश्चित्त-विधान सुनकर विभीषणको शृङ्खला-पाशसे मुक्त कर दिया गया। वे छूटते ही श्रीरामके सम्मुख आने लगे; किंतु मर्यादा-पुरुषोत्तमने सेवकसे कह

दिया—'प्रायश्चित्त किये बिना विभीषणको मेरे सम्मुख मत आने दो।'

विभीषणने विधिवत् प्रायश्चित्त किया और तब वे जाकर श्रीरामके पादपद्मोंपर गिर पड़े। प्रभुने स्नेहपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगाते हुए समझाया—

अद्यप्रभृति पौलस्त्य विमृश्य कुरु मद्धितम्।
अस्माकं त्वत्कृते रक्षः प्रयासोऽयमभूद्यतः॥
कृपालुर्भव सर्वत्र भृत्यो मम यतो भवान्।
(पद्मपुराण, पाताल० १०४। १६०½)

'राक्षसराज विभीषण! देखो, तुम्हारी रक्षाके लिये मुझे (अयोध्यासे आनेका) यह प्रयास करना पड़ा है, अतः आजसे मेरे हितको पूरा विचारकर व्यवहार करो और सबके प्रति कृपालु बनो; क्योंकि तुम मेरे सेवक हो।'

उस समयसे विभीषण श्रीरङ्गद्वीपमें अदृश्यरूपसे आने लगे।

हनुमान्‌जीके वियोगमें प्रलाप

श्रीपवनपुत्रका रोष—शोक समझा जा सकता है। वे दक्षिण समुद्रतटसे श्रीरघुनाथकी आज्ञासे काशी गये थे। बड़ी कठिनाईसे, तप करके तो भगवान् शंकरको प्रसन्न कर सके और उनसे शिवलिङ्ग लेकर जब लौटे, तब देखते हैं कि श्रीरामने तो जानकीजीके हाथसे बनाये बालूके शिवलिङ्गकी स्थापना भी कर दी है।

'प्रभुको इस शरीरकी सेवा ही स्वीकार नहीं तो इसे रखकर क्या होगा?' यों सोचकर आञ्जनेय प्राण-त्यागके लिये प्रस्तुत हो गये।

श्रीरघुनाथजीने बहुत समझाया, वैराग्यका उपदेश किया; किंतु देखा कि हनुमान्‌जीपर किसी उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ रहा है तो बोले—'हनुमान्! यदि तुम मेरे द्वारा स्थापित लिङ्गमूर्तिको उखाड़ दो तो मैं वहाँ तुम्हारे लाये इस शिवलिङ्गकी स्थापना कर दूँगा।'

श्रीकेसरीकुमार प्रसन्न हो गये। उन्हें लगा कि बालूसे बने शिवलिङ्गको हटा देनेमें क्या कठिनाई है। उसे वे लगे उखाड़ने। पहले एक हाथ लगाया, फिर दोनों हाथ लगाये; किंतु अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी 'उद्भवस्थिति-संहारकारिणी' सीताके करोंने जिसे बनाया था, जिसे परात्पर प्रभुने स्थापित किया था, वह श्रीमूर्ति भला हिलनेवाली थी! अन्तमें हनुमान्‌जीने उस लिङ्गमूर्तिमें पूँछ लपेटी और पूरी शक्ति लगायी। फल यह हुआ कि पूँछ खिसक गयी। हनुमान् मुखके बल बहुत दूर जा गिरे और इतनी चोट आयी कि मुखसे रक्त निकलने लगा—वे मूर्छित हो गये।

हनुमान्‌जीकी मूर्छा टूट नहीं रही थी। उनको इस प्रकार मरणासन्न देखकर भक्तवत्सल श्रीराम व्याकुल हो गये। वे रुदन करते हुए वैसे ही प्रलाप करने लगे, जैसे सीता-हरणके अनन्तर या लङ्काके युद्धमें लक्ष्मणके मूर्छित हो जानेपर उन्होंने किया था।

श्रीराम उवाच

पम्पारण्ये वयं दीनास्त्वया वानरपुंगव।
आश्वासिताः कारयित्वा सख्यमादित्यसूनुना॥
त्वां दृष्ट्वा पितरान् बन्धून् कौसल्यां जननीमपि।
न स्मरामो वयं सर्वान् मे त्वयोपकृतं बहु॥
मदर्थं सागरस्तीर्णो भवता बहुयोजनः।
तलप्रहाराभिहतो मैनाकोऽपि नगोत्तमः॥
नागमाता च सुरसा मदर्थं भवता जिता।
छायाग्राहमहाक्रूरामवधीद् राक्षसीं भवान्॥
सायं सुवेलमासाद्य लङ्कामाहत्य पाणिना।
अद्राक्षी रावणगृहं मदर्थं त्वं महाकपे॥
सीतामन्विष्य लङ्कायां रात्रौ गतभयो भवान्।
अदृष्ट्वा जानकीं पश्चादशोकवनिकां ययौ॥
नमस्कृत्य च वैदेहीमभिज्ञानं प्रदाय च।
चूडामणिं समादाय मदर्थे जानकीकरात्॥
अशोकवनिकावृक्षानभाङ्क्षीस्त्वं महाकपे।
ततस्त्वशीतिसाहस्रान् किंकरान् नाम राक्षसान्॥
रावणप्रतिमान् युद्धे पत्त्यश्वेभरथाकुलान्।
अवधीस्त्वं मदर्थे वै महाबलपराक्रमान्॥

ततः प्रहस्ततनयं जम्बुमालिनमागतम् ।
अवधीन्मन्त्रितनयान् सप्त सप्तार्चिवर्चसः ॥
पञ्चसेनापतीन् पश्चादनयस्त्वं यमालयम् ।
कुमारमक्षमवधीस्ततस्त्वं रणमूर्धनि ॥
तत इन्द्रजिता नीतो राक्षसेन्द्रसभां शुभाम् ।
तत्र लङ्केश्वरं वाचा तृणीकृत्यावमन्य च ॥
अभाङ्क्षीस्त्वं पुरीं लङ्कां मदर्थं वायुनन्दन ।
ततः प्रतिनिवृत्तस्त्वं ऋष्यमूकमहागिरिम् ॥

(स्कन्दपुराण, ब्रह्म० १ । ४६ । १—१३)

श्रीराम बोले—'हनुमान् ! (श्रीजानकीका हरण होनेके कारण व्याकुल) भाईके साथ मैं जब पम्पासरोवरके समीपके वनमें दीन हो रहा था, तब वानरराज सुग्रीवसे मित्रता कराकर तुमने मुझे आश्वासन दिया था। तुमको देखकर तो मैं अपने पिताका, भाइयोंका और माता कौसल्याका भी स्मरण नहीं करता था। तुमने तो मुझपर बहुत उपकार किये हैं। मेरे लिये अनेक योजन विस्तीर्ण समुद्रको तुमने पार किया और पर्वतश्रेष्ठ मैनाकको (जो तुम्हारे पिता वायुका मित्र है, मेरे लिये) तुमने थप्पड़ मारा। मेरे लिये तुमने नागमाता सुरसाको जीता तथा अत्यन्त क्रूरहृदया छायाग्राहिणी राक्षसी (सिंहिका) को तुमने मारा। कपिवर ! मेरे लिये तुम (कालके निवासस्थान) सुवेल पर्वतपर संध्याकालमें चढ़े, तुमने लङ्काकी अधिदेवताको घूँसा मारा तथा (रात्रिमें) रावणके घर (में प्रविष्ट होकर उस) को देखा। (ये सब बहुत भयप्रद कार्य थे; किंतु) निर्भय होकर तुमने (इनको किया तथा) रात्रिमें लङ्कामें सीताको ढूँढ़ा। (वहाँ नगरमें) सीताको न देखकर तुम अशोकवनमें गये। (अशोकवाटिकामें) श्रीवैदेहीको प्रणाम करके, उन्हें पहिचानका चिह्न (मुद्रिका) देकर और उन श्रीजानकीके हाथसे मुझे पहिचान-चिह्नके रूपमें देनेके लिये चूड़ामणि लेकर, महाकपि ! तुमने अशोकवाटिकाके वृक्षोंको तोड़ गिराया। उसके पश्चात् मेरे ही लिये (रावणके भेजे) अस्सी हजार रावणके सेवक राक्षसोंको, जो रावणके समान (वैसे ही बलवान्) थे और पैदल, घोड़े, हाथी तथा रथोंके सहित थे, उन महान् बल-पराक्रमवालोंको तुमने मारा। इसके पश्चात् प्रहस्तका पुत्र जम्बुमाली (युद्ध करने) आया। तुमने उसे और उसके साथके सात मन्त्रिपुत्रोंको, जो सातों अग्निकी सात लपटों*के समान तेजस्वी थे, मार डाला। फिर तुमने (रावणके) पाँच सेनापतियोंको यमपुर भेज दिया। फिर तुमने युद्धमें (रावणके पुत्र) अक्षकुमारका वध किया। इतने युद्धके पश्चात् जब मेघनाद (किसी प्रकार) तुमको राक्षसेश्वरकी सुसज्जित राजसभामें ले गया, तब लंकेश्वरको तृणके समान समझकर, उसका अपमान करके तुमने उससे बातें कीं और मेरे लिये, हे वायुनन्दन ! तुमने लङ्कापुरीका ध्वंस किया। यह करके तुम मेरे पास ऋष्यमूक पर्वतपर लौट आये।'

एवमादिमहादुःखं मदर्थं प्राप्तवानसि ।
त्वमत्र भूतले शेषे मम शोकमुदीरयन् ॥
अहं प्राणान् परित्यक्ष्ये मृतोऽसि यदि वायुज ।
सीतया मम किं कार्यं लक्ष्मणेनानुजेन वा ॥
भरतेनापि किं कार्यं शत्रुघ्नेन श्रियापि वा ।
राज्येनापि न मे कार्यं परेतस्त्वं कपे यदि ॥
उत्तिष्ठ हनुमन् वत्स किं शेषेऽद्य महीतले ।
शय्यां कुरु महाबाहो निद्रार्थं मम वानर ॥
कंदमूलफलानि त्वमाहारार्थं समाहर ।
स्नातुमद्य गमिष्यामि द्रुतं कलशमानय ॥
अजिनानि च वासांसि दर्भांश्च समुपाहर ।
ब्रह्मास्त्रेणावबद्धोऽहं मोचितश्च त्वया हरे ॥
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा ह्यौषधानयनेन वै ।
लक्ष्मणप्राणदाता त्वं पौलस्त्यमदनाशन ॥

* अग्नि सप्तजिह्वावाले कहे गये हैं।

सहायेन त्वया युद्धे राक्षसान् रावणादिकान् ।
निहत्यातिबलान् वीरानवापं मैथिलीं गृहम् ॥
हनुमन्नञ्जनासूनो सीताशोकविनाशन ।
कथमेवं परित्यज्य लक्ष्मणं मां च जानकीम् ॥
अप्रापयित्वायोध्यां त्वं किमर्थं गतवानसि ।
क्व गतोऽसि महावीर महाराक्षसकण्टक ॥

(स्कन्दपुराण, ब्रह्म० १ । ४६ । १४—२३)

'इस प्रकार मेरे लिये तुमने पहले महान् दुःख भोगे हैं और आज यहाँ मुझे शोकसंतप्त करनेके लिये पृथ्वीपर सो रहे हो ? वायुपुत्र ! यदि तुम मर गये हो तो मैं भी यहीं प्राण-त्याग करूँगा । (तुम्हारे बिना) मुझे सीताका क्या करना है अथवा छोटे भाई लक्ष्मणसे ही क्या प्रयोजन है ? भरतसे, शत्रुघ्नसे, लक्ष्मीसे या राज्यसे भी मुझे कोई काम नहीं है, यदि, कपिश्रेष्ठ ! तुम मर चुके हो । वत्स हनुमान् ! उठो ! आज पृथ्वीपर क्यों सो रहे हो ? वानरश्रेष्ठ ! मेरे सोनेके लिये शय्या बिछाओ । मेरे भोजनके लिये कंद-मूल-फल ले आओ । मैं इस समय स्नान करने जाना चाहता हूँ, झटपट कलश लाओ । मेरे लिये मृगचर्म, वस्त्र तथा कुश लाओ । वानरोत्तम ! जब मैं लक्ष्मणके साथ ब्रह्मपाश (नागपाश)से (युद्धमें) बँध गया था, तब तुमने ही मुझे छुड़ाया था । संजीवनी ओषधि लाकर तुम्हीं लक्ष्मणको प्राणदान करनेवाले हो और रावणके गर्वको तुमने नष्ट किया है । युद्धमें तुम्हारी सहायतासे ही मैंने रावणादि राक्षसोंको मारकर सीताको प्राप्त किया और घर (अयोध्या) आ सका । हनुमान् ! अञ्जनानन्दन ! सीताशोकविनाशन ! इस प्रकार लक्ष्मणको, सीताको और मुझे अयोध्या पहुँचाये बिना (यहाँ त्यागकर) किसलिये तुम चले गये ? महावीर ! राक्षसकण्टक ! तुम कहाँ गये ?'

इस प्रकार विलाप करते हुए श्रीराम हनुमान्‌जीका मुख देखते रो रहे थे । उनके कमल-दृगोंके अश्रुबिन्दुओंसे हनुमान्‌का मुख भीग गया । तब धीरे-धीरे हनुमान्‌जीकी चेतना लौटी । श्रीरामने उन्हें हृदयसे लगाया । आश्वासन दिया । श्रीरघुनाथजीके आदेशसे अपने लाये शिवलिङ्गकी स्थापना हनुमान्‌जीने की । श्रीरामने कहा—'इन हनुमदीश्वरके दर्शनके बिना रामेश्वर-दर्शनका फल नहीं होगा ।'

श्रीरामका ऐश्वर्य

परशुरामका गर्वहरण

जनकपुरसे अपनी चारों पुत्रवधुओंको विदा कराकर महाराज दशरथ अपने चारों पुत्रों तथा अन्य बराती जनोंके साथ अयोध्याको लौट रहे थे । मार्गमें उन्हें परशुरामजी मिले । वे शिवधनुषके तोड़नेवाले श्रीरामपर बहुत कुपित थे । राजा दशरथने बहुत अनुनय-विनय की; किंतु उन्होंने उनकी एक न सुनी । वे श्रीरामको ललकारते हुए बोले—'दशरथ-नन्दन ! सुना जाता है तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है । तुमने शिवजीके धनुषको तोड़ा है । उस धनुषका तोड़ना अद्भुत और अचिन्त्य है । उसके टूटनेकी बात सुनकर मैं एक दूसरा उत्तम धनुष लेकर आया हूँ । मेरे इस महान् वैष्णव धनुषको हाथमें लो और इसपर एक ऐसा बाण चढ़ाओ, जो शत्रुनगरीपर विजय पानेमें समर्थ हो ।' श्रीराम अपने पिताके गौरवका ध्यान रखकर संकोचवश कुछ बोल नहीं रहे थे । परंतु परशुरामजीकी उपर्युक्त बात सुनकर वे मौन न रह सके । उन्होंने उनसे कहा—

कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥
वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥
इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥
आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥
इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान् ।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥
न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः ।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥

(वा० रा०, बाल० ७६ । २–८)

'भृगुनन्दन ! ब्रह्मन् ! आपने पिताके ऋणसे उऋण होनेकी—पिताके मारनेवालेका वध करके वैरका बदला चुकानेकी भावना लेकर जो क्षत्रिय-संहाररूपी कर्म किया है, उसे मैंने सुना है और हमलोग आपके उस कर्मका अनुमोदन भी करते हैं (क्योंकि वीर पुरुष वैरका प्रतिशोध लेते ही हैं) । भार्गव ! मैं क्षत्रिय-धर्मसे युक्त हूँ (इसीलिये आप ब्राह्मण-देवताके समक्ष विनीत रहकर कुछ बोल नहीं रहा हूँ); तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ-सा मानकर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं । अच्छा, अब मेरा तेज और पराक्रम देखिये ।' यों कहकर शीघ्र पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो परशुरामजीके हाथसे वह उत्तम धनुष और बाण ले लिया (साथ ही उनसे अपनी वैष्णवी शक्तिको भी वापस ले लिया) । उस धनुषको चढ़ाकर श्रीरामने उसकी प्रत्यञ्चापर बाण रक्खा, फिर कुपित होकर उन्होंने जमदग्निकुमार परशुरामजीसे इस प्रकार कहा— '(भृगुनन्दन) राम ! आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं तथा विश्वामित्रजीके साथ भी आपका सम्बन्ध है—इन सब कारणोंसे मैं इस प्राण-संहारक बाणको आपके शरीरपर नहीं छोड़ सकता । राम ! मेरा विचार है कि आपको सर्वत्र शीघ्रता-पूर्वक आने-जानेकी शक्ति प्राप्त हुई है, उसे अथवा आपने अपने तपोबलसे जिन अनुपम पुण्यलोकोंको प्राप्त किया है, उन्हींको नष्ट कर डालूँ; क्योंकि अपने पराक्रमसे विपक्षीके बलके घमंडको चूर कर देनेवाला यह दिव्य वैष्णव बाण, जो शत्रुओंकी नगरीपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता ।'

लक्ष्यं दर्शय बाणस्य ह्यमोघो मम सायकः ॥
लोकान्पादयुगं वापि वद शीघ्रं ममाज्ञया ।
अयं लोकः परो वाथ त्वया गन्तुं न शक्यते ॥
एवं त्वं हि प्रकर्तव्यं वद शीघ्रं ममाज्ञया ।

(अध्यात्म०, बाल० ७ । १७-१८½)

'ब्रह्मन् ! मेरी बात सुनो, मेरा बाण अमोघ है—यह व्यर्थ नहीं जाता । इसके लिये शीघ्र ही कोई लक्ष्य दिखाओ । (अपने पुण्यसे जीते हुए) लोक अथवा अपने चरण—इन दोनोंमेंसे मेरी आज्ञासे शीघ्र ही किसी एकको बताओ (उसीको इस बाणसे वेध डालूँगा) । अब तुम इस लोक या परलोकमें कहीं नहीं जा सकते । अब तुम्हारे साथ मेरा जो कुछ कर्तव्य है वह तुम मेरी आज्ञासे शीघ्र ही बताओ ।'

उग्रतेजा भार्गवका मुख सूख गया । वे स्तुति करते हुए कहने लगे—'श्रीराम ! मैं जान गया कि आप परम पुरुष हैं । आपके बाणको अपने पुण्योपार्जित लोक मैं अर्पित करता हूँ ।'

इससे प्रसन्न होकर करुणामय राघवेन्द्र बोले—

प्रसन्नोऽस्मि तव ब्रह्मन् यत्ते मनसि वर्तते ॥
दास्ये तदखिलं कामं मा कुरुष्वात्र संशयम् ।

(अध्यात्म०, बाल० ७ । ४६½)

'हे ब्रह्मन् ! मैं प्रसन्न हूँ; तुम्हारे हृदयमें जो-जो कामनाएँ हैं उन सभीको मैं पूर्ण करूँगा, इसमें सन्देह न करना ।'

परशुरामजीको और क्या माँगना था—'भगवद्भक्तोंका संग और आपके चरणोंमें प्रीति बनी रहे ।'

अभीष्ट वरदान पाकर वे विदा हुए ।

हनुमान्‌को श्रेयदान

नर-नाट्य करना है, अतः सीतान्वेषणके लिये वंदरोंको चारों दिशाओंमें भेजा जा रहा है; किंतु कार्यका श्रेय किसे

असमर्थ समझ लेते हैं। जो अपनी प्रशंसा करनेवाला, दुष्ट, धृष्ट, सर्वत्र धावा करनेवाला और अच्छे-बुरे सभी लोगोंपर कठोर दण्डका प्रयोग करनेवाला होता है, उस मनुष्यका सब लोग सत्कार करते हैं। लक्ष्मण! सामनीति (शान्ति) के द्वारा इस लोकमें न तो कीर्ति प्राप्त की जा सकती है, न यशका प्रसार हो सकता है और न संग्राममें विजय ही पायी जा सकती है। सुमित्रा-नन्दन! आज मेरे बाणोंसे खण्ड-खण्ड हो मगर और मत्स्य सब ओर उतराकर बहने लगेंगे और उनकी लाशोंसे इस मकरालय (समुद्र) का जल आच्छादित हो जायगा। तुम यह दृश्य आज अपनी आँखों देख लो। लक्ष्मण! तुम देखो कि मैं यहाँ जलमें रहनेवाले सर्पोंके शरीर, मत्स्योंके विशाल कलेवर और जल-हस्तियोंके शुण्ड-दण्डके किस तरह टुकड़े-टुकड़े कर डालता हूँ। आज महान् युद्ध ठानकर शङ्खों और सीपियोंके समुदाय तथा मत्स्यों और मगरोंसहित समुद्रको मैं अभी सुखाये देता हूँ। मगरोंका निवासभूत यह समुद्र मुझे क्षमासे युक्त देख असमर्थ समझने लगा है। ऐसे मूर्खोंके प्रति की गयी क्षमाको धिक्कार है। सुमित्रानन्दन! सामनीतिका आश्रय लेनेसे यह समुद्र मेरे सामने अपना रूप नहीं प्रकट कर रहा है, इसलिये धनुष तथा विषधर सर्पोंके समान भयंकर बाण ले आओ। मैं समुद्रको सुखा डालूँगा; फिर वानरलोग पैदल ही लङ्कापुरीको चलें। यद्यपि समुद्रको अक्षोभ्य कहा गया है; फिर भी आज कुपित होकर मैं इसे विक्षुब्ध कर दूँगा। इसमें सहस्रों तरङ्गें उठती रहती हैं, फिर भी यह सदा अपने तटकी मर्यादा (सीमा) में ही रहता है। किंतु अपने बाणोंसे मारकर मैं इसकी मर्यादा नष्ट कर दूँगा। बड़े-बड़े दानवोंसे भरे हुए इस महासागरमें हलचल मचा दूँगा—तूफान ला दूँगा।'

अथोवाच रघुश्रेष्ठः सागरं दारुणं वचः।
अद्य त्वां शोषयिष्यामि सपातालं महार्णव॥
शरनिर्दग्धतोयस्य परिशुष्कस्य सागर।
मया निहतसत्त्वस्य पांसुरुत्पद्यते महान्॥
मत्कार्मुकविसृष्टेन शरवर्षेण सागर।
परं तीरं गमिष्यन्ति पद्भिरेव प्लवंगमाः॥
विचिन्वन्नाभिजानासि पौरुषं नापि विक्रमम्।
दानवालय संतापं मत्तो नाम गमिष्यसि॥

(वा० रा०, युद्ध० २२। १-४)

'तदनन्तर रघुकुलतिलक श्रीरामने समुद्रसे कठोर शब्दोंमें कहा—'महासागर! आज मैं पातालसहित तुझे सुखा डालूँगा। सागर! मेरे बाणोंसे तेरी सारी जलराशि दग्ध हो जायगी, तू सूख जायगा और तेरे भीतर रहनेवाले सब जीव नष्ट हो जायँगे। उस दशामें तेरे यहाँ जलके स्थानमें विशाल बालुकाराशि पैदा हो जायगी। समुद्र! मेरे धनुषद्वारा की गयी बाणवर्षासे जब तेरी ऐसी दशा हो जायगी, तब वानरलोग पैदल ही चलकर तेरे उस पार पहुँच जायँगे। दानवोंके निवासस्थान! तू केवल चारों ओरसे बहकर आयी हुई जलराशिका संग्रह करता है। तुझे मेरे बल और पराक्रमका पता नहीं है। किंतु याद रख, (इस उपेक्षाके कारण) तुझे मुझसे भारी संताप प्राप्त होगा।'

यों कहकर श्रीरामने ब्रह्मदण्डके समान भयानक बाणको ब्रह्मास्त्रसे अभिमन्त्रित किया और उसे अपने धनुषपर चढ़ाकर खींचा। फिर तो आकाश मानो फटने लगा। धरती डोलने लगी। पर्वत डगमगा उठे तथा सब ओर हलचल मच गयी। तब समुद्रके बीचसे सागर स्वयं मूर्तिमान् हो प्रकट हुआ और उसने समुद्रके जलको पार करनेका उपाय बतानेका आश्वासन दिया। श्रीरामने पूछा—'बताओ, यह बाण कहाँ छोड़ूँ?' समुद्रने पापियोंसे भरे द्रुमकुल्य नामक दे

उसका लक्ष्य बनानेके लिये कहा। श्रीरामने वैसा ही किया। वह स्थान इस पृथ्वीपर दुर्गम मरुभूमिके नामसे प्रसिद्ध हुआ। तदनन्तर श्रीरामने उस भूमिको वर देकर पशुओंके लिये हितकारी और नीरोग बनाया और वहाँ फल, मूल, रस, घी, दूध आदि सुलभ कर दिये। समुद्रने विश्वकर्माके पुत्र नल नामक वानरको अपने ऊपर पुल बाँधनेके लिये कहा। नलने स्वीकार किया, वानर जहाँ-तहाँसे पत्थर लाकर समुद्रमें फेंकने लगे। समुद्रने पाँच ही दिनमें सौ योजन लंबा पुल तैयार कर दिया और उसी पुलसे सारी वानरसेना श्रीराम और लक्ष्मणके साथ समुद्रके दक्षिण तटपर जा पहुँची।

अध्यात्मरामायणमें यही प्रसङ्ग इस प्रकार है—

जो सर्वनियन्ता हैं, उनकी इच्छाका अनादर कोई —कितने क्षण कर सकेगा? समुद्र उन कौसल्यानन्द-की उपेक्षाका साहस करता है? वह मार्गावरोधक बनेगा के लिये? तनिक रोष आ गया।

धनुष सजा, उसपर शरसंधान करके प्रभु बोले—

श्य लक्ष्मण दुष्टोऽसौ वारिधिर्मामुपागतम्।
ाभिनन्दति दुष्टात्मा दर्शनार्थं समानघ॥
ानाति मानुषोऽयं मे किं करिष्यति वानरैः।
द्य पश्य महाबाहो शोषयिष्यामि वारिधिम्॥
ादेनैव गमिष्यन्ति वानरा विगतज्वराः।
पश्यन्तु सर्वभूतानि रामस्य शरविक्रमम्।
इदानीं भस्मसात्कुर्यां समुद्रं सरितां पतिम्॥
(अध्यात्म०, युद्ध० ३। ६१—६२, ६३, ६५)

'लक्ष्मण! देखो, यह समुद्र कैसा दुष्ट है! मैं के तीरपर आया हूँ, किंतु हे अनघ! इस दुरात्माने र्शन करके भी मेरा अभिनन्दन नहीं किया। यह समझता है, 'यह एक मनुष्य ही तो है, वानरोंके साथ मिलकर भी यह मेरा क्या कर सकता है?' सो हे महाबाहो! देखो, आज मैं इसे सुखाये डालता हूँ। फिर वानरगण निश्चिन्त होकर पैदल ही इसके पार चले जायँगे। समस्त प्राणी रामके बाणका पराक्रम देखें, मैं इसी समय नदीपति समुद्रको भस्म किये डालता हूँ।'

बोले राम सकोप तब भय बिनु होइ न प्रीति॥
लछिमन बान सरासन आनू। सोषौं बारिधि बिसिख कृसानू॥
सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥
ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा॥
(श्रीरामचरित०, सुन्दर० ५७, ५७। १-२)

इधर तीन दिन बीत गये, किंतु जड समुद्र विनय नहीं मानता। तब श्रीरामजी क्रोधसहित बोले—'बिना भयके प्रीति नहीं होती। हे लक्ष्मण! धनुष-बाण लाओ, मैं अग्निबाणसे समुद्रको सोख डालूँ। मूर्खसे विनय, कुटिलके साथ प्रीति, स्वाभाविक ही कंजूससे सुन्दर नीति (उदारताका उपदेश), ममतामें फँसे हुए मनुष्यसे ज्ञानकी कथा, अत्यन्त लोभीसे वैराग्यका वर्णन, क्रोधीसे शम (शान्ति) की बात और कामीसे भगवान्‌की कथा, इनका वैसा ही फल होता है जैसा ऊसरमें बीज बोनेसे होता है (अर्थात् ऊसरमें बीज बोनेकी भाँति यह सब व्यर्थ जाता है)।'

बेचारा समुद्र! वह तो शर-संधान मात्रसे खौलने लगा। दिव्यरूप धारण करके स्वयं उपस्थित हुआ। उस अमोघ बाणका लक्ष्य तथा सेतु-बन्धनका उपाय उसे बतलाना पड़ा।

धनुषभंग

जयमाला

परशुरामका कोप

परशुरामका गर्वहरण
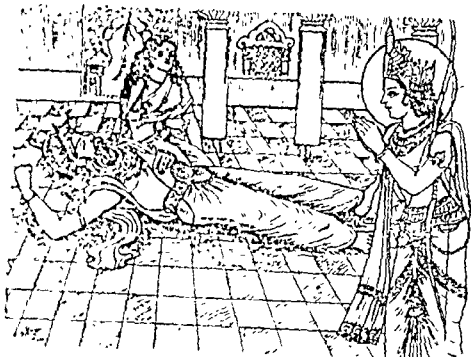
दशरथ और कैकेयीसे विदा माँग रहे हैं

[पृष्ठ ४५-४६
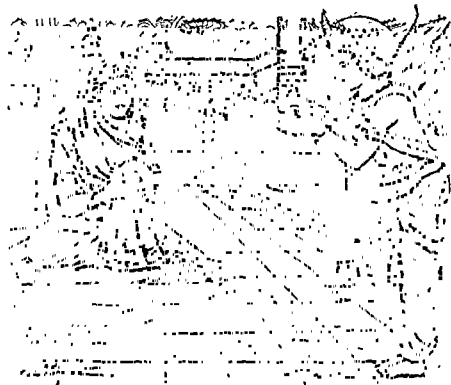
माता कौसल्या और राम

[पृष्ठ ६१

सीताको वनगमनकी अनुमति

[पृष्ठ ७१

माता कौसल्यासे विदाईकी आज्ञा

[पृष्ठ ६५

श्रीरामका शौर्य

श्रीरामके नागपाशबन्धनमुक्त होनेका समाचार सुनकर रावणको बड़ी चिन्ता हुई। वह एक-एक करके अपने सेना-पतियोंको युद्धमें भेजने लगा। सबसे पहले धूम्राक्ष आया, जिसे हनुमान्‌जीने मार गिराया। फिर वज्रदंष्ट्र आया और अङ्गद-के हाथसे मारा गया। इसके बाद अकम्पनने आक्रमण किया। उसे भी हनुमान्‌जीने मौतके घाट उतार दिया। प्रहस्त नीलके हाथसे मारा गया। प्रहस्तके मारे जानेसे दुखी हो रावण स्वयं युद्धके लिये आया। उसकी मारसे सुग्रीव अचेत हो गये। उसके बाद लक्ष्मणने उसका सामना किया। तत्पश्चात् हनुमान् और रावणमें थप्पड़ोंकी मार होने लगी। फिर रावणने नीलको मूर्छित करके शक्तिके आघातसे लक्ष्मणको भी अचेत कर दिया। किंतु वे शीघ्र सचेत हो गये। इसके बाद श्रीराम और रावणमें युद्ध होने लगा। उस समय श्रीरामने रावणसे कहा—

तिष्ठ तिष्ठ मम त्वं हि कृत्वा विप्रियमीदृशम्।
क्व नु राक्षसशार्दूल गत्वा मोक्षमवाप्स्यसि ॥
यदीन्द्रवैवस्वतभास्करान् वा
स्वयम्भुवैश्वानरशंकरान् वा।
गमिष्यसि त्वं दशधा दिशो वा
तथापि मे नाद्य गतो विमोक्ष्यसे ॥
यश्चैष शक्त्या निहतस्त्वयाद्य
गच्छन् विषादं सहसाभ्युपेत्य।
स एष रक्षोगणराज मृत्युः
सपुत्रपौत्रस्य तवाद्य युद्धे ॥
एतेन चात्यद्भुतदर्शनानि
शरैर्जनस्थानकृतालयानि ।
चतुर्दशान्यात्तवरायुधानि
रक्षःसहस्राणि निषूदितानि ॥
(वा० रा०, युद्ध० ५९ । १२९–१३२)

'राक्षसोंमें बाघ बने हुए रावण! खड़ा रह, खड़ा रह। मेरा ऐसा अपराध करके तू कहाँ जाकर प्राण-संकटसे छुटकारा पा सकेगा? यदि तू इन्द्र, यम अथवा सूर्यके पास, ब्रह्मा, अग्नि या शंकरके समीप अथवा दसों दिशाओंमें भागकर जायगा, तो भी अब मेरे हाथसे बच नहीं सकेगा। तूने आज अपनी शक्तिके द्वारा युद्धमें जाते हुए जिन लक्ष्मणको आहत किया और जो उस शक्तिकी चोटसे सहसा मूर्च्छित हो गये थे, उन्हीं-के उस तिरस्कारका बदला लेनेके लिये आज मैं युद्ध-भूमिमें उपस्थित हुआ हूँ। राक्षसराज! मैं पुत्र-पौत्रों-सहित तेरी मौत बनकर आया हूँ। रावण! तेरे सामने खड़े हुए इस रघुवंशी राजकुमारने ही अपने बाणोंद्वारा जनस्थाननिवासी उन चौदह हजार राक्षसोंका संहार कर डाला था, जो अद्भुत एवं दर्शनीय योद्धा थे और उत्तमोत्तम अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे।'

श्रीरामकी बात सुनकर रावण बड़े रोषके साथ उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा। उसकी मारसे श्रीरामके वाहन बने हुए हनुमान्‌जी घायल हो गये। यह देख श्रीरामको बड़ा क्रोध हुआ। उन्होंने बड़े वेगसे आक्रमण करके पहिये, घोड़े, ध्वजा, छत्र, पताका, सारथि, अशनि, शूल और खड्ग सहित उसके रथको पैने बाणोंसे तिल-तिल करके काट डाला। इसके बाद एक तेजस्वी बाणसे रावणकी विशाल छातीमें वेगपूर्वक आघात किया। इससे घायल हो रावण अत्यन्त आर्त और कम्पित हो उठा और उसके हाथसे धनुष छूटकर गिर पड़ा। इसके बाद एक अर्धचन्द्राकार बाणद्वारा श्रीरामने राक्षसराजके सूर्यके समान देदीप्यमान मुकुटको सहसा काट डाला। लगातार पराजयसे दुखी हुए रावणने अपने भाई कुम्भकर्णको जगाया। कुम्भकर्णने भयंकर युद्ध किया और 'अन्ततोगत्वा' वह श्रीरामके हाथसे मारा गया। उसकी मृत्युसे रावण रो उठा। उसने पुत्रों और भाइयोंको युद्धमें भेजना आरम्भ किया। नरान्तकको अङ्गदने अन्तक-लोकका पथिक बनाया। त्रिशिरा और देवान्तकका अन्त हनुमान्‌जीके द्वारा हुआ। महोदरको नीलने मारा और महापार्श्वका वध ऋषभके हाथसे हुआ। लक्ष्मणने अतिकाय-की विशाल काया नष्ट कर दी। तदनन्तर इन्द्रजित्‌के ब्रह्मास्त्रसे बहुसंख्यक वानरोंसहित श्रीराम और लक्ष्मण भी मूर्च्छित हो

गये। तब जाम्बवान्‌के आदेशसे हनुमान्‌जी हिमालय पर्वतपर गये और दिव्य ओषधियोंका पर्वत उठा लाये। उन ओषधियोंकी गन्धसे श्रीराम, लक्ष्मण एवं समस्त वानरोंने पुनः स्वास्थ्य लाभ किया। तदनन्तर अङ्गदने कम्पन और प्रजङ्घका, द्विविदने शोणिताक्षका, मैन्दने यूपाक्षका, सुग्रीवने कुम्भका तथा हनुमान्‌जीने निकुम्भका वध किया। इसके बाद खर-पुत्र मकराक्षने आकर श्रीरामपर अनेक प्रकारके आक्षेप किये। मकराक्षकी बातें सुनकर भगवान् श्रीराम हँसने लगे और वे बढ़-बढ़कर बातें बनानेवाले उस राक्षससे बोले—

कत्थसे किं वृथा रक्षो बहून्यसदृशानि ते।
न रणे शक्यते जेतुं विना युद्धेन वाग्बलात्॥
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां त्वत्पिता च यः।
त्रिशिरा दूषणश्चापि दण्डके निहतो मया॥
स्वाशिताश्चापि मांसेन गृध्रगोमायुवायसाः।
भविष्यन्त्यद्य वै पाप तीक्ष्णतुण्डनखाङ्कुशाः॥
(वा० रा०, युद्ध० ७९। १८—२०)

'निशाचर! क्यों व्यर्थ डींग हाँकता है! तेरे मुँहसे बहुत-सी ऐसी बातें निकल रही हैं, जो वीर पुरुषोंके योग्य नहीं हैं। संग्राममें युद्ध किये बिना कोरी बकवासके बलसे विजय नहीं प्राप्त हो सकती। पापी राक्षस! दण्डकारण्यमें चौदह हजार राक्षसोंके साथ तेरे पिता खरका, त्रिशिराका और दूषणका भी मैंने वध किया था। उस समय तीखी चोंच और अङ्कुशके समान पंजेवाले बहुत-से गीधों, गीदड़ों तथा कौओंको भी उनके मांससे अच्छी तरह तृप्त किया था और अब आज वे तेरे मांससे भरपेट भोजन पायेंगे।'

श्रीरघुनाथजीके यों कहनेपर महाबली मकराक्षने रणभूमिमें उनके ऊपर बाणोंकी बौछार आरम्भ कर दी। श्रीरामने उसके सभी अस्त्र-शस्त्र काट दिये। तब वह रुद्रका दिया हुआ भयानक शूल हाथमें लेकर दौड़ा, किंतु श्रीरामने उस शूलके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले। तब वह घूँसा तानकर उनपर टूट पड़ा। श्रीरामने आग्नेयास्त्रसे [illegible] धरतीपर गिरा और

लक्ष्मणं परिवार्यैवं तिष्ठध्वं वानरोत्तमाः।
पराक्रमस्य कालोऽयं सम्प्राप्तो मे चिरेप्सितः॥
पापात्मायं दशग्रीवो वध्यतां पापनिश्चयः।
काङ्क्षितं चातकस्येव घर्मान्ते मेघदर्शनम्॥
अस्मिन् मुहूर्ते नचिरात् सत्यं प्रतिशृणोमि वः।
अरावणमरामं वा जगद् द्रक्ष्यथ वानराः॥
राज्यनाशं वने वासं दण्डके परिधावनम्।
वैदेह्याश्च परामर्शो रक्षोभिश्च समागमम्॥
प्राप्तं दुःखं महाघोरं क्लेशश्च निरयोपमः।
अद्य सर्वमहं त्यक्ष्ये निहत्वा रावणं रणे॥
यदर्थं वानरं सैन्यं समानीतमिदं मया।
सुग्रीवश्च कृतो राज्ये निहत्वा वालिनं रणे।
यदर्थं सागरः क्रान्तः सेतुर्बद्धश्च सागरे॥
सोऽयमद्य रणे पापश्चक्षुर्विषयमागतः।
चक्षुर्विषयमागत्य नायं जीवितुमर्हति॥
दृष्टिं दृष्टिविषस्येव सर्पस्य मम रावणः।
यथा वा वैनतेयस्य दृष्टिं प्राप्तो भुजंगमः॥
सुखं पश्यत दुर्धर्षा युद्धं वानरपुंगवाः।
आसीनाः पर्वताग्रेषु ममेदं रावणस्य च॥
अद्य पश्यन्तु रामस्य रामत्वं मम संयुगे।
त्रयो लोकाः सगन्धर्वाः सदेवाः सर्षिचारणाः॥
अद्य कर्म करिष्यामि यल्लोकाः सचराचराः।
सदेवाः कथयिष्यन्ति यावद् भूमिर्धरिष्यति।
समागम्य सदा लोके यथा युद्धं प्रवर्तितम्॥
(वा० रा०, युद्ध० १००। ४६—५६)

'कपिवरो! तुमलोग लक्ष्मणको इसी तरह सब ओरसे घेरकर खड़े रहो। अब मेरे लिये उस पराक्रमका अवसर आया है, जो मुझे चिरकालसे अभीष्ट था। इस पापात्मा एवं पापपूर्ण विचार रखनेवाले दशमुख रावणको अब मार डाला जाय, यही उचित है। जैसे पपीहेको ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें मेघके दर्शनकी इच्छा रहती है, उसी प्रकार मैं भी इसका वध करनेके लिये

चिरकालसे इसे देखना चाहता हूँ। वानरो! मैं इस मुहूर्तमें तुम्हारे सामने यह सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि कुछ ही देरमें यह संसार रावणसे रहित दिखायी देगा या रामसे। मेरी राज्यसे च्युति, वनका निवास, दण्डकारण्यकी दौड़-धूप, विदेहकुमारी सीताका राक्षस-द्वारा अपहरण तथा राक्षसोंके साथ संग्राम—इन सबके कारण मुझे महाघोर दुःख सहना पड़ा है और नरकके समान कष्ट उठाना पड़ा है; किंतु रणभूमिमें रावणका वध करके आज मैं सारे दुःखोंसे छुटकारा पा जाऊँगा। जिसके लिये मैं वानरोंकी यह विशाल सेना साथ लाया हूँ, जिसके कारण मैंने युद्धमें वालीका वध करके सुग्रीवको राज्यपर विठाया है तथा जिसके उद्देश्यसे समुद्रपर पुल बाँधा और उसे पार किया, वह पापी रावण आज युद्धमें मेरी आँखोंके सामने उपस्थित है। मेरे दृष्टिपथमें आकर अब यह जीवित नहीं रह सकता। दृष्टिमात्रसे संहारकारी विषका प्रसार करनेवाले सर्पकी आँखोंके सामने आकर जैसे कोई मनुष्य जीवित नहीं बच सकता अथवा जैसे विनतानन्दन गरुड़की दृष्टिमें पड़कर कोई महान् सर्प जीवित नहीं बच सकता, उसी प्रकार आज रावण मेरे सामने आकर जीवित या सकुशल नहीं लौट सकता। दुर्धर्ष वानर-शिरोमणियो! अब तुमलोग पर्वतके शिखरोंपर बैठकर मेरे और रावणके इस युद्धको सुखपूर्वक देखो। आज संग्राममें देवता, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि और चारणोंसहित तीनों लोकोंके प्राणी रामका रामत्व देखें। आज मैं वह पराक्रम प्रकट करूँगा, जिसकी जबतक यह पृथ्वी कायम रहेगी, तबतक चराचर जगत्‌के जीव और देवता भी सदा लोकमें एकत्र होकर चर्चा करेंगे और जिस प्रकार युद्ध हुआ है, उसे एक दूसरेसे कहेंगे।'

युद्धमें लक्ष्मणने कहा—'भैया! रावणका वध करके आप अपनी प्रतिज्ञाका पालन कीजिये।' लक्ष्मणकी यह बात सुनकर श्रीरामने धनुष लिया तथा रावणको लक्ष्य करके भयंकर बाणोंको छोड़ना आरम्भ किया। राक्षसराज रावण भी दूसरे रथपर सवार हो श्रीरामपर चढ़ आया। दशमुख रावण रथपर बैठा है और श्रीरघुनाथजी भूमिपर खड़े हैं, यह देख देवराज इन्द्रने मातलिके साथ अपना रथ भेजा। उसपर इन्द्रका विशाल धनुष भी था। मातलिके अनुरोधपर श्रीरामने उस रथकी परिक्रमा की और उसे प्रणाम करके वे उसपर सवार हुए। फिर तो राम और रावणमें अत्यन्त अद्भुत एवं रोमाञ्चकारी युद्ध छिड़ गया। राक्षसके चलाये हुए गान्धर्वास्त्रका गान्धर्वास्त्रसे तथा दैवास्त्रका दैवास्त्रसे श्रीरामने निवारण कर दिया। तब राक्षसने राक्षसास्त्रका प्रयोग किया। उसके बाण नाग बनकर श्रीरामकी ओर बढ़े। परंतु उन्होंने गारुडास्त्रका प्रयोग करके उन सबको नष्ट कर दिया। तब रावणने बाणोंकी वर्षा करके श्रीरामको रथसहित ढक दिया और उनके ऊपर एक महान् शूलका प्रयोग किया। परंतु श्रीरामने इन्द्रकी दी हुई शक्तिसे उस महाशूलको निस्तेज कर दिया। तदनन्तर दोनों वर्ग बाणोंकी बौछार करने लगे। बाणोंके उस अन्धकारमें दोनों ही एक दूसरेको नहीं देख पाते थे। उस समय दशरथकुमार श्रीरामने रावण-से कठोर वाणीमें कहा—

मम भार्या जनस्थानादज्ञानाद् राक्षसाधम।
हृता ते विवशा यस्मात् तस्मात् त्वं नासि वीर्यवान्॥
मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने।
वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे॥
स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शनम्।
कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे॥
भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे॥
शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च।
श्लाघनीयं महत्कर्म यशस्यं च कृतं त्वया॥
उत्सेकेनाभिपन्नस्य गर्हितस्याहितस्य च।
कर्मणः प्राप्नुहीदानीं तस्याद्य सुमहत् फलम्॥
शूरोऽहमिति चात्मानमवगच्छसि दुर्मते।
नैव लज्जास्ति ते सीतां चौरवद्व्यपकर्षतः॥
यदि मत्संनिधौ सीता धर्षिता स्यात् त्वया बलात्।
भ्रातरं तु खरं पश्येस्तदा मत्सायकैर्हतः॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकविश्रुतम् ।
पितुर्दिव्यं महाभाग संशयो भवतीह मे ॥
वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।
इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥
अवतीर्य तु सालाग्रात् तस्मात् स समितिंजयः ।
लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थौ रामस्य पार्श्वतः ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ९७ । २१—२८)

'लक्ष्मण ! मैं भी ऐसा ही मानता हूँ कि हमारे महाबाहु पिताजी ही हमलोगोंसे मिलने आये हैं । अथवा मैं ऐसा समझता हूँ कि हमें सुख भोगनेके योग्य मानते हुए पिताजी वनवासके कष्टका विचार करके हम दोनोंको निश्चय ही घर लौटा ले जायँगे । मेरे पिता रघुकुल-तिलक श्रीमान् महाराज दशरथ अत्यन्त सुखका सेवन करनेवाली इन विदेहराजनन्दिनी सीताको भी वनसे साथ लेकर ही घरको लौटेंगे । अच्छे घोड़ोंके कुलमें उत्पन्न हुए ये ही वे दोनों वायुके समान वेगशाली, शीघ्रगामी, वीर एवं मनोरम अपने उत्तम घोड़े चमक रहे हैं । परम बुद्धिमान् पिताजीकी सवारीमें रहनेवाला यह वही विशालकाय शत्रुंजय नामक बूढ़ा गजराज है, जो सेनाके मुहानेपर झूमता हुआ चल रहा है । महाभाग ! परंतु इसके ऊपर पिताजीका वह विश्व-विख्यात दिव्य श्वेतच्छत्र मुझे नहीं दिखायी देता—इससे मेरे मनमें संशय उत्पन्न होता है । लक्ष्मण ! अब मेरी बात मानो और पेड़से नीचे उतर आओ ।' धर्मात्मा श्रीरामने सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे जब ऐसी बात कही, तब युद्धमें विजय पानेवाले लक्ष्मण उस शाल वृक्षके अग्रभागसे उतरे और श्रीरामके पास हाथ जोड़-कर खड़े हो गये ।

दण्डकारण्यमें प्रवेश

घोर दण्डकारण्यमें प्रवेश करना है, अतः श्रीलक्ष्मणको प्रभु विशेषरूपसे सावधान करते हैं—

इतः परं प्रयत्नेन गन्तव्यं सहितेन मे ।
धनुर्गुणेन संयोज्य शरानपि करे दधत् ॥
अग्रे यास्याम्यहं पश्चात्त्वमन्वेहि धनुर्धरः ।
आवयोर्मध्यगा सीता मायेवात्मपरात्मनोः ॥
चक्षुश्चारय सर्वत्र दृष्टं रक्षोभयं महत् ।
विद्यते दण्डकारण्ये श्रुतपूर्वमरिंदम ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० १ । १२—१४)

'यहाँसे हम दोनोंको बहुत सावधान होकर चलना चाहिये । मैं धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर और हाथमें बाण लेकर आगे-आगे चलता हूँ और तुम धनुष धारणकर पीछे चलो; तथा जीव और परमात्माके बीचमें रहनेवाली मायाके समान सीता हमारे बीचमें चलें । हे अरिंदम ! सब ओर सावधानीसे निगाह रक्खो । हमने पहले जैसा सुना था, उसके अनुसार इस दण्डकारण्यमें राक्षसोंका अत्यन्त भय दिखायी देता है ।'

लङ्काके लिये प्रस्थानकी आज्ञा

श्रीहनुमान्‌जीसे लङ्काका विवरण पाकर प्रस्थानकी आज्ञा देते हुए श्रीरघुनाथ कहते हैं—

यन्निवेदयसे लङ्कां पुरीं भीमस्य रक्षसः ।
क्षिप्रमेनां वधिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
अस्मिन् मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय ।
युक्तो मुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः ॥
सीतां हृत्वा तु तद् यातु क्वासौ यास्यति जीवितः ।
सीता श्रुत्वाभियानं मे आशामेष्यति जीविते ।
जीवितान्तेऽमृतं स्पृष्ट्वा पीत्वामृतमिवातुरः ॥
उत्तराफाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते ।
अभिप्रयाम सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः ॥
निमित्तानि च पश्यामि यानि प्रादुर्भवन्ति वै ।
निहत्य रावणं सीतामानयिष्यामि जानकीम् ॥
उपरिष्टाद्धि नयनं स्फुरमाणमिमं मम ।

विजयं समनुप्राप्तं शंसतीव मनोरथम् ॥
ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन सुपूजितः ।
उवाच रामो धर्मात्मा पुनरप्यर्थकोविदः ॥
अग्रे यातु बलस्यास्य नीलो मार्गमवेक्षितुम् ।
वृतः शतसहस्रेण वानराणां तरस्विनाम् ॥
फलमूलवता नील शीतकाननवारिणा ।
पथा मधुमता चाशु सेनां सेनापते नय ॥
दूषयेयुर्दुरात्मानः पथि मूलफलोदकम् ।
राक्षसाः पथि रक्षेथास्तेभ्यस्त्वं नित्यमुद्यतः ॥

(वा० रा०, युद्ध० ४ । २—११)

'हनुमन् ! मैं तुमसे सच कहता हूँ—तुमने उस भयानक राक्षसकी जिस लङ्कापुरीका वर्णन किया है, उसे मैं शीघ्र ही नष्ट कर डालूँगा। सुग्रीव ! तुम इसी मुहूर्तमें प्रस्थानकी तैयारी करो। सूर्यदेव दिनके मध्य भागमें जा पहुँचे हैं। इसलिये इस विजय[1] नामक मुहूर्तमें हमारी यात्रा उपयुक्त होगी। रावण सीताको हरकर ले जाय, किंतु वह जीवित बचकर कहाँ जायगा ? सिद्धों आदिके मुँहसे लङ्कापर मेरी चढ़ाईका समाचार सुनकर सीताको अपने जीवनकी आशा बँध जायगी—ठीक उसी तरह जैसे जीवनका अन्त उपस्थित होनेपर यदि रोगी अमृतका (अमृतत्वके साधनभूत दिव्य ओषधिका) स्पर्श कर ले अथवा अमृतोपम द्रवभूत ओषधिको पी ले तो उसे जीनेकी आशा हो जाती है। आज उत्तरा-फाल्गुनी नामक नक्षत्र है। कल चन्द्रमाका हस्त नक्षत्रसे योग होगा। इसलिये सुग्रीव ! हमलोग आज ही सारी सेनाओंके साथ यात्रा कर दें। इस समय जो शकुन प्रकट हो रहे हैं और जिन्हें मैं देख रहा हूँ, उनसे यह विश्वास होता है कि मैं अवश्य ही रावणका वध करके जनकनन्दिनी सीताको ले आऊँगा। इसके सिवा मेरी दाहिनी आँखका ऊपरी भाग फड़क रहा है। यह भी मानो मेरी विजय-प्राप्ति और मनोरथसिद्धिको सूचित कर रहा है।' यह सुनकर वानरराज सुग्रीव तथा लक्ष्मणने भी उनका बड़ा आदर किया। तत्पश्चात् अर्थवेत्ता (नीतिनिपुण) धर्मात्मा श्रीरामने फिर कहा—'इस सेनाके आगे-आगे एक लाख वेगवान् वानरोंसे घिरे हुए सेनापति नील मार्ग देखनेके लिये चलें। सेनापति नील ! तुम सारी सेनाको ऐसे मार्गसे शीघ्रतापूर्वक ले चलो, जिसमें फल-मूलकी अधिकता हो, शीतल छायासे युक्त सघन वन हो, ठंडा जल मिल सके और मधु भी उपलब्ध हो सके। सम्भव है दुरात्मा राक्षस रास्तेके फल-मूल और जलको विष आदिसे दूषित कर दे, अतः तुम मार्गमें सतत सावधान रहकर उनसे इन वस्तुओंकी रक्षा करना।'

निम्नेषु वनदुर्गेषु वनेषु च वनौकसः ।
अभिप्लुत्याभिपश्येयुः परेषां निहितं बलम् ॥
यत्तु फल्गु बलं किंचित् तदत्रैवोपपद्यताम् ।
एतद्धि कृत्यं घोरं नो विक्रमेण प्रयुज्यताम् ॥
सागरौघनिभं भीममग्रानीकं महाबलाः ।
कपिसिंहाः प्रकर्षन्तु शतशोऽथ सहस्रशः ॥
गजश्च गिरिसंकाशो गवयश्च महाबलः ।
गवाक्षश्चाग्रतो यातु गवां दृप्त इवर्षभः ॥
यातु वानरवाहिन्या वानरः प्लवतां पतिः ।
पालयन् दक्षिणं पार्श्वमृषभो वानरर्षभः ॥
गन्धहस्तीव दुर्धर्षस्तरस्वी गन्धमादनः ।
यातु वानरवाहिन्याः सव्यं पार्श्वमधिष्ठितः ॥

---

१. दिनमें दोपहरके समय अभिजित् मुहूर्त होता है इसीको विजय-मुहूर्त भी कहते हैं। यह यात्राके लिये बहुत उत्तम माना गया है। यद्यपि—'भुक्तौ दक्षिणयात्रायां प्रतिष्ठायां द्विजन्मनि। आधाने च ध्वजारोहे मृत्युदः स्यात् सदाभिजित् ॥' इस ज्योतिषरत्नाकरके वचनके अनुसार उक्त मुहूर्तमें दक्षिणयात्रा निषिद्ध है, तथापि किष्किन्धासे लङ्का दक्षिणपूर्वके कोणमें होनेके कारण वह दोष यहाँ नहीं प्राप्त होता।

यास्यामि बलमध्येऽहं बलौघमभिहर्षयन् ।
अधिरुह्य हनूमन्तमैरावतमिवेश्वरः ॥
अङ्गदेनैष संयातु लक्ष्मणश्चान्तकोपमः ।
सार्वभौमेन भूतेशो द्रविणाधिपतिर्यथा ॥
जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः ।
ऋक्षराजो महाबाहुः कुक्षिं रक्षन्तु ते त्रयः ॥
(वा० रा०, युद्ध० ४ । १२–२०)

'वानरोंको चाहिये कि जहाँ गड्ढे, दुर्गम वन और साधारण जंगल हों, वहाँ सब ओर कूद-फाँदकर यह देखते रहें कि कहीं शत्रुओंकी सेना तो नहीं छिपी है (ऐसा न हो कि हम आगे निकल जायँ और शत्रु अकस्मात् पीछेसे आक्रमण कर दे)। जिस सेनामें बाल, वृद्ध आदिके कारण दुर्बलता हो, वह यहाँ किष्किन्धामें ही रह जाय; क्योंकि हमारा यह युद्धरूपी कृत्य बड़ा भयंकर है, अतः इसके लिये बल-विक्रमसम्पन्न सेनाको ही यात्रा करनी चाहिये। सैकड़ों और हजारों महाबली कपिकेसरी वीर महासागरकी जलराशिके समान भयंकर एवं अपार वानर-सेनाके अग्रभागको अपने साथ आगे बढ़ाये चलें। पर्वतके समान विशालकाय गज, महाबली गवय तथा मतवाले साँड़की भाँति पराक्रमी गवाक्ष सेनाके आगे-आगे चलें। उछल-कूदकर चलनेवाले कपियोंके पालक वानर-शिरोमणि ऋषभ इस वानर-सेनाके दाहिने भागकी रक्षा करते हुए चलें। गन्धहस्तीके समान दुर्जय और वेगशाली वानर गन्धमादन इस वानर-वाहिनीके वामभागमें रहकर इसकी रक्षा करते हुए आगे बढ़ें। जैसे देवराज इन्द्र ऐरावत हाथीपर आरूढ़ होते हैं, उसी प्रकार मैं हनुमान्‌के कंधेपर चढ़कर सेनाके बीचमें रहकर सारी सेनाका हर्ष बढ़ाता हुआ चलूँगा। जैसे धनाध्यक्ष कुबेर सार्वभौम नामक दिग्गजकी पीठपर बैठकर यात्रा करते हैं, उसी प्रकार कालके समान पराक्रमी लक्ष्मण अंगदपर आरूढ़ होकर यात्रा करें। महाबाहु ऋक्षरा[ज] जाम्बवान्, सुषेण और वानर वेगदर्शी—ये ती[नों] वानर-सेनाके पृष्ठभागकी रक्षा करें।'

लङ्कामें उतरनेपर

समुद्रपर सेतु बाँधकर श्रीराम ससैन्य लङ्काके पार्[श्व] उतर गये हैं, शत्रुकी सीमामें आ गये हैं, अतः वि[शेष] सावधानी आवश्यक है। सेनाको व्यूह-बद्ध किया ज[ाना] चाहिये। प्रकृतिमें होनेवाले भविष्यके सूचक निमित्तोंपर [...] दृष्टि है। शकुनविज्ञानके वेत्ता और उत्पातसूचक लक्षण[ोंके] ज्ञाता तथा लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरामने बहुत-से अपशकु[न] देखकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणको हृदयसे लगाया और [...] प्रकार कहा—

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च ।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठेम लक्ष्मण ॥
लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम् ।
प्रबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम् ॥
वाताश्च कलुषा वान्ति कम्पते च वसुंधरा ।
पर्वताग्राणि वेपन्ते पतन्ति च महीरुहाः ॥
मेघाः क्रव्यादसंकाशाः परुषाः परुषस्वनाः ।
क्रूराः क्रूरं प्रवर्षन्ति मिश्रं शोणितबिन्दुभिः ॥
रक्तचन्दनसंकाशा संध्या परमदारुणा ।
ज्वलतः प्रपतत्येतदादित्यादग्निमण्डलम् ॥
दीना दीनस्वराः क्रूराः सर्वतो मृगपक्षिणः ।
प्रत्यादित्यं विनर्दन्ति जनयन्तो महद्भयम् ॥
रजन्यामप्रकाशस्तु संतापयति चन्द्रमाः ।
कृष्णरक्तांशुपर्यन्तो लोकक्षय इवोदितः ॥
ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषस्तु लोहितः ।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥
रजसा महता चापि नक्षत्राणि हतानि च ।
युगान्तमिव लोकानां पश्य शंसन्ति लक्ष्मण ॥
काकाः श्येनास्तथा नीचा गृध्राः परिपतन्ति च ।
शिवाश्चाप्यशुभान् नादान् नदन्ति सुमहाभयान् ।

शैलैः शूलैश्च खड्गैश्च विमुक्तैः कपिराक्षसैः ।
भविष्यत्यावृता भूमिर्मांसशोणितकर्दमा ॥
क्षिप्रमद्यैव दुर्धर्षां पुरीं रावणपालिताम् ।
अभियाम जवेनैव सर्वैर्हरिभिरावृताः ॥

(वा० रा०, युद्ध० २३ । २–१३)

'लक्ष्मण ! जहाँ शीतल जलकी सुविधा हो और फलोंसे भरे हुए जंगल हों, उन स्थानोंका आश्रय लेकर हम अपने सैन्यसमूहको कई भाँगोंमें बाँट दें और इसे व्यूहबद्ध करके इसकी रक्षाके लिये सदा सावधान रहें । मैं देखता हूँ समस्त लोकोंका संहार करनेवाला भीषण भय उपस्थित हुआ है, जो रीछों, वानरों और राक्षसोंके प्रमुख वीरोंके विनाशका सूचक है । धूलसे भरी हुई प्रचण्ड वायु चल रही है । धरती काँपती है, पर्वतोंके शिखर हिल रहे हैं और पेड़ गिर रहे हैं । मेघोंकी घटा घिर आयी है, जो मांसभक्षी राक्षसोंके समान दिखायी देती है । वे मेघ देखनेमें तो क्रूर हैं ही, इनकी गर्जना भी बड़ी कठोर है । ये क्रूरतापूर्वक रक्तकी बूँदोंसे मिले हुए जलकी वर्षा करते हैं । यह संध्या लाल चन्दनके समान कान्ति धारण करके बड़ी भयंकर दिखायी देती है । प्रज्वलित सूर्यसे ये आगकी ज्वालाएँ टूट-टूटकर गिर रही हैं । क्रूर पशु और पक्षी दीन आकार धारण कर सूर्यकी ओर मुँह करके दीनतापूर्ण स्वरमें चीत्कार करते हुए महान् भय उत्पन्न कर रहे हैं । रातमें भी चन्द्रमा पूर्णतः प्रकाशित नहीं होते और अपने स्वभावके विपरीत ताप दे रहे हैं । ये काली और लाल किरणोंसे व्याप्त हो इस तरह उदित हुए हैं, मानो जगत्के प्रलयका काल आ पहुँचा हो । लक्ष्मण ! निर्मल सूर्यमण्डलमें नीला चिह्न दिखायी देता है । सूर्यके चारों ओर ऐसा घेरा पड़ा है, जो छोटा, रूखा, अशुभ तथा लाल है । सुमित्रानन्दन ! देखो, ये तारे बड़ी भारी धूलिराशिसे आच्छादित हो हतप्रभ हो गये हैं, अतएव जगत्के भावी संहारकी सूचना दे रहे हैं । कौए, बाज तथा अधम गीध—चारों ओर उड़ रहे हैं और सियारिनें अशुभसूचक महाभयंकर बोली बोल रही हैं । जान पड़ता है वानरों और राक्षसोंके चलाये हुए शिलाखण्डों, शूलों और तलवारोंसे यह सारी भूमि पट जायगी तथा यहाँ मांस और रक्तकी कीच जम जायगी । हमलोग आज ही जितनी जल्दी हो सके, इस रावणपालित दुर्जय नगरी लङ्कापर समस्त वानरोंके साथ वेगपूर्वक धावा बोल दें ।'

लङ्कामें प्रवेशके समय

यों कहकर संग्रामविजयी भगवान् श्रीराम हाथमें धनुष लिये सबसे आगे लङ्कापुरीकी ओर प्रस्थित हुए । दशरथनन्दन श्रीरामने विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित लङ्कापुरीको देखकर व्यथितचित्तसे मन-ही-मन सीताका स्मरण किया । श्रीराम गरम-गरम लंबी साँस खींचकर लक्ष्मणकी ओर देखते हुए अपने लिये समयानुकूल हितकर वचन बोले—

आलिखन्तीमिवाकाशमुत्थितां पश्य लक्ष्मण ।
मनसेव कृतां लङ्कां नगाग्रे विश्वकर्मणा ॥
विमानैर्बहुभिर्लङ्का संकीर्णा रचिता पुरा ।
विष्णोः पदमिवाकाशं छादितं पाण्डुभिर्घनैः ॥
पुष्पितैः शोभिता लङ्का वनैश्चित्ररथोपमैः ।
नानापतगसंघुष्टफलपुष्पोपगैः शुभैः ॥
पश्य मत्तविहंगानि प्रलीनभ्रमराणि च ।
कोकिलाकुलखण्डानि दोधवीति शिवोऽनिलः ॥

(वा० रा०, युद्ध० २४ । ९–१२)

'लक्ष्मण ! इस लङ्काकी ओर तो देखो । यह अपनी ऊँचाईसे आकाशमें रेखा खींचती हुई-सी जान पड़ती है । जान पड़ता है पूर्वकालमें विश्वकर्माने अपने मनसे ही इस पर्वतशिखरपर लङ्कापुरीका निर्माण किया था । पूर्वकालमें यह पुरी अनेक सतमँजिले मकानोंसे भरी-पूरी बनायी गयी थी । इसके श्वेत एवं सघन विमानाकार भवनोंसे भगवान् विष्णुके चरणस्थापनका स्थानभूत

आकाश आच्छादित-सा हो गया। फूलोंसे भरे हुए चैत्ररथ वनके सदृश सुन्दर काननोंसे लङ्कापुरी सुशोभित हो रही है। उन काननोंमें नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे हैं तथा फलों और फूलोंकी प्राप्ति करानेके कारण वे बड़े सुन्दर जान पड़ते हैं। देखो, यह शीतल सुखद वायु इन वनोंको, जिनमें मतवाले पक्षी चहचहा रहे हैं, भौंरे पत्तों और फूलोंमें लीन हो रहे हैं तथा जिनके प्रत्येक खण्ड कोकिलोंके समूह एवं संगीतसे [illegible]प्त हैं, बारंबार कम्पित कर रहा है।'

सेनाका विभाग

दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामने लक्ष्मणसे यों कहा और [illegible]र युद्धके शास्त्रीय नियमानुसार सेनाका विभाग किया।

शशास कपिसेनां तां बलादादाय वीर्यवान्।
अङ्गदः सह नीलेन तिष्ठेदुरसि दुर्जयः॥
तिष्ठेद् वानरवाहिन्या वानरौघसमावृतः।
आश्रितो दक्षिणं पार्श्वमृषभो नाम वानरः॥
गन्धहस्तीव दुर्धर्षस्तरस्वी गन्धमादनः।
तिष्ठेद् वानरवाहिन्याः सव्यं पार्श्वमधिष्ठितः॥
मूर्ध्नि स्थास्याम्यहं यत्तो लक्ष्मणेन समन्वितः।
जाम्बवांश्च सुषेणश्च वेगदर्शी च वानरः॥
ऋक्षमुख्या महात्मानः कुक्षिं रक्षन्तु ते त्रयः।
जघनं कपिसेनायाः कपिराजोऽभिरक्षतु।
पश्चार्धमिव लोकस्य प्रचेतास्तेजसा वृतः॥

(वा० रा०, युद्ध० २४। १४–१८)

उस समय श्रीरामने वानरसैनिकोंको यह आदेश दिया—[illegible]स विशाल सेनामेंसे अपनी सेनाको साथ लेकर दुर्जय एवं [illegible]राक्रमी वीर अङ्गद नीलके साथ वानरसेनाके पुरुष-व्यूहमें [illegible]दयके स्थानमें स्थित हों। इसी तरह ऋषभ नामक [illegible]नर कपियोंके समुदायसे घिरे रहकर इस वानर-वाहिनी[illegible] दाहिने पार्श्वमें खड़े रहें। जो गन्धहस्तीके समान [illegible]र्जय एवं वेगशाली हैं, वे कपिश्रेष्ठ गन्धमादन वानर-[illegible]नाके वाम पार्श्वमें खड़े हों। मैं लक्ष्मणके साथ सावधान रहकर इस व्यूहके मस्तकके स्थानमें [illegible] होऊँगा। जाम्बवान्, सुषेण और वानर वेगदर्शी [illegible] तीन महामनस्वी वीर, जो रीछोंकी सेनाके प्रधान [illegible] सैन्यव्यूहके कुक्षिभागकी रक्षा करें। वानरराज सु[illegible] वानरवाहिनीके पिछले भागकी रक्षामें उसी प्रकार रहें, जैसे तेजस्वी वरुण इस जगत्‌की पश्चिम दिश[illegible] संरक्षण करते हैं।

व्यूह-रचना

'शत्रुकी भूमिमें आ गये तो युद्ध किसी क्षण प्रा[illegible] हो सकता है। अतः समय रहते व्यूह तथा संके[illegible] निर्णय हो ही जाना चाहिये था। आप इस वानरसेन[illegible] व्यूह बनाकर ही विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए राव[illegible] विनाश कर सकेंगे।'

रावणावरजे वाक्यमेवं ब्रुवति राघवः
शत्रूणां प्रतिघातार्थमिदं वचनमब्रवीत्।
पूर्वद्वारं तु लङ्कायां नीलो वानरपुंगवः
प्रहस्तं प्रतियोद्धा स्याद् वानरैर्बहुभिर्वृतः।
अङ्गदो वालिपुत्रस्तु बलेन महता वृतः
दक्षिणे बाधतां द्वारे महापार्श्वमहोदरौ।
हनूमान् पश्चिमद्वारं निष्पीड्य पवनात्मजः
प्रविशत्वप्रमेयात्मा बहुभिः कपिभिर्वृतः।
दैत्यदानवसंघानामृषीणां च महात्मनाम्
विप्रकारप्रियः क्षुद्रो वरदानबलान्वितः।
परिक्रमति यः सर्वाँल्लोकान् संतापयन् प्रजाः
तस्याहं राक्षसेन्द्रस्य स्वयमेव वधे धृतः।
उत्तरं नगरद्वारमहं सौमित्रिणा सह
निपीड्याभिप्रवेक्ष्यामि सबलो यत्र रावणः।
वानरेन्द्रश्च बलवानृक्षराजश्च वीर्यवान्
राक्षसेन्द्रानुजश्चैव गुल्मे भवतु मध्यमे।
न चैव मानुषं रूपं कार्यं हरिभिराहवे।
एषा भवतु नः संज्ञा युद्धेऽस्मिन् वानरे बले।

वानरा एव नश्चिह्नं स्वजनेऽस्मिन् भविष्यति ।
वयं तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान् ॥
अहमेव सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन महौजसा ।
आत्मना पञ्चमश्चायं सखा मम विभीषणः ॥
(वा० रा०, युद्ध० ३७ । २५-३५)

—विभीषणके ऐसी बात कहनेपर भगवान् श्रीरामने शत्रुओंको परास्त करनेके लिये इस प्रकार कहा—'बहुसंख्यक वानरोंसे घिरे हुए कपिश्रेष्ठ नील पूर्व द्वारपर जाकर प्रहस्तका सामना करें । विशाल वाहिनीसे युक्त वालिकुमार अङ्गद दक्षिण द्वारपर स्थित हो महापार्श्व और महोदरके कार्यमें बाधा दें । पवनकुमार हनुमान् अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न हैं । ये बहुत-से वानरोंके साथ लङ्काके पश्चिम फाटकमें प्रवेश करें । दैत्यों, दानवसमूहों तथा महात्मा ऋषियोंका अपकार करना ही जिसे प्रिय लगता है, जिसका स्वभाव क्षुद्र है, जो वरदानकी शक्तिसे सम्पन्न है और प्रजाजनोंको संताप देता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें घूमता रहता है, उस राक्षसराज रावणके वधका दृढ़ निश्चय लेकर मैं स्वयं ही सुमित्राकुमार लक्ष्मणके साथ नगरके उत्तर फाटकपर आक्रमण करके उसके भीतर प्रवेश करूँगा—जहाँ सेनासहित रावण विद्यमान है । बलवान् वानरराज सुग्रीव, रीछोंके पराक्रमी राजा जाम्बवान् तथा राक्षसराज रावणके छोटे भाई विभीषण—ये लोग नगरके बीचके मोर्चेपर आक्रमण करें । वानरोंको युद्धमें मनुष्यका रूप नहीं धारण करना चाहिये । इस युद्धमें वानरोंकी सेनाका हमारे लिये यही संकेत या चिह्न होगा । इस स्वजनवर्गमें वानर ही हमारे चिह्न होंगे । केवल हम सात व्यक्ति ही मनुष्यरूपमें रहकर शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे । मैं अपने महातेजस्वी भाई लक्ष्मणके साथ रहूँगा और ये मेरे मित्र विभीषण अपने चार मन्त्रियोंके साथ पाँचवें होंगे (इस प्रकार हम सात व्यक्ति मनुष्यरूपमें रहकर युद्ध करेंगे) ।'

श्रीरामचन्द्रजीने शोभासम्पन्न लक्ष्मणसे कहा—

परिगृह्योदकं शीतं वनानि फलवन्ति च ।
बलौघं संविभज्येमं व्यूह्य तिष्ठाम लक्ष्मण ॥
लोकक्षयकरं भीमं भयं पश्याम्युपस्थितम् ।
निबर्हणं प्रवीराणामृक्षवानररक्षसाम् ॥
वाता हि परुषं वान्ति कम्पते च वसुंधरा ।
पर्वताग्राणि वेपन्ते नदन्ति धरणीधराः ॥
मेघाः क्रव्यादसंकाशाः परुषाः परुषस्वराः ।
क्रूराः क्रूरं प्रवर्षन्ते मिश्रं शोणितबिन्दुभिः ॥
रक्तचन्दनसंकाशा संध्या परमदारुणा ।
ज्वलच्च निपतत्येतदादित्यादग्निमण्डलम् ॥
आदित्यमभिवाश्यन्ति जनयन्तो महद्भयम् ।
दीना दीनस्वरा घोरा अप्रशस्ता मृगद्विजाः ॥
रजन्यामप्रकाशश्च संतापयति चन्द्रमाः ।
कृष्णरक्तांशुपर्यन्तो यथा लोकस्य संक्षये ॥
ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषः सुलोहितः ।
आदित्यमण्डले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते ॥
दृश्यन्ते न यथावच्च नक्षत्राण्यभिवर्तते ।
युगान्तमिव लोकस्य पश्य लक्ष्मण शंसति ॥
काकाः श्येनास्तथा गृध्रा नीचैः परिपतन्ति च ।
शिवाश्चाप्यशुभा वाचः प्रवदन्ति महास्वनाः ॥
शैलैः शूलैश्च खड्गैश्च विमुक्तैः कपिराक्षसैः ।
भविष्यत्यावृता भूमिर्मांसशोणितकर्दमा ॥
क्षिप्रमद्य दुराधर्षां पुरीं रावणपालिताम् ।
अभियाम जवेनैव सर्वतो हरिभिर्वृताः ॥
(वा० रा०, युद्ध० ४१ । ११-२२)

'लक्ष्मण ! शीतल जलसे भरे हुए जलाशय और फलोंसे सम्पन्न वनका आश्रय ले हमलोग इस विशाल वानरसेनाका विभाग करके व्यूहरचना कर लें और युद्धके लिये उद्यत हो जायँ । इस समय मैं लोकसंहार-की सूचना देनेवाला भयानक अपशकुन उपस्थित देखता

हूँ, जिससे सिद्ध होता है रीछों, वानरों और राक्षसोंके मुख्य-मुख्य वीरोंका संहार होगा। प्रचण्ड आँधी चल रही है, पृथ्वी काँपने लगी है, पर्वतोंके शिखर हिलने लगे हैं और दिग्गज चीत्कार करते हैं। मेघ हिंसक जीवोंके समान क्रूर हो गये हैं। वे कठोर स्वरमें विकट गर्जना करते हैं तथा रक्त-बिन्दुओंसे मिले हुए जलकी क्रूरतापूर्ण वर्षा कर रहे हैं। अत्यन्त दारुण संध्या रक्त-चन्दनके समान लाल दिखायी देती है। सूर्यसे यह जलती आगका पुञ्ज गिर रहा है। निषिद्ध पशु और पक्षी दीन हो दीनतासूचक स्वरमें सूर्यकी ओर देखते हुए चीत्कार करते हैं, इससे वे बड़े भयंकर लगते और महान् भय उत्पन्न करते हैं। रातमें चन्द्रमाका प्रकाश क्षीण हो जाता है। वे शीतलताकी जगह संताप देते हैं। उनके किनारेका भाग काला और लाल दिखायी देता है। समस्त लोकोंके संहारकालमें चन्द्रमाका जैसा रूप रहता है, वैसा ही इस समय भी देखा जाता है। लक्ष्मण! सूर्यमण्डलमें छोटा, रूखा, अमङ्गलकारी और अत्यन्त लाल घेरा दिखायी देता है। साथ ही वहाँ काला चिह्न भी दृष्टिगोचर होता है। लक्ष्मण! ये नक्षत्र अच्छी तरह प्रकाशित नहीं हो रहे हैं—मलिन दिखायी देते हैं। यह अशुभ लक्षण संसारका प्रलय-सा सूचित करता हुआ मेरे सामने प्रकट हो रहा है। कौए, बाज और गीध नीचे गिरते हैं—भूतलपर आ-आ बैठते हैं और गीदड़ियाँ बड़े जोर-जोरसे अमङ्गल-सूचक बोली बोलती हैं। इससे सूचित होता है कि वानरों और राक्षसोंद्वारा चलाये गये शिलाखण्डों, शूलों और खड्गोंसे यह धरती पट जायगी और यहाँ रक्त-मांसकी कीच जम जायगी। रावणके द्वारा पालित यह लङ्कापुरी शत्रुओंके लिये दुर्जय है, तथापि अब हम शीघ्र ही वानरोंके साथ इसपर सब ओरसे वेगपूर्वक आक्रमण करें।'

तामस यज्ञविध्वंस

श्रीरघुनाथजी भाईको युद्धभूमिसे दूर निकुम्भिला-मन्दिर—जहाँ मेघनाद यज्ञ कर रहा है, भेजते हैं तो उसे मारनेका आदेश तो देते ही हैं, परंतु पूरी सुरक्षा-व्यवस्था भी करते हैं।

लछिमन संग जाहु सब भाई।
करहु बिधंस जग्य कर जाई॥
तुम्ह लछिमन मारेहु रन ओही।
देखि सभय सुर दुख अति मोही॥
मारेहु तेहि बल बुद्धि उपाई।
जेहिं छीजै निसिचर सुनु भाई॥
जामवंत सुग्रीव बिभीषन।
सेन समेत रहेहु तीनिउ जन॥

(श्रीरामचरित०, लंका० ७४। ४-५)

युद्धमें प्रोत्साहनका बहुत महत्त्व है। शूरका बल-साहस प्रशंसासे द्विगुण हो जाता है। साथ ही युद्धमें आहतोंकी चिकित्साके सम्बन्धमें भी सावधानी चाहिये। आहतकी चिकित्सामें शिथिलता हो तो स्वस्थ सैनिक भी भयके कारण हतोत्साह हो जाते हैं।

आसन्न संकट समझकर इन्द्रजित् युद्धसे निवृत्त हो लङ्कापुरीको चला गया। फिर वह पश्चिम द्वारसे निकला। वह अपने साथ मायामयी सीताको भी लाया था। उसने सब वानरोंके देखते-देखते मायामयी सीताका मस्तक काट डाला और कहा—'अब तुमलोगोंका परिश्रम व्यर्थ है।' सीताके मारे जानेकी बात सुनकर श्रीराम शोकसे मूर्च्छित हो गये। लक्ष्मणने उन्हें समझाया और विभीषणने इन्द्रजित्की मायाका रहस्य बताकर सीताके जीवित होनेका विश्वास दिलाया। साथ ही लक्ष्मणको सेनासहित निकुम्भिला-मन्दिरमें भेजनेका अनुरोध किया। श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मण सेनासहित वहाँ गये। वहाँ राक्षसों और वानरोंमें घोर युद्ध हुआ। इन्द्रजित् अधूरा अनुष्ठान छोड़कर रथपर सवार हो युद्धभूमिमें आ गया। लक्ष्मण और इन्द्रजित्में घोर युद्ध हुआ और अन्ततोगत्वा वह मारा गया। उसके मारे जानेका समाचार सुन श्रीरामको बड़ा हर्ष हुआ और वे लक्ष्मणसे बोले—

'शाबाश ! लक्ष्मण ! मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। आज तुमने बड़ा दुष्कर पराक्रम किया। रावणपुत्र इन्द्रजित्के मारे जानेसे तुम यह निश्चित समझ लो कि अब हमलोग युद्धमें जीत गये।'

लक्ष्मणके शरीरमें अत्यन्त पीड़ा देख श्रीरामने जल्दी-जल्दी उनके शरीरपर हाथ फेरा और इस प्रकार कहा—

मेघनाद-वधके लिये लक्ष्मणकी प्रशंसा

कृतं परमकल्याणं कर्म दुष्करकर्मणा।
अद्य मन्ये हते पुत्रे रावणं निहतं युधि॥
अद्याहं विजयी शत्रौ हते तस्मिन् दुरात्मनि।
रावणस्य नृशंसस्य दिष्ट्या वीर त्वया रणे॥
छिन्नो हि दक्षिणो बाहुः स हि तस्य व्यपाश्रयः।
विभीषणहनूमद्भ्यां कृतं कर्म महद् रणे॥
अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथंचिद् विनिपातितः।
निरमित्रः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः॥
बलव्यूहेन महता निर्यास्यति हि रावणः।
बलव्यूहेन महता श्रुत्वा पुत्रं निपातितम्॥
तं पुत्रवधसंतप्तं निर्यान्तं राक्षसाधिपम्।
बलेनावृत्य महता निहनिष्यामि दुर्जयम्॥
त्वया लक्ष्मण नाथेन सीता च पृथिवी च मे।
न दुष्प्रापा हते तस्मिञ्शक्रजेतरि चाहवे॥

(वा० रा०, युद्ध० ९१। १३—१९)

'परम कल्याणस्वरूप लक्ष्मण ! कठिन कर्म करनेवाले तुमने आज अत्यन्त कठिन कर्म कर डाला। पुत्रके मारे जानेसे मैं युद्धमें रावणको मरा ही समझता हूँ। उस दुरात्मा (मेघनाद) के मारे जानेसे आज मैं शत्रुओंपर विजयी हो गया। भाई ! सौभाग्यकी बात है कि क्रूरकर्मा रावणका बल तुमने युद्धमें देख (तोड़) लिया। रावणकी दाहिनी भुजा कट गयी। वह तो इस (मेघनाद) के ही भरोसे था। (इस युद्धमें) विभीषण और हनुमान्ने भी महान् कार्य किया है। भाई ! तुमने तीन दिन-रातमें किसी प्रकार (मेघनादको) मार क्या दिया, (मुझे) आज शत्रु[illegible] कर दिया। अब रावण (युद्धके लिये) निकलेग[illegible] रावण भारी सेनाका व्यूह बनाकर आयेगा। [illegible] सेनाका व्यूह वह अवश्य बनायेगा, [illegible] सुन लेगा कि उसका (महान् बलवान्) पुत्र [illegible] दिया गया। उस पुत्रके वधसे शोकपीड़ित यु[illegible] आये राक्षसाधिपको, जो कठिनाईसे जीतने योग्य है, [illegible] बड़ी सेनासे घिरा हुआ मार दूँगा। लक्ष्मण ! तुम्[illegible] द्वारा युद्धमें इन्द्रजित्के मारे जानेसे अब मेरे [illegible] सीता तथा पृथिवी (का राज्य) दुष्प्राप्य नहीं रहे है[illegible]

घायलोंकी चिकित्सा

भाईको इस प्रकार आश्वासन दे श्रीराम सुषेणसे बोले-

विशल्योऽयं महाप्राज्ञ सौमित्रिर्मित्रवत्सलः।
यथा भवति सुस्वस्थस्तथा त्वं समुपाचर।
विशल्यः क्रियतां क्षिप्रं सौमित्रिः सविभीषणः।
ऋक्षवानरसैन्यानां शूराणां द्रुमयोधिनाम्।
ये चाप्यन्येऽत्र युध्यन्ति सशल्या व्रणिनस्तथा।
तेऽपि सर्वे प्रयत्नेन क्रियन्ते सुखिनस्त्वया।

(वा० रा०, युद्ध० ९१। २१—२[illegible])

'महान् बुद्धिमान् मित्रहितैषी सुषेण ! जैसे लक्[illegible] व्रण-रहित हो सकें और उत्तम स्वास्थ्य पायें, वैसा उपाय [illegible] भली प्रकार करो। विभीषणके साथ लक्ष्मणको [illegible] घावरहित कर दो। साथ ही वृक्षोंके द्वारा [illegible] करनेवाले रीछ-वानरोंकी सेनाके शूरोंको एवं दूसरे [illegible] जो यहाँ (अपने पक्षमें) युद्ध कर रहे हैं [illegible] जिन्हें बाण लगे हैं, जिनके घाव हैं, उन सबको तुम प्रयत्नपूर्वक (व्रणहीन करके) सुखी बनाओ।'

श्रीरामका आदेश सुनकर सुषेणने लक्ष्मणकी ना[illegible] एक उत्तम ओषधि लगा दी। उसकी गन्ध सूँघते [illegible] लक्ष्मणके शरीरसे बाण निकल गये, घाव भर गये और पीड़ा [illegible] हो गयी। अन्य वीरोंकी भी इसी प्रकार चिकित्सा की ग[illegible]

रावणसे युद्धके समय

रावणका रथ आता देखकर श्रीरामने सारथिसे कहा—

मातले पश्य संरब्धमापतन्तं रथं रिपोः ॥
यथापसव्यं पतता वेगेन महता पुनः ।
समरे हन्तुमात्मानं तथानेन कृता मतिः ॥
तदप्रमादमातिष्ठ प्रत्युद्गच्छ रथं रिपोः ।
विध्वंसयितुमिच्छामि वायुर्मेघमिवोत्थितम् ॥
अविक्लवमसम्भ्रान्तमव्यग्रहृदयेक्षणम् ।
रश्मिसंचारनियतं प्रचोदय रथं द्रुतम् ॥
कामं न त्वं समाधेयः पुरंदररथोचितः ।
युयुत्सुरहमेकाग्रः स्मारये त्वां न शिक्षये ॥

(वा० रा०, युद्ध० १०६ । ९–१३)

'मातले ! देखो, मेरे शत्रु रावणका रथ बड़े वेगसे आ है । रावण जिस प्रकार मुझे दाहिने रखकर महान् साथ पुनः आ रहा है, उससे जान पड़ता है समरभूमिमें अपने वधका निश्चय कर लिया है । अब तुम सावधान हो जाओ और शत्रुके रथकी आगे बढ़ो । जैसे हवा उमड़े हुए बादलोंको छिन्न-कर डालती है, उसी प्रकार आज मैं शत्रुके विध्वंस करना चाहता हूँ । भय तथा घबराहट र मन और नेत्रोंको स्थिर रखते हुए घोड़ोंकी र काबूमें रक्खो और रथको तेज चलाओ । देवराज इन्द्रका रथ हाँकनेका अभ्यास है, अतः कुछ सिखानेकी आवश्यकता नहीं है । ाग्रचित्त होकर युद्ध करना चाहता हूँ । इसलिये कर्तव्यका स्मरणमात्र करा रहा हूँ । तुम्हें नहीं देता हूँ ।'

अयोध्यामें

ानर अयोध्याके जनपदमें पहली बार आये हैं । सुव्यवस्थाकी चिन्ता प्रभुको स्वयं है । वे भाई कहते हैं—

सर्वसम्पत्समायुक्तं मम मन्दिरमुत्तमम् ॥
मित्राय वानरेन्द्राय सुग्रीवाय प्रदीयताम् ।
सर्वेभ्यः सुखवासार्थं मन्दिराणि प्रकल्पय ॥

(अध्यात्म०, युद्ध० १५ । ३१-३२)

'मेरा सर्वसम्पत्तियुक्त श्रेष्ठ भवन मेरे मित्र वानरराज सुग्रीवको दो तथा और सबके लिये भी सुखपूर्वक रहनेयोग्य सुन्दर भवन बताओ ।'

अश्वमेध-यज्ञका आयोजन

अश्वमेधयज्ञका निश्चय हुआ तो उसके लिये आवश्यक योजना एवं प्रस्तुतिका आदेश तो श्रीराम दे ही रहे हैं, श्री-जानकीकी स्वर्ण-प्रतिमा बनानेका भी आदेश दे रहे हैं; क्योंकि पत्नीके बिना यज्ञ हो नहीं सकता और राम सीताके अतिरिक्त अन्यको किसी प्रकार भी पत्नीका स्थान दे नहीं सकते ।

भाई भरत एवं लक्ष्मणकी इच्छा जानकर श्रीरामचन्द्र-जीने लक्ष्मणसे यह धर्मयुक्त बात कही—

वसिष्ठं वामदेवं च जाबालिमथ काश्यपम् ।
द्विजांश्च सर्वप्रवरानश्वमेधपुरस्कृतान् ॥
एतान् सर्वान् समानीय मन्त्रयित्वा च लक्ष्मण ।
हयं लक्षणसम्पन्नं विमोक्ष्यामि समाधिना ॥

(वा० रा०, उत्तर० ९१ । २-३)

'लक्ष्मण ! मैं अश्वमेधयज्ञ करानेवाले ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि और काश्यप आदि सभी द्विजोंको बुलाकर और उनसे सलाह लेकर पूरी सावधानीके साथ शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न घोड़ा छोड़ूँगा ।'

रघुनाथजीके कहे हुए इस वचनको सुनकर शीघ्रगामी लक्ष्मणने समस्त ब्राह्मणोंको बुलाकर उन्हें श्रीरामचन्द्रजीसे मिलाया । उन ब्राह्मणोंने देखा, देवतुल्य तेजस्वी और अत्यन्त दुर्जय श्रीरामचन्द्र हमारे चरणोंमें प्रणाम करके खड़े हैं । तब उन्होंने शुभ आशीर्वादोंद्वारा उनका सत्कार किया । उस समय रघुकुलभूषण श्रीरामने हाथ जोड़कर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंसे अश्वमेधयज्ञके विषयमें धर्मयुक्त श्रेष्ठ वचन

कहे। वे सब ब्राह्मण भी श्रीरामकी यह बात सुनकर भगवान् शंकरको प्रणाम करके सब प्रकारसे अश्वमेधयज्ञकी सराहना करने लगे। अश्वमेधयज्ञके विषयमें उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका अद्भुत ज्ञानसे युक्त वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई।

विज्ञाय कर्म तत् तेषां रामो लक्ष्मणमब्रवीत्।
प्रेषयस्व महाबाहो सुग्रीवाय महात्मने॥
यथा महद्भिर्हरिभिर्बहुभिश्च वनौकसाम्।
सार्धमागच्छ भद्रं ते अनुभोक्तुं महोत्सवम्॥
विभीषणश्च रक्षोभिः कामगैर्बहुभिर्वृतः।
अश्वमेधं महायज्ञमायात्वतुलविक्रमः॥
राजानश्च महाभागा ये मे प्रियचिकीर्षवः।
सानुगाः क्षिप्रमायान्तु यज्ञं भूमिनिरीक्षकाः॥
देशान्तरगता ये च द्विजा धर्मसमाहिताः।
आमन्त्रयस्व तान् सर्वानश्वमेधाय लक्ष्मण॥
ऋषयश्च महाबाहो आहूयन्तां तपोधनाः।
देशान्तरगताः सर्वे सदाराश्च द्विजातयः॥
तथैव तालावचरास्तथैव नटनर्तकाः।
यज्ञवाटश्च सुमहान् गोमत्या नैमिषे वने॥
आज्ञाप्यतां महाबाहो तद्धि पुण्यमनुत्तमम्।
शान्तयश्च महाबाहो प्रवर्तन्तां समन्ततः॥
(वा० रा०, उत्तर० ९१। ९—१६)

उस कर्मके लिये उन ब्राह्मणोंकी स्वीकृति जानकर श्रीराम लक्ष्मणसे बोले—'महाबाहो ! तुम महात्मा वानरराज सुग्रीवके पास यह संदेश भेजो कि कपिश्रेष्ठ ! तुम बहुत-से विशालकाय वनवासी वानरोंके साथ यहाँ यज्ञ-महोत्सवका आनन्द लेनेके लिये आओ। तुम्हारा कल्याण हो। साथ ही अतुल-पराक्रमी विभीषणको भी यह सूचना दो कि वे इच्छानुसार चलनेवाले बहुत-से राक्षसोंके साथ हमारे महान् अश्वमेध यज्ञमें पधारें। इनके सिवा मेरा प्रिय करनेकी इच्छावाले जो महाभाग राजा हैं, वे भी यज्ञ-भूमि देखनेके लिये सेवकोंसहित शीघ्र यहाँ आयें। लक्ष्मण ! जो धर्मनिष्ठ ब्राह्मण कार्यवश दूसरे-दूसरे देशोंमें चले गये हैं, उन सबको अपने अश्वमेध-यज्ञके लिये आमन्त्रित करो। महाबाहो ! तपोधन ऋषियोंको तथा अन्य राष्ट्रोंमें रहनेवाले स्त्रियोंसहित समस्त ब्रह्मर्षियोंको भी बुला लो। महाबाहो ! ताल देकर रङ्गभूमिमें संचरण करनेवाले सूत्रधार तथा नट और नर्तक भी बुला लिये जायँ। नैमिषारण्यमें गोमतीके तटपर विशाल यज्ञमण्डप बनानेकी आज्ञा दो; क्योंकि वह वन बहुत ही उत्तम और पवित्र स्थान है। महाबाहु रघुनन्दन ! वहाँ यज्ञकी निर्विघ्न-समाप्तिके लिये सर्वत्र शान्ति-विधान प्रारम्भ करा दो।'

शतशश्चापि धर्मज्ञाः क्रतुमुख्यमनुत्तमम्।
अनुभूय महायज्ञं नैमिषे रघुनन्दन॥
तुष्टः पुष्टश्च सर्वोऽसौ मानितश्च यथाविधि।
प्रतियास्यति धर्मज्ञ शीघ्रमामन्त्र्यतां जनः॥
शतं वाहसहस्राणां तण्डुलानां वपुष्मताम्।
अयुतं तिलमुद्गस्य प्रयात्वग्रे महाबल॥
चणकानां कुलित्थानां माषाणां लवणस्य च।
अतोऽनुरूपं स्नेहं च गन्धं संक्षिप्तमेव च॥
सुवर्णकोट्यो बहुला हिरण्यस्य शतोत्तराः।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे समाधिना॥
अन्तरापणवीथ्यश्च सर्वे च नटनर्तकाः।
सूदा नार्यश्च बह्वो नित्यं यौवनशालिनः॥
भरतेन तु सार्धं ते यान्तु सैन्यानि चाग्रतः।
नैगमान् बालवृद्धांश्च द्विजांश्च सुसमाहितान्॥
कर्मान्तिकान् वर्धकिनः कोशाध्यक्षांश्च नैगमान्।
मम मातृस्तथा सर्वाः कुमारान्तःपुराणि च॥
काञ्चनीं मम पत्नीं च दीक्षायां ज्ञांश्च कर्मणि।
अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः॥
(वा० रा०, उत्तर० ९१। १७—२५)

'नैमिषारण्यमें सैकड़ों धर्मज्ञ पुरुष उस परम उत्तम और श्रेष्ठ महायज्ञको देखकर कृतार्थ हों। धर्मज्ञ लक्ष्मण! शीघ्र लोगोंको आमन्त्रित करो और जो लोग आयें, वे सब विधिपूर्वक तुष्ट-पुष्ट एवं सम्मानित होकर लौटें। महाबली सुमित्राकुमार! लाखों बोझ ढोनेवाले पशु पुष्ट दानेवाले चावल लेकर और दस हजार पशु तिल, मूँग, चना, कुल्थी, उड़द और नमकके बोझ लेकर आगे चलें। इसीके अनुरूप घी, तेल, दूध, दही तथा बिना घिसे हुए चन्दन और बिना पिसे हुए सुगन्धित पदार्थ भी भेजे जाने चाहिये। भरत सौ करोड़से भी अधिक सोने-चाँदीके सिक्के साथ लेकर पहले ही जायँ और बड़ी सावधानीके साथ यात्रा करें। मार्गमें आवश्यक वस्तुओंके क्रय-विक्रयके लिये जगह-जगह बाजार भी लगने चाहिये; अतः इसके प्रवर्तक वणिक् एवं व्यवसायी लोग भी यात्रा करें। समस्त नट और नर्तक भी जायँ। बहुत-से रसोइये तथा सदा युवावस्थासे सुशोभित होनेवाली स्त्रियाँ भी यात्रा करें। भरतके साथ आगे-आगे सेनाएँ भी जायँ। महायशस्वी भरत शास्त्रवेत्ता विद्वानों, बालकों, वृद्धों, एकाग्र चित्तवाले ब्राह्मणों, काम करनेवाले नौकरों, बढ़इयों, कोषाध्यक्षों, वैदिकों, मेरी सब माताओं, कुमारोंके अन्तःपुरों (भरत आदिकी स्त्रियों), मेरी पत्नीकी सुवर्णमयी प्रतिमा तथा यज्ञ-कर्मकी दीक्षाके जानकार ब्राह्मणोंको आगे करके पहले ही यात्रा करें।'

तत्पश्चात् महाबली नरश्रेष्ठ श्रीरामने सेवकोंसहित महातेजस्वी नरेशोंके ठहरनेके लिये बहुमूल्य वासस्थान बनाने (खेमे आदि लगाने) के लिये आदेश दिया तथा सेवकोंसहित उन महात्मा नरेशोंके लिये अन्न-पान एवं वस्त्र आदिकी भी व्यवस्था करायी।

श्रीराम सुर-मुनि-रक्षक

शरभङ्गाश्रममें बहुत-से वानप्रस्थ मुनि पधारे। उन्होंने राक्षसोंके अत्याचारसे अपनी रक्षाके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की। तब धर्मात्मा श्रीरामने उनसे कहा—

नैवमर्हथ मां वक्तुमाज्ञाप्योऽहं तपस्विनाम्।
केवलेन स्वकार्येण प्रवेष्टव्यं वनं मया॥
विप्रकारमपाक्रष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम्।
पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम्॥
भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदृच्छया।
तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः॥
तपस्विनां रणे शत्रून् हन्तुमिच्छामि राक्षसान्।
पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः॥

(वा० रा०, अरण्य० ६। २२—२५)

'मुनिवरो! आपलोग मुझसे इस प्रकार प्रार्थना न करें। मैं तो तपस्वी महात्माओंका आज्ञापालक हूँ। मुझे केवल अपने ही कार्यसे वनमें तो प्रवेश करना ही है (इसके साथ ही आपलोगोंकी सेवाका सौभाग्य भी मुझे प्राप्त हो जायगा)। राक्षसोंके द्वारा जो आपको यह कष्ट पहुँच रहा है, इसे दूर करनेके लिये ही मैं पिताके आदेशका पालन करता हुआ इस वनमें आया हूँ। आपलोगोंके प्रयोजनकी सिद्धिके लिये मैं दैवात् यहाँ आ पहुँचा हूँ। आपकी सेवाका अवसर मिलनेसे मेरे लिये यह वनवास महान् फलदायक होगा। तपोधनो! मैं तपस्वी मुनियोंसे शत्रुता रखनेवाले उन राक्षसोंका युद्धमें संहार करना चाहता हूँ। आप सब महर्षि भाईसहित मेरा पराक्रम देखें।'

उन तपोधनोंको इस प्रकार आश्वासन देकर उन्हींके साथ श्रीरामचन्द्रजी भाई और पत्नीसहित सुतीक्ष्ण मुनिके आश्रममें गये। वे मुनि पद्मासन लगाये ध्यानमग्न होकर बैठे थे। श्रीरामने उनके निकट जाकर कहा—

अपना परिचय देना

रामोऽहमस्मि भगवन् भवन्तं द्रष्टुमागतः ।
तन्माभिवद धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रम ॥

(वा० रा०, अरण्य० ७ । ६)

'सत्यपराक्रमी धर्मज्ञ महर्षे ! भगवन् ! मैं राम हूँ और यहाँ आपका दर्शन करनेके लिये आया हूँ; अतः आप मुझसे बात कीजिये ।'

यह सुनकर धीर महर्षि सुतीक्ष्णने अपनी आँखें खोल दीं और तुरंत उठकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामका अपनी दोनों भुजाओंसे गाढ़ आलिङ्गन किया । तदनन्तर वे इस प्रकार बोले—'रघुकुलभूषण श्रीराम ! आपका स्वागत है । इस समय आपके पदार्पणसे यह आश्रम सनाथ हो गया । मैं आपकी ही प्रतीक्षामें था । इसलिये अबतक इस पृथ्वीपर शरीरका त्याग करके देवलोक (ब्रह्मधाम) में नहीं गया । मैंने तपस्याद्वारा जो पुण्यलोक अर्जित किये हैं, उनमें सीता और लक्ष्मणसहित आप विहार करें ।' यह सुनकर श्रीरामने कहा—

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान् महामुने ।
आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥
भवान् सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।
आख्यातं शरभङ्गेन गौतमेन महात्मना ॥

(वा० रा०, अरण्य० ७ । १४-१५)

'महामुने ! वे लोक तो मैं स्वयं ही आपको प्राप्त कराऊँगा । इस समय तो मेरी यह इच्छा है कि आप बतायें कि मैं इस वनमें अपने ठहरनेके लिये कहाँ कुटिया बनाऊँ । आप समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर तथा इहलोक और परलोककी सभी बातोंके ज्ञानमें निपुण हैं, यह बात मुझसे गौतमगोत्रीय महात्मा शरभङ्गने कही थी ।'

सीताको अपने साधुरक्षा-व्रतका परिचय देना

श्रीरामके यों कहनेपर महर्षिने बड़े हर्षसे मधुर वाणीमें कहा—'श्रीराम ! यही आश्रम सब प्रकारसे उत्तम है । अतः आप यहीं सानन्द निवास कीजिये । इस आश्रममें मृगोंके उपद्रवके सिवा और कोई दोष नहीं है ।' श्रीराम बोले—'मैं इस आश्रममें अधिक कालतक नहीं ठहर सकूँगा ।' यों कहकर उन्होंने रात्रिमें वहीं निवास किया और प्रातःकाल सुतीक्ष्णसे विदा ले वे तीनों वहाँसे आगेको चल दिये । मार्गमें सीताने श्रीरामसे निरपराध प्राणियोंको न मारने और अहिंसा-धर्मका पालन करनेके लिये अनुरोध किया ।

'चौदह वर्ष वनमें रहना है, अतः धर्मानुष्ठान एवं वानप्रस्थ-धर्मका सविधि पालन करना चाहिये ।' यह सुझाव श्रीजानकीने दिया । इसपर श्रीरघुनाथ बोले—

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥
किं नु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ॥
ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ।
मां सीते स्वयमागम्य शरण्यं शरणं गताः ॥
वसन्तः कालकालेषु वने मूलफलाशनाः ।
न लभन्ते सुखं भीरु राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥
भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः ।
ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ॥
अस्मानभ्यवपद्येति मामूचुर्द्विजसत्तमाः ।
मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्च्युतम् ॥
कृत्वा वचनशुश्रूषां वाक्यमेतदुदाहृतम् ।
प्रसीदन्तु भवन्तो मे ह्रीरेषा तु ममातुला ॥
यदीदृशैरहं विप्रैरुपस्थेयैरुपस्थितः ।
किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसंनिधौ ॥

(वा० रा०, अरण्य० १० । २—९)

'देवि ! धर्मको जाननेवाली जनककिशोरी ! तुम्हारा मेरे ऊपर स्नेह है, इसलिये तुमने मेरे हितकी बात कही है । क्षत्रियोंके कुलधर्मका उपदेश करते हुए तुमने जो कुछ कहा है, वह तुम्हारे ही योग्य है । देवि ! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँ ? तुमने ही पहले यह बात कही है कि क्षत्रियलोग इसलिये धनुष धारण करते हैं

कि किसीको दुःखी होकर हाहाकार न करना पड़े। (यदि कोई दुःख या संकटमें पड़ा हो तो उसकी रक्षा की जाय।) सीते! दण्डकारण्यमें रहकर कठोर व्रतका पालन करनेवाले वे मुनि बहुत दुखी हैं, इसीलिये मुझे शरणागतवत्सल जानकर वे स्वयं मेरे पास आये और शरणागत हुए। भीरु! सदा ही वनमें रहकर फल-मूलका आहार करनेवाले वे मुनि इन क्रूरकर्मा राक्षसोंके कारण कभी सुख नहीं पाते। मनुष्योंके मांससे जीवननिर्वाह करनेवाले ये भयानक राक्षस उन्हें मारकर खा जाते हैं। उन राक्षसोंके ग्रास बने हुए वे दण्डकारण्यवासी द्विज-श्रेष्ठ मुनि हमलोगोंके पास आकर मुझसे बोले—'प्रभो! हमपर अनुग्रह कीजिये।' उनके मुखसे निकली हुई इस प्रकार रक्षाकी पुकार सुनकर और उनकी आज्ञा-पालन-रूपी सेवाका विचार मनमें लेकर मैंने उनसे यह बात कही। 'महर्षियो! आप-जैसे ब्राह्मणोंकी सेवामें मुझे स्वयं ही उपस्थित होना चाहिये था, परंतु आप स्वयं ही अपनी रक्षाके लिये मेरे पास आये, यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है; अतः आप प्रसन्न हों! बताइये, मैं आपलोगोंकी क्या सेवा करूँ?' यह बात मैंने उन ब्राह्मणोंके सामने कही।"

सर्वैरेव समागम्य वागियं समुदाहृता।
राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः॥
अर्दिताः स्म भृशं राम भवान् नस्तत्र रक्षतु।
होमकाले तु सम्प्राप्ते पर्वकालेषु चानघ॥
धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः।
राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम्॥
गतिं मृगयमाणानां भवान् नः परमा गतिः।
कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान्॥
चिरार्जितं न चेच्छामस्तपः खण्डयितुं वयम्।
बहुविघ्नं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव॥
तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः।
तदर्द्यमानान् रक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः॥
रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने।
मया चैतद्वचः श्रुत्वा कात्स्न्र्येन परिपालनम्॥
ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे।
संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम्॥
मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा।
अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम्॥
अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय कथं पुनः।
मम स्नेहाच्च सौहार्दादिदमुक्तं त्वया वचः॥
परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न ह्यनिष्टोऽनुशास्यते।
सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव शोभने।
सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी॥
(वा० रा०, अरण्य० १०। १०—२१)

"तब उन सभीने मिलकर अपना मनोभाव इन वचनोंमें प्रकट किया—'श्रीराम! दण्डकारण्यमें इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले बहुत-से राक्षस रहते हैं। उनसे हमें बड़ा कष्ट पहुँच रहा है, अतः वहाँ उनके भयसे आप हमारी रक्षा करें। निष्पाप रघुनन्दन! अग्निहोत्रका समय आनेपर तथा पर्वके अवसरोंपर ये अत्यन्त दुर्धर्ष मांसभोजी राक्षस हमें धर दबाते हैं। राक्षसोंके द्वारा आक्रान्त होनेवाले हम तपस्वी तापस सदा अपने लिये कोई आश्रय ढूँढ़ते रहते हैं, अतः आप ही हमारे परम आश्रय हों। रघुनन्दन! यद्यपि हम तपस्याके प्रभावसे इच्छानुसार इन राक्षसोंका वध करनेमें समर्थ हैं, तथापि चिरकालसे उपार्जित किये हुए तपको खण्डित करना नहीं चाहते; क्योंकि तपमें सदा ही बहुत-से विघ्न आते रहते हैं तथा इसका सम्पादन बहुत ही कठिन होता है। यही कारण है कि राक्षसोंके ग्रास बन जानेपर भी हम उन्हें शाप नहीं देते, इसलिये दण्डकारण्यवासी निशाचरोंसे पीड़ित हुए हम तापसोंकी भाईसहित आप रक्षा करें; क्योंकि इस वनमें अब आप ही

हमारे रक्षक हैं।' जनकनन्दिनि ! दण्डकारण्यमें ऋषियोंकी यह बात सुनकर मैंने पूर्णरूपसे उनकी रक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की है। मुनियोंके सामने यह प्रतिज्ञा करके अब मैं जीते-जी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही प्रिय है। सीते ! मैं अपने प्राण छोड़ सकता हूँ, तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ, किंतु अपनी प्रतिज्ञाको, विशेषतः ब्राह्मणोंके लिये की गयी प्रतिज्ञाको मैं कदापि नहीं तोड़ सकता। इसलिये ऋषियोंकी रक्षा करना मेरे लिये आवश्यक कर्तव्य है। विदेहनन्दिनि ! ऋषियोंके बिना कहे ही उनकी मुझे रक्षा करनी चाहिये थी; फिर जब उन्होंने स्वयं कहा और मैंने प्रतिज्ञा भी कर ली, तब अब उनकी रक्षासे कैसे मुँह मोड़ सकता हूँ ! सीते ! तुमने स्नेह और सौहार्दवश जो मुझसे ये बातें कही हैं, इससे मैं बहुत संतुष्ट हूँ; क्योंकि जो अपना प्रिय न हो, उसे कोई हितकर उपदेश नहीं देता। शोभने ! तुम्हारा यह कथन तुम्हारे योग्य तो है ही, तुम्हारे कुलके भी सर्वथा अनुरूप है। तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हो।''

महात्मा श्रीरामचन्द्रजी अपनी प्रिया मिथिलेशकुमारी सीतासे ऐसा वचन कहकर हाथमें धनुष ले लक्ष्मणके साथ रमणीय तपोवनोंमें विचरण करने लगे।

महर्षि च्यवनके आज्ञानुसार लवणासुरका वध

श्रीरामके राजदरबारमें एक दिन महर्षि च्यवन अनेक तपस्वियोंके साथ उपस्थित हुए। समाचार पाते ही मर्यादा-पुरुषोत्तम अर्चन-द्रव्य लेकर द्वारतक उनका स्वागत करने गये। उन्हें उत्तम आसन देकर, अर्घ्य-पाद्यादिसे उनका पूजन करके श्रीरामने उनसे हाथ जोड़कर कहा—

किमागमनकार्यं वः किं करोमि समाहितः।
आज्ञाप्योऽहं महर्षीणां सर्वकामकरः सुखम्॥

इदं राज्यं च सकलं जीवितं च हृदि स्थितम्।
सर्वमेतद् द्विजार्थं मे सत्यमेतद् ब्रवीमि वः॥

(वा० रा०, उत्तर० ६० । १३-१४)

'महर्षियो ! किस कामसे यहाँ आपलोगोंका शुभागमन हुआ है ? मैं एकाग्रचित्त होकर आपकी क्या सेवा करूँ ? यह सेवक आपकी आज्ञा पानेके योग्य है। आदेश मिलनेपर मैं बड़े सुखसे आपकी सभी इच्छाओंको पूर्ण कर सकता हूँ। यह सारा राज्य, इस हृदयकमलमें विराजमान यह जीवात्मा तथा यह मेरा सारा वैभव ब्राह्मणोंकी सेवाके लिये ही है, मैं आपके समक्ष यह सच्ची बात कहता हूँ।'

श्रीरामकी यह बात सुनकर ऋषियोंने उन्हें साधुवाद दिया और मधुको प्राप्त हुए वर तथा लवणासुरके अत्याचारका वर्णन करके उससे प्राप्त होनेवाले भयको दूर करनेके लिये रघुनाथजीसे प्रार्थना की। श्रीरामने लवणासुरके आहार-विहारके विषयमें पूछा और शत्रुघ्नकी रुचि जानकर उन्हें लवण-वधके कार्यमें नियुक्त किया। साथ ही मधुके राज्यपर शत्रुघ्नका अभिषेक करके उन्हें लवणासुरके शूलसे बचनेका उपाय बताया। श्रीरामकी आज्ञाके अनुसार शत्रुघ्नने सेनाको आगे भेज दिया और एक मासके बाद स्वयं भी प्रस्थान किया। रास्तेमें वे एक रात वाल्मीकिके आश्रमपर ठहरे और वहाँ सीताके दो पुत्रोंका जन्म सुनकर प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करके यमुना-तटपर पहुँचे। मुनिवर च्यवनने शत्रुघ्नको लवणासुरके शूलकी शक्तिका परिचय देते हुए मांधाताके वधका प्रसङ्ग सुनाया। लवणासुर जब आहारके लिये बाहर निकला, उसी समय शत्रुघ्न मधुपुरीके द्वारपर डट गये। लौटनेपर लवणासुरसे उनका युद्ध हुआ और वह असुर उनके हाथसे मारा गया। शत्रुघ्न मधुरापुरीको बसाकर बारहवें वर्षमें अयोध्याकी ओर प्रस्थित हुए। मार्गमें वाल्मीकिके आश्रमपर ठहरे और वहाँ रामचरितका गान सुनकर आश्चर्यचकित हो उठे। वहाँसे अयोध्यामें आकर वे श्रीराम आदिसे मिले और एक सप्ताहके पश्चात् पुनः मधुरा लौट गये।

श्रीरामके कुछ विशिष्ट गुण

श्रीरामकी नियम-निष्ठा

शृङ्गवेरपुरमें निषादराज गुह प्रार्थना करते हैं—'कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ।' लेकिन मर्यादापुरुषोत्तमने तो वनवासका व्रत लिया है। अतः निषादराजकी सेवा वे कैसे स्वीकार कर सकते हैं। तमसा-तटसे चलकर श्रीरघुनाथजीने शीतसलिला, ऋषि-मुनि-सेविता दिव्य नदी गङ्गाका दर्शन किया। उनके दर्शनसे श्रीरामको बड़ी प्रसन्नता हुई। शृङ्गवेरपुरमें गङ्गाके किनारे पहुँचनेपर वहीं रात्रिवासकी इच्छा प्रकट की।

तब 'बहुत अच्छा' कहकर लक्ष्मण और सुमन्त्र एक वृक्षके पास गये। वहाँ पहुँचकर सब लोग रथसे नीचे उतरे। सुमन्त्रने घोड़ोंको खोल दिया और वृक्षके नीचे बैठे हुए श्रीरामके पास जाकर वे हाथ जोड़े खड़े हो गये। शृङ्गवेरपुरमें 'गुह'नामका एक निषाद राजा राज्य करता था। वह श्रीरामका मित्र था और उन्हें अपने प्राणोंके समान प्रिय था। श्रीरामचन्द्रजीके पधारनेका समाचार सुनकर निषादराज गुह बूढ़े मन्त्रियों और बन्धु-बान्धवोंसे घिरा हुआ वहाँ आया। उसे दूरसे आया देख श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके साथ आगे बढ़कर उससे मिले। श्रीरामको तापसवेषमें देखनेपर उसे दुःख हुआ और उसने रघुनाथजीको हृदयसे लगाकर कहा—'श्रीराम! आपके लिये जैसे अयोध्याका राज्य है, उसी प्रकार यह राज्य भी है। बताइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? आप-जैसा प्रिय अतिथि किसको सुलभ होगा? आपका स्वागत है। यह सारी भूमि आपकी है। हम आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी; आप हमारे इस राज्यका शासन करें। ये भक्ष्य, भोज्य, पेय और लेह्य पदार्थ सेवामें उपस्थित हैं। उत्तम शय्याएँ तथा घोड़ोंके लिये खाना-दाना भी उपस्थित हैं। आप इन्हें स्वीकार करें।' गुहके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने इस प्रकार उत्तर दिया—

गुहके द्वारा दी हुई वस्तुको लौटाना और घोड़ोंके खाने-पीने आदिकी व्यवस्थाके लिये आदेश देना

गुहमेवं ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
अर्चिताश्चैव हृष्टाश्च भवता सर्वदा वयम्॥
पद्भ्यामभिगमाच्चैव स्नेहसंदर्शनेन च।
भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्॥
दिष्ट्या त्वां गुह पश्यामि ह्यरोगं सह बान्धवैः।
अपि ते कुशलं राष्ट्रे मित्रेषु च वनेषु च॥
यत् त्विदं भवता किंचित् प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि नहि वर्ते प्रतिग्रहे॥
कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्।
विद्धि प्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥
अश्वानां खादनेनाहमर्थी नान्येन केनचित्।
एतावतात्र भवता भविष्यामि सुपूजितः॥
एते हि दयिता राज्ञः पितुर्दशरथस्य मे।
एतैः सुविहितैरश्वैर्भविष्याम्यहमर्चितः॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५० । ४०—४६)

गुहके यों कहनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'सखे! तुम्हारे यहाँतक पैदल आने और स्नेह दिखानेसे ही हमारा सदाके लिये भलीभाँति पूजन—स्वागत-सत्कार हो गया। तुमसे मिलनेपर हमें बड़ी प्रसन्नता हुई है।' फिर श्रीरामने अपनी दोनों गोल-गोल भुजाओंसे गुहका अच्छी तरह आलिङ्गन करते हुए कहा—'गुह! सौभाग्यकी बात है कि मैं आज तुम्हें बन्धु-बान्धवोंके साथ स्वस्थ एवं सानन्द देख रहा हूँ। बताओ, तुम्हारे राज्यमें, मित्रोंके यहाँ तथा वनोंमें सर्वत्र कुशल तो है? तुमने प्रेमवश यह जो कुछ सामग्री प्रस्तुत की है, इसे स्वीकार करके मैं तुम्हें वापिस ले जानेकी आज्ञा देता हूँ; क्योंकि इस समय दूसरोंकी दी हुई कोई भी वस्तु मैं ग्रहण नहीं करता—अपने उपयोगमें नहीं लाता। वल्कल और मृगचर्म धारण करके फल-मूलका आहार करता हूँ और धर्ममें स्थित रहकर तापसवेशमें वनके भीतर ही विचरता हूँ। इन दिनों तुम मुझे इसी नियममें स्थित जानो। इन सामग्रियोंमें

जो घोड़ोंके खाने-पीनेकी वस्तु है, उसीकी इस समय मुझे आवश्यकता है; दूसरी किसी वस्तुकी नहीं। घोड़ोंको खिला-पिला देनेमात्रसे तुम्हारे द्वारा मेरा पूर्ण सत्कार हो जायगा। ये घोड़े मेरे पिता महाराज दशरथको बहुत प्रिय हैं। इनके खाने-पीनेका सुन्दर प्रबन्ध कर देनेसे मेरा भलीभाँति पूजन हो जायगा।'

तब गुहने अपने सेवकोंको उसी समय यह आज्ञा दी—'तुम घोड़ोंके खाने-पीनेके लिये आवश्यक वस्तुएँ शीघ्र लाकर दो।' तत्पश्चात् वल्कलका उत्तरीय-वस्त्र धारण करनेवाले श्रीरामने सायंकालकी संध्योपासना करके भोजनके नामपर स्वयं लक्ष्मणका लाया हुआ केवल जलमात्र पी लिया। फिर पत्नीसहित श्रीराम भूमिपर ही तृणकी शय्या बिछाकर सोये। उस समय लक्ष्मण उनके दोनों चरणोंको धो-पोंछकर वहाँसे कुछ दूरपर हट आये और एक वृक्षका सहारा लेकर बैठ गये। गुह भी सावधानीके साथ धनुष धारण करके सुमन्त्रके साथ बैठकर सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे बातचीत करता हुआ श्रीरामकी रक्षाके लिये रातभर जागता रहा।

कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥

बरष चारिदस बासु बन मुनि ब्रत बेषु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि गुहहि भयउ दुखु भारु॥
(श्रीरामचरित०, अयोध्या० ८८)

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'हे सुजान सखा! तुमने जो कुछ कहा, सब सत्य है। परंतु पिताजीने मुझको और ही आज्ञा दी है। [उनके आज्ञानुसार] मुझे चौदह वर्षतक मुनियोंका व्रत और वेष धारणकर और मुनियोंके योग्य आहार करते हुए वनमें ही बसना है, गाँवके भीतर निवास करना उचित नहीं है।' यह सुननेपर गुहको बड़ा दुःख हुआ।

सुमन्त्रसे अनुरोध

महामन्त्री सुमन्त्र चाहते हैं—प्रार्थना करते हैं और स्पष्ट सूचित करते हैं कि महाराज दशरथकी यही इच्छा है कि श्रीराम अयोध्या लौट चलें; किंतु श्रीरघुनाथ अपने मतपर दृढ़ हैं। साथ ही पिताको क्लेश न हो, इसका उन्हें ——है।

मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा॥
सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा॥
संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिएँ उतरु फिरि पातकु लहऊँ॥

पितु पद गहि कहि कोटि नति बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै तात करिअ जनि मोरि॥

तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें। बिनती करउँ तात कर जोरें॥
सब बिधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥
(श्रीरामचरित०, अयोध्या० ९४। १–४; ९५; ९६। १)

श्रीरामजीने मन्त्रीको उठाकर धैर्य बँधाते हुए समझाया—'तात! आपने तो धर्मके सभी सिद्धान्तोंको छान डाला है। शिवि, दधीचि और राजा हरिश्चन्द्रने धर्मके लिये करोड़ों (अनेकों) कष्ट सहे थे। बुद्धिमान् राजा रन्तिदेव और बलि बहुत-से संकट सहकर भी धर्मको पकड़े रहे (उन्होंने धर्मका परित्याग नहीं किया)। वेद, शास्त्र और पुराणोंमें कहा गया है कि सत्यके समान दूसरा धर्म नहीं है। मैंने उस धर्मको सहज ही पा लिया है। इस [सत्यरूपी धर्म] का त्याग करनेसे तीनों लोकोंमें अपयश छा जायगा। प्रतिष्ठित पुरुषके लिये अपयशकी प्राप्ति करोड़ों मृत्युके समान भीषण संताप देनेवाली है। तात! मैं आपसे क्या कहूँ! लौटकर उत्तर देनेमें भी पापका भागी होता हूँ।

'आप जाकर पिताजीके चरण पकड़कर करोड़ नमस्कारके साथ-ही-साथ हाथ जोड़कर विनती करियेगा—'तात! आप मेरी किसी बातकी चिन्ता न करें।'

'आप भी पिताके समान ही मेरे बड़े हितैषी हैं 'तात! मैं हाथ जोड़कर आपसे विनती करता हूँ—'आपका भी सब प्रकारसे वही कर्तव्य है, जिसमें पिताजी हमलोगोंके सोचमें दुःख न पायें।'

निर्जन वनमें निवासकी इच्छा

श्रीरामने शृङ्गवेरपुरमें ही वटका दूध मँगाया और अपनी कोमल स्निग्ध सघन घुँघराली अलकोंको जटाका रूप दे दिया—

नेदानीं गुह योग्योऽयं वासो मे सजने वने ।
अवश्यमाश्रमे वासः कर्तव्यस्तद्गतो विधिः ॥
सोऽहं गृहीत्वा नियमं तपस्विजनभूषणम् ।
हितकामः पितुर्भूयः सीताया लक्ष्मणस्य च ॥
जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ५२ । ६६—६८)

'निषादराज गुह ! इस समय मेरे लिये ऐसे वनमें रहना उचित नहीं है, जहाँ जनपदके लोगोंका आना-जाना अधिक होता हो; अब अवश्य मुझे निर्जन वनके आश्रममें ही वास करना होगा । इसके लिये जटा धारण आदि आवश्यक विधिका मुझे पालन करना चाहिये । अतः फल-मूलका आहार और पृथ्वीपर शयन आदि नियमोंको ग्रहण करके मैं सीता और लक्ष्मणकी अनुमति लेकर पिताका हित करनेकी इच्छासे सिरपर तपस्वी जनोंके आभूषणरूप जटा धारण करके यहाँसे वनको जाऊँगा । मेरे केशोंको जटाका रूप देनेके लिये तुम बड़का दूध ला दो ।' गुहने तुरंत ही बड़का दूध लाकर श्रीरामको दिया ।

लङ्का-नगरीमें प्रवेश करनेसे अस्वीकार

विभीषणके राज्याभिषेकका अवसर आया, तब भी श्रीरामने नगरमें न जानेका नियम-पालन करते हुए कहा—

तुम्ह कपीस अंगद नल नीला ।
जामवंत मारुति नयसीला ॥
सब मिलि जाहु बिभीषन साथा ।
सारेहु तिलक कहेउ रघुनाथा ॥
पिता बचन मैं नगर न आवउँ ।
आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ ॥
(श्रीरामचरित०, लंका० १०५ । १-२)

श्रीरघुनाथजीने लक्ष्मणसे कहा—'तुम, वानरराज सुग्रीव, अंगद, नल, नील, जाम्बवान् और मारुति—सब नीतिनिपुण लोग मिलकर विभीषणके साथ जाओ और उन्हें राजतिलक कर दो । पिताजीके वचनोंके कारण मैं नगरमें नहीं जा सकता । पर अपने ही समान वानर और छोटे भाईको भेजता हूँ ।'

श्रीरामके व्यवहारकी उदार मर्यादा और दयालुता, रावणदूत शुक-सारणको अभयदान

रावणने शुक नामक राक्षसको विभीषणके पीछे गुप्तचर बनाकर भेजा था । उसे वानरोंने पकड़कर बहुत सताया । किंतु श्रीरामने कृपापूर्वक उसे बन्धनमुक्त कर दिया । उसने लङ्का लौटकर सागरमें पुल बाँधकर वानरसेनाके आनेकी और उसकी अपार शक्तिकी रावणको सूचना दी । तब रावणने शुक और सारणको वानर-वेषमें रामकी सेनाके भीतर रहने और वहाँका गुप्त भेद देनेके लिये नियुक्त किया । वे दोनों वानर-सेनामें आये, परंतु विभीषणके द्वारा पहचान लिये जानेके कारण कैद कर लिये गये । दोनोंको जब श्रीरामचन्द्रजीके सामने लाया गया, तब वे अपने जीवनसे निराश हो गये और बोले—'प्रभो ! हम दोनों रावणके द्वारा आपकी सेनाके विषयमें आवश्यक जानकारी प्राप्त करनेके लिये भेजे गये हैं ।' यह सुनकर हँसते हुए श्रीरामने कहा—

यदि दृष्टं बलं सर्वं वयं वा सुसमाहिताः ।
यथोक्तं वा कृतं कार्यं छन्दतः प्रतिगम्यताम् ॥
अथ किंचिददृष्टं वा भूयस्तद् द्रष्टुमर्हथः ।
विभीषणो वा कार्त्स्न्येन पुनः संदर्शयिष्यति ॥
न चेदं ग्रहणं प्राप्य भेतव्यं जीवितं प्रति ।
न्यस्तशस्त्रौ गृहीतौ च न दूतौ वधमर्हथः ॥
प्रच्छन्नौ च विमुञ्चेमौ चारौ रात्रिंचरावुभौ ।
शत्रुपक्षस्य सततं विभीषण विकर्षिणौ ॥
प्रविश्य महतीं लङ्कां भवद्भ्यां धनदानुजः ।
वक्तव्यो रक्षसां राजा यथोक्तं वचनं मम ॥
यद् बलं त्वं समाश्रित्य सीतां मे हृतवानसि ।
तद् दर्शय यथाकामं ससैन्यश्च सबान्धवः ॥
श्वः काल्ये नगरीं लङ्कां सप्राकारां सतोरणाम् ।
रक्षसां च बलं पश्य शरैर्विध्वंसितं मया ॥
क्रोधं भीममहं मोक्ष्ये ससैन्ये त्वयि रावण ।
श्वः काल्ये वज्रवान् वज्रं दानवेष्विव वासवः ॥
(वा० रा०, युद्ध० २५ । १८-२५)

'यदि तुमने सारी सेना देख ली हो, हमारी सैनिक शक्तिका ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तथा रावणके कथनानुसार सब काम पूरा कर लिया हो तो अब तुम दोनों अपनी इच्छाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक लौट जाओ। अथवा यदि अभी कुछ देखना बाकी रह गया हो तो फिर देख लो। विभीषण तुम्हें सब कुछ पुनः पूर्णरूपसे दिखा देंगे। इस समय जो तुम पकड़ लिये गये हो, इससे तुम्हें अपने जीवनके विषयमें कोई भय नहीं होना चाहिये; क्योंकि शस्त्रहीन अवस्थामें पकड़े गये तुम दोनों दूत वधके योग्य नहीं हो। विभीषण! ये दोनों राक्षस रावणके गुप्तचर हैं और छिपकर यहाँका भेद लेनेके लिये आये हैं। ये अपने शत्रुपक्ष (वानर-सेना) में फूट डालनेका प्रयास कर रहे हैं। अब तो इनका भंडा फूट ही गया, अतः इन्हें छोड़ दो। शुक और सारण! जब तुम दोनों लङ्कामें पहुँचो, तब कुबेरके छोटे भाई राक्षसराज रावणको मेरी ओरसे यह संदेश सुना देना—रावण! जिस बलके भरोसे तुमने मेरी सीताका अपहरण किया है, उसे अब सेना और बन्धुजनोंसहित आकर इच्छानुसार दिखाओ। कल प्रातःकाल ही तुम परकोटे और दरवाजोंके सहित लङ्कापुरी तथा राक्षसी सेनाका मेरे बाणोंसे विध्वंस होता देखोगे। रावण! जैसे वज्रधारी इन्द्र दानवोंपर अपना वज्र छोड़ते हैं, उसी प्रकार मैं कल सबेरे ही सेनासहित तुमपर अपना भयंकर क्रोध छोड़ूँगा।'

एक रावणके अपराधसे सब राक्षस मारे जायँगे, यह सोचकर वे दयामय दुखी होते हैं

सुवेल पर्वतपर चढ़नेका विचार करके जिनके पीछे लक्ष्मणजी चल रहे थे, वे भगवान् श्रीराम सुग्रीवसे और धर्मके ज्ञाता, मन्त्रवेत्ता, विधिज्ञ एवं अनुरागी निशाचर विभीषणसे भी उत्तम एवं मधुर वाणीमें बोले—

सुवेलं साधु शैलेन्द्रमिमं धातुशतैश्चितम्।
अध्यारोहामहे सर्वे वत्स्यामोऽत्र निशामिमाम्॥
लङ्कां चालोकयिष्यामो निलयं तस्य रक्षसः।
येन मे मरणान्ताय हृता भार्या दुरात्मना॥
येन धर्मो न विज्ञातो न वृत्तं न कुलं तथा।
राक्षस्या नीचया बुद्ध्या येन तद् गर्हितं कृतम्॥
तस्मिन् मे वर्तते रोषः कीर्तिते राक्षसाधमे।
यस्यापराधान्नीचस्य वधं द्रक्ष्यामि रक्षसाम्॥
एको हि कुरुते पापं कालपाशवशं गतः।
नीचेनात्मापचारेण कुलं तेन विनश्यति॥

(वा० रा०, युद्ध० ३८। ३—७)

'मित्रो! यह पर्वतराज सुवेल सैकड़ों धातुओंसे भलीभाँति भरा हुआ है। हम सब लोग इसपर चढ़ें और आजकी इस रातमें यहीं निवास करें। यहाँसे हमलोग उस राक्षसकी निवासभूत लङ्कापुरीका भी अवलोकन करेंगे, जिस दुरात्माने अपनी मृत्युके लिये ही मेरी भार्याका अपहरण किया है। जिसने न तो धर्मको जाना है, न सदाचारको ही कुछ समझा है और न कुलका ही विचार किया है; केवल राक्षसोचित नीच बुद्धिके कारण ही वह निन्दित कर्म किया है, उस नीच राक्षसका नाम लेते ही उसपर मेरा रोष जाग उठता है। केवल उसी अधम निशाचरके अपराधसे मैं समस्त राक्षसोंका वध देखूँगा। कालके वशमें बँधा हुआ एक ही पुरुष पाप करता है, किंतु उस नीचके अपने ही दोषसे सारा कुल नष्ट हो जाता है।'

रावणको अभयदान

युद्धमें उस समय धनुष न होनेसे रावण विषहीन सर्पके समान अपना प्रभाव खो बैठा था। सायंकालमें जिसकी प्रभा शान्त हो गयी हो, उस सूर्यदेवके समान निस्तेज हो गया था तथा मुकुटोंका समूह कट जानेसे श्रीहीन दिखायी देता था। उस अवस्थामें श्रीरामने युद्धभूमिमें राक्षसराजसे कहा—

कृतं त्वया कर्म महत् सुभीमं
हतप्रवीरश्च कृतस्त्वयाहम् ।
तस्मात् परिश्रान्त इति व्यवस्य
न त्वां शरैर्मृत्युवशं नयामि ॥
प्रयाहि जानामि रणार्दितस्त्वं
प्रविश्य रात्रिंचरराज लङ्काम् ।
आश्वस्य निर्याहि रथी च धन्वी
तदा बलं प्रेक्ष्यसि मे रथस्थः ॥
(वा० रा०, युद्ध० ५९ । १४२-१४३)

'रावण ! तुमने आज बड़ा भयंकर कर्म किया है, मेरी सेनाके प्रधान-प्रधान वीरोंको मार डाला है । इतनेपर भी थके हुए समझकर मैं बाणोंद्वारा तुम्हें मौतके अधीन नहीं कर रहा हूँ । निशाचरराज ! मैं जानता हूँ तुम युद्धसे पीड़ित हो । इसलिये आज्ञा देता हूँ, जाओ लङ्कामें प्रवेश करके कुछ देर विश्राम कर लो । फेर रथ और धनुषके साथ निकलना । उस समय रथारूढ़ रहकर तुम फिर मेरा बल देखना ।'

अध्यात्मरामायणमें यह प्रसङ्ग इस प्रकार आया है—

संग्रामके मध्यमें अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रावणसे—जो बहुत घायल हो चुका था, श्रीराम कहते हैं—

अनुजानामि गच्छ त्वमिदानीं बाणपीडितः ॥
प्रविश्य लङ्कामाश्वस्य श्वः पश्यसि बलं मम ।
(अध्यात्म०, युद्ध० ६ । २९-३०)

'रावण ! तुम इस समय मेरे बाणोंसे बहुत आहत हो गये हो, अतः मैं अनुमति देता हूँ कि आज लङ्कामें जाकर विश्राम करो । कल मेरा पराक्रम देख लेना ।'

लक्ष्मणको ब्रह्मास्त्रका प्रयोग करनेसे रोकना

इन्द्रजित्ने मायासे अपने रथको छिपाकर वानर-सेनापर घोर आक्रमण किया । उसने बहुत-से वानरोंको धराशायी करके श्रीराम और लक्ष्मणको भी क्षत-विक्षत कर दिया । तब लक्ष्मणने समस्त राक्षसोंके संहारके लिये ब्रह्मास्त्र प्रयोगकी अनुमति माँगी ।

तमुवाच ततो रामो लक्ष्मणं शुभलक्षणम् ।
नैकस्य हेतो रक्षांसि पृथिव्यां हन्तुमर्हसि ॥
अयुध्यमानं प्रच्छन्नं प्राञ्जलिं शरणागतम् ।
पलायमानं मत्तं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि ॥
तस्यैव तु वधे यत्नं करिष्यामि महाभुज ।
आदेक्ष्यावो महावेगानस्त्रानाशीविषोपमान् ॥
तमेनं मायिनं क्षुद्रमन्तर्हितरथं बलात् ।
राक्षसं निहनिष्यन्ति दृष्ट्वा वानरयूथपाः ॥
यद्येष भूमिं विशते दिवं वा
रसातलं वापि नभस्तलं वा ।
एवं विगूढोऽपि ममास्त्रदग्धः
पतिष्यते भूमितले गतासुः ॥
(वा० रा०, युद्ध० ८० । ३८-४२)

उनकी यह बात सुनकर श्रीरामने शुभलक्षणसम्पन्न लक्ष्मणसे कहा—'भाई ! एकके कारण भूमण्डलके समस्त राक्षसोंका वध करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है । महाबाहो ! जो युद्ध न करता हो, छिपा हो, हाथ जोड़कर शरणमें आया हो, युद्धसे भाग रहा हो अथवा पागल हो गया हो, ऐसे व्यक्तिको तुम्हें नहीं मारना चाहिये । अब मैं उस इन्द्रजित्के ही वधका प्रयत्न करता हूँ । आओ, हमलोग विषैले सर्पोंकी भाँति भयंकर तथा अत्यन्त वेगशाली अस्त्रोंका प्रयोग करें । यह मायावी राक्षस बड़ा नीच है । इसने अन्तर्धान-शक्तिसे अपने रथको छिपा लिया है । यदि यह दीख जाय तो वानरयूथपति इस राक्षसको अवश्य मार डालेंगे । यदि यह पृथ्वीमें समा जाय, स्वर्गको चला जाय, रसातलमें प्रवेश करे अथवा आकाशमें ही स्थित रहे, तथापि इस तरह छिपे होनेपर भी मेरे अस्त्रोंसे दग्ध होकर प्राणशून्य हो भूतलपर अवश्य गिरेगा ।'

विभीषणके प्रति रावणके अन्तिम संस्कार करनेका आदेश

दशग्रीव मारा गया। उसके कुलमें एकमात्र विभीषण बचे और वे उस प्रभु-द्वेषीका अन्तिम संस्कार करना नहीं चाहते। रघुनाथजीने उन्हें समझाया—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥
(अध्यात्म०, युद्ध० १२। ३३)

'विभीषण! शत्रुसे शत्रुता उसकी मृत्युपर्यन्त होती है। मेरा कार्य तो पूरा हो गया। अब तुम दशग्रीवका संस्कार करो। यह तो अब जैसा तुम्हारा है, वैसे ही मेरा भी है।'

रावणका वध सुनकर शोकसे व्याकुल हुई राक्षसियाँ तथा महारानी मन्दोदरी अन्तःपुरसे निकलकर रणभूमिमें आयीं और हाहाकार करती हुई पतिके शवके पास गिर पड़ीं। उन सबने रावणके गुणोंका स्मरण करके बहुत देरतक विलाप किया। उस समय श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणसे कहा—'इन स्त्रियोंको धैर्य बँधाओ और अपने भाईका दाह-संस्कार करो।' विभीषण बोले—'भगवन्! जिसने धर्म और सदाचारको त्याग दिया था, जो क्रूर, निर्दयी, असत्यवादी तथा परायी स्त्रीका स्पर्श करनेवाला था, उसका दाह-संस्कार करना मैं उचित नहीं समझता।' यह सुनकर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी बोले—

तवापि मे प्रियं कार्यं त्वत्प्रभावान्मया जितम्॥
अवश्यं तु क्षमं वाच्यो मया त्वं राक्षसेश्वर।
अधर्मानृतसंयुक्तः कामं त्वेष निशाचरः॥
तेजस्वी बलवाञ्छूरः संग्रामेषु च नित्यशः।
शतक्रतुमुखैर्देवैः श्रूयते न पराजितः॥
महात्मा बलसम्पन्नो रावणो लोकरावणः।
मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्॥
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव।
त्वत्सकाशान्महाबाहो संस्कारं विधिपूर्वकम्॥
क्षिप्रमर्हति धर्मेण त्वं यशोभाग् भविष्यसि।

'राक्षसराज! मुझे तुम्हारा भी प्रिय करना है; क्योंकि तुम्हारे ही प्रभावसे मेरी जीत हुई है। अवश्य ही मुझे तुमसे उचित बात कहनी चाहिये; अतः सुनो। यह निशाचर भले ही अधर्मी और असत्यवादी रहा हो, परंतु संग्राममें सदा ही तेजस्वी, बलवान् तथा शूरवीर रहा है। सुना जाता है—इन्द्र आदि देवता भी इसे परास्त नहीं कर सके थे। समस्त लोकोंको रुलानेवाला रावण बल-पराक्रमसे सम्पन्न तथा महामनस्वी था। वैर मरनेतक ही रहता है। मरनेके बाद उसका अन्त हो जाता है। अब हमारा प्रयोजन भी सिद्ध हो चुका है; अतः इस समय जैसे यह तुम्हारा भाई है, वैसे ही मेरा भी है; इसलिये इसका दाह-संस्कार करो। महाबाहो! धर्मके अनुसार रावण तुम्हारी ओरसे शीघ्र ही विधिपूर्वक दाह-संस्कार प्राप्त करनेके योग्य है। यों करनेसे तुम यशके भागी होओगे।'

श्रीरामका जन्मभूमि-प्रेम

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

अयोध्यासे जाते समय

इस तथ्यको मर्यादापुरुषोत्तम स्पष्ट व्यक्त करते हैं अयोध्याके सम्बन्धमें। वनवासके समय वे अयोध्यापुरीसे विदा लेते हुए प्रार्थना करते हैं—वनवासकी आज्ञा लेते हैं।

विशाल और रमणीय कोसलदेशकी सीमाको पार करके लक्ष्मणके बड़े भाई बुद्धिमान् श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्याकी ओर अपना मुख किया और हाथ जोड़कर कहा—

आपृच्छे त्वां पुरि श्रेष्ठे काकुत्स्थपरिपालिते।
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥
निवृत्तवनवासस्त्वामनृणो जगतीपतेः।
पुनर्द्रक्ष्यामि मात्रा च पित्रा च सह संगतः॥
ततो रुचिरताम्राक्षो भुजमुद्यम्य दक्षिणम्।

अनुक्रोशो दया चैव यथार्हं मयि वः कृतः ।
चिरं दुःखस्य पापीयो गम्यतामर्थसिद्धये ॥
(वा० रा०, अयोध्या० ५० । २–५)

'ककुत्स्थवंशी राजाओंसे परिपालित पुरीशिरोमणि अयोध्ये ! मैं तुमसे तथा जो-जो देवता तुम्हारी रक्षा करते और तुम्हारे भीतर निवास करते हैं, उनसे भी वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ । वनवासकी अवधि पूरी करके महाराजके ऋणसे उऋण हो मैं पुनः लौटकर तुम्हारे दर्शन करूँगा और अपने माता-पितासे भी मिलूँगा । इसके बाद सुन्दर एवं अरुण नेत्रवाले श्रीरामने दाहिनी भुजा उठाकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए दुखी होकर जनपदके लोगोंसे कहा—आपने मुझपर बड़ी कृपा की और यथोचित दया दिखायी । मेरे लिये आपलोगोंने बहुत देरतक कष्ट सहन किया । इस तरह आपका देरतक दुःखमें पड़े रहना अच्छा नहीं है; इसलिये अब आपलोग अपना-अपना कार्य करनेके लिये जाइये ।'

अयोध्या लौटते समय

लङ्का-विजय करके लौटते समय पुष्पक विमानपर बैठे हुए भगवान् श्रीराम वानरयूथपोंको अयोध्या दिखलाते हुए कहते हैं—

सुनु कपीस अंगद लंकेसा ।
पावन पुरी रुचिर यह देसा ॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना ।
बेद पुरान बिदित जगु जाना ॥
अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ ।
यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि ।
उत्तर दिसि बह सरजू पावनि ॥
जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा ।
मम समीप नर पावहिं बासा ॥
अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी ।
मम धामदा पुरी सुख रासी ॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० ३ । १–४)

'हे सुग्रीव ! हे अंगद ! हे लंकापति विभीषण ! सुनो यह पुरी पवित्र है और यह देश सुन्दर है । यद्यपि सब वैकुण्ठकी बड़ाई की है—यह वेद-पुराणोंमें प्रसिद्ध है और जगत् जानता है, तथापि अवधपुरीके समान मुझे वह भी प्रिय नहीं है । यह बात (भेद) कोई-कोई (बिरले ही) जानते हैं । यह सुहावनी पुरी मेरी जन्मभूमि है । इसके उत्तर दिशामें [जीवोंको] पवित्र करनेवाली सरयू नदी बहती है, जिसमें स्नान करनेसे मनुष्य बिना ही परिश्रम मेरे समीप निवास (सामीप्य मुक्ति) पा जाते हैं । यहाँके निवासी मुझे बहुत ही प्रिय हैं । यह पुरी सुखकी राशि और मेरे परमधामको देनेवाली है ।'

श्रीरामकी जिज्ञासावृत्ति

'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा ।'

श्रीराम सर्वज्ञ सर्व-समर्थ हैं सही, किंतु मर्यादापुरुषोत्तम हैं । मानवकी मर्यादा उन्हें रखनी है । मनुष्यमें जिज्ञासा नहीं होगी तो उसका ज्ञान अवरुद्ध हो जायगा । जिज्ञासा जीवनकी—अभिवृद्धि-उन्मुख जीवनकी पहचान है । अतः यहाँ उस जिज्ञासाका परिचय श्रीरामने दिया ।

श्रीराम, लक्ष्मण और सीता—तीनों यात्री चित्रकूट त्यागकर तापसोंके आश्रममण्डलमें गये और वहाँ इनका बड़ा सत्कार हुआ । वहाँके ऋषियोंने अपनी रक्षाके लिये श्रीरामसे प्रार्थना की । रात्रिमें उनका आतिथ्य ग्रहण करके प्रातःकाल उनसे विदा ले श्रीराम पुनः वनमें ही आगे बढ़ने लगे । वहाँसे सीतासहित श्रीराम और लक्ष्मण शरभङ्ग मुनिके आश्रमपर गये । वहाँ उन्हें देवताओंसहित देवराज इन्द्रके दर्शन हुए । उन्होंने लक्ष्मणको भी दूरसे ही उनका दर्शन कराते हुए कहा—

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टमद्भुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं रथम् ॥
ये हयाः पुरुहूतस्य पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥
इमे च पुरुषव्याघ्र ये तिष्ठन्त्यभितो दिशम् ।
शतं शतं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतबाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥

उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसंनिभाः ।
रूपं बिभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥
एतद्धि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।
यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥
इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठ लक्ष्मण ।
यावज्जानाम्यहं व्यक्तं क एष द्युतिमान् रथे ॥
(वा० रा०, अरण्य० ५ । १३–१९)

'लक्ष्मण ! आकाशमें वह अद्भुत रथ तो देखो, उससे तेजकी लपटें निकल रही हैं । वह सूर्यके समान तप रहा है । शोभा मानो मूर्तिमती होकर उसकी सेवा करती है । हमलोगोंने पहले देवराज इन्द्रके जिन दिव्य घोड़ोंके विषयमें जैसा सुन रखा है, निश्चय ही आकाशमें ये वैसे ही दिव्य अश्व विराजमान हैं । पुरुषसिंह ! इस रथके दोनों ओर जो ये हाथोंमें खड्ग लिये कुण्डलधारी सौ-सौ युवक खड़े हैं, इनके वक्षःस्थल विशाल एवं विस्तृत हैं, भुजाएँ परिघोंके समान सुदृढ़ एवं बड़ी-बड़ी हैं । ये सब-के-सब लाल वस्त्र धारण किये हुए हैं और व्याघ्रोंके समान दुर्जय प्रतीत होते हैं । सुमित्रानन्दन ! इन सबके हृदयदेशोंमें अग्निके समान तेजसे जगमगाते हुए हार शोभा पाते हैं । ये नवयुवक पचीस वर्षोंकी अवस्थाका रूप धारण करते हैं । कहते हैं, देवताओंकी सदा ऐसी ही अवस्था रहती है, जैसे ये पुरुषप्रवर दिखायी देते हैं । इनका दर्शन कितना प्यारा लगता है ! लक्ष्मण ! जबतक मैं स्पष्ट रूपसे यह पता ना लगा लूँ कि रथपर बैठे हुए ये तेजस्वी पुरुष कौन हैं, तबतक तुम विदेहनन्दिनी सीताके साथ एक मुहूर्ततक यहीं ठहरो ।'

श्रीरामकी सरलता—संयम और आत्मविश्वास

जनकपुरकी पुष्पवाटिकामें श्रीरामकी दृष्टि श्रीमैथिलीपर गयी और जैसे हृदय भी उन अपनी नित्य-अभिन्नाके समीप चला गया; किंतु मर्यादापुरुषोत्तमके मनमें न हिचक है न दुराव । वे अनुजसे कहते हैं—

तात जनकतनया यह सोई ।
धनुषजग्य जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखीं लै आई ।
करत प्रकासु फिरइ फुलवाई ॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा ।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥
सो सबु कारन जान बिधाता ।
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता ॥
रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी ।
जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी ॥
जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी ।
नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी ॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं ।
ते नर बर थोरे जग माहीं ॥
(श्रीरामचरित०, बाल० २३० । १–४)

'तात ! यह वही जनकजीकी कन्या है, जिसके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है । सखियाँ इसे गौरीपूजनके लिये ले आयी हैं । यह फुलवाड़ीमें प्रकाश करती हुई फिर रही है; जिसकी अलौकिक सुन्दरता देखकर स्वभावसे ही पवित्र मेरा मन क्षुब्ध हो गया है । वह सब कारण (अथवा उसका सब कारण) तो विधाता जानें । किंतु हे भाई ! सुनो, मेरे मङ्गलदायक (दाहिने) अङ्ग फड़क रहे हैं । रघुवंशियोंका यह सहज (जन्मगत) स्वभाव है कि उनका मन कभी कुमार्गपर पैर नहीं रखता । मुझे तो अपने मनका अत्यन्त ही विश्वास है कि जिसने [जाग्रत्‌की कौन कहे] स्वप्नमें भी परायी स्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली है । रणमें शत्रु जिनकी पीठ नहीं देख पाते (अर्थात् जो लड़ाईके मैदानसे भागते नहीं), परायी स्त्रियाँ जिनके मन और दृष्टिको नहीं खींच पातीं और भिखारी जिनके यहाँसे 'नाहीं' नहीं पाते (खाली हाथ नहीं लौटते), ऐसे श्रेष्ठ पुरुष संसारमें थोड़े हैं ।'

श्रीरामकी चित्रकूट-प्रीति

न यत्र गोविन्दकथा सुधापगा
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।
न यत्र यज्ञेशमखा महोत्सवाः
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥

(श्रीमद्भागवत)

'जहाँ श्रीहरिकी कथामृत-स्रोतस्विनी न बहती हो, जहाँ उन दयाधामके चरणाश्रित साधु न रहते हों, जहाँ यज्ञेशके लिये यज्ञोत्सव न होते हों, वह स्वर्ग हो भी वहाँ मत रहो ।'

सत्पुरुषके निवासके लिये यह आदर्श शास्त्रने माना । शास्त्र जिनकी वाणी है, वे मर्यादापुरुषोत्तम मर्यादाकी पनाके लिये अवतीर्ण हुए हैं । अतः चित्रकूटको उन्होंने निवासयोग्य बतलाया तो उसका कारण भी स्पष्ट कर दिया—

मनोज्ञोऽयं गिरिः सौम्य नानाद्रुमलतायुतः ।
बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः प्रतिभाति मे ॥
मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये ।
अयं वासो भवेत् तात वयमत्र वसेमहि ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५६ । १४-१५)

'सौम्य ! यह पर्वत बड़ा मनोहर है । नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं । यहाँ फल-मूल भी बहुत हैं, यह रमणीय तो है ही । मुझे जान पड़ता है कि यहाँ बड़े सुखसे जीवन-निर्वाह हो सकता है । इस पर्वतपर बहुत-से महात्मा मुनि निवास करते हैं । तात ! यही हमारा वासस्थान होने योग्य है । हम यहीं निवास करेंगे ।'

श्रीरामका प्रकृति-प्रेम

प्रकृति-सौन्दर्यके वर्णन द्वारा सीताप्रेमका निदर्शन

सृष्टिमें राशि-राशि सौन्दर्य बिखरा पड़ा है । एक तृणमें, पत्रमें, यहाँतक कि पत्रहीन वृक्ष एवं तृण-तरु- त शिलामें भी एक अनुपम सौन्दर्य है; किंतु सहृदय ही तिके इस दिव्य वैभवको देख पाते हैं ।

'रसो वै सः' जिन्हें श्रुति कहती है, वे आनन्दघन मुक्त प्रकृतिके इस शृङ्गारसे आकृष्ट हों, यह तो होना ही । वनमें चलना है । पहले दिनके थके हैं । अतः अनुजसे ले उठते हैं । लक्ष्मणको जगाते हैं और मार्गमें श्रीजानकीको -शोभा दिखलाते हैं—

सौमित्रे शृणु वन्यानां वल्गु व्याहरतां स्वनम् ।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परंतप ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५६ । २)

'शत्रुओंको संताप देनेवाले सुमित्राकुमार ! मीठी री बोलनेवाले शुक-पिक आदि जंगली पक्षियोंका कलरव सुनो । अब हमलोग यहाँसे प्रस्थान करें; क्योंकि प्रस्थानके योग्य समय आ गया है ।'

उस समय लक्ष्मणके साथ वहाँसे प्रस्थित हुए श्रीरामने कमलनयनी सीतासे इस प्रकार कहा—

आदीप्तानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान् नगान् ।
स्वैः पुष्पैः किंशुकान् पश्य मालिनः शिशिरात्यये ॥
पश्य भल्लातकान् बिल्वान् नरैरनुपसेवितान् ।
फलपुष्पैरवनतान् नूनं शक्ष्याम जीवितुम् ॥
पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण ।
मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे ॥
एष क्रोशति नत्यूहस्तं शिखी प्रतिकूजति ।
रमणीये वनोद्देशे पुष्पसंस्तरसंकटे ॥
मातङ्गयूथानुसृतं पक्षिसंघानुनादितम् ।
चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं गिरिम् ॥

समभूमितले रम्ये द्रुमैर्बहुभिरावृते ।
पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५६ । ६—११)

'विदेहराजनन्दिनी ! इस वसन्त ऋतुमें सब ओरसे खिले हुए इन पलाश-वृक्षोंको तो देखो । ये अपने ही पुष्पोंसे पुष्प-मालाधारी-से प्रतीत होते हैं और उन फूलोंकी अरुण प्रभाके कारण प्रज्वलित होते-से दिखायी देते हैं । देखो, ये भिलावे और बेलके पेड़ अपने फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए हैं । दूसरे मनुष्योंका यहाँतक आना सम्भव न होनेसे ये उनके द्वारा उपयोगमें नहीं लाये गये हैं; अतः निश्चय ही इन फलोंसे हम जीवन-निर्वाह कर सकेंगे । (फिर लक्ष्मणसे कहा—) लक्ष्मण ! देखो, यहाँके एक-एक वृक्षमें मधुमक्खियोंद्वारा लगाये और पुष्ट किये गये मधुके छत्ते कैसे लटक रहे हैं ! इन सबमें एक-एक द्रोण (लगभग सोलह सेर) मधु भरा हुआ है । वनका यह भाग बड़ा ही रमणीय है, यहाँ फूलोंकी वर्षा-सी हो रही है और सारी भूमि पुष्पोंसे आच्छादित दिखायी देती है । इस वनप्रान्तमें यह चातक 'पी कहाँ', 'पी कहाँ' की रट लगा रहा है । उधर वह मोर बोल रहा है, मानो पपीहेकी बातका उत्तर दे रहा हो । यह रहा चित्रकूट पर्वत—इसका शिखर बहुत ऊँचा है । झुंड-के-झुंड हाथी उसी ओर जा रहे हैं और वहाँ बहुत-से पक्षी चहक रहे हैं । तात ! जहाँकी भूमि समतल है और जो बहुत-से वृक्षोंसे भरा हुआ है, चित्रकूटके उस पवित्र काननमें हमलोग बड़े आनन्दसे विचरेंगे ।'

मनुष्य कैमरेके समान जड नेत्रवाला नहीं है, वह सहृदय है और इसीलिये प्रकृतिको अपनी भावनाके संदर्भ-में ही देखता है । पम्पासरोवरको देखकर श्रीरामको बार-बार श्रीजानकीकी स्मृति आना स्वाभाविक है ।

सरःश्रेष्ठ पम्पापर दृष्टि पड़ते ही (कमल-पुष्पोंमें सीताके नेत्र-मुख आदिका किञ्चित् सादृश्य पाकर) हर्षोल्लाससे श्रीरामकी सारी इन्द्रियाँ चञ्चल हो उठीं । उनके मनमें सीताके दर्शनकी प्रबल इच्छा जाग उठी । उस इच्छाके अधीन-से होकर वे सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे इस प्रकार बोले—

सौमित्रे शोभते पम्पा वैदूर्यविमलोदका ।
फुल्लपद्मोत्पलवती शोभिता विविधैर्द्रुमैः ॥
सौमित्रे पश्य पम्पायाः काननं शुभदर्शनम् ।
यत्र राजन्ति शैला वा द्रुमाः सशिखरा इव ॥
मां तु शोकाभिसंतप्तमाधयः पीडयन्ति वै ।
भरतस्य च दुःखेन वैदेह्या हरणेन च ॥
शोकार्तस्यापि मे पम्पा शोभते चित्रकानना ।
व्यवकीर्णा बहुविधैः पुष्पैः शीतोदका शिवा ॥
नलिनैरपि संछन्ना ह्यत्यर्थशुभदर्शना ।
सर्पव्यालानुचरिता मृगद्विजसमाकुला ॥
अधिकं प्रविभात्येतन्नीलपीतं तु शाद्वलम् ।
द्रुमाणां विविधैः पुष्पैः परिस्तोमैरिवार्पितम् ॥
पुष्पभारसमृद्धानि शिखराणि समन्ततः ।
लताभिः पुष्पिताग्राभिरुपगूढानि सर्वतः ॥
सुखानिलोऽयं सौमित्रे कालः प्रचुरमन्मथः ।
गन्धवान् सुरभिर्मासो जातपुष्पफलद्रुमः ॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० १।३—१०)

'सुमित्रानन्दन ! यह पम्पा कैसी शोभा पा रही है ! इसका जल वैदूर्यमणिके समान स्वच्छ एवं श्याम है । इसमें बहुत-से पद्म और उत्पल खिले हुए हैं । तटपर उत्पन्न हुए नाना प्रकारके वृक्षोंसे इसकी शोभा और भी बढ़ गयी है । सुमित्राकुमार ! देखो तो सही, पम्पाके किनारेका वन कितना सुन्दर दिखायी दे रहा है ! यहाँके ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अपनी फैली हुई शाखाओंके कारण अनेक शिखरोंसे युक्त पर्वतोंके समान सुशोभित होते हैं । परंतु मैं इस समय भरतके दुःख और सीताहरणकी चिन्ताके शोकसे संतप्त हो रहा हूँ । मानसिक वेदनाएँ मुझे बहुत कष्ट पहुँचा रही हैं । यद्यपि मैं शोकसे पीड़ित हूँ, तो भी मुझे यह पम्पा

पड़ी सुहावनी लग रही है। इसके निकटवर्ती वन बड़े विचित्र दिखायी देते हैं। यह नाना प्रकारके फूलोंसे व्याप्त है। इसका जल बहुत शीतल है और यह बहुत सुखदायिनी प्रतीत होती है। कमलोंसे यह सारी पुष्करिणी ढकी हुई है, इसलिये बड़ी सुन्दर दिखायी देती है। इसके आस-पास सर्प तथा हिंसक जन्तु विचर रहे हैं। मृग आदि पशु और पक्षी भी सब ओर छा रहे हैं। नयी-नयी घासोंसे ढका हुआ यह स्थान अपनी नीली-पीली आभाके कारण अधिक शोभा पा रहा है। यहाँ वृक्षोंके नाना प्रकारके पुष्प सब ओर बिखरे हुए हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है मानो यहाँ बहुत-से गलीचे बिछा दिये गये हों। चारों ओर वृक्षोंके अग्रभाग फूलोंके भारसे लदे होनेके कारण समृद्धिशाली प्रतीत होते हैं। ऊपरसे फूली हुई लताएँ उनमें सब ओरसे लिपटी हुई हैं। सुमित्रानन्दन! इस समय मन्द-मन्द सुखदायिनी हवा चल रही है, जिससे कामनाका उद्दीपन हो रहा है (सीताको देखनेकी इच्छा प्रबल हो उठी है)। यह चैत्रका महीना है। वृक्षोंमें फूल और फल लग गये हैं और सब ओर मनोहर सुगन्ध छा रही है।'

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम्।
सृजतां पुष्पवर्षाणि वर्षं तोयमुचामिव॥
प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम्॥
पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे क्रीडतीव समन्ततः॥
विक्षिपन् विविधाः शाखा नगानां कुसुमोत्कटाः।
मारुतश्चलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते॥
मत्तकोकिलसंनादैर्नर्तयन्निव पादपान्।
शैलकंदरनिष्क्रान्तः प्रगीत इव चानिलः॥
तेन विक्षिपतात्यर्थं पवनेन समन्ततः।
अमी संसक्तशाखाग्रा ग्रथिता इव पादपाः॥
स एव सुखसंस्पर्शो वाति चन्दनशीतलः।
गन्धमभ्यवहन् पुण्यं श्रमापनयनोऽनिलः॥
अमी पवनविक्षिप्ता विनदन्तीव पादपाः।
षट्पदैरनुकूजद्भिर्वनेषु मधुगन्धिषु॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १।११–१८)

'लक्ष्मण! फूलोंसे सुशोभित होनेवाले इन वनोंके रूप तो देखो। ये उसी तरह फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं, जैसे मेघ जलकी वृष्टि करते हैं। वनके ये विविध वृक्ष वायुके वेगसे झूम-झूमकर रमणीय शिलाओंपर फूल बरसा रहे हैं और यहाँकी भूमिको ढक देते हैं। सुमित्राकुमार! उधर तो देखो, जो वृक्षोंसे झड़ गये हैं, झड़ रहे हैं तथा जो अभी डालियोंमें ही लगे हुए हैं, उन सभी फूलोंके साथ सब ओर वायु खेल-सा कर रही है। फूलोंसे भरी हुई वृक्षोंकी विभिन्न शाखाओंको झकझोरती हुई वायु जब आगेको बढ़ती है, तब अपने-अपने स्थानसे विचलित हुए भ्रमर मानो उसका यशोगान करते हुए उसके पीछे-पीछे चलने लगते हैं। पर्वतकी कन्दरासे विशेष ध्वनिके साथ निकली हुई वायु मानो उच्च स्वरसे गीत गा रही है। मतवाले कोकिलोंके कलनाद वाद्यका काम देते हैं और उन वाद्योंकी ध्वनिके साथ वह वायु इन झूमते हुए वृक्षोंको मानो नृत्यकी शिक्षा-सी दे रही है। वायुके वेगपूर्वक हिलानेसे जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओरसे परस्पर सट गये हैं, वे वृक्ष एक दूसरेसे गुँथे हुएकी भाँति जान पड़ते हैं। मलयचन्दनका स्पर्श करके बहनेवाली यह शीतल वायु शरीरसे छू जानेपर कितनी सुखद जान पड़ती है! यह थकावट दूर करती हुई बह रही है और सर्वत्र पवित्र सुगन्ध फैला रही है। मधुर मकरन्द और सुगन्धसे भरे हुए इन वनोंमें गुन-गुनाते हुए भ्रमरोंके व्याजसे ये वायुद्वारा हिलाये गये वृक्ष मानो नृत्यके साथ गान कर रहे हैं।'

गिरिप्रस्थेषु रम्येषु पुष्पवद्भिर्मनोरमैः।
संसक्तशिखराः शैला विराजन्ति महाद्रुमैः॥

पुष्पसंछन्नशिखरा मारुतोत्क्षेपचञ्चलाः ।
अमी मधुकरोत्तंसाः प्रगीता इव पादपाः ॥
सुपुष्पितांस्तु पश्यैतान् कर्णिकारान् समन्ततः ।
हाटकप्रतिसंछन्नान् नरान् पीताम्बरानिव ॥
अयं वसन्तः सौमित्रे नानाविहगनादितः ।
सीतया विप्रहीणस्य शोकसंदीपनो मम ॥
मां हि शोकसमाक्रान्तं संतापयति मन्मथः ।
हृष्टं प्रवदमानश्च समाह्वयति कोकिलः ॥
एष दात्यूहको हृष्टो रम्ये मां वननिर्झरे ।
प्रणदन्मन्मथाविष्टं शोचयिष्यति लक्ष्मण ॥
श्रुत्वैतस्य पुरा शब्दमाश्रमस्था मम प्रिया ।
मामाहूय प्रमुदिता परमं प्रत्यनन्दत ॥
एवं विचित्राः पतगा नानारावविराविणः ।
वृक्षगुल्मलताः पश्य सम्पतन्ति समन्ततः ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १ । १९–२६)

'अपने रमणीय पृष्ठभागोंपर उत्पन्न फूलोंसे सम्पन्न तथा मनको लुभानेवाले विशाल वृक्षोंसे सटे हुए शिखर-वाले पर्वत अद्भुत शोभा पा रहे हैं । जिनकी शाखाओंके अग्रभाग फूलोंसे ढके हैं, जो वायुके झोंकेसे हिल रहे हैं तथा भ्रमरोंको पगड़ीके रूपमें सिरपर धारण किये हुए हैं, वे वृक्ष ऐसे जान पड़ते हैं मानो इन्होंने नाचना-गाना आरम्भ कर दिया है । देखो, सब ओर सुन्दर फूलोंसे लदे हुए ये कनेर सोनेके आभूषणोंसे विभूषित पीताम्बर-धारी मनुष्योंके समान शोभा पा रहे हैं । सुमित्रानन्दन ! नाना प्रकारके विहंगमोंके कलरवोंसे गूँजता हुआ यह वसन्तका समय सीतासे बिछुड़े हुए मेरे लिये शोकको बढ़ानेवाला हो गया है । वियोगके शोकसे तो मैं पीड़ित हूँ ही, यह कामदेव (सीता-विषयक अनुराग) मुझे और भी संताप दे रहा है । कोकिल बड़े हर्षके साथ कलनाद करता हुआ मानो मुझे ललकार रहा है । लक्ष्मण ! वनके रमणीय झरनेके निकट बड़े हर्षके साथ बोलता हुआ यह जलकुक्कुट सीतासे मिलनेकी इच्छावाले मुझ रामको शोकमग्न किये देता है । पहले मेरी प्रिया जब आश्रममें रहती थी, उन दिनों इसका शब्द सुनकर आनन्दमग्न हो जाती थी और मुझे भी निकट बुलाकर अत्यन्त आनन्दित कर देती थी । देखो, इस प्रकार भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेवाले विचित्र पक्षी चारों ओर वृक्षों, झाड़ियों और लताओंकी ओर उड़ रहे हैं ।'

विमिश्रा विहगाः पुम्भिरात्मव्यूहाभिनन्दिताः ।
भृङ्गराजप्रमुदिताः सौमित्रे मधुरस्वराः ॥
अस्याः कूले प्रमुदिताः संघशः शकुनास्त्विह ।
दात्यूहरतिविक्रन्दैः पुंस्कोकिलरुतैरपि ॥
स्वनन्ति पादपाश्चेमे ममानङ्गप्रदीपकाः ।
अशोकस्तबकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः ॥
मां हि पल्लवताम्रार्चिर्वसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति ।
नहि तां सूक्ष्मपक्ष्माक्षीं सुकेशीं मृदुभाषिणीम् ॥
अपश्यतो मे सौमित्रे जीवितेऽस्ति प्रयोजनम् ।
अयं हि रुचिरस्तस्याः कालो रुचिरकाननः ॥
कोकिलाकुलसीमान्तो दयिताया ममानघ ।
मन्मथायाससम्भूतो वसन्तगुणवर्धितः ॥
अयं मां धक्ष्यति क्षिप्रं शोकाग्निर्नचिरादिव ।
अपश्यतस्तां वनितां पश्यतो रुचिरान् द्रुमान् ॥
ममायमात्मप्रभवो भूयस्त्वमुपयास्यति ।
अदृश्यमाना वैदेही शोकं वर्धयतीह मे ॥
दृश्यमानो वसन्तश्च स्वेदसंसर्गदूषकः ।
मां हि सा मृगशावाक्षी चिन्ताशोकबलात्कृतम् ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १ । २७—३५)

'सुमित्रानन्दन ! देखो, ये पक्षिणियाँ नर-पक्षियोंसे संयुक्त हो अपने झुंडमें आनन्दका अनुभव कर रही हैं, भौंरोंका गुंजारव सुनकर प्रसन्न हो रही हैं और स्वयं भी मीठी बोली बोल रही हैं । इस पम्पाके तटपर यहाँ झुंड-के-झुंड पक्षी आनन्दमग्न होकर चहक रहे हैं । जलकुक्कुटोंके रतिसम्बन्धी कूजन तथा नर कोकिलोंके

कलनादके व्याजसे मानो ये वृक्ष ही मधुर बोली बोलते हैं और मेरी प्रेमवेदनाको उद्दीप्त कर रहे हैं। जान पड़ता है, यह वसन्तरूपी आग मुझे जलाकर भस्म कर देगी। अशोक पुष्पके लाल-लाल गुच्छे ही इस अग्निके अङ्गार हैं, नूतन पल्लव ही इसकी लाल-लाल लपटें हैं तथा भ्रमरोंका गुञ्जारव ही इस जलती आगका 'चट-चट' शब्द है। सुमित्रानन्दन! यदि मैं सूक्ष्म बरौनियों और सुन्दर केशोंवाली मधुरभाषिणी सीताको न देख सका तो मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन नहीं है। निष्पाप लक्ष्मण! वसन्त ऋतुमें वनकी शोभा बड़ी मनोहर हो जाती है, इसकी सीमामें सब ओर कोयलकी मधुर कूक सुनायी पड़ती है। मेरी प्रिया सीताको यह समय बड़ा ही प्रिय लगता था। प्रेमवेदनासे उत्पन्न हुआ शोकानल वसन्तऋतुके गुणोंका ईंधन पाकर बढ़ [illegible]या है; जान पड़ता है, यह मुझे शीघ्र ही अविलम्ब जला [illegible]गा। अपनी उस प्रियतमा पत्नीको मैं नहीं देख पाता [illegible] और इन मनोहर वृक्षोंको देख रहा हूँ, [illegible]सलिये मेरा यह प्रेम-ज्वर अब और बढ़ जायगा। [illegible]देहनन्दिनी सीता यहाँ मुझे नहीं दिखायी दे रही है, [illegible]सलिये मेरा शोक बढ़ाती है तथा मन्द मलयानिलके [illegible]रा स्वेदसंसर्गका निवारण करनेवाला यह वसन्त भी [illegible] शोककी वृद्धि कर रहा है। सुमित्राकुमार! [illegible]नयनी सीता चिन्ता और शोकसे बलपूर्वक पीड़ित [illegible]ये गये मुझ रामको और भी संताप दे रही है।'

संतापयति सौमित्रे क्रूरश्चैत्रवनानिलः।
अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः॥
स्वैः पक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फाटिकैरिव।
शिखिनीभिः परिवृतास्त एते मदमूर्च्छिताः॥
मन्मथाभिपरीतस्य मम मन्मथवर्धनाः।
पश्य लक्ष्मण नृत्यन्तं मयूरमुपनृत्यति॥
शिखिनी मन्मथार्तैषा भर्तारं गिरिसानुनि।
तामेव मनसा रामां मयूरोऽप्यनुधावति॥
वितत्य रुचिरौ पक्षौ रुतैरुपहसन्निव।
मयूरस्य वने नूनं रक्षसा न हृता प्रिया॥
तस्मान्नृत्यति रम्येषु वनेषु सह कान्तया।
मम त्वयं विना वासः पुष्पमासे सुदुस्सहः॥
पश्य लक्ष्मण संरागस्तिर्यग्योनिगतेष्वपि।
यदेषा शिखिनी कामाद् भर्तारमभिवर्तते॥
ममाप्येवं विशालाक्षी जानकी जातसम्भ्रमा।
मदनेनाभिवर्तेत यदि नापहृता भवेत्॥
पश्य लक्ष्मण पुष्पाणि निष्फलानि भवन्ति मे।
पुष्पभारसमृद्धानां वनानां शिशिरात्यये॥
रुचिराण्यपि पुष्पाणि पादपानामतिश्रिया।
निष्फलानि महीं यान्ति समं मधुकरोत्करैः॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ३६—४५)

'साथ ही यह वनमें बहनेवाली चैत्रमासकी वायु भी मुझे पीड़ा दे रही है। ये मोर स्फटिक मणिके बने हुए गवाक्षों (झरोखों) के समान प्रतीत होनेवाले अपने फैले हुए पंखोंसे, जो वायुसे कम्पित हो रहे हैं, इधर-उधर नाचते हुए कैसी शोभा पा रहे हैं! मयूरियोंसे घिरे हुए ये मदमत्त मयूर प्रेमवेदनासे संतप्त हुए मेरी इस प्रेम-व्यथाको और भी बढ़ा रहे हैं। लक्ष्मण! वह देखो, पर्वतशिखरपर नाचते हुए अपने स्वामी मयूरके साथ-साथ वह मोरनी भी पीड़ित होकर नाच रही है। मयूर भी अपने दोनों सुन्दर पंखोंको फैलाकर मन-ही-मन अपनी उसी रामा (प्रिया) का अनुसरण कर रहा है तथा अपने मधुर स्वरोंसे मेरा उपहास करता-सा जान पड़ता है। निश्चय ही वनमें किसी राक्षसने मोरकी प्रियाका अपहरण नहीं किया है, इसलिये यह रमणीय

१. मन्द-मन्द मलयानिलका चलना, वनके वृक्षोंका नूतन पल्लवों और फूलोंसे सज जाना, कोकिलोंका कूकना, कमलोंका खिल जाना तथा सब ओर मधुर सुगन्धका छा जाना आदि वसन्तके गुण हैं, जो विरहीकी शोकाग्निको उद्दीप्त करते हैं।

वनोंमें अपनी वल्लभाके साथ नृत्य कर रहा है।* फूलोंसे भरे हुए इस चैत्रमासमें सीताके बिना यहाँ निवास करना मेरे लिये अत्यन्त दुस्सह है। लक्ष्मण! देखो तो सही, तिर्यग्योनिमें पड़े हुए प्राणियोंमें भी परस्पर कितना अधिक अनुराग है। इस समय यह मोरनी प्रेमभावसे अपने स्वामीके सामने उपस्थित हुई है। यदि विशाल नेत्रोंवाली सीताका अपहरण न हुआ होता तो वह भी इसी प्रकार बड़े प्रेमसे वेगपूर्वक मेरे पास आती। लक्ष्मण! इस वसन्त ऋतुमें फूलोंके भारसे लदे हुए इन वनोंके ये सारे फूल मेरे लिये निष्फल हो रहे हैं। प्रिया सीताके यहाँ न होनेसे इनका मेरे लिये कोई प्रयोजन नहीं रह गया है। अत्यन्त शोभासे मनोहर प्रतीत होनेवाले ये वृक्षोंके फूल भी निष्फल होकर भ्रमरसमूहोंके साथ ही पृथ्वीपर गिर जाते हैं।'

नदन्ति कामं शकुना मुदिताः संघशः कलम्।
आह्वयन्त इवान्योन्यं कामोन्मादकरा मम॥
वसन्तो यदि तत्रापि यत्र मे वसति प्रिया।
नूनं परवशा सीता सापि शोचत्यहं यथा॥
नूनं न तु वसन्तस्तं देशं स्पृशति यत्र सा।
कथं ह्यसितपद्माक्षी वर्तयेत् सा मया विना॥
अथवा वर्तते तत्र वसन्तो यत्र मे प्रिया।
किं करिष्यति सुश्रोणी सा तु निर्भर्त्सिता परैः॥
श्यामा पद्मपलाशाक्षी मृदुभाषा च मे प्रिया।
नूनं वसन्तमासाद्य परित्यक्ष्यति जीवितम्॥
दृढं हि हृदये बुद्धिर्मम सम्परिवर्तते।
नालं वर्तयितुं सीता साध्वी मद्विरहं गता॥
मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ४६—५२)

* रामायणशिरोमणिकार इस श्लोकके पूर्वार्धका अर्थ यों लिखते हैं—निश्चय ही इस मोरके निवासभूत वनमें उस राक्षसने मेरी प्रिया सीताका अपहरण नहीं किया; नहीं तो यह भी उसीके शोकमें डूबा रहता।

'हर्षमें भरे हुए ये झुंड-के-झुंड पक्षी एक दूसरेको बुलाते हुए-से इच्छानुसार कलरव कर रहे हैं और मेरे मनमें प्रेमोन्माद उत्पन्न किये देते हैं। जहाँ मेरी प्रिया सीता निवास करती है, वहाँ भी यदि इसी तरह वसन्त छा रहा हो तो उसकी क्या दशा होगी। निश्चय ही वहाँ पराधीन हुई सीता मेरी ही तरह शोक कर रही होगी। अवश्य ही जहाँ सीता है, उस एकान्त स्थानमें वसन्तका प्रवेश नहीं है; तो भी मेरे बिना वह कजरारे नेत्रोंवाली कमलनयनी सीता कैसे जीवित रह सकेगी? अथवा सम्भव है जहाँ मेरी प्रिया है, वहाँ भी इसी तरह वसन्त छा रहा हो; परंतु उसे तो शत्रुओंकी डाँट-फटकार सुननी पड़ती होगी; अतः वह बेचारी सुन्दरी सीता क्या कर सकेगी। जिसकी अभी नयी-नयी अवस्था है और प्रफुल्ल कमल-दलके समान मनोहर नेत्र हैं, वह मीठी बोली बोलनेवाली मेरी प्राणवल्लभा जानकी निश्चय ही इस वसन्त ऋतुको पाकर अपने प्राण त्याग देगी। मेरे हृदयमें यह विचार दृढ़ होता जा रहा है कि साध्वी सीता मुझसे अलग होकर अधिक कालतक जीवित नहीं रह सकती। वास्तवमें विदेहकुमारीका हार्दिक अनुराग मुझमें और मेरा सम्पूर्ण प्रेम सर्वथा विदेहनन्दिनी सीतामें ही प्रतिष्ठित है।'

एष पुष्पवहो वायुः सुखस्पर्शो हिमावहः।
तां विचिन्तयतः कान्तां पावकप्रतिमो मम॥
सदा सुखमहं मन्ये यं पुरा सह सीतया।
मारुतः स विना सीतां शोकसंजननो मम॥
तां विनाथ विहङ्गोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा।
वायसः पादपगतः प्रहृष्टमभिकूजति॥
एष वै तत्र वैदेह्या विहगः प्रतिहारकः।
पक्षी मां तु विशालाक्ष्याः समीपमुपनेष्यति॥
पश्य लक्ष्मण संनादं वने मदविवर्धनम्।
पुष्पिताग्रेषु वृक्षेषु द्विजानामवकूजताम्॥

विक्षिप्तां पवनेनैतामसौ तिलकमञ्जरीम्।
षट्पदः सहसाऽभ्येति मदोद्धूतामिव प्रियाम्॥
कामिनामयमत्यन्तमशोकः शोकवर्धनः।
स्तबकैः पवनोत्क्षिप्तैस्तर्जयन्निव मां स्थितः॥
अमी लक्ष्मण दृश्यन्ते चूताः कुसुमशालिनः।
विभ्रमोत्सिक्तमनसः साङ्गरागा नरा इव॥
सौमित्रे पश्य पम्पायाश्चित्रासु वनराजिषु।
किंनरा नरशार्दूल विचरन्ति ततस्ततः॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ५३—६१)

'फूलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली यह शीतल वायु, जिसका स्पर्श बहुत ही सुखद है, प्राणवल्लभा सीताकी याद आनेपर मुझे आगकी भाँति तपाने लगती है। पहले जानकीके साथ रहनेपर जो मुझे सदा सुखद जान पड़ती थी, वही वायु आज सीताके विरहमें मेरे लिये शोकजनक हो गयी है। जब सीता मेरे साथ थी, उन दिनों जो पक्षी कौआ आकाशमें जाकर काँव-काँव करता था, वह उसके भावी वियोगको सूचित करनेवाला था। अब सीताके वियोगकालमें वह कौआ वृक्षपर बैठकर बड़े हर्षके साथ अपनी बोली बोल रहा है (इससे सूचित हो रहा है कि सीताका संयोग शीघ्र ही सुलभ होगा)।

'यही वह पक्षी है, जो आकाशमें स्थित होकर बोलनेपर वैदेहीके अपहरणका सूचक हुआ; किंतु आज यह जैसी बोली बोल रहा है, उससे जान पड़ता है कि यह मुझे विशाललोचना सीताके समीप ले जायगा। लक्ष्मण ! देखो, जिनकी ऊपरी डालियाँ फूलोंसे लदी हैं, वनमें उन वृक्षोंपर कलरव करनेवाले पक्षियोंका यह मधुर शब्द विरहीजनोंके प्रेमोन्मादको बढ़ानेवाला है। वायुके द्वारा हिलायी जाती हुई उस तिलक वृक्षकी मञ्जरीपर भ्रमर सहसा जा बैठा है, मानो कोई प्रेमी काममदसे कम्पित हुई प्रेयसीसे मिल रहा हो। यह अशोक प्रियाविरही कामी पुरुषोंके लिये अत्यन्त शोक बढ़ानेवाला है। यह वायुके झोंकेसे कम्पित हुए पुष्प-गुच्छोंद्वारा मुझे डाँट बताता हुआ-सा खड़ा है। लक्ष्मण ! ये मञ्जरियोंसे सुशोभित होनेवाले आमके वृक्ष शृङ्गार-विलाससे मदमत्तहृदय होकर चन्दन आदि अङ्गराग धारण करनेवाले मनुष्योंके समान दिखायी देते हैं। नरश्रेष्ठ सुमित्राकुमार ! देखो, पम्पाकी विचित्र वनश्रेणियोंमें इधर-उधर किंनर विचर रहे हैं।'

इमानि शुभगन्धीनि पश्य लक्ष्मण सर्वशः।
नलिनानि प्रकाशन्ते जले तरुणसूर्यवत्॥
एषा प्रसन्नसलिला पद्मनीलोत्पलायुता।
हंसकारण्डवाकीर्णा पम्पा सौगन्धिकायुता॥
जले तरुणसूर्याभैः षट्पदाहतकेसरैः।
पङ्कजैः शोभते पम्पा समन्तादभिसंवृता॥
चक्रवाकयुता नित्यं चित्रप्रस्थवनान्तरा।
मातङ्गमृगयूथैश्च शोभते सलिलार्थिभिः॥
पवनाहतवेगाभिरूर्मिभिर्विमलेऽम्भसि।
पङ्कजानि विराजन्ते ताड्यमानानि लक्ष्मण॥
पद्मपत्रविशालाक्षीं सततं प्रियपङ्कजाम्।
अपश्यतो मे वैदेहीं जीवितं नाभिरोचते॥
अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम्।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम्॥
शक्यो धारयितुं कामो भवेदभ्यागतो मया।
यदि भूयो वसन्तो मां न हन्यात् पुष्पितद्रुमः॥
यानि स्म रमणीयानि तया सह भवन्ति मे।
तान्येवारमणीयानि जायन्ते मे तया विना॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ६२—७०)

'लक्ष्मण ! देखो, पम्पाके जलमें सब ओर खिले हुए ये सुगन्धित कमल प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो रहे हैं। पम्पाका जल बड़ा ही स्वच्छ है। इसमें लाल कमल और नील कमल खिले हुए

हैं। हंस और कारण्डव आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं तथा सौगन्धिक कमल इसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। जलमें प्रातःकालके सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले कमलोंके द्वारा सब ओरसे घिरी हुई पम्पा बड़ी शोभा पा रही है। उन कमलोंके केसरोंको भ्रमरोंने चूस लिया है। इसमें चक्रवाक सदा निवास करते हैं। यहाँके वनोंमें विचित्र-विचित्र स्थान हैं तथा पानी पीनेके लिये आये हुए हाथियों और मृगोंके समूहोंसे इस पम्पाकी शोभा और भी बढ़ जाती है। लक्ष्मण! वायुके थपेड़ोंसे जिनमें वेग पैदा होता है, उन लहरोंसे ताड़ित होनेवाले कमल पम्पाके निर्मल जलमें बड़ी शोभा पाते हैं। प्रफुल्ल कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली विदेहराज-कुमारी सीताको कमल सदा ही प्रिय रहे हैं। उसे न देखनेके कारण मुझे जीवित रहना अच्छा नहीं लगता। अहो! काम कितना कुटिल है, जो अन्यत्र गयी हुई एवं परम दुर्लभ होनेपर भी कल्याणमय वचन बोलनेवाली उस कल्याणस्वरूपा सीताका बारंबार स्मरण दिला रहा है। यदि खिले हुए वृक्षोंवाला यह वसन्त मुझपर पुनः प्रहार न करे तो प्राप्त हुई कामवेदनाको मैं किसी तरह मनमें ही रोके रह सकता हूँ। सीताके साथ रहनेपर जो-जो वस्तुएँ मुझे रमणीय प्रतीत होती थीं, वे ही आज उसके बिना असुन्दर जान पड़ती हैं।'

पद्मकोशपलाशानि द्रष्टुं दृष्टिर्हि मन्यते।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण॥
पद्मकेसरसंसृष्टो वृक्षान्तरविनिस्सृतः।
निःश्वास इव सीताया वाति वायुर्मनोहरः॥
सौमित्रे पश्य पम्पाया दक्षिणे गिरिसानुषु।
पुष्पितां कर्णिकारस्य यष्टिं परमशोभिताम्॥
अधिकं शैलराजोऽयं धातुभिस्तु विभूषितः।
विचित्रं सृजते रेणुं वायुवेगविघट्टितम्॥
गिरिप्रस्थास्तु सौमित्रे सर्वतः सम्प्रपुष्पितैः।
निष्पत्रैः सर्वतो रम्यैः प्रदीप्ता इव किंशुकैः॥
पम्पातीररुहाश्चेमे संसिक्ता मधुगन्धिनः।
मालतीमल्लिकापद्मकरवीराश्च पुष्पिताः॥
केतक्यः सिन्दुवाराश्च वासन्त्यश्च सुपुष्पिताः।
माधव्यो गन्धपूर्णाश्च कुन्दगुल्माश्च सर्वशः॥
चिरिबिल्वा मधूकाश्च वञ्जुला बकुलास्तथा।
चम्पकास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः॥
पद्मकाश्चैव शोभन्ते नीलाशोकाश्च पुष्पिताः।
लोध्राश्च गिरिपृष्ठेषु सिंहकेसरपिञ्जराः॥
अङ्कोलाश्च कुरण्टाश्च चूर्णकाः पारिभद्रकाः।
चूताः पाटलयश्चापि कोविदाराश्च पुष्पिताः॥
मुचुकुन्दार्जुनाश्चैव दृश्यन्ते गिरिसानुषु।
केतकोद्दालकाश्चैव शिरीषाः शिंशपा धवाः॥
शाल्मल्यः किंशुकाश्चैव रक्ताः कुरवकास्तथा।
तिनिशा नक्तमालाश्च चन्दनाः स्यन्दनास्तथा॥
हिन्तालास्तिलकाश्चैव नागवृक्षाश्च पुष्पिताः।
पुष्पितान् पुष्पिताग्राभिर्लताभिः परिवेष्टितान्॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ७१—८३)

'लक्ष्मण! ये कमलकोशोंके दल सीताके नेत्रकोशोंके समान हैं। इसलिये मेरी आँखें इन्हें ही देखना चाहती हैं। कमलकेसरोंका स्पर्श करके दूसरे वृक्षोंके बीचसे निकली हुई यह सौरभयुक्त मनोहर वायु सीताके निःश्वासकी भाँति चल रही है। सुमित्रानन्दन! वह देखो, पम्पाके दक्षिण भागमें पर्वत-शिखरोंपर फूली हुई कनेरकी डाल कितनी अधिक शोभा पा रही है। विभिन्न धातुओंसे विभूषित हुआ यह पर्वतराज ऋष्यमूक वायुके वेगसे लायी हुई विचित्र धूलिकी सृष्टि कर रहा है। सुमित्राकुमार! चारों ओर फूले हुए और सब ओरसे रमणीय प्रतीत होनेवाले पत्रहीन पलाश वृक्षोंसे उपलक्षित इस पर्वतके पृष्ठभाग आगमें जलते हुए-से जान पड़ते हैं। पम्पाके तटपर उत्पन्न हुए ये वृक्ष इसीके जलसे अभिषिक्त हो बढ़े हैं और मधुर मकरन्द एवं गन्धसे सम्पन्न हुए हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

मालती, मल्लिका, पद्म और करवीर। ये सब-के-सब फूलोंसे सुशोभित हैं। केतकी (केवड़े), सिन्दुवार तथा वासन्ती लताएँ भी सुन्दर फूलोंसे लदी हुई हैं। गन्धभरी माधवी-लता तथा कुन्द-कुसुमोंकी झाड़ियाँ सब ओर शोभा पा रही हैं। चिरिबिल्व (चिलबिल), महुआ, बेंत, मौलसिरी, चम्पा, तिलक और नागकेसर भी फूले दिखायी देते हैं। पर्वतके पृष्ठभागोंपर पद्मक और फूले हुए नील अशोक भी शोभा पाते हैं। वहीं सिंहके अयालकी भाँति पिङ्गल वर्णवाले लोध्र भी सुशोभित हो रहे हैं। अङ्कोल, कुरंट, चूर्णक (सेमल), पारिभद्रक (नीम या मदार), आम, पाटलि, कोविदार, मुचुकुन्द (नारङ्ग) और अर्जुन नामक वृक्ष भी पर्वत-शिखरोंपर फूलोंसे लदे दिखायी देते हैं। केतक, उद्दालक (लसोड़ा), शिरीष, शीशम, धव, सेमल, पलाश, लाल कुरवक, तिनिश, नक्तमाल, चन्दन, स्यन्दन, हिन्ताल, तिलक तथा नागकेसरके पेड़ भी फूलोंसे लदे दिखायी देते हैं।'

मनोहर और बहुसंख्यक वृक्षोंको तो देखो। ये सब-के-सब यहाँ फूलोंके भारसे लदे हुए हैं। हवाके झोंके खाकर जिनकी डालें हिल रही हैं, वे ये वृक्ष झुककर इतने निकट आ गये हैं कि हाथसे इनकी डालियोंका स्पर्श किया जा सके। सलोनी लताएँ मदमत्त सुन्दरियों-की भाँति इनका अनुसरण करती हैं। एक वृक्षसे दूसरे वृक्षपर, एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर तथा एक वनसे दूसरे वनमें जाती हुई वायु अनेक रसोंके आस्वादनसे आनन्दित-सी होकर बह रही है। कुछ वृक्ष प्रचुर पुष्पोंसे लदे हुए हैं और मधु एवं सुगन्धसे सम्पन्न हैं। कुछ मुकुलोंसे व्याप्त हो श्यामवर्ण-से प्रतीत हो रहे हैं। वह भ्रमर रागसे रँगा हुआ है और 'यह मधुर है, यह स्वादिष्ट है तथा यह अधिक खिला हुआ है' इत्यादि बातें सोचता हुआ फूलोंमें ही लीन हो रहा है। पुष्पोंमें छिपकर वह फिर ऊपरको उड़ जाता है और सहसा अन्यत्र चल देता है। इस प्रकार मधुका लोभी भ्रमर पम्पातीरवर्ती वृक्षोंपर विचर रहा है।"

द्रुमान् पश्येह सौमित्रे पम्पाया रुचिरान् बहून्।
वातविक्षिप्तविटपान् यथाऽऽसन्नान् द्रुमानिमान्॥
लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः।
पादपात् पादपं गच्छञ्शैलाच्छैलं वनाद् वनम्॥
वाति नैकरसास्वादसम्मोदित इवानिलः।
केचित् पर्याप्तकुसुमाः पादपा मधुगन्धिनः॥
केचिन्मुकुलसंवीताः श्यामवर्णा इवाबभुः।
इदं मृष्टमिदं स्वादु प्रफुल्लमिदमित्यपि।
रागरक्तो मधुकरः कुसुमेष्वेव लीयते॥
निलीय पुनरुत्पत्य सहसान्यत्र गच्छति।
मधुलुब्धो मधुकरः पम्पातीरद्रुमेष्वसौ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ८४—८८)

"सुमित्रानन्दन! जिनके अग्रभाग फूलोंसे लदे हुए हैं, उन लता-वल्लरियोंसे लिपटे हुए पम्पाके इन

इयं कुसुमसंघातैरुपस्तीर्णा सुखाकृता।
स्वयं निपतितैर्भूमिः शयनप्रस्तरैरिव॥
विविधा विविधैः पुष्पैस्तैरेव नयसानुषु।
विस्तीर्णाः पीतरक्ताभाः सौमित्रे प्रस्तराः कृताः॥
हिमान्ते पश्य सौमित्रे वृक्षाणां पुष्पसम्भवम्।
पुष्पमासे हि तरवः संघर्षादिव पुष्पिताः॥
आह्वयन्त इवान्योन्यं नगाः षट्पदनादिताः।
कुसुमोत्तंसविटपाः शोभन्ते बहु लक्ष्मण॥
एष कारण्डवः पक्षी विगाह्य सलिलं शुभम्।
रमते कान्तया सार्धं काममुद्दीपयन्निव॥
मन्दाकिन्यास्तु यदिदं रूपमेतन्मनोरमम्।
स्थाने जगति विख्याता गुणास्तस्या मनोरमाः॥
यदि दृश्येत सा साध्वी यदि चेह वसेमहि।
स्पृहयेयं न शक्राय नायोध्यायै रघूत्तम॥

न ह्येवं रमणीयेषु शाद्वलेषु तया सह।
रमतो मे भवेच्चिन्ता न स्पृहान्येषु वा भवेत्॥
अमी हि विविधैः पुष्पैस्तरवो विविधच्छदाः।
काननेऽस्मिन् विना कान्तां चिन्तामुत्पादयन्ति मे॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ८९—९७)

'स्वयं झड़कर गिरे हुए पुष्पसमूहोंसे आच्छादित हुई यह भूमि ऐसी सुखदायिनी हो गयी है, मानो इसपर शयन करनेके लिये मुलायम बिछौने बिछा दिये गये हों। सुमित्रानन्दन! पर्वतके शिखरोंपर जो नाना प्रकारकी विशाल शिलाएँ हैं, उनपर झड़े हुए भाँति-भाँतिके फूलोंने उन्हें लाल-पीले रंगकी शय्याओंके समान बना दिया है। सुमित्राकुमार! वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके फूलोंका यह वैभव तो देखो। इस चैत्र मासमें ये वृक्ष मानो परस्पर होड़ लगाकर फूले हुए हैं। लक्ष्मण! वृक्ष अपनी ऊपरी डालियोंपर फूलोंका मुकुट धारण करके बड़ी शोभा पा रहे हैं तथा वे भ्रमरोंके गुञ्जारवसे इस तरह कोलाहलपूर्ण हो रहे हैं, मानो एक दूसरेका आह्वान कर रहे हों। यह कारण्डव पक्षी पम्पाके स्वच्छ जलमें प्रवेश करके अपनी प्रियतमाके साथ क्रीडा करता हुआ भावका उद्दीपन-सा कर रहा है। मन्दाकिनीके समान प्रतीत होनेवाली इस पम्पाका जब ऐसा मनोरम रूप है, तब संसारमें उसके जो मनोरम गुण विख्यात हैं, वे उचित ही हैं। रघुश्रेष्ठ लक्ष्मण! यदि साध्वी सीता दीख जाय और यदि उसके साथ हम यहाँ निवास करने लगें तो हमें न इन्द्रलोकमें जानेकी इच्छा होगी और न अयोध्यामें लौटनेकी ही। हरी-हरी घासोंसे सुशोभित ऐसे रमणीय प्रदेशोंमें सीताके साथ सानन्द विचरनेका अवसर मिले तो मुझे (अयोध्याका राज्य न मिलनेके कारण) कोई चिन्ता नहीं होगी और न दूसरे ही दिव्य भोगोंकी अभिलाषा हो सकेगी। इस वनमें भाँति-भाँतिके पल्लवोंसे सुशोभित और नाना प्रकारके फूलोंसे उपलक्षित ये वृक्ष प्राणवल्लभा सीताके बिना मेरे मनमें चिन्ता उत्पन्न कर देते हैं।'

पश्य शीतजलां चेमां सौमित्रे पुष्करायुताम्।
चक्रवाकानुचरितां कारण्डवनिषेविताम्॥
प्लवैः क्रौञ्चैश्च सम्पूर्णां महामृगनिषेविताम्।
अधिकं शोभते पम्पा विकूजद्भिर्विहंगमैः॥
दीपयन्तीव मे कामं विविधा मुदिता द्विजाः।
श्यामां चन्द्रमुखीं स्मृत्वा प्रियां पद्मनिभेक्षणाम्॥
पश्य सानुषु चित्रेषु मृगीभिः सहितान् मृगान्।
मां पुनर्मृगशावाक्ष्या वैदेह्या विरहीकृतम्।
व्यथयन्तीव मे चित्तं संचरन्तस्ततस्ततः॥
अस्मिन् सानुनि रम्ये हि मत्तद्विजगणाकुले।
पश्येयं यदि तां कान्तां ततः स्वस्ति भवेन्मम॥
जीवेयं खलु सौमित्रे मया सह सुमध्यमा।
सेवेत यदि वैदेही पम्पायाः पवनं शुभम्॥
पद्मसौगन्धिकवहं शिवं शोकविनाशनम्।
धन्या लक्ष्मण सेवन्ते पम्पाया वनमारुतम्॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १। ९८—१०४)

'सुमित्राकुमार! देखो, इस पम्पाका जल कितना शीतल है! इसमें असंख्य कमल खिले हुए हैं, चकवे विचरते हैं और कारण्डव निवास करते हैं। इतना ही नहीं, जलकुक्कुट तथा क्रौञ्च भरे हुए हैं एवं बड़े-बड़े मृग इसका सेवन करते हैं। चहकते हुए पक्षियोंसे इस पम्पाकी बड़ी शोभा हो रही है। आनन्दमें निमग्न हुए ये नाना प्रकारके पक्षी मेरे सीताविषयक अनुरागको उद्दीप्त कर देते हैं; क्योंकि इनकी बोली सुनकर मुझे नूतन अवस्थावाली कमलनयनी चन्द्रमुखी प्रियतमा सीताका स्मरण हो आता है। लक्ष्मण! देखो, पर्वतके विचित्र शिखरोंपर ये हरिण अपनी हरिणियोंके साथ विचर रहे हैं और मैं मृगनयनी सीतासे बिछुड़ गया हूँ। इधर-उधर विचरते हुए वे मृग मेरे चित्तको व्यथित किये देते हैं। मतवाले पक्षियोंसे भरे हुए इस पर्वतके रमणीय शिखरपर यदि प्राणवल्लभा सीताका दर्शन पा सकूँ तभी मेरा कल्याण होगा। सुमित्रानन्दन! यदि

सुमध्यमा सीता मेरे साथ रहकर इस पम्पासरोवरके तटपर सुखद समीरका सेवन कर सके तो मैं निश्चय ही जीवित रह सकता हूँ। लक्ष्मण! जो लोग अपनी प्रियतमाके साथ रहकर पद्म और सौगन्धिक कमलोंकी सुगन्ध लेकर बहनेवाली शीतल, मन्द एवं शोकनाशन पम्पावनकी वायुका सेवन करते हैं, वे धन्य हैं।'

वर्षा-वर्णन

इस प्रकार वालीका वध और सुग्रीवका राज्याभिषेक करनेके अनन्तर माल्यवान् पर्वतके पृष्ठभागमें निवास करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहने लगे—

अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोऽद्य जलागमः।
सम्पश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः॥
नवमासधृतं गर्भं भास्करस्य गभस्तिभिः।
पीत्वा रसं समुद्राणां द्यौः प्रसूते रसायनम्॥
शक्यमम्बरमारुह्य मेघसोपानपङ्क्तिभिः।
कुटजार्जुनमालाभिरलंकर्तुं दिवाकरः॥
संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः।
स्निग्धैरभ्रपटच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम्॥
मन्दमारुतनिःश्वासं संध्याचन्दनरञ्जितम्।
आपाण्डुजलदं भाति कामातुरमिवाम्बरम्॥
एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुञ्चति॥
मेघोदरविनिर्मुक्ताः कर्पूरदलशीतलाः।
शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८। २—८)

'सुमित्रानन्दन! अब यह जलकी प्राप्ति करानेवाला वह प्रसिद्ध वर्षाकाल आ गया। देखो, पर्वतके समान प्रतीत होनेवाले मेघोंसे आकाशमण्डल आच्छन्न हो गया है। यह आकाशस्वरूपा तरुणी सूर्यकी किरणोंद्वारा समुद्रोंका रस पीकर कार्तिक आदि नौ मासोंतक धारण किये हुए गर्भके रूपमें जलरूपी रसायनको जन्म दे रही है। इस समय मेघरूपी सोपानपंक्तियों (सीढ़ियों) द्वारा आकाशमें चढ़कर गिरिमल्लिका और अर्जुनपुष्पकी मालाओंसे सूर्यदेवको अलंकृत करना सरल-सा हो गया है। संध्याकालकी लाली प्रकट होनेसे बीचमें लाल तथा किनारेके भागोंमें श्वेत एवं स्निग्ध प्रतीत होनेवाले मेघखण्डोंसे आच्छादित हुआ आकाश ऐसा जान पड़ता है, मानो उसने अपने घावमें रक्तरञ्जित सफेद कपड़ोंकी पट्टी बाँध रक्खी हो। मन्द-मन्द हवा निःश्वास-सी प्रतीत होती है, संध्याकालकी लाली लाल चन्दन बनकर ललाट आदि अङ्गोंको अनुरञ्जित कर रही है तथा मेघरूपी कपोल कुछ-कुछ पाण्डुवर्णके प्रतीत होते हैं। इस तरह यह आकाश कामातुर पुरुषके समान जान पड़ता है। जो ग्रीष्म-ऋतुमें घामसे तप गयी थी, वह पृथ्वी वर्षाकालमें नूतन जलसे भीगकर (सूर्य-किरणोंसे तपी और आँसुओंसे भीगी हुई) शोकसंतप्त सीताकी भाँति बाष्पविमोचन (उष्णताका त्याग अथवा अश्रुपात) कर रही है। मेघके उदरसे निकली, कपूरकी डलीके समान ठंडी तथा केवड़ेकी सुगन्धसे भरी हुई इस बरसाती वायुको मानो अञ्जलियोंमें भरकर पीया जा सकता है।'

एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकैरभिवासितः।
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥
मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः॥
कशाभिरिव हैमीभिर्विद्युद्भिरभिताडितम्।
अन्तःस्तनितनिर्घोषं सवेदनमिवाम्बरम्॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्याङ्के वैदेहीव तपस्विनी॥
इमास्ता मन्मथवतां हिताः प्रतिहता दिशः।

१. 'शक्यो ह्यम्बरमासाद्य' इति पाठो युक्तः। २. 'शक्या अञ्जलिभिः' इति स्वच्छः पाठः।

अनुलिप्ता इव घनैर्नष्टग्रहनिशाकराः ॥
क्वचिद् बाष्पाभिसंरुद्धान् वर्षागमसमुत्सुकान् ।
कुटजान् पश्य सौमित्रे पुष्पितान् गिरिसानुषु ।
मम शोकाभिभूतस्य कामसंदीपनान् स्थितान् ॥
रजः प्रशान्तं सहिमोऽद्य वायु-
निदाघदोषप्रसराः प्रशान्ताः ।
स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानां
प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान् ॥
सम्प्रस्थिता मानसवासलुब्धाः
प्रियान्विताः सम्प्रति चक्रवाकाः ।
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८ । ९—१५½)

'यह पर्वत, जिसपर अर्जुनके वृक्ष फूले हुए हैं तथा जो केवड़ोंसे सुवासित हो रहा है, शत्रुओंके भयसे मुक्त सुग्रीवकी भाँति जलकी धाराओंसे अभिषिक्त हो रहा है। मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षाकी धारारूप यज्ञोपवीत धारण किये एवं वायुसे पूरित गुफा-(या हृदय-) वाले ये पर्वत ब्रह्मचारियोंकी भाँति मानो वेदाध्ययन आरम्भ कर रहे हैं। ये बिजलियाँ सोनेके बने हुए कोड़ोंके समान जान पड़ती हैं। इनकी मार खाकर मानो व्यथित हुआ आकाश अपने भीतर व्यक्त हुई मेघोंकी गम्भीर गर्जनाके रूपमें आर्तनाद-सा कर रहा है। नील मेघका आश्रय लेकर प्रकाशित होती हुई यह विद्युत् मुझे रावणके यहाँ छटपटाती हुई तपस्विनी सीताके समान प्रतीत होती है। बादलोंका लेप लग जानेसे जिनमें ग्रह, नक्षत्र और चन्द्रमा अदृश्य हो गये हैं, अतएव जो नष्ट-सी हो गयी हैं—जिनके पूर्व, पश्चिम आदि भेदोंका विवेक लुप्त-सा हो गया है, वे दिशाएँ, उन कामियोंको, जिन्हें प्रेयसीका संयोगसुख सुलभ है, हितकर प्रतीत होती हैं। सुमित्रानन्दन ! देखो, इस पर्वतके शिखरोंपर फूले हुए कुटज कैसी शोभा पाते हैं ! कहीं तो पहली बार वर्षा होनेपर भूमिसे निकली हुई भापसे ये व्याप्त हो रहे हैं और कहीं वर्षाके आगमनसे अत्यन्त उत्सुक (हर्षोत्फुल्ल) दिखायी देते हैं। मैं तो प्रिया-विरहके शोकसे पीड़ित हूँ और ये कुटजपुष्प मेरी प्रेमाग्निको उद्दीप्त कर रहे हैं। धरतीकी धूल शान्त हो गयी। अब वायुमें शीतलता आ गयी। गर्मीके दोषोंका प्रसार बंद हो गया। भूपालोंकी युद्ध-यात्रा रुक गयी और परदेशी मनुष्य अपने-अपने देशको लौट रहे हैं। मानसरोवरमें निवासके लोभी हंस वहाँके लिये प्रस्थित हो गये। इस समय चकवे अपनी प्रियाओंसे मिल रहे हैं।'

अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु
यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति ॥
क्वचित् प्रकाशं क्वचिदप्रकाशं
नभः प्रकीर्णाम्बुधरं विभाति ।
क्वचित्क्वचित् पर्वतसंनिरुद्धं
रूपं यथा शान्तमहार्णवस्य ॥
व्यामिश्रितं सर्जकदम्बपुष्पै-
र्नवं जलं पर्वतधातुताम्रम् ।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति ॥
रसाकुलं षट्पदसंनिकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम् ।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम् ॥
विद्युत्पताकाः सबलाकमालाः
शैलेन्द्रकूटाकृतिसंनिकाशाः ।
गर्जन्ति मेघाः समुदीर्णनादा
मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्थाः ॥
वर्षोदकाप्यायितशाद्वलानि
प्रवृत्तनृत्तोत्सवबर्हिणानि ।
वनानि निर्वृष्टबलाहकानि
पश्यापराह्णेष्वधिकं विभान्ति ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८ । १६–२१)

'निरन्तर होनेवाली वर्षाके जलसे मार्ग टूट-फूट गये

हैं, इसलिये उनपर रथ आदि नहीं चल रहे हैं। आकाशमें सब ओर बादल छिटके हुए हैं। कहीं तो उन बादलोंसे ढक जानेके कारण आकाश दिखायी नहीं देता और कहीं उनके फट जानेपर वह स्पष्ट दिखायी देने लगता है—ठीक उसी तरह, जैसे जिसकी तरङ्गमालाएँ शान्त हो गयी हों, उस महासागरका रूप कहीं तो पर्वतमालाओंसे छिप जानेके कारण नहीं दिखायी देता और कहीं पर्वतोंका आवरण न होनेसे दिखायी देता है। इस समय पहाड़ी नदियाँ वर्षाके नूतन जलको बड़े वेगसे बहा रही हैं। वह जल सर्ज और कदम्बके फूलोंसे मिश्रित है, पर्वतके गेरु आदि धातुओंसे लाल रंगका हो गया है तथा मयूरोंकी केकाध्वनि उस जलके कलकल नादका अनुसरण कर रही है। काले-काले भौंरोंके समान प्रतीत होनेवाले जामुनके सरस फल आजकल लोग जी भरकर खाते हैं और हवाके वेगसे हिले हुए आमके पके हुए बहुरंगी फल पृथ्वीपर गिरते रहते हैं। जैसे युद्धस्थलमें खड़े हुए मतवाले गजराज उच्चस्वरसे चिग्घाड़ते हैं, उसी प्रकार गिरिराजके शिखरोंकी-सी आकृतिवाले मेघ जोर-जोरसे गर्जना कर रहे हैं। चमकती हुई बिजलियाँ इन मेघरूपी गजराजोंपर पताकाओंके समान फहरा रही हैं और बगुलोंकी पंक्तियाँ मालाके समान शोभा देती हैं। देखो, अपराह्णकालमें इन वनोंकी शोभा अधिक बढ़ जाती है।'

समुद्वहन्तः सलिलातिभारं
बलाकिनो वारिधरा नदन्तः।
महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां
विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति॥
मेघाभिकामा परिसम्पतन्ती
सम्मोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वातावधूता वरपौण्डरीकी
लम्बेव माला रुचिराम्बरस्य॥

बालेन्द्रगोपान्तरचित्रितेन
विभाति भूमिर्नवशाद्वलेन।
गात्रानुपृक्तेन शुकप्रभेण
नारीव लाक्षोक्षितकम्बलेन॥
निद्रा शनैः केशवमभ्युपैति
द्रुतं नदी सागरमभ्युपैति।
हृष्टा बलाका घनमभ्युपैति
कान्ता सकामा प्रियमभ्युपैति॥
जाता वनान्ताः शिखिसुप्रनृत्ता
जाताः कदम्बाः सकदम्बशाखाः।
जाता वृषा गोषु समानकामा
जाता मही सस्यवनाभिरामा॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० २८। २२—२६)

'वर्षाके जलसे इनमें हरी-हरी घासें बढ़ गयी हैं। झुंड-के-झुंड मोरोंने अपना नृत्योत्सव आरम्भ कर दिया है और मेघोंने इनमें निरन्तर जल बरसाया है। बक-पंक्तियोंसे सुशोभित ये जलधर मेघ जलका अधिक भार ढोते और गर्जते हुए बड़े-बड़े पर्वतशिखरोंपर मानो विश्राम ले-लेकर आगे बढ़ते हैं। गर्भ-धारणके लिये मेघोंकी कामना रखकर आकाशमें उड़ती हुई आनन्दमग्न बलाकाओंकी पंक्ति ऐसी जान पड़ती है, मानो आकाशके गलेमें हवासे हिलती हुई श्वेत कमलोंकी सुन्दर माला लटक रही हो। छोटे-छोटे इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक कीड़ोंसे बीच-बीचमें चित्रित हुई नूतन घाससे आच्छादित भूमि उस नारीके समान शोभा पाती है, जिसने अपने अङ्गोंपर तोतेके समान रंगवाला एक ऐसा कम्बल ओढ़ रक्खा हो, जिसको बीच-बीचमें महावरके रंगसे रँगकर विचित्र शोभासे सम्पन्न कर दिया गया हो। चौमासेके इस आरम्भकालमें निद्रा धीरे-धीरे भगवान् केशवके समीप जा रही है। नदी तीव्र वेगसे समुद्रके निकट पहुँच रही है। हर्षभरी बलाका उड़कर मेघकी ओर जा रही है और प्रियतमा सकामभावसे अपने प्रियतमकी

सेवामें उपस्थित हो रही है। वनप्रान्त मोरोंके सुन्दर नृत्यसे सुशोभित हो गये हैं। कदम्बवृक्ष फूलों और शाखाओंसे सम्पन्न हो गये हैं। साँड़ गौओंके प्रति उन्हींके समान मिलनके भावसे युक्त हैं और पृथ्वी हरी-हरी खेती तथा हरे-भरे वनोंसे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होने लगी है।'

वहन्ति वर्षन्ति नदन्ति भान्ति
ध्यायन्ति नृत्यन्ति समाश्वसन्ति।
नद्यो घना मत्तगजा वनान्ताः
प्रियाविहीनाः शिखिनः प्लवंगमाः॥
प्रहर्षिताः केतकिपुष्पगन्ध-
माघ्राय मत्ता वननिर्झरेषु।
प्रपातशब्दाकुलिता गजेन्द्राः
सार्धं मयूरैः समदा नदन्ति॥
धारानिपातैरभिहन्यमानाः
कदम्बशाखासु विलम्बमानाः।
क्षणार्जितं पुष्परसावगाढं
शनैर्मदं षट्चरणास्त्यजन्ति॥
अङ्गारचूर्णोत्करसंनिकाशैः
फलैः सुपर्याप्तरसैः समृद्धैः।
जम्बूद्रुमाणां प्रविभान्ति शाखा
निपीयमाना इव षट्पदौघैः॥
तडित्पताकाभिरलंकृताना-
मुदीर्णगम्भीरमहारवाणाम्।
विभान्ति रूपाणि बलाहकानां
रणोत्सुकानामिव वारणानाम्॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८। २७–३१)

'नदियाँ बह रही हैं, बादल पानी बरसा रहे हैं, मतवाले हाथी चिग्घाड़ रहे हैं, वनप्रान्त शोभा पा रहे हैं, प्रियतमाके संयोगसे वञ्चित हुए वियोगी प्राणी चिन्तामग्न हो रहे हैं, मोर नाच रहे हैं और वानर निश्चिन्त एवं सुखी हो रहे हैं। वनके झरनोंके समीप क्रीडासे उल्लसित हुए मदवर्षी गजराज केवड़ेके फूलकी सुगन्धको सूँघकर मतवाले हो उठे हैं और झरनेके जलके गिरनेसे जो शब्द होता है, उससे आकुल हो ये मोरोंके बोलनेके साथ-साथ स्वयं भी गर्जना करते रहे हैं। जलकी धारा गिरनेसे आहत होने और कदम्बकी डालियोंपर लटकते हुए भ्रमर तत्काल ग्रहण किये पुष्परससे उत्पन्न गाढ़ मदको धीरे-धीरे त्याग रहे हैं। कोयलोंकी चूर्णराशिके समान काले और प्रचुर रससे भरे हुए बड़े-बड़े फलोंसे लदी हुई जामुन-वृक्षकी शाखाएँ ऐसी जान पड़ती हैं, मानो भ्रमरोंके समुदाय उनमें सटकर उनका रस पी रहे हैं। विद्युत्-रूपी पताकाओंसे अलंकृत एवं जोर-जोरसे गम्भीर गर्जना करनेवाले इन बादलोंके रूप युद्धके लिये उत्सुक हुए गजराजोंके समान प्रतीत होते हैं।'

मार्गानुगः शैलवनानुसारी
सम्प्रस्थितो मेघरवं निशम्य।
युद्धाभिकामः प्रतिनादशङ्की
मत्तो गजेन्द्रः प्रतिसंनिवृत्तः॥
क्वचित् प्रगीता इव षट्पदौघैः
क्वचित् प्रनृत्ता इव नीलकण्ठैः।
क्वचित् प्रमत्ता इव वारणेन्द्रै-
र्विभान्त्यनेकाश्रयिणो वनान्ताः॥
कदम्बसर्जार्जुनकन्दलाढ्या
वनान्तभूमिर्मधुवारिपूर्णा।
मयूरमत्ताभिरुतप्रनृत्तै-
रापानभूमिप्रतिमा विभाति॥
मुक्तासमाभं सलिलं पतद् वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।
हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति॥
षट्पादतन्त्रीमधुराभिधानं
प्लवंगमोदीरितकण्ठतालम्।

आविष्कृतं मेघमृदङ्गनादै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८ । ३२—३६)

'पर्वतीय वनोंमें विचरण करनेवाला तथा अपने प्रतिद्वन्द्वीके साथ युद्धकी इच्छा रखनेवाला मदमत्त गजराज, जो अपने मार्गका अनुसरण करके आगे बढ़ा जा रहा था, पीछेसे मेघकी गर्जना सुनकर प्रतिपक्षी हाथीके गर्जनेकी आशङ्कासे सहसा पीछेको लौट पड़ा। कहीं भ्रमरोंके समूह गीत गा रहे हैं, कहीं मोर नाच रहे हैं और कहीं गजराज मदमत्त होकर विचर रहे हैं। इस प्रकार ये वनप्रान्त अनेक भावोंके आश्रय बनकर शोभा पा रहे हैं। कदम्ब, सर्ज, अर्जुन और स्थल-कमलसे सम्पन्न वनके भीतरकी भूमि मधु-जलसे परिपूर्ण हो मोरोंके मदयुक्त कलरवों और नृत्योंसे उपलक्षित होकर आपानभूमि (मधुशाला) के समान प्रतीत होती है। आकाशसे गिरता हुआ मोतीके समान स्वच्छ एवं निर्मल जल पत्तोंके दोनोंमें संचित हुआ देख प्यासे पक्षी पपीहे हर्षसे भरकर देवराज इन्द्रके दिये हुए उस जलको पीते हैं। वर्षासे भीग जानेके कारण [इ]नकी पाँखें विविध रंगकी दिखायी देती हैं। [भ्र]मररूप वीणाकी मधुर झंकार हो रही है। [मे]ढकोंकी आवाज कण्ठताल-सी जान पड़ती है। मेघोंकी [ग]र्जनाके रूपमें मृदङ्ग बज रहे हैं। इस प्रकार वनोंमें गीतोत्सवका आरम्भ-सा हो रहा है।'

क्वचित् प्रनृत्तैः क्वचिदुन्नदद्भिः
क्वचिच्च वृक्षाग्रनिषण्णकायैः ।
व्यालम्बबर्हाभरणैर्मयूरै-
र्वनेषु संगीतमिव प्रवृत्तम् ॥
स्वनैर्घनानां प्लवगाः प्रबुद्धा
विहाय निद्रां चिरसंनिरुद्धाम् ।
अनेकरूपाकृतिवर्णनादा
नवाम्बुधाराभिहता नदन्ति ॥
नद्यः समुद्वाहितचक्रवाका-
स्तटानि शीर्णान्यपवाहयित्वा ।
दृप्ता नवप्रावृतपूर्णभोगा
द्रुतं स्वभर्तारमुपोपयान्ति ॥
नीलेषु नीला नववारिपूर्णा
मेघेषु मेघाः प्रतिभान्ति सक्ताः ।
दवाग्निदग्धेषु दवाग्निदग्धाः
शैलेषु शैला इव बद्धमूलाः ॥
प्रमत्तसंनादितबर्हिणानि
सशक्रगोपाकुलशाद्वलानि ।
चरन्ति नीपार्जुनवासितानि
गजाः सुरम्याणि वनान्तराणि ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८ । ३७—४१)

'विशाल पंखरूपी आभूषणोंसे विभूषित मोर वनोंमें कहीं नाच रहे हैं, जोर-जोरसे मीठी बोली बोल रहे हैं और कहीं वृक्षोंकी शाखाओंपर अपने सारे शरीरका बोझ डालकर बैठे हुए हैं। इस प्रकार उन्होंने संगीत (नाच-गान) का आयोजन-सा कर रक्खा है। मेघोंकी गर्जना सुनकर चिरकालसे रोकी हुई निद्राको त्यागकर जागे हुए अनेक प्रकारके रूप, आकार, वर्ण और बोलीवाले मेढक नूतन जलकी धारासे अभिहत होकर जोर-जोरसे बोल रहे हैं। दर्पभरी नदियाँ अपने वक्षपर चक्रवाकोंको वहन करती हैं और मर्यादामें रखनेवाले जीर्ण-शीर्ण कूल-कगारोंको तोड़-फोड़ एवं दूर बहाकर नूतन पुष्प आदिके उपहारसे पूर्णभोगके लिये सादर स्वीकृत अपने स्वामी समुद्रके समीप वेगपूर्वक चली जा रही हैं। नीले मेघोंमें सटे हुए नूतन जलसे परिपूर्ण नील मेघ ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो दावानलसे जले हुए पर्वतोंमें दावानलसे दग्ध हुए दूसरे पर्वत बद्धमूल होकर सट गये हों। जहाँ मतवाले मोर कलनाद कर रहे हैं, जहाँकी हरी-हरी घासें वीरबहूटियोंके समुदायसे व्याप्त हो रही हैं तथा जो नीप और

अर्जुन वृक्षोंके फूलोंकी सुगन्धसे सुवासित हैं, उन परम रमणीय वनप्रान्तोंमें बहुत-से हाथी विचर रहे हैं।'

नवाम्बुधाराहतकेसराणि
द्रुतं परित्यज्य सरोरुहाणि।
कदम्बपुष्पाणि सकेसराणि
नवानि हृष्टा भ्रमराः पिबन्ति॥
मत्ता गजेन्द्रा मुदिता गवेन्द्रा
वनेषु विक्रान्ततरा मृगेन्द्राः।
रम्या नगेन्द्रा निभृता नरेन्द्राः
प्रक्रीडितो वारिधरैः सुरेन्द्रः॥
मेघाः समुद्भूतसमुद्रनादा
महाजलौघैर्गगनावलम्बाः।
नदीस्तटाकानि सरांसि वापी-
र्महीं च कृत्स्नामपवाहयन्ति॥
वर्षप्रवेगा विपुलाः पतन्ति
प्रवान्ति वाताः समुदीर्णवेगाः।
प्रणष्टकूलाः प्रवहन्ति शीघ्रं
नद्यो जलं विप्रतिपन्नमार्गाः॥
नरैर्नरेन्द्रा इव पर्वतेन्द्राः
सुरेन्द्रदत्तैः पवनोपनीतैः।
घनाम्बुकुम्भैरभिषिच्यमाना
रूपं श्रियं स्वामिव दर्शयन्ति॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८। ४२—४६)

'भ्रमरोंके समुदाय नूतन जलकी धारासे नष्ट हुए केसरवाले कमल-पुष्पोंको तुरंत त्यागकर केसरशोभित नवीन कदम्ब-पुष्पोंका रस बड़े हर्षके साथ पी रहे हैं। गजेन्द्र (हाथी) मतवाले हो रहे हैं, गवेन्द्र (वृषभ) आनन्दमें मग्न हैं, मृगेन्द्र (सिंह) वनोंमें अत्यन्त पराक्रम प्रकट कर रहे हैं, नगेन्द्र (बड़े-बड़े पर्वत) रमणीय दिखायी देते हैं, नरेन्द्र (राजालोग) मौन हैं—युद्धविषयक उत्साह छोड़ बैठे हैं और सुरेन्द्र (इन्द्रदेव) जलधरोंके साथ क्रीडा कर रहे हैं। आकाशमें लटके हुए ये मेघ अपनी गर्जनासे समुद्रके कोलाहलको तिरस्कृत करके अपने जलके महान् प्रवाहसे नदियों, तालावों, सरोवरों, बावलियों तथा समूची पृथ्वीको आप्लावित कर रहे हैं। बड़े वेगसे वर्षा हो रही है, जोरोंकी हवा चल रही है और नदियाँ अपने कगारोंको काटकर अत्यन्त तीव्र गतिसे जल बहा रही हैं। उन्होंने मार्ग रोक दिये हैं। जैसे मनुष्य जलके कलशोंसे नरेशोंका अभिषेक करते हैं, उसी प्रकार इन्द्रके दिये और वायुदेवके द्वारा लाये गये मेघरूपी जल-कलशोंसे जिनका अभिषेक हो रहा है, वे पर्वत-राज अपने निर्मल रूप तथा शोभा-सम्पत्तिका दर्शन-सा करा रहे हैं।'

घनोपगूढं गगनं न तारा
न भास्करो दर्शनमभ्युपैति।
नवैर्जलौघैर्धरणी वितृप्ता
तमोविलिप्ता न दिशः प्रकाशाः॥
महान्ति कूटानि महीधराणां
धाराविधौतान्यधिकं विभान्ति।
महाप्रमाणैर्विपुलैः प्रपातै-
र्मुक्ताकलापैरिव लम्बमानैः॥
शैलोपलप्रस्खलमानवेगाः
शैलोत्तमानां विपुलाः प्रपाताः।
गुहासु संनादितबर्हिणासु
हारा विकीर्यन्त इवावभान्ति॥
शीघ्रप्रवेगा विपुलाः प्रपाता
निर्धौतशृङ्गोपतला गिरीणाम्।
मुक्ताकलापप्रतिमाः पतन्तो
महागुहोत्सङ्गतलैर्ध्रियन्ते॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८। ४७—५०)

'मेघोंकी घटासे समस्त आकाश आच्छादित हो गया है। न रातमें तारे दिखायी देते हैं न दिनमें सूर्य। नूतन जलराशि पाकर पृथ्वी पूर्ण तृप्त

हो गयी है। दिशाएँ अन्धकारसे आच्छन्न हो रही हैं, अतएव प्रकाशित नहीं होती—उनका स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता। जलकी धाराओंसे धुले हुए पर्वतोंके विशाल शिखर मोतियोंके लटकते हुए हारोंकी भाँति एवं बहुसंख्यक झरनोंके कारण अधिक शोभा पा रहे हैं। पर्वतीय प्रस्तरखण्डोंपर गिरनेसे जिनका वेग टूट गया है, वे श्रेष्ठ पर्वतोंके बहुतेरे झरने मयूरोंकी बोलीसे गूँजती हुई गुफाओंमें टूटकर बिखरते हुए मोतियोंके हारोंके समान प्रतीत होते हैं। जिनका वेग शीघ्रगामी है, जिनकी संख्या अधिक है, जिन्होंने पर्वतीय शिखरोंके निम्न प्रदेशोंको धोकर स्वच्छ बना दिया है तथा जो देखनेमें मुक्तामालाओंके समान प्रतीत होते हैं, पर्वतोंके उन झरते हुए झरनोंको बड़ी-बड़ी गुफाएँ अपनी गोदमें धारण कर लेती हैं।'

विलीयमानैर्विहगैर्निमीलद्भिश्च पङ्कजैः।
विकसन्त्या च मालत्या गतोऽस्तं ज्ञायते रविः॥
वृत्ता यात्रा नरेन्द्राणां सेना पथ्येव वर्तते।
वैराणि चैव मार्गाश्च सलिलेन समीकृताः॥
मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम्।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः॥
निवृत्तकर्मायतनो नूनं संचितसंचयः।
आषाढीमभ्युपगतो भरतः कोसलाधिपः॥
नूनमापूर्यमाणायाः सरय्वा वर्धते रयः।
मां समीक्ष्य समायान्तमयोध्याया इव स्वनः॥
इमाः स्फीतगुणा वर्षाः सुग्रीवः सुखमश्नुते।
विजितारिः सदारश्च राज्ये महति च स्थितः॥
अहं तु हृतदारश्च राज्याच्च महतश्च्युतः।
नदीकूलमिव क्लिन्नमवसीदामि लक्ष्मण॥
शोकश्च मम विस्तीर्णो वर्षाश्च भृशदुर्गमाः।
रावणश्च महाञ्छत्रुरपारः प्रतिभाति मे॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० २८। ५२—५९)

'पक्षी अपने घोंसलोंमें छिप रहे हैं, कमल संकुचित हो रहे हैं और मालती खिलने लगी है; इ[illegible] जान पड़ता है कि सूर्यदेव अस्त हो गये। राजाओं[illegible] युद्ध-यात्रा रुक गयी। प्रस्थित हुई सेना भी रास्तेमें पड़ाव डाले पड़ी है। वर्षाके जलने राजाओंके [illegible] शान्त कर दिये हैं और मार्ग भी रोक दिये हैं। [illegible] प्रकार वैर और मार्ग दोनोंकी एक-सी अवस्था कर [illegible] है। भादोंका महीना आ गया। यह वेदोंके स्वाध्या[illegible] की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंके लिये उपाकर्मका स[illegible] उपस्थित हुआ है। सामगान करनेवाले विद्वानो[illegible] स्वाध्यायका भी यही समय है। कोसलदेशके रा[illegible] भरतने चार महीनेके लिये आवश्यक वस्तुओंका सं[illegible] करके गत आषाढकी पूर्णिमाको निश्चय ही कि[illegible] उत्तम व्रतकी दीक्षा ली होगी। मुझे वनकी ओर आ[illegible] देख जिस प्रकार अयोध्यापुरीके लोगोंका आर्तना[illegible] बढ़ गया था, उसी प्रकार इस समय वर्षाके जल[illegible] परिपूर्ण होती हुई सरयू नदीका वेग अवश्य ही ब[illegible] रहा होगा। यह वर्षा अनेक गुणोंसे सम्पन्न है[illegible] इस समय सुग्रीव अपने शत्रुको परास्त करके विशा[illegible] वानर-राज्यपर प्रतिष्ठित हैं और अपनी स्त्रीके सा[illegible] रहकर सुख भोग रहे हैं। किंतु लक्ष्मण! मैं अप[illegible] महान् राज्यसे तो भ्रष्ट हो ही गया हूँ, मेरी पत्नी भ[illegible] हर ली गयी है, इसलिये पानीसे गले हुए नदीके तटकी भाँति कष्ट पा रहा हूँ। मेरा शोक बढ़ गया है। मेरे लिये वर्षाके दिनोंको बिताना अत्यन्त कठि[illegible] हो गया है और मेरा महान् शत्रु रावण भी मुझे अजेय सा प्रतीत होता है।'

अयात्रां चैव दृष्ट्वेमां मार्गांश्च भृशदुर्गमान्।
प्रणते चैव सुग्रीवे न मया किंचिदीरितम्॥
अपि चापि परिक्लिष्टं चिराद् दारैः समागतम्।
आत्मकार्यगरीयस्त्वाद् वक्तुं नेच्छामि वानरम्॥
स्वयमेव हि विश्रम्य ज्ञात्वा कालमुपागतम्।
उपकारं च सुग्रीवो वेत्स्यते नात्र संशयः॥

तस्मात् कालप्रतीक्षोऽहं स्थितोऽस्मि शुभलक्षण ।
सुग्रीवस्य नदीनां च प्रसादमभिकाङ्क्षयन् ॥
उपकारेण वीरो हि प्रतीकारेण युज्यते ॥
अकृतज्ञोऽप्रतिकृतो हन्ति सत्त्ववतां मनः ।
(वा० रा०, किष्किन्धा० २८ । ६०–६४)

'एक तो यह यात्राका समय नहीं है, दूसरे मार्ग भी अत्यन्त दुर्गम है। इसलिये सुग्रीवके नतमस्तक होनेपर भी मैंने उनसे कुछ कहा नहीं है। वानर सुग्रीव बहुत दिनोंसे कष्ट भोगते थे और दीर्घकालके पश्चात् अब अपनी पत्नीसे मिले हैं। इधर मेरा कार्य बड़ा भारी है (थोड़े दिनोंमें सिद्ध होनेवाला नहीं है); इसलिये मैं इस समय उनसे कुछ कहना नहीं चाहता। कुछ दिनोंतक विश्राम करके उपयुक्त समय आया हुआ जान वे स्वयं ही मेरे उपकारको समझेंगे, इसमें संशय नहीं है। अतः शुभलक्षण लक्ष्मण! मैं सुग्रीवकी प्रसन्नता और नदियोंके जलकी स्वच्छता चाहता हुआ शरत्कालकी प्रतीक्षामें चुपचाप बैठा हुआ हूँ। जो वीर पुरुष किसीके उपकारसे उपकृत होता है, वह प्रत्युपकार करके उसका बदला अवश्य चुकाता है; किंतु यदि कोई उपकारको न मानकर या भुलाकर प्रत्युपकारसे मुँह मोड़ लेता है, वह शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुषोंके मनको ठेस पहुँचाता है।'

शरद्-वर्णन

प्रफुल्ल कमलदलके समान नेत्रवाली मिथिलेशकुमारी सीताका बार-बार चिन्तन करते हुए श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणको सम्बोधित करके सूखे हुए (उदास) मुँहसे बोले—

तर्पयित्वा सहस्राक्षः सलिलेन वसुंधराम् ।
निर्वर्तयित्वा सस्यानि कृतकर्मा व्यवस्थितः ॥
दीर्घगम्भीरनिर्घोषाः शैलद्रुमपुरोगमाः ।
विसृज्य सलिलं मेघाः परिशान्ता नृपात्मज ॥
नीलोत्पलदलश्यामाः श्यामीकृत्वा दिशो दश ।
विमदा इव मातङ्गाः शान्तवेगाः पयोधराः ॥
जलगर्भा महावेगाः कुटजार्जुनगन्धिनः ।
चरित्वा विरताः सौम्य वृष्टिवाताः समुद्यताः ॥
घनानां वारणानां च मयूराणां च लक्ष्मण ।
नादः प्रस्रवणानां च प्रशान्तः सहसानघ ॥
अभिवृष्टा महामेघैर्निर्मलाश्चित्रसानवः ।
अनुलिप्ता इवाभान्ति गिरयश्चन्द्ररश्मिभिः ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । २२–२७)

'सुमित्रानन्दन! सहस्रनेत्रधारी इन्द्र इस पृथ्वीको जलसे तृप्त करके यहाँके अनाजोंको पकाकर अब कृतकृत्य हो गये हैं। राजकुमार! देखो, जो अत्यन्त गम्भीर स्वरसे गर्जना किया करते और पर्वतों, नगरों तथा वृक्षोंके ऊपरसे होकर निकलते थे, वे मेघ अपना सारा जल बरसाकर शान्त हो गये हैं। नील कमलदलके समान श्यामवर्णवाले मेघ दसों दिशाओंको श्याम बनाकर मदरहित गजराजोंके समान वेगशून्य हो गये हैं, उनका वेग शान्त हो गया है। सौम्य! जिनके भीतर जल विद्यमान था तथा जिनमें कुटज और अर्जुनके फूलोंकी सुगन्ध भरी हुई थी, वे अत्यन्त वेगशाली झंझावात उमड़-घुमड़कर सम्पूर्ण दिशाओंमें विचरण करके अब शान्त हो गये हैं। निष्पाप लक्ष्मण! बादलों, हाथियों, मोरों और झरनोंके शब्द इस समय सहसा शान्त हो गये हैं। महान् मेघोंद्वारा बरसाये हुए जलसे धुल जानेके कारण ये विचित्र शिखरोंवाले पर्वत अत्यन्त निर्मल हो गये हैं। इन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा इनके ऊपर सफेदी कर दी गयी है।'

शाखासु सप्तच्छदपादपानां
प्रभासु तारार्कनिशाकराणाम् ।
लीलासु चैवोत्तमवारणानां
श्रियं विभज्याद्य शरत्प्रवृत्ता ॥
सम्प्रत्यनेकाश्रयचित्रशोभा
लक्ष्मीः शरत्कालगुणोपपन्ना ।

सूर्याग्रहस्तप्रतिबोधितेषु
पद्माकरेष्वभ्यधिकं विभाति ॥
सप्तच्छदानां कुसुमोपगन्धी
षट्पादवृन्दैरनुगीयमानः ।
मत्तद्विपानां पवनानुसारी
दर्पं विनेष्यन्नधिकं विभाति ॥
अभ्यागतैश्चारुविशालपक्षैः
स्मरप्रियैः पद्मरजोऽवकीर्णैः ।
महानदीनां पुलिनोपयातैः
क्रीडन्ति हंसाः सह चक्रवाकैः ॥
मदप्रगल्भेषु च वारणेषु
गवां समूहेषु च दर्पितेषु ।
प्रसन्नतोयासु च निम्नगासु
विभाति लक्ष्मीर्बहुधा विभक्ता ॥
नभः समीक्ष्याम्बुधरैर्विमुक्तं
विमुक्तबर्हाभरणा वनेषु ।
प्रियास्वरक्ता विनिवृत्तशोभा
गतोत्सवा ध्यानपरा मयूराः ॥
मनोज्ञगन्धैः प्रियकैरनल्पैः
पुष्पातिभारावनताग्रशाखैः ।
सुवर्णगौरैर्नयनाभिरामै-
रुद्योतितानीव वनान्तराणि ॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । २८—३४)

'आज शरद्-ऋतु सप्तच्छन्द (छितवन) की डालियोंमें, सूर्य, चन्द्रमा और तारोंकी प्रभामें तथा श्रेष्ठ गजराजोंकी लीलाओंमें अपनी शोभा बाँटकर आयी है। इस समय शरत्कालके गुणोंसे सम्पन्न हुई लक्ष्मी यद्यपि अनेक आश्रयोंमें विभक्त होकर विचित्र शोभा धारण करती हैं, तथापि सूर्यकी प्रथम किरणोंसे विकसित हुए कमल-वनोंमें वे सबसे अधिक सुशोभित होती हैं। छितवनके फूलोंकी सुगन्ध धारण करनेवाला शरत्काल स्वभावतः वायुका अनुसरण कर रहा है। भ्रमरोंके समूह उसके गुणगान कर रहे हैं। वह मार्गके जलको सोखता और मतवाले हाथियोंके दर्पको बढ़ाता हुआ अधिक शोभा पा रहा है। जिनके पंख सुन्दर और विशाल हैं, जिन्हें क्रीडा अधिक प्रिय है, जिनके ऊपर कमलोंके पराग बिखरे हुए हैं, जो बड़ी-बड़ी नदियोंके तटोंपर उतरे हैं और मानसरोवरसे साथ ही आये हैं, उन चक्रवाकोंके साथ हंस क्रीडा कर रहे हैं। मदमत्त गजराजोंमें, दर्प-भरे वृषभोंके समूहोंमें तथा स्वच्छ जलवाली सरिताओंमें नाना रूपोंमें विभक्त हुई लक्ष्मी विशेष शोभा पा रही है। आकाशको बादलोंसे शून्य हुआ देख वनोंमें पंखरूपी आभूषणोंका परित्याग करनेवाले मोर अपनी प्रियतमाओंसे विरक्त हो गये हैं। उनकी शोभा नष्ट हो गयी है और वे आनन्दशून्य हो ध्यानमग्न होकर बैठे हैं। वनके भीतर बहुत-से असन नामक वृक्ष खड़े हैं, जिनकी डालियोंके अग्रभाग फूलोंके अधिक भारसे झुक गये हैं। उनपर मनोहर सुगन्ध छा रही है। वे सभी वृक्ष सुवर्णके समान गौर तथा नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाले हैं। उनके द्वारा वनप्रान्त प्रकाशित-से हो रहे हैं।'

प्रियान्वितानां नलिनीप्रियाणां
वने प्रियाणां कुसुमोद्गतानाम् ।
मदोत्कटानां मदलालसानां
गजोत्तमानां गतयोऽद्य मन्दाः ॥
व्यक्तं नभः शस्त्रविधौतवर्णं
कृशप्रवाहानि नदीजलानि ।
कह्लारशीताः पवनाः प्रवान्ति
तमोविमुक्ताश्च दिशः प्रकाशाः ॥
सूर्यातपक्रामणनष्टपङ्का
भूमिश्चिरोद्घाटितसान्द्ररेणुः ।
अन्योन्यवैरेण समायुताना-
मुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥

शरद्गुणाप्यायितरूपशोभाः
प्रहर्षिताः पांसुसमुत्थिताङ्गाः ।
मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा
वृषा गवां मध्यगता नदन्ति ॥
समन्मथा तीव्रतरानुरागा
कुलान्विता मन्दगतिः करेणुः ।
मदान्वितं सम्परिवार्य यान्तं
वनेषु भर्तारमनुप्रयाति ॥
त्यक्त्वा वराण्यात्मविभूषितानि
बर्हाणि तीरोपगता नदीनाम् ।
निर्भर्त्स्यमाना इव सारसौघैः
प्रयान्ति दीना विमना मयूराः ॥
वित्रास्य कारण्डवचक्रवाकान्
महारवैर्भिन्नकटा गजेन्द्राः ।
सरस्सु बद्धाम्बुजभूषणेषु
विक्षोभ्य विक्षोभ्य जलं पिबन्ति ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । ३५–४१)

'जो अपनी प्रियतमाओंके साथ विचरते हैं, जिन्हें कमलके पुष्प तथा वन अधिक प्रिय हैं, जो छितवनके फूलोंको सूँघकर उन्मत्त हो उठे हैं, जिनमें अधिक मद है तथा जिन्हें मदजनित कामभोगकी लालसा बनी हुई है, उन गजराजोंकी गति आज मन्द हो गयी है। इस समय आकाशका रंग शानपर चढ़े हुए शस्त्रकी धारके समान स्वच्छ दिखायी देता है, नदियोंके जल मन्दगतिसे प्रवाहित हो रहे हैं, श्वेत कमलकी सुगन्ध लेकर शीतल मन्द वायु चल रही है, दिशाओंका अन्धकार दूर हो गया है और अब उनमें पूर्ण प्रकाश छा रहा है। घाम लगनेसे धरतीका कीचड़ सूख गया है। अब उसपर बहुत दिनोंके बाद घनी धूल प्रकट हुई है। परस्पर वैर रखनेवाले राजाओंके लिये युद्धके निमित्त उद्योग करनेका समय अब आ गया है। शरद्-ऋतुके गुणोंने जिनके रूप और शोभाको बढ़ा दिया है, जिनके सारे अङ्गोंपर धूल छा रही है, जिनके मदकी अधिक वृद्धि हुई है तथा जो युद्धके लिये लुभाये हुए हैं, वे साँड़ इस समय गौओंके बीचमें खड़े होकर अत्यन्त हर्षपूर्वक हँकड़ रहे हैं। जिसमें कामभावका उदय हुआ है, इसीलिये जो अत्यन्त तीव्र अनुरागसे युक्त है और अच्छे कुलमें उत्पन्न हुई है, वह मन्दगतिसे चलनेवाली हथिनी वनोंमें जाते हुए अपने मदमत्त स्वामीको घेरकर उसका अनुगमन करती है। अपने आभूषणरूप श्रेष्ठ पंखोंको त्यागकर नदियोंके तटोंपर आये हुए मोर मानो सारस-समूहकी फटकार सुनकर दुखी और खिन्नचित्त हो पीछे लौट जाते हैं। जिनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही है, वे गजराज अपनी महती गर्जनासे कारण्डवों तथा चक्रवाकोंको भयभीत करके विकसित कमलोंसे विभूषित सरोवरोंमें जलको हिलोर-हिलोरकर पी रहे हैं।'

व्यपेतपङ्कासु सवालुकासु
प्रसन्नतोयासु सगोकुलासु ।
ससारसारावविनादितासु
नदीषु हंसा निपतन्ति हृष्टाः ॥
नदीघनप्रस्रवणोदकाना-
मतिप्रवृद्धानिलबर्हिणानाम् ।
प्लवंगमानां च गतोत्सवानां
ध्रुवं रवाः सम्प्रति सम्प्रणष्टाः ॥
अनेकवर्णाः सुविनष्टकाया
नवोदितेष्वम्बुधरेषु नष्टाः ।
क्षुधार्दिता घोरविषा बिलेभ्य-
श्चिरोषिता विप्रसरन्ति सर्पाः ॥
चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका ।
अहो रागवती संध्या जहाति स्वयमम्बरम् ॥
रात्रिः शशाङ्कोदितसौम्यवक्त्रा
तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा ।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति
नारीव शुक्लांशुकसंवृताङ्गी ॥

विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा
प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः ।
नभः समाक्रामति शीघ्रवेगा
वातावधूता ग्रथितेव माला ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । ४२–४७)

'जिनके कीचड़ दूर हो गये हैं, जो वालुकाओंसे सुशोभित हैं, जिनका जल बहुत ही स्वच्छ है तथा गौओंके समुदाय जिनके जलका सेवन करते हैं, सारसोंके कलरवोंसे गूँजती हुई उन सरिताओंमें हंस बड़े हर्षके साथ उतर रहे हैं। नदी, मेघ, झरनोंके जल, प्रचण्ड वायु, मोर और हर्परहित मेढ़कोंके शब्द निश्चय ही इस समय शान्त हो गये हैं। नूतन मेघोंके उदित होनेपर जो चिरकालसे बिलोंमें छिपे बैठे थे, जिनकी शरीरयात्रा नष्टप्राय हो गयी थी और इस प्रकार जो मृतवत् हो रहे थे, वे भयंकर विषवाले बहुरंगे सर्प भूखसे पीड़ित होकर अब बिलोंसे बाहर निकल रहे हैं। शोभाशाली चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे होनेवाले हर्षके कारण जिसके तारे किंचित् प्रकाशित हो रहे हैं (अथवा प्रियतमके करस्पर्शजनित हर्षसे जिसके नेत्रोंकी पुतली किंचित् खिल उठी है) वह रागयुक्त संध्या (अथवा अनुरागभरी नायिका) स्वयं ही अम्बर (आकाश अथवा वस्त्र) का त्याग कर रही है, यह कैसे आश्चर्यकी बात है। चाँदनीकी चादर ओढ़े हुए शरत्कालकी यह रात्रि श्वेत साड़ीसे ढके हुए अङ्गवाली एक सुन्दरी नारीके समान शोभा पाती है। उदित हुआ चन्द्रमा ही उसका सौम्य मुख है और तारे ही उसकी खुली हुई मनोहर आँखें हैं। पके हुए धानकी बालोंको खाकर हर्षसे भरी हुई और तीव्र वेगसे चलनेवाली सारसोंकी वह सुन्दर पंक्ति वायुकम्पित गूँथी हुई पुष्पमालाकी भाँति आकाशमें उड़ रही है।'

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं
महाहृदस्थं सलिलं विभाति ।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं
तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम् ॥
प्रकीर्णहंसाकुलमेखलानां
प्रबुद्धपद्मोत्पलमालिनीनाम् ।
वाप्युत्तमानामधिकाद्य लक्ष्मी-
र्वराङ्गनानामिव भूषितानाम् ॥
वेणुस्वरव्यञ्जिततूर्यमिश्रः
प्रत्यूषकालेऽनिलसम्प्रवृत्तः ।
सम्मूर्छितो गर्गरगोवृषाणा-
मन्योन्यमापूरयतीव शब्दः ॥
नवैर्नदीनां कुसुमप्रहासै-
र्व्याधूयमानैर्मृदुमारुतेन ।
धौतामलक्षौमपटप्रकाशैः
कूलानि काशैरुपशोभितानि ॥
वनप्रचण्डा मधुपानशौण्डाः
प्रियान्विताः षट्चरणाः प्रहृष्टाः ।
वनेषु मत्ताः पवनानुयात्रां
कुर्वन्ति पद्मासनरेणुगौराः ॥
जलं प्रसन्नं कुसुमप्रहासं
क्रौञ्चस्वनं शालिवनं विपक्वम् ।
मृदुश्च वायुर्विमलश्च चन्द्रः
शंसन्ति वर्षव्यपनीतकालम् ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । ४८–५३)

'कुमुदके फूलोंसे भरा हुआ उस महान् तालाबका जल जिसमें एक हंस सोया हुआ है, ऐसा जान पड़ता है मानो रातके समय बादलोंके आवरणसे रहित आकाश सब ओर छिटके हुए तारोंसे व्याप्त होकर पूर्ण चन्द्रमाके साथ शोभा पा रहा हो। सब ओर बिखरे हुए हंस ही जिनकी फैली हुई मेखला (करधनी) हैं, जो खिले हुए कमलों और उत्पलोंकी मालाएँ धारण करती हैं, उन उत्तम बावड़ियोंकी शोभा आज वस्त्राभूषणोंसे विभूषित सुन्दरी वनिताओंके समान हो रही है। वेणुके स्वर-

मित्र श्रीराम

के रूपमें व्यक्त हुए वाद्यघोषसे मिश्रित और प्रातःकालकी वायुसे वृद्धिको प्राप्त होकर सब ओर फैला हुआ दही मथनेके बड़े-बड़े भाण्डों और साँड़ोंका शब्द, मानो एक दूसरेका पूरक हो रहा है । नदियोंके तट मन्द-मन्द वायुसे कम्पित, पुष्परूपी हाससे सुशोभित और धुले हुए निर्मल रेशमी वस्त्रोंके समान प्रकाशित होनेवाले नूतन कासोंसे बड़ी शोभा पा रहे हैं । वनमें ढिठाईके साथ घूमनेवाले तथा कमल और असनके परागोंसे गौर-वर्णको प्राप्त हुए मतवाले भ्रमर, जो पुष्पोंके मकरन्दका पान करनेमें बड़े चतुर हैं, अपनी प्रियाओंके साथ हर्षमें भरकर वनोंमें (गन्धके लोभसे) वायुके पीछे-पीछे जा रहे हैं । जल स्वच्छ हो गया है, धानकी खेती पक गयी है, वायु मन्दगतिसे चलने लगी है और चन्द्रमा अत्यन्त निर्मल दिखायी देता है—ये सब लक्षण उस शरत्कालके आगमनकी सूचना देते हैं, जिसमें वर्षा-की समाप्ति हो जाती है, क्रौञ्च पक्षी बोलने लगते हैं और फूल उस ऋतुके हासकी भाँति खिल उठते हैं ।'

मीनोपसंदर्शितमेखलानां
नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः ।
कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां
प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम् ॥
सचक्रवाकानि सशैवलानि
काशैर्दुकूलैरिव संवृतानि ।
सपत्ररेखाणि सरोचनानि
वधूमुखानीव नदीमुखानि ॥
प्रफुल्लबाणासनचित्रितेषु
प्रहृष्टषट्पादनिकूजितेषु ।
गृहीतचापोद्यतदण्डचण्डः
प्रचण्डचापोऽद्य वनेषु कामः ॥
लोकं सुवृष्ट्या परितोषयित्वा
नदीस्तटाकानि च पूरयित्वा ।
निष्पन्नसस्यां वसुधां च कृत्वा
त्यक्त्वा नभस्तोयधराः प्रणष्टाः ॥

दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः ।
नवसंगमसव्रीडा जघनानीव योषितः ॥
प्रसन्नसलिलाः सौम्य कुररीभिर्विनादिताः ।
चक्रवाकगणाकीर्णा विभान्ति सलिलाशयाः ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३० । [illegible])

'रातको प्रियतमके उपभोगमें आकर आलस्यके कारण मन्द गतिसे चलनेवाली कामिनियोंकी भाँति उन नदीरूपी वधुओंकी गति भी आज मन्द हो गयी है, जो मछलियोंकी मेखला-सी धारण किये हुए हैं । नदियोंके मुख नव वधुओंके मुँहके समान शोभा पाते हैं । उनमें जो चक्रवाक हैं, वे गोरोचनद्वारा निर्मित तिलकके समान प्रतीत होते हैं; जो सेवार है, वे वधूके मुखपर बनी हुई पत्रभङ्गीके समान जान पड़ते हैं तथा जो काश हैं, वे ही मानो श्वेत दुकूल बनकर नदीरूपिणी वधूके मुँहको ढके हुए हैं । फूले हुए सरकंडों और असनके वृक्षोंसे जिनकी विचित्र शोभा हो रही है तथा जिनमें हर्षभरे भ्रमरोंकी आवाज गूँजती रहती है, उन वनोंमें आज प्रचण्ड धनुर्धर मदनदेव प्रकट हुआ है, जो धनुष हाथमें लेकर विरहीजनोंको दण्ड देनेके लिये उद्यत हो अत्यन्त कोपका परिचय दे रहा है । अच्छी वर्षासे लोगोंको संतुष्ट करके, नदियों और तालाबोंको पानीसे भरकर तथा भूतलको परिपक्व धानकी खेतीसे सम्पन्न करके बादल आकाश छोड़कर अदृश्य हो गये । शरद्-ऋतुकी नदियाँ धीरे-धीरे जलके हटनेसे अपने नग्न तटोंको दिखा रही हैं । ठीक उसी तरह जैसे प्रथम समागमके समय लजीली युवतियाँ शनैः-शनैः अपने जघनस्थलको दिखानेके लिये विवश होती हैं । सौम्य ! सभी जलाशयोंके जल स्वच्छ हो गये हैं । वहाँ कुरर पक्षियोंके कलनाद गूँज रहे हैं और चक्रवाकों-के समुदाय चारों ओर बिखरे हुए हैं । इस प्रकार उन जलाशयोंकी बड़ी शोभा हो रही है ।'

श्रीरामचरितमानसके अनुसार—वर्षा-वर्णन

बरषा काल मेघ नभ छाए ।
गरजत लागत परम सुहाए ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १२ । ४)

श्रीरामजी लक्ष्मणसे कहते हैं—'वर्षाकालमें आकाशमें छाये हुए बादल गरजते हुए बहुत ही सुहावने लगते हैं।'

लछिमन देखु मोर गन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरति रत हरष जस बिष्नुभगत कहुँ देखि॥

(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १३)

'लक्ष्मण! देखो, मोरोंके झुंड बादलोंको देखकर नाच रहे हैं—उसी प्रकार जैसे वैराग्यमें अनुरक्त गृहस्थ किसी विष्णुभक्तको देखकर हर्षित होते हैं।'

घन घमंड नभ गरजत घोरा।
प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥
दामिनि दमक रह न घन माहीं।
खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं॥
बरषहिं जलद भूमि निअराएँ।
जथा नवहिं बुध बिद्या पाएँ॥
बूँद अघात सहहिं गिरि कैसें।
खल के बचन संत सह जैसें॥
छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई।
जस थोरेहुँ धन खल इतराई॥
भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहि माया लपटानी॥
समिटि समिटि जल भरहिं तलावा।
जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा॥
सरिता जल जलनिधि महुँ जाई।
होइ अचल जिमि जिव हरि पाई॥

(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १३। १—४)

'आकाशमें बादल घुमड़-घुमड़कर घोर गर्जना कर रहे हैं। प्रिया (सीताजी) के बिना मेरा मन डर रहा है। बिजलीकी चमक बादलमें ठहरती नहीं, जैसे दुष्टकी प्रीति स्थिर नहीं रहती। बादल पृथ्वीके समीप आकर (नीचे उतरकर) बरस रहे हैं, जैसे विद्या पाकर विद्वान् नम्र हो जाते हैं। बूँदोंकी चोट पर्वत कैसे सहते हैं, जैसे दुष्टोंके वचन संत सहते हैं। छोटी नदियाँ भरकर वेगसे चलीं, जैसे थोड़े धनसे भी दुष्ट इतरा जाते हैं, (मर्यादाका त्याग कर देते हैं)। पृथ्वीपर पड़ते ही पानी गँदला हो गया है, जैसे शुद्ध जीवके माया लिपट गयी हो। जल एकत्र हो-होकर तालाबोंमें भर रहा है, जैसे सद्गुण (एक-एक करके) सज्जनके पास चले आते हैं। नदीका जल समुद्रमें जाकर वैसे ही स्थिर हो जाता है, जैसे जीव श्रीहरिको पाकर अचल (आवागमनसे मुक्त) हो जाता है।'

हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ।
जिमि पाखंड बाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ॥

(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १४)

'पृथ्वी घाससे परिपूर्ण होकर हरी हो गयी है, जिससे रास्ते समझ नहीं पड़ते। जैसे पाखण्ड-मतके प्रचारसे सद्ग्रन्थ गुप्त (लुप्त) हो जाते हैं।'

दादुर धुनि चहु दिसा सुहाई।
बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई॥
नव पल्लव भए बिटप अनेका।
साधक मन जस मिलें बिबेका॥
अर्क जवास पात बिनु भयऊ।
जस सुराज खल उद्यम गयऊ॥
खोजत कतहुँ मिलइ नहिं धूरी।
करइ क्रोध जिमि धरमहि दूरी॥
ससि संपन्न सोह महि कैसी।
उपकारी कै संपति जैसी॥
निसि तम घन खद्योत बिराजा।
जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥
महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं।
जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं॥
कृषी निरावहिं चतुर किसाना।
जिमि बुध तजहिं मोह मद माना॥
देखिअत चक्रबाक खग नाहीं।
कलिहि पाइ जिमि धर्म पराहीं॥
ऊषर बरषइ तृन नहिं जामा।
जिमि हरिजन हियँ उपज न कामा॥
बिबिध जंतु संकुल महि भ्राजा।
प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा॥
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना।
जिमि इंद्रिय गन उपजें ग्याना॥

(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १४। १—६)

'चारों दिशाओंमें मेढकोंकी ध्वनि ऐसी सुहावनी लगती है, मानो विद्यार्थियोंके समुदाय वेद पढ़ रहे हों। अनेकों वृक्षोंमें नये पत्ते आ गये हैं, जिससे वे हरे-भरे एवं सुशोभित हो गये हैं, जैसे साधकका मन विवेक

(ज्ञान) प्राप्त होनेपर हो जाता है । मदार और जवासा बिना पत्तेके हो गये । (उनके पत्ते झड़ गये), जैसे श्रेष्ठ राज्यमें दुष्टोंका उद्यम व्यर्थ हो जाता है (उनकी एक भी नहीं चलती) । धूल कहीं खोजनेपर भी नहीं मिलती, जैसे क्रोध धर्मको दूर कर देता है (अर्थात् क्रोधका आवेश होनेपर धर्मका ज्ञान नहीं रह जाता) । अन्नसे युक्त (लहलहाती हुई खेतीसे हरी-भरी) पृथ्वी कैसे शोभित हो रही है, जैसे उपकारी पुरुषकी सम्पत्ति ! रातके घने अन्धकारमें जुगनू शोभा पा रहे हैं, मानो दम्भियोंका समाज आ जुटा हो । भारी वर्षासे खेतोंकी क्यारियाँ फूट चली हैं, जैसे स्वतन्त्र होनेसे स्त्रियाँ बिगड़ जाती हैं । चतुर किसान खेतोंको निरा रहे हैं (उनमेंसे घास आदिको निकालकर फेंक रहे हैं)—जैसे विद्वान् लोग मोह, मद और मानका त्याग कर देते हैं । चक्रवाक पक्षी दिखायी नहीं दे रहे हैं, जैसे कलियुगको पाकर धर्म भाग जाते हैं । ऊसरमें वर्षा होती है, पर वहाँ घासतक नहीं उगती—जैसे हरिभक्तके हृदयमें काम नहीं होता । पृथ्वी अनेक तरहके जीवोंसे भरी हुई उसी तरह शोभायमान है, जैसे सुराज्य पाकर प्रजाकी वृद्धि होती है । जहाँ-तहाँ अनेक पथिक थककर ठहरे हुए हैं, जैसे ज्ञान उत्पन्न होनेपर इन्द्रियाँ [शिथिल होकर विषयोंकी ओर जाना छोड़ देती हैं] ।'

कबहुँ प्रबल बह मारुत जहँ तहँ मेघ बिलाहिं ।
जिमि कपूत के उपजें कुल सद्धर्म नसाहिं ॥
कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग ।
बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १५ (क), ख)

'कभी-कभी वायु बड़े जोरसे चलने लगती है, जिससे बादल जहाँ-तहाँ गायब हो जाते हैं—जैसे कुपुत्र उत्पन्न होनेसे कुलके उत्तम धर्म (श्रेष्ठ आचरण) नष्ट हो जाते हैं । कभी (बादलोंके कारण) दिनमें घोर अन्धकार छा जाता है और कभी सूर्य प्रकट हो जाते हैं—जैसे कुसङ्ग पाकर ज्ञान नष्ट हो जाता है और सुसङ्ग पाकर उत्पन्न हो जाता है ।'

(शरद्-वर्णन)

बरषा बिगत सरद रितु आई ।
लछिमन देखहु परम सुहाई ॥
फूलें कास सकल महि छाई ।
जनु बरषाँ कृत प्रगट बुढ़ाई ॥
उदित अगस्ति पंथ जल सोषा ।
जिमि लोभहि सोषइ संतोषा ॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा ।
संत हृदय जस गत मद मोहा ॥
रस रस सूख सरित सर पानी ।
ममता त्याग करहिं जिमि ग्यानी ॥
जानि सरद रितु खंजन आए ।
पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए ॥
पंक न रेनु सोह असि धरनी ।
नीति निपुन नृप कै जसि करनी ॥
जल संकोच बिकल भइँ मीना ।
अबुध कुटुंबी जिमि धनहीना ॥
बिनु घन निर्मल सोह अकासा ।
हरिजन इव परिहरि सब आसा ॥
कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी ।
कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १५ । १—५)

'हे लक्ष्मण ! देखो, वर्षा बीत गयी और परम सुन्दर शरद्-ऋतु आ गयी । फूले हुए कास सारी पृथ्वीपर छा गये, मानो वर्षाऋतुने [कासरूपी सफेद बालोंके रूपमें] अपना बुढ़ापा प्रकट किया है । अगस्त्यके तारेने उदय होकर मार्गके जलको सोख लिया, जैसे संतोष लोभको सोख लेता है । नदियों और तालाबोंका निर्मल जल ऐसी शोभा पा रहा है जैसे मद और मोहसे रहित संतोंका हृदय ! नदी और तालाबोंका जल धीरे-धीरे सूख रहा है, जैसे ज्ञानी (विवेकी) पुरुष ममताका त्याग करते हैं । शरद्ऋतु जानकर खंजन पक्षी आ गये, जैसे समय पाकर सुन्दर सुकृत आ जाते हैं (पुण्य प्रकट हो जाते हैं) । न कीचड़ है न धूल; इससे धरती निर्मल होकर ऐसी शोभा दे रही है जैसे नीतिनिपुण राजाकी करनी ! जलके कम हो जानेसे मछलियाँ व्याकुल हो रही हैं, जैसे मूर्ख (विवेकशून्य) कुटुम्बी (गृहस्थी) धनके बिना व्याकुल होता है । बिना बादलोंका निर्मल आकाश ऐसा शोभित हो रहा है जैसे भगवद्भक्त सब आशाओंको छोड़कर सुशोभित होते हैं । कहीं-कहीं (बिरले ही स्थानोंमें) शरद्ऋतुकी थोड़ी-थोड़ी वर्षा हो रही है जैसे कोई बिरले ही मेरी भक्ति पाते हैं ।'

चले हरषि तजि नगर नृप तापस बनिक भिखारि ।
जिमि हरिभगति पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १६)

'[शरद्‌ऋतु पाकर] राजा, तपस्वी, व्यापारी और भिखारी (क्रमशः विजय, तप, व्यापार और भिक्षाके लिये) हर्षित होकर नगर छोड़ चले, जैसे हरिकी भक्ति पाकर चारों आश्रमवाले (नाना प्रकारके साधनरूपी) श्रमोंको त्याग देते हैं ।'

सुखी मीन जे नीर अगाधा ।
जिमि हरि सरन न एकउ बाधा ॥
फूलें कमल सोह सर कैसा ।
निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा ॥
गुंजत मधुकर मुखर अनूपा ।
सुंदर खग रव नाना रूपा ॥
चक्रबाक मन दुख निसि पेखी ।
जिमि दुर्जन पर संपति देखी ॥
चातक रटत तृषा अति ओही ।
जिमि सुख लहइ न संकरद्रोही ॥
सरदातप निसि ससि अपहरई ।
संत दरस जिमि पातक टरई ॥
देखि इंदु चकोर समुदाई ।
चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई ॥
मसक दंस बीते हिम त्रासा ।
जिमि द्विज द्रोह किएँ कुल नासा ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १६ । १-४)

'जो मछलियाँ अथाह जलमें हैं, वे सुखी हैं—जैसे श्रीहरिकी शरणमें चले जानेपर एक भी बाधा नहीं रहती । कमलोंके फूलनेसे तालाब कैसी शोभा दे रहा है, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण होनेपर शोभित होता है । भौंरे अनुपम शब्द करते हुए गूँज रहे हैं तथा पक्षियोंके नाना प्रकारके सुन्दर शब्द हो रहे हैं । रात्रि देखकर चकवेके मनमें वैसे ही दुःख हो रहा है, जैसे दूसरेकी सम्पत्ति देखकर दुष्टको होता है । पपीहा रट लगाये है, उसको बड़ी प्यास है जैसे श्रीशंकरजीका द्रोही सुख नहीं पाता (सुखके लिये झींखता रहता है) । शरद्‌ऋतुके तापको रातके समय चन्द्रमा हर लेता है, जैसे संतोंके दर्शनसे पाप दूर हो जाते हैं । चकोरोंके समुदाय चन्द्रमाको देखकर इस प्रकार टकटकी लगाये हैं, जैसे भगवद्भक्त भगवान्‌को पाकर उनका (निर्निमेष नेत्रोंसे) दर्शन करते हैं । मच्छर और डाँस जाड़ेके डरसे इस प्रकार नष्ट हो गये, जैसे ब्राह्मणके साथ वैर करनेसे कुलका नाश हो जाता है ।'

भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ ।
सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १७)

'[वर्षा-ऋतुके कारण] पृथ्वीपर जो जीव भर गये थे, वे शरद्‌ऋतुको पाकर वैसे ही नष्ट हो गये, जैसे सद्गुरुके मिल जानेपर संदेह और भ्रमके समूह नष्ट हो जाते हैं ।'

बरषा गत निर्मल रितु आई ।
सुधि न तात सीता कै पाई ॥
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं ।
कालहु जीति निमिष महुँ आनौं ॥
कतहुँ रहउ जौं जीवति होई ।
तात जतन करि आनउँ सोई ॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १७ । १-२)

'वर्षा बीत गयी, निर्मल शरद्‌ऋतु आ गयी । परंतु हे तात ! सीताकी कोई खबर नहीं मिली । एक बार कैसे भी पता पाऊँ तो कालको भी जीतकर पलभरमें जानकीको ले आऊँ । कहीं भी रहे, यदि जीती होगी तो हे तात ! यत्न करके मैं उसे अवश्य लाऊँगा ।'

श्रीरामका कला-प्रेम

अयोध्याकी गलियोंमें रामायण-गान करते हुए कुश और लवपर श्रीरामकी दृष्टि पड़ी । उन्होंने उन आदरणीय कुमारोंको घर बुलाकर उनका यथोचित सम्मान किया और अपने तीनों भाइयोंसे कहा—

रामायण सुननेकी प्रेरणा देना

श्रूयतामेतदाख्यानमनयोर्देववर्चसोः ॥
विचित्रार्थपदं सम्यग् ....।
इमौ मुनी पार्थिवलक्षणान्वितौ
कुशीलवौ चैव महातपस्विनौ ।
ममापि तद् भूतिकरं प्रचक्षते
महानुभावं चरितं निबोधत ॥
(वा० रा०, बाल० ४ । ३२-३३, ३५)

'ये देवताके समान तेजस्वी दोनों कुमार विचित्र अर्थ और पदोंसे युक्त मधुर काव्य बड़े सुन्दर ढंगसे गाकर सुनाते हैं । तुम सब लोग इसे सुनो । ये दोनों कुमार मुनि होकर भी राजोचित लक्षणोंसे

सम्पन्न हैं। संगीतमें कुशल होनेके साथ ही महान् तपस्वी हैं। ये जिस चरित्रका—प्रबन्ध काव्यका गान करते हैं, वह शब्दार्थालंकार, उत्तम गुण एवं सुन्दर रीति आदिसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। मेरे लिये भी अभ्युदयकारक है, ऐसा वृद्ध पुरुषोंका कथन है। अतः तुम सब लोग ध्यान देकर इसे सुनो।'

हनुमान्‌की भाषण-कलाकी प्रशंसा करना

भगवान् श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंको वीर-वेशमें आते देख ऋष्यमूकनिवासी सुग्रीवके मनमें बड़ी शङ्का हुई। हनुमान्‌जीने सुग्रीवको ढाढ़स बँधाया, तब सुग्रीवने उन्हें उन दोनों भाइयोंके पास जाकर भेद लेनेके लिये कहा। श्रीहनुमान्‌जी भिक्षुका वेश धारण करके उन दोनों भाइयोंके पास गये और उन्हें प्रणाम करके मधुर वाणीमें बोले—'वीरो! आप दोनों सत्यपराक्रमी, राजर्षियों और देवताओंके समान प्रभावशाली, तपस्वी तथा कठोर व्रतका पालन करनेवाले जान पड़ते हैं। इस वन्य प्रदेशमें आप दोनोंका शुभागमन किस उद्देश्यसे हुआ है? आप कान्तिमान् तथा रूपवान् हैं। आपकी दृष्टि सिंहके समान है। गति साँड़के समान दिखायी देती है। भुजाएँ अपनी शोभासे हाथीकी शुण्ड-दण्डको तिरस्कृत करती हैं। आप परम तेजस्वी हैं। आप दोनोंकी प्रभासे गिरिराज ऋष्यमूक जगमगा रहा है। आपको देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो चन्द्रमा और सूर्य स्वेच्छासे भूतलपर उतर आये हैं। यहाँ सुग्रीव नामक एक श्रेष्ठ वानर रहते हैं। वे बड़े धर्मात्मा और वीर हैं। उनके बड़े भाई वालीने उन्हें घरसे निकाल दिया है। इसलिये वे अत्यन्त दुखी होकर सारे जगत्‌में मारे-मारे फिरते हैं। उन्हींके भेजनेसे मैं यहाँ आया हूँ। मेरा नाम हनुमान् है। मैं भी वानर-जातिका ही हूँ। धर्मात्मा सुग्रीव आप दोनोंसे मित्रता करना चाहते हैं।'

भाषण भी एक कला है और कला-मर्मज्ञको जहाँ भी कला दीखती है, वह प्रफुल्ल हो जाता है। हनुमान्‌जीके बोलनेमें वक्तृत्व-कला थी। उसे सुनकर श्रीरामका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। वे लक्ष्मणसे बोले—

सचिवोऽयं कपीन्द्रस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
तमेव काङ्क्षमाणस्य ममान्तिकमिहागतः॥
तमभ्यभाष सौमित्रे सुग्रीवसचिवं कपिम्।
वाक्यज्ञं मधुरैर्वाक्यैः स्नेहयुक्तमरिंदमम्॥
नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥
न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा।
अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्॥
अविस्तरमसंदिग्धमविलम्बितमव्यथम्।
उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्॥
संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्।
उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥
अनया चित्रया वाचा त्रिस्थानव्यञ्जनस्थया।
कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि॥
एवंविधो यस्य दूतो न भवेत् पार्थिवस्य तु।
सिद्ध्यन्ति हि कथं तस्य कार्याणां गतयोऽनघ॥
एवंगुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० ३। २६–३५)

'सुमित्रानन्दन! ये महामनस्वी वानरराज सुग्रीवके सचिव हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे पास आये हैं। लक्ष्मण! इन शत्रुदमन सुग्रीवसचिव कपिवर हनुमान्‌से, जो बातके मर्मको समझनेवाले हैं, तुम स्नेहपूर्वक मीठी वाणीमें बातचीत करो। जिसे ऋग्वेदकी शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेदका अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेदका विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुन्दर भाषामें वार्तालाप नहीं कर सकता। निश्चय ही इन्होंने समूचे व्याकरणका कई बार स्वाध्याय किया है; क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके मुँहसे कोई अशुद्धि नहीं निकली। सम्भाषणके समय इनके मुख, नेत्र, ललाट, भौंह तथा अन्य सब अङ्गोंसे भी कोई दोष प्रकट हुआ हो, ऐसा कहीं ज्ञात नहीं हुआ। इन्होंने थोड़ेमें ही बड़ी स्पष्टताके साथ अपना अभिप्राय निवेदन किया है। उसे समझनेमें कहीं कोई संदेह नहीं

हुआ है। इन्होंने रुक-रुककर अथवा शब्दों या अक्षरोंको तोड़-मरोड़कर किसी ऐसे वाक्यका उच्चारण नहीं किया है, जो सुननेमें कर्णकटु हो। इनकी वाणी हृदयमें मध्यमा-रूपसे स्थित है और कण्ठसे वैखरीरूपमें प्रकट होती है; अतः बोलते समय इनकी आवाज न बहुत धीमी रही है न बहुत ऊँची। मध्यम स्वरमें ही इन्होंने सब बातें कहीं हैं। ये संस्कार और क्रमसे सम्पन्न, अद्भुत, अविलम्बित तथा हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाली कल्याणमयी वाणीका उच्चारण करते हैं। हृदय, कण्ठ और मूर्धा—इन तीनों स्थानोंद्वारा स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त होनेवाली इनकी इस विचित्र वाणीको सुनकर किसका चित्त प्रसन्न न होगा। वध करनेके लिये तलवार उठाये हुए शत्रुका हृदय भी इस अद्भुत वाणीसे बदल सकता है। निष्पाप लक्ष्मण! जिस राजाके पास इनके समान दूत न हो, उसके कार्योंकी सिद्धि कैसे हो सकती है। जिसके कार्यसाधक दूत ऐसे उत्तम गुणोंसे युक्त हों, उस राजाके सभी मनोरथ दूतोंकी बातचीतसे ही सिद्ध हो जाते हैं।'

श्रीरामकी प्राचीन कथाएँ सुनानेमें रुचि

लक्ष्मणजी श्रीजानकीको वनमें छोड़कर लौट आये। श्रीरामको अत्यन्त शोकाकुल देखकर लक्ष्मणजीने बड़ी विनम्रताके साथ उन्हें समझाया। तदनन्तर श्रीरामने लक्ष्मणजीसे कहा—

[राजा नृगकी कथा]

दुर्लभस्त्वीदृशो बन्धुरस्मिन् काले विशेषतः।
यादृशस्त्वं महाबुद्धिर्मम सौम्य मनोऽनुगः॥
यच्च मे हृदये किंचिद् वर्तते शुभलक्षण।
तन्निशामय च श्रुत्वा कुरुष्व वचनं मम॥
चत्वारो दिवसाः सौम्य कार्यं पौरजनस्य च।
अकुर्वाणस्य सौमित्रे तन्मे मर्माणि कृन्तति॥
आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा।
कार्यार्थिनश्च पुरुषाः स्त्रियो वा पुरुषर्षभ॥
पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने।
संवृते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः॥
(वा० रा०, उत्तर० ५३। २—६)

'सौम्य! तुम बड़े बुद्धिमान् हो। जैसे तुम मेरे मनका अनुसरण करनेवाले हो, ऐसा भाई विशेषतः इस समय मिलना कठिन है। शुभलक्षण लक्ष्मण! अब मेरे मनमें जो बात है, उसे सुनो और सुनकर वैसा ही करो। सौम्य! सुमित्राकुमार! मुझे पुरवासियोंका काम किये बिना चार दिन बीत चुके हैं, यह बात मेरे मर्मस्थलको विदीर्ण कर रही है। पुरुषप्रवर! तुम प्रजा, पुरोहित और मन्त्रियोंको बुलाओ। जिन पुरुषों अथवा स्त्रियोंको कोई काम हो, उनको उपस्थित करो। जो राजा प्रतिदिन पुरवासियोंके—प्रजा-जनके कार्य नहीं करता, वह निस्संदेह सब ओरसे निश्छिद्र अतएव वायु-संचारसे रहित घोर नरकमें पड़ता है।'

श्रूयते हि पुरा राजा नृगो नाम महायशाः।
बभूव पृथिवीपालो ब्रह्मण्यः सत्यवाक् शुचिः॥
स कदाचिद् गवां कोटीः सवत्साः स्वर्णभूषिताः।
नृदेवो भूमिदेवेभ्यः पुष्करेषु ददौ नृपः॥
ततः सङ्गाद् गता धेनुः सवत्सा स्पर्शितानघ।
ब्राह्मणस्याहिताग्नेस्तु दरिद्रस्योञ्छवर्तिनः॥
स नष्टां गां क्षुधार्तो वै अन्विषंस्तत्र तत्र ह।
नापश्यत् सर्वराष्ट्रेषु संवत्सरगणान् बहून्॥
ततः कनखलं गत्वा जीर्णवत्सां निरामयाम्।
ददर्श तां स्विकां धेनुं ब्राह्मणस्य निवेशने॥
अथ तां नामधेयेन स्वकेनोवाच ब्राह्मणः।
आगच्छ शबलेत्येवं सा तु शुश्राव गौः स्वरम्॥

तस्य तं स्वरमाज्ञाय क्षुधार्तस्य द्विजस्य वै ।
अन्वगात् पृष्ठतः सा गौर्गच्छन्तं पावकोपमम् ॥
योऽपि पालयते विप्रः सोऽपि गामन्वगाद् द्रुतम् ।
गत्वा च तमृषिं चष्टे मम गौरिति सत्वरम् ॥
स्पर्शिता राजसिंहेन मम दत्ता नृगेण ह ।
तयोर्ब्राह्मणयोर्वादो महानासीद् विपश्चितोः ॥
विवदन्तौ ततोऽन्योन्यं दातारमभिजग्मतुः ।
तौ राजभवनद्वारि न प्राप्तौ नृगशासनम् ॥
अहोरात्राण्यनेकानि वसन्तौ क्रोधमीयतुः ।
ऊचतुश्च महात्मानौ तावुभौ द्विजसत्तमौ ॥
क्रुद्धौ परमसंतप्तौ वाक्यं घोराभिसंहितम् ।

(वा० रा०, उत्तर० ५३ । ७—१७½)

"सुना जाता है पहले इस पृथ्वीपर नृगनामसे प्रसिद्ध एक महायशस्वी राजा राज्य करते थे। वे भूपाल बड़े ब्राह्मणभक्त, सत्यवादी तथा आचार-विचारसे पवित्र थे। उन नरदेवने किसी समय पुष्कर तीर्थमें जाकर ब्राह्मणोंको सुवर्णसे भूषित तथा बछड़ोंसे युक्त एक करोड़ गौएँ दान कीं। निष्पाप लक्ष्मण! उस समय दूसरी गौओंके साथ-साथ एक दरिद्र, उञ्छ-वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करनेवाले एवं अग्निहोत्री ब्राह्मण-की बछड़ेसहित गाय वहाँ चली गयी और राजाने संकल्प करके उसे किसी ब्राह्मणको दे दिया। वह बेचारा ब्राह्मण भूखसे पीड़ित हो उस खोयी हुई गायको बहुत वर्षोंतक सारे राज्योंमें जहाँ-तहाँ ढूँढ़ता फिरा; परंतु वह उसे नहीं दिखायी दी। अन्तमें एक दिन कनखल पहुँचकर उसने अपनी गाय एक ब्राह्मणके घरमें देखी। वह नीरोग और हृष्ट-पुष्ट थी, किंतु उसका बछड़ा बहुत बड़ा हो गया था। ब्राह्मणने अपने रक्खे हुए 'शबला' नामसे उसको पुकारा—'शबले! आओ! आओ!' गौने उस स्वरको सुना। भूखसे पीड़ित हुए उस ब्राह्मणके उस परिचित स्वरको पहचानकर वह गौ आगे-आगे जाते हुए उस अग्नितुल्य तेजस्वी ब्राह्मणके पीछे हो ली। जो ब्राह्मण उन दिनों उसका पालन करता था, वह भी तुरंत उस गायका पीछा करता हुआ गया और जाकर उन ब्रह्मर्षिसे बोला—'ब्रह्मन्! यह गौ मेरी है। मुझे राजाओंमें श्रेष्ठ नृगने इसे दानमें दिया है।' फिर तो उन दोनों विद्वान् ब्राह्मणोंमें उस गौको लेकर महान् विवाद खड़ा हो गया। वे दोनों परस्पर लड़ते-झगड़ते हुए उन दानी नरेश नृगके पास गये। वहाँ राजभवनके दरवाजेपर जाकर वे कई दिनोंतक टिके रहे, परंतु उन्हें राजाका न्याय नहीं प्राप्त हुआ (वे उनसे मिले ही नहीं)। इससे उन दोनोंको बड़ा क्रोध हुआ। वे दोनों श्रेष्ठ महात्मा ब्राह्मण अत्यन्त संतप्त और कुपित हो राजाको शाप देते हुए यह घोर वाक्य बोले—'

अर्थिनां कार्यसिद्ध्यर्थं यस्मात्त्वं नैषि दर्शनम् ॥
अदृश्यः सर्वभूतानां कृकलासो भविष्यसि ।
बहुवर्षसहस्राणि बहुवर्षशतानि च ॥
श्वभ्रे त्वं कृकलीभूतो दीर्घकालं निवत्स्यसि ।
उत्पत्स्यते हि लोकेऽस्मिन् यदूनां कीर्तिवर्धनः ॥
वासुदेव इति ख्यातो विष्णुः पुरुषविग्रहः ।
स ते मोक्षयिता शापाद् राजंस्तस्माद् भविष्यसि ॥
कृता च तेन कालेन निष्कृतिस्ते भविष्यति ।
भारावतरणार्थं हि नरनारायणावुभौ ॥
उत्पत्स्येते महावीर्यौ कलौ युग उपस्थिते ।
एवं तौ शापमुत्सृज्य ब्राह्मणौ विगतज्वरौ ॥
तां गां हि दुर्बलां वृद्धां ददतुर्ब्राह्मणाय वै ।
एवं स राजा तं शापमुपभुङ्क्ते सुदारुणम् ॥
कार्यार्थिनां विमर्दो हि राज्ञां दोषाय कल्पते ।
तच्छीघ्रं दर्शनं मह्यमभिवर्तन्तु कार्यिणः ॥
सुकृतस्य हि कार्यस्य फलं नावैति पार्थिवः ।
तस्माद् गच्छ प्रतीक्षस्व सौमित्रे कार्यवाञ्जनः ॥

(वा० रा०, उत्तर० ५३ । १८—२६)

'राजन्! अपने विवादका निर्णय करानेकी इच्छासे आये हुए प्रार्थी पुरुषोंके कार्यकी सिद्धिके लिये तुम उन्हें दर्शन नहीं देते, इसलिये तुम सब प्राणियोंसे छिपकर रहनेवाले गिरगिट हो जाओगे और सहस्रों वर्षोंके दीर्घकालतक गड्ढेमें गिरगिट होकर ही पड़े रहोगे। जब यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले 'वासुदेव'नामसे विख्यात भगवान् विष्णु पुरुषरूपसे इस जगत्में अवतार लेंगे, उस समय वे ही तुम्हें इस शापसे छुड़ायेंगे; इसलिये इस समय तो तुम गिरगिट हो ही जाओगे, फिर श्रीकृष्णावतारके समयमें ही तुम्हारा उद्धार होगा। कलियुग उपस्थित होनेसे कुछ ही पहले महापराक्रमी नर और नारायण दोनों पृथ्वीका भार उतारनेके लिये अवतीर्ण होंगे।' इस [illegible]र शाप देकर वे दोनों ब्राह्मण शान्त हो [illegible]। उन्होंने वह बूढ़ी और दुबली गाय किसी [illegible]णको दे दी। इस प्रकार राजा नृग उस अत्यन्त [illegible]ण शापका उपभोग कर रहे हैं। अतः कार्यार्थी [illegible]ोंका विवाद यदि निर्णीत न हो तो वह राजाओंके महान् दोषकी प्राप्ति करानेवाला होता है। इसलिये [illegible]र्थी मनुष्य शीघ्र मेरे सामने उपस्थित हों। प्रजा[illegible]नरूप पुण्यकर्मका फल क्या राजाको नहीं मिलता? [illegible]श्य प्राप्त होता है। अतः सुमित्रानन्दन! तुम [illegible]ओ, राजद्वारपर प्रतीक्षा करो कि कौन कार्यार्थी [illegible] आ रहा है।'

श्रीरामका यह भाषण सुनकर परमार्थवेत्ता लक्ष्मण[illegible] हाथ जोड़कर उद्दीप्त तेजवाले श्रीरघुनाथजीसे बोले—[illegible]कुत्स्थकुलभूषण! उन दोनों ब्राह्मणोंने थोड़े-से ही [illegible]राधपर राजर्षि नृगको द्वितीय यमदण्डके समान ऐसा [illegible]ानक शाप दे दिया! पुरुषप्रवर! अपनेको शापरूपी [illegible]से संयुक्त हुआ सुनकर राजा नृगने उन क्रोधी [illegible]णोंसे क्या कहा?'

[illegible]णु सौम्य यथा पूर्वं स राजा शापविक्षतः ॥
अथाध्वनि गतौ विप्रौ विज्ञाय स नृपस्तदा ।
आहूय मन्त्रिणः सर्वान् नैगमान् सपुरोधसः ॥
तानुवाच नृगो राजा सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा
दुःखेन सुसमाविष्टः श्रूयतां मे समाहिताः ॥
नारदः पर्वतश्चैव मम दत्त्वा महद्भयम् ।
गतौ त्रिभुवनं भद्रौ वायुभूतावनिन्दितौ ॥
कुमारोऽयं वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम् ।
श्वभ्रं च यत् सुखस्पर्शं क्रियतां शिल्पिभिर्मम ॥
यत्राहं संक्षयिष्यामि शापं ब्राह्मणनिःसृतम् ।
वर्षघ्नमेकं श्वभ्रं तु हिमघ्नमपरं तथा ॥
ग्रीष्मघ्नं तु सुखस्पर्शमेकं कुर्वन्तु शिल्पिनः ।
फलवन्तश्च ये वृक्षाः पुष्पवत्यश्च या लताः ॥
विरोप्यन्तां बहुविधाश्छायावन्तश्च गुल्मिनः ।
क्रियतां रमणीयं च श्वभ्राणां सर्वतोदिशम् ॥
सुखमत्र वसिष्यामि यावत्कालस्य पर्ययः ।
पुष्पाणि च सुगन्धीनि क्रियन्तां तेषु नित्यशः ॥
परिवार्य यथा मे स्युरध्यर्धं योजनं तथा ।
एवं कृत्वा विधानं स संनिवेश्य वसुं तदा ॥
(वा० रा०, उत्तर० ५४ । ४—१३)

लक्ष्मणके इस प्रकार पूछनेपर श्रीरघुनाथजी फिर बोले—"सौम्य! पूर्वकालमें शापग्रस्त होकर राजा नृगने जो कुछ कहा, उसे बताता हूँ; सुनो। जब राजा नृगको यह पता लगा कि वे दोनों ब्राह्मण चले गये और कहीं रास्तेमें होंगे, तब उन्होंने मन्त्रियोंको, समस्त पुरवासियोंको, पुरोहितोंको तथा समस्त प्रकृतियोंको भी बुलाकर दुःखसे पीड़ित होकर कहा—'आपलोग सावधान होकर मेरी बात सुनें! नारद और पर्वत—ये दोनों कल्याणकारी और अनिन्द्य देवर्षि मेरे पास आये थे। वे दोनों ब्राह्मणोंके दिये हुए शापकी बात बताकर मुझे महान् भय दे वायुके समान तीव्र गतिसे ब्रह्मलोकको चले गये। ये जो वसु नामक राजकुमार हैं, इन्हें इस राज्यपर अभिषिक्त कर दिया जाय और कारीगर मेरे लिये एक ऐसा गड्ढा तैयार करें, जिसका स्पर्श सुखद हो। ब्राह्मणके मुखसे

फले हुए उस शापको वहीं रहकर मैं बिताऊँगा। एक गड्ढा ऐसा होना चाहिये, जो वर्षाके कष्टका निवारण करनेवाला हो। दूसरा सर्दीसे बचानेवाला हो और शिल्पी लोग तीसरा एक ऐसा गड्ढा तैयार करें जो गरमीका निवारण करे और जिसका स्पर्श सुखदायक हो। जो फल देनेवाले वृक्ष हैं और फूल देनेवाली लताएँ हैं, उन्हें उन गड्ढोंमें लगाया जाय। घनी छायावाले अनेक प्रकारके वृक्षोंका वहाँ आरोपण किया जाय। उन गड्ढोंके चारों ओर डेढ़-डेढ़ योजन (छः-छः कोस) की भूमि घेरकर खूब रमणीय बना दी जाय। जबतक शापका समय बीतेगा, तबतक मैं वहीं सुखपूर्वक रहूँगा। उन गड्ढोंमें प्रतिदिन खिलनेवाले सुगन्धित पुष्प लगाये जायँ।' ऐसी व्यवस्था करके राजकुमार वसुको राजसिंहासनपर बिठाकर राजाने उस समय उनसे कहा—

धर्मनित्यः प्रजाः पुत्र क्षत्रधर्मेण पालय।
प्रत्यक्षं ते यथा शापो द्विजाभ्यां मयि पातितः॥
नरश्रेष्ठ सरोषाभ्यामपराधेऽपि तादृशे।
मा कृथास्त्वनुसंतापं मत्कृते हि नरर्षभ॥
कृतान्तः कुशलः पुत्र येनास्मि व्यसनीकृतः।
प्राप्तव्यान्येव प्राप्नोति गन्तव्यान्येव गच्छति॥
लब्धव्यान्येव लभते दुःखानि च सुखानि च।
पूर्वे जात्यन्तरे वत्स मा विषादं कुरुष्व ह॥
एवमुक्त्वा नृपस्तत्र सुतं राजा महायशाः।
श्वभ्रं जगाम सुकृतं वासाय पुरुषर्षभ॥
एवं प्रविश्यैव नृपस्तदानीं
श्वभ्रं महद्रत्नविभूषितं तत्।
सम्पादयामास तदा महात्मा
शापं द्विजाभ्यां हि रुषा विमुक्तम्॥

(वा० रा०, उत्तर० ५४। १४–१९)

'बेटा! तुम प्रतिदिन धर्मपरायण रहकर क्षत्रिय-धर्मके अनुसार प्रजाका पालन करो। दोनों ब्राह्मणोंने मुझपर जिस प्रकार शापद्वारा प्रहार किया है, वह तुम्हारी आँखोंके सामने है। नरश्रेष्ठ! वैसे थोड़े-से अपराधपर भी रुष्ट होकर उन्होंने मुझे शाप दे दिया है। पुरुषप्रवर! तुम मेरे लिये संताप न करो। बेटा! जिसने मुझे व्यसनी बनाया—संकटमें डाला है, अपना किया हुआ वह प्राचीन कर्म ही अनुकूल-प्रतिकूल फल देनेमें समर्थ होता है। वत्स! पूर्वजन्ममें किये गये कर्मके अनुसार मनुष्य उन्हीं वस्तुओंको पाता है, जिन्हें पानेका वह अधिकारी है, उन्हीं स्थानोंपर जाता है, जहाँ जाना उसके लिये अनिवार्य है तथा उन्हीं दुःखों और सुखोंको उपलब्ध करता है, जो उसके लिये नियत हैं; अतः तुम विषाद न करो।' नरश्रेष्ठ! अपने पुत्रसे यों कहकर महायशस्वी नरपाल राजा नृगने अपने रहनेके लिये सुन्दर ढंगसे तैयार किये गये गड्ढेमें प्रवेश किया। इस तरह उस रत्नविभूषित महान् गर्तमें प्रवेश करके उस समय महात्मा राजा नृगने ब्राह्मणोंद्वारा रोषपूर्वक दिये गये उस शापको भोगना आरम्भ किया।'

एष ते नृगशापस्य विस्तरोऽभिहितो मया।
यद्यस्ति श्रवणे श्रद्धा शृणुष्वेहापरां कथाम्॥

(वा० रा०, उत्तर० ५५। १)

'लक्ष्मण! इस तरह मैंने तुम्हें राजा नृगके शापका प्रसङ्ग विस्तारपूर्वक बताया है। यदि सुननेकी इच्छा हो तो दूसरी कथा भी सुनो।'

श्रीरामके यों कहनेपर सुमित्राकुमार फिर बोले—'नरेश्वर! इन आश्चर्यजनक कथाओंके सुननेसे मुझे कभी तृप्ति नहीं होती। अतः और सुनाइये।

राजा निमिकी कथा

लक्ष्मणेनैवमुक्तस्तु राम इक्ष्वाकुनन्दनः।
कथां परमधर्मिष्ठां व्याहर्तुमुपचक्रमे॥
आसीद् राजा निमिर्नाम इक्ष्वाकूणां महात्मनाम्।
पुत्रो द्वादशमो वीर्ये धर्मे च परिनिष्ठितः॥

स राजा वीर्यसम्पन्नः पुरं देवपुरोपमम् ।
निवेशयामास तदा अभ्याशे गौतमस्य तु ॥
पुरस्य सुकृतं नाम वैजयन्तमिति श्रुतम् ।
निवेशं यत्र राजर्षिर्निमिश्चक्रे महायशाः ॥
तस्य बुद्धिः समुत्पन्ना निवेश्य सुमहापुरम् ।
यजेयं दीर्घसत्रेण पितुः प्रह्लादयन् मनः ॥
ततः पितरमामन्त्र्य इक्ष्वाकुं हि मनोः सुतम् ।
वसिष्ठं वरयामास पूर्वं ब्रह्मर्षिसत्तमम् ॥
अनन्तरं स राजर्षिर्निमिरिक्ष्वाकुनन्दनः ।
अत्रिमङ्गिरसं चैव भृगुं चैव तपोनिधिम् ॥
तमुवाच वसिष्ठस्तु निमिं राजर्षिसत्तमम् ।
वृतोऽहं पूर्वमिन्द्रेण अन्तरं प्रतिपालय ॥

(वा० रा०, उत्तर० ५५ । ३-१०)

लक्ष्मणके इस प्रकार कहनेपर इक्ष्वाकुकुलनन्दन रामने पुनः उत्तम धर्मसे युक्त कथा कहनी आरम्भ —'सुमित्रानन्दन! महात्मा इक्ष्वाकु-पुत्रोंमें निमि नामक राजा हो गये हैं, जो इक्ष्वाकुके बारहवें पुत्र थे। वे क्रम और धर्ममें पूर्णतः स्थिर रहनेवाले थे। उन क्रमसम्पन्न नरेशने उन दिनों गौतम-आश्रमके निकट पुरीके समान एक नगर बसाया। महायशस्वी राजर्षि ने जिस नगरमें अपना निवासस्थान बनाया, का सुन्दर नाम रक्खा गया वैजयन्त। इसी नामसे नगरकी प्रसिद्धि हुई (देवराज इन्द्रके प्रासादका वैजयन्त है, उसीकी समतासे निमिके नगरका यही नाम रक्खा गया था)। उस महान् नगरको कर राजाके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं के हृदयको आह्लाद प्रदान करनेके लिये एक ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करूँ, जो दीर्घकालतक चालू रहनेवाला हो। तदनन्तर इक्ष्वाकुनन्दन राजर्षि निमिने अपने पिता मनुपुत्र इक्ष्वाकुसे पूछकर अपना यज्ञ करानेके लिये सबसे पहले ब्रह्मर्षिशिरोमणि वसिष्ठजीका वरण किया। उसके बाद अत्रि, अङ्गिरा तथा तपोनिधि भृगुको भी आमन्त्रित किया। उस समय महर्षि वसिष्ठने राजर्षियोंमें निमिसे कहा—'देवराज इन्द्र एक यज्ञके लिये पह ही मेरा वरण कर चुके हैं; अतः वह यज्ञ जबतक स न हो जाय तबतक तुम मेरे आगमनकी प्रतीक्षा क

अनन्तरं महाविप्रो गौतमः प्रत्यपूरयत् ।
वसिष्ठोऽपि महातेजा इन्द्रयज्ञमथाकरोत् ॥
निमिस्तु राजा विप्रांस्तान् समानीय नराधिपः ।
अयजद्धिमवत्पार्श्वे स्वपुरस्य समीपतः ॥
पञ्चवर्षसहस्राणि राजा दीक्षामथाकरोत् ।
इन्द्रयज्ञावसाने तु वसिष्ठो भगवानृषिः ॥
सकाशमागतो राज्ञो हौत्रं कर्तुमनिन्दितः ।
तदन्तरमथापश्यद् गौतमेनाभिपूरितम् ॥
कोपेन महताऽऽविष्टो वसिष्ठो ब्रह्मणः सुतः ।
स राज्ञो दर्शनाकाङ्क्षी मुहूर्तं समुपाविशत् ॥
तस्मिन्नहनि राजर्षिर्निद्रयापहृतो भृशम् ।
ततो मन्युर्वसिष्ठस्य प्रादुरासीन्महात्मनः ॥
अदर्शनेन राजर्षेर्व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥
यस्मात् त्वमन्यं वृतवान् मामवज्ञाय पार्थिव ।
चेतनेन विनाभूतो देहस्ते पार्थिवैष्यति ॥
ततः प्रबुद्धो राजा तु श्रुत्वा शापमुदाहृतम् ।
ब्रह्मयोनिमथोवाच स राजा क्रोधमूर्च्छितः ॥
अजानतः शयानस्य क्रोधेन कलुषीकृतः ।
उक्तवान् मम शापाग्निं यमदण्डमिवापरम् ॥
तस्मात् तवापि ब्रह्मर्षे चेतनेन विनाकृतः ।
देहः स सुचिरप्रख्यो भविष्यति न संशयः ॥
इति रोषवशादुभौ तदानी-
मन्योन्यं शपितौ नृपद्विजेन्द्रौ ।
सहसैव बभूवतुर्विदेहौ
तत्तुल्याधिगतप्रभाववन्तौ ॥

(वा० रा०, उत्तर० ५५ । ११-२१)

'वसिष्ठजीके चले जानेके बाद महान् ब्राह्मण मह गौतमने आकर उनके कामको पूरा कर दिया। इध

महातेजस्वी वसिष्ठ भी इन्द्रका यज्ञ पूरा कराने लगे। नरेश्वर राजा निमिने उन ब्राह्मणोंको बुलाकर हिमालयके पास अपने नगरके निकट ही यज्ञ आरम्भ कर दिया, राजा निमिने पाँच हजार वर्षोंतकके लिये यज्ञकी दीक्षा ली। उधर इन्द्र-यज्ञकी समाप्ति होनेपर अनिन्द्य भगवान् वसिष्ठ ऋषि राजा निमिके पास होतृकर्म करनेके लिये आये। वहाँ आकर उन्होंने देखा कि जो समय प्रतीक्षाके लिये दिया था, उसे गौतमने आकर पूरा कर दिया। यह देख ब्रह्मकुमार वसिष्ठ महान् क्रोधसे भर गये और राजासे मिलनेके लिये दो घड़ी वहाँ बैठे रहे। परंतु उस दिन राजर्षि निमि अत्यन्त निद्राके वशीभूत हो सो गये थे। राजा मिले नहीं, इस कारण महात्मा वसिष्ठ मुनिको बड़ा क्रोध हुआ। वे राजर्षिको लक्ष्य करके बोलने लगे—'भूपाल निमे! तुमने मेरी अवहेलना करके दूसरे पुरोहितका वरण कर लिया है, इसलिये तुम्हारा यह शरीर अचेतन होकर गिर जायगा।' तदनन्तर राजाकी नींद खुली। वे उनके दिये हुए शापकी बात सुनकर क्रोधसे मूर्छित हो गये और ब्रह्मपुत्र वसिष्ठसे बोले—'मुझे आपके आगमनकी बात ज्ञात नहीं हुई थी, इसलिये सोता रहा। परंतु आपने क्रोधसे कलुषित होकर मेरे ऊपर दूसरे यमदण्डकी भाँति शापाग्निका प्रहार किया है। अतः ब्रह्मर्षे! चिरन्तन शोभासे युक्त जो आपका शरीर है, वह भी अचेतन होकर गिर जायगा—इसमें संशय नहीं है।' इस प्रकार उस समय रोषके वशीभूत हुए वे दोनों नृपेन्द्र और द्विजेन्द्र परस्पर शाप दे सहसा विदेह हो गये। उन दोनोंका प्रभाव ब्रह्माजीके समान था।'

श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे कही गयी यह कथा सुनकर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मण उद्दीप्त तेजवाले श्रीरघुनाथजीसे हाथ जोड़कर बोले—'ककुत्स्थकुलभूषण! वे ब्रह्मर्षि और वे भूपाल दोनों देवताओंके भी सम्मानपात्र थे। उन्होंने अपने शरीरोंका त्याग करके फिर नूतन शरीर कैसे ग्रहण किया?' लक्ष्मणके इस प्रकार पूछनेपर इक्ष्वाकुकुलनन्दन महातेजस्वी पुरुषप्रवर श्रीरामने उनसे इस प्रकार कहा—

तौ परस्परशापेन देहमुत्सृज्य धार्मिकौ।
अभूतां नृपविप्रर्षी वायुभूतौ तपोधनौ॥
अशरीरः शरीरस्य कृतेऽन्यस्य महामुनिः।
वसिष्ठस्तु महातेजा जगाम पितुरन्तिकम्॥
सोऽभिवाद्य ततः पादौ देवदेवस्य धर्मवित्।
पितामहमथोवाच वायुभूत इदं वचः॥
भगवन् निमिशापेन विदेहत्वमुपागमम्।
देवदेव महादेव वायुभूतोऽहमण्डज॥
सर्वेषां देहहीनानां महद् दुःखं भविष्यति।
लुप्यन्ते सर्वकार्याणि हीनदेहस्य वै प्रभो॥
देहस्यान्यस्य सद्भावे प्रसादं कर्तुमर्हसि।
तमुवाच ततो ब्रह्मा स्वयम्भूरमितप्रभः॥
मित्रावरुणजं तेज आविश त्वं महायशः।
अयोनिजस्त्वं भविता तत्रापि द्विजसत्तम।
धर्मेण महता युक्तः पुनरेष्यसि मे वशम्॥
एवमुक्तस्तु देवेन अभिवाद्य प्रदक्षिणम्।
कृत्वा पितामहं तूर्णं प्रययौ वरुणालयम्॥
तमेव कालं मित्रोऽपि वरुणत्वमकारयत्।
क्षीरोदेन सहोपेतः पूज्यमानः सुरेश्वरैः॥

(वा० रा०, उत्तर० ५६। ४—१२)

"सुमित्रानन्दन! एक दूसरेके शापसे देह त्याग करके तपस्याके धनी वे धर्मात्मा राजर्षि और महर्षि वायुरूप हो गये। महातेजस्वी महामुनि वसिष्ठ शरीररहित हो जानेपर दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये अपने पिता ब्रह्माजीके पास गये। धर्मके ज्ञाता वायुरूप वसिष्ठजीने देवाधिदेव ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके उन पितामहसे इस प्रकार कहा—'ब्रह्माण्डकटाहसे प्रकट हुए देवाधिदेव महादेव! भगवन्! मैं राजा निमिके शापसे देहहीन हो गया हूँ; अतः वायुरूपमें रह रहा हूँ। प्रभो! समस्त देहहीनोंको महान् दुःख होता है और

होता रहेगा; क्योंकि देहहीन प्राणीके सभी कार्य लुप्त हो जाते हैं। अतः दूसरे शरीरकी प्राप्तिके लिये आप मुझपर कृपा करें।' तब अमित तेजस्वी स्वयम्भू ब्रह्माने उनसे कहा—'महायशस्वी द्विजश्रेष्ठ! तुम मित्र और वरुणके छोड़े हुए तेज (वीर्य) में प्रविष्ट हो जाओ। वहाँ जानेपर भी तुम अयोनिज रूपसे ही उत्पन्न होओगे और महान् धर्मसे युक्त हो पुत्ररूपसे मेरे वशमें आ जाओगे (मेरे पुत्र होनेके कारण तुम्हें पूर्ववत् प्रजापतिका पद प्राप्त होगा।)' ब्रह्माजीके यों कहनेपर उनके चरणोंमें प्रणाम तथा उनकी परिक्रमा करके वायुरूप वसिष्ठजी वरुणलोकको चले गये। उन्हीं दिनों मित्रदेवता भी वरुणके अधिकारका पालन कर रहे थे। वे वरुणके साथ रहकर समस्त देवेश्वरों- —— पूजित होते थे।''

तस्मिन्नेव काले तु उर्वशी परमाप्सराः।
इच्छया तमुद्देशमागता सखिभिर्वृता॥
तां दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां क्रीडन्तीं वरुणालये।
दाऽऽविशत् परो हर्षो वरुणं चोर्वशीकृते॥
तां पद्मपलाशाक्षीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम्।
रुणो वरयामास मैथुनायाप्सरोवराम्॥
त्युवाच ततः सा तु वरुणं प्राञ्जलिः स्थिता।
मेत्रेणाहं वृता साक्षात् पूर्वमेव सुरेश्वर॥
रुणस्त्वब्रवीद् वाक्यं कंदर्पशरपीडितः।
दं तेजः समुत्स्रक्ष्ये कुम्भेऽस्मिन् देवनिर्मिते॥
एवमुत्सृज्य सुश्रोणि त्वय्यहं वरवर्णिनि।
फलकामो भविष्यामि यदि नेच्छसि संगमम्॥
स्य तल्लोकनाथस्य वरुणस्य सुभाषितम्।
उर्वशी परमप्रीता श्रुत्वा वाक्यमुवाच ह॥
कामामेतद् भवत्वेवं हृदयं मे त्वयि स्थितम्।
भावश्चाप्यधिकं तुभ्यं देहो मित्रस्य तु प्रभो॥
उर्वश्या एवमुक्तस्तु रेतस्तन्महदद्भुतम्।
ज्वलदग्निसमप्रख्यं तस्मिन् कुम्भे न्यवासृजत्॥

(वा० रा०, उत्तर० ५६। १३-२१)

''इसी समय अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशी सखियोंसे घिरी हुई अकस्मात् उस स्थानपर आ गयी। उस परम सुन्दरी अप्सराको समुद्रमें जलक्रीडा करती देख वरुणके मनमें उर्वशीके लिये अत्यन्त उल्लास प्रकट हुआ। उन्होंने प्रफुल्ल कमलके समान नेत्र और पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाली उस सुन्दरी अप्सराको आमन्त्रित किया। तब उर्वशीने हाथ जोड़कर वरुणसे कहा—'सुरेश्वर! साक्षात् मित्रदेवताने पहलेसे ही मेरा वरण कर लिया है।' यह सुनकर वरुणने कामदेवके बाणोंसे पीड़ित होकर कहा—'सुन्दर रूप-रंगवाली सुश्रोणि! यदि तुम मुझसे समागम करना नहीं चाहतीं तो मैं तुम्हारे समीप इस देवनिर्मित कुम्भमें अपना यह वीर्य छोड़ दूँगा और इस प्रकार छोड़कर ही सफलमनोरथ हो जाऊँगा।' लोकनाथ वरुणका यह मनोहर वचन सुनकर उर्वशीको बड़ी प्रसन्नता हुई और वह बोली—'प्रभो! आपकी इच्छाके अनुसार ऐसा ही हो। मेरा हृदय विशेषतः आपमें अनुरक्त है और आपका अनुराग भी मुझमें अधिक है; इसलिये आप मेरे उद्देश्यसे उस कुम्भमें वीर्याधान कीजिये। इस शरीरपर तो इस समय मित्रका अधिकार हो चुका है।' उर्वशीके यों कहनेपर वरुणने प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशमान अपने अत्यन्त अद्भुत तेज (वीर्य) को उस कुम्भमें डाल दिया।''

उर्वशी त्वगमत् तत्र मित्रो वै यत्र देवता।
तां तु मित्रः सुसंक्रुद्ध उर्वशीमिदमब्रवीत्॥
मयाभिमन्त्रिता पूर्वं कस्मात् त्वमवसर्जिता।
पतिमन्यं वृतवती किमर्थं दुष्टचारिणि॥
अनेन दुष्कृतेन त्वं मत्क्रोधकलुषीकृता।
मनुष्यलोकमास्थाय कंचित् कालं निवत्स्यसि॥
बुधस्य पुत्रो राजर्षिः काशिराजः पुरूरवाः।
तमभ्यागच्छ दुर्बुद्धे स ते भर्ता भविष्यति॥

ततः सा शापदोषेण पुरूरवसमभ्यगात् ।
प्रतिष्ठाने पुरूरवं बुधस्यात्मजमौरसम् ॥
तस्य जज्ञे ततः श्रीमानायुः पुत्रो महाबलः ।
नहुषो यस्य पुत्रस्तु बभूवेन्द्रसमद्युतिः ॥
वज्रमुत्सृज्य वृत्राय श्रान्तेऽथ त्रिदिवेश्वरे ।
शतं वर्षसहस्राणि येनेन्द्रत्वं प्रशासितम् ॥
सा तेन शापेन जगाम भूमिं
तदोर्वशी चारुदती सुनेत्रा ।
बहूनि वर्षाण्यवसच्च सुभ्रूः
शापक्षयादिन्द्रसहो ययौ च ॥
(वा० रा०, उत्तर० ५६ । २२–२९)

"तदनन्तर उर्वशी उस स्थानपर गयी, जहाँ मित्रदेवता विराजमान थे । उस समय मित्र अत्यन्त कुपित हो उस उर्वशीसे इस प्रकार बोले—'दुराचारिणि ! पहले मैंने तुझे समागमके लिये आमन्त्रित किया था; फिर किसलिये तूने मेरा त्याग किया और क्यों दूसरे पतिका वरण कर लिया ? अपने इस पापके कारण मेरे क्रोधसे कलुषित हो तू कुछ काल-तक मनुष्यलोकमें जाकर निवास करेगी । दुर्बुद्धे ! बुधके पुत्र राजर्षि पुरूरवा, काशिदेशके राजा हैं; तू उनके पास चली जा, वे ही तेरे पति होंगे ।' तब वह शाप-दोषसे दूषित हो प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग-झूसी) में बुधके औरस पुत्र पुरूरवाके पास गयी । पुरूरवाके उर्वशीके गर्भसे श्रीमान् आयु नामक महाबली पुत्र हुआ, जिसके पुत्र इन्द्रतुल्य तेजस्वी महाराज नहुष थे । वृत्रा-सुरपर वज्रका प्रहार करके जब देवराज इन्द्र ब्रह्महत्याके भयसे दुखी हो छिप गये थे, तब नहुषने ही एक लाख वर्षोंतक 'इन्द्र' पदपर प्रतिष्ठित हो त्रिलोकीके राज्यका शासन किया था । मनोहर दाँत और सुन्दर नेत्रोंवाली उर्वशी मित्रके दिये हुए उस शापसे भूतलपर चली गयी । वहाँ वह सुन्दरी बहुत वर्षोंतक रही । फिर शापका क्षय होनेपर इन्द्रसभामें चली गयी ।"

इस दिव्य एवं अद्भुत कथाको सुननेपर लक्ष्मणको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे श्रीरघुनाथजीसे बोले—'काकुत्स्थ ! वे ब्रह्मर्षि वसिष्ठ तथा राजर्षि निमि, जो देवताओंद्वारा भी सम्मानित थे, अपने-अपने शरीरको छोड़कर फिर नूतन शरीरसे किस प्रकार संयुक्त हुए ?' उनका यह प्रश्न सुनकर सत्यपराक्रमी श्रीरामने महात्मा वसिष्ठके शरीर-ग्रहणसे सम्बन्ध रखनेवाली उस कथाको पुनः कहना आरम्भ किया—

यः स कुम्भो रघुश्रेष्ठ तेजःपूर्णो महात्मनोः ।
तस्मिंस्तेजोमयौ विप्रौ सम्भूतावृषिसत्तमौ ॥
पूर्वं समभवत् तत्र अगस्त्यो भगवानृषिः ।
नाहं सुतस्तवेत्युक्त्वा मित्रं तस्मादपाक्रमत् ॥
तद्धि तेजस्तु मित्रस्य उर्वश्याः पूर्वमाहितम् ।
तस्मिन् समभवत् कुम्भे तत्तेजो यत्र वारुणम् ॥
कस्यचित् त्वथ कालस्य मित्रावरुणसम्भवः ।
वसिष्ठस्तेजसा युक्तो जज्ञे इक्ष्वाकुदैवतम् ॥
तमिक्ष्वाकुर्महातेजा जातमात्रमनिन्दितम् ।
वव्रे पुरोधसं सौम्य वंशस्यास्य हिताय नः ॥
एवं त्वपूर्वदेहस्य वसिष्ठस्य महात्मनः ।
कथितो निर्गमः सौम्य निमेः शृणु यथाभवत् ॥
दृष्ट्वा विदेहं राजानमृषयः सर्व एव ते ।
तं च ते याजयामासुर्यज्ञदीक्षां मनीषिणः ॥
तं च देहं नरेन्द्रस्य रक्षन्ति स्म द्विजोत्तमाः ।
गन्धैर्माल्यैश्च वस्त्रैश्च पौरभृत्यसमन्विताः ॥
ततो यज्ञे समाप्ते तु भृगुस्तत्रेदमब्रवीत् ।
आनयिष्यामि ते चेतस्तुष्टोऽस्मि तव पार्थिव ॥
(वा० रा०, उत्तर० ५७ । ४—१२)

"रघुश्रेष्ठ ! महामना मित्र और वरुणदेवताके तेज (वीर्य) से युक्त जो वह प्रसिद्ध कुम्भ था, उससे दो तेजस्वी ब्राह्मण प्रकट हुए । वे दोनों ही ऋषियोंमें श्रेष्ठ थे । पहले उस घटसे महर्षि भगवान् अगस्त्य उत्पन्न हुए और मित्रसे यह कहकर कि 'मैं आपका पुत्र नहीं हूँ' वहाँसे अन्यत्र चले गये । वह मित्रका तेज था, जो उर्वशीके निमित्तसे पहले ही उस कुम्भमें स्थापित किया

जा चुका था। तत्पश्चात् उस कुम्भमें वरुणदेवताका तेज भी सम्मिलित हो गया था। फलतः कुछ कालके बाद मित्रावरुणके उस वीर्यसे तेजस्वी वसिष्ठमुनिका प्रादुर्भाव हुआ, जो इक्ष्वाकुकुलके देवता (गुरु या पुरोहित) हुए। सौम्य लक्ष्मण! महातेजस्वी राजा इक्ष्वाकुने उनके वहाँ जन्म ग्रहण करते ही उन अनिन्द्य मुनि वसिष्ठका हमारे इस कुलके हितके लिये पुरोहितके पदपर वरण कर लिया। सौम्य! इस प्रकार नूतन शरीरसे युक्त वसिष्ठ मुनिकी उत्पत्तिका प्रकार बताया गया। अब निमिका जैसा वृत्तान्त है, वह सुनो। राजा निमिको देहसे पृथक् हुआ देख उन सभी मनीषी ऋषियोंने स्वयं ही यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करके उस यज्ञको पूरा किया। उन श्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंने पुरवासियों और सेवकोंके साथ रहकर गन्ध, पुष्प और वस्त्रोंसहित राजा निमिके उस शरीरको तेलके कड़ाह आदिमें सुरक्षित रक्खा। तदनन्तर जब यज्ञ समाप्त हुआ, तब वहाँ भृगुने कहा—'राजन्! (राजाके शरीरके अभिमानी जीवात्मन्!) मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हूँ; अतः यदि तुम चाहो तो तुम्हारे जीवचैतन्यको मैं पुनः इस शरीरमें ला दूँगा।'

सुप्रीताश्च सुराः सर्वे निमेश्चेतस्तदाब्रुवन्।
वरं वरय राजर्षे क्व ते चेतो निरूप्यताम्॥
एवमुक्तः सुरैः सर्वैर्निमेश्चेतस्तदाब्रवीत्।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वसेयं सुरसत्तमाः॥
बाढमित्येव विबुधा निमेश्चेतस्तदाब्रुवन्।
नेत्रेषु सर्वभूतानां वायुभूतश्चरिष्यसि॥
त्वत्कृते च निमिष्यन्ति चक्षूंषि पृथिवीपते।
वायुभूतेन चरता विश्रमार्थं मुहुर्मुहुः॥
एवमुक्त्वा तु विबुधाः सर्वे जग्मुर्यथागतम्।
ऋषयोऽपि महात्मानो निमेर्देहं समाहरन्॥
अरणिं तत्र निक्षिप्य मथनं चक्रुरोजसा।
मन्त्रहोमैर्महात्मानः पुत्रहेतोर्निमेस्तदा॥
अरण्यां मथ्यमानायां प्रादुर्भूतो महातपाः।
मथनान्मिथिरित्याहुर्जननाज्जनकोऽभवत्॥
यस्माद् विदेहात् सम्भूतो वैदेहस्तु ततः स्मृतः।
एवं विदेहराजश्च जनकः पूर्वकोऽभवत्।
मिथिर्नाम महातेजास्तेनायं मैथिलोऽभवत्॥
इति सर्वमशेषतो मया
कथितं सम्भवकारणं तु सौम्य।
नृपपुंगवशापजं द्विजस्य
द्विजशापाच्च यदद्भुतं नृपस्य॥

(वा० रा०, उत्तर० ५७। १३–२१)

"भृगुके साथ ही सब देवताओंने भी अत्यन्त प्रसन्न होकर निमिके जीवात्मासे कहा—'राजर्षे! वर माँगो। तुम्हारे जीवचैतन्यको कहाँ स्थापित किया जाय।' समस्त देवताओंके यों कहनेपर निमिके जीवात्माने उस समय उनसे कहा—'सुरश्रेष्ठो! मैं समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें निवास करना चाहता हूँ।' तब देवताओंने निमिके जीवात्मासे कहा—'बहुत अच्छा; तुम वायुरूप होकर समस्त प्राणियोंके नेत्रोंमें विचरते रहोगे। पृथ्वीनाथ! वायुरूपसे विचरते हुए तुम्हारे सम्बन्धसे जो थकावट होगी, उसका निवारण करके विश्राम पानेके लिये प्राणियोंके नेत्र बारंबार बंद हो जाया करेंगे।' यों कहकर सब देवता जैसे आये थे वैसे चले गये; फिर महात्मा ऋषियोंने निमिके शरीरको पकड़ा और उसपर अरणि रखकर उसे बलपूर्वक मथन आरम्भ किया। पूर्ववत् मन्त्रोच्चारणपूर्वक होम करते हुए उन महात्माओंने जब निमिके पुत्रकी उत्पत्तिके लिये अरणि-मन्थन आरम्भ किया, तब उस मन्थनसे महातपस्वी मिथि उत्पन्न हुए। इस अद्भुत जन्मके हेतु होनेके कारण वे जनक कहलाये तथा विदेह (जीवरहित शरीर) से प्रकट होनेके कारण उन्हें वैदेह भी कहा गया। इस प्रकार पहले विदेहराज जनकका नाम महातेजस्वी मिथि हुआ, जिससे यह जनकवंश मैथिल

कहलाया । सौम्य लक्ष्मण ! राजाओंमें श्रेष्ठ निमिके शापसे ब्राह्मण वसिष्ठका और ब्राह्मण वसिष्ठके शापसे राजा निमिका जो अद्भुत जन्म घटित हुआ, उसका सारा कारण मैंने तुम्हें कह सुनाया ।''

श्रीरामके यों कहनेपर शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले लक्ष्मणने तेजसे प्रज्वलित होते हुए-से महात्मा श्रीरामको सम्बोधित करके इस प्रकार कहा—'नृपश्रेष्ठ ! राजा विदेह (निमि) तथा वसिष्ठ मुनिका पुरातन वृत्तान्त अत्यन्त अद्भुत और आश्चर्यजनक है । परंतु राजा निमि क्षत्रिय, शूरवीर और विशेषतः यज्ञकी दीक्षा लिये हुए थे; अतः उन्होंने महात्मा वसिष्ठके प्रति उचित बर्ताव नहीं किया ।' लक्ष्मणके इस तरह कहनेपर दूसरोंके मनको रमाने (प्रसन्न रखने) वालोंमें श्रेष्ठ क्षत्रियशिरोमणि श्रीरामने सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता और उद्दीप्त तेजस्वी भ्राता लक्ष्मणसे कहा—

न सर्वत्र क्षमा वीर पुरुषेषु प्रदृश्यते ॥
सौमित्रे दुस्सहो रोषो यथा क्षान्तो ययातिना ।
सत्त्वानुगं पुरस्कृत्य तन्निबोध समाहितः ॥
नहुषस्य सुतो राजा ययातिः पौरवर्धनः ।
तस्य भार्याद्वयं सौम्य रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥
एका तु तस्य राजर्षेर्नाहुषस्य पुरस्कृता ।
शर्मिष्ठा नाम दैतेयी दुहिता वृषपर्वणः ॥
अन्या तूशनसः पत्नी ययातेः पुरुषर्षभ ।
न तु सा दयिता राज्ञो देवयानी सुमध्यमा ॥
तयोः पुत्रौ तु सम्भूतौ रूपवन्तौ समाहितौ ।
शर्मिष्ठाजनयत् पूरुं देवयानी यदुं तदा ॥
पूरुस्तु दयितो राज्ञो गुणैर्मातृकृतेन च ।
ततो दुःखसमाविष्टो यदुर्मातरमब्रवीत् ॥
भार्गवस्य कुले जाता देवस्याक्लिष्टकर्मणः ।
सहसे हृद्गतं दुःखमवमानं च दुस्सहम् ॥
आवां च सहितौ देवि प्रविशाव हुताशनम् ।
राजा तु रमतां सार्धं दैत्यपुत्र्या बहुक्षपाः ॥
यदि वा सहनीयं ते मामनुज्ञातुमर्हसि ।
क्षम त्वं न क्षमिष्येऽहं मरिष्यामि न संशयः ॥
पुत्रस्य भाषितं श्रुत्वा परमार्तस्य रोदतः ।
देवयानी तु संक्रुद्धा सस्मार पितरं तदा ॥

(वा० रा०, उत्तर० ५८ । ५—१५)

''वीर सुमित्राकुमार ! सभी पुरुषोंमें वैसी क्षमा नहीं दिखायी देती, जैसी राजा ययातिमें थी । राजा ययातिने सत्त्वगुणके अनुकूल मार्गका आश्रय ले दुस्सह रोषको सहन कर लिया था । वह प्रसङ्ग बताता हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो । सौम्य ! नहुषके पुत्र राजा ययाति पुरवासियों—प्रजाजनोंकी वृद्धि करनेवाले थे । उनके दो पत्नियाँ थीं, जिनके रूपकी इस भूतलपर कहीं तुलना नहीं थी । नहुषनन्दन राजर्षि ययातिकी एक पत्नीका नाम शर्मिष्ठा था, जो राजाके द्वारा बहुत ही सम्मानित थी । शर्मिष्ठा दैत्यकुलकी कन्या और वृषपर्वाकी पुत्री थी । पुरुषप्रवर ! उनकी दूसरी पत्नी शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानी थी । देवयानी सुन्दरी होनेपर भी राजाको अधिक प्रिय नहीं थी । उन दोनोंके ही पुत्र बड़े रूपवान् हुए । शर्मिष्ठाने पूरुको जन्म दिया और देवयानीने यदुको । वे दोनों बालक अपने चित्तको एकाग्र रखनेवाले थे । अपनी माताके कारण और अपने गुणोंसे पूरु राजाको अधिक प्रिय था । इससे यदुके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वे मातासे बोले—'मा ! तुम अनायास ही महान् कर्म करनेवाले देवस्वरूप शुक्राचार्यके कुलमें उत्पन्न हुई हो, तो भी यहाँ हार्दिक दुःख और दुस्सह अपमान सहती हो । अतः देवि ! हम दोनों एक साथ ही अग्निमें प्रवेश कर जायँ । राजा दैत्यपुत्री शर्मिष्ठाके साथ अनन्त

रात्रियोंतक रमण करते रहें। यदि तुम्हें यह सब कुछ सहन करना है तो मुझे ही प्राणत्यागकी आज्ञा दे दो। तुम्हीं सहो, मैं नहीं सहूँगा; मैं निःसंदेह मर जाऊँगा।' अत्यन्त आर्त होकर रोते हुए अपने पुत्र यदुकी यह बात सुनकर देवयानीको बड़ा क्रोध हुआ और उन्होंने तत्काल अपने पिता शुक्राचार्यजीका स्मरण किया।

शुक्राचार्य अपनी पुत्रीकी उस चेष्टाको जानकर तत्काल उस स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ देवयानी विद्यमान थी। बेटीको अस्वस्थ, अप्रसन्न और अचेत-सी देखकर पिताने पूछा—'वत्से! यह क्या बात है?' उद्दीप्त तेजवाले पिता भृगुनन्दन शुक्राचार्य जब बारंबार इस प्रकार पूछने लगे, तब देवयानीने अत्यन्त कुपित होकर उनसे कहा—

अहमग्निं विषं तीक्ष्णमपो वा मुनिसत्तम।
भक्षयिष्ये प्रवेक्ष्ये वा न तु शक्ष्यामि जीवितुम्॥
न मां त्वमवजानीषे दुःखितामवमानिताम्।
वृक्षस्यावज्ञया ब्रह्मंश्छिद्यन्ते वृक्षजीविनः॥
अवज्ञया च राजर्षिः परिभूय च भार्गव।
मय्यवज्ञां प्रयुङ्क्ते हि न च मां बहु मन्यते॥
तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कोपेनाभिपरीवृतः।
व्याहर्तुमुपचक्राम भार्गवो नहुषात्मजम्॥
यस्मान्मामवजानीषे नाहुष त्वं दुरात्मवान्।
वयसा जरया जीर्णः शैथिल्यमुपयास्यसि॥
एवमुक्त्वा दुहितरं समाश्वास्य स भार्गवः।
पुनर्जगाम ब्रह्मर्षिर्भवनं स्वं महायशाः॥
स एवमुक्त्वा द्विजपुंगवाग्र्यः
सुतां समाश्वास्य च देवयानीम्।
पुनर्ययौ सूर्यसमानतेजा
दत्त्वा च शापं नहुषात्मजाय॥

(वा० रा०, उत्तर० ५८। १९-२५)

'मुनिश्रेष्ठ! मैं प्रज्वलित अग्नि या अगाध जलमें प्रवेश कर जाऊँगी अथवा विष खा लूँगी; किंतु इस प्रकार अपमानित होकर जीवित नहीं रह सकूँगी। आपको पता नहीं है कि मैं यहाँ कितनी दुखी औ अपमानित हूँ। ब्रह्मन्! वृक्षके प्रति अवहेलना होने उसके आश्रित फूलों और पत्तोंको ही तोड़ा और न किया जाता है (इसी तरह आपके प्रति राजाव अवहेलना होनेसे ही मेरा यहाँ अपमान हो रहा है) भृगुनन्दन! राजर्षि ययाति आपके प्रति अनादरका भा रखनेके कारण मेरी भी तिरस्कारपूर्वक अवहेलना कर हैं और मुझे अधिक आदर नहीं देते।' देवयानीकी य बात सुनकर भृगुनन्दन शुक्राचार्य क्रोधसे भर ग और उन्होंने नहुषपुत्र ययातिको लक्ष्य करके इस प्रका कहना आरम्भ किया—'नहुषकुमार! तुम दुरात्म होनेके कारण मेरी अवहेलना करते हो, इसलिये तुम्हारी देह जरा-जीर्ण हो जायगी और तुम सर्वथा शिथिल हो जाओगे।' राजासे यों कहकर एवं पुत्रीको आश्वासन दे महायशस्वी ब्रह्मर्षि शुक्राचार्य पुनः अपने घरको चले गये। सूर्यके समान तेजस्वी तथा ब्राह्मणशिरोमणियोंमें अग्रगण्य शुक्राचार्य देवयानीको आश्वासन दे नहुषपुत्र ययातिको यों कहकर उन्हें पूर्वोक्त शाप दे फिर चले गये।

श्रुत्वा तूशनसं क्रुद्धं तदाऽऽर्तो नहुषात्मजः।
जरां परमिकां प्राप्य यदुं वचनमब्रवीत्॥
यदो त्वमसि धर्मज्ञो मदर्थं प्रतिगृह्यताम्।
जरा परमिका पुत्र भोगै रंस्ये महायशः॥
न तावत् कृतकृत्योऽस्मि विषयेषु नरर्षभ।
अनुभूय तदा कामं ततः प्राप्स्याम्यहं जराम्॥
यदुस्तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच नरर्षभम्।
पुत्रस्ते दयितः पूरुः प्रतिगृह्णातु वै जराम्॥
बहिष्कृतोऽहमर्थेषु संनिकर्षाच्च पार्थिव।
प्रतिगृह्णातु वै राजन् यैः सहाश्नासि भोजनम्॥

(वा० रा०, उत्तर० ५९। १-५)

"शुक्राचार्यके कुपित होनेका समाचार सुनकर नहुष-कुमार ययातिको बड़ा दुःख हुआ। उन्हें ऐसी वृद्धावस्था

प्राप्त हुई, जो दूसरेकी जवानीसे बदली जा सकती थी। उस विलक्षण जरावस्थाको पाकर राजाने यदुसे कहा—'यदो ! तुम धर्मके ज्ञाता हो। मेरे महायशस्वी पुत्र ! तुम मेरे लिये दूसरेके शरीरमें संचारित करनेयोग्य इस जरावस्थाको ले लो। मैं भोगोंद्वारा रमण करूँगा—अपनी भोगविषयक इच्छाको पूर्ण करूँगा। नरश्रेष्ठ ! अभीतक मैं विषयभोगोंसे तृप्त नहीं हुआ हूँ। इच्छानुसार विषयसुखका अनुभव करके फिर अपनी वृद्धावस्था मैं तुमसे ले लूँगा।' उनकी यह बात सुनकर यदुने नरश्रेष्ठ ययातिको उत्तर दिया—'आपके लाड़िले बेटे पूरु ही इस वृद्धावस्थाको ग्रहण करें। पृथ्वीनाथ ! मुझे तो आपने धनसे तथा पास रहकर लाड़-प्यार पानेके अधिकारसे भी वञ्चित कर दिया है; अतः जिनके साथ बैठकर आप भोजन करते हैं, उन्हीं लोगोंसे युवावस्था ग्रहण कीजिये।'

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा पूरुमथाब्रवीत्।
इयं जरा महाबाहो मदर्थं प्रतिगृह्यताम्॥
नाहुषेणैवमुक्तस्तु पूरुः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि शासनेऽस्मि तव स्थितः॥
पूरोर्वचनमाज्ञाय नाहुषः परया मुदा।
प्रहर्षमतुलं लेभे जरां संक्रामयच्च ताम्॥
ततः स राजा तरुणः प्राप्य यज्ञान् सहस्रशः।
बहुवर्षसहस्राणि पालयामास मेदिनीम्॥
अथ दीर्घस्य कालस्य राजा पूरुमथाब्रवीत्।
आनयस्व जरां पुत्र न्यासं निर्यातयस्व मे॥
न्यासभूता मया पुत्र त्वयि संक्रामिता जरा।
तस्मात् प्रतिग्रहीष्यामि तां जरां मा व्यथां कृथाः॥
प्रीतश्चास्मि महाबाहो शासनस्य प्रतिग्रहात्।
त्वां चाहमभिषेक्ष्यामि प्रीतियुक्तो नराधिपम्॥
एवमुक्त्वा सुतं पूरुं ययातिर्नहुषात्मजः।
देवयानीसुतं क्रुद्धो राजा वाक्यमुवाच ह॥
(वा० रा०, उत्तर० ५९। ६—१३)

"यदुकी यह बात सुनकर राजाने पूरुसे कहा—'महाबाहो ! मेरी सुख-सुविधाके लिये तुम इस वृद्धा-वस्थाको ग्रहण कर लो।' नहुष-पुत्र ययातिके यों कहनेपर पूरु हाथ जोड़कर बोले—'पिताजी ! आपकी सेवाका अवसर पाकर मैं धन्य हो गया। यह आपका मेरे ऊपर महान् अनुग्रह है। आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं हर तरहसे तैयार हूँ।' पूरुका यह स्वीकृतिसूचक वचन सुनकर नहुषकुमार ययातिको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्हें अनुपम हर्ष प्राप्त हुआ और उन्होंने अपनी वृद्धावस्था पूरुके शरीरमें संचारित कर दी। तदनन्तर तरुण हुए राजा ययातिने सहस्रों यज्ञोंका अनुष्ठान करते हुए कई हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका पालन किया। इसके बाद दीर्घकाल व्यतीत होनेपर राजाने पूरुसे कहा—'बेटा ! तुम्हारे पास धरोहरके रूपमें रक्खी हुई मेरी वृद्धावस्था मुझे लौटा दो। पुत्र ! मैंने वृद्धावस्थाको धरोहरके रूपमें ही तुम्हारे शरीरमें संचारित किया था; इसलिये उसे वापस ले लूँगा। तुम अपने मनमें दुःख न मानना। महाबाहो ! तुमने मेरी आज्ञा मान ली, इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अब मैं बड़े प्रेमसे राजाके पदपर तुम्हारा अभिषेक करूँगा।' अपने पुत्र पूरुसे यों कहकर नहुषकुमार राजा ययाति देवयानीके बेटेसे कुपित होकर बोले—

राक्षसस्त्वं मया जातः क्षत्ररूपो दुरासदः।
प्रतिहंसि ममाज्ञां त्वं प्रजार्थे विफलो भव॥
पितरं गुरुभूतं मां यस्मात् त्वमवमन्यसे।
राक्षसान् यातुधानांस्त्वं जनयिष्यसि दारुणान्॥
न तु सोमकुलोत्पन्ने वंशे स्थास्यति दुर्मतेः।
वंशोऽपि भवतस्तुल्यो दुर्विनीतो भविष्यति॥
तमेवमुक्त्वा राजर्षिः पूरुं राज्यविवर्धनम्।
अभिषेकेण सम्पूज्य आश्रमं प्रविवेश ह॥

ततः कालेन महता दिष्टान्तमुपजग्मिवान् ।
त्रिदिवं स गतो राजा ययातिर्नहुषात्मजः ॥
पूरुश्चकार तद् राज्यं धर्मेण महता वृतः ।
प्रतिष्ठाने पुरवरे काशिराज्ये महायशाः ॥
यदुस्तु जनयामास यातुधानान् सहस्रशः ।
पुरे क्रौञ्चवने दुर्गे राजवंशबहिष्कृतः ॥
एष तूशनसा मुक्तः शापोत्सर्गो ययातिना ।
धारितः क्षत्रधर्मेण यं निमिश्चक्षमे न च ॥
एतत् ते सर्वमाख्यातं दर्शनं सर्वकारिणाम् ।
अनुवर्तामहे सौम्य दोषो न स्याद् यथा नृगे ॥

(वा० रा०, उत्तर० ५९ । १४-२२)

"यदो ! मैंने दुर्जय क्षत्रियके रूपमें तुम-जैसे राक्षसको जन्म दिया । तुमने मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है, अतः तुम अपनी संतानोंको राज्याधिकारी बनानेके विषयमें विफल-मनोरथ हो जाओ । मैं पिता हूँ, गुरु हूँ; फिर भी तुम मेरा अपमान करते हो । इसलिये भयंकर राक्षसों और यातुधानोंको तुम जन्म दोगे । तुम्हारी बुद्धि बहुत खोटी है । अतः तुम्हारी संतान सोमकुलमें उत्पन्न वंशपरम्परामें राजाके रूपसे प्रतिष्ठित नहीं होगी । तुम्हारी संतति भी तुम्हारे ही समान उद्दण्ड होगी ।' यदुसे यों कहकर राजर्षि ययातिने राज्यकी वृद्धि करनेवाले पूरुको अभिषेकके द्वारा सम्मानित करके वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश किया । तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् प्रारब्ध-भोगका क्षय होनेपर नहुषपुत्र राजा ययातिने शरीरको त्याग दिया और स्वर्गलोकके लिये प्रस्थान किया । उसके बाद महायशस्वी पूरुने महान् धर्मसे संयुक्त हो काशिराजकी श्रेष्ठ राजधानी प्रतिष्ठानपुरमें रहकर उस राज्यका पालन किया । राजकुलसे बहिष्कृत यदुने नगरमें तथा दुर्गम क्रौञ्चवनमें सहस्रों यातुधानोंको जन्म दिया । शुक्राचार्यके दिये हुए इस शापको राजा ययातिने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार धारण कर लिया, जब कि राजा निमिने वसिष्ठ-जीके शापको नहीं सहन किया । सौम्य ! यह सारा प्रसङ्ग मैंने तुम्हें सुना दिया । समस्त कृत्योंका पालन करनेवाले सत्पुरुषोंकी दृष्टि (विचार) का ही हम अनुसरण करते हैं, जिससे राजा नृगकी भाँति हमें भी दोष न प्राप्त हो ।"

अश्वमेधयज्ञकी चर्चाके प्रसङ्गमें लक्ष्मणकी कही हुई बात सुनकर बातचीतकी कलामें निपुण महातेजस्वी श्रीरघुनाथजी हँसते हुए बोले—

एवमेव नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
वृत्रघातमशेषेण वाजिमेधफलं च यत् ॥
श्रूयते हि पुरा सौम्य कर्दमस्य प्रजापतेः ।
पुत्रो बाह्लीश्वरः श्रीमानिलो नाम सुधार्मिकः ॥
स राजा पृथिवीं सर्वां वशे कृत्वा महायशाः ।
राज्यं चैव नरव्याघ्र पुत्रवत् पर्यपालयत् ॥
सुरैश्च परमोदारैर्दैतेयैश्च महाधनैः ।
नागराक्षसगन्धर्वैर्यक्षैश्च सुमहात्मभिः ॥
पूज्यते नित्यशः सौम्य भयार्तै रघुनन्दन ।
अबिभ्यंश्च त्रयो लोकाः सरोषस्य महात्मनः ॥
स राजा तादृशोऽप्यासीद् धर्मे वीर्ये च निष्ठितः ।
बुद्ध्या च परमोदारो बाह्लीकेशो महायशाः ॥
स प्रचक्रे महाबाहुर्मृगयां रुचिरे वने ।
चैत्रे मनोरमे मासे सभृत्यबलवाहनः ॥
प्रजघ्ने स नृपोऽरण्ये मृगाञ्शतसहस्रशः ।
हत्वैव तृप्तिर्नाभूच्च राज्ञस्तस्य महात्मनः ॥
नानामृगाणामयुतं वध्यमानं महात्मना ।
यत्र जातो महासेनस्तं देशमुपचक्रमे ॥
तस्मिन् प्रदेशे देवेशः शैलराजसुतां हरः ।
रमयामास दुर्धर्षः सर्वैरनुचरैः सह ॥
कृत्वा स्त्रीरूपमात्मानमुमेशो गोपतिध्वजः ।
देव्याः प्रियचिकीर्षुः संस्तस्मिन् पर्वतनिर्झरे ॥

(वा० रा०, उत्तर० ८७ । २-१२)

'नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! वृत्रासुरका सारा प्रसङ्ग और अश्वमेधयज्ञका जो फल तुमने जैसा बताया है, वह सब उसी रूपमें ठीक है । सौम्य ! सुना जाता है कि पूर्वकालमें प्रजापति कर्दमके पुत्र श्रीमान् इल बाह्लिक-देशके राजा थे । वे बड़े धर्मात्मा नरेश थे । पुरुषसिंह ! वे महायशस्वी भूपाल सारी पृथ्वीको वशमें करके अपने राज्यकी प्रजाका पुत्रकी भाँति पालन करते थे। सौम्य रघुनन्दन ! परम उदार देवता, महाधनी दैत्य तथा नाग, राक्षस, गन्धर्व और महामनस्वी यक्ष—ये सब भयभीत होकर सदा राजा इलकी स्तुति-पूजा करते थे तथा उन महामना नरेशके रुष्ट हो जानेपर तीनों लोकोंके प्राणी भयसे थर्रा उठते थे । ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी बाह्लीक देशके स्वामी महायशस्वी परम उदार राजा इल धर्म और पराक्रममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहते थे और उनकी बुद्धि भी स्थिर थी । एक समयकी बात है—सेवक, सेना और सवारियोंसहित उन महाबाहु नरेशने मनोरम चैत्रमासमें एक सुन्दर वनके भीतर शिकार खेलना आरम्भ किया । राजाने उस वनमें सैकड़ों-हजारों हिंसक जन्तुओंका वध किया, किंतु इतने ही जन्तुओंका वध करके उन महामनस्वी नरेशको तृप्ति नहीं हुई । फिर उन महामना इलके हाथसे नाना प्रकारके दस हजार हिंसक पशु मारे गये । तत्पश्चात् वे उस प्रदेशमें गये, जहाँ महासेन (स्वामी कार्तिकेय) का जन्म हुआ था । उस स्थानमें देवताओंके स्वामी दुर्जय देवता भगवान् शिव अपने समस्त सेवकोंके साथ रहकर गिरिराजकुमारी उमाका मनोरञ्जन करते थे । जिनकी ध्वजापर वृषभका चिह्न सुशोभित होता है, वे भगवान् उमावल्लभ अपने-आपको भी स्त्रीरूपमें प्रकट करके देवी पार्वतीका प्रिय करनेकी इच्छासे वहाँके पर्वतीय झरनेके पास उनके साथ विहार करते थे ।'

यत्र यत्र वनोद्देशे सत्त्वाः पुरुषवादिनः ।
वृक्षाः पुरुषनामानस्ते सर्वे स्त्रीजना भवन् ॥
यच्च किंचन तत् सर्वं नारीसंज्ञं बभूव ह ।
एतस्मिन्नन्तरे राजा स इलः कर्दमात्मजः ॥
निघ्नन् मृगसहस्राणि तं देशमुपचक्रमे ।
स दृष्ट्वा स्त्रीकृतं सर्वं सव्यालमृगपक्षिणम् ॥
आत्मानं स्त्रीकृतं चैव सानुगं रघुनन्दन ।
तस्य दुःखं महच्चासीद् दृष्ट्वाऽऽत्मानं तथागतम् ॥
उमापतेश्च तत् कर्म ज्ञात्वा त्रासमुपागमत् ।
ततो देवं महात्मानं शितिकण्ठं कपर्दिनम् ॥
जगाम शरणं राजा सभृत्यबलवाहनः ।
ततः प्रहस्य वरदः सह देव्या महेश्वरः ॥
प्रजापतिसुतं वाक्यमुवाच वरदः स्वयम् ।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ राजर्षे कार्दमेय महाबल ॥
पुरुषत्वमृते सौम्य वरं वरय सुव्रत ।
ततः स राजा शोकार्तः प्रत्याख्यातो महात्मना ॥
स्त्रीभूतोऽसौ न जग्राह वरमन्यं सुरोत्तमात् ।

(वा० रा०, उत्तर० ८७ । १३—२०½)

"उस वनके विभिन्न भागोंमें जहाँ-जहाँ पुँल्लिङ्ग-नामधारी जन्तु अथवा वृक्ष थे, वे सब-के-सब स्त्रीलिङ्गमें परिणत हो गये थे । वहाँ जो कुछ भी चराचर प्राणियोंका समूह था, वह सब स्त्रीनामधारी हो गया था । इसी समय कर्दमके पुत्र राजा इल सहस्रों हिंसक पशुओंका वध करते हुए उस देशमें आ गये । वहाँ आकर उन्होंने देखा, सर्प, पशु और पक्षियोंसहित उस वनका सारा प्राणिसमुदाय स्त्रीरूप हो गया है । रघुनन्दन ! सेवकोंसहित अपने आपको भी उन्होंने स्त्रीरूपमें परिणत हुआ देखा । अपनेको उस अवस्थामें देखकर राजाको बड़ा दुःख हुआ । यह सारा कार्य उमावल्लभ महादेवजीकी इच्छासे हुआ है, यह जानकर वे भयभीत हो उठे । तदनन्तर सेवक, सेना और सवारियोंसहित राजा इल जटाजूटधारी महात्मा भगवान् नीलकण्ठकी शरणमें गये । तब पार्वतीदेवीके साथ विराजमान वरदायक देवता महेश्वर हँसकर प्रजापति-पुत्र इलसे स्वयं बोले—'कर्दमकुमार महाबली राजर्षे !

उठो-उठो। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सौम्य नरेश! पुरुषत्व छोड़कर जो चाहो, वह वर माँग लो।' महात्मा भगवान् शंकरके इस प्रकार पुरुषत्व देनेसे इन्कार कर देनेपर स्त्रीरूप हुए राजा इल शोकसे व्याकुल हो गये। उन्होंने उन सुरश्रेष्ठ महादेवजीसे दूसरा कोई वर नहीं ग्रहण किया।

ततः शोकेन महता शैलराजसुतां नृपः॥
प्रणिपत्य उमां देवीं सर्वेणैवान्तरात्मना।
ईशे वराणां वरदे लोकानामसि भामिनी॥
अमोघदर्शने देवि भज सौम्येन चक्षुषा।
हृद्गतं तस्य राजर्षेर्विज्ञाय हरसंनिधौ॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं देवी रुद्रस्य सम्मता।
अर्धस्य देवो वरदो वरार्धस्य तव ह्यहम्॥
तस्मादर्धं गृहाण त्वं स्त्रीपुंसोर्यावदिच्छसि।
तदद्भुततरं श्रुत्वा देव्या वरमनुत्तमम्॥
सम्प्रहृष्टमना भूत्वा राजा वाक्यमथाब्रवीत्।
यदि देवि प्रसन्ना मे रूपेणाप्रतिमा भुवि॥
मासं स्त्रीत्वमुपासित्वा मासं स्यां पुरुषः पुनः।
ईप्सितं तस्य विज्ञाय देवी सुरुचिरानना॥
प्रत्युवाच शुभं वाक्यमेवमेव भविष्यति।
राजन् पुरुषभूतस्त्वं स्त्रीभावं न स्मरिष्यसि॥
स्त्रीभूतश्च परं मासं न स्मरिष्यसि पौरुषम्।
एवं स राजा पुरुषो मासं भूत्वाथ कार्दमिः।
त्रैलोक्यसुन्दरी नारी मासमेकमिलाभवत्॥
(वा० रा०, उत्तर० ८७। २१—२९)

"तदनन्तर महान् शोकसे पीड़ित हो राजाने गिरिराजकुमारी उमादेवीके चरणोंमें सम्पूर्ण हृदयसे प्रणाम करके यह प्रार्थना की—'सम्पूर्ण वरोंकी अधीश्वरी देवि! आप मानिनी हैं, समस्त लोकोंको वर देनेवाली हैं। देवि! आपका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता। अतः आप अपनी सौम्य दृष्टिसे मुझपर अनुग्रह कीजिये।' राजर्षि इलके हार्दिक अभिप्रायको जानकर रुद्रप्रिया देवी पार्वतीने महादेवजीके समीप यह शुभ बात कही—'राजन्! तुम पुरुषत्व-प्राप्तिरूप जो वर चाहते हो, उसके आधे भागके दाता तो महादेवजी हैं और आधा वर तुम्हें मैं दे सकती हूँ (अर्थात् तुम्हें सम्पूर्ण जीवनके लिये जो स्त्रीत्व मिल गया है, उसे मैं आधे जीवनके लिये पुरुषत्वमें परिवर्तित कर सकती हूँ)। इसलिये तुम मेरा दिया हुआ आधा वर स्वीकार करो। तुम जितने-जितने कालतक स्त्री और पुरुष रहना चाहो, उसे मेरे सामने कहो।' देवी पार्वतीका वह परम उत्तम और अत्यन्त अद्भुत वर सुनकर राजाके मनमें बड़ा हर्ष हुआ और वे इस प्रकार बोले—'देवि! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो मैं एक मासतक भूतलपर अनुपम रूपवती स्त्रीके रूपमें रहकर फिर एक मासतक पुरुष होकर रहूँ।' राजाके मनोभावको जानकर सुन्दर मुखवाली पार्वतीदेवीने यह शुभ वचन कहा—'ऐसा ही होगा। राजन्! जब तुम पुरुषरूपमें रहोगे, उस समय तुम्हें अपने स्त्रीजीवनकी याद नहीं रहेगी और जब तुम स्त्रीरूपमें रहोगे, उस समय तुम्हें एक मासतक अपने पुरुषभावका स्मरण नहीं होगा।' इस प्रकार कर्दमकुमार राजा इल एक मासतक पुरुष रहकर फिर एक मास त्रिलोकसुन्दरी नारी इलाके रूपमें रहने लगे।"

श्रीरामकी कही हुई इलके चरित्रसे सम्बन्ध रखनेवाली उस कथाको सुनकर लक्ष्मण और भरत दोनों ही बड़े विस्मित हुए। उन दोनों भाइयोंने हाथ जोड़कर श्रीरामसे महामना राजा इलके स्त्री-पुरुषभावके विस्तृत वृत्तान्तके विषयमें पुनः पूछा—लक्ष्मण और भरतका वह कौतूहलपूर्ण वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने राजा इलके वृत्तान्तको, जैसा वह उपलब्ध था, उसी रूपमें पुनः सुनाना आरम्भ किया।

तस्मैव प्रथमं मासं स्त्री भूत्वा लोकसुन्दरी।
ताभिः परिवृता स्त्रीभिर्येऽस्य पूर्वं पदानुगाः॥
तत्काननं विगाह्याशु विजह्रे लोकसुन्दरी।
द्रुमगुल्मलताकीर्णं पद्भ्यां पद्मदलेक्षणा॥

वाहनानि च सर्वाणि संत्यक्त्वा वै समन्ततः ।
पर्वताभोगविवरे तस्मिन् रेमे इला तदा ॥
अथ तस्मिन् वनोद्देशे पर्वतस्याविदूरतः ।
सरः सुरुचिरप्रख्यं नानापक्षिगणायुतम् ॥
ददर्श सा इला तस्मिन् बुधं सोमसुतं तदा ।
ज्वलन्तं स्वेन वपुषा पूर्णं सोममिवोदितम् ॥
तपन्तं च तपस्तीव्रमम्भोमध्ये दुरासदम् ।
यशस्करं कामकरं तारुण्ये पर्यवस्थितम् ॥
स तं जलाशयं सर्वं क्षोभयामास विस्मिता ।
सह तैः पूर्वपुरुषैः स्त्रीभूतै रघुनन्दन ॥
बुधस्तु तां समीक्ष्यैव कामबाणवशं गतः ।
नोपलेभे तदाऽऽत्मानं स चचाल तदाम्भसि ॥
इलां निरीक्षमाणस्तु त्रैलोक्यादधिकां शुभाम् ।
चित्तं समभ्यतिक्रामत् का न्वियं देवताधिका ॥
न देवीषु न नागीषु नासुरीष्वप्सरस्सु च ।
दृष्टपूर्वा मया काचिद् रूपेणानेन शोभिता ॥
सदृशीयं मम भवेद् यदि नान्यपरिग्रहः ।
इति बुद्धिं समास्थाय जलात् कूलमुपागमत् ॥
(वा० रा०, उत्तर० ८८ । ५–१५)

"तदनन्तर उस प्रथम मासमें ही इला त्रिभुवनसुन्दरी नारी होकर वनमें विचरने लगी । जो पहले उसके चरणसेवक थे, वे भी स्त्रीरूपमें परिणत हो गये थे; उन्हीं स्त्रियोंसे घिरी हुई लोकसुन्दरी कमललोचना इला वृक्षों, झाड़ियों और लताओंसे भरे हुए एक वनमें शीघ्र प्रवेश करके पैदल ही सब ओर घूमने लगी । उस समय सारे वाहनोंको सब ओर छोड़कर इला विस्तृत पर्वतमालाओंके मध्यभागमें भ्रमण करने लगी । उस वनप्रान्तमें पर्वतके पास ही एक सुन्दर सरोवर था, जिसमें नाना प्रकारके पक्षी कलरव कर रहे थे । उस सरोवरमें सोमपुत्र बुध तपस्या करते थे । वे अपने तेजस्वी शरीरसे उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे थे । इलाने उन्हें देखा । वे जलके भीतर तीव्र तपस्यामें संलग्न थे । उन्हें पराभूत करना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन था । वे यशस्वी, पूर्णकाम और तरुण-अवस्थामें स्थित थे । रघुनन्दन ! उन्हें देखकर इला चकित हो उठी और जो पहले पुरुष थीं, उन स्त्रियोंके साथ जलमें उतरकर उसने सारे जलाशयको क्षुब्ध कर दिया । इलापर दृष्टि पड़ते ही बुध कामदेवके बाणोंका निशाना बन गये । उन्हें अपने तन-मनकी सुध न रही और वे उस समय जलमें विचलित हो उठे । इला त्रिलोकीमें सबसे अधिक सुन्दरी थी । उसे देखते हुए बुधका मन उसीमें आसक्त हो गया और वे सोचने लगे, 'यह कौन-सी स्त्री है, जो देवाङ्गनाओंसे भी बढ़कर रूपवती है ? न देववनिताओंमें, न नागवधुओंमें, न असुरोंकी स्त्रियोंमें और न अप्सराओंमें ही मैंने पहले कभी कोई ऐसे मनोहर रूपसे सुशोभित स्त्री देखी है । यदि यह दूसरेको ब्याही न गयी हो तो सर्वथा मेरी पत्नी बनने योग्य है ।' यों विचार वे जलसे निकलकर किनारे आये ।

आश्रमं समुपागम्य ततस्ताः प्रमदोत्तमाः ।
शब्दापयत धर्मात्मा ताश्चैनं च ववन्दिरे ॥
स ताः पप्रच्छ धर्मात्मा कस्यैषा लोकसुन्दरी ।
किमर्थमागता चैव सर्वमाख्यात मा चिरम् ॥
शुभं तु तस्य तद् वाक्यं मधुरं मधुराक्षरम् ।
श्रुत्वा स्त्रियश्च ताः सर्वा ऊचुर्मधुरया गिरा ॥
अस्माकमेषा सुश्रोणी प्रभुत्वे वर्तते सदा ।
अपतिः काननान्तेषु सहास्माभिश्चरत्यसौ ॥
तद् वाक्यमाव्यक्तपदं तासां स्त्रीणां निशम्य च ।
विद्यामावर्तनीं पुण्यामावर्तयत स द्विजः ॥
सोऽर्थं विदित्वा सकलं तस्य राज्ञो यथा तथा ।
सर्वा एव स्त्रियस्ताश्च बभाषे मुनिपुंगवः ॥
अत्र किम्पुरुषीर्भूत्वा शैलरोधसि वत्स्यथ ।
आवासस्तु गिरावस्मिञ्शीघ्रमेव विधीयताम् ॥
मूलपत्रफलैः सर्वा वर्तयिष्यथ नित्यदा ।
स्त्रियः किम्पुरुषान्नाम भर्तॄन् समुपलप्स्यथ ॥

ताः श्रुत्वा सोमपुत्रस्य स्त्रियः किम्पुरुषीकृताः ।
उपासांचक्रिरे शैलं वध्वस्ता बहुलास्तदा ॥
(वा० रा०, उत्तर० ८८ । १६—२४)

"फिर आश्रममें पहुँचकर उन धर्मात्माने पूर्वोक्त सभी सुन्दरियोंको आवाज देकर बुलाया और उन सबने आकर उन्हें प्रणाम किया । तब धर्मात्मा बुधने उन सब स्त्रियोंसे पूछा—'यह लोक-सुन्दरी नारी किसकी पत्नी है और किसलिये यहाँ आयी है ? ये सब बातें तुम शीघ्र मुझे बताओ ।' बुधके मुखसे निकला हुआ वह शुभ वचन मधुर पदावलीसे युक्त तथा मीठा था । उसे सुनकर उन सब स्त्रियोंने मधुर वाणीमें कहा—'ब्रह्मन्! यह सुन्दरी हमारी सदाकी स्वामिनी है । इसका कोई पति नहीं है । यह हमलोगोंके साथ अपनी इच्छाके अनुसार वनप्रान्तमें विचरती रहती है ।' उन स्त्रियोंका वचन सब प्रकारसे सुस्पष्ट था । उसे सुनकर ब्राह्मण बुधने पुण्यमयी आवर्तनी विद्याका आवर्तन (स्मरण) किया । उस राजाके विषयकी सारी बातें यथार्थरूपसे जानकर मुनिवर बुधने उन सभी स्त्रियोंसे कहा—'तुम सब किम्पुरुषी (किंनरी) होकर पर्वतके किनारे रहोगी । इस पर्वतपर शीघ्र ही अपने लिये निवासस्थान बना लो । पत्र और फल-मूलसे ही तुम सबको सदा जीवन-निर्वाह करना होगा । आगे चलकर तुम सभी स्त्रियाँ किम्पुरुष नामक पतियोंको प्राप्त कर लोगी ।' किम्पुरुषी नामसे प्रसिद्ध हुई वे स्त्रियाँ सोमपुत्र बुधकी उपर्युक्त बात सुनकर उस पर्वतपर रहने लगीं । उन स्त्रियोंकी संख्या बहुत अधिक थी ।"

किम्पुरुषजातिकी उत्पत्तिका यह प्रसङ्ग सुनकर लक्ष्मण और भरत दोनोंने महाराज श्रीरामसे कहा—'यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है ।' तदनन्तर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीरामने प्रजापति कर्दमके पुत्र इलकी इस कथाको फिर इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

सर्वास्ता विद्रुता दृष्ट्वा किंनरीर्ऋषिसत्तमः ।
उवाच रूपसम्पन्नां तां स्त्रियं प्रहसन्निव ॥
सोमस्याहं सुदयितः सुतः सुरुचिरानने ।
भजस्व मां वरारोहे भक्त्या स्निग्धेन चक्षुषा ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शून्ये स्वजनवर्जिते ।
इला सुरुचिरप्रख्यं प्रत्युवाच महाप्रभम् ॥
अहं कामचरी सौम्य तवास्मि वशवर्तिनी ।
प्रशाधि मां सोमसुत यथेच्छसि तथा कुरु ॥
तस्यास्तदद्भुतप्रख्यं श्रुत्वा हर्षमुपागतः ।
स वै कामी सह तया रेमे चन्द्रमसः सुतः ॥
बुधस्य माधवो मासस्तामिलां रुचिराननाम् ।
गतो रमयतोऽत्यर्थं क्षणवत् तस्य कामिनः ॥
अथ मासे तु सम्पूर्णे पूर्णेन्दुसदृशाननः ।
प्रजापतिसुतः श्रीमाञ्शयने प्रत्यबुध्यत ॥
(वा० रा०, उत्तर० ८९ । ३—९)

"वे सब किंनरियाँ पर्वतके किनारे चली गयीं । यह देख मुनिश्रेष्ठ बुधने उस रूपवती स्त्रीसे हँसते हुए-से कहा—'सुमुखि ! मैं सोमदेवताका परम प्रिय पुत्र हूँ । वरारोहे ! मुझे अनुराग और स्नेहभरी दृष्टिसे देखकर अपनाओ ।' स्वजनोंसे रहित उस सूने स्थानमें बुधकी यह बात सुनकर इला उन परम सुन्दर महातेजस्वी बुधसे इस प्रकार बोली—'सौम्य सोमकुमार ! मैं अपनी इच्छाके अनुसार विचरनेवाली (स्वतन्त्र) हूँ, किंतु इस समय आपकी आज्ञाके अधीन हो रही हूँ; अतः मुझे उचित सेवाके लिये आदेश दीजिये और जैसी आपकी इच्छा हो, वैसा कीजिये ।' इलाका यह अद्भुत वचन सुनकर कामासक्त सोमपुत्रको बड़ा हर्ष हुआ । वे उसके साथ रमण करने लगे । मनोहर मुखवाली इलाके साथ अतिशय रमण करनेवाले कामासक्त बुधका वैशाख मास एक क्षणके समान बीत गया । एक मास पूर्ण होनेपर पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-

वाले प्रजापति-पुत्र श्रीमान् इल अपनी शय्यापर जाग उठे ।

सोऽपश्यत् सोमजं तत्र तपन्तं सलिलाशये ।
ऊर्ध्वबाहुं निरालम्बं तं राजा प्रत्यभाषत ॥
भगवन् पर्वतं दुर्गं प्रविष्टोऽस्मि सहानुगः ।
न च पश्यामि तत् सैन्यं क्व नु ते मामका गताः॥
तच्छ्रुत्वा तस्य राजर्षेर्नष्टसंज्ञस्य भाषितम् ।
प्रत्युवाच शुभं वाक्यं सान्त्वयन् परया गिरा ॥
अश्मवर्षेण महता भृत्यास्ते विनिपातिताः ।
त्वं चाश्रमपदे सुप्तो वातवर्षभयार्दितः ॥
समाश्वसिहि भद्रं ते निर्भयो विगतज्वरः ।
फलमूलाशनो वीर निवसेह यथासुखम् ॥
स राजा तेन वाक्येन प्रत्याश्वस्तो महामतिः ।
प्रत्युवाच ततो वाक्यं दीनो भृत्यजनक्षयात् ॥
त्यक्ष्याम्यहं स्वकं राज्यं नाहं भृत्यैर्विनाकृतः ।
वर्तयेयं क्षणं ब्रह्मन् समनुज्ञातुमर्हसि ॥
सुतो धर्मपरो ब्रह्मन् ज्येष्ठो मम महायशाः ।
शशबिन्दुरिति ख्यातः स मे राज्यं प्रपत्स्यते ॥
(वा० रा०, उत्तर० ८९ । १०—१७)

"उन्होंने देखा, सोमपुत्र बुध वहाँ जलाशयमें तप कर रहे हैं । उनकी भुजाएँ ऊपरको उठी हुई हैं और वे निराधार खड़े हैं । उस समय राजाने बुधसे पूछा—'भगवन् ! मैं अपने सेवकोंके साथ दुर्गम पर्वतपर आ गया था, परंतु यहाँ मुझे अपनी वह सेना नहीं दिखायी देती । पता नहीं, वे मेरे सैनिक कहाँ चले गये ?' राजर्षि इलकी स्त्रीत्व-प्राप्तिविषयक स्मृति नष्ट हो गयी थी । उनकी बात सुनकर बुध उत्तम वाणीद्वारा उन्हें सान्त्वना देते हुए यह शुभ वचन बोले—'राजन् ! आपके सारे सेवक ओलोंकी भारी वर्षासे मारे गये । आप भी आँधी-पानीके भयसे पीड़ित हो इस आश्रममें आकर सो गये थे । वीर ! अब आप धैर्य धारण करें । आपका कल्याण हो । आप निर्भय और निश्चिन्त होकर फल-मूलका आहार करते हुए यहाँ सुखपूर्वक निवास कीजिये ।' बुधके इस वचनसे परम बुद्धिमान् राजा इलको बड़ा आश्वासन मिला, परंतु अपने सेवकोंके नष्ट होनेसे वे बहुत दुखी थे; इसलिये उनसे इस प्रकार बोले—'ब्रह्मन् ! मैं सेवकोंसे रहित हो जानेपर भी राज्यका परित्याग नहीं करूँगा । अब क्षणभर भी मुझसे यहाँ नहीं रहा जायगा, अतः मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये । ब्रह्मन् ! मेरे धर्मपरायण ज्येष्ठ पुत्र बड़े यशस्वी हैं । उनका नाम शशबिन्दु है । जब मैं वहाँ जाकर उनका अभिषेक करूँगा, तभी वे मेरा राज्य ग्रहण करेंगे ।

नहि शक्ष्याम्यहं हित्वा भृत्यदारान् सुखान्वितान्।
प्रतिवक्तुं महातेजः किंचिदप्यशुभं वचः ॥
तथा ब्रुवति राजेन्द्रे बुधः परममद्भुतम् ।
सान्त्वपूर्वमथोवाच वासस्त इह रोचताम् ॥
न संतापस्त्वया कार्यः कार्दमेय महाबल ।
संवत्सरोषितस्येह कारयिष्यामि ते हितम् ॥
तस्य तद् वचनं श्रुत्वा बुधस्याक्लिष्टकर्मणः ।
वासाय विदधे बुद्धिं यदुक्तं ब्रह्मवादिना ॥
मासं स स्त्री तदा भूत्वा रमयत्यनिशं सदा ।
मासं पुरुषभावेन धर्मबुद्धिं चकार सः ।
ततः सा नवमे मासि इला सोमसुतात् सुतम् ।
जनयामास सुश्रोणी पुरूरवसमूर्जितम् ।
जातमात्रं तु सुश्रोणी पितुर्हस्ते न्यवेशयत् ।
बुधस्य समवर्णं च इला पुत्रं महाबलम्
बुधस्तु पुरुषीभूतं स वै संवत्सरान्तरम्
कथाभी रमयामास धर्मयुक्ताभिरात्मवान्
(वा० रा०, उत्तर० ८९ । १८—२

"महातेजस्वी मुने ! देशमें जो मेरे सेवक और स्त्री आदि परिवारके लोग सुखसे रह रहे हैं, उन सबको छो

मैं यहाँ नहीं ठहर सकूँगा। अतः मुझसे ऐसी कोई अशुभ बात आप न कहें, जिससे स्वजनोंसे बिछुड़कर मुझे यहाँ दुःखपूर्वक रहनेके लिये विवश होना पड़े।' राजेन्द्र इलके यों कहनेपर बुधने उन्हें सान्त्वना देते हुए अत्यन्त अद्भुत बात कही—'राजन्! तुम प्रसन्नतापूर्वक यहाँ रहना स्वीकार करो। कर्दमके महाबली पुत्र! तुम्हें संताप नहीं करना चाहिये। जब तुम एक वर्षतक यहाँ निवास कर लोगे, तब मैं तुम्हारा हित-साधन करूँगा।' पुण्यकर्मा बुधका यह वचन सुनकर उन ब्रह्मवादी महात्माके कथनानुसार राजाने वहाँ रहनेका निश्चय किया। वे एक मासतक स्त्री होकर निरन्तर बुधके साथ रमण करते और फिर एक मासतक पुरुष होकर धर्मानुष्ठानमें मन लगाते थे। तदनन्तर नवें मासमें सुन्दरी इलाने सोमपुत्र बुधसे एक पुत्रको जन्म दिया, जो बड़ा ही तेजस्वी और बलवान् था। उसका नाम था पुरूरवा। उसके उस महाबली पुत्रकी अङ्गकान्ति बुधके ही समान थी। वह जन्म लेते ही उपनयनके योग्य अवस्थाका बालक हो गया, इसलिये सुन्दरी इलाने उसे पिताके हाथमें सौंप दिया। वर्ष पूरा होनेमें जितने मास शेष थे, उतने समयतक जब-जब राजा पुरुष होते थे, तब-तब मनको वशमें रखनेवाले बुध धर्मयुक्त कथाओंद्वारा उनका मनोरञ्जन करते थे।"

श्रीरामचन्द्रजी जब पुरूरवाके जन्मकी अद्भुत कथा कह गये, तब लक्ष्मण तथा महायशस्वी भरतने पुनः पूछा—'नरश्रेष्ठ! सोमपुत्र बुधके यहाँ एक वर्षतक निवास करनेके पश्चात् इलाने क्या किया? यह ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें।' प्रश्न करते समय उन दोनों भाइयोंकी वाणीमें बड़ा माधुर्य था। उसे सुनकर श्रीरामने प्रजापतिपुत्र इलके विषयमें फिर इस प्रकार कथा आरम्भ की—

पुरुषत्वं गते शूरे बुधः परमबुद्धिमान्।
संवर्तं परमोदारमाजुहाव महायशाः॥
च्यवनं भृगुपुत्रं च मुनिं चारिष्टनेमिनम्।
प्रमोदनं मोदकरं ततो दुर्वाससं मुनिम्॥
एतान् सर्वान् समानीय वाक्यज्ञस्तत्त्वदर्शनः।
उवाच सर्वान् सुहृदो धैर्येण सुसमाहितान्॥
अयं राजा महाबाहुः कर्दमस्य इलः सुतः।
जानीतैनं यथाभूतं श्रेयो ह्यत्र विधीयताम्॥
(वा० रा०, उत्तर० ९०।४-७

"शूरवीर इल जब एक मासके लिये पुरुषभावक प्राप्त हुए, तब परम बुद्धिमान् महायशस्वी बुधने पर उदार महात्मा संवर्तको बुलाया। भृगुपुत्र च्यवन मुनि अरिष्टनेमि, प्रमोदन, मोदकर और दुर्वासा मुनिको भी आमन्त्रित किया। इन सबको बुलाकर बातचीतके कला जाननेवाले तत्त्वदर्शी बुधने धैर्यसे एकाग्रचित्त रहनेवाले इन सभी सुहृदोंसे कहा—'ये महाबाहु राजा इल प्रजापति कर्दमके पुत्र हैं। इनकी जैसी स्थिति है, इसे आप सब लोग जानते हैं। अतः इस विषयमें ऐसा कोई उपाय कीजिये, जिससे इनका कल्याण हो।'

तेषां संवदतामेव द्विजैः सह महात्मभिः।
कर्दमस्तु महातेजास्तदाश्रममुपागमत्॥
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव वषट्कारस्तथैव च।
ओंकारश्च महातेजास्तमाश्रममुपागमन्॥
ते सर्वे हृष्टमनसः परस्परसमागमे।
हितैषिणो बाह्लिपतेः पृथग्वाक्यान्यथाब्रुवन्॥
कर्दमस्त्वब्रवीद् वाक्यं सुतार्थं परमं हितम्।
द्विजाः शृणुत मद्वाक्यं यच्छ्रेयः पार्थिवस्य हि॥
नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम्।
नाश्वमेधात् परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः॥
तस्माद् यजामहे सर्वे पार्थिवार्थे दुरासदम्।
कर्दमेनैवमुक्तास्तु सर्व एव द्विजर्षभाः॥
रोचयन्ति स्म तं यज्ञं रुद्रस्याराधनं प्रति।
संवर्तस्य तु राजर्षिः शिष्यः परपुरंजयः॥

मरुत्त इति विख्यातस्तं यज्ञं समुपाहरत् ।
ततो यज्ञो महानासीद् बुधाश्रमसमीपतः ॥
रुद्रश्च परमं तोषमाजगाम महायशाः ।
अथ यज्ञे समाप्ते तु प्रीतः परमया मुदा ॥
उमापतिर्द्विजान् सर्वानुवाच इलसंनिधौ ।
(वा० रा०, उत्तर० ९० । ८—१६½)

"वे सब इस प्रकार बातचीत कर ही रहे थे कि महात्मा द्विजोंके साथ महातेजस्वी प्रजापति कर्दम भी उस आश्रमपर आ पहुँचे । साथ ही पुलस्त्य, क्रतु, वषट्कार तथा महातेजस्वी ओंकार भी उस आश्रमपर पधारे । परस्पर मिलनेपर वे सभी महर्षि प्रसन्नचित्त हो बाह्लिकदेशके स्वामी राजा इलका हित चाहते हुए भिन्न-भिन्न प्रकारकी राय देने लगे । तब कर्दमने पुत्रके लिये अत्यन्त हितकर बात कही—'ब्राह्मणो ! आपलोग मेरी बात सुनें, जो इस राजाके लिये कल्याणकारिणी होगी । मैं भगवान् शंकरके सिवा दूसरे किसीको ऐसा नहीं देखता, जो इस रोगकी दवा कर सके तथा अश्वमेध यज्ञसे बढ़कर दूसरा कोई ऐसा यज्ञ नहीं है, जो महात्मा महादेवजीको प्रिय हो । अतः हम सब लोग राजा इलके हितके लिये उस दुष्कर यज्ञका अनुष्ठान करें ।' कर्दमके यह कहनेपर उन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने भगवान् रुद्रकी आराधनाके लिये उस यज्ञका अनुष्ठान ही अच्छा समझा । संवर्तके शिष्य तथा शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले सुप्रसिद्ध राजर्षि मरुत्तने उस यज्ञका आयोजन किया । फिर तो बुधके आश्रमके निकट वह महान् यज्ञ सम्पन्न हुआ तथा उससे महायशस्वी रुद्रदेवको बड़ा संतोष प्राप्त हुआ । यज्ञ समाप्त होनेपर परमानन्दसे परिपूर्णचित्त हुए भगवान् उमापतिने इलके पास ही उन सब ब्राह्मणोंसे कहा—

प्रीतोऽस्मि हयमेधेन भक्त्या च द्विजसत्तमाः ॥
अस्य बाह्लिपतेश्चैव किं करोमि प्रियं शुभम् ।
तथा वदति देवेशे द्विजास्ते सुसमाहिताः ॥
प्रसादयन्ति देवेशं यथा स्यात् पुरुषस्त्विला ।
ततः प्रीतो महादेवः पुरुषत्वं ददौ पुनः ॥
इलायै सुमहातेजा दत्त्वा चान्तरधीयत ।
निवृत्ते हयमेधे च गते चादर्शनं हरे ॥
यथागतं द्विजाः सर्वे तेऽगच्छन् दीर्घदर्शिनः ।
राजा तु बाह्लिमुत्सृज्य मध्यदेशे ह्यनुत्तमम् ॥
निवेशयामास पुरं प्रतिष्ठानं यशस्करम् ।
शशबिन्दुश्च राजर्षिर्बाह्लिं परपुरंजयः ॥
प्रतिष्ठाने इलो राजा प्रजापतिसुतो बली ।
स काले प्राप्तवाँल्लोकमिलो ब्राह्ममनुत्तमम् ॥
ऐलः पुरूरवा राजा प्रतिष्ठानमवाप्तवान् ।
ईदृशो ह्यश्वमेधस्य प्रभावः पुरुषर्षभौ ।
स्त्रीभूतः पौरुषं लेभे यच्चान्यदपि दुर्लभम् ॥
(वा० रा०, उत्तर० ९० । १७—२४)

"द्विजश्रेष्ठगण ! मैं तुम्हारी भक्ति तथा इस अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानसे बहुत प्रसन्न हूँ । बताओ, मैं बाह्लिकनरेश इलका कौन-सा शुभ एवं प्रिय कार्य करूँ ?' देवेश्वर शिवके यह कहनेपर वे सब ब्राह्मण एकाग्रचित्त हो उन देवाधिदेवको इस तरह प्रसन्न करनेकी चेष्टा करने लगे, जिससे नारी इला सदाके लिये पुरुष इल हो जाय । तब प्रसन्न हुए महातेजस्वी महादेवजीने इलाको सदाके लिये पुरुषत्व प्रदान कर दिया और यह करके वे वहीं अन्तर्धान हो गये । अश्वमेध यज्ञ समाप्त होनेपर जब महादेवजी दर्शन देकर अदृश्य हो गये, तब वे सब दीर्घदर्शी ब्राह्मण जैसे आये थे, वैसे लौट गये । राजा इलने बाह्लिकदेशको छोड़कर मध्यदेशमें (गङ्गा-यमुनाके संगमके निकट) एक परम उत्तम एवं यशस्वी नगर बसाया, जिसका नाम था प्रतिष्ठानपुर । शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले राजर्षि शशबिन्दुने बाह्लिक-देशका राज्य ग्रहण किया और प्रजापति कर्दमके पुत्र बलवान् राजा इल प्रतिष्ठानपुरके शासक हुए । समय आनेपर राजा

इल शरीर छोड़कर परम उत्तम ब्रह्मलोकको प्राप्त हुए और इलाके पुत्र राजा पुरूरवाने प्रतिष्ठानपुरका राज्य प्राप्त किया। पुरुषश्रेष्ठ भरत और लक्ष्मण! अश्वमेध यज्ञका ऐसा ही प्रभाव है। जो स्त्रीरूप हो गये थे, उन राजा इलने इस यज्ञके प्रभावसे पुरुषत्व प्राप्त कर लिया तथा और भी दुर्लभ वस्तुएँ हस्तगत कर लीं।"

श्रीरामका शील

ऋषि-मुनि-सत्कार

मर्यादापुरुषोत्तमने अवतार ही धारण किया था 'गो द्विज महि सुर लागि।' अतः वे परम ब्रह्मण्य ऋषि-मुनियोंके प्रति अत्यन्त विनम्र रहें, इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। फिर, आपकी प्रत्येक लीला ही आदर्श तथा लोकसंग्रह-कारिणी है। बड़ोंके साथ कैसे बर्तना चाहिये, इसकी समुचित शिक्षा आपके चरित्रसे मिलती है।

नारदजीका स्वागत-सत्कार

देवर्षि नारद नित्य परिव्राजक हैं। अयोध्यामें परात्पर पुरुष अवतीर्ण हुए, तब दूसरे ब्रह्मादि देवता समय-असमय आने लगे; पर देवर्षि तो भ्रमणशील ही ठहरे। वे क्यों ऐसा सुयोग छोड़ देते। एक बार वे अयोध्याके राजसदनमें आये और सीधे श्रीरघुनाथजीके अन्तःपुरमें पहुँच गये। श्रीराम जनक-नन्दिनीके साथ सिंहासनपर विराजमान थे। देवर्षिको देखते ही आतुरतापूर्वक उठे और प्रणिपातके अनन्तर बद्धाञ्जलि बोले—

संसारिणां मुनिश्रेष्ठ दुर्लभं तव दर्शनम्।
अस्माकं विषयासक्तचेतसां नितरां मुने॥
अवाप्तं मे पूर्वजन्मकृतपुण्यमहोदयैः।
संसारिणापि हि मुने लभ्यते सत्समागमः॥
अतस्त्वद्दर्शनादेव कृतार्थोऽस्मि मुनीश्वर।
किं कार्यं ते मया कार्यं ब्रूहि तत्करवाणि भोः॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० १। ६–८)

'मुनिश्रेष्ठ! हम-जैसे विषयासक्त संसारी मनुष्योंके लिये आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। मुने! आज अपने पूर्वजन्म-कृत पुण्य-पुञ्जके उदय होनेसे ही मुझे आपका दर्शन हुआ है; क्योंकि हे मुने! पुण्योदय होनेपर ही संसारी पुरुषको सत्सङ्ग प्राप्त होता है। अतः हे मुनीश्वर! आज आपके दर्शनसे ही मैं कृतार्थ हो गया; अब मुझे आपका क्या कार्य करना होगा यह कहिये, उसे मैं (इस समय) पूर्ण करूँ।'

सच्ची बात यह थी कि इस बार देवर्षि स्वयं नहीं आये थे। उन्हें सृष्टिकर्ताने भेजा था। उन्होंने ब्रह्माका अभिप्राय निवेदन किया—'आप भूमिपर पधारे हैं धराका भार हरण करने और इस भूभारका मूल है दशग्रीव। इधर अब आपका राज्याभिषेक होनेवाला है। कहीं राज्यके लोगोंका प्रेम, उनकी भक्ति आपको आकृष्ट कर ले तो आर्त सुरोंका संकट बना ही रह जायगा। आपने देवताओंको अभय दिया है।'

श्रीरघुनाथजी यह सुनकर सस्मित बोले—

शृणु नारद मे किंचिद्विद्यतेऽविदितं क्वचित्।
प्रतिज्ञातं च यत्पूर्वं करिष्ये तन्न संशयः॥
किंतु कालानुरोधेन तत्तत्प्रारब्धसंक्षयात्।
हरिष्ये सर्वभूभारं क्रमेणासुरमण्डलम्॥
रावणस्य विनाशार्थं श्वो गन्ता दण्डकाननम्।
चतुर्दश समास्तत्र ह्युषित्वा मुनिवेषधृक्॥
सीतामिषेण तं दुष्टं सकुलं नाशयाम्यहम्।
(अध्यात्म०, अयोध्या० १। ३६–३८½)

'नारदजी! सुनिये, क्या कोई ऐसी बात भी है, जिसे मैं न जानता होऊँ। मैंने पहले जो कुछ प्रतिज्ञा की है, उसे मैं निस्संदेह पूर्ण करूँगा। किंतु कालक्रमसे जिन-जिनका प्रारब्ध क्षीण होता जायगा

उन-उन दैत्योंको ही मारकर मैं क्रमशः पृथ्वीका भार उतारूँगा। रावणका वध करनेके लिये मैं कल दण्डकारण्यको जाऊँगा और वहाँ चौदह वर्ष मुनिवेष धारण कर रहूँगा। उस दुष्टको सीताको लौटा लानेके मिससे मैं कुटुम्बके सहित नष्ट कर दूँगा।'

विश्वामित्रजीसे विनम्र आज्ञा-प्रार्थना

महर्षि विश्वामित्रके साथ श्रीराम-लक्ष्मण जनकपुर पहुँचे हैं। स्वाभाविक रूपमें लक्ष्मणजी नगर देखना चाहते हैं और उनकी यह इच्छा श्रीरघुनाथजी समझ लेते हैं। छोटे भाईकी कामना पूर्ण होनी चाहिये, किंतु महर्षिके प्रति अत्यन्त विनय-का भाव मनमें है। अतः—

परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥
नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥
(श्रीरामचरित०, बाल० २१७। २-३)

श्रीरामचन्द्रजी गुरु विश्वामित्रजीकी आज्ञा पाकर बहुत ही विनयके साथ सकुचाते हुए मुस्कराकर बोले—'नाथ! लक्ष्मण नगर देखना चाहते हैं, किंतु प्रभु (आप) के डर और संकोचके कारण स्पष्ट नहीं कहते। यदि आपकी आज्ञा पाऊँ तो मैं इनको नगर दिखलाकर तुरंत ही (वापस) ले आऊँ।'

परशुरामजीसे निर्भयतायुक्त विनम्र वाणी

उग्रतेजा, कटुभाषी, परशुरामजीके प्रति भी नित्य निर्भय श्रीराम निःशङ्क, किंतु अत्यन्त विनम्र ही बोलते हैं—

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥
आयसु काह कहिअ किन मोही।
(श्रीरामचरित०, बाल० २७०। १)

'हे नाथ! शिवजीके धनुषको तोड़नेवाला आपका कोई एक दास ही होगा। क्या आज्ञा है, मुझसे क्यों नहीं कहते?'

लक्ष्मणके व्यंग-वचन सुनकर परशुरामजीको क्रोध आता है, किंतु श्रीराम बार-बार बीच-बीचमें विनम्र प्रार्थना ही करते हैं—

नाथ करहु बालक पर छोहू।
सूध दूधमुख करिअ न कोहू॥
जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना।
तौ कि बराबरि करत अयाना॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं।
गुर पितु मातु मोद मन भरहीं॥
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी।
तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी॥
(श्रीरामचरित०, बाल० २७६। १-२)

लक्ष्मणजीके वचनोंसे क्रोधित हुए श्रीपरशुरामजीसे प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने जलके समान यह शीतल वाणी कही—'नाथ! बालकपर कृपा कीजिये। इस सीधे और दुधमुँहे बच्चेपर क्रोध न कीजिये। यदि यह प्रभुका (आपका) कुछ भी प्रभाव जानता, तो क्या यह बेसमझ आपकी बराबरी करता? बालक यदि कुछ चपलता भी करते हैं तो गुरु, पिता और माता मनमें आनन्दसे भर जाते हैं। अतः इसे छोटा बच्चा और सेवक जानकर कृपा कीजिये। आप तो समदर्शी, सुशील, धीर और ज्ञानी मुनि हैं।'

सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना।
बालक बचनु करिअ नहिं काना॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ।
इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ॥
तेहिं नाहीं कछु काज बिगारा।
अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं।
मो पर करिअ दास की नाईं॥
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई।
मुनिनायक सोइ करौं उपाई॥
(श्रीरामचरित०, बाल० २७८। १-३)

× × ×

श्रीरामचन्द्रजीने परशुरामजीसे कहा—'नाथ! सुनिये, आप तो स्वभावसे ही सुजान हैं। आप बालकके वचनपर कान न कीजिये (उसे सुना-) अनसुना कर दीजिये। बर्रै और बालकका एक स्वभाव है, संतजन इन्हें कभी दोष नहीं लगाते। फिर उसने (लक्ष्मणने) तो कुछ बिगाड़ा भी नहीं है। नाथ! आपका अपराधी तो मैं हूँ। अतः हे स्वामी! कृपा, क्रोध, वध और बन्धन—जो

करना हो, दासकी तरह (अर्थात् दास समझकर) मुझपर कीजिये। जिस प्रकारसे शीघ्र आपका क्रोध दूर हो, हे मुनिराज! बताइये, मैं वही उपाय करूँ।'

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा।
कर कुठारु आगें यह सीसा॥
जेहिं रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी।
मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥
प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेषु बिलोकें कहेसि कछु बालकहू नहिं दोसु॥
देखि कुठार बान धनु धारी।
भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥
नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा।
बंस सुभायँ उतरु तेहिं दीन्हा॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं।
पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी।
चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी॥
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा।
कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा।
परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
देव एकु गुनु धनुष हमारें।
नव गुन परम पुनीत तुम्हारें॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे।
छमहु बिप्र अपराध हमारे॥
श्रीरामचरित०, बाल० २८० । ४, २८१, २८१ । १-४)

श्रीरामचन्द्रजीने परशुरामजीसे कहा—'हे मुनीश्वर! [क्रो]ध छोड़िये। आपके हाथमें कुठार है और मेरा यह [सि]र आगे है। जिस प्रकार आपका क्रोध जाय, [हे] स्वामी! वही कीजिये। मुझे अपना अनुचर (दास) [ज]ानिये।

'स्वामी और सेवकमें युद्ध कैसा! हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! [क्रो]धका त्याग कीजिये। आपका (वीरोंका-सा) वेष [दे]खकर ही बालकने कुछ कह डाला था, वास्तवमें उसका [भी] कोई दोष नहीं है।

'आपको कुठार, बाण और धनुष धारण किये देखकर और वीर समझकर बालकको क्रोध आ गया। वह आपका नाम तो जानता था, पर उसने आपको पहचा[ना] नहीं। अपने वंश (रघुवंश) के स्वभावके अनुस[ार] उसने उत्तर दिया। यदि आप मुनिकी तरह आते, [तो] हे स्वामी! बालक आपके चरणोंकी धूलि सिरपर रखता। अनजानेकी भूलको क्षमा कर दीजिये। ब्राह्मणोंके हृदय[में] बहुत अधिक दया होनी चाहिये। हे नाथ! हमारी औ[र] आपकी बराबरी कैसी? कहिये न, कहाँ चरण और कह[ाँ] मस्तक! कहाँ मेरा राममात्र छोटा-सा नाम और कह[ाँ] आपका परशुसहित बड़ा नाम! हे देव! हमारे तो ए[क] ही गुण (डोरी) का धनुष है और आपके परम पवि[त्र] (शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञा[न] और आस्तिकता—ये) नौ गुण हैं। हम तो सब प्रकारसे आप[से] हारे हैं। हे विप्र! हमारे अपराधोंको क्षमा कीजिये।'

बार-बार 'विप्र'—ब्राह्मण कहे जानेपर श्रीपरशुरामज[ी] चिढ़कर कुछ धमकियाँ देने लगे, तब श्रीरामने अपने शील-स्वभावके अनुसार नम्र भाषामें शौर्य प्रकट करते हुए कहा—

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥
देव दनुज भूपति भट नाना।
समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ।
लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना।
कुल कलंकु तेहिं पावँर आना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी।
कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई।
अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥
(श्रीरामचरित०, बाल० २८३, २८३ । १-३)

'हे भृगुनाथ! यदि हम सचमुच ब्राह्मण समझकर आपका निरादर करते हैं तो सत्य सुनिये—फिर संसारमें ऐसा कौन योद्धा है, जिसे हम डरके मारे मस्तक नवायें।

'देवता, दैत्य, राजा या बहुत-से योद्धा—वे चाहे बलमें हमारे बराबर हों, चाहे अधिक बलवान् हों,—यदि रणमें हमें कोई भी ललकारे तो हम उससे सुखपूर्वक लड़ेंगे, चाहे काल ही क्यों न हो। क्षत्रियका शरीर धरकर जो युद्धमें डर गया, उस नीचने अपने कुलपर कलङ्क लगा

दिया। मैं स्वभावसे ही कहता हूँ, कुलकी प्रशंसा करके नहीं, कि रघुवंशी रणमें कालसे भी नहीं डरते। ब्राह्मण-वंशकी ऐसी ही प्रभुता (महिमा) है कि जो आपसे डरता है, वह सबसे निर्भय हो जाता है [अथवा जो भयरहित होता है वह भी आपसे डरता है]।'

महर्षि वसिष्ठके प्रति अत्यन्त विनम्र व्यवहार

कुलगुरु वसिष्ठजी अयोध्याके राजसदनसे श्रीरामके निजी सदनमें पहुँचे। महाराज दशरथने गुरुदेवसे प्रार्थना की थी कि युवराज-पदपर अभिषेकके लिये आवश्यक नियमादि वे श्रीरामको समझा दें। गुरुके सम्मुख श्रीरामकी विनय-वाणी सदा आदर्श रहेगी। गुरुजनोंसे कैसे बोलना चाहिये—इससे सब सीख सकते हैं। वे कहते हैं—

सेवक सदन स्वामि आगमनू।
मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती।
पठइअ काज नाथ असि नीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू।
भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं।
सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥
(श्रीरामचरित०, अयोध्या० ८। ३-४)

'यद्यपि सेवकके घर स्वामीका पधारना मङ्गलोंका मूल और अमङ्गलोंका नाश करनेवाला होता है, तथापि हे नाथ! उचित तो यही था कि आप प्रेमपूर्वक दासको ही कार्यके लिये बुला भेजते; ऐसी ही नीति है। परंतु प्रभु (आप) ने प्रभुता छोड़कर (स्वयं यहाँ पधारकर) जो स्नेह किया, इससे आज घर पवित्र हो गया। हे गोसाईं! (अब) जो आज्ञा हो, मैं वही करूँ। स्वामीकी सेवामें ही सेवकका लाभ है।'

महर्षि भरद्वाजके आश्रममें

छोटे भाई लक्ष्मण तथा श्रीजानकीके साथ श्रीरघुनाथ-जी शृङ्गवेरपुरमें गङ्गा पार करके वनकी ओर जाते हुए प्रयाग पहुँचे। वहाँ महर्षि भरद्वाजके दर्शनकी इच्छासे उनके आश्रमके समीप गये और कुछ दूरपर ही खड़े रहे।

(दूर खड़े हो महर्षिके शिष्यसे अपने आगमनकी सूचना दिलवाकर भीतर आनेकी अनुमति प्राप्त कर लेनेके बाद) पर्णशालामें प्रवेश करके उन्होंने तपस्याके प्रभावसे तीनों कालोंकी सारी बातें देखनेकी दिव्य दृष्टि प्राप्त कर लेनेवाले एकाग्रचित्त तथा तीक्ष्णव्रतधारी महात्मा भरद्वाज ऋषिका दर्शन किया, जो अग्निहोत्र करके शिष्योंसे घिरे हुए आसनपर विराजमान थे। महर्षिको देखते ही लक्ष्मण और सीतासहित महाभाग श्रीरामने हाथ जोड़कर उनके चरणोंमें प्रणाम किया।

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः।
पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन् रामलक्ष्मणौ॥
भार्या ममेयं कल्याणी वैदेही जनकात्मजा।
मां चानुयाता विजनं तपोवनमनिन्दिता॥
पित्रा प्रव्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः।
अयमन्वगमद् भ्राता वनमेव धृतव्रतः॥
पित्रा नियुक्ता भगवन् प्रवेक्ष्यामस्तपोवनम्।
धर्ममेवाचरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः॥
(वा० रा०, अयोध्या० ५४। १३—१६)

"तत्पश्चात् लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीरघुनाथजीने उनसे इस प्रकार अपना परिचय दिया—'भगवन्! हम दोनों राजा दशरथके पुत्र हैं। मेरा नाम राम और इनका लक्ष्मण है तथा ये विदेहराज जनककी पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सती साध्वी सीता हैं, जो निर्जन तपोवनमें भी मेरा साथ देनेके लिये आयी हैं। पिताकी आज्ञासे मुझे वनकी ओर आते देख ये मेरे प्रिय अनुज भाई सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी वनमें ही रहनेका व्रत लेकर मेरे पीछे-पीछे चले आये हैं। भगवन्! इस प्रकार पिताकी आज्ञासे हम तीनों तपोवनमें जायँगे और वहाँ फल-मूलका आहार करते हुए धर्मका ही आचरण करेंगे।'

यह परिचय देना ऋषिके प्रति शिष्टता ही थी। अन्यथा महर्षि अपरिचित नहीं थे। श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर धर्मात्मा भरद्वाज मुनिने उनके लिये अतिथि-

सत्कारके रूपमें एक गौ तथा अर्घ्य-जल समर्पित किये। उन सबको नाना प्रकारके अन्न, रस और जङ्गली फल-मूल दिये। साथ ही उनके ठहरनेके लिये स्थानकी भी सुन्दर व्यवस्था की। उनके द्वारा किये गये स्वागत-सत्कारको स्वीकार करके श्रीरामचन्द्रजी जब आसनपर विराजमान हुए, तब भरद्वाजजीने कहा—'रघुनन्दन! मैं दीर्घकालसे तुम्हारे शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तुम्हारे अकारण वनवासका समाचार मेरे कानोंमें पड़ चुका है। गङ्गा और यमुनाके संगमके निकटका यह स्थान बड़ा ही पवित्र और एकान्त है। यहाँकी प्राकृतिक छटा भी मनोरम है। अतः तुम यहीं सुखपूर्वक निवास करो।' मुनिके यों कहनेपर रघुकुलनन्दन ...ने इस प्रकार उत्तर दिया—

...ावन्ति आसन्नः पौरजानपदो जनः।
...र्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिममाश्रमम्॥
...गमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।
...नेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये॥
...कान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम्।
...ते यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा॥

(वा० रा०, अयोध्या० ५४। २४—२६)

'भगवन्! मेरे नगर और जनपदके लोग यहाँसे ... निकट पड़ते हैं, अतः मैं समझता हूँ कि यहाँ ... मिलना सुगम समझकर लोग इस आश्रमपर मुझे ... सीताको देखनेके लिये प्रायः आते-जाते रहेंगे; ...कारण यहाँ निवास करना मुझे ठीक नहीं जान ...। भगवन्! किसी एकान्त प्रदेशमें आश्रमके ... उत्तम स्थान देखिये (सोचकर बताइये), ... सुख भोगनेके योग्य विदेहराजकुमारी जानकी ...नतापूर्वक रह सकें।'

...बहुत स्पष्ट सूचित कर दिया गया कि 'मेरे रहनेसे यहाँ ...भाड़ होगी, आपके साधनमें बाधा होगी। ऐसा होना ...त नहीं है।' श्रीरामचन्द्रजीके ये वचन सुनकर महा... भरद्वाजने उन्हें चित्रकूट पर्वतपर रहनेकी सलाह दी ... उन सबका भलीभाँति आतिथ्य-सत्कार किया। आश्रममें ... ही रात बिताकर प्रातःकाल श्रीरामने वहाँसे जानेके लिये आज्ञा माँगी। मुनिने श्रीराम आदिके लिये स्वस्तिवाचन करके उन्हें चित्रकूटका मार्ग बताया।

अध्यात्मरामायणका वर्णन यहाँ थोड़ा भिन्न है। वन-गमनके समय प्रयाग पहुँचे तो महर्षि भरद्वाजके आश्रमसे बाहर ही रुक गये। एक ब्रह्मचारीके द्वारा समाचार भेजनेकी शिष्टता चक्रवर्ती महाराजके कुमारको भी अनिवार्य लगी। ब्रह्मचारीके द्वारा महर्षिके समीप संदेश भेजते समय आपने कहा—

रामो दाशरथिः सीतालक्ष्मणाभ्यां समन्वितः।
आस्ते बहिर्वनस्येति ह्युच्यतां मुनि संनिधौ॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ६। ३०)

'ब्रह्मचारीजी! कृपा करके मुनिके समीप जाकर यह सूचना दे दें कि दशरथका पुत्र राम सीता तथा लक्ष्मण-के साथ आया है और तपोवनके बाहर अनुमतिकी प्रतीक्षा कर रहा है।'

मिलनेपर भरद्वाजजीसे निखिल-लोकेश्वर श्रीराम कहते हैं—

अनुग्राह्यास्त्वया ब्रह्मन् वयं क्षत्रियबान्धवाः।

'ब्रह्मन्! हम तुच्छ क्षत्रिय आपके अनुग्रह-भाजन हैं। हमपर कृपा बनाये रक्खें।'

× × ×

वाल्मीकिके आश्रममें

आज वन-पर्वतोंपर प्रशासनका आधिपत्य है; किंतु प्राचीनकालमें वे उन्मुक्त क्षेत्र थे। ऋषि-मुनि स्वेच्छानुसार वनोंमें आश्रम बना लेते थे और वहाँ उन्हींका ही प्रभुत्व माना जाता था।

वनमें रहना है तो जो वनके आश्रमोंके ज्ञाता हैं, जिनका वनवासी मुनिजनोंसे परिचय है, उनसे ही उपयुक्त स्थान ज्ञात हो सकता है। अतः श्रीरामने महर्षि वाल्मीकिसे निवासयोग्य स्थानकी जिज्ञासा की। यह जिज्ञासा भी—

राघवः प्राञ्जलिः प्राह वाल्मीकिं विनयान्वितः।
पितुराज्ञां पुरस्कृत्य दण्डकानागता वयम्॥

भवन्तो यदि जानन्ति किं वक्ष्यामोऽत्र कारणम्।
यत्र मे सुखवासाय भवेत्स्थानं वदस्व तत् ॥
सीतया सहितः कालं किंचित्तत्र नयाम्यहम्।

(अध्यात्म०, अयोध्या० ६ । ४९-५०½)

"श्रीरघुनाथजीने अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर श्रीवाल्मीकिजीसे कहा—'हम पिताजीकी आज्ञा मानकर दण्डकवनमें आये हैं। आप सब कुछ जानते ही हैं, फिर हम आपको इसका कारण क्या बतायें? अब आप मुझे कोई ऐसा स्थान बताइये, जहाँ मैं सुखपूर्वक रह सकूँ। आपके बताये हुए उस स्थानमें मैं सीताके साथ रहकर कुछ समय बिताऊँगा।"

महर्षि वाल्मीकिसे स्थान पूछनेका मुख्य हेतु ही है—'मुनि उदवेगु न पावै कोई।'

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे।
भए सुकृत सब सुफल हमारे॥
अब जहँ राउर आयसु होई।
मुनि उदबेगु न पावै कोई॥
मुनि तापस जिन्ह तें दुखु लहहीं।
ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगल मूल बिप्र परितोषू।
दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥
अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ।
सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ॥
तहँ रचि रुचिर परन तृन साला।
बासु करौं कछु काल कृपाला॥

(श्रीरामचरित०, अयोध्या० १२५; १२५ । १-३)

श्रीरामचन्द्रजीने वाल्मीकिजीसे कहा—'प्रभो! पिताकी आज्ञा (का पालन), माताका हित और भरत-जैसे (स्नेही एवं धर्मात्मा) भाईका राजा होना और फिर मुझे आपके दर्शन होना, यह सब मेरे पुण्योंका प्रभाव है। मुनिराज! आपके चरणोंका दर्शन करनेसे आज हमारे सब पुण्य सफल हो गये (हमें सारे पुण्योंका फल मिल गया)। अब जहाँ आपकी आज्ञा हो और जहाँ कोई भी मुनि उद्वेगको प्राप्त न हो—वहाँ हमें रहनेकी आज्ञा दीजिये; क्योंकि जिनसे मुनि और तपस्वी दुःख पाते हैं, वे राजा बिना अग्निके (अपने दुष्ट कर्मोंसे) ही जलकर भस्म हो जाते हैं। ब्राह्मणोंका संतोष सब मङ्गलोंकी जड़ है और भूदेव ब्राह्मणोंका क्रोध कुलोंको भस्म कर देता है—ऐसा हृदयमें समझकर—वह स्थान बतलाइये, जहाँ मैं लक्ष्मण और सीतासहित जाऊँ और वहाँ सुन्दर पत्तों और घासकी कुटी बनाकर, हे दयालो! कुछ समय निवास करूँ।'

गुरु वसिष्ठजीसे विनम्र प्रार्थना

चित्रकूटमें अयोध्याके लोग स्वतः आये हैं, सोत्साह आये हैं और उन्हें प्रसन्नता है इसमें; किंतु परम संकोची श्रीरघुनाथ बड़े संकोचमें हैं। बड़ी नम्रतापूर्वक गुरुदेवसे प्रार्थना करते हैं—

नाथ लोग सब निपट दुखारी।
कंद मूल फल अंबु अहारी॥
सानुज भरतु सचिव सब माता।
देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥
सब समेत पुर धारिअ पाऊ।
आपु इहाँ अमरावति राऊ॥
बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाई।
उचित होइ तस करिअ गोसाँई॥

(श्रीरामचरित०, अयोध्या० २४७ । ३-४)

'नाथ! सब लोग यहाँ अत्यन्त दुखी हो रहे हैं। कंद, मूल, फल और जलका ही आहार करते हैं। भाई शत्रुघ्नसहित भरतको, मन्त्रियोंको और सब माताओंको देखकर मुझे एक-एक पल युगके समान बीत रहा है। अतः सबके साथ आप अयोध्यापुरीको पधारिये (लौट जाइये)। आप यहाँ हैं और राजा अमरावती (स्वर्ग) में हैं (अयोध्या सूनी है)। मैंने बहुत कह डाला, यह सब बड़ी ढिठाई की है। हे गोसाईं! जैसा उचित हो, वैसा ही कीजिये।'

सम्मानकी सीमा है समर्पण—सम्पूर्ण समर्पण और यह कुलगुरु वसिष्ठके प्रति मर्यादापुरुषोत्तमने स्पष्ट किया। अपना धर्म, अपना कर्तव्य, अपना नियम सब एक ओर—'आप आज्ञा दें!' कोई हिचक नहीं।

नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ ॥
सब कर हित रुख राउरि राखें।
आयसु किएँ मुदित फुर भाषें ॥
प्रथम जो आयसु मो कहुँ होई।
माथें मानि करौं सिख सोई ॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं।
सो सब भाँति घटिहि सेवकाईं ॥

× × ×

(श्रीरामचरित० अयोध्या० २५७ । १—३)

श्रीरघुनाथजी मुनि वसिष्ठजीसे कहने लगे—'नाथ! उपाय तो आपके ही हाथ है। आपका रुख रखनेमें और आपकी आज्ञाको सत्य कहकर प्रसन्नतापूर्वक पालन करनेमें ही सबका हित है। पहले तो मुझे जो आज्ञा हो, मैं उसी शिक्षाको माथेपर चढ़ाकर करूँ। फिर हे गोसाईं! आप जिसको जैसा कहेंगे, वह सब तरहसे सेवामें लग जायगा (आज्ञा-पालन करेगा)।'

विद्यमान आपुनि मिथिलेसू।
मोर कहब सब भाँति भदेसू ॥
राउर राय रजायसु होई।
राउरि सपथ सही सिर सोई ॥

(श्रीरामचरित०, अयोध्या० २९५ । ४)

श्रीरामजी श्रीवसिष्ठजीसे कहने लगे—'आपके और लेश्वर जनकजीके विद्यमान रहते मेरा कुछ कहना प्रकारसे भद्दा (अनुचित) है। आपकी और महाराज-तो आज्ञा होगी, मैं आपकी शपथ खाकर कहता हूँ, सत्य ही सबको शिरोधार्य होगी।'

अत्रि मुनिका सम्मान

चित्रकूटसे अब आगे दक्षिण जाना है। अतः चित्रकूट लके ऋषिप्रमुख महर्षि अत्रिजीके आश्रममें श्रीरघुनाथ लेने पहुँचे। उनसे यात्राकी अनुमति माँगी।

तब मुनि सन कह कृपानिधाना।
आयसु होइ जाउँ बन आना ॥
संतत मो पर कृपा करेहू।
सेवक जानि तजेहु जनि नेहू ॥

(श्रीरामचरित०, अरण्य० ५ । १-२)

श्रीरामजीने अत्रि मुनिसे कहा—'आज्ञा हो तो अब दूसरे वनमें जाऊँ! मुझपर निरन्तर कृपा करते रहियेगा और अपना सेवक जानकर स्नेह न छोड़ियेगा।

महर्षि अगस्त्यके प्रति श्रद्धा-सम्मानभाव

श्रीरामचन्द्रजी हाथमें धनुष ले पत्नी और भाईके साथ रमणीय तपोवनोंमें विचरण करने लगे। वे पञ्चाप्सर-तीर्थमें गये और वहाँ माण्डकर्णि मुनिके विषयमें अद्भुत कथा सुनी। तदनन्तर विभिन्न आश्रमोंमें घूमकर श्रीराम आदि पुनः सुतीक्ष्णके आश्रममें लौट आये। कुछ काल वहाँ रहनेके बाद श्रीरामने एक दिन महामुनि सुतीक्ष्णसे कहा—

अस्मिन्नरण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥
वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम्।
न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥
कुत्राश्रमपदं रम्यं महर्षेस्तस्य धीमतः।
प्रसादार्थं भगवतः सानुजः सह सीतया ॥
अगस्त्यमधिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम्।
मनोरथो महानेष हृदि सम्परिवर्तते ॥
यदहं तं मुनिवरं शुश्रूषेयमपि स्वयम्।
इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥
सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम्।

(वा० रा०, अरण्य० ११ । ३०—३४½)

'भगवन्! मैंने प्रतिदिन बातचीत करनेवाले लोगों-के मुँहसे सुना है कि इस वनमें कहीं मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजी निवास करते हैं; किंतु इस वनकी विशालता-के कारण मैं उस स्थानको नहीं जानता हूँ। उन बुद्धिमान् महर्षिका सुन्दर आश्रम कहाँ है? मैं लक्ष्मण और सीताके साथ भगवान् अगस्त्यको प्रसन्न करनेके लिये उन मुनीश्वरको प्रणाम करनेके उद्देश्यसे उनके आश्रमपर जाऊँ—यह महान् मनोरथ मेरे हृदयमें चक्कर लगा रहा है। मैं चाहता हूँ कि स्वयं भी मुनिवर अगस्त्यकी सेवा करूँ। धर्मात्मा श्रीरामका

राक्षस-वधकी प्रतिज्ञा

[पृष्ठ १८४

लक्ष्मणका रोष

[पृष्ठ ११९

पिताके मृत्यु-समाचारसे शोक

[पृष्ठ ५१

पिताको पिण्डदान

[पृष्ठ ५२

पुरवासियोंके प्रति स्नेह

[पृष्ठ १४१

सुमन्त्रको समझाकर लौटा रहे हैं

[पृष्ठ ४७

दशरथको रामका सन्देश

[पृष्ठ ४९

गुहके द्वारा सत्कार

[पृष्ठ १८८

यह वचन सुनकर सुतीक्ष्ण मुनि बड़े प्रसन्न हुए और उन दशरथनन्दनसे इस प्रकार बोले—

'इस आश्रमसे चार योजन दक्षिण चले जाइये। वहाँ अगस्त्यजीके भाईके सुन्दर आश्रममें रातभर ठहरकर प्रातःकाल उस वनखण्डके किनारे दक्षिण दिशाकी ओर जाइये। वहाँ वृक्षोंसे सुशोभित वनके रमणीय भागमें आपको अगस्त्य मुनिका आश्रम मिलेगा।'

तदनन्तर सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे सुखपूर्वक चलते-चलते श्रीरामचन्द्रजीने अत्यन्त हर्षमें भरकर लक्ष्मणसे यह बात कही—

एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः।
अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः॥
यथा हीमे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः।
संनताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः॥
पिप्पलीनां च पक्वानां वनादस्मादुपागतः।
गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः॥
तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः।
लूनाश्च परिदृश्यन्ते दर्भा वैदूर्यवर्चसः॥
एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम्।
पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं सम्प्रदृश्यते॥
विविक्तेषु च तीर्थेषु कृतस्नाना द्विजातयः।
पुष्पोपहारं कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमर्जितैः॥
ततः सुतीक्ष्णवचनं यथा सौम्य मया श्रुतम्।
अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति॥

(वा० रा०, अरण्य० ११। ४७—५३)

'सुमित्रानन्दन! निश्चय ही यह पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले महात्मा अगस्त्य मुनिके भाईका आश्रम दिखायी दे रहा है; क्योंकि सुतीक्ष्णजीने जैसा बतलाया था, उसके अनुसार इस वनके मार्गमें फूलों और फलोंके भारसे झुके हुए सहस्रों परिचित वृक्ष शोभा पा रहे हैं। इस वनमें पकी हुई पीपलियोंकी यह गन्ध वायुसे प्रेरित होकर सहसा इधर आयी है, जिससे कटु रसका उदय हो रहा है। जहाँ-तहाँ लकड़ियोंके ढेर लगे दिखायी देते हैं और वैदूर्यमणिके समान रंगवाले कुश कटे हुए दृष्टिगोचर होते हैं। यह देखो, जंगलके बीचमें आश्रमकी अग्निका धुआँ उठता दिखायी दे रहा है, जिसका अग्रभाग काले मेघोंके ऊपरी भाग-सा प्रतीत होता है। यहाँके एकान्त एवं पवित्र तीर्थोंमें स्नान करके आये हुए ब्राह्मण स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंसे देवताओंके लिये पुष्पोपहार अर्पित करते हैं। सौम्य! मैंने सुतीक्ष्णजीका कथन जैसा सुना था, उसके अनुसार यह निश्चय ही अगस्त्यजीके भाईका आश्रम होगा।'

निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया।
यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्शरण्या पुण्यकर्मणा॥
इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेल्वलः।
भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणघ्नौ महासुरौ॥
धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्।
आमन्त्रयति विप्रान् स श्राद्धमुद्दिश्य निर्घृणः॥
भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम्।
तान् द्विजान् भोजयामास श्राद्धदृष्टेन कर्मणा॥
ततो भुक्तवतां तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत्।
वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन्॥
ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन्।
भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पतत्॥
ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः।
विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः॥

(वा० रा०, अरण्य० ११। ५४—६०)

"इन्हींके भाई पुण्यकर्मा अगस्त्यजीने समस्त लोकोंके हितकी कामनासे मृत्युस्वरूप वातापि और इल्वलका वेगपूर्वक दमन करके इस दक्षिण दिशाको शरण लेनेके योग्य बना दिया। एक समयकी बात है, यहाँ क्रूर-स्वभाववाला वातापि

और इल्वल—ये दोनों भाई एक साथ रहते थे। ये दोनों महान् असुर ब्राह्मणोंकी हत्या करनेवाले थे। निर्दयी इल्वल ब्राह्मणका रूप धारण करके संस्कृत बोलता हुआ जाता और श्राद्धके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रण दे आता था। फिर मेष (जीवशाक) का रूप धारण करनेवाले अपने भाई वातापिका संस्कार करके श्राद्धकल्पोक्त विधिसे ब्राह्मणोंको खिला देता था। वे ब्राह्मण जब भोजन कर लेते, तब इल्वल उच्च स्वरसे बोलता—'वातापे! निकलो!' भाईकी बात सुनकर वातापि भेड़के समान 'मेंमें' करता हुआ उन ब्राह्मणोंके पेट फाड़-फाड़कर निकल आता था। इस प्रकार इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले उन मांसभक्षी असुरोंने प्रतिदिन मिलकर सहस्रों ब्राह्मणोंका विनाश कर डाला।

अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा।
अनुभूय किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः॥
ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तेऽवनेजनम्।
भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः समभाषत॥
स तदा भाषमाणं तु भ्रातरं विप्रघातिनम्।
अब्रवीत् प्रहसन् धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः॥
कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः।
भ्रातुस्तु मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम्॥
अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रितम्।
प्रधर्षयितुमारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः॥
सोऽभ्यद्रवद् द्विजेन्द्रं तं मुनिना दीप्ततेजसा।
चक्षुषानलकल्पेन निर्दग्धो निधनं गतः॥
तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः।
विप्रानुकम्पया येन कर्मेदं दुष्करं कृतम्॥
(वा० रा०, अरण्य० ११। ६१—६७)

"'उस समय (एक दिन) देवताओंकी प्रार्थनासे महर्षि अगस्त्यने श्राद्धमें शाकरूपधारी उस महान् असुरको जान-बूझकर भक्षण किया'। तदनन्तर श्राद्धकर्म सम्पन्न हो गया, यों कहकर ब्राह्मणोंके हाथमें अवनेजनका जल दे इल्वलने भाईको सम्बोधित कहा, 'निकलो!' इस प्रकार भाईको पुकारते हुए ब्राह्मणघाती असुरसे बुद्धिमान् मुनिश्रेष्ठ अग हँसकर कहा—'जिस जीवशाकरूपधारी तेरे राक्षसको मैंने खाकर पचा लिया, वह तो यमलं जा पहुँचा है। अब उसमें निकलनेकी शक्ति कहाँ भाईकी मृत्युको सूचित करनेवाले मुनिके इस वच सुनकर उस निशाचरने क्रोधपूर्वक उन्हें मार डाल उद्योग आरम्भ किया। उसने ज्यों ही द्विज अगस्त्यपर धावा किया, त्यों ही उद्दीप्त तेजवाले मुनिने अपनी अग्नि-तुल्य दृष्टिसे उस राक्षसको कर डाला। इस प्रकार उसकी मृत्यु हो गई ब्राह्मणोंपर कृपा करके जिन्होंने यह दुष्कर कर्म किया उन्हीं महर्षि अगस्त्यके भाईका यह आश्रम है, सरोवर और वनसे सुशोभित हो रहा है।"

श्रीरामने सीता-लक्ष्मणसहित आश्रममें जाकर महर्षि चरणोंमें प्रणाम किया। मुनिने उनका यथाविधि आद सत्कार किया। तत्पश्चात् रात आश्रममें बितायी। र बीतनेपर जब सूर्योदय हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजीने अगस्त्य भाईसे विदा माँगते हुए कहा—

अभिवादये त्वां भगवन् सुखमस्म्युषितो निशाम्।
आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम्॥
(वा० रा०, अरण्य० ११। ७२)

'भगवन्! मैं आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ यहाँ रातभर बड़े सुखसे रहा हूँ। अब आपके बड़े भाई मुनिवर अगस्त्यका दर्शन करनेके लिये जाऊँगा इसके लिये आपसे आज्ञा चाहता हूँ।'

तब महर्षिने कहा, 'बहुत अच्छा, जाइये।' इस प्रकार महर्षिसे आज्ञा पाकर भगवान् श्रीराम सुतीक्ष्णके बताये हुए मार्गसे वनकी शोभा देखते हुए आगे चले। आश्रमके पास पहुँचकर कमलनयन श्रीराम अपने पीछे-पीछे आते हुए शोभावर्धक वीर लक्ष्मणसे, जो उनके निकट ही थे, इस प्रकार बोले—

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा क्षान्ता मृगद्विजाः ।
आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेर्भावितात्मनः ॥
अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ।
आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ॥
प्राज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः ।
प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ॥
निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया ।
दक्षिणा दिक् कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ॥
तस्येदमाश्रमपदं प्रभावाद् यस्य राक्षसैः ।
दिगियं दक्षिणा त्रासाद् दृश्यते नोपभुज्यते ॥
यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा ।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः ॥
नाम्ना चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ।
प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धर्षा क्रूरकर्मभिः ॥
मार्गं निरोद्धुं सततं भास्करस्याचलोत्तमः ।
संदेशं पालयंस्तस्य विन्ध्यशैलो न वर्धते ॥
(वा० रा०, अरण्य० ११ । ७८-८५)

"यहाँके वृक्षोंके पत्ते जैसे सुने गये थे, वैसे ही चिकने दिखायी देते हैं तथा पशु और पक्षी क्षमाशील एवं शान्त हैं । इससे जान पड़ता है, उन भावितात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले) महर्षि अगस्त्यका आश्रम यहाँसे अधिक दूर नहीं है । जो अपने कर्मसे ही संसारमें अगस्त्यके नामसे विख्यात हुए हैं, उन्हींका यह आश्रम दिखायी देता है, जो थके-माँदे पथिकोंकी थकावटको दूर करनेवाला है । इस आश्रमके वन यज्ञ-यागसम्बन्धी अधिक धूमोंसे व्याप्त हैं । चीरवस्त्रोंकी पंक्तियाँ इसकी शोभा बढ़ाती हैं । यहाँके मृगोंके झुंड सदा शान्त रहते हैं तथा इस आश्रममें नाना प्रकारके पक्षियोंके कलरव गूँजते रहते हैं । जिन पुण्यकर्मा महर्षि अगस्त्यने समस्त लोकोंकी हितकाम[ना से] मृत्युस्वरूप राक्षसोंका वेगपूर्वक दमन करके इस द[क्षिण] दिशाको शरण लेनेयोग्य बना दिया तथा जि[नके] प्रभावसे राक्षस इस दक्षिण दिशाको केवल [दूरसे] भयभीत होकर देखते हैं, इसका उपभोग भी [नहीं] करते, उन्हींका यह आश्रम है । पुण्यकर्मा म[हर्षि] अगस्त्यने जबसे इस दिशामें पदार्पण किया है, त[बसे] यहाँके निशाचर वैररहित और शान्त हो गये [हैं।] भगवान् अगस्त्यकी महिमासे इस आश्रमके आस[पास] निर्वैरता आदि गुणोंके सम्पादनमें समर्थ तथा क्रूर राक्षसोंके लिये दुर्जय होनेके कारण यह सम्पूर्ण [दिशा] नामसे भी तीनों लोकोंमें 'दक्षिणा' ही कहलायी— नामसे विख्यात हुई तथा इसे 'अगस्त्यकी दिशा' कहते हैं । एक बार पर्वतश्रेष्ठ विन्ध्य सूर्यका [मार्ग] रोकनेके लिये बढ़ा था, किंतु महर्षि अगस्त्यके कह[नेसे] वह नम्र हो गया । तबसे आजतक निरन्तर उ[नके] आदेशका पालन करता हुआ वह कभी नहीं बढ़[ता।]

अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः ।
एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यं रतः सताम्
अस्मानधिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ।
आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम्
शेषं च वनवासस्य सौम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ।
अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते ।
नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः ।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ।
अत्र देवाश्च यक्षाश्च नागाश्च पतगैः सह
वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः ।
अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसंनिभैः
त्यक्त्वा देहान् नवैर्देहैः स्वर्याताः परमर्षयः ।

---

१. अगं पर्वतं स्तम्भयति इति अगस्त्यः—जो अग अर्थात् पर्वतको स्तम्भित कर दे, उसे अगस्त्य कहते हैं ।

यक्षत्वममरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।
अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैराराधिताः शुभैः ॥
आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः ।
निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सह सीतया ॥

(वा० रा०, अरण्य० ११ । ८६–९४)

"ये दीर्घायु महात्मा हैं । इनका कर्म (समुद्रशोषण आदि कार्य) तीनों लोकोंमें विख्यात है । इन्हीं अगस्त्यका यह शोभासम्पन्न आश्रम है, जो विनीत मृगोंद्वारा सेवित है । ये महात्मा अगस्त्यजी सम्पूर्ण लोकोंके द्वारा पूजित तथा सदा सज्जनोंके हितमें लगे रहनेवाले हैं । अपने पास आये हुए हमलोगोंको वे अपने आशीर्वादसे कल्याणके भागी बनायेंगे । सेवा करनेमें समर्थ सौम्य लक्ष्मण ! यहाँ रहकर मैं उन महामुनि अगस्त्यकी आराधना करूँगा और वनवासके शेष दिन यहीं रहकर बिताऊँगा । देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि यहाँ नियमित आहार करते हुए सदा अगस्त्य मुनिकी उपासना करते हैं । ये ऐसे प्रभावशाली मुनि हैं कि इनके आश्रममें कोई झूठ बोलनेवाला, क्रूर, शठ, नृशंस अथवा पापाचारी मनुष्य जीवित नहीं रह सकता । यहाँ धर्मकी आराधना करनेके लिये देवता, यक्ष, नाग और पक्षी नियमित आहार करते हुए निवास करते हैं । इस आश्रमपर अपने शरीरोंको त्यागकर अनेकानेक सिद्ध, महात्मा, महर्षि—नूतन शरीरोंके साथ सूर्यतुल्य तेजस्वी विमानोंद्वारा स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं । यहाँ सत्कर्मपरायण प्राणियों-द्वारा आराधित हुए देवता उन्हें यक्षत्व, अमरत्व तथा नाना प्रकारके राज्य प्रदान करते हैं । सुमित्रानन्दन ! अब हमलोग आश्रमपर आ पहुँचे । तुम पहले प्रवेश करो और महर्षियोंको सीताके साथ मेरे आगमनकी सूचना दो ।"

भाईकी आज्ञासे लक्ष्मणने आश्रममें जाकर एक तपोधन-द्वारा महर्षिके पास सीतासहित श्रीरामके आगमनका समाचार भिजवाया । महर्षिने शिष्यको आदेश दिया—'तुम बड़े सत्कारके साथ उन्हें आश्रममें ले आओ ।' शिष्यने वैसा ही किया । आश्रमके भीतर आकर सीता, लक्ष्मण और श्रीरामने वहाँ सब ओर विभिन्न देवताओंके पृथक्-पृथक् स्थान देखे । इतनेमें ही शिष्योंसे घिरे हुए अगस्त्यजी अग्निशालासे बाहर निकले । पत्नी और भाईसहित श्रीराम मुनिको विनयपूर्वक प्रणाम करके हाथ जोड़ सामने खड़े हो गये । महर्षिने पाद्य, अर्घ्य आदि देकर उन तीनोंका यथावत् सत्कार किया, फल, मूल और पुष्प अर्पण किये तथा अन्तमें परम दिव्य वैष्णव धनुष, अमोघ अक्षय तूणीर तथा स्वर्णभूषित खड्ग उपहारमें दिये, जो रणभूमिमें विजयकी प्राप्ति करानेवाले थे । महर्षिने श्रीरामके प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट की, सीताकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन सबको पञ्चवटीमें आश्रम बनाकर रहनेका आदेश दिया ।

श्रीरामके द्वारा संत-असंत-लक्षण-विवेचन

देवर्षिके प्रति संतके लक्षण कहना

अरण्यमें स्वयं भगवान् श्रीरामने अपना सहज सुहृद् एवं भक्तरक्षक स्वभाव बतलाकर उनका विवाह न करने देनेका कारण बताया । नारदजी सुनकर मुग्ध हो गये । तदनन्तर उनके पूछनेपर भगवान् श्रीरामने इस प्रकार संतके लक्षण बतलाये—

सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ ।
जिन्ह ते मैं उन्ह कें बस रहऊँ ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा ।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ॥
अमितबोध अनीह मित भोगी ।
सत्यसार कबि कोबिद जोगी ॥
सावधान मानद मदहीना ।
धीर धर्म गति परम प्रबीना ॥

गुनागार संसार दुख रहित बिगत संदेह ।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह ॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।
　　पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती।
　　सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती ॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा।
　　गुरु गोबिंद बिप्र पद प्रेमा ॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया।
　　मुदिता मम पद प्रीति अमाया ॥
बिरति बिबेक बिनय बिग्याना।
　　बोध जथारथ बेद पुराना ॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ।
　　भूलि न देहिं कुमारग पाऊ ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला।
　　हेतु रहित परहित रत सीला ॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते।
　　कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० ४४ । ३–५; ४५; ४५ । १–४)

'हे मुनि! सुनो; मैं संतोंके गुणोंको कहता हूँ, जिनके कारण मैं उनके वशमें रहता हूँ। वे संत [काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन] छः विकारों (दोषों) को जीते हुए, पापरहित, कामनारहित, निश्चल (स्थिरबुद्धि), अकिंचन (सर्वत्यागी), बाहर-भीतरसे पवित्र, सुखके धाम, असीम ज्ञानवान्, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ, कवि, विद्वान्, योगी, सावधान, दूसरोंको मान देनेवाले, अभिमानरहित, धैर्यवान्, धर्मके ज्ञान और आचरणमें अत्यन्त निपुण, गुणोंके घर, संसारके दुःखसे रहित और संदेहोंसे सर्वथा छूटे हुए होते हैं। मेरे चरणकमलोंको छोड़कर उनको न देह ही प्रिय होती है, न घर ही। कानोंसे अपने गुण सुननेमें सकुचाते हैं, दूसरोंके गुण सुननेसे विशेष हर्षित होते हैं। सम और शीतल हैं, न्यायका कभी त्याग नहीं करते। सरल-स्वभाव होते हैं और सभीसे प्रेम रखते हैं। वे जप, तप, व्रत, दम, संयम और नियममें रत रहते हैं और गुरु, गोविन्द तथा ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रेम रखते हैं। उनमें श्रद्धा, क्षमा, मैत्री, दया, मुदिता (प्रसन्नता) और मेरे चरणोंमें निष्कपट प्रेम होता है तथा वैराग्य, विवेक, विनय, विज्ञान (परमात्माके तत्त्वका ज्ञान) और वेद-पुराणका यथार्थ ज्ञान रहता है। वे दम्भ, अभिमान और मद कभी नहीं करते और भूलकर भी कुमार्गपर पैर नहीं रखते। सदा मेरी लीलाओंको गाते-सुनते हैं और बिना ही कारण दूसरोंके हितमें लगे रहनेवाले होते हैं। हे मुनि! सुनो, संतोंके जितने गुण हैं, उनको सरस्वती और वेद भी नहीं कह सकते।'

कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पंकज गहे।
अस दीन बंधु कृपाल अपने भगत गुन निज मुख कहे ॥
सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।
ते धन्य तुलसीदास आस बिहाइ जे हरि रँग रँए ॥
(श्रीरामचरित० अरण्य० ४५ के बादका छन्द)

'शेष और शारदा भी नहीं कह सकते।' यह सुनते ही नारदजीने श्रीरामजीके चरणकमल पकड़ लिये। दीन-बन्धु कृपालु प्रभुने इस प्रकार अपने श्रीमुखसे अपने भक्तोंके गुण कहे। भगवान्‌के चरणोंमें बार-बार सिर नवाकर नारदजी ब्रह्मलोकको चले गये। तुलसीदासजी कहते हैं कि वे पुरुष धन्य हैं, जो सब आशा छोड़कर केवल श्रीहरिके रंगमें रँग गये हैं।

सनकादिके प्रति सत्सङ्ग-महिमा-कथन

श्रीअयोध्यानाथका दर्शन करने सनकादि मुनि पधारे। श्रीरामने उनकी अभ्यर्थना की और कहा—

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा।
　　तुम्हरें दरस जाहिं अघ खीसा ॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा।
　　बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा ॥
संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ ॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० ३२ । ४; ३३)

'मुनीश्वरो! सुनिये, आज मैं धन्य हूँ। आपके दर्शनसे ही [सारे] पाप नष्ट हो जाते हैं। बड़े ही भाग्यसे सत्सङ्गकी प्राप्ति होती है, जिससे बिना ही परिश्रम जन्म-मृत्युका चक्र नष्ट हो जाता है।

'संतका सङ्ग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका सङ्ग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है। संत, कवि और पण्डित तथा वेद, पुराण (आदि) सभी सद्ग्रन्थ इस प्रकार कहते हैं।'

भरतके प्रति संत-असंतका भेद-कथन

एक बार भगवान् श्रीराम अपने भाइयोंसहित परम प्रिय हनुमान्‌जीको साथ लेकर सुन्दर उपवनमें गये थे। वहाँ सनकादि आये। श्रीरामने उनका बड़ा आदर किया, स्तवन किया। तदनन्तर सनकादिने उनकी स्तुति की। पश्चात् उनके चले जानेके बाद भरतजीने कुछ पूछना चाहा, पर वे संकोचवश स्वयं कुछ न कह सके। हनुमान्‌ने हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक उनकी ओरसे निवेदन किया—'प्रभो! भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, पर पूछनेमें सकुचा रहे हैं।' भगवान् बोले—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ।
भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

'हनुमान्! तुम मेरा स्वभाव जानते ही हो। भरतके और मेरे बीचमें कभी भी कोई अन्तर है!' यह सुनकर भरतजीने चरण पकड़ लिये और बड़ी ही विनम्रभाषामें संत और असंतके लक्षण तथा भेद सुननेकी इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा—

संतन्ह कै महिमा रघुराई।
बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई॥
श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई।
तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई॥
सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन।
कृपासिंधु गुन ग्यान बिचच्छन॥
संत असंत भेद बिलगाई।
प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० ३६। १—३)

'हे रघुनाथजी! वेद-पुराणोंने संतोंकी महिमा बहुत प्रकारसे गायी है। आपने भी अपने श्रीमुखसे उनकी बड़ाई की है और उनपर प्रभु (आप) का प्रेम भी बहुत है। हे प्रभो! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ। आप कृपाके समुद्र हैं और गुण तथा ज्ञानमें अत्यन्त निपुण हैं। हे शरणागतका पालने करनेवाले! संत और असंतोंके भेद अलग-अलग करके मुझको समझाकर कहिये।'

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता।
अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
संत असंतन्हि कै असि करनी।
जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई।
निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
ताते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहिं परसु बदन यह दंड॥
बिषय अलंपट सील गुनाकर।
पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी।
लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमलचित दीनन्ह पर दाया।
मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी।
भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
बिगत काम मम नाम परायन।
सांति बिरति बिनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मयत्री।
द्विज पद प्रीति धर्म जनयत्री॥
ए सब लच्छन बसहिं जासु उर।
जानेहु तात संत संतत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।
परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥
(श्रीरामचरित०, उत्तर० ३६। ३-४; ३७; ३७। १—४;

[श्रीरामजीने कहा—] 'भाई! संतोंके लक्षण (गु असंख्य हैं, जो वेद और पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं। और असंतोंकी करनी ऐसी है, जैसे कुल्हाड़ी और चन्द आचरण है। भाई! सुनो, कुल्हाड़ी चन्दनको काटती [क्योंकि उसका स्वभाव या काम ही वृक्षोंको काटना है किंतु चन्दन [अपने स्वभाववश] अपना गुण देकर [काटनेवाली कुल्हाड़ीको] सुगन्धसे सुवासित कर देता

'इसी गुणके कारण चन्दन देवताओंके सिरपर च है और जगत्‌का प्रिय होता है तथा कुल्हाड़ीके मुर यह दण्ड मिलता है कि उसको आगमें जलाकर फिर घ पीटते हैं।

'संत विषयोंमें लंपट (लिप्त) नहीं होते, शील सद्गुणोंकी खान होते हैं। उन्हें पराया दुःख देखकर दु और सुख देखकर सुख होता है। वे [सबमें, सर्वत्र,

समय] समता रखते हैं। उनके मन कोई उनका शत्रु नहीं होता, वे मदसे रहित और वैराग्यवान् होते हैं तथा लोभ, क्रोध, हर्ष और भयका त्याग किये हुए रहते हैं। उनका चित्त बड़ा कोमल होता है। वे दीनोंपर दया करते हैं तथा मन, वचन और कर्मसे मेरी निष्कपट (विशुद्ध) भक्ति करते हैं। सबको सम्मान देते हैं पर स्वयं मानरहित होते हैं। भरत! वे प्राणी मेरे प्राणोंके समान हैं। उनको कोई कामना नहीं होती। वे मेरे नामके परायण होते हैं। शान्ति, वैराग्य, विनय और प्रसन्नताके घर होते हैं। उनमें शीतलता, सबके प्रति मित्रभाव और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति होती है, जो धर्मोंको उत्पन्न करनेवाली है। तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों, उसको सदा सच्चा संत जानना। जो शम (मनके निग्रह), दम (इन्द्रियोंके निग्रह), नियम और नीतिसे कभी विचलित नहीं होते और मुखसे कभी कठोर वचन नहीं बोलते, जिन्हें निन्दा और स्तुति (बड़ाई) दोनों समान हैं और मेरे चरण-कमलोंमें जिनकी ममता है, वे गुणोंके धाम और सुखकी राशि संतजन मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं।

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ।
भूलेहुँ संगति करिअ न काऊ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई।
जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥
खलन्ह हृदयँ अति ताप बिसेषी।
जरहिं सदा पर संपति देखी॥
जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई।
हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन।
निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों।
जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना।
झूठइ भोजन झूठ चबेना॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा।
खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥

पर द्रोही पर दार रत पर धन पर अपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरें मनुजाद॥

(श्रीरामचरित०, उत्तर० ३८। १—४; ३९)

'अब असंतों (दुष्टों) का स्वभाव सुनो; कभी भूलकर भी उनकी संगति नहीं करनी चाहिये। उनका सङ्ग सदा दुःख देनेवाला होता है। जैसे हरहाई (बुरी जातिकी) गाय कपिला (सीधी और दुधार) गायको अपने सङ्गसे नष्ट कर डालती है। दुष्टोंके हृदयमें बहुत अधिक संताप रहता है। वे परायी सम्पत्ति (सुख) देखकर सदा जलते रहते हैं। वे जहाँ कहीं दूसरेकी निन्दा सुन पाते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं मानो रास्तेमें पड़ी निधि (खजाना) पा ली हो। वे काम, क्रोध, मद और लोभके परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापोंके घर होते हैं। वे बिना ही कारण सब किसीसे बैर किया करते हैं। जो भलाई करता है, उसके साथ भी बुराई करते हैं। उनका झूठा ही लेना और झूठा ही देना होता है। झूठा ही भोजन होता है और झूठा ही चबेना होता है (अर्थात् वे लेन-देनके व्यवहारमें झूठका आश्रय लेकर दूसरोंका हक मार लेते हैं अथवा झूठी डींग हाँका करते हैं कि हमने लाखों रुपये ले लिये, करोड़ोंका दान कर दिया। इसी प्रकार खाते हैं चनेकी रोटी और कहते हैं कि आज खूब माल खाकर आये। अथवा चबेना चबाकर रह जाते हैं और कहते हैं हमें बढ़िया भोजनसे वैराग्य है, इत्यादि। मतलब यह कि वे सभी बातोंमें झूठ ही बोला करते हैं।) जैसे मोर [बहुत मीठा बोलता है, परंतु उस] का हृदय इतना कठोर होता है कि वह महान् विषैले साँपोंको भी खा जाता है। वैसे ही वे भी ऊपरसे मीठे बचन बोलते हैं [परंतु हृदयके बड़े ही निर्दयी होते हैं।]

'वे दूसरोंसे द्रोह करते हैं और परायी स्त्री, पराये धन तथा परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। वे पामर तथा पापमय मनुष्य नर-शरीर धारण किये हुए राक्षस ही हैं।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन।
सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई।
स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती।
सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
स्वारथ रत परिवार बिरोधी।
लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं।
आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥

यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।
हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत् सर्वं वक्तुमर्हसि ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०१ । २-३)

'भाई ! तुम राज्य छोड़कर वल्कल, कृष्णमृगचर्म और जटा धारण करके जो इस देशमें आये हो, इसका क्या कारण है ? जिस निमित्तसे इस वनमें तुम्हारा प्रवेश हुआ है, यह मैं तुम्हारे मुँहसे सुनना चाहता हूँ । तुम्हें सब कुछ साफ-साफ बताना चाहिये ।'

भरतकी श्रीरामके चरणोंमें प्रार्थना और श्रीरामका उत्तर

श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर भरत आन्तरिक शोकको दबाये हाथ जोड़कर बोले—'आर्य ! हमारे महाबाहु पिता अत्यन्त दुष्कर कर्म करके पुत्रशोकसे पीड़ित हो हमें छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये । मेरी माता कैकेयीकी प्रेरणासे ही विवश हो पिताजीको ऐसा कठोर कार्य करना पड़ा था । मेरी माताने अपने सुयशको नष्ट करनेवाला यह बड़ा भारी पाप किया है । वह राज्यरूपी फल न पाकर विधवा हो गयी और अब शोकसे दुर्बल हो महाघोर नरकमें पड़ेगी । मैं आपका दास हूँ । मुझपर कृपा कीजिये और आज ही अयोध्याके राज्यपर अपना अभिषेक कराइये । ये सारी प्रकृतियाँ (मन्त्री, सेना और प्रजा आदि) तथा विधवा माताएँ आपके पास आयी हैं । आप इन सबपर कृपा करें । न्यायतः आपको ही राज्य मिलना चाहिये । अतः आप धर्मानुसार राज्य ग्रहण करें और अपने सुहृदोंको सफल-मनोरथ बनायें ।' यों कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए भरतने श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें मस्तक रख दिया । तब श्रीरामने भरतको उठाकर हृदयसे लगाया और बोले—

कुलीनः सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।
राज्यहेतोः कथं पापमाचरेन्मद्विधो जनः ॥
न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।
न चापि जननीं बाल्यात् त्वं विगर्हितुमर्हसि ॥
कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ ।
उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥
वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।
भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमपि ज्ञातुमर्हसि ॥
वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।
राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥
यावत् पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते ।
तावद् धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥
एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत् समाचरे ॥
त्वया राज्यमयोध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।
वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया वल्कलवाससा ॥
एवमुक्त्वा महाराजो विभागं लोकसंनिधौ ।
व्यादिश्य च महाराजो दिवं दशरथो गतः ॥
स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।
पित्रा दत्तं यथाभागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥
चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।
उपभोक्ष्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥
यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
पिता महात्मा विबुधाधिपोपमः ।
तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
न सर्वलोकेश्वरभावमव्ययम् ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०१ । १६-२७)

'भाई ! तुम्हीं बताओ—उत्तम कुलमें उत्पन्न, सत्त्वगुणसम्पन्न, तेजस्वी और श्रेष्ठ व्रतोंका पालन करनेवाला मेरे-जैसा मनुष्य राज्यके लिये पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घनरूप पाप कैसे कर सकता है ? शत्रुसूदन ! मैं तुम्हारे अंदर थोड़ा-सा भी दोष नहीं देखता । अज्ञानवश तुम्हें अपनी माताकी भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । निष्पाप महाप्राज्ञ ! गुरुजनोंका अपनी अभीष्ट स्त्रियों और प्रिय पुत्रोंपर सदा पूर्ण अधिकार होता है । वे उन्हें चाहे जैसी आज्ञा दे सकते हैं । सौम्य ! माताओंसहित हम भी इस लोकमें श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा महाराज-के स्त्री-पुत्र और शिष्य कहे गये हैं, अतः हमें भी उनको सब तरहकी आज्ञा देनेका अधिकार था । इस बातको तुम भी समझने योग्य हो । सौम्य ! महाराज

लोग बड़े विद्वान् भी होते हैं; (अतः वे मित्र होनेपर बड़े कामके सिद्ध होंगे) इसलिये विभीषणको अपने पक्षमें मिला लेना चाहिये। हमसे मिल जानेपर ये विभीषण आदि निश्चिन्त एवं प्रसन्न हो जायँगे। इनकी जो यह शरणागतिके लिये प्रबल पुकार है, इससे मालूम होता है, राक्षसोंमें एक दूसरेसे भय बना हुआ है। इसी कारणसे इनमें परस्पर फूट होगी और ये नष्ट हो जायँगे। इसलिये भी विभीषणको ग्रहण कर लेना चाहिये। तात सुग्रीव! संसारमें सब भाई भरतके ही समान नहीं होते। बापके सब बेटे मेरे ही-जैसे नहीं होते और सभी मित्र तुम्हारे ही समान नहीं हुआ करते।'

श्रीरामकी शत्रु-हितकारिणी नीति

अङ्गदको दूत बनाकर लङ्का भेजा जा रहा है। श्रीरामने अपनी नीति उन्हें समझायी दो शब्दोंमें—'काजु हमार तासु हित होई' हमारा काम हो—यह तो दृष्टिकोण है ही; किंतु जहाँतक सम्भव हो शत्रुका भी भला हो। शत्रुका अहित अभीष्ट नहीं है।

बालितनय बुधि बल गुन धामा।
लंका जाहु तात मम कामा॥
बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ।
परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥
काजु हमार तासु हित होई।
रिपु सन करेहु बतकही सोई॥
(श्रीरामचरित०, लङ्का० १६ ख। ३-४)

कृपाके निधान श्रीरामजीने अङ्गदसे कहा—'बल, बुद्धि और गुणोंके धाम वालिपुत्र! हे तात! तुम मेरे कामके लिये लङ्का जाओ। तुमको बहुत समझाकर क्या कहूँ, मैं जानता हूँ, तुम परम चतुर हो। शत्रुसे वही बातचीत करना जिससे हमारा काम हो और उसका कल्याण हो।'

श्रीराम शत्रुकी शक्तिसे अनभिज्ञ नहीं हैं और उसे उपेक्षणीय भी नहीं मानते। इसीलिये जब अङ्गद लङ्कामें रावणके समीपसे लौटकर आते हैं तो श्रीरघुनाथजी उनसे पूछते हैं—

बालितनय कौतुक अति मोही।
तात सत्य कहु पूछउँ तोही॥
रावनु जातुधान कुल टीका।
भुज बल अतुल जासु जग लीका॥
तासु मुकुट तुम्ह चारि चलाए।
कहहु तात कवनीं बिधि पाए॥
(श्रीरामचरित०, लङ्का० २७। २-३)

'बालिके पुत्र! मुझे बड़ा कौतूहल है। तात! इसीसे मैं तुम्हें पूछता हूँ, सत्य कहना। जो रावण राक्षसोंके कुलका तिलक है और जिसके अतुलनीय बाहुबलकी जगत्‌भरमें धाक है, उसके चार मुकुट तुमने फेंके। तात! बताओ, तुमने उनको किस प्रकारसे पाया?'

रावणको नीतिका उपदेश

नीतिका उपदेश तो श्रीरामने घोर युद्ध करते हुए रावणको भी किया—

सत्य सत्य सब तव प्रभुताई।
जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई॥
(श्रीरामचरित०, लङ्का० ८९। ५)

जनि जल्पना करि सुजसु नासहि नीति सुनहि करहि छमा।
संसार महँ पूरुष त्रिबिध पाटल रसाल पनस समा॥
एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।
एक कहहिं कहहिं करहिं अपर एक करहिं कहत न बागहीं॥
(श्रीरामचरित०, लङ्का० दो० ८९ के बाद)

श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर रावणसे कहा—'तुम्हारी सारी प्रभुता, जैसा तुम कहते हो, बिल्कुल सच है, पर अब व्यर्थ बकवाद न करो, अपना पुरुषार्थ दिखलाओ।

व्यर्थ बकवाद करके अपने सुन्दर यशका नाश न करो। क्षमा करना, तुम्हें नीति सुनाता हूँ, सुनो। संसारमें तीन प्रकारके पुरुष होते हैं—पाटल (गुलाब), आम और कटहलके समान। एक (पाटल) फूल देते हैं, एक (आम) फूल और फल दोनों देते हैं और एक

(कटहल) में केवल फल ही लगते हैं। इसी प्रकार (पुरुषोंमें) एक कहते हैं (करते नहीं); दूसरे कहते हैं और करते भी हैं और एक (तीसरे) केवल करते हैं, पर वाणीसे कहते नहीं।'
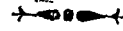
श्रीरामका धर्मोपदेश

लक्ष्मणके प्रति उपदेश

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम्॥
मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्॥
संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः॥
तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम्॥
(वा० रा०, अयोध्या० २१। ३९-४४)

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो परम उत्तम स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजका भी मुझे ज्ञान है। शुभलक्षण लक्ष्मण ! मेरी माताको जो अनुपम एवं महान् दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरे अभिप्रायको न समझनेके कारण है। संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है। पिताजीका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेके कारण परम उत्तम है। वीर ! धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता, माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये। वीर ! अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता; क्योंकि पिताजीके कहनेसे ही कैकेयीने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दी है। इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो, धर्मका आश्रय लो, कठोरता छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो।'

श्रीरामचरितमानसके अनुसार वनवासके लिये जानेको प्रस्तुत होते समय भाई लक्ष्मणसे श्रीरामने कहा—

बोले बचनु राम नय नागर।
सील सनेह सरल सुखसागर॥
तात प्रेमबस जनि कदराहू।
समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू॥

मातु पिता गुर स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
(श्रीरामचरित०, अयोध्या० ६९। ४, ७०)

तब नीतिमें निपुण और शील, स्नेह, सरलता और सुखके समुद्र श्रीरामचन्द्रजी वचन बोले—'हे तात ! परिणाममें होनेवाले आनन्दको हृदयमें समझकर तुम प्रेमवश अधीर मत होओ। जो लोग माता, पिता, गुरु और स्वामीकी शिक्षाको स्वाभाविक ही सिर चढ़ाकर उसका पालन करते हैं, उन्होंने ही जन्म लेनेका लाभ पाया है, नहीं तो जगत्में जन्म व्यर्थ ही है।'

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई।
करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा।
होइ सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू।
सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू॥

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी ॥
(श्रीरामचरित०, अयोध्या० ७० । १—२)

'भाई ! हृदयमें ऐसा जानकर मेरी सीख सुनो और माता-पिताके चरणोंकी सेवा करो । भरत और शत्रुघ्न घरपर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मनमें मेरा दुःख है । इस अवस्थामें मैं तुमको साथ लेकर वन जाऊँ तो अयोध्या सभी प्रकारसे अनाथ हो जायगी । गुरु, माता, पिता, प्रजा और परिवार सभीपर दुःखका दुःसह भार आ पड़ेगा । अतः तुम यहीं रहो और सबका संतोष करते रहो । नहीं तो, हे तात ! बड़ा दोष होगा । जिसके राज्यमें प्यारी प्रजा दुखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरकका अधिकारी होता है ।'

पातिव्रत-धर्मका उपदेश

'श्रीराम वन जायँगे' इस समाचारने माता कौसल्याको शोक-विह्वल कर दिया । वे आग्रह करने लगीं कि वे भी साथ जायँगी । तब श्रीरघुनाथजीने उन्हें समझाया—

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते ।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥
भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः ।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः ।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः ॥
(वा० रा०, अयोध्या० २४ । ११-१३)

'मा ! कैकेयीने राजाके साथ धोखा दिया है । इधर मैं वनको चला जा रहा हूँ । इस दशामें यदि तुम भी उनका परित्याग कर दोगी तो निश्चय ही वे जीवित नहीं रह सकेंगे । पतिका परित्याग नारीके लिये बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कर्म है । सत्पुरुषोंने इसकी बड़ी निन्दा की है; अतः तुम्हें तो ऐसी बात कभी मनमें भी नहीं लानी चाहिये । मेरे पिता ककुत्स्थकुल-भूषण महाराज दशरथ जबतक जीवित हैं, तबतक तुम उन्हींकी सेवा करो । पतिकी सेवा ही स्त्रीके लिये सनातन धर्म है ।'

× × ×

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः ।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥
इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च ।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव ॥
(वा० रा०, अयोध्या० २४ । १६-१७)

'मा ! पिताजीकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा—दोनोंका कर्तव्य है; क्योंकि राजा हम सब लोगोंके स्वामी, श्रेष्ठ गुरु, ईश्वर एवं प्रभु हैं । इन चौदह वर्षोंतक मैं विशाल वनमें घूम-फिरकर लौट आऊँगा और बड़े प्रेमसे तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहूँगा ।'

× × ×

पुनः माताको सान्त्वना देते हुए बोले—

जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता ।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा ।
यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु ।
दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता ।
व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ।
भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।
शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ।

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः ।
एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता ।
प्राप्स्यसे परमं कामं मयि पर्यागते सति ॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् ।
(वा० रा०, अयोध्या० २४ । २१—३०½)

'मा ! स्त्रीके जीते-जी उसका पति ही उसके लिये देवता और ईश्वरके समान है । महाराज तुम्हारे और मेरे दोनोंके प्रभु हैं । जबतक बुद्धिमान् जगदीश्वर महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक हमें अपनेको अनाथ नहीं समझना चाहिये । भरत भी बड़े धर्मात्मा हैं । वे समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः वे तुम्हारा अनुसरण—तुम्हारी सेवा करेंगे । मेरे चले जानेपर जिस तरह भी महाराजको पुत्रशोकके कारण कोई विशेष कष्ट न हो, तुम सावधानीके साथ वैसा ही प्रयत्न करना । कहीं ऐसा न हो कि यह दारुण शोक इनकी जीवनलीला ही समाप्त कर डाले । जैसे भी सम्भव हो, तुम सदा सावधान रहकर बूढ़े महाराजके हित-साधनमें लगी रहना । उत्कृष्ट गुण और जाति आदिकी दृष्टिसे परम उत्तम तथा व्रत-उपवासमें तत्पर होकर भी जो नारी पतिकी सेवा नहीं करती, उसे पापियोंको मिलनेवाली गति (नरक आदि) की प्राप्ति होती है । जो अन्यान्य देवताओंकी वन्दना और पूजासे दूर रहती है, वह नारी भी केवल पतिकी सेवामात्रसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेती है । अतः नारीको चाहिये कि वह पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे, यही स्त्रीका वेद और लोकमें प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है । इसीका श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है । देवि ! तुम्हें मेरी मङ्गल-कामनासे सदा अग्निहो[त्र आदिके] अवसरोंपर पुष्पोंसे देवताओंका तथा सत्कारपू[र्वक] ब्राह्मणोंका भी पूजन करते रहना चाहिये । इस प्रक[ार] तुम नियमित आहार करके नियमोंका पालन करती [हुई] स्वामीकी सेवामें लगी रहो और मेरे आगमनकी इ[च्छा] रखकर समयकी प्रतीक्षा करो । यदि धर्मात्माओंमें श्रे[ष्ठ] महाराज जीवित रहेंगे तो मेरे लौट आनेपर तुम्हारी शुभ कामना पूर्ण होगी ।'

जाबालिके नास्तिक मतका खण्डन और धर्मका प्रतिपाद[न]

चित्रकूटमें श्रीभरतजीके साथ महाराज दशरथकी रा[ज]परिषद्के एक परामर्शदाता जाबालि ऋषि भी गये थे[।] वे अत्यन्त विद्वान् तथा तर्क (न्यायशास्त्र) के ज्ञाता थे[।] श्रीरामपर उनका बहुत स्नेह था । भरतके बार-बा[र] आग्रह करनेपर भी श्रीराम अयोध्या लौटनेको प्रस्तुत न[हीं] हो रहे थे । इसलिये स्वयं आस्तिक, धर्मात्मा होते हुए भी श्रीरामको लौटनेके लिये उद्यत करनेके अभिप्राय[से] जाबालिने नास्तिक मतके तर्कोंका आश्रय लेकर कहा—'परलोक कोई वस्तु नहीं । धर्म तो समाज-संचालनका माध्यम मात्र है । राम ! तुम पता नहीं क्यों कल्पित धर्मका आग्रह कर रहे हो । ये सब बातें छोड़ो और अयोध्या चलकर राज्यसुख भोगो । लोकमें सुख-सम्पत्ति और सुयश ही मुख्य हैं ।'

जाबालिके ये वचन सुनकर सत्यपराक्रमी धर्ममूर्ति श्रीरामचन्द्रजीने अपनी संशयरहित बुद्धिके द्वारा श्रुतिसम्मत सदुक्तिका आश्रय लेकर कहा—

भवान् मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।
अकार्यं कार्यसंकाशमपथ्यं पथ्यसंनिभम् ॥
निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।
मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥
कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाशुचिम् ॥
अनार्यस्त्वार्यसंस्थानः शौचाद्धीनस्तथा शुचिः ।
लक्षण्यवदलक्षण्यो दुःशीलः शीलवानिव ॥

अधर्मं धर्मवेषेण यद्यहं लोकसंकरम् ।
अभिपत्स्ये शुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जिताम् ॥
कश्चेतयानः पुरुषः कार्याकार्यविचक्षणः ।
बहु मन्येत मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥
कस्य यास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।
अनया वर्तमानोऽहं वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥
कामवृत्तोऽन्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।
यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः
(वा० रा०, अयोध्या० १०९ । २—९)

'विप्रवर ! आपने मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे यहाँ जो बात कही है, वह कर्तव्य-सी दिखायी देती है; किंतु वास्तवमें करनेयोग्य नहीं है । वह पथ्य-सी दीखनेपर भी वास्तवमें अपथ्य है । जो पुरुष धर्म अथवा वेदकी मर्यादाको त्याग देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है । उसके आचार और विचार—दोनों भ्रष्ट हो जाते हैं; इसलिये वह सत्पुरुषोंमें कभी सम्मान नहीं पाता । आचार ही यह बताता है कि कौन पुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ है और कौन अधम कुलमें, कौन वीर है और कौन व्यर्थ ही अपनेको पुरुष मानता है तथा कौन पवित्र है और कौन अपवित्र ? आपने जो आचार बताया है, उसे अपनानेवाला पुरुष श्रेष्ठ-सा दिखायी देनेपर भी वास्तवमें अनार्य होगा । बाहरसे पवित्र दीखनेपर भी भीतरसे अपवित्र होगा । उत्तम लक्षणोंसे युक्त-सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें उसके विपरीत होगा तथा शीलवान्-सा दीखनेपर भी वस्तुतः वह दुःशील ही होगा । आपका उपदेश चोला तो धर्मका पहने हुए है, किंतु वास्तवमें अधर्म है । इससे संसारमें वर्णसंकरताका प्रचार होगा । यदि मैं इसे स्वीकार करके वेदोक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान छोड़ दूँ और विधिहीन कर्मोंमें लग जाऊँ तो कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान रखनेवाला कौन समझदार मनुष्य मुझे श्रेष्ठ समझकर आदर देगा ? उस दशामें तो मैं इस जगत्‌में दुराचारी तथा लोकको कलङ्कित करनेवाला समझा जाऊँगा । जहाँ अपनी की हुई प्रतिज्ञा तोड़ दी जाती है, उस वृत्तिके अनुसार बर्ताव करनेपर मैं किस साधनसे स्वर्गलोक प्राप्त करूँगा तथा आपने जिस आचारका उपदेश दिया है, वह किसका है, जिसका मुझे अनुसरण करना होगा; क्योंकि आपके कथनानुसार मैं पिता आदिमेंसे किसीका कुछ भी नहीं हूँ । आपके बताये हुए मार्गसे चलनेपर पहले तो मैं स्वेच्छाचारी हूँगा । फिर यह सारा लोक स्वेच्छाचारी हो जायगा; क्योंकि राजाओंके जैसे आचरण होते हैं, प्रजा भी वैसा ही आचरण करने लगती है ।'

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।
तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम्
उद्विजन्ते यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्य चोच्यते ॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
दत्तमिष्टं हुतं चैव तप्तानि च तपांसि च ।
वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात् सत्यपरो भवेत् ॥
एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।
मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गे महीयते ॥
सोऽहं पितुर्निदेशं तु किमर्थं नानुपालये ।
सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतम् ॥
नैव लोभान्न मोहाद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः ॥
असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।
नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं ध्रुवम् ।
भारः सत्पुरुषैश्चीर्णस्तदर्थमभिनन्द्यते ॥

(वा० रा०; अयोध्या० १०९ । १०—१९)

'सत्यका पालन ही राजाओंका दयाप्रधान धर्म है—सनातन आचार है, अतः राज्य सत्यस्वरूप है । सत्यमें ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित है । ऋषियों और देवताओंने सदा सत्यका ही आदर किया है । इस लोकमें सत्यवादी मनुष्य अक्षय परम धाममें जाता है । झूठ बोलनेवाले मनुष्यसे सब लोग उसी तरह डरते हैं, जैसे साँपसे । संसारमें सत्य ही धर्मकी पराकाष्ठा है और वही सबका मूल कहा जाता है । जगत्में सत्य ही ईश्वर है । सदा सत्यके ही आधारपर धर्मकी स्थिति रहती है । सत्य ही सबकी जड़ है । सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई परम पद नहीं है । दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद—इन सबका आधार सत्य ही है; इसलिये सबको सत्यपरायण होना चाहिये । एक मनुष्य सम्पूर्ण जगत्का पालन करता है, एक समूचे कुलका पालन करता है, एक नरकमें डूबता है और एक स्वर्गलोकमें प्रतिष्ठित होता है । मैं सत्यप्रतिज्ञ हूँ और सत्यकी शपथ खाकर पिताके सत्यका पालन स्वीकार कर चुका हूँ, ऐसी दशामें मैं पिताके आदेशका किस लिये पालन नहीं करूँ ? पहले सत्यपालनकी प्रतिज्ञा करके अब लोभ, मोह अथवा अज्ञानसे विवेकशून्य होकर मैं पिताके सत्यकी मर्यादा भङ्ग नहीं करूँगा । हमने सुना है कि जो अपनी प्रतिज्ञा झूठी करनेके कारण धर्मसे भ्रष्ट हो जाता है, उस चञ्चल चित्तवाले पुरुषके दिये हुए हव्य-कव्यको देवता और पितर नहीं स्वीकार करते । मैं इस सत्यरूपी धर्मको समस्त प्राणियोंके लिये हितकर और सब धर्मोंमें श्रेष्ठ समझता हूँ । सत्पुरुषोंने जटा-वल्कल आदिके धारणरूप तापस धर्मका पालन किया है, इसलिये मैं भी उसका अभिनन्दन करता हूँ ।'

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ह्यधर्मं धर्मसंहितम् ।
क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥
कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य तत् ।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः ॥
श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद् यद् भवानवधार्य माम् ।
आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं भद्रं कुरुष्व ह ॥
कथं ह्यहं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरोः ।
भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥
स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसंनिधौ ।
प्रहृष्टमानसा देवी कैकेयी चाभवत् तदा ॥
वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।
मूलपुष्पफलैः पुण्यैः पितॄन् देवांश्च तर्पयन् ॥
संतुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवाहये ।
अकुहः श्रद्दधानः सन् कार्याकार्यविचक्षणः ॥

(वा० रा०, अयोध्या० १०९ । २०—२७)

'जो धर्मयुक्त प्रतीत हो रहा है, किंतु वास्तवमें अधर्मरूप है, जिसका नीच, क्रूर, लोभी और पापाचारी पुरुषोंने सेवन किया है, ऐसे क्षात्रधर्मका (पिताकी आज्ञा भङ्ग करके राज्य ग्रहण करनेका) मैं अवश्य त्याग करूँगा (क्योंकि वह न्याययुक्त नहीं है) । मनुष्य अपने शरीरसे जो पाप करता है, उसे पहले मनके द्वारा कर्तव्यरूपसे निश्चित करता है । फिर जिह्वाकी सहायतासे उस अनृत कर्म (पाप) को वाणीद्वारा दूसरोंसे कहता है, तत्पश्चात् औरोंके सहयोगसे उसे शरीरद्वारा सम्पन्न करता है । इस तरह एक ही पातक कायिक, वाचिक और मानसिक भेदसे तीन प्रकारका होता है । पृथ्वी,

कीर्ति, यश और लक्ष्मी—ये सब-की-सब सत्यवादी पुरुषको पानेकी इच्छा रखती हैं और शिष्ट पुरुष सत्यका ही अनुसरण करते हैं, अतः मनुष्यको सदा सत्यका ही सेवन करना चाहिये। आपने उचित सिद्ध करके तर्कपूर्ण वचनोंके द्वारा मुझसे जो यह कहा है कि राज्य ग्रहण करनेमें ही कल्याण है; अतः इसे अवश्य स्वीकार करो। आपका यह आदेश श्रेष्ठ-सा प्रतीत होनेपर भी सज्जन पुरुषोंद्वारा आचरणमें लाने योग्य नहीं है (क्योंकि इसे स्वीकार करनेसे सत्य और न्यायका उल्लङ्घन होता है)। मैं पिताजीके सामने इस तरह वनमें रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। अब उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके मैं भरतकी बात कैसे मान लूँगा। गुरुके समीप की हुई मेरी वह प्रतिज्ञा अटल है—किसी तरह तोड़ी नहीं जा सकती। उस समय जब कि मैंने प्रतिज्ञा की थी, देवी कैकेयीका हृदय हर्षसे खिल उठा था। मैं वनमें ही रहकर बाहर-भीतरसे पवित्र हो नियमित भोजन करूँगा और पवित्र फल, मूल एवं पुष्पोंद्वारा देवताओं और पितरोंको तृप्त करता हुआ प्रतिज्ञाका पालन करूँगा। क्या करना चाहिये और क्या नहीं इसका निश्चय मैं कर चुका हूँ। अतः फल-मूल आदिसे पाँचों इन्द्रियोंको संतुष्ट करके निश्छल श्रद्धापूर्वक लोकयात्रा (पिताकी आज्ञाके पालनरूप व्यवहार) का निर्वाह करूँगा।'

कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः॥
शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः॥
अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकवाक्यहेतुम्।
अथाब्रवीत् तं नृपतेस्तनूजो
विगर्हमाणो वचनानि तस्य॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्त
तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-
मेकोदयं सम्प्रतिपद्य विप्रा
धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्
काङ्क्षन्ति लोकागममप्रमत्ता
(वा० रा०, अयोध्या० १०९। २८–

'इस कर्मभूमिको पाकर जो शुभ कर्म उसका अनुष्ठान करना चाहिये; क्योंकि अग्नि तथा सोम भी कर्मोंके ही फलसे उन-उन भागी हुए हैं। देवराज इन्द्र सौ यज्ञोंका करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुए हैं। महर्षियोंने तपस्या करके दिव्य लोकोंमें स्थान प्राप्त कि उग्र तेजस्वी राजकुमार श्रीराम परलोककी खण्डन करनेवाले जाबालिके पूर्वोक्त वचनोंको उन्हें सहन न कर सकनेके कारण उन निन्दा करते हुए पुनः उनसे बोले—सत्य पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, सबसे प्रि बोलना तथा देवताओं, अतिथियों और ब्रा पूजा करना—इन सबको साधु पुरुषोंने स्व मार्ग बताया है। सत्पुरुषोंके इस वचनके धर्मका स्वरूप जानकर तथा अनुकूल तर्कों यथार्थ निर्णय करके एक निश्चयपर पहुँचे हुए ब्राह्मण भलीभाँति धर्माचरण करते हुए उन-उ लोकोंको प्राप्त करना चाहते हैं।'

निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तद्
यस्त्वामगृह्णाद् विषमस्थबुद्धिं
बुद्ध्यानयैवंविधया चरन्तं
सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्

त्वत्तो जनाः पूर्वतरे द्विजाश्च
शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।
छित्त्वा सदेमं च परं च लोकं
तस्माद् द्विजाः स्वस्ति कृतं हुतं च ॥
धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेता-
स्तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।
अहिंसका वीतमलाश्च लोके
भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥
(वा० रा०, अयोध्या० १०९ । ३३, ३५, ३६)

'आपकी बुद्धि विषम-मार्गमें स्थित है—आपने वेद-विरुद्ध मार्गका आश्रय ले रक्खा है। आप घोर नास्तिक और धर्मके रास्तेसे कोसों दूर हैं। ऐसी पाखण्डमयी बुद्धिके द्वारा अनुचित विचारका प्रचार करनेवाले आपको मेरे पिताजीने जो अपना याजक बना लिया, उनके इस कार्यकी मैं निन्दा करता हूँ। आपके सिवा पहलेके श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने इहलोक और परलोककी फल-कामनाका परित्याग करके वेदोक्त धर्म समझकर सदा ही बहुत-से शुभ कर्मोंका अनुष्ठान किया है। अतः जो भी ब्राह्मण हैं, वे वेदोंको ही प्रमाण मानकर स्वस्ति (अहिंसा और सत्य आदि), कृत (तप, दान और परोपकार आदि) तथा हुत (यज्ञ-याग आदि) कर्मोंका सम्पादन करते हैं। जो धर्ममें तत्पर रहते हैं, सत्पुरुषोंका साथ करते हैं, तेजसे सम्पन्न हैं, जिनमें दानरूपी गुणकी प्रधानता है, जो कभी किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करते तथा जो मलसंसर्गसे रहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनि ही संसारमें पूजनीय होते हैं।'

वालीको धर्मोपदेश

श्रीरामके बाणसे मारे जाकर अचेत हुए वालीने जब विनयाभास, धर्माभास, अर्थाभास और हिताभाससे युक्त कठोर बातें कहीं, आक्षेप किया, तब उन बातोंको कहकर मौन हुए वानरश्रेष्ठ वालीसे श्रीरामचन्द्रजीने धर्म, अर्थ और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त परम उत्तम बात कही—

धर्ममर्थं च कामं च समयं चापि लौकिकम् ।
अविज्ञाय कथं बाल्यान्मामिहाद्य विगर्हसे ॥
अपृष्ट्वा बुद्धिसम्पन्नान् वृद्धानाचार्यसम्मतान् ।
सौम्य वानरचापल्यात् त्वं मां वक्तुमिहेच्छसि ॥
इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥
तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः ।
धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥
नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम् ।
विक्रमश्च यथा दृष्टः स राजा देशकालवित् ॥
तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।
चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसंतानमिच्छवः ॥
तस्मिन् नृपतिशार्दूले भरते धर्मवत्सले ।
पालयत्यखिलां पृथ्वीं कश्चरेद् धर्मविप्रियम् ॥
ते वयं मार्गविभ्रष्टं स्वधर्मे परमे स्थिताः ।
भरताज्ञां पुरस्कृत्य निगृह्णीमो यथाविधि ॥
त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः ।
कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १८ । ४—१२)

'वानर ! धर्म, अर्थ, काम और लौकिक सदाचारको तो तुम स्वयं ही नहीं जानते हो। फिर बालोचित अविवेकके कारण आज यहाँ मेरी निन्दा क्यों करते हो ? सौम्य ! तुम आचार्योंद्वारा सम्मानित बुद्धिमान् वृद्ध पुरुषोंसे पूछे बिना ही—उनसे धर्मके स्वरूपको ठीक-ठीक समझे बिना ही वानरोचित चपलतावश मुझे यहाँ उपदेश देना चाहते हो। अथवा मुझपर आक्षेप करनेकी इच्छा रखते हो। पर्वत, वन और काननोंसे युक्त यह सारी पृथ्वी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी है; अतः वे यहाँके पशु-पक्षी और मनुष्योंपर दया करने और उन्हें दण्ड देनेके भी अधिकारी हैं। धर्मात्मा राजा भरत इस पृथ्वीका पालन करते हैं। वे सत्यवादी, सरल

तथा धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वको जाननेवाले हैं; अतः दुष्टोंके निग्रह तथा साधुपुरुषोंके प्रति अनुग्रह करनेमें तत्पर रहते हैं। जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि सभी राजोचित गुण यथावत्‌रूपसे स्थित देखे जायँ, वही देश-कालतत्त्वको जाननेवाला राजा होता है (भरतमें ये सभी गुण विद्यमान हैं)। भरतकी ओरसे हमें तथा दूसरे राजाओंको यह आदेश प्राप्त है कि जगत्‌में धर्मके पालन और प्रसारके लिये यत्न किया जाय। इसलिये हमलोग धर्मका प्रचार करनेकी इच्छासे सारी पृथ्वीपर विचरते रहते हैं। राजाओंमें श्रेष्ठ भरत धर्मपर अनुराग रखनेवाले हैं। वे समूची पृथ्वीका पालन कर रहे हैं। उनके रहते हुए इस पृथ्वीपर कौन प्राणी धर्मके विरुद्ध आचरण कर सकता है? हम सब लोग अपने श्रेष्ठ धर्ममें दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर भरतकी आज्ञाको सामने रखते हुए धर्ममार्गसे भ्रष्ट पुरुषको विधिपूर्वक दण्ड देते हैं। तुमने अपने जीवनमें कामको ही प्रधानता दे रक्खी थी। राजोचित मार्गपर तुम कभी स्थिर नहीं रहे। तुमने सदा ही धर्मको बाधा पहुँचायी और बुरे कर्मोंके कारण सत्पुरुषोंद्वारा सदा तुम्हारी निन्दा की गयी।'

ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः॥
यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः।
पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम्॥
सूक्ष्मः परमदुर्ज्ञेयः सतां धर्मः प्लवङ्गम।
हृदिस्थः सर्वभूतानामात्मा वेद शुभाशुभम्॥
चपलश्चपलैः सार्धं वानरैरकृतात्मभिः।
जात्यन्ध इव जात्यन्धैर्मन्त्रयन् प्रेक्षसे नु किम्॥
अहं तु व्यक्ततामस्य वचनस्य ब्रवीमि ते।
नहि मां केवलं रोषात् त्वं विगर्हितुमर्हसि॥
तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥
अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य महात्मनः।
रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत्॥
तद् व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः॥

(वा० रा०, किष्किन्धा० १८। १३—२०)

'बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है, वह गुरु—ये तीनों धर्ममार्गपर स्थित रहनेवाले पुरुषोंके लिये पिताके तुल्य माननीय हैं, ऐसा समझना चाहिये। इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीन पुत्रके तुल्य समझे जाने योग्य हैं। उनके प्रति ऐसा भाव रखनेमें धर्म ही कारण है। वानर! सज्जनोंका धर्म सूक्ष्म होता है; वह परम दुर्ज्ञेय है—उसे समझना अत्यन्त कठिन है। समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान जो परमात्मा हैं, वे ही सबके शुभ और अशुभको जानते हैं। तुम स्वयं भी चपल हो और चञ्चल चित्तवाले अजितात्मा वानरोंके साथ रहते हो; अतः जैसे कोई जन्मान्ध पुरुष जन्मान्धोंसे ही रास्ता पूछे, उसी प्रकार तुम उन चपल वानरोंके साथ परामर्श करते हो, फिर तुम धर्मका विचार क्या कर सकते हो?—उसके स्वरूपको कैसे समझ सकते हो? मैंने यहाँ जो कुछ कहा है, उसका अभिप्राय तुम्हें स्पष्ट करके बताता हूँ। तुम्हें केवल रोषवश मेरी निन्दा नहीं करनी चाहिये। मैंने तुम्हें क्यों मारा है? उसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्मका त्याग करके अपने छोटे भाईकी स्त्रीसे सहवास करते हो। इस महामना सुग्रीवके जीते-जी इसकी पत्नी रुमाका, जो तुम्हारी पुत्रवधूके समान है, कामवश उपभोग करते हो; अतः पापाचारी हो। वानर! इस तरह तुम धर्मसे भ्रष्ट होकर स्वेच्छाचारी हो गये हो और अपने भाईकी स्त्रीको गले लगाते हो।

तुम्हारे इसी अपराधके कारण तुम्हें यह दण्ड दिया गया है ।'

नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः ।
दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप ॥
न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः ।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः ।
भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः ॥
त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम् ।
गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन् ॥
भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः ।
वयं तु भरतादेशावधिं कृत्वा हरीश्वर ।
त्वद्विधान् भिन्नमर्यादान् निग्रहीतुं व्यवस्थिताः॥
सुग्रीवेण च मे सख्यं लक्ष्मणेन यथा तथा ।
दारराज्यनिमित्तं च निःश्रेयसकरः स मे ॥
प्रतिज्ञा च मया दत्ता तदा वानरसंनिधौ ।
प्रतिज्ञा च कथं शक्या मद्विधेनानवेक्षितुम् ॥
तदेभिः कारणैः सर्वैर्महद्भिर्धर्मसंश्रितैः ।
शासनं तव यद् युक्तं तद् भवाननुमन्यताम् ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १८ । २१—२८)

'वानरराज ! जो लोकाचारसे भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे रोकने या राहपर लानेके लिये मैं दण्डके सिवा और कोई उपाय नहीं देखता । मैं उत्तम कुलमें उत्पन्न क्षत्रिय हूँ; अतः मैं तुम्हारे पापको क्षमा नहीं कर सकता । जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन अथवा छोटे भाईकी स्त्रीके पास काम-बुद्धिसे जाता है, उसका वध करना ही उसके लिये उपयुक्त दण्ड माना गया है । हमारे राजा भरत हैं । हमलोग तो केवल उनके आदेशका पालन करनेवाले हैं । तुम धर्मसे गिर गये हो; अतः तुम्हारी उपेक्षा कैसे की जा सकती थी । विद्वान् राजा भरत महान् धर्मसे भ्रष्ट हुए पुरुषको दण्ड देते और धर्मात्मा पुरुषका धर्मपूर्वक पालन करते हुए कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषोंके निग्रहमें तत्पर रहते हैं । हरीश्वर ! हमलोग तो भरतकी आज्ञाको ही प्रमाण मानकर धर्ममर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाले तुम्हारे-जैसे लोगोंको दण्ड देनेके लिये सदा उद्यत रहते हैं । सुग्रीवके साथ मेरी मित्रता हो चुकी है । उनके प्रति मेरा वही भाव है, जो लक्ष्मणके प्रति है । वे अपनी स्त्री और राज्यकी प्राप्तिके लिये मेरी भलाई करनेके लिये भी कटिबद्ध हैं । मैंने वानरोंके समीप उन्हें स्त्री और राज्य दिलानेके लिये प्रतिज्ञा भी कर ली है । ऐसी दशामें मेरे-जैसा मनुष्य अपनी प्रतिज्ञाकी ओरसे कैसे दृष्टि हटा सकता है ? ये सभी धर्मानुकूल महान् कारण एक साथ उपस्थित हो गये, जिनसे विवश होकर तुम्हें उचित दण्ड देना पड़ा है । तुम भी इसका अनुमोदन करो ।'

सर्वथा धर्म इत्येव द्रष्टव्यस्तव निग्रहः ।
वयस्यस्योपकर्तव्यं धर्ममेवानुपश्यता ॥
शक्यं त्वयापि तत्कार्यं धर्ममेवानुवर्तता ।
श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सलौ ।
गृहीतौ धर्मकुशलैस्तथा तच्चरितं मया ॥
राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥
शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते ।
राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्॥
आर्येण मम मान्धात्रा व्यसनं घोरमीप्सितम् ।
श्रमणेन कृते पापे यथा पापं कृतं त्वया ॥
अन्यैरपि कृतं पापं प्रमत्तैर्वसुधाधिपैः ।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यते रजः ॥
तदलं परितापेन धर्मतः परिकल्पितः ।
वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिताः ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १८ । २९—३५)

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाले मनुष्यके लिये मित्रका उपकार करना धर्म ही माना गया है; अतः तुम्हें जो

यह दण्ड दिया गया है, वह धर्मके अनुकूल है। ऐसा ही तुम्हें समझना चाहिये। यदि राजा होकर तुम धर्मका अनुसरण करते तो तुम्हें भी वही काम करना पड़ता, जो मैंने किया है। मनुने राजोचित सदाचारका प्रतिपादन करनेवाले दो श्लोक कहे हैं, जो स्मृतियोंमें सुने जाते हैं और जिन्हें धर्मपालनमें कुशल पुरुषोंने सादर स्वीकार किया। उन्हींके अनुसार इस समय यह मेरा बर्ताव हुआ है। (वे श्लोक इस प्रकार हैं—) मनुष्य पाप करके यदि राजाके दिये हुए दण्डको भोग लेते हैं तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा साधुपुरुषोंकी भाँति स्वर्गलोकमें जाते हैं। (चोर आदि पापी जब राजाके सामने उपस्थित हों उस समय उन्हें) राजा दण्ड दे अथवा दया करके छोड़ दे। चोर आदि पापी पुरुष अपने पापसे मुक्त हो जाता है; किंतु यदि राजा पापीको उचित दण्ड नहीं देता तो उसे स्वयं उसके पापका फल भोगना पड़ता है*। तुमने जैसा पाप किया है, वैसा ही पाप प्राचीन कालमें एक श्रमणने किया था। उसे मेरे पूर्वज महाराज मान्धाताने बड़ा कठोर दण्ड दिया था, जो शास्त्रके अनुसार अभीष्ट था। यदि राजा दण्ड देनेमें प्रमाद कर जायँ तो उन्हें दूसरोंके किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं तथा उसके लिये जब वे प्रायश्चित्त करते हैं तभी उनका दोष शान्त होता है। अतः वानरश्रेष्ठ ! पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ नहीं है। सर्वथा धर्मके अनुसार ही तुम्हारा वध किया गया है; क्योंकि हमलोग अपने वशमें नहीं हैं (शास्त्रके ही अधीन हैं)।'

* मनुस्मृतिमें ये दोनों श्लोक किंचित् पाठान्तरके साथ इस प्रकार मिलते हैं—

राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥
शासनाद् वा विमोक्षाद् वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते।
अशासित्वा तु तं राजा स्तेनस्याप्नोति किल्बिषम्॥
(८ । ३१८, ३१६)

श्रीरामके यों कहनेपर वालीके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उसे धर्मके तत्त्वका निश्चय हो गया। उसने श्रीरामचन्द्रजीके दोषका चिन्तन त्याग दिया।

इसके बाद वानरराज वालीने श्रीरामचन्द्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—'नरश्रेष्ठ ! आप जो कुछ कहते हैं, बिल्कुल ठीक है; इसमें संशय नहीं है।'

धर्मोपदेशके प्रसङ्गमें शरणागतवत्सलता

अन्तकालमें भगवान् श्रीरामके महाबली वालीको उसके वधका औचित्य बतलानेके बाद जब वीरवर वाली उनकी शरणमें आ गया, तब उसने अपनी पत्नी तारा और पुत्रको तथा भाई सुग्रीवको लक्ष्मण-भरतकी भाँति सँभाल करनेकी प्रार्थना की। शरणागतवत्सल प्रभुने उसकी विनयको स्वीकारकर अपने विरदको यथावत् निभाया। (वा० रा०, किष्किन्धा० १८। ५०–५७) अतएव भगवान् श्रीरामने कहा—

स तमाश्वासयद् रामो वालिनं व्यक्तदर्शनम्।
साधुसम्मतया वाचा धर्मतत्त्वार्थयुक्तया॥
न संतापस्त्वया कार्य एतदर्थं प्लवङ्गम।
न वयं भवता चिन्त्या नाप्यात्मा हरिसत्तम।
वयं भवद्विशेषेण धर्मतः कृतनिश्चयाः॥
दण्ड्ये यः पातयेद् दण्डं दण्ड्यो यश्चापि दण्ड्यते।
कार्यकारणसिद्धार्थावुभौ तौ नावसीदतः॥
तद् भवान् दण्डसंयोगादस्माद् विगतकल्मषः।
गतः स्वां प्रकृतिं धर्म्यां दण्डदिष्टेन वर्त्मना॥
त्यज शोकं च मोहं च भयं च हृदये स्थितम्।
त्वया विधानं हर्यग्र्य न शक्यमतिवर्तितुम्॥
यथा त्वय्यङ्गदो नित्यं वर्तते वानरेश्वर।
तथा वर्तेत सुग्रीवे मयि चापि न संशयः॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० १८। ५९–६४)

श्रीरामचन्द्रजीने धर्मके यथार्थ-स्वरूपको प्रकट करनेवाली साधु पुरुषोंद्वारा प्रशंसित वाणीमें उससे कहा—'वानरश्रेष्ठ ! तुम्हें इसके लिये संताप नहीं करना

तदेवं निश्चयं दृष्ट्वा तत्त्वमास्थाय विज्वरः ।
यदिहानन्तरं कार्यं कल्प्यं तदनुचिन्तय ॥
(वा० रा०, युद्ध० १०९ । १४–१९)

'विभीषण ! यह रावण समराङ्गणमें असमर्थ होकर नहीं मारा गया है। इसने प्रचण्ड पराक्रम प्रकट किया है, इसका उत्साह बहुत बढ़ा हुआ था। इसे मृत्युसे कोई भय नहीं था। यह दैवात् रणभूमिमें धराशायी हुआ है। जो लोग अपने अभ्युदयकी इच्छासे क्षत्रिय (वीर)-धर्ममें स्थित हो समराङ्गणमें मारे जाते हैं, इस तरह नष्ट होनेवाले लोगोंके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये। जिस बुद्धिमान् वीरने इन्द्रसहित तीनों लोकोंको युद्धमें भयभीत कर रक्खा था, वही यदि इस समय कालके अधीन हो गया तो उसके लिये शोक करनेका अवसर नहीं है। युद्धमें किसीको सदा विजय-ही-विजय मिले, ऐसा पहले भी कभी नहीं हुआ है। वीर पुरुष संग्राममें या तो शत्रुओंद्वारा मारा जाता है या स्वयं ही शत्रुओंको मार गिराता है। आज रावणको जो गति प्राप्त हुई है, यह पूर्वकालके महापुरुषोंद्वारा बतायी गयी उत्तम गति है। क्षात्र-वृत्तिका आश्रय लेनेवाले वीरोंके लिये तो यह बड़े आदरकी वस्तु है। क्षत्रिय-वृत्तिसे रहनेवाला वीर पुरुष यदि युद्धमें मारा गया हो तो वह शोकके योग्य नहीं है; यही शास्त्रका सिद्धान्त है। शास्त्रके इस निश्चयपर विचार करके सात्त्विक बुद्धिका आश्रय ले तुम निश्चिन्त हो जाओ और अब आगे जो कुछ (प्रेत-संस्कार आदि) कार्य करना हो, उसके सम्बन्धमें विचार करो।'

ब्राह्मणोंको भोजन कराने तथा देवाराधनसे आहार मिलता है

एक बार मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम भाई लक्ष्मणके साथ तीर्थ-यात्रा कर रहे थे। यात्रामें उन्होंने विशेष नियम ग्रहण किये थे। कोई सेवक साथ नहीं था। घूमते हुए गौतमी-तटके पुत्र-तीर्थमें पहुँचे। वहाँ उस दिन संयोगवश दोनों भाइयोंको कोई आहार उपलब्ध नहीं हुआ।

धर्मात्मा पुरुष कोई आपत्ति-अभाव आनेपर दूसरोंका, प्रकृतिका या परिस्थितिका दोष नहीं देखते। उन्हें यही सूझता है कि इस आपत्तिके कारणमें अवश्य उनकी कोई त्रुटि, कोई अधर्म है। अतः आहार न मिलनेपर लक्ष्मणने अपने अग्रजसे पूछा—'हम चक्रवर्ती महाराज दशरथके पुत्र हैं और इस समय आप स्वयं सम्राट् हैं फिर भी हमें गोमती-तटपर यात्रा करते समय आज आहार क्यों उपलब्ध नहीं हुआ?' इसका उत्तर श्रीराम दे रहे हैं—

भ्रातर्यद्विहितं कर्म नैव तच्चान्यथा भवेत् ।
पृथिव्यामन्नपूर्णायां वयमन्नाभिलाषिणः ॥
सौमित्रे नूनमस्माभिर्न ब्राह्मणमुखे हुतम् ।
अवज्ञया महीदेवांस्तर्पयन्त्यर्चयन्ति न ॥
ते ये लक्ष्मण जायन्ते सर्वदैव बुभुक्षिताः ।
स्नात्वा देवानथाभ्यर्च्य होतव्यश्च हुताशनः ।
ततः स्वसमये देवो विधास्यत्यशनं तु नौ ॥
(ब्रह्मपुराण १२३ । १४४–१४६)

'भाई ! अपने कर्मका जो फल मिलता है, वह टाला नहीं जा सकता। देखो, पृथ्वी तो अन्नपूर्णा है (अन्नसे परिपूर्ण है) और हम अन्नाभिलाषी हैं; किंतु लक्ष्मण ! अवश्य ही हमलोगोंने यहाँ ब्राह्मणके मुखरूपी अग्निमें हवन नहीं किया (ब्राह्मणोंको भोजन नहीं कराया)। लक्ष्मण ! जो ब्राह्मणोंका अपमान करते हैं, उनका पूजन नहीं करते, उन्हें तृप्त नहीं करते, वे सदा ही क्षुधा-पीड़ित उत्पन्न होते हैं। (जहाँ जिस योनिमें उत्पन्न होते हैं, वहीं उन्हें भूखों रहना पड़ता है।) इसलिये अब यहाँ स्नान करके देवताओंकी पूजाके उपरान्त हमलोगोंको अग्निमें हवन करना चाहिये। इससे समयपर देवता हम दोनोंके आहारकी व्यवस्था करेंगे।'

सत्यकी महिमा

महाराज दशरथ नहीं चाहते थे कि श्रीराम वन जायँ।

किंतु महारानी कैकेयीको वे वरदान दे चुके थे। अतः उन्होंने श्रीरामसे कहा—'राम ! तुम मुझ स्त्री-लम्पटको बलपूर्वक बंदी बना लो और सिंहासनपर बैठो।'

श्रीरघुनाथजीने पिताको समझाया और उनके वचनका पालन ही श्रेयस्कर माना। वे पितासे बोले—

तडागशतदानेन यत् पुण्यं लभते नरः।
ततोऽधिकं च लभते वापीदानेन निश्चितम्॥
दशवापीप्रदानेन यत् पुण्यं लभते नरः।
ततोऽधिकं च लभते पुण्यं कन्याप्रदानतः॥
दशकन्याप्रदानेन यत् पुण्यं लभते नरः।
ततोऽधिकं च लभते यज्ञैकेन नराधिप॥
दशयज्ञेन यत् पुण्यं लभते पुण्यकृज्जनः।
ततोऽधिकं च लभते पुत्रास्यदर्शनेन च॥
दर्शने शतपुत्राणां यत् पुण्यं लभते नरः।
तत् पुण्यं लभते नूनं पुण्यवान् सत्यपालनात्॥
न हि सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
न हि गङ्गासमं तीर्थं न देवः केशवात् परः॥
नास्ति धर्मात् परो बन्धुर्नास्ति धर्मात् परं धनम्।
धर्मात् प्रियः परः को वा स्वधर्मं रक्ष यत्नतः॥
स्वधर्मे रक्षिते तात शश्वत् सर्वत्र मङ्गलम्।
यशस्यं सुप्रतिष्ठा च प्रतापः पूजनं परम्॥
चतुर्दशाब्दं धर्मेण त्यक्त्वा गृहसुखं भ्रमन्।
वनवासं करिष्यामि सत्यस्य पालनाय ते॥
कृत्वा सत्यं च शपथमिच्छयानिच्छयाथवा।
न कुर्यात्पालनं यो हि भस्मान्तं तस्य सूतकम्॥
कुम्भीपाके स पचति यावच्चन्द्रदिवाकरौ।
ततो मूको भवेत् कुष्ठी मानवः सप्तजन्मसु॥
(ब्रह्मवैवर्त० ४। ६२। १६-२६)

'सौ सरोवर दान (जनताके लिये बनाने) से जो पुण्य मनुष्य प्राप्त करता है, उससे अधिक पुण्य उसे एक बावड़ी बनवानेसे प्राप्त होता है। दस बावड़ी बनवानेसे जो पुण्य पुरुषको होता है, उससे अधिक पुण्य कन्यादान करनेसे प्राप्त होता है। दस कन्यादान करनेसे मनुष्य जो पुण्य पाता है, उससे अधिक पुण्यकी प्राप्ति एक यज्ञ करनेसे उसे होती है। पुण्यकर्मा पुरुषको दस यज्ञ करके जो पुण्य होता है, उससे अधिक पुण्य उसे पुत्रका मुख देखनेसे (पुत्रोत्पत्तिसे)* होता है। सौ पुत्रोंके उत्पन्न होनेसे जो पुण्य पुरुषको प्राप्त होता है, वह पुण्य निश्चय ही पुण्यात्मा पुरुष सत्यके पालनसे प्राप्त कर लेता है। सत्यसे परे (बड़ा) कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बड़ा कोई पाप नहीं है। गङ्गाजीके समान कोई तीर्थ नहीं है और भगवान् केशवसे बड़ा कोई देवता नहीं है। धर्मसे श्रेष्ठ कोई बन्धु (हितैषी) नहीं है। धर्मसे बढ़कर कोई धन नहीं है। धर्मसे अधिक प्रिय कौन हो सकता है? अतः यत्नपूर्वक स्वधर्मकी रक्षा कीजिये। पिताजी ! अपने धर्मके रक्षित रहनेपर पुरुषका सर्वत्र कल्याण होता है। उसे सुयश, सुप्रतिष्ठा प्राप्त होती है। उसका प्रताप बना रहता है। यही (स्वधर्म-रक्षा ही) परमपुरुषका पूजन है। पिताजी ! मैं आपके सत्यकी रक्षाके लिये धर्मपूर्वक गृहस्थ-सुखका त्याग करके घूमते हुए चौदह वर्ष वनमें निवास करूँगा।

'स्वेच्छासे अथवा अनिच्छासे सत्यके पालनकी शपथ लेकर जो उसका पालन नहीं करता, निश्चय ही उसका उत्पन्न होना भस्म होनेमें ही परिगत होता है। (उसका जीवन व्यर्थ है) वह (मरकर) जबतक सूर्य एवं चन्द्रमा हैं, तबतक कुम्भीपाक नरकमें पकाया जाता है और (अगले कल्पमें) जन्म लेनेपर सात जन्मोंतक मनुष्ययोनिमें गूँगा तथा कोढ़ी होता है।'

* सदा सत्कर्म करनेवाले पुण्यात्मा पुत्रके पुण्यकर्ममें पिताको भाग प्राप्त होता है, अतः पुत्र-जन्म भी पुण्य माना गया है।

श्रीरामका क्रियायोगोपदेश

(पूजाविधि)

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नान्योपायोऽस्ति कर्हिचित्॥

मनुष्यको भगवान्‌ने शरीर दिया है, हृदय—भावना-शक्ति दी है और मस्तिष्क—विचारशक्ति दी है। इन तीनके अतिरिक्त चौथी तो कोई शक्ति—कोई साधन मनुष्यके समीप है नहीं। मनुष्य-जीवनका चरम उद्देश्य—एकमात्र उद्देश्य भगवत्प्राप्ति है। अतः देह, हृदय और मस्तिष्क भी मनुष्यको भगवत्प्राप्तिके साधनके रूपमें ही मिले हैं।

ज्ञान-विचार साधन उनका है जो बुद्धिमान् हैं, विवेकी हैं और सच्चे विवेकी हैं; केवल बौद्धिक ज्ञानके अभिमानी नहीं हैं। सच्चे विवेकीको सच्चा वैराग्य हुए बिना रह नहीं सकता। सत्-असत्का जिसमें सचमुच विवेक है, उसमें संसारके भोगोंमें—दुःखरूप असत् विषयोंमें आसक्ति रह नहीं सकती। इहलोक और परलोकके समस्त विषयोंमें उसका आत्यन्तिक वैराग्य अवश्यम्भावी है। किंतु ऐसे सच्चे विवेकी—वैराग्यसम्पन्न बुद्धिमान् पुरुष समाजमें बहुत थोड़े ही होते हैं।

हृदयप्रधान—भावनाशील लोगोंमें भी यदि भावना विकृत नहीं है तो वह विकृत विषयोंमें नहीं लगेगी। वह लगेगी भावनाके परमाश्रय श्रीभगवान्‌में और भोग-वैराग्य तो उसका अनुगत है। भक्तको वैराग्य करना नहीं पड़ता। संसारकी चर्चा और भोगमें अरुचि उसका स्वभाव होता है। ऐसे परम धन्य भावुक भी समाजमें थोड़े ही होते हैं।

अधिक लोग शरीरप्रधान हैं। शरीरमें लोगोंकी आसक्ति है। शरीरके सुख-दुःखकी निरन्तर चिन्ताके कारण शरीर और शारीरिक क्रियाओंका अतिशय महत्त्व है मनुष्यकी दृष्टिमें। शरीरकी क्रिया मनको तथा बुद्धिको भी प्रभावित करती है। तब सामान्य जीवके उद्धारका सीधा-सरल उपाय यही है कि वह शरीरको भगवत्सेवामें लगाये रहे। मन हमारे वशमें नहीं, बुद्धि तत्त्व-चिन्तनमें स्थिर नहीं होती; किंतु शरीर तो हमारे वशमें है। शरीरसे तो हम भगवत्सेवाके कर्म कर सकते हैं।

जहाँ क्रिया है, वहीं विधि है। विधि-निषेधके [illegible] रहित क्रियाका कुछ अर्थ नहीं है। जीवोंके परम परमाचार्य श्रीलक्ष्मणजीको पूरा सुयोग मिल गया श्रीराघवेन्द्र ऋष्यमूकपर निवास कर रहे थे। वर्षा[illegible] महीने न सीतान्वेषण सम्भव था और न अन्य यात्रा। ऐसे समयमें प्रभुके श्रीमुखसे ही उन्होंने [illegible] कल्याणके लिये क्रियायोगको व्यक्त करानेका अवसर [illegible]

सौमित्रिरेकदा राममेकान्ते ध्यानतत्परम्
समाधिविरमे भक्त्या प्रणयाद्विनयान्वितः
अब्रवीद् देव ते वाक्यात्पूर्वोक्ताद्विगतो मम
अनाद्यविद्यासम्भूतः संशयो हृदि संस्थितः
इदानीं श्रोतुमिच्छामि क्रियामार्गेण राघव
भवदाराधनं लोके यथा कुर्वन्ति योगिनः।
इदमेव सदा प्राहुर्योगिनो मुक्तिसाधनम्
नारदोऽपि तथा व्यासो ब्रह्मा कमलसम्भवः।
ब्रह्मक्षत्रादिवर्णानामाश्रमाणां च मोक्षदम्।
स्त्रीशूद्राणां च राजेन्द्र सुलभं मुक्तिसाधनम्।
तव भक्ताय मे भ्रात्रे ब्रूहि लोकोपकारकम्॥

(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ४ । ६—१०)

एक दिन एकान्तमें ध्यान करते हुए भगव[illegible] रामसे उनकी समाधि खुलनेपर सुमित्रानन्द[illegible] श्रीलक्ष्मणजीने अति प्रेम और भक्तिसे नम्रतापूर्व[illegible] कहा—'भगवन्! आपने मुझे जो उपदेश पह[illegible] दिया था उससे मेरे हृदयका अनादि अविद्याज[illegible] संदेह तो दूर हो गया है। किंतु हे राघव! योगिज[illegible] क्रियामार्ग (पूजा-पद्धति) से जिस प्रकार संसार[illegible] आपकी आराधना किया करते हैं, इस समय मैं उ[illegible] सुनना चाहता हूँ। समस्त योगिजन एवं देव[illegible] नारद, महर्षि व्यास और कमलयोनि श्रीब्रह्माजी [illegible] इसीको मुक्तिका साधन बतलाते हैं। हे राजराजेश्वर

गुरुजनभक्त श्रीराम

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि आश्रमोंको मोक्ष देनेवाला यही साधन है और स्त्री तथा शूद्रोंकी भी इसी साधनसे सुगमतासे मुक्ति हो सकती है । प्रभो ! मैं आपका भक्त और भाई हूँ; अतः आप मुझसे इस लोकोपकारी साधनका वर्णन कीजिये ।'

श्रीराम उवाच

मम पूजाविधानस्य नान्तोऽस्ति रघुनन्दन ।
तथापि वक्ष्ये संक्षेपाद्यथावदनुपूर्वशः ॥
स्वगृह्योक्तप्रकारेण द्विजत्वं प्राप्य मानवः ।
सकाशात्सद्गुरोर्मन्त्रं लब्ध्वा मद्भक्तिसंयुतः ॥
तेन संदर्शितविधिर्मामेवाराधयेत्सुधीः ।
हृदये वानले वार्चेत्प्रतिमादौ विभावसौ ॥
शालग्रामशिलायां वा पूजयेन्मामतन्द्रितः ।
प्रातःस्नानं प्रकुर्वीत प्रथमं देहशुद्धये ॥
वेदतन्त्रोदितैर्मन्त्रैर्मृल्लेपनविधानतः ।
संध्यादि कर्म यन्नित्यं तत्कुर्याद्विधिना बुधः ॥
संकल्पमादौ कुर्वीत सिद्ध्यर्थं कर्मणां सुधीः ।
स्वगुरुं पूजयेद्भक्त्या मद्बुद्ध्या पूजको मम ॥
शिलायां स्नपनं कुर्यात्प्रतिमासु प्रमार्जनम् ।
प्रसिद्धैर्गन्धपुष्पाद्यैर्मत्पूजा सिद्धिदायिका ॥
अमायिकोऽनुवृत्त्या मां पूजयेन्नियतव्रतः ।
प्रतिमादिष्वलंकारः प्रियो मे कुलनन्दन ॥

(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ४ । ११—१८)

'श्रीरामचन्द्रजी बोले—रघुकुलनन्दन लक्ष्मण ! मेरी पूजा-विधिका कोई अन्त नहीं है तथापि मैं क्रमशः उसका संक्षेपमें यथावत् वर्णन करता हूँ । मेरी भक्तिसे सम्पन्न मनुष्य अपनी शाखाके गृह्यसूत्रद्वारा बतलाये गये प्रकारसे (उपनयन-संस्कारके अनन्तर) द्विजत्व प्राप्त कर भक्तिपूर्वक सद्गुरुके पास जाय और उनसे मन्त्र ग्रहण करे । फिर बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि उन गुरुदेवकी बतायी हुई विधिसे अपने हृदयमें, अग्निमें, प्रतिमा आदिमें अथवा सूर्यमें केवल मेरी ही सेवा-पूजा करे । अथवा सावधान होकर शालग्राम-शिलामें ही मेरी उपासना करे । बुद्धिमान् उपासकको चाहिये कि सबसे पहले देह-शुद्धिके लिये, प्रातःकाल ही वैदिक तथा तान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए शरीरमें विधिवत् मृत्तिका आदि लगाकर स्नान करे और फिर नियमानुसार संध्या आदि नित्यकर्म करे । मेरी पूजा करनेवाला मतिमान् पुरुष कर्मोंकी सिद्धिके लिये पहले संकल्प करे और फिर अपने गुरुदेवमें मेरी ही भावना रखकर उनकी पूजा करे । मेरी मूर्ति यदि शिलारूप हो तो स्नान करावे और यदि प्रतिमाकार हो तो केवल मार्जन ही करे । फिर प्रसिद्ध-प्रसिद्ध गन्ध और पुष्प आदिसे पूजा करे । इस प्रकार की हुई मेरी पूजा शीघ्र ही फल देनेवाली होती है । मनुष्यको सब प्रकारके छल-छिद्र छोड़कर गुरुकी बतायी विधिसे नियमबद्ध होकर मेरी पूजा करनी चाहिये । कुलनन्दन ! प्रतिमा आदिका शृङ्गार करना मुझे अत्यन्त प्रिय है ।'

अग्नौ यजेत हविषा भास्करे स्थण्डिले यजेत् ।
भक्तेनोपहृतं प्रीत्यै श्रद्धया मम वार्यपि ॥
किं पुनर्भक्ष्यभोज्यादि गन्धपुष्पाक्षतादिकम् ।
पूजाद्रव्याणि सर्वाणि सम्पाद्यैवं समारभेत् ॥
चैलाजिनकुशैः सम्यगासनं परिकल्पयेत् ।
तत्रोपविश्य देवस्य सम्मुखे शुद्धमानसः ॥
ततो न्यासं प्रकुर्वीत मातृकाबहिरान्तरम् ।
केशवादि ततः कुर्यात्तत्त्वन्यासं ततः परम् ॥
मन्मूर्तिपञ्जरन्यासं मन्त्रन्यासं ततो न्यसेत् ।
प्रतिमादावपि तथा कुर्यान्नित्यमतन्द्रितः ॥
कलशं स्वपुरो वामे क्षिपेत्पुष्पादि दक्षिणे ।

अर्घ्यपाद्यप्रदानार्थं मधुपर्कार्थमेव च ॥
तथैवाचमनार्थं तु न्यसेत्पात्रचतुष्टयम् ।
हृत्पद्मे भानुविमले मत्कलां जीवसंज्ञिताम् ॥
ध्यायेत्स्वदेहमखिलं तया व्याप्तमरिंदम ।
तामेवावाहयेन्नित्यं प्रतिमादिषु मत्कलाम् ॥
(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ४ । १९—२६)

'यदि अग्निमें पूजा करनी हो तो आहुतिद्वारा करे और यदि सूर्यमें करनी हो तो वेदीमें सूर्यका आकार बनाकर करे । भक्तके द्वारा श्रद्धापूर्वक निवेदन किया हुआ जल भी मेरी प्रसन्नताका कारण होता है । फिर भक्ष्य, भोज्य आदि पदार्थ और गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि पूजा-सामग्रीकी तो बात ही क्या है ? अतः पहले पूजाकी सब सामग्री इकट्ठी कर फिर मेरी पूजा आरम्भ करे । (अब जिस प्रकार पूजा करनी चाहिये वह बतलाता हूँ—) पहले क्रमशः कुशा, मृगचर्म और वस्त्र बिछाकर आसन बनावे तथा उसपर शुद्धचित्तसे इष्टदेवके सम्मुख बैठे । तदनन्तर बहिर्मातृका और अन्तर्मातृका-न्यास करे तथा केशव, नारायण आदि चौबीस नामोंका न्यास करके तत्त्वन्यास करे । उसके पश्चात् [विष्णुपञ्जरोक्त विधिसे] मेरी मूर्तिमें पञ्जरन्यास तथा मन्त्रन्यास करे । मेरी प्रतिमा आदिमें भी निरालस्य-भावसे उसी प्रकार न्यास करना चाहिये तथा अपने सामने बायीं ओर कलश और दायीं ओर पुष्प आदि सामग्री रक्खे, उसी तरह अर्घ्य, पाद्य, मधुपर्क और आचमनके लिये चार पात्र रक्खे । तत्पश्चात् अपने सूर्यके समान तेजस्वी हृदय-कमलमें जीव नाम्नी मेरी कलाका ध्यान करे और हे शत्रुदमन ! अपने सम्पूर्ण शरीरको उससे व्याप्त देखे तथा प्रतिमा आदिका पूजन करते समय भी उन [प्रतिमा आदि] में उस मेरी जीव-कलाका ही आवाहन करे ।'

पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नानवस्त्रविभूषणैः ।
यावच्छक्योपचारैर्वा त्वर्चयेन्मामम्मायया ॥
विभवे सति कर्पूरकुङ्कुमागरुचन्दनैः ।
अर्चयेन्मन्त्रवन्नित्यं सुगन्धकुसुमैः शुभैः ॥
दशावरणपूजां वै ह्यागमोक्तां प्रकारयेत् ।
नीराजनैर्धूपदीपैर्नैवेद्यैर्बहुविस्तरैः ॥
श्रद्धयोपहरेन्नित्यं श्रद्धाभुगहमीश्वरः ।
होमं कुर्यात्प्रयत्नेन विधिना मन्त्रकोविदः ॥
अगस्त्येनोक्तमार्गेण कुण्डेनागमवित्तमः ।
जुहुयान्मूलमन्त्रेण पुंसूक्तेनाथवा बुधः ॥
अथवौपासनाग्नौ वा चरुणा हविषा तथा ।
तप्तजाम्बूनदप्रख्यं दिव्याभरणभूषितम् ॥
ध्यायेदनलमध्यस्थं होमकाले सदा बुधः ।
पार्षदेभ्यो बलिं दत्त्वा होमशेषं समापयेत् ॥
ततो जपं प्रकुर्वीत ध्यायेन्मां यतवाक् स्मरन् ।
मुखवासं च ताम्बूलं दत्त्वा प्रीतिसमन्वितः ॥
(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ४ । २७—३४)

'पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, आभूषण आदिसे अथवा जो कुछ सामग्री मिल सके, उसीसे निष्कपट होकर मेरी पूजा करे । यदि धनवान् हो तो नित्यप्रति कर्पूर, कुंकुम, अगरु, चन्दन और अत्युत्तम सुगन्धित पुष्पोंसे मन्त्रोच्चारण करता हुआ मेरी पूजा करे तथा नीराजन (पाँच बत्तियोंकी आरती), धूप, दीप और नाना प्रकारके नैवेद्योंद्वारा वेदोक्त दशावरण-पूजा विधिसे मेरा अर्चन करे । नित्यप्रति अति श्रद्धाके साथ सब पदार्थ निवेदन करे; क्योंकि मैं परमात्मा श्रद्धाका ही भूखा हूँ । मन्त्रविधिको जाननेवाला उपासक पूजाके अनन्तर विधिपूर्वक हवन करे । शास्त्रविधिके जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि अगस्त्य मुनिकी बतायी हुई विधिसे कुण्ड बनाकर उसमें गुरुके दिये हुए मूलमन्त्रसे अथवा पुरुषसूक्तके मन्त्रोंसे आहुति छोड़े । अथवा अग्निहोत्रकी अग्निमें ही चरु तथा

पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः ।
न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥
यज्ञदानतपोभिर्वा वेदाध्ययनकर्मभिः ।
नैव द्रष्टुमहं शक्यो मद्भक्तिविमुखैः सदा ॥
तस्माद्भामिनि संक्षेपाद्वक्ष्येऽहं भक्तिसाधनम् ।
सतां सङ्गतिरेवात्र साधनं प्रथमं स्मृतम् ॥
द्वितीयं मत्कथालापस्तृतीयं मद्गुणेरणम् ।
व्याख्यातृत्वं मद्वचसां चतुर्थं साधनं भवेत् ॥
आचार्योपासनं भद्रे मद्बुद्ध्यामायया सदा ।
पञ्चमं पुण्यशीलत्वं यमादि नियमादि च ॥
निष्ठा मत्पूजने नित्यं षष्ठं साधनमीरितम् ।
मम मन्त्रोपासकत्वं साङ्गं सप्तममुच्यते ॥
मद्भक्तेष्वधिका पूजा सर्वभूतेषु मन्मतिः ।
बाह्यार्थेषु विरागित्वं शमादिसहितं तथा ॥
अष्टमं नवमं तत्त्वविचारो मम भामिनि ।
(अध्यात्म०, अरण्य० १० । २०—२६½)

'पुरुषत्व, स्त्रीत्वका भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम—ये कोई भी मेरे भजनके कारण नहीं हैं। उसका कारण तो एकमात्र मेरी भक्ति ही है। जो मेरी भक्तिसे विमुख हैं, वे यज्ञ, दान, तप अथवा वेदाध्ययन आदि किसी भी कर्मसे मुझे कभी नहीं देख सकते। अतः हे भामिनि ! मैं संक्षेपसे अपनी भक्तिके साधनोंका वर्णन करता हूँ। उनमें पहला साधन तो 'सत्सङ्ग' ही है। मेरे जन्म-कर्मोंकी कथाका 'कीर्तन' करना दूसरा साधन है, मेरे 'गुणोंकी चर्चा' करना—यह तीसरा उपाय है और (गीता-उपनिषदादि) 'मेरे वाक्योंकी व्याख्या करना' उसका चौथा साधन है। हे भद्रे ! 'अपने गुरुदेवकी निष्कपट होकर भगवद्-बुद्धिसे सेवा करना' पाँचवाँ, 'पवित्र स्वभाव, यम-नियमादिका पालन और मेरी पूजामें सदा प्रेम होना' छठा तथा 'मेरे मन्त्रकी साङ्गोपाङ्ग उपासना' करना सातवाँ साधन कहा जाता है। 'मेरे भक्तोंकी मुझसे भी अधिक पूजा करना, समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करना, बाह्य पदार्थोंमें वैराग्य करना और शम-दमादि-सम्पन्न होना'—यह मेरी भक्तिका आठवाँ साधन है तथा 'तत्त्व-विचार करना' नवाँ है।'

एवं नवविधा भक्तिः साधनं यस्य कस्य वा ॥
स्त्रियो वा पुरुषस्यापि तिर्यग्योनिगतस्य वा ।
भक्तिः संजायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे ॥
भक्तौ संजातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा ।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि ॥
स्यात्तस्मात्कारणं भक्तिर्मोक्षस्येति सुनिश्चितम् ।
प्रथमं साधनं यस्य भवेत्तस्य क्रमेण तु ॥
भवेत्सर्वं ततो भक्तिर्मुक्तिरेव सुनिश्चितम् ।
यस्मान्मद्भक्तियुक्ता त्वं ततोऽहं त्वामुपस्थितः ॥
इतो मद्दर्शनान्मुक्तिस्तव नास्त्यत्र संशयः ।
(अध्यात्म०, अरण्य० १० । २७—३१½)

'भामिनि ! इस प्रकार यह नौ प्रकारकी भक्ति है। हे शुभलक्षणे ! जिस किसीमें ये साधन होते हैं, वह स्त्री, पुरुष अथवा पशु-पक्षी आदि कोई भी क्यों न हो, उसमें प्रेमलक्षणा भक्तिका आविर्भाव हो ही जाता है। भक्तिके उत्पन्न होनेमात्रसे ही मेरे स्वरूपका अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव हो जाता है उसकी उसी जन्ममें निस्संदेह मुक्ति हो जाती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि मोक्षका कारण भक्ति ही है। (भक्तिके उपर्युक्त नौ साधनोंमेंसे) जिसमें पहला साधन होता है, उसमें क्रमशः ये सभी आ जाते हैं। तब फिर उसे भक्ति तथा मुक्तिका प्राप्त होना निश्चित ही है। तू मेरी भक्तिसे युक्त है इसीलिये मैं तेरे पास आया हूँ। (अब) मेरा यह दर्शन होनेसे तेरी मुक्ति हो ही जायगी—इसमें संदेह नहीं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी यह प्रसङ्ग है और दोनोंको मिलाकर देखनेपर विलक्षण समता भी दोनोंकी स्पष्ट हो जाती है।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता ।
मानउँ एक भगति कर नाता ॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई ।
धन बल परिजन गुन चतुराई ॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा ।
बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ॥
नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं ।
सावधान सुनु धरु मन माहीं ॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० ३४ । ३–३½)

श्रीरघुनाथजीने कहा—'भामिनि ! मेरी बात सुन ! मैं तो केवल एक भक्तिका ही सम्बन्ध मानता हूँ । जाति, पाँति, कुल, धर्म, बड़ाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता—इन सबके होनेपर भी भक्तिसे रहित मनुष्य कैसा लगता है, जैसे जलहीन बादल [शोभाहीन] दिखायी पड़ता है । मैं तुझसे अब अपनी नवधा भक्ति कहता हूँ । तू सावधान होकर सुन और मनमें धारण कर ।'

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा ।
दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा ।
पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
छठ दम सील बिरति बहु करमा ।
निरत निरंतर सज्जन धरमा ॥
सातवँ सम मोहि मय जग देखा ।
मोतें संत अधिक करि लेखा ॥
आठवँ जथालाभ संतोषा ।
सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छलहीना ।
मम भरोस हियँ हरष न दीना ॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० ३४ । ४, ३५, ३५ । १–२½)

'पहली भक्ति है संतोंका 'सत्संग' । दूसरी भक्ति है मेरे कथा-प्रसङ्गमें प्रेम' । तीसरी भक्ति है 'अभिमानरहित होकर गुरुके चरणकमलोंकी सेवा' और चौथी भक्ति यह है कि कपट छोड़कर मेरे गुणसमूहोंका गान करे' । मेरे (राम) मन्त्रका जाप और मुझमें दृढ़ विश्वास' यह पाँचवीं भक्ति है, जो वेदोंमें प्रसिद्ध है । छठी भक्ति है 'इन्द्रियोंका निग्रह, शील (अच्छा स्वभाव या चरित्र), बहुत कार्योंसे वैराग्य और निरन्तर संत पुरुषोंके धर्म (आचरण) में लगे रहना' । सातवीं भक्ति है 'जगत्भरको समभावसे मुझमें ओतप्रोत (राममय) देखना और संतोंको मुझसे भी अधिक करके मानना' । आठवीं भक्ति है 'जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोष करना और स्वप्नमें भी पराये दोषोंको न देखना ।' नवीं भक्ति है 'सरलता और सबके साथ कपटरहित बर्ताव करना, हृदयमें मेरा भरोसा रखना और किसी भी अवस्थामें हर्ष और दैन्य (विषाद) का न होना ।'

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई ।
नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें ।
सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥
जोगि बृंद दुरलभ गति जोई ।
तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा ।
जीव पाव निज सहज सरूपा ॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० ३५ । ३–४½)

'इन नवोंमेंसे जिनके एक भी होती है, वह स्त्री-पुरुष, जड़-चेतन कोई भी हो—हे भामिनि ! मुझे वही अत्यन्त प्रिय है । फिर तुझमें तो सभी प्रकारकी भक्ति दृढ़ है । अतएव जो गति योगियोंको भी दुर्लभ है, वही आज तेरे लिये सुलभ हो गयी है । मेरे दर्शनका परम अनुपम फल यह है कि जीव अपने सहज स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।'

श्रीरामका वैराग्योपदेश

'परोपदेशे पाण्डित्यं'—दूसरे दुःखमें हों, दूसरोंको स्वजन-वियोग, रोग या सम्पत्तिहानिका क्लेश हो तो उन्हें प्रारब्ध, संसारकी नश्वरता, असारताका उपदेश बहुत लोग करते हैं—बड़ी सरलतासे करते हैं, किंतु स्वयंपर ऐसा अवसर आ जाय तो कितनोंको वह तत्त्वज्ञान, प्रारब्ध अथवा भगवान्का मङ्गल-विधान स्मरण रहता है ?

लक्ष्मणके प्रति

चक्रवर्ती साम्राज्यके यौवराज्यपदपर अभिषेक होनेवाला था। और ठीक उसी दिन सुनना पड़ा कि चौदह वर्षका अरण्यवास प्राप्त हुआ है। एक रेखातक खेदकी मुखपर नहीं आयी। नित्य सहज सुप्रसन्न श्रीमुख, किंतु माता कौसल्याकी वेदना—भाई लक्ष्मणकी आकुल उत्तेजनाका भी तो उपचार चाहिये। मर्यादापुरुषोत्तम छोटे भाईको तथा माताको भी वैराग्यका उपदेश कर रहे हैं—इस प्रकार कर रहे हैं जैसे जो दुर्घटना हुई है, उससे उनका कोई सम्पर्क ही नहीं है।

(?)सि रघुशार्दूल ममात्यन्तहिते रतः।
जानामि सर्वं ते सत्यं किन्तु तत्समयो न हि ॥
यदिदं दृश्यते सर्वं राज्यं देहादिकं च यत्।
यदि सत्यं भवेत्तत्र आयासः सफलश्च ते ॥
भोगा मेघवितानस्थविद्युल्लेखेव चञ्चलाः।
आयुरप्यग्निसंतप्तलोहस्थजलबिन्दुवत् ॥
यथा व्यालगलस्थोऽपि भेको दंशानपेक्षते।
तथा कालाहिना ग्रस्तो लोको भोगानशाश्वतान् ॥
करोति दुःखेन हि कर्मतन्त्रं
शरीरभोगार्थमहर्निशं नरः।
देहस्तु भिन्नः पुरुषात्समीक्ष्यते
को वात्र भोगः पुरुषेण भुज्यते ॥
पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसंगमः।
प्रपायामिव जन्तूनां नद्यां काष्ठौघवच्चलः ॥
छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुवं च।
स्वप्नोपमं स्त्रीसुखमायुरल्पं
तथापि जन्तोरभिमान एषः ॥
(अध्यात्म०, अयोध्या० ४। १८—२४)

लक्ष्मणजीके अत्यन्त उद्वेगयुक्त वाक्य कहनेपर रघुनाथजीने उन्हें गले लगाकर कहा—'रघुश्रेष्ठ ! तुम बड़े शूरवीर और मेरे परम हितकारी हो। तुम जो कुछ कहते हो वह मैं सब सत्य मानता हूँ, किंतु यह उसका समय नहीं है। यह जो कुछ राज्य और देह आदि दिखायी देता है, वह सब यदि सत्य होता तो अवश्य तुम्हारा परिश्रम सफल होता। किंतु ये भोग तो मेघरूपी वितानमें चमकती हुई बिजलीके समान चञ्चल हैं और आयु अग्निमें तपाये हुए लोहेपर पड़ी हुई जलकी बूँदके समान क्षणिक है। जिस प्रकार सर्पके मुँहमें पड़ा हुआ भी मेढक मच्छरोंको ताकता रहता है उसी प्रकार लोग कालरूप सर्पसे ग्रस्त हुए भी अनित्य भोगोंको चाहते रहते हैं। कैसा आश्चर्य है कि शरीरके भोगोंके लिये ही मनुष्य रात-दिन अति कष्ट सहकर नाना प्रकारकी क्रियाएँ करता रहता है। यदि यह समझ ले कि शरीर आत्मासे भिन्न है तो फिर भला पुरुष कैसे किसी भोगको भोग सकता है ? पिता, माता, पुत्र, भाई, स्त्री और बन्धु-बान्धवोंका संयोग प्याऊपर एकत्रित हुए जीवों अथवा नदी-प्रवाहसे इकट्ठी हुई लकड़ियोंके समान चञ्चल है। यह निस्संदेह दिखायी पड़ता है कि लक्ष्मी छायाके समान चञ्चल, यौवन जल-तरङ्गके समान अनित्य है, स्त्री-सुख स्वप्नके समान मिथ्या और आयु अत्यन्त अल्प है तथापि प्राणियोंका इनमें कितना अभिमान है।'

संसृतिः स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसंकुला ।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते ॥
आयुष्यं क्षीयते यस्मादादित्यस्य गतागतैः ।
दृष्ट्वान्येषां जरामृत्यू कथञ्चिन्नैव बुध्यते ॥
स एव दिवसः सैव रात्रिरित्येव मूढधीः ।
भोगाननुपतत्येव कालवेगं न पश्यति ॥
प्रतिक्षणं क्षरत्येतदायुरामघटाम्बुवत् ।
सपत्ना इव रोगौघाः शरीरं प्रहरन्त्यहो ॥
जरा व्याघ्रीव पुरतस्तर्जयन्त्यवतिष्ठते ।
मृत्युः सहैव यात्येष समयं सम्प्रतीक्षते ॥
देहेऽहंभावमापन्नो राजाहं लोकविश्रुतः ।
इत्यस्मिन्मनुते जन्तुः कृमिविड्भस्मसंज्ञिते ॥
त्वगस्थिमांसविण्मूत्ररेतोरक्तादिसंयुतः ।
विकारी परिणामी च देह आत्मा कथं वद ॥
यमास्थाय भवाँल्लोकं दग्धुमिच्छति लक्ष्मण ।
देहाभिमानिनः सर्वे दोषाः प्रादुर्भवन्ति हि ॥
देहोऽहमिति यो बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता ।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते ॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका ।
तस्माद्यत्नः सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभिः ॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ४ । २५—३४)

"यह संसार सदा रोगादि-संकुल तथा स्वप्न और गन्धर्वनगरके समान मिथ्या है, मूढ़जन ही इसको सत्य मानकर इसका अनुकरण करते हैं। नित्य सूर्यके उदय और अस्त होनेसे आयु क्षीण हो रही है तथा नित्य ही दूसरोंकी वृद्धावस्था और मृत्यु होती देखी जाती है तो भी मूढ़ पुरुषको किसी प्रकार चेत नहीं होता । नित्यप्रति उसी प्रकार दिन और रात होते हैं, किंतु मूढ़मति पुरुष भोगोंके पीछे ही दौड़ता है, कालकी गतिको नहीं देखता । कच्चे-घड़ेमें भरे हुए जलके समान आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है और रोग-समूह शत्रुओंके समान शरीरको नष्ट करते हैं । वृद्धावस्था सिंहिनीके समान डराती हुई सामने खड़ी है और यह मृत्यु भी उसके साथ ही चलती हुई (अन्त) समयकी प्रतीक्षा कर रही है । किंतु देहमें अहंभावना करनेवाला जीव इस कृमि, विष्ठा और भस्मरूपमें परिणत होनेवाले शरीरको ही 'मैं लोकप्रसिद्ध राजा हूँ' ऐसा मानता है । लक्ष्मण ! तुम कुछ सोचकर बताओ कि जिसके आश्रयसे तुम संसारको दग्ध करना चाहते हो वह त्वचा, अस्थि, मांस, विष्ठा, मूत्र, शुक्र और रुधिर आदिसे बना हुआ विकारी और परिणामी देह आत्मा किस प्रकार हो सकता है ? भाई ! इस देहाभिमानसे युक्त पुरुषमें ही सम्पूर्ण दोष प्रकट हुआ करते हैं । 'मैं देह हूँ' इस बुद्धिका नाम ही अविद्या है और 'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ' इसीको विद्या कहते हैं । अविद्या जन्म-मरणरूप संसारकी कारण है और विद्या उसको निवृत्त करनेवाली है, अतः मोक्षकामियोंको सदा विद्योपार्जनका प्रयत्न करना चाहिये ।"

कामक्रोधादयस्तत्र शत्रवः शत्रुसूदन ।
तत्रापि क्रोध एवालं मोक्षविघ्नाय सर्वदा ।
येनाविष्टः पुमान्हन्ति पितृभ्रातृसुहृत्सखीन् ॥
क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारबन्धनम् ।
धर्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्क्रोधं परित्यज ॥
क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी ।
संतोषो नन्दनवनं शान्तिरेव हि कामधुक् ॥
तस्माच्छान्तिं भजस्वाद्य शत्रुरेवं भवेन्न ते ।
देहेन्द्रियमनःप्राणबुद्ध्यादिभ्यो विलक्षणः ॥
आत्मा शुद्धः स्वयंज्योतिरविकारी निराकृतिः ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्वं नात्मनो विदुः ॥
तावत्संसारदुःखौघैः पीड्यन्ते मृत्युसंयुताः ।
तस्मात्त्वं सर्वदा भिन्नमात्मानं हृदि भावय ॥
बुद्ध्यादिभ्यो बहिः सर्वमनुवर्तस्व मा खिदः ।
भुञ्जन्प्रारब्धमखिलं सुखं वा दुःखमेव वा ॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ४ । ...

'शत्रुदमन ! काम-क्रोध आदि इस साधनमें विघ्न करनेवाले शत्रु हैं । उनमें भी मोक्षमें विघ्न उपस्थित करनेके लिये तो एकमात्र क्रोध ही पर्याप्त है, जिसका आवेश होनेसे पुरुष पिता, माता, सुहृद् और बन्धुओंका भी वध कर डालता है । मनके संतापका मूल क्रोध ही है और क्रोध ही संसारका बन्धन तथा धर्मका क्षय करनेवाला है । इसलिये तुम क्रोधको छोड़ दो । यह क्रोध महान् शत्रु है । तृष्णा वैतरणी नदी है, संतोष नन्दनवन है और शान्ति ही कामधेनु है । इसलिये तुम शान्ति धारण करो, इससे (क्रोधरूपी) शत्रुका तुमपर प्रभाव न होगा । आत्मा देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि आदिसे पृथक् तथा शुद्ध, स्वयंप्रकाश, अविकारी और निराकार है । जबतक मनुष्य देह, इन्द्रिय और प्राण आदिसे आत्माकी भिन्नता नहीं जानते, तबतक वे मृत्युपाशमें बँधकर सांसारिक दुःखसमूहसे पीड़ित होते रहते हैं । इसलिये तुम सर्वदा अपने हृदयमें बुद्धि आदिसे आत्माको भिन्न अनुभव करो, इस सम्पूर्ण बाह्य व्यवहारका अनुवर्तन करो; और सुख अथवा दुःखरूप जैसा प्रारब्ध हो, उसीको भोगते हुए चित्तमें खेद न मानो ।'

प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्नपि न लिप्यसे ।
बाह्ये सर्वत्र कर्तृत्वमावहन्नपि राघव ॥
अन्तःशुद्धस्वभावस्त्वं लिप्यसे न च कर्मभिः ।
एतन्मयोदितं कृत्स्नं हृदि भावय सर्वदा ॥
संसारदुःखैरखिलैर्बाध्यसे न कदाचन ।
त्वमप्यम्ब मयाऽऽदिष्टं हृदि भावय नित्यदा ॥
समागमं प्रतीक्षस्व न दुःखैः पीड्यसे चिरम् ।
न सदैकत्र संवासः कर्ममार्गानुवर्तिनाम् ॥
यथा प्रवाहपतितप्लवानां सरितां तथा ।
चतुर्दशसमासंख्या क्षणार्द्धमिव जायते ॥
अनुमन्यस्व मामम्ब ! दुःखं संत्यज्य दूरतः ।
एवं चेत् सुखसंवासो भविष्यति वने मम ॥

(अध्यात्म०, अयोध्या० ४ । ४२—४७)

'रघुपुत्र ! बाहरसे (इन्द्रिय आदिद्वारा) कर्तृत्व प्रकट करते हुए जो कार्य प्रारब्धवश उपस्थित हो, उसे करते रहनेसे तुम बन्धनमें नहीं पड़ोगे । भीतरसे रागद्वेषरहित और शुद्धस्वभाव रहनेके कारण तुम कर्मोंसे लिप्त न होगे । मेरे इस सम्पूर्ण कथनपर तुम सर्वदा अपने हृदयमें विचार करो । ऐसा करनेसे तुम सम्पूर्ण सांसारिक दुःखोंसे कभी बाधित न होगे । [तदनन्तर श्रीरामने मातासे कहा—] हे मातः ! तुम भी मेरे इस कथनपर नित्य विचार करना और मेरे फिर मिलनेकी प्रतीक्षा करती रहना । तुम्हें अधिक काल दुःख न होगा । कर्मबन्धनमें बँधे हुए जीवोंका सदा एक ही साथ रहना-सहना नहीं हुआ करता । जैसे नदीके प्रवाहमें पड़कर बहती हुई डोंगियाँ सदा साथ-साथ ही नहीं चलतीं । माता ! यह चौदह वर्षकी अवधि आधे क्षणके समान बीत जायगी । आप अब दुःखको दूर करके हमें वन जानेकी अनुमति दीजिये । आपके ऐसा करनेसे मैं वनमें सुखपूर्वक रह सकूँगा ।'

काल ही सबसे प्रबल है
ताराके प्रति उपदेश

वालीके मारे जानेपर उनकी पत्नी तारा अत्यन्त शोकविह्वल होकर विलाप कर रही थी । वह बार-बार प्राण-त्यागकी बात करती थी । उसने कहा—मैं अब जीवित नहीं रहूँगी तब—

इत्येवमुक्तस्तु विभुर्महात्मा
तारां समाश्वास्य हितं बभाषे ।
मा वीरभार्ये विमतिं कुरुष्व
लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा ॥
तं चैव सर्वं सुखदुःखयोगं
लोकोऽब्रवीत् तेन कृतं विधात्रा ।

त्रयोऽपि लोका विहितं विधानं
　　नातिक्रमन्ते वशगा हि तस्य ॥
प्रीतिं परां प्राप्स्यसि तां तथैव
　　पुत्रश्च ते प्राप्स्यति यौवराज्यम् ।
धात्रा विधानं विहितं तथैव
　　न शूरपत्न्यः परिदेवयन्ति ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २४ । ४१-४२)

भगवान् श्रीरामने उसे आश्वासन देकर हितकी बात कही—'वीरपत्नी ! तुम मृत्यु-विषयक विपरीत विचारका त्याग करो; क्योंकि विधाताने इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि की है, विधाताने ही इस सारे जगत्को सुख-दुःखसे संयुक्त किया है। यह बात साधारण लोग भी कहते और जानते हैं। तीनों लोकोंके प्राणी विधाताके विधानका उल्लङ्घन नहीं कर सकते; क्योंकि सभी उसके अधीन हैं। तुम्हें पहलेकी ही भाँति अत्यन्त सुख एवं आनन्दकी प्राप्ति होगी तथा तुम्हारा पुत्र युवराजपद प्राप्त करेगा। विधाताका ऐसा ही विधान है। शूरवीरोंकी स्त्रियाँ इस प्रकार विलाप नहीं करतीं (अतः तुम भी शोक छोड़कर शान्त हो जाओ)।

न शोकपरितापेन श्रेयसा युज्यते मृतः ।
यदत्रानन्तरं कार्यं तत् समाधातुमर्हथ ॥
लोकवृत्तमनुष्ठेयं कृतं वो बाष्पमोक्षणम् ।
न कालादुत्तरं किंचित् कर्म शक्यमुपासितुम् ॥
नियतिः कारणं लोके नियतिः कर्मसाधनम् ।
नियतिः सर्वभूतानां नियोगेष्विह कारणम् ॥
न कर्ता कस्यचित् कश्चिन्नियोगे नापि चेश्वरः ।
स्वभावे वर्तते लोकस्तस्य कालः परायणम् ॥
न कालः कालमत्येति न कालः परिहीयते ।
स्वभावं च समासाद्य न कश्चिदतिवर्तते ॥
न कालस्यास्ति बन्धुत्वं न हेतुर्न पराक्रमः ।
न मित्रज्ञातिसम्बन्धः कारणं नात्मनो वशः ॥
किं तु कालपरीणामो द्रष्टव्यः साधु पश्यता ।
धर्मश्चार्थश्च कामश्च कालक्रमसमाहिताः ॥
इतः स्वां प्रकृतिं वाली गतः प्राप्तः क्रियाफलम् ।
सामदानार्थसंयोगैः पवित्रं प्लवगेश्वरः ॥
स्वधर्मस्य च संयोगाज्जितस्तेन महात्मना ।
स्वर्गः परिगृहीतश्च प्राणानपरिरक्षता ॥
एषा वै नियतिः श्रेष्ठा यां गतो हरियूथपः ।
तदलं परितापेन प्राप्तकालमुपास्यताम् ॥
(वा० रा०, किष्किन्धा० २५ । २-११)

'शोक-संताप करनेसे मरे हुए जीवकी कोई भलाई नहीं होती। अतः अब आगे जो कुछ कर्तव्य है, उसको तुम्हें विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिये। तुम सब लोग बहुत आँसू बहा चुके। अब उसकी आवश्यकता नहीं है। लोकाचारका भी पालन होना चाहिये। समय बिताकर कोई भी विहित कर्म नहीं किया जा सकता (क्योंकि उचित समयपर न किया जाय तो उस कर्मका कोई फल नहीं होता।) जगत्में नियति (काल) ही सबका कारण है। वही समस्त कर्मोंका साधन है और काल ही समस्त प्राणियोंको विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त करनेका कारण है (क्योंकि वही सबका प्रवर्तक है)। कोई भी पुरुष न तो स्वतन्त्रतापूर्वक किसी कामको कर सकता है और न किसी दूसरेको ही उसमें लगानेकी शक्ति रखता है। सारा जगत् स्वभावके अधीन है और स्वभावका आधार काल है। काल भी कालका (अपनी की हुई व्यवस्थाका) उल्लङ्घन नहीं कर सकता। वह काल कभी क्षीण नहीं होता। स्वभाव (प्रारब्धकर्म) को पाकर कोई भी उसका उल्लङ्घन नहीं करता। कालका किसीके साथ भाई-चारेका, मित्रताका अथवा जाति-बिरादरीका सम्बन्ध नहीं है। उसको वशमें करनेका कोई उपाय नहीं है तथा उसपर किसीका पराक्रम नहीं चल सकता। कारणस्वरूप भगवान् काल जीवके भी वशमें नहीं हैं। अतः साधुदर्शी विवेकी पुरुषको सब

कुछ कालका ही परिणाम समझना चाहिये। धर्म, अर्थ और काम भी कालक्रमसे ही प्राप्त होते हैं। (मेरे द्वारा मारे जानेके कारण) वानरराज वाली शरीरसे मुक्त हो अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए हैं। नीतिशास्त्रके अनुकूल साम, दान और अर्थके समुचित प्रयोगसे मिलनेवाले जो पवित्र फल हैं, वे सभी उन्हें प्राप्त हो गये। महात्मा वालीने पहले अपने धर्मके संयोगसे जिसपर विजय पायी थी, उसी स्वर्गको इस समय युद्धमें प्राणोंकी रक्षा न करके उन्होंने अपने हाथमें कर लिया है। यही सर्वश्रेष्ठ गति है, जिसे वानरोंके सरदार वालीने प्राप्त किया है। अतः अब उनके लिये शोक करना व्यर्थ है। इस समय तुम्हारे सामने जो कर्तव्य उपस्थित है, उसे पूरा करो।'

श्रीहनुमान्‌जीके प्रति

श्रीरघुनाथजीने जब समुद्रतटपर सेतुबन्धके समीप शिव-स्थापनका निश्चय किया, तब हनुमान्‌जीको शिवलिङ्ग लाने काशी भेजा। श्रीमारुतिको लौटनेमें देर हुई। स्थापनाका मुहूर्त बीता जा रहा था। अतः श्रीजानकीजीने बालुकाकी लिङ्गमूर्ति बनायी और उसीकी स्थापना श्रीरामने विधिपूर्वक कर दी।

हनुमान्‌जी काशीसे लिङ्गमूर्ति लेकर लौटे। उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि श्रीरामने बालुका-मूर्ति स्थापित कर दी है। वे बोले—'मेरा तो जीवन ही आपकी सेवाके लिये था। आपको मेरी सेवा स्वीकार नहीं है, ऐसा लगता है। अतः अब मैं देह त्याग दूँगा।'

हमारे कार्यको, हमारे नामको महत्ता मिले—यह भी देहाभिमानका ही सूक्ष्मरूप है। सेवकका कर्तव्य केवल स्वामीके आदेशका पालन है। उस आदेशके पालनका कोई उपयोग है या नहीं, यदि इसपर दृष्टि जाती है तो समझना चाहिये कि मनमें देहाभिमानका अङ्कुर उत्पन्न हो गया है।

श्रीहनुमान्‌जीको दुखी-क्षुभित देखकर श्रीराघवेन्द्र उन्हें समझाने लगे।

श्रीराम उवाच

सर्वं जानाम्यहं कार्यमात्मनोऽपि परस्य च ॥
जातस्य जायमानस्य मृतस्यापि सदा कपे।
जायते म्रियते जन्तुरेक एव स्वकर्मणा ॥
प्रयाति नरकं चापि परमात्मा तु निर्गुणः।
एवं तत्त्वं विनिश्चित्य शोकं मा कुरु वानर ॥
लिङ्गत्रयविनिर्मुक्तं ज्योतिरेकं निरञ्जनम्।
निराश्रयं निर्विकारमात्मानं पश्य नित्यशः ॥
किमर्थं कुरुषे शोकं तत्त्वज्ञानस्य बाधकम्।
तत्त्वज्ञाने सदा निष्ठां कुरु वानरसत्तम ॥
स्वयंप्रकाशमात्मानं ध्यायस्व सततं कपे।
देहादौ ममतां मुञ्च तत्त्वज्ञानविरोधिनीम् ॥
धर्मं भजस्व सततं प्राणिहिंसां परित्यज।
सेवस्व साधुपुरुषान् जहि सर्वेन्द्रियाणि च ॥
परित्यजस्व सततमन्येषां दोषकीर्तनम्।
शिवविष्ण्वादिदेवानामर्चां कुरु सदा कपे ॥
सत्यं वदस्व सततं परित्यज्य शुचं कपे।
प्रत्यग्ब्रह्मैकताज्ञानं मोहवस्तुसमुद्भवम् ॥
शोभनाशोभना भ्रान्तिः कल्पितास्मिन्यथार्थवत्।
अध्यास्ते शोभनत्वेन पदार्थे मोहवैभवात् ॥

(स्कन्दपुराण, ब्रह्म० ४५। १८—२७)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी बोले—'कपे! इस संसारमें जो जन्म ले चुके हैं, जो जन्म लेनेवाले हैं और जो मर चुके हैं, उन सबके तथा अपने और पराये सब कार्योंको मैं भलीभाँति जानता हूँ। जीव अपने कर्मके अनुसार अकेला ही जन्म लेता और अकेला ही मरता है। अपने कर्मोंके अनुसार नरकमें भी वह अकेला ही जाता है। वानरश्रेष्ठ! तत्त्वज्ञानमें बाधा उपस्थित करनेवाले इस शोकको अपने मनमें क्यों स्थान देते हो? तत्त्वज्ञानमें ही सदा स्थित रहो। यह आत्मा स्वयम्प्रकाश है, तुम सदा आत्माके इसी स्वरूपका चिन्तन करो। देह आदिमें ममता त्याग दो, सदा धर्मका आश्रय लो, साधु पुरुषोंका सेवन करो, सम्पूर्ण इन्द्रियों-

अहोरात्रस्य गमनान्नृणामायुर्विनश्यति ।
आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ॥
(स्कन्दपुराण, ब्रह्म० ४५ । ३६—४४)

'इस प्रकार अज्ञानके प्रभावसे ही मनुष्य दुःख पाता है और अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर उसे उत्तम सुखकी प्राप्ति होती है । अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानसे ही होती है, कर्मसे नहीं । ज्ञान परब्रह्म परमात्माका नाम है । वेदान्तवाक्यके श्रवण और मननसे जो ज्ञान होता है, वह विरक्त पुरुषको ही होता है, दूसरेको नहीं । श्रेष्ठ अधिकारीको गुरुदेवकी कृपासे भी ज्ञान हो जाता है, यह सत्य है । मनुष्यके हृदयमें जो कामनाएँ हैं, वे सब-की-सब जब छूट जाती हैं, तब वह जीवन्मुक्त होकर इसी जीवनमें परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है । क्रूर काल जागते, सोते, खाते और ठहरते समय सदा ही इस जीवको अपनी ओर खींचता रहता है। संग्रहका अन्त विनाश है, अधिक ऊँचे चढ़नेका अन्त नीचे गिरना है, संयोगका अन्त वियोग और जीवनका अन्त मरण है । जैसे पके हुए फलोंको गिरनेके सिवा और कोई भय नहीं है, वैसे ही जन्म लेनेवाले मनुष्योंको मृत्युके सिवा और कोई भय नहीं है । जैसे सुदृढ़ खंभोंवाला गृह सुदीर्घ कालके बाद जीर्ण होनेपर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जराजीर्ण होकर मृत्युके अधीन हो नष्ट हो जाता है । दिन और रात बीतते चले जा रहे हैं । इससे मनुष्योंकी आयु नष्ट होती है । इस दशामें तुम अपनी आत्माके लिये शोक करो । दूसरी किसी बातके लिये क्यों शोक करते हो ?

नश्यत्यायुः स्थितस्यापि धावतोऽपि कपीश्वर ।
सहैव मृत्युर्व्रजति सह मृत्युर्निषीदति ॥
चरित्वा दूरदेशं च सह मृत्युर्निवर्तते ।
शरीरे वलयो जाताः श्वेता जाता शिरोरुहाः ॥
जीर्यते जरया देहः श्वासकासादिना तथा ।
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ॥
समेत्य च व्यपेयातां कालयोगेन वानर ।
एवं भार्या च पुत्रश्च बन्धुक्षेत्रधनानि च ॥
क्वचित्सम्भूय गच्छन्ति पुनरन्यत्र वानर ।
यथा हि पान्थं गच्छन्तं पथि कश्चित्पथि स्थितः ॥
अहमप्यागमिष्यामि भवद्भिः साकमित्यथ ।
कंचित्कालं समेतौ तौ पुनरन्यत्र गच्छतः ॥
एवं भार्या सुतादीनां संगमो नश्वरः कपे ।
शरीरजन्मना साकं मृत्युः संजायते ध्रुवम् ॥
(स्कन्दपुराण, ब्रह्म० ४५ । ४५-५१)

'कपीश्वर ! कोई खड़ा हो या दौड़ता हो, उसकी आयुका प्रतिक्षण नाश हो रहा है । मृत्यु साथ-साथ चलती है, साथ ही बैठती है और दूर देशमें साथ-साथ जाकर पुनः साथ ही लौट आती है । शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गयीं, सिरके बाल सफेद हो गये और वृद्धावस्था एवं दमा और खाँसीसे देह शिथिल होती जाती है । कपिश्रेष्ठ ! जैसे समुद्रमें बहते हुए दो काठ एक दूसरेसे मिलकर फिर विलग हो जाते हैं, उसी प्रकार कालयोगसे मनुष्योंका एक दूसरेके साथ संयोग और वियोग होता है । इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, भाई, क्षेत्र और धन—ये सब कभी कुछ कालके लिये एकत्र होते और फिर अन्यत्र चले जाते हैं । जैसे कोई पथिक राह चलते हुए किसी दूसरे पथिकसे कहता है —'ठहरिये, मैं भी आपके साथ चलूँगा' और इस प्रकार दोनों कुछ कालतक साथ हो जाते हैं और फिर अलग-अलग चले जाते हैं, कपे ! उसी प्रकार स्त्री और पुत्र आदिका समागम नश्वर है । शरीरके उत्पन्न होनेके साथ ही निश्चय ही मृत्यु भी उत्पन्न होती है ।

अवश्यम्भाविमरणे न हि जातु प्रतिक्रिया ।
एतच्छरीरपाते तु देही कर्मगतिं गतः ॥
प्राप्य पिण्डान्तरं वत्स पूर्वपिण्डं त्यजत्यसौ ।
प्राणिनां न सदैकत्र वासो भवति वानर ॥

परमात्माका तत्त्व बताता हूँ; (सावधान होकर) सुनो। जलाशयमें आकाशके तीन भेद स्पष्ट दिखायी देते हैं—एक महाकाश[1], दूसरा जलावच्छिन्न आकाश[2] और तीसरा प्रतिबिम्बाकाश[3]। जैसे आकाशके ये तीन बड़े-बड़े भेद दिखायी देते हैं, उसी प्रकार चेतन भी तीन प्रकारका है—एक तो बुद्ध्यवच्छिन्न चेतन (जो बुद्धिमें व्याप्त है), दूसरा जो सर्वत्र परिपूर्ण है और तीसरा जो बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होता है—जिनको आभासचेतन कहते हैं। इनमेंसे केवल आभास-चेतनके सहित बुद्धिमें ही कर्तृत्व है अर्थात् चिदाभासके सहित बुद्धि ही सब कार्य करती है। किंतु अज्ञजन भ्रान्तिवश निरवच्छिन्न, निर्विकार, साक्षी आत्मामें कर्तृत्व और जीवत्वका आरोप करते हैं अर्थात् उसे ही कर्ता-भोक्ता मान लेते हैं। (हमने जिसे जीव कहा है, उसमें) आभास-चेतन तो मिथ्या है (क्योंकि सभी आभास मिथ्या ही हुआ करते हैं), बुद्धि अविद्याका कार्य है और परब्रह्म परमात्मा वास्तवमें विच्छेदरहित है, अतः उसका विच्छेद भी विकल्पसे ही माना हुआ है। (इसी प्रकार उपाधियोंका बाध करते हुए) साभास अहंरूप अवच्छिन्न चेतन (जीव) की 'तत्त्वमसि' (तू वह है) आदि महावाक्योंद्वारा पूर्ण चेतन (ब्रह्म) के साथ एकता बतलायी जाती है। जब महावाक्य-द्वारा (इस प्रकार जीवात्मा और परमात्माकी एकताका ज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस समय अपने कार्योंसहित अविद्या नष्ट हो ही जाती है—इसमें कोई संदेह नहीं। मेरा भक्त इस उपर्युक्त तत्त्वको समझकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होनेका पात्र हो जाता है; पर जो लोग मेरी भक्तिको छोड़कर शास्त्ररूप गड्ढेमें पड़े भटकते रहते हैं, उन्हें सौ जन्मोंतक भी न तो ज्ञान होता है और न मोक्ष ही प्राप्त होता है। हे अनघ ! यह परम रहस्य मुझ आत्मस्वरूप रामका हृदय है, और साक्षात् मैंने ही तुम्हें सुनाया है। यदि तुम्हें इन्द्रलोकके राज्यसे भी अधिक सम्पत्ति मिले, तो भी तुम इसे मेरी भक्तिसे हीन किसी दुष्ट पुरुषको मत सुनाना।'

[1] जो सर्वत्र व्याप्त है। [2] जो केवल जलाशयमें ही परिमित है। [3] जो जलमें प्रतिबिम्बित है।

एतत्तेऽभिहितं देवि श्रीरामहृदयं मया।
अतिगुह्यतमं हृद्यं पवित्रं पापशोधनम्॥
साक्षाद्रामेण कथितं सर्ववेदान्तसंग्रहम्।
यः पठेत्सततं भक्त्या स मुक्तो नात्र संशयः॥
ब्रह्महत्यादिपापानि बहुजन्मार्जितान्यपि।
नश्यन्त्येव न सन्देहो रामस्य वचनं यथा॥

(अध्यात्म०, बाल० १। ५३—५५)

श्रीमहादेवजी बोले—देवि ! मैंने तुम्हें यह अत्यन्त गोपनीय, हृदयहारी, परम पवित्र और पापनाशक 'श्रीरामहृदय' सुनाया है। यह समस्त वेदान्तका सार-संग्रह साक्षात् श्रीरामचन्द्रजीका कहा हुआ है। जो कोई इसे भक्तिपूर्वक सदा पढ़ता है, वह निस्संदेह मुक्त हो जाता है। इसके पठन-मात्रसे अनेक जन्मोंके संचित ब्रह्महत्यादि समस्त पाप निस्संदेह नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि श्रीरामके वचन ऐसे ही हैं।

लक्ष्मणके प्रति भक्ति, वैराग्य, विज्ञानयुक्त ज्ञानका उपदेश

पञ्चवटीमें श्रीरामने लक्ष्मणजीको तत्त्वज्ञानका जो उपदेश किया, उसे श्रीरामचरितमानसके मर्मज्ञ राम-गीताका नाम देते हैं; किंतु अध्यात्मरामायणमें 'श्रीराम-गीता' उत्तरकाण्डमें है। अतः इस उपदेशको तत्त्वोपदेश ही कहा जाता है।

एकदा लक्ष्मणो राममेकान्ते समुपस्थितम्।
विनयावनतो भूत्वा पप्रच्छ परमेश्वरम्॥
भगवन् श्रोतुमिच्छामि मोक्षस्यैकान्तिकीं गतिम्।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष संक्षेपाद्वक्तुमर्हसि॥

ज्ञानं विज्ञानसहितं भक्तिवैराग्यबृंहितम् ।
आचक्ष्व मे रघुश्रेष्ठ वक्ता नान्योऽस्ति भूतले ॥
(अध्यात्म०, अरण्य० ४ । १६—१८)

एक दिन लक्ष्मणजीने एकान्तमें बैठे हुए परमात्मा श्रीरामके पास जाकर नम्रतापूर्वक पूछा—'भगवन् ! मैं आपके मुखारविन्दसे मोक्षका अव्यभिचारी निश्चित साधन सुनना चाहता हूँ; अतः हे कमलनयन ! आप उसका संक्षेपसे वर्णन कीजिये । हे रघुश्रेष्ठ ! आप मुझे भक्ति और वैराग्यसे ओतप्रोत विज्ञानयुक्त ज्ञान सुनाइये; संसारमें आपके अतिरिक्त इस विषयका उपदेश करनेवाला और कोई नहीं है ।'

श्रीराम उवाच

शृणु वक्ष्यामि ते वत्स गुह्याद्गुह्यतरं परम् ।
यद्विज्ञाय नरो जह्यात्सद्यो वैकल्पिकं भ्रमम् ॥
आदौ मायास्वरूपं ते वक्ष्यामि तदनन्तरम् ।
ज्ञानस्य साधनं पश्चाज्ज्ञानं विज्ञानसंयुतम् ॥
ज्ञेयं च परमात्मानं यज्ज्ञात्वा मुच्यते भयात् ।
अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत् ॥
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते ।
रूपे द्वे निश्चिते पूर्वं मायायाः कुलनन्दन ॥
विक्षेपावरणे तत्र प्रथमं कल्पयेज्जगत् ।
लिङ्गाद्यब्रह्मपर्यन्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ॥
अपरं त्वखिलं ज्ञानरूपमावृत्य तिष्ठति ।
मायया कल्पितं विश्वं परमात्मनि केवले ॥
रज्जौ भुजङ्गवद् भ्रान्त्या विचारे नास्ति किंचन ।
श्रूयते दृश्यते यद्यत्स्मर्यते वा नरैः सदा ॥
असदेव हि तत्सर्वं यथा स्वप्नमनोरथौ ।
देह एव हि संसारवृक्षमूलं दृढं स्मृतम् ॥
तन्मूलः पुत्रदारादिबन्धः किं तेऽन्यथाऽऽत्मनः ।
देहस्तु स्थूलभूतानां पञ्च तन्मात्रपञ्चकम् ।
अहंकारश्च बुद्धिश्च इन्द्रियाणि तथा दश ॥
चिदाभासो मनश्चैव मूलप्रकृतिरेव च ।
एतत्क्षेत्रमिति ज्ञेयं देह इत्यभिधीयते ॥
एतैर्विलक्षणो जीवः परमात्मा निरामयः ।
तस्य जीवस्य विज्ञाने साधनान्यपि मे शृणु ॥
(अध्यात्म०, अरण्य० ४ । १९—३०)

श्रीरामजी बोले—वत्स ! सुन, मैं तुझे गुह्यसे भी गुह्य परम रहस्य सुनाता हूँ, जिसके जान लेनेपर मनुष्य तुरंत ही विकल्पजनित (संसाररूप) भ्रमसे मुक्त हो जाता है । प्रथम मैं तुमसे मायाका स्वरूप कहूँगा । तत्पश्चात् ज्ञानका साधन बताऊँगा और फिर विज्ञानके सहित ज्ञानका वर्णन करूँगा । इनके अतिरिक्त ज्ञेय परमात्माका भी स्वरूप बतलाऊँगा, जिसके जान लेनेपर मनुष्य संसार-भयसे मुक्त हो जाता है । शरीरादि अनात्म-पदार्थोंमें जो आत्मबुद्धि होती है, उसीको माया कहते हैं । उसीके द्वारा इस संसारकी कल्पना हुई है । हे कुलनन्दन ! मायाके पहले-पहल दो रूप माने गये हैं—एक विक्षेप, दूसरा आवरण । इनमेंसे पहली विक्षेप-शक्ति ही महत्तत्त्वसे लेकर ब्रह्मातक समस्त संसारकी स्थूल और सूक्ष्म भेदसे कल्पना करती है और दूसरी आवरण-शक्ति सम्पूर्ण ज्ञानको आवृत करके स्थित रहती है । यह सम्पूर्ण विश्व रज्जुमें सर्प-भ्रमके समान शुद्ध परमात्मामें मायासे कल्पित है; विचार करनेपर यह कुछ भी नहीं ठहरता । मनुष्य जो कुछ सर्वदा सुनते, देखते और स्मरण करते हैं, वह सब स्वप्न और मनोरथोंके समान असत्य है । शरीर ही इस संसाररूप वृक्षकी दृढ़ मूल है । उसीके कारण पुत्र-कलत्रादिका बन्धन है, नहीं तो आत्माका इनसे क्या सम्बन्ध है । पाँच स्थूल भूत, पञ्च तन्मात्राएँ, अहङ्कार, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ, चिदाभास, मन और मूलप्रकृति—इन सबके समूहको क्षेत्र समझना चाहिये; इसीको शरीर भी कहते हैं । निर्दोष परमात्मारूप जीव इन सबसे पृथक् है । अब मैं उस जीवको जाननेके कुछ साधन भी बताता हूँ (सावधान होकर) सुनो—

जीवश्च परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः ।
मानाभावस्तथा दम्भहिंसादिपरिवर्जनम् ॥

समय मूल अविद्या अपने कार्य (शरीरादि) तथा इन्द्रियोंके सहित (अर्थात् अपने स्थूल और सूक्ष्म कार्यके सहित) परमात्मामें लीन हो जाती है । अविद्याकी इस लयावस्थाको ही मोक्ष कहते हैं; आत्मामें यह (मोक्ष) केवल उपचारमात्र है (वास्तवमें आत्माकी मुक्तावस्था आगन्तुक नहीं है, वह तो सदा ही मुक्त है) । हे रघुनन्दन लक्ष्मण ! तुम्हें मैंने यह ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके सहित परमात्मारूप अपना मोक्षस्वरूप सुनाया । किंतु जो लोग मेरी भक्तिसे विमुख हैं, उनके लिये मैं इसे अत्यन्त दुर्लभ मानता हूँ । जिस प्रकार नेत्र होते हुए भी लोग रात्रिके समय (अन्धकारमें) चोर आदिका चिह्न (निशान) भली प्रकार नहीं देखते, दीपक होने-पर ही उस समय वह दिखायी देता है, उसी प्रकार मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषोंको ही आत्माका सम्यक् साक्षात्कार होता है । अब मैं अपनी भक्तिके कुछ वास्तविक उपाय बताता हूँ, (सावधान होकर) सुनो ।

मद्भक्तसङ्गो मत्सेवा मद्भक्तानां निरन्तरम् ।
एकादश्युपवासादि मम पर्वानुमोदनम् ॥
मत्कथाश्रवणे पाठे व्याख्याने सर्वदा रतिः ।
मत्पूजापरिनिष्ठा च मम नामानुकीर्तनम् ॥
एवं सततयुक्तानां भक्तिरव्यभिचारिणी ।
मयि संजायते नित्यं ततः किमवशिष्यते ॥
अतो मद्भक्तियुक्तस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ।
वैराग्यं च भवेच्छीघ्रं ततो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥
कथितं सर्वमेतत्ते तव प्रश्नानुसारतः ।
अस्मिन्मनः समाधाय यस्तिष्ठेत्स तु मुक्तिभाक् ॥
न वक्तव्यमिदं यत्नान्मद्भक्तिविमुखाय हि ।
मद्भक्ताय प्रदातव्यमाहूयापि प्रयत्नतः ॥
य इदं तु पठेन्नित्यं श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
अज्ञानपटलध्वान्तं विधूय परिमुच्यते ॥

श्रीरा० व० अं० ३९—४०—

भक्तानां मम योगिनां सुविमल-
स्वान्तातिशान्तात्मनां
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमल-
ज्ञानात्मनां सर्वदा ।
सङ्गं यः कुरुते सदोद्यतमति-
स्तत्सेवनानन्यधी-
र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं
दृश्यो भवे नान्यथा ॥

(अध्यात्म०, अरण्य० ४ । ४८—५५)

'मेरे भक्तका सङ्ग करना, निरन्तर मेरी और मेरे भक्तोंकी सेवा करना, एकादशी आदिका व्रत करना, मेरे पर्वदिनोंको मानना, मेरी कथाके सुनने, पढ़ने और उसकी व्याख्या करनेमें सदा प्रेम करना, मेरी पूजामें तत्पर रहना, मेरा नाम-कीर्तन करना—इस प्रकार जो निरन्तर मुझमें लगे रहते हैं, उनकी मुझमें अविचल भक्ति अवश्य हो जाती है । फिर बाकी ही क्या रह जाता है ? अतः (यह निश्चित बात है कि) मेरी भक्तिसे युक्त पुरुषको ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य आदिकी शीघ्र प्राप्ति होती है और फिर वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार मैंने तुम्हारे प्रश्ना-नुसार यह सम्पूर्ण (रहस्य) तुम्हें सुना दिया । जो व्यक्ति अपने चित्तको इसमें समाहित करके रहता है, वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है । लक्ष्मण ! मेरी भक्तिसे विमुख पुरुषोंसे इसे सावधानतापूर्वक न कहना चाहिये और मेरे भक्तोंको प्रयत्नपूर्वक बुलाकर भी यह रहस्य सुनाना चाहिये । जो पुरुष इसे श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदैव पढ़ेगा, वह अज्ञानसमूहसे बने हुए अन्धकारको हटाकर मुक्त हो जायगा । जो पुरुष मेरी सेवामें अनुरक्त-चित्त, निर्मल-हृदय, शान्तात्मा, विमलज्ञानसम्पन्न और मेरे परम भक्त योगिजनोंका सङ्ग अनन्य बुद्धिसे सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहकर करता है; मुक्ति उसके करतलगत रहती है और मैं सर्वदा उसकी दृष्टिके

सम्मुख विराजमान रहता हूँ। इसके अतिरिक्त और किसी उपायसे मेरा दर्शन नहीं हो सकता।'

ताराको तत्त्वज्ञानोपदेश

वालीका शव सामने पड़ा था। उसकी पत्नी तारा—अवश्य ही वह भगवद्भक्ता थी; किंतु पतिकी मृत्युके दुःखसे कौन शीलवती पत्नी व्यथित नहीं होती? पर ताराकी भक्तिने इस विपत्तिको वरदानमें परिणत कर दिया। स्वयं परमपुरुष श्रीराम उसे तत्त्वज्ञानका उपदेश करने लगे—

किं भीरु शोचसि व्यर्थं शोकस्याविषयं पतिम्।
पतिस्तवायं देहो वा जीवो वा वद तत्त्वतः॥
पञ्चात्मको जडो देहस्त्वङ्मांसरुधिरास्थिमान्।
कालकर्मगुणोत्पन्नः सोऽप्यास्तेऽद्यापि ते पुरः॥
मन्यसे जीवमात्मानं जीवस्तर्हि निरामयः।
न जायते न म्रियते न तिष्ठति न गच्छति॥
न स्त्री पुमान्वा षण्ढो वा जीवः सर्वगतोऽव्ययः।
एक एवाद्वितीयोऽयमाकाशवदलेपकः।
नित्यो ज्ञानमयः शुद्धः स कथं शोकमर्हति॥

(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ३। १३—१६)

वे बोले—'अरे भीरु! तेरा पति शोक करनेयोग्य नहीं है, तू उसके लिये व्यर्थ क्यों शोक करती है? तू विचारकर ठीक-ठीक बता, वास्तवमें तेरा पति यह देह है या इसमें रहनेवाला जीव? (यदि यह देह ही तेरा पति है तो) यह तो जड पञ्चभूतमय एवं त्वचा, मांस, रुधिर और अस्थियोंसे बना हुआ है तथा काल, कर्म और गुणोंसे उत्पन्न हुआ है; और वह तो अब भी तेरे सामने पड़ा है। (फिर उसके लिये शोक क्यों करती है?) और यदि तू जीवको अपना पति मानती है, तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह निर्विकार है। वह न उत्पन्न होता है, न मरता है, न स्थिर रहता है और न आता-जाता है। जीव सर्वव्यापी और अव्यय है; वह स्त्री, पुरुष अथवा नपुंसक—कुछ भी नहीं है, बल्कि एक, अद्वितीय आकाशके समान निर्लेप, नित्य, ज्ञानमय और शुद्ध है; फिर वह शोचनीय कैसे हो सकता है?'

तारोवाच

देहोऽचित्काष्ठवद्राम जीवो नित्यश्चिदात्मकः।
सुखदुःखादिसम्बन्धः कस्य स्याद्राम मे वद॥

(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ३। १७)

तारा बोली—राम! देह तो काष्ठके समान जड है और जीव नित्य तथा चैतन्यस्वरूप है (उसका नाश हो नहीं सकता); फिर सुख-दुःखादिका सम्बन्ध किससे होता है, यह मुझे बतलाइये।

श्रीराम उवाच

अहंकारादिसम्बन्धो यावद्देहेन्द्रियैः सह।
संसारस्तावदेव स्यादात्मनस्त्वविवेकिनः॥
मिथ्यारोपितसंसारो न स्वयं विनिवर्तते।
विषयान्ध्यायमानस्य स्वप्ने मिथ्यागमो यथा॥
अनाद्यविद्यासम्बन्धात्तत्कार्याहंकृतेस्तथा।
संसारोऽपार्थकोऽपि स्याद्रागद्वेषादिसंकुलः॥
मन एव हि संसारो बन्धश्चैव मनः शुभे।
आत्मा मनः समानत्वमेत्य तद्गतबन्धभाक्॥
तथा विशुद्धः स्फटिकोऽलक्तकादिसमीपगः।
तत्तद्वर्णयुगाभाति वस्तुतो नास्ति रञ्जनम्॥
बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनः संसृतिर्बलात्।
आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्य तदुद्भवान्॥
कामाञ्जुषन् गुणैर्बद्धः संसारे वर्ततेऽवशः।
आदौ मनोगुणान् सृष्ट्वा ततः कर्माण्यनेकधा॥
शुक्ललोहितकृष्णानि गतयस्तत्समानतः।
एवं कर्मवशाज्जीवो भ्रमत्याभूतसम्प्लवम्॥
सर्वोपसंहृतौ जीवो वासनाभिः स्वकर्मभिः।
अनाद्यविद्यावशगस्तिष्ठत्यभिनिवेशतः॥

(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ३। १८—२६)

श्रीरामचन्द्रजी बोले—जबतक देह और इन्द्रियोंके साथ 'मैं-मेरापन' आदिका सम्बन्ध रहता है, तबतक आत्मा और अनात्माके विवेकसे रहित जीवका सुख-दुःखादिके भोगरूप संसारसे सम्बन्ध रहता है। यह संसार आत्मामें मिथ्या ही आरोपित हुआ है, तथापि ज्ञानोदयके बिना यह अपने आप निवृत्त नहीं होता—जिस प्रकार विषयोंका निरन्तर ध्यान करनेवाले पुरुषको स्वप्नमें अनेक पदार्थ दीखते हैं, परंतु वे होते मिथ्या ही हैं। अनादि अविद्या और उसके कार्य अहंकारके सम्बन्धसे स्थित हुआ यह संसार निरर्थक (अत्यन्त मिथ्या) होते हुए भी राग-द्वेष आदिसे पूर्ण है। हे शुभे! मन ही संसार है और मन ही बन्धन है। उस अनात्म-वस्तु मनके साथ (अन्योन्याध्याससे) एक हो जानेसे ही यह आत्मा तद्वत सुख-दुःखादिके बन्धनमें पड़ता है। जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे शुक्ल-वर्ण होनेपर भी लाख आदिके समीप होनेपर उसीके रंगकी मालूम होने लगती है, परंतु वास्तवमें उनमें वह रंग नहीं होता—वैसे ही बुद्धि और इन्द्रिय आदिकी संनिधिसे आत्माको बलात्कारसे संसारकी प्रतीति होती है। आत्मा अपने लिङ्ग (पहचाननेके साधन) मनको स्वीकार करके उसे प्राप्त होनेवाले विषयोंका सेवन करता हुआ उसके राग-द्वेषादि गुणोंमें बँधकर विवश हो संसार-चक्रमें फँसा रहता है। पहले वह राग-द्वेषादि मनके गुणोंकी रचना करता है और फिर (उनके योगसे) नाना प्रकारके कर्म करता है। वे कर्म शुक्ल (जप, ध्यानादि), लोहित (हिंसामय यज्ञ-यागादि) और कृष्ण (मद्यपानादि पापकर्म)—तीन प्रकारके होते हैं। उन कर्मोंके अनुसार ही उसकी गतियाँ होती हैं। इस प्रकार यह जीव कर्मोंके वशीभूत होकर प्रलयपर्यन्त आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है। प्रलयकालमें सब भूतोंका लय हो जानेपर भी अपने कर्ता-भोक्तापनके अभिनिवेशसे यह अपनी वासनाओं और कर्मोंके साथ अनादि अविद्यासे आच्छादित हुआ रहता है।

सृष्टिकाले पुनः पूर्ववासनामानसैः सह।
जायते पुनरप्येवं घटीयन्त्रमिवावशः॥
यदा पुण्यविशेषेण लभते संगतिं सताम्।
मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया मतिः॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः।
ततः स्वरूपविज्ञानमनायासेन जायते॥
तदाचार्यप्रसादेन वाक्यार्थज्ञानतः क्षणात्।
देहेन्द्रियमनःप्राणाहंकृतिभ्यः पृथक्स्थितम्॥
स्वात्मानुभवतः सत्यमानन्दात्मानमद्वयम्।
ज्ञात्वा सद्यो भवेन्मुक्तः सत्यमेव मयोदितम्॥
एवं मयोदितं सम्यगालोचयति योऽनिशम्।
तस्य संसारदुःखानि न स्पृशन्ति कदाचन॥
त्वमप्येतन्मया प्रोक्तमालोच्य विशुद्धधीः।
न स्पृश्यसे दुःखजालैः कर्मबन्धाद्विमोक्ष्यसे॥
पूर्वजन्मनि ते सुभ्रु कृता मद्भक्तिरुत्तमा।
अतस्तव विमोक्षाय रूपं मे दर्शितं शुभे॥
ध्यात्वा मद्रूपमनिशमालोच्य मयोदितम्।
प्रवाहपतितं कार्यं कुर्वन्त्यपि न लिप्यसे॥
(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ३। २७—३५

'जब नवीन सृष्टि आरम्भ होती है, तब यह वि[illegible] होकर अपनी पूर्व वासनाओंसे युक्त मनके सहित घटीय[illegible] के समान फिर उत्पन्न हो जाता है। जिस समय वि[illegible] विशेष पुण्यपरिपाकसे इसे मेरे भक्त और शान्ति[illegible] महात्माओंकी संगति मिलती है, उस समय इसका [illegible] मेरी ओर लगता है। उससे मेरी कथा सुननेमें इ[illegible] श्रद्धा होती है, जो बहुत ही दुर्लभ है। मेरी [illegible] सुननेसे इसको अनायास ही मेरे स्वरूपका ज्ञान [illegible] जाता है। उस समय गुरुकृपाद्वारा 'तत्त्वमसि' अ[illegible] महावाक्योंके अर्थ-ज्ञानसे तथा स्वयं अपने अनुभ[illegible] भी यह अपने सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय आत्मा[illegible] देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और अहंकारादिसे पृ[illegible] जानकर एक क्षणमें ही तुरंत मुक्त हो जाता है

तारा ! मैंने यह वास्तविक सत्य तुझसे कह दिया। मेरे कहे हुए इस परमार्थ-ज्ञानका जो अहर्निश मनन करता है, उसे सांसारिक दुःख कभी स्पर्श नहीं करते। तू भी शुद्धचित्त होकर मेरे इस उपदेशका मनन कर। यों करनेसे क्लेश-कलाप तुझे छू भी न सकेंगे और तू कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जायगी। सुभ्रु ! अपने पूर्वजन्ममें तूने मेरी उत्कृष्ट भक्ति की थी, इसीलिये सुन्दरि ! तुझे मुक्त करनेके लिये मैंने अपना दर्शन दिया है। तू रात-दिन मेरे रूपका ध्यान करती हुई मेरे उपदेशका मनन किया कर ! यों करनेसे प्रारब्ध-कर्मसे प्राप्त हुए कर्मोंको करती हुई भी तू उनसे लिप्त नहीं होगी।'

श्रीरामेणोदितं सर्वं श्रुत्वा तारातिविस्मिता।
देहाभिमानजं शोकं त्यक्त्वा नत्वा रघूत्तमम्॥
आत्मानुभवसंतुष्टा जीवन्मुक्ता बभूव ह।
क्षणसंगममात्रेण रामेण परमात्मना॥
अनादिबन्धं निर्धूय मुक्ता सापि विकल्मषा।
(अध्यात्म०, किष्किन्धा० ३। ३६-३७½)

भगवान् रामका यह अद्भुत उपदेश सुनकर ताराको बड़ा ही विस्मय हुआ और उसने देहाभिमानजनित शोक छोड़कर श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया तथा आत्मानुभवसे संतुष्ट होकर वह तत्काल जीवन्मुक्त हो गयी। परमात्मा रामके क्षणमात्रके सत्सङ्गसे वह अनादि अविद्याके बन्धनको काटकर निष्पाप और मुक्त हो गयी।

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरामने कहा है—

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा॥
प्रगट सो तनु तव आगें सोवा।
जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १०। २-३)

'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु—इन पाँच तत्त्वोंसे यह अत्यन्त अधम शरीर रचा गया है। वह शरीर तो प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने सोया हुआ है और जीव नित्य है; फिर तुम किसके लिये रो रही हो ?

श्रीजानकीजीको ज्ञानोपदेश

एक बार श्रीजानकीजी विनयसे सकुचाती हुई भगवान् रामचन्द्रसे बोलीं—'प्रभो ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहती हूँ; यदि आप आज्ञा दें तो पूछूँ।' सीताकी वाणी सुनकर रामचन्द्रजीने कहा—'प्रिये ! जो कुछ भी तुम्हारी इच्छा हो, आनन्दपूर्वक पूछो। किसी प्रकारकी शङ्का मत करो। कोई गुप्त-से-गुप्त बात होगी, वह भी मैं तुम्हें बतलाऊँगा।' इस तरहकी बातें सुनकर सीताने कहा—'हे महाबाहो राम ! मुझे आप कोई ऐसा उपदेश दें, जिससे मैं आपको अच्छी तरह समझ लूँ।' इस बातको सुनकर श्रीरामने सीतासे कहा—'देवि सीते ! तुमने बहुत ही अच्छी बात पूछी है। मैं अपने वास्तविक तत्त्वको तुम्हें अच्छी तरह समझाता हूँ, मन एकाग्र करके सुनो। आत्मज्ञानप्राप्तिके लिये मैं तुम्हें कौतूहलजनक बातें बता रहा हूँ।' वस्तुतः श्रीजानकीजी भगवान्‌की अभिन्न-स्वरूपा शक्ति हैं। वे ज्ञानस्वरूपा हैं। ये प्रश्नोत्तर तो उनकी लोक-कल्याणमयी लीला हैं।

श्रीरामचन्द्र उवाच

सच्चिदानन्दरूपाख्यसागरस्य तदिच्छया।
तरङ्गरूपयाऽऽत्मांशबिन्दुः शुद्धो विनिर्गतः॥
आत्मनामा मातृभूतबुद्धेर्जठरसम्भवः।
शुद्धसत्त्वान्तःकरणं पिता चात्मन ईरितः॥
तस्यात्मनश्च चत्वारो भेदास्ते बन्धवः स्मृताः।
तुर्यावस्थस्तत्र वरस्ततो जाग्रदवस्थकः॥
स्वप्नावस्थस्तृतीयश्चावरः सुषुप्त्यवस्थकः।
हृदयाकाशस्तत्स्थानं मनोवेगो बहिर्गमः॥
मनोदुर्वृत्तिघातश्च मनोवेगस्य खण्डनम्।
मायायोगस्ततस्तस्य पूर्वसंस्कार निग्रहः॥
ततः कुबुद्धिहेतोर्हि भवारण्येऽटनं चिरम्।
दम्भस्य निग्रहस्तत्र पञ्चभूतात्मिका स्थिरा॥
आत्मनः पर्णकुटिका विश्रान्तिस्थानमीरिता।
कामक्रोधलोभजयस्तत्राशाकृन्तनं स्मृतम्॥
मोहस्य निग्रहस्तत्र शुद्धमायाश्रयस्ततः।
रजोरूपा तु या माया जठराग्नौ तदा स्मृता॥

तामस्याश्चैव मायाया वियोगश्च तदा स्मृतः।
सुखालाभो महान्क्लेशः शोकभङ्गस्ततः परम्॥
विवेकस्याश्रयस्तत्र भक्त्युद्रेकसमागमः।
अविवेकवधश्चापि ह्युत्साहेन समागमः॥

(आनन्दरामायण, विलास० ७—१६)

भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कहने लगे—'सत्, चित्, आनन्दरूप एक महान् सागर है। उसकी इच्छारूपी तरङ्गसे एक परम पवित्र आत्मांशस्वरूप बिन्दु निकला। उसका नाम पड़ा 'आत्मा', उसकी माता हुई बुद्धि। शुद्ध और सत्त्वमय अन्तःकरण उसका पिता हुआ। उस आत्माके चार भेद हुए। वे ही आत्माके चार भाई कहलाये। उनमें सबसे श्रेष्ठ हुई तुरीयावस्था, उससे कुछ न्यून जाग्रदवस्था, फिर स्वप्नावस्था और सबसे निम्न श्रेणीकी सुषुप्ति-अवस्था हुई। इन सबका हृदयाकाश स्थान है और मनोवेगसे ये अवस्थाएँ कभी बाहर भी हो जाती हैं। मनकी दुर्वृत्तियोंका खण्डन, मनके आवेगपर आघात और मायाके योगसे पूर्वसंस्कारका दमन करना होता है। यदि बुद्धि किसी तरह दूषित हुई तो इस संसाररूपी घोर जंगलमें बहुत दिनोंतक आत्माको भटकना पड़ता है। उस समय दम्भका निग्रह करनेकी आवश्यकता होती है। केवल आत्मारूप ही एक ऐसी पर्णकुटी है, जहाँ शान्ति मिलती है। अन्यत्र सब जगह क्लेश-ही-क्लेश है। उस पर्णकुटीमें काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रु नहीं जाने पाते। आशाकी भी वहाँ गति नहीं है। वहाँ मोहका भी निग्रह हो जाता है। वहीं शुद्ध सात्त्विक मायाका आश्रय प्राप्त होता है। उस समय जब कि रजोगुणमयी माया जठराग्निमें रहती है, तब तमोगुणमयी मायाका वियोग हो जाता है। इससे सुखका नाम नहीं रहता और चारों ओर कराल दुःखकी घटाएँ दिखायी देती हैं। उनके आगे शोकभङ्गका दर्जा आता है। उसी समय हृदयमें विवेक उपजता है। साथ ही भक्तिका भी उद्रेक होता है। अज्ञान नष्ट हो चलता है। उत्साहसे समागम होता है।

अज्ञानतरणोपायस्त्रिगुणाश्रयसद्मनि।
लिङ्गाख्यनिग्रहस्तत्र मदस्य सम्प्रकीर्तितः॥
निग्रहो मत्सरस्यापि ततोऽहंकारनिग्रहः।
वियोगो लिङ्गदेहस्य माया नामैक्यता ततः॥
हृदयाकाशगमनमानन्दैकसुखं ततः।
मायात्यागस्ततश्चैव सात्त्विक्या ग्रहणं स्मृतम्॥
सात्त्विक्या मायया सार्धं हृदयाकाशमुत्तमम्।
महाकाशे प्रणयनं सच्चिदानन्दसंज्ञके॥
प्रवेशनं सागरे हि मुक्तिर्ज्ञेयाऽऽत्मनः शुभा।
सायुज्या सा परिज्ञेया मुक्तिर्मुक्तिचतुष्टये॥
एवं मयेयं ते प्रीत्या सीते संज्ञानपेटिका।
वेदसारैरगूढार्थैरज्ञानमतिनाशकैः॥
मज्ज्ञानदैः पञ्चदशश्लोकरत्नैः प्रपूरिता।
समर्पिता गृहाण त्वमस्यां बुद्ध्यावलोकय॥
भविष्यति मम ज्ञानमस्याः सम्यग्विचारतः।

(आनन्दरामायण, विलास० १७—२३½)

'तीन गुणवाले इस शरीरीका सबसे प्रधान कर्तव्य यह है कि जिस तरह भी हो सके, अज्ञानसे जीवको छुड़ानेकी चेष्टा करे। जब प्राणी मदका निग्रह कर लेता है, तब वह लिङ्गनिग्रही कहलाने लगता है। मदका निग्रह करके मत्सरका और मत्सरके बाद अहंकारका निग्रह करना चाहिये। जिस समय साधक लिङ्गनिग्रही हो जाता है अर्थात् मदको वशमें कर लेता है, उसी समय मायाके परास्त होनेका समय आता है। वास्तवमें माया और है ही क्या, इन्हीं काम-क्रोध आदि दुष्टोंके संङ्गसे मायाका निर्माण हुआ करता है। इनके हो जानेपर प्राणीको आनन्द-ही-आनन्द रहता है। जब मायाका त्याग हो जाता है, उस समय सात्त्विकी मायाबुद्धिका प्रादुर्भाव होता है। उस सात्त्विकी मायाके साथ प्राणी उत्तम

हृदयाकाशका सुख अनुभव करने लगता है। उससे भी उत्कर्ष होनेपर महाकाशका निर्माण होता है। सत्, चित्, आनन्द—ये तीनों वहाँ सदा ही विद्यमान रहते हैं। इसी महान् समुद्रमें कूद जानेको आत्माकी कल्याणदायिनी मुक्ति कहते हैं। चार प्रकारकी कही हुई मुक्तियोंमेंसे उसीको सायुज्य मुक्ति कहते हैं। सीते! तुम्हारे स्नेहवश मैंने यह ज्ञानकी पिटारी खोलकर रख दी। इसमें स्पष्ट अर्थवाले, वेदके सारसे परिपूर्ण तथा अज्ञान-बुद्धिको नष्ट करनेवाले पंद्रह श्लोकरूपी रत्न भरे हुए हैं। इन्हींके द्वारा मेरा मुख्य तत्त्व जाना जा सकता है। यह पिटारी मैं तुम्हें अर्पण करता हूँ। इसे सम्हालो और ज्ञानदृष्टिसे देखो। बार-बार इन बातोंका मनन करो तो मुझे अच्छी तरह समझ लोगी।'

तद्रामवचनं श्रुत्वा सीता संज्ञानपेटिकाम्॥
निजहृन्मन्दिरे स्थाप्य बुद्धिदृष्ट्या मुहुर्मुहुः।
सम्यगुद्घाट्य तूष्णीं सा मुहूर्तमवलोकयत्॥
तदा ज्ञात्वाथ सकलां निजक्रीडां विदेहजा।
विहस्य रघुवीरस्य सा ननामाङ्घ्रिपङ्कजे॥
आनन्दनिर्भरा जाता सानन्दाश्रुसमन्विता।
आनन्दोत्फुल्लरोमाञ्चा तूष्णीमासीत्तदा क्षणम्॥

(आनन्दरामायण, विलास० २४—२७)

इस प्रकार रामकी बातें सुनकर सीताने उस ज्ञानकी पिटारीको अपने हृदयमें रख लिया। फिर उसे खोलकर बुद्धिदृष्टिसे कुछ देर देखती रहीं। तब सीताने अपनी सब क्रीडाओंका भेद जाना और हँसकर रामचन्द्रजीको प्रणाम किया। सीताको उस समय एक महान् आनन्दका अनुभव हुआ। उनकी आँखोंमें आँसू आ गये, शरीर आनन्द-पुलकित हो गया और थोड़ी देरके लिये सीताजी अपने आपको भी भूलकर चुप हो गयीं।

महाराज दशरथको ज्ञानोपदेश

एक समय मुनि मुद्गल तथा गुरु वसिष्ठके वाक्योंसे तथा अपने पुत्रके दैवी चरित्रोंको देखकर राजा दशरथने रामको साक्षात् नारायण विष्णु समझकर एकान्तमें बुलाया और भक्तिभाव तथा विनयपूर्वक कहा—'राम! तुम साक्षात् नारायण हो। तुमने भूमिका भार हरण करनेके लिये मेरे घर अवतार लिया है, यों लोग कहते हैं। राम! तुम्हारी मायासे मोहित हुआ मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि तुम कुछ ज्ञानका उपदेश देकर मेरे अज्ञानको दूर करो। स्त्री-पुत्र तथा गृह आदिमें अनुरक्त मेरी बुद्धि कभी शान्ति तथा सुखका अनुभव नहीं करती।' पिताके इस वचनको सुनकर भगवान् श्रीरामने उनको ज्ञानका उपदेश किया।

श्रीराम उवाच

शृणु राजन् प्रवक्ष्यामि तव ज्ञानार्थमुत्तमम्।
शृणोतु मम मातेयं कौसल्यापि तव प्रिया॥
नश्वरं भासते चैतद् विश्वं मायोद्भवं नृप।
यथा शुक्तौ रौप्यभासः काचभूम्यां जलस्य च॥
यथा रज्जौ सर्पभासो मृगतोये जलस्पृहा।
तद्वदात्मनि भासोऽयं कल्प्यते नश्वरोऽबुधैः॥
अज्ञानदृष्टिभिर्नित्यं मन्यते न तु पण्डितः।
आत्मा शुद्धो निर्व्यलीकः सच्चिदानन्दलक्षणः॥
आत्मा नित्यो न स्पृशति परमानन्दविग्रहः।
देहागारसुतस्त्रीषु मामकेति च या मतिः॥
उपसंहृत्य बुद्ध्वा संन्यस्य ब्रह्मणि चिद्घने।
यद्यत्किंचिद्भासतेऽत्र तत्तन्नारायणात्मकम्॥
पश्य त्वं सर्वभावेन मुच्यसे भवसंकटात्।
सत्यं शौचं दया शान्तिः क्षमा चेन्द्रियनिग्रहः॥
अहिंसा भगवद्भक्तिर्वेदमार्गानुवर्तनम्।
इत्याद्या ये गुणा राजन् तान् भजस्व निरन्तरम्॥
चौर्यं द्यूतं विवादं च मात्सर्यं दम्भमेव च।
क्रौर्यं लोभं भयं क्रोधं शोकं निन्द्यप्रवर्तनम्॥
वेदविप्रयतीनां च साधूनां मानभञ्जनम्।
निन्दां पैशुन्यमनिशं त्यज दूरं स्वतो नृप॥

पूर्वं त्वया तपस्तप्तं पुत्रत्वं याचितं मम ।
तस्माज्जातोऽस्मि त्वत्तोऽहं कौसल्यायां नृपोत्तम ॥
यन्मया कथितं चैतदज्ञानमलनाशनम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन कथनीयं न कुत्रचित् ॥

(आनन्दरामायण, सार० १०६–९, ११२—१९)

श्रीरामने कहा—'हे राजन् ! मैं आपको ज्ञान-लाभके लिये उत्तम उपदेश देता हूँ। उसे आप तथा आपकी प्राणप्रिया और मेरी माता कौसल्या भी सुनें । हे नृप ! मायासे उत्पन्न यह समस्त संसार आत्मामें उसी प्रकार झूठा भासित होता है, जैसे सीपीमें चाँदी, बालूमें जल, रस्सीमें साँप तथा मृगमरीचिकामें सलिल भासित होता है। अज्ञानी लोग इस आभासको भी नित्य तथा अनश्वर मानते हैं, परंतु पण्डित लोग तो इससे विपरीत ही मानते हैं। उनके मतमें आत्मा शुद्ध, नित्य तथा सच्चिदानन्द-स्वरूप है। वह आत्मा स्वयं किसीमें आसक्त नहीं होता। जिस प्रकार कमलपत्र जलका स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार अमल, नित्य और परम आनन्दस्वरूप आत्मा भी मायासे निर्लेप रहता है। देह, गेह, पुत्र, स्त्री आदिमेंसे ममता हटाकर अथवा संन्यासके द्वारा समस्त भावनाओंको छोड़कर, यह जो दृश्यमान संसार है, इसको चिद्घन ब्रह्मसे अभिन्न नारायणस्वरूप जान तथा उसी ईश्वरको सर्वत्र व्याप्त देखकर आप इस भवसंकटसे मुक्त हो जायँगे । राजन् ! आप सत्यभाषण, पवित्रता, दया, शान्ति, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, भगवद्भक्ति तथा वेदोक्त मार्गका अनुवर्तन आदि गुणोंको निरन्तर धारण करें । हे नृप ! चोरी, जुआ, ईर्ष्या, पाखण्ड, क्रूरता, लोभ, भय, क्रोध, शोक, निन्दनीय काममें प्रवृत्ति, वेद-विप्र-साधु-संन्यासी आदिका मानभङ्ग, निन्दा और चुगलखोरी आदि दोषोंको दूर कर दें* । हे नृप ! आपने पूर्वकालमें तप करके मुझको पुत्ररूपसे माँगा था। इसी कारण मैं आपके द्वारा कौसल्याके गर्भसे पुत्ररूपमें प्रकट हुआ हूँ । यह जो मैंने आपको अज्ञानरूपी मल नष्ट करनेवाला उपदेश दिया है, उसे आप अपने मनमें ही रखियेगा—किसीसे कहियेगा नहीं।'

माता श्रीकौसल्याजीको ज्ञानतत्त्वोपदेश

माता कौसल्याजीको श्रीराम परम पुरुष हैं, यह ज्ञान प्रारम्भसे था, यद्यपि उनका वात्सल्य इसे प्रायः आच्छन्न किये रहता था। वृद्धावस्थामें श्रीरामके श्रीमुखसे ही तत्त्वोपदेश सुननेकी इच्छा उनके मनमें एक बार जाग्रत् हुई। अतः—

एकान्ते ध्याननिरते एकदा राघवे सति ।
ज्ञात्वा नारायणं साक्षात्कौसल्या प्रियवादिनी ॥
भक्त्याऽऽगत्य प्रसन्नं तं प्रणता प्राह हृष्टधीः ।
राम त्वं जगतामादिरादिमध्यान्तवर्जितः ॥
परमात्मा परानन्दः पूर्णः पुरुष ईश्वरः ।
जातोऽसि मे गर्भगृहे मम पुण्यातिरेकतः ॥
अवसाने ममाप्यद्य समयोऽभूद्रघूत्तम ।
नाद्याप्यबोधजः कृत्स्नो भवबन्धो निवर्तते ॥
इदानीमपि मे ज्ञानं भवबन्धनिवर्तकम् ।
यथा संक्षेपतो भूयात्तथा बोधय मां विभो ॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ७। ५३—५७)

एक दिन जब रघुनाथजी एकान्तमें ध्यानमग्न थे, प्रियभाषिणी श्रीकौसल्याजीने उन्हें साक्षात् नारायण जानकर अति भक्तिभावसे उनके पास आ उन्हें प्रसन्न जान अति हर्षसे विनयपूर्वक कहा—"राम ! तुम संसारके आदिकारण हो तथा स्वयं आदि, अन्त और मध्यसे रहित हो। तुम परमात्मा, परानन्दस्वरूप, सर्वत्र पूर्ण, जीवरूपसे शरीररूप पुरमें शयन करनेवाले और सबके स्वामी हो; मेरे प्रबल पुण्यके उदय होनेसे ही तुमने मेरे गर्भसे जन्म लिया है। रघुश्रेष्ठ ! अब अन्त समयमें मुझे आज ही (तुमसे कुछ पूछनेका)

* दशरथमें स्वाभाविक सद्गुण थे और ये दोष नहीं थे। यहाँ साधककी दृष्टिसे ऐसा कहा गया है।

सर्वेषु प्राणिजातेषु ह्यहमात्मा व्यवस्थितः ।
तमज्ञात्वा विमूढात्मा कुरुते केवलं बहिः ॥
क्रियोत्पन्नैर्नैकभेदैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम् ।
भूतावमानिनार्चायामर्चितोऽहं न पूजितः ॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ७ । ६७—७५)

'मातः ! भक्तिमार्गका आत्यन्तिक योग यही है । इसके द्वारा भक्त तीनों गुणोंको पारकर मेरा ही रूप हो जाता है । (अब इस निर्गुण भक्तिका साधन बतलाता हूँ—) अपने धर्मका अत्यन्त निष्काम भावसे आचरण करनेसे, अत्युत्तम हिंसाहीन कर्मयोगसे; मेरे दर्शन, स्तुति, महापूजा, स्मरण और वन्दनसे, प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे, असत्यके त्याग और सत्सङ्गसे, महापुरुषोंका अत्यन्त मान करनेसे, दुखियोंपर दया करनेसे, अपने समान पुरुषोंसे मैत्री करनेसे, यम-नियमादिका सेवन करनेसे, वेदान्त-वाक्योंका श्रवण करनेसे, मेरा नाम-संकीर्तन करनेसे, सत्सङ्ग और कोमलतासे, अहंकारका त्याग करनेसे और मेरे भागवत-धर्मोकी इच्छा करनेसे जिसका चित्त शुद्ध हो गया है, वह पुरुष मेरे गुणोंका श्रवण करनेसे ही अति सुगमतासे मुझे प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार वायुके द्वारा गन्ध अपने आश्रयको छोड़कर घ्राणेन्द्रियमें प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार योगाभ्यासमें लगा हुआ चित्त आत्मामें लीन हो जाता है । समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे मैं ही स्थित हूँ, उसे न जानकर मूढ़ पुरुष केवल बाह्य भावना करता है । किंतु हे मातः ! क्रियासे उत्पन्न हुए अनेक पदार्थोंसे भी मेरा संतोष नहीं होता । अन्य जीवोंका तिरस्कार करनेवाले प्राणियोंसे प्रतिमामें पूजित होकर भी मैं वास्तवमें पूजित नहीं होता ।

तावन्मामर्चयेद्देवं प्रतिमादौ स्वकर्मभिः ।
यावत्सर्वेषु भूतेषु स्थितं चात्मनि न स्मरेत् ॥
यस्तु भेदं प्रकुरुते स्वात्मनश्च परस्य च ।
भिन्नदृष्टेर्भयं मृत्युस्तस्य कुर्यान्न संशयः ॥
मामतः सर्वभूतेषु परिच्छिन्नेषु संस्थितम् ।
एकं ज्ञानेन मानेन मैत्र्या चार्चेदभिन्नधीः ॥
चेतसैवानिशं सर्वभूतानि प्रणमेत्सुधीः ।
ज्ञात्वा मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संस्थितम् ॥
तस्मात्कदाचिन्नेक्षेत भेदमीश्वरजीवयोः ।
भक्तियोगो ज्ञानयोगो मया मातरुदीरितः ॥
आलम्ब्यैकतरं वापि पुरुषः शुभमृच्छति ।
ततो मां भक्तियोगेन मातः सर्वहृदि स्थितम् ॥
पुत्ररूपेण वा नित्यं स्मृत्वा शान्तिमवाप्स्यसि ।

(अध्यात्म०, उत्तर० ७ । ७६—८१½)

'मुझ परमात्मदेवका अपने कर्मोंद्वारा प्रतिमा आदिमें तभीतक पूजन करना चाहिये, जबतक समस्त प्राणियोंमें और अपने आपमें मुझे स्थित न जान लिया जाय । जो अपने आत्मा और परमात्मामें भेदबुद्धि करता है, उस भेददर्शीको मृत्यु अवश्य भय उत्पन्न करती है—इसमें संदेह नहीं । इसलिये अभेददर्शी भक्त समस्त परिच्छिन्न प्राणियोंमें स्थित मुझ एकमात्र परमात्माका ज्ञान, मान और मैत्री आदिसे पूजन करे । इस प्रकार मुझ शुद्ध चेतनको ही जीवरूपसे स्थित जानकर बुद्धिमान् पुरुष अहर्निश सब प्राणियोंको चित्तसे ही प्रणाम करे । इसलिये जीव और ईश्वरका भेद कभी न देखे । हे मातः ! मैंने तुमसे यह भक्तियोग और ज्ञानयोगका वर्णन किया । इनमेंसे एकका भी अवलम्बन करनेसे पुरुष आत्यन्तिक शुभ प्राप्त कर लेता है । अतः हे मातः ! मुझे सब प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित जानते हुए अथवा पुत्ररूपसे भक्तियोगके द्वारा नित्यप्रति स्मरण करते रहनेसे तुम शान्ति प्राप्त करोगी

श्रुत्वा रामस्य वचनं कौसल्याऽऽनन्दसंयुता ॥
रामं सदा हृदि ध्यात्वा छित्त्वा संसारबन्धनम् ।
अतिक्रम्य गतीस्तिस्रोऽप्यवाप परमां गतिम् ॥
(अध्यात्म०; उत्तर० ७ । ८२-८३)

भगवान् रामके ये वचन सुनकर कौसल्याजी आनन्दसे भर गयीं और हृदयमें निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीका ध्यान करती हुई संसार-बन्धनको काटकर तीनों प्रकारकी गतियोंको पार करके परम गतिको प्राप्त हुईं ।

श्रीरामका वैराग्य-वर्णन

सिद्धाश्रममें जब भी महर्षि विश्वामित्र ऋषियोंके साथ यज्ञ करने लगते थे, रावणके अनुचर मारीच और सुबाहु अपनी राक्षसी सेनाके साथ आकर अस्थि-मांसादिकी वर्षा करके यज्ञस्थल एवं हवनकुण्डको अपवित्र कर जाते थे। शाप देकर इन राक्षसोंको महर्षि भस्म कर दे सकते थे, किंतु इससे तपका नाश होता । अतः उन्होंने यही उचित समझा कि अयोध्या जाकर महाराज दशरथसे उनके दो वीर कुमार श्रीराम एवं लक्ष्मणको माँग लाया जाय और वे इन दुरात्मा राक्षसोंका संहार करें । ऐसा होनेसे महर्षिको तो श्रीरामका सांनिध्य मिलेगा ही, राक्षसोंका भी उद्धार हो जायगा ।

महर्षि अयोध्या गये । महाराज दशरथने उनका सत्कार किया, किंतु महर्षिकी माँग सुनकर वे कातर हो उठे। श्रीरामको वे अपनेसे पृथक् करना नहीं चाहते थे । महर्षि विश्वामित्रको कुछ रोष आ गया । रघुकुलके गुरु महर्षि वसिष्ठने महाराजको समझाया—'महर्षि विश्वामित्रके साथ जानेमें राजकुमारोंका मङ्गल है और रुष्ट होकर ये महातेजा शाप देकर उनका भी अमङ्गल कर सकते हैं।'

इसका परिणाम यह हुआ कि महाराज दशरथने अपने द्वारपालको श्रीरामको बुलाने भेजा । द्वारपाल श्रीरामके सदनपर गया और वहाँसे उनके कुछ सेवकोंको साथ लेकर लौट आया । उसने बतलाया—'तीर्थयात्रासे लौटनेके पश्चात्से ही श्रीराम अत्यन्त उदास रहने लगे हैं।'

द्वारपालके यह कहनेपर उसके साथ आये हुए श्रीरामके समस्त सेवकोंको महाराजने आश्वासन दिया और क्रमशः उनका समाचार पूछा—'राम कैसे हैं ? उनकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी है ?' भूपालके इस तरह पूछनेपर श्रीरामके सेवकोंने दुखी होकर उनसे कहा—"देव ! आपके पुत्र श्रीरामका शरीर अत्यन्त कृश हो गया है । उनके खेदसे हमलोग भी इतने खिन्न हो गये हैं कि हमलोगोंका शरीर भी गलकर छड़ीके समान पतला हो गया है और हम किसी तरह इसे ढोये जा रहे हैं । कमलनयन श्रीराम जबसे ब्राह्मणोंके साथ तीर्थयात्रासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनका मन बहुत उदास रहता है । जो वस्तु उपयोगमें लानेयोग्य, स्वादिष्ट, सुन्दर और मनोहर है, उसीसे वे इस तरह खिन्न हो उठते हैं, मानो उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये हों । भोजन, शय्या, सवारी, विलास, स्नान, आसन आदि उत्तम कार्य या वस्तुके प्रस्तुत होनेपर भी वे उसका अभिनन्दन नहीं करते (उसकी ओरसे विरक्त हो जाते हैं) । 'सम्पत्तिसे, विपत्तिसे, घरसे अथवा विभिन्न चेष्टाओंसे क्या होने जानेवाला है । क्योंकि सब कुछ मिथ्या है ।' यह कहकर वे चुप हो जाते हैं और अकेले बैठे रहते हैं । परिहास-विनोद होनेपर वे प्रसन्न नहीं होते । भोगोंमें उनकी आसक्ति नहीं है । किसी प्रकारके कार्योंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती । वे सदा मौनभावका ही अवलम्बन किये रहते हैं । एकान्तमें, विभिन्न दिशाओंमें, नदियोंके तटोंपर, जंगलोंमें तथा गहन वनोंमें उन्हें सुख मिलता है—वहीं उनका मन लगता है। भूपाल ! वे पहननेके वस्त्र तथा खाने-पीनेकी वस्तुएँ न लेकर सदा उनकी ओरसे विमुख ही रहते हैं तथा उस विमुखता या विरक्तिके द्वारा संन्यासी या तपस्वीके आचारका अनुसरण करते हैं । जनेश्वर ! श्रीरामचन्द्रजी निर्जन स्थानमें अकेले ही रहकर न कभी हँसते हैं, न गाते हैं और न रोते ही हैं । सदा पद्मासन लगाये शून्यचित्त (संकल्परहित) हो केवल बैठे रहते हैं । न किसी बातका अभिमान करते हैं, न राजा होनेकी अभिलाषा रखते हैं, न सुख प्राप्त होनेपर प्रसन्न होते हैं और न दुःख मिलनेपर विषाद ही करते हैं । हम नहीं समझ पाते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका ध्यान करते हैं, कहाँ आते हैं और किस तरह किसका अनुसरण करते हैं । वे प्रतिदिन दुबले हो रहे हैं । रोज-रोज पीले पड़ते चले जा रहे हैं और नित्यप्रति उनका वैराग्य बढ़ता ही जाता है । राजन् ! सदा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले ये शत्रुघ्न और लक्ष्मणजी भी उन्हींके समान

दुर्बल होते जा रहे हैं। श्रीराम अपने पास रहनेवाले सुहृज्जनों—मित्रोंको यह उपदेश देते हैं कि 'ये भोग ऊपर-ऊपरसे मनोरम दिखायी देते हैं, वास्तवमें नश्वर हैं। अतः इनमें तुमलोग अपना मन न लगाओ। हमलोगोंने आयासरहित परम पदकी प्राप्तिसे दूर हटानेवाली चेष्टाओंद्वारा ही अपनी सारी आयु व्यर्थ बिता दी।' इस प्रकार मधुर और स्फुट वाणीद्वारा वे बारंबार गुनगुनाते रहते हैं। यदि पास बैठा हुआ कोई सेवक उनका अभिनन्दन करते हुए यह कहे कि 'आप सम्राट् हों' तो वे उसके इस कथनको उन्मत्त प्रलाप-सा समझकर अन्यमनस्क हो हँसने लगते हैं तथा सदा मुनिवृत्तिसे रहते हैं। न तो किसीकी कही हुई बातको सुनते हैं और न सामने पड़ी हुई वस्तुकी ओर दृष्टिपात ही करते हैं। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु प्राप्त होनेपर भी सर्वत्र उसकी अवहेलना ही करते हैं। जैसे मेघद्वारा बरसाये गये जलकी धाराएँ किसी बड़े भारी दुर्भेद्य पत्थरका भेदन नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कामदेवके बाण कान्तिमती वनिताओंके बीचमें रहते हुए भी श्रीरामचन्द्रजीके मनका भेदन नहीं कर पाते। 'धन आपत्तियोंका एकमात्र स्थान है। तू इसकी इच्छा क्यों करता है?' श्रीरामचन्द्रजी सबको ऐसी ही शिक्षा देते हैं और अपना सारा धन उसकी इच्छा रखनेवाले दीन याचकोंको बाँट देते हैं। 'यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है—इस प्रकारकी कल्पनाओंके रूपमें केवल मनका मोह (अज्ञान) ही प्रकट होता है।' इस तरहके वाक्यका वे सदा गान किया करते हैं—'हाय! मैं मारा गया, मैं अनाथ हो गया—इस प्रकार सब लोग चीखते-चिल्लाते रहते हैं, तो भी किसीको इस संसारसे वैराग्य नहीं होता। यह कितने आश्चर्यकी बात है।' श्रीराम प्रायः ऐसी ही बातें कहा करते हैं। (योगवासिष्ठ, वैराग्य० सर्ग ९-१०)

तब विश्वामित्रजीने कहा—'परम बुद्धिमान् सत्पुरुषो! यदि ऐसी बात है तो जैसे मृगोंका झुंड अपने यूथपतिको ले आता है, उसी प्रकार आपलोग भी रघुकुलनन्दन श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाइये। श्रीरामचन्द्रजीको यह मोह न तो किसी आपत्तिसे हुआ है और न आसक्तिसे ही। वे विवेक और वैराग्यसे सम्पन्न हैं। अतः उन्हें मोह नहीं, बोध ही प्राप्त हुआ है, जो महान् अभ्युदयकारक है। इस विचारमूलक मोहका युक्तिद्वारा निवारण कर देनेपर रघुकुलनन्दन श्रीराम हमलोगोंकी ही भाँति परम पदमें प्रतिष्ठित हो जायँगे। हमारे उपदेशसे वास्तविक बोधका उदय हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अमृत पीये हुए पुरुषकी भाँति सत्यता (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपता), मुदिता (परमानन्दस्वरूपता), प्रज्ञा (अपरिच्छिन्न ज्ञानरूपता) को प्राप्त होकर विश्रान्ति-सुखसे सम्पन्न, संतापशून्य, शरीरसे हृष्ट-पुष्ट और उत्तम कान्तिसे युक्त हो जायँगे। फिर तो मनमें अपनी पूर्णताका अनुभव करते हुए माननीय श्रीरामचन्द्रजी अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त होनेवाली व्यवहार-परम्पराका निर्बाधरूपसे पालन करने लगेंगे। वे महान् सत्त्वगुणसे युक्त तथा लोकव्यापी निर्गुण-सगुणरूप परब्रह्म परमात्माके ज्ञानसे सम्पन्न हो जायँगे। उन्हें सुख या दुःखकी दशाएँ नहीं प्राप्त होंगी। वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें कोई अन्तर नहीं देखेंगे—इन सबको समान समझने लगेंगे।'

मुनीश्वर विश्वामित्रके यों कहनेपर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए, मानो उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो गया। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको बुला लानेके लिये बारंबार दूत-पर-दूत भेजना आरम्भ किया। जब राजा और मुनिका संवाद हो रहा था, उसी समय श्रीरामचन्द्रजी अपने थोड़े-से सेवकों और दोनों भाई लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके साथ अपने पिताके पवित्र स्थान—राजसभामें गये। श्रीरामने दूरसे ही महाराज दशरथको देखा। जैसे इन्द्र देवसमूहसे घिरकर बैठते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाओंकी मण्डलीसे घिरे हुए बैठे थे। उनके दोनों ओर महर्षि वसिष्ठ और विश्वामित्रजी विराजमान थे। सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थका ज्ञान रखनेवाले मन्त्रीगण मालाकी भाँति उन्हें सब ओरसे घेरकर बैठे थे। इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों तथा दशरथ आदि राजाओंने भी कुमार कार्तिकेयके समान सुन्दर श्रीरामचन्द्रजीको दूरसे ही अपने पास आते देखा। वे सौम्य और समदर्शी थे। उनकी आकृति मङ्गलमयी थी। उनका हृदय विनीत-भावसे युक्त और उदार था। शरीर कान्तिमान् और शान्त (सौम्य) दिखायी देता था तथा वे परम पुरुषार्थके भाजन (परमार्थस्वरूप) थे। पवित्र गुणवाले पुरुषोंके आश्रय थे। समस्त सद्गुणोंने मानो एकमात्र महान् सत्त्वगुणके लोभसे उनका आश्रय ले रक्खा था।

१—३. अमृत पीये हुए पुरुषके पक्षमें सत्यताका अर्थ—यथार्थ स्वर्गसुख, मुदिताका अर्थ आनन्द तथा प्रज्ञाका अर्थ उत्तम बुद्धि समझना चाहिये। अन्य शब्दोंके अर्थ उभय पक्षमें समान ही हैं।

मुनीश्वर विश्वामित्र जब राजासे पूर्वोक्त बातचीत करते हुए श्रीरामको बुलानेका अनुरोध कर रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिये उनके सामने आये। सबके सुहृद् श्रीरामने पहले पिताके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तदनन्तर माननीय पुरुषोंद्वारा भी मुख्यरूपसे सम्मानित होनेवाले दोनों मुनि वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको प्रणाम किया। इसके बाद अन्य ब्राह्मणों, बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनोंका अभिवादन किया। तत्पश्चात् राजाओंके समूहद्वारा की जानेवाली प्रणाम-परम्पराको उन्होंने प्रसन्न दृष्टिसे उनकी ओर देखकर अपने मस्तकको किंचित् झुकाकर तथा मधुर वाणीके द्वारा कुछ बोलकर स्वीकार किया।

इसके बाद दोनों महर्षियोंने श्रीरामचन्द्रजीको आशीर्वाद दिये। तदनन्तर जिनके हृदयमें अत्यन्त समताका भाव भरा हुआ था, वे देवोपम-सुन्दर श्रीराम अपने पिताकी पवित्र संनिधिमें आये। उस समय भूपाल दशरथने अपनी चरण-वन्दना करनेवाले पुत्रको हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा। इसी तरह शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राजा दशरथने घनीभूत स्नेहसे युक्त हो भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्नको भी हृदयसे लगाया (और उनके मस्तक सूँघे)। फिर श्रीरामचन्द्रजी पृथ्वीपर ही परिजनोंद्वारा बिछाये गये वस्त्रके ऊपर बैठ गये।

तत्पश्चात् राजा बोले—'बेटा! तुम्हें विवेक प्राप्त हो गया है। तुम विविध कल्याणमय गुणोंके भाजन हो। तुम्हारे-जैसे पुरुष बड़े-बड़े लोगों, ब्राह्मणों तथा गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करते हुए ही पवित्र परमपद प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग मोहका अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं प्राप्त होता। वत्स! तभीतक आपत्तियाँ दुर्बल एवं तुच्छ होकर दूर रहती हैं (पास नहीं फटकने पातीं), जबतक मोहको फैलनेका अवसर नहीं दिया जाता।'

इसके बाद श्रीवसिष्ठजीने कहा—'महाबाहु राजकुमार! तुम बड़े शूरवीर हो। तुमने उन विषयरूपी शत्रुओंपर भी विजय पा ली है, जो दुःखकी परम्पराके उत्पादक तथा बड़ी कठिनाईसे नष्ट होनेवाले हैं। ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी तुम अज्ञानी मनुष्योंके योग्य विक्षेपरूपी अगणित तरङ्गमालाओंसे युक्त तथा आवरणरूपी जडतासे सुशोभित होनेवाले व्यामोहके समुद्रमें आत्मज्ञानशून्य पुरुषकी भाँति क्यों डूबे जा रहे हो?'

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—'राजकुमार! हिलते हुए नील कमलोंके समूहकी भाँति जो तुम्हारे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं, इसमें तुम्हारे चित्तकी व्यग्रता ही कारण है। इस व्यग्रताजनित नेत्रोंकी चञ्चलताको त्यागकर बताओ, क्यों मोहित हो रहे हो? तुम्हारे इस मोह अथवा भ्रमका क्या कारण है? निष्पाप श्रीराम! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसे शीघ्र बताओ। तुम्हें वह सब मनोरथ प्राप्त होगा, जिससे मानसिक व्यथाएँ फिर तुम्हें कष्ट नहीं पहुचायेंगी।'

उत्तम बुद्धिवाले विश्वामित्रजीका यह वचन, जिसके भीतर अपनी अभिलाषाके अनुरूप अर्थका प्रकाश निहित था, सुनकर रघुकुलकेतु श्रीरामने खेद त्याग दिया।

तदनन्तर श्रीरामजीने वैराग्यका प्रतिपादन करते हुए कहा—

श्रीराम उवाच

अहं तावदयं जातो निजेऽस्मिन् पितृसद्मनि।
क्रमेण वृद्धिं सम्प्राप्तः प्राप्तविद्यश्च संस्थितः॥
ततः सदाचारपरो भूत्वाहं मुनिनायक।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थमुर्वीमम्बुधिमेखलाम्॥
एतावताथ कालेन संसारास्थामिमां हरन्।
समुद्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः॥
विवेकेन परीतात्मा तेनाहं तदनु स्वयम्।
भोगनीरसया बुद्ध्या प्रविचारितवानिदम्॥

श्रीराम बोले—'मुनीश्वर! मैं अपने पिताजीके इस महलमें उत्पन्न हुआ, क्रमशः बढ़ा और फिर मैंने विद्या भी प्राप्त की। तत्पश्चात् सदाचारके पालनमें तत्पर रहकर तीर्थयात्राके उद्देश्यसे समुद्रोंद्वारा घिरी हुई सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया। इतने समयमें मेरे मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ, वह इस संसारविषयक आस्थाको उठा देनेवाला है। तीर्थयात्रा करनेके अनन्तर मेरा मन विवेकसे पूर्ण हो गया, जिससे मेरी बुद्धि भोगोंकी ओरसे नीरस (विरक्त) हो गयी और उसके द्वारा मैंने इस प्रकार विचारना आरम्भ किया।

किं नामेदं बत सुखं येयं संसारसंततिः ।
जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च ॥
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ।
आपदाम्पतयः पापा भावा विभवभूमयः ॥
असतैव वयं कष्टं विकृष्टा मूढबुद्धयः ।
मृगतृष्णाम्भसा दूरे वने मुग्धमृगा इव ॥
न केनचिच्च विक्रीता विक्रीता इव संस्थिताः ।
बत मूढा वयं सर्वे जानाना अपि शाम्बरम् ॥

'यह जो संसारका विस्तार है, इसमें क्या सुख है ? (कुछ भी तो नहीं है ।) क्योंकि इसमें जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे मरनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं और जो मरते हैं, वे जन्मके लिये ही मरते हैं । चर और अचर प्राणियोंकी चेष्टाओंके विषय तथा केवल वैभवकालमें ही रहनेवाले ये जितने भोगके साधनभूत पदार्थ हैं, सब-के-सब अस्थिर (क्षणभङ्गुर), आपत्तियोंके स्वामी (अर्थात् केवल विपत्तिमें ही डालनेवाले) तथा पापस्वरूप हैं । जैसे मरीचिकामें जल न होनेपर भी भ्रमसे उसे जल समझकर उसके द्वारा मोहित हुए मृग वनमें बड़ी दूरतक खिंचे चले जाते हैं, उसी प्रकार मूढबुद्धि लोग संसारके पदार्थोंमें सुख न होनेपर भी उनमें सुख मान बैठते हैं और उसीके लोभसे आकृष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं । यद्यपि यहाँ लोग किसीके द्वारा बेंचे नहीं गये हैं, तथापि बिके हुएके समान परवश हो रहे हैं । इस बातको जानते हुए भी कि यह सब कुछ मायाका खेल है, हम सब लोग मूढ़ बने बैठे हैं (इस मायासे मुक्त होनेका प्रयत्न नहीं करते)—यह कितने खेदकी बात है !

किमेतेषु प्रपञ्चेषु भोगा नाम सुदुर्भगाः ।
मुधैव हि वयं मोहात् संस्थिता बद्धभावनाः ॥
अज्ञातं बहुकालेन व्यर्थमेव वयं वने ।
मोहे निपतिता मुग्धाः श्वभ्रे मुग्धा मृगा इव ॥

किं मे राज्येन किं भोगैः कोऽहं किमिदमागतम् ।
यन्मिथ्यैवास्तु तन्मिथ्या कस्य नाम किमागतम् ॥
एवं विमृशतो ब्रह्मन् सर्वेष्वेव ततो मम ।
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव ॥

'संसारके इस प्रपञ्चमें जो अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण भोग दिखायी देते हैं, ये क्या हैं—इसपर विचार करना चाहिये । सब लोग व्यर्थ ही उनके मोहमें पड़कर भ्रान्तिवश अपनेको बद्ध मानकर बैठे हुए हैं । जैसे वनमें किसी गड्ढेके भीतर गिरे हुए मूढ़ मृग दीर्घकालके पश्चात् यह जान पाते हैं कि हम गड्ढेमें पड़े हैं, उसी प्रकार लोगोंने बहुत समयके बाद यह जाना है कि हम मूढ़ जीव व्यर्थ ही मोहमें पड़े हुए हैं । मुझे राज्यसे क्या लेना है और भोगोंसे भी क्या प्रयोजन है ? मैं कौन हूँ ? यह दृश्य प्रपञ्च क्या है और किस लिये सामने आया है ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे । उसके मिथ्या होनेसे किसकी क्या हानि होनेवाली है । ब्रह्मन् ! जैसे यत्र-तत्र भ्रमण करनेवाले पथिकको मरुभूमिसे विरक्ति हो जाती है, वैसे ही इस प्रकार विचार करते-करते सभी भोग्य पदार्थोंसे मेरी अरुचि हो गयी है ।

भोगैस्तैरेव तैरेव तुच्छैर्वयमसी किल ।
पश्य जर्जरतां नीता वातैरिव गिरिद्रुमाः ॥
अचेतना इव जनाः पवनैः प्राणनामभिः ।
ध्वनन्तः संस्थिता व्यर्थं यथा कीचकवेणवः ॥
मोहयन्ति मनोवृत्तिं खण्डयन्ति गुणावलिम् ।
दुःखजालं प्रयच्छन्ति विप्रलम्भपराः श्रियः ॥
चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे ।
सम्प्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥
विविधदोषदशापरिचिन्तनै-
र्विततभङ्गुरकारणकल्पितैः ।

न्द्रमाको ग्रस लेनेके लिये राहुकी दाढ़ है और ौजन्यरूपी कमलको संकुचित कर देनेके लिये चन्द्रमा-ी चाँदनी है। इतना ही नहीं, यह इन्द्र-धनुषके मान क्षणस्थायी विविध रंगों (रागों) के कारण नोहर जान पड़ती है तथा बिजलीके समान चपल था उत्पन्न होते ही नष्ट हो जानेवाली है। प्रायः ड[1] ही इसके आश्रय हैं। यह एक रूपसे कहीं क्षणभर ी नहीं ठहरती। पानीकी लहर और दीपककी लौके मान चञ्चल है तथा जिन्हें जानना अत्यन्त कठिन है, सी असंख्य दुर्दशाओंकी प्राप्ति करानेवाली है। यह न-सम्पत्ति मनोरम होनेके कारण चित्त-वृत्तिको अपनी ओर खींच लेती है। प्रायः अनर्थकारी कर्मोंसे इसकी ाप्ति होती है और प्राप्त होकर भी यह क्षणभरमें नष्ट ो जानेवाली है।

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम्।
उन्मत्तमिव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम्॥
विषयाशी विषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम्।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम्॥
ये तु विज्ञातविज्ञेया विश्रान्ता वितते पदे।
भावाभावसमाश्वाससमायुस्तेषां सुखायते॥
वयं परिमिताकारपरिनिष्ठितनिश्चयाः।
संसाराभ्रतडित्पुञ्जे मुने नायुषि निर्वृताः॥
पेलवं शरदीवाभ्रमस्नेह इव दीपकः।
तरङ्गक इवालोलं गतमेवोपलक्ष्यते॥
तरङ्गं प्रतिबिम्बेन्दुं तडित्पुञ्जं नभोऽम्बुजम्।
ग्रहीतुमास्थां बध्नामि न त्वायुषि हतस्थितौ॥
अविश्रान्तमनाः शून्यमायुराततमीहते।
दुःखायैव विमूढोऽन्तर्गर्भमश्वतरी यथा॥
संसारसंसृतावस्यां फेनोऽस्मिन् सर्गसागरे।
कायवल्ल्यम्भसो ब्रह्मन् जीवितं मे न रोचते॥
प्राप्यं सम्प्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते॥
तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेन न जीवति॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः॥

'मुने! जीवनकी आयु पत्तेके सिरेपर लटकते हुए जलबिन्दुके समान अस्थिर है। वह उन्मत्तके समान असमयमें ही इस कुत्सित शरीरको छोड़कर चल देती है। जिनका चित्त विषयरूपी विषधर सर्पोंके संसर्गसे सर्वथा जर्जर हो गया है और जिनमें प्रौढ़ आत्म-विवेक-का अभाव है, उन लोगोंकी आयु उन्हें क्लेश देनेवाली ही है। इसके विपरीत जो जानने योग्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) को जान चुके हैं और उस अपरिच्छिन्न ब्रह्म-पदमें प्रतिष्ठित हैं, ऐसे महापुरुषोंकी आयु लाभ-हानि एवं सुख-दुःखमें चित्तको समानभावसे सुस्थिर रखनेवाली होनेके कारण सुखदायिनी है। महर्षे! हमलोग नपे-तुले आकार-वाले शरीरमें ही 'यह आत्मा है' ऐसा निश्चय किये बैठे हैं। अतः संसाररूपी मेघमें बिजलीके समान चमककर विलुप्त हो जानेवाली इस क्षणभङ्गुर आयुमें हम सुखी नहीं हैं। शरदृतुके छिटफुट बादल, तेलरहित दीपक तथा जलकी तरङ्गके समान चञ्चल आयु गयी हुई ही देखी जाती है। तरङ्गको, जल आदिमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको, विद्युत्-पुञ्जको और आकाश-कमलको हाथसे पकड़नेका तो मैं विश्वास रख सकता हूँ, परंतु इस अस्थिर आयुपर मेरा कोई भरोसा नहीं है (असम्भव बातें भी भले ही सम्भव हो जायँ, पर आयुको पकड़े रखना असम्भव है)। जैसे खच्चरी दुःख भोगनेके लिये ही गर्भ-धारणकी इच्छा करती है, उसी प्रकार जिसका मन विश्रान्त (तृष्णाओंसे अत्यन्त उपरत) नहीं है, ऐसा मूर्ख मनुष्य कष्ट उठाने-के लिये ही व्यर्थ आयुका विस्तार (अधिक कालतक जीना) चाहता है। ब्रह्मन्! इस संसार-चक्रमें जो

---

१ यहाँ जडके दो अर्थ हैं—जल और मूर्ख। बिजलीका आश्रय जल होता है और धन-सम्पत्तिका आश्रय मूर्ख।

देहरूपी लता है, यह सृष्टिरूपी समुद्रके जलका विकार-भूत फेन ही है (क्योंकि उसीके समान अत्यन्त अस्थिर । अतः इसमें अधिक कालतक जीवित रहना मुझे नहीं लगता । वास्तवमें वही जीवन उत्तम जीवन गता है, जिससे अवश्य पाने योग्य वस्तु (परमात्म-ज्ञान) ाप्ति होती है, जिससे फिर शोक नहीं करना पड़ता जो परम निर्वाणरूप सुखका स्थान है । यों तो भी जीते हैं, पशु और पक्षी भी जीवित रहते हैं; ु वास्तवमें उसी पुरुषका जीवन सफल है, जिसका मननके द्वारा जीवित न रहे—अमनीभावको प्राप्त जाय । संसारमें उन्हीं जीवोंका जन्म लेना सफल और उन्हींका जीवन श्रेष्ठ है, जो फिर यहाँ जन्म हीं लेते । शेष प्राणी तो बूढ़े गदहोंके समान हैं जैसे गदहे अधिक कालतक जीनेपर भी उत्तम जीवन हीं बिताते, उसी प्रकार उन प्राणियोंका भी जीवन है, ो इस अपवित्र देहको ही आत्मा माने बैठे हैं) ।

भारोऽविवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥

रूपमायुर्मनोबुद्धिरहंकारस्तथेहितम् ।
भारो भारधरस्येव सर्वदुःखाय दुर्धियः ॥
अविश्रान्तमनापूर्णमापदां परमास्पदम् ।
नीडं रोगविहंगानामायुरायासनं दृढम् ॥
शरीरबिलविश्रान्तैर्विपदाहप्रदायिभिः ।
रोगैरापीयते रौद्रैर्व्यालैरिव वनानिलः ॥
प्रस्नुवानैरविच्छेदं तुच्छैरन्तरवासिभिः ।
दुःखैराव्रश्च्यते क्रूरैर्घुणैरिव जरद्द्रुमः ॥
नूनं निगरणायाशु घनगर्द्धमनारतम् ।
आखुर्मार्जारकेणेव मरणेनावलोक्यते ॥
स्थिरतया सुखभासितया तया
सततमुज्झितमुत्तमफल्गु च ।
जगति नास्ति तथा गुणवर्जितं
मरणभाजनमायुरिदं यथा ॥

(सर्ग १३–१४)

'अविवेकी मनुष्यके लिये शास्त्रोंका अध्ययन भाररूप है । रागी (विषयासक्त) पुरुषके लिये तत्त्वज्ञान भार है । अशान्त मनुष्यके लिये मन भार है तथा जो आत्मज्ञानसे शून्य है, उसके लिये शरीर भार है । जिसकी बुद्धि दूषित है, उस पुरुषके लिये रूप, आयु मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा—ये सब-के-सब उसी प्रकार दुःखदायक हैं, जैसे बोझ ढोनेवाले मनुष्यके लि उसके सिरका बोझ कष्टदायक होता है । आयु कठो परिश्रम एवं सुदृढ़ कष्टको ही देनेवाली है । इस श्रमकी निवृत्ति कभी नहीं होती, कामनाओंकी पूर्ति भी अभाव ही रहता है । यह आपत्तियोंका परम आश्र और रोगरूपी पक्षियोंका घोंसला है । जैसे बि विश्राम करनेवाले तथा विषके द्वारा संताप देनेव भयंकर सर्प वनकी वायुका पान करते हैं, उसी प्रक शरीररूपी बिलमें रहकर विषतुल्य दाह पैदा करनेव भीषण रोगरूपी सर्प जीवकी आयुका पान करते ं जैसे काठके छोटे-छोटे निर्दय कीड़े उसके भीतर रहकर पु पेड़को सदा काटते और उससे धूल-सी गिराते रहते उसी प्रकार सदा पीब, रक्त और मल बहानेवाले देहके भीतर निवास करनेवाले दोष, रोग आदि निरन्तर आयुका उच्छेद करते रहते हैं । बिल्ली चूहेको शीघ्र निगल जानेके लिये अभिलाषाके साथ निरन्तर उसकी ओर ताकती है, उसी प्रकार मृत्यु भी आयुको अपना ग्रास क लिये ही तीव्र लोभसे युक्त होकर सदा ताकमें बैठी रहती है । इस संसारमें यह आयु प्रकार स्थिरता और सुखके आभासके द्वार सदाके लिये परित्यक्त, अत्यन्त तुच्छ, गुणहीन मृत्युकी भाजन है, वैसी दूसरी कोई वस्तु नहीं

श्रीराम उवाच

अहंकारवशादेव दोषकोशकदर्थता ।
ददाति दीनदीनानां संसारो विविधाकृ

अहंकारवशादापदहंकाराद् दुराधयः ।
अहंकारवशादीहा त्वहंकारो ममामयः ॥
संसाररजनीदीर्घा माया मनसि मोहिनी ।
ततोऽहंकारदोषेण किरातेनेव वागुरा ॥
शमेन्दुसैंहिकेयास्यं गुणपद्महिमाशनिम् ।
साम्यमेघशरत्कालमहंकारं त्यजाम्यहम् ॥
नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु न च मे मनः ।
शान्त आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा॥
अहमित्यस्ति चेद् ब्रह्मन्नहमापदि दुःखितः ।
नास्ति चेत्सुखितस्तस्मादनहंकारिता वरम् ॥

अहंकार और चित्तके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'मुनिश्रेष्ठ ! यह अनेक रूपवाला संसार दीनोंसे भी दीन, विषयलम्पट लोगोंको अहंकारके वशीभूत होनेके कारण ही निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषोंके कोशरूप क्लेशकी प्राप्ति कराता रहता है । अहंकारके वशमें होनेसे ही मनुष्यपर आपत्ति आती है—उसे शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं । अहंकारसे ही अनेक दुःखद मानसिक व्यथाएँ होती हैं तथा अहंकारसे ही इच्छा अथवा दुश्चेष्टाएँ होती हैं । जैसे बहेलियेके द्वारा मृगोंको पकड़नेके लिये बहुत बड़ा जाल बिछाया जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी दोषके कारण संसाररूपी अँधेरी रातमें जीवोंके मनको मोहित करनेवाली विशाल माया बिछी हुई है । अहंकार शान्तिरूपी चन्द्रमाको निगलनेके लिये राहुका मुख है, गुणरूपी कमलोंका विनाश करनेके लिये हिमरूप वज्र है और सब भूतोंमें समदर्शितारूपी मेघका विध्वंस करनेके लिये शरद् ऋतु है । ऐसे अहंकारका मैं त्याग करता हूँ ।* न मैं अमुक नामवाला हूँ, न विषयोंमें मेरी रुचि है और न मन ही मेरा है । मैं शान्त होकर मनको जीतनेवाले महात्मा पुरुषकी भाँति अपने-आपमें ही स्थित रहना चाहता हूँ । ब्रह्मन् ! यदि अहंकार रहता है तो आपत्तिकालमें मुझे दुःख होता है और यदि नहीं रहता तो मैं निरन्तर सुखका अनुभव करता हूँ । इसलिये अहंकाररहित होना ही श्रेष्ठ है ।

अहंकारं परित्यज्य मुने शान्तमनस्तया ।
अवतिष्ठे गतोद्वेगो भोगौघो भङ्गुरास्पदः ॥
इह देहमहारण्ये घनाहंकारकेसरी ।
योऽयमुल्लसति स्फारस्तेनेदं जगदाततम् ॥
पुत्रमित्रकलत्रादि तन्त्रमन्त्रविवर्जितम् ।
प्रसारितमनेनेह मुनेऽहंकारवैरिणा ॥
प्रमार्जितेऽहमित्यस्मिन् पदे स्वयमपि द्रुतम् ।
प्रमार्जिता भवन्त्येते सर्व एव दुराधयः ॥
अहमित्यम्बुदे शान्ते शनैश्च शमशातिनी ।
मनोगगनसंमोहमिहिका क्वापि गच्छति ॥
सर्वापदां निलयमध्रुवमन्तरस्थ-
मुन्मुक्तमुत्तमगुणेन न संश्रयामि ।
यत्नादहंकृतिपदं परितोऽतिदुःखं
शेषेण मां समनुशाधि महानुभाव ॥

'मुने ! मैं अहंकारका सर्वथा त्याग करके शान्तचित्त हो उद्वेगशून्य होकर बैठा रहता हूँ; क्योंकि भोगोंके समूहका आधार ही क्षणभङ्गुर है । इस देहरूपी विशाल वनमें जो घनीभूत अहंकाररूपी मोटा-ताजा सिंह है, उसीने इस जगत्का विस्तार किया है (इसे अपनी क्रीडास्थली बनाया है) । मुने ! जैसे शत्रु किसीको मारनेके लिये मन्त्र-तन्त्रके द्वारा मारण-उच्चाटन आदिका जाल फैलाता है, उसी प्रकार जीवका पतन करनेके लिये बिना तन्त्र-मन्त्रके ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके जाल फैला रक्खे हैं । इस अहंकारका मूलोच्छेदपूर्वक नराकरण कर देनेपर ये सभी मानसिक दुश्चिन्ताएँ

* जैसे चन्द्रमाको राहु निगल जाता है, कमलोंको हिम या ओलोंकी वर्षा नष्ट कर देती है और शरद् ऋतु मेघोंका विध्वंस कर डालती है, उसी प्रकार अहंकार शान्ति, क्षमा, दया आदि गुणों तथा प्राणिमात्रमें समभावको नष्ट कर देता है ।

तुरंत अपने-आप विलीन हो जाती हैं। अहंकाररूपी बादलके फट जानेपर शान्तिका विनाश करनेवाला एवं चित्ताकाशमें छाया हुआ महान् मोहरूपी कुहासा धीरे-धीरे न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। महानुभाव मुनीश्वर! जो सम्पूर्ण आपत्तियोंका घर, शान्ति आदि उत्तम गुणोंसे रहित तथा हृदयके भीतर निवास करनेवाला है, उस अनित्य अहंकारका मैं आश्रय नहीं लेना चाहता (उसके अधीन होना नहीं चाहता)। अपने सुदृढ़ विवेकके द्वारा मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि यह अहंकार नामक वस्तु सब ओरसे अतिशय दुःखरूप ही है। अतः अब मेरे लिये जो कुछ भी कर्तव्य शेष रह गया हो, उसे बताते हुए आप मुझे अध्यात्म-विषयक उपदेश दीजिये।

वातान्तःपिच्छलववच्चेतश्चलति चञ्चलम्॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति।
दूराद् दूरतरं दीनं ग्रामे कौलेयको यथा॥
न प्राप्नोति क्वचित्किंचित् प्राप्तैरपि महाधनैः।
नान्तः सम्पूर्णतामेति करण्डक इवाम्बुभिः॥
नित्यमेव मुने शून्यं कदाशावागुरावृतम्।
न मनो निर्वृतिं याति मृगो यूथादिव च्युतः॥
मनो मननविक्षुब्धं दिशो दश विधावति।
मन्दराहननोद्भूतं क्षीरार्णवपयो यथा॥

'मुनीश्वर! जैसे वायुके प्रवाहमें पड़कर मोर-पंखका अग्रभाग वेगसे हिलता रहता है, उसी प्रकार यह चञ्चल चित्त भी अत्यन्त व्यग्र होकर व्यर्थ ही इधर-उधर दौड़ता रहता है। जैसे कुत्ता अपना पेट भरनेके लिये व्याकुल हो गाँवोंमें दूर-से-दूरतकके घरों या स्थानोंका चक्कर लगाया करता है, वही दशा इस चञ्चल मनकी है। इसे कहीं भी कोई अनुकूल वस्तु नहीं प्राप्त होती। इसलिये वह दीन बना रहता है। यदि इसे कभी विशाल धनका भंडार प्राप्त हो जाय, तो भी यह भीतरसे तृप्त नहीं होता। जैसे [illegible] बेंतकी बनी हुई पिटारी कभी जलसे नहीं भरत[illegible] प्रकार धनसे मनुष्यका जी नहीं भरता। मुने[illegible] अपने झुंडसे बिछुड़कर जालमें जकड़े हुए मृगव[illegible] सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार समस्त साधनोंरे[illegible] (एवं सत्सङ्गरहित) मन सदा दुर्वासनाओंके जाल[illegible] रहता है। इसलिये उसे कभी सुख और संतोष [illegible] होता। विषयोंके चिन्तनसे अत्यन्त क्षोभको प्रा[illegible] यह मन मन्दराचलके आघातसे उछलती हुई क्षी[illegible] दुग्धराशिके समान दसों दिशाओंमें दौड़ता या फिरता है, किंतु कहीं भी शान्ति नहीं पाता।

भोगदूर्वाङ्कुराकाङ्क्षी श्वभ्रपातमचिन्त[illegible]
मनोहरिणको ब्रह्मन् दूरं विपरिधाव[illegible]
चेतश्चञ्चलया वृत्त्या चिन्तानिचयचञ्[illegible]
धृतिं बध्नाति नैकत्र पञ्जरे केसरी [illegible]
मनो मोहरथारूढं शरीरात् समताप्[illegible]
हरत्यपहतोद्वेगं हंसः क्षीरमिवाम्[illegible]
वह्नेरुष्णतरः शैलादपि कष्टतर[illegible]
वज्रादपि दृढो ब्रह्मन् दुर्निग्रहमनो[illegible]
चेतः पतति कार्येषु विहगः स्वामिषे[illegible]
क्षणेन विरतिं याति बालः क्रीडनक[illegible]

'ब्रह्मन्! जैसे मृग गड्ढेमें गिरनेकी [illegible] न करके हरी-हरी दूब चरनेकी इच्छासे बहुत दूरतक दौड़ लगाता रहता है, उसी मन नरकके गर्तमें गिरनेकी परवा न करके आशासे बड़ी दूरतक चक्कर लगाता रहता भाँतिके मनसूबे बाँधता रहता है)। जै[illegible] बंद किया हुआ सिंह चिन्ताके कारण स्थिर होकर नहीं रहता, उसी तरह ना[illegible] चिन्ताओंसे अत्यन्त चपल हुआ मन [illegible] वृत्तिके कारण कहीं स्थिर नहीं रह पात[illegible]

जलसे दूधको निकाल लेता है, वैसे ही मोहरूपी रथपर आरूढ हुआ यह मन भी इस शरीरसे उद्वेगशून्य समताके सुखका अपहरण कर लेता है। ब्रह्मन्! मनरूपी ग्रह (भूत) अग्निसे भी अधिक उष्ण है। उसके ऊपर चढ़ना पर्वतपर चढ़नेसे भी अधिक कठिन है तथा वह वज्रसे भी बढ़कर कठोर है। उसको वशमें लाना बहुत ही कठिन है। जैसे मांसभक्षी पक्षी मांसपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध होनेवाले विषयोंकी ओर दौड़ पड़ता है। परंतु जैसे बालक पहले तो खिलौनेकी ओर ललकता है, फिर उसे पाकर थोड़ी ही देरमें उससे मुँह मोड़ लेता है, उसी तरह यह मन प्राप्त हुए विषयसे क्षणभरमें ही विरत हो जाता है (और नये-नये विषयकी खोज करने लगता है)।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि।
अपि वह्न्यशनात् साधो विषमश्चित्तनिग्रहः॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम्।
तस्मिन् क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः॥
चित्तादिमानि सुखदुःखशतानि नून-
मभ्यागतान्यगवरादिव काननानि।
तस्मिन् विवेकवशतस्तनुतां प्रयाते
मन्ये मुने निपुणमेव गलन्ति तानि॥
सकलगुणजयाशा यत्र बद्धा महद्भि-
स्तमरिमिह विजेतुं चित्तमभ्युत्थितोऽहम्।
विगतरतितयान्तर्नाभिनन्दामि लक्ष्मीं
जडमलिनविलासां मेघलेखामिवेन्दुः॥
(सर्ग १५-१६)

'समुद्रको पी जाना, सुमेरु पर्वतको जड़से उखाड़ फेंकना तथा अग्निका भक्षण करना—ये महान् एवं दुस्साध्य कार्य हैं। परंतु चञ्चल चित्तको वशमें कर लेना इनसे भी महान् एवं कठिन कार्य है। सम्पूर्ण पदार्थोंका कारण चित्त ही है। जबतक चित्त है, तभी तीनों लोकोंकी सत्ता है; उसके क्षीण होते ही [illegible] क्षीण हो जाता है। इसलिये इस चित्तरूपी रो[illegible] यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। मुने! जैसे म[illegible] पर्वतसे अनेकानेक वनों एवं काननोंकी उत्पत्ति होती [illegible] उसी प्रकार मनसे ये सैकड़ों सुख-दुःख पैदा हुए हैं [illegible] इसमें संशय नहीं है। अध्यात्मविषयक विवेकसे [illegible] यह मन दुर्बल हो जाता है, तब ये सारे सुख-[illegible] निश्चय ही पूर्णरूपसे गल जाते हैं—ऐसा मेरा वि[illegible] है। महान् मुमुक्षु पुरुष जिसके जीते जानेपर [illegible] दम, क्षमा, दया, समता, शान्ति, संतोष, सर[illegible] आदि समस्त सद्गुणोंके स्वाधीन होनेकी आशा ब[illegible] रहे हैं, उस चित्तरूप शत्रुको जीतनेके लिये मैं [illegible] प्रकारसे उद्यत हुआ हूँ। अतएव जैसे चन्द्रमा मेघमाल[illegible] अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार मैं तीव्र वैरा[illegible] सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण जड और म[illegible] विलासवाली लक्ष्मीका अभिनन्दन नहीं करता।'

श्रीराम उवाच

हार्दान्धकारशर्वर्या तृष्णयेह दुरन्तया।
स्फुरन्ति चेतनाकाशे दोषकौशिकपङ्क्तयः।
वचोरचितनीहारा काञ्चनोपवनोज्ज्वला।
नूनं विकासमायाति चिन्ताचणकमञ्जरी॥
अलमन्तर्भ्रमायैव तृष्णा तरलिताशया।
आयाता विषमोल्लासभूमिरम्बुनिधाविव॥
वेगं संरोद्धुमुदितो वात्ययेव जरत्तृणम्।
नीतः कलुषया क्वापि तृष्णया चित्तचातकः॥
गन्तुमास्पदमात्मीयमसमर्थधियो वयम्।
चिन्ताजाले विमुह्यामो जाले शकुनयो यथा॥

तृष्णाकी निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'मुनीश्वर! चेतन जी[illegible] रूपी आकाशमें हृदयके अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण दुर[illegible]

तृष्णारूपिणी रात्रिका सहारा पाकर नाना प्रकारके दोषरूपी उल्लुओंकी जमातें क्रियाशील हो उठती हैं। जैसे रातमें ओसके कणोंसे अभिषिक्त तथा आस-पासके उपवनोंमें खिले हुए काञ्चन पुष्प (धतूरेके फूल) की उज्ज्वल शोभासे सुशोभित चनेकी बालें निश्चय ही अधिक विकासको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार अनेक तरहके दुःखमय विलापोंसे प्रकट हुए अश्रुबिन्दुओंसे आर्द्र तथा निकटवर्ती सुवर्ण आदिकी अभिलाषाद्वारा उज्ज्वल हुई चिन्ता या तृष्णा अवश्य अधिकाधिक ---ने लगती है। जैसे समुद्रके भीतर भँवर एवं हलचल ...न करनेके लिये ही तरङ्गें उठा करती हैं, उसी ...इ हृदयको चञ्चल बना देनेवाली तृष्णा अन्तःकरणमें ...न एवं आकुलता पैदा करनेके लिये ही उस सीमातक ... पहुँचती है, जहाँ वह धनादिकी प्राप्तिके लिये कष्टप्रद ...त्साहको बढ़ावा देती है। यद्यपि तृष्णाके वेगको ...कनेके लिये यह चित्तरूपी चातक नाना प्रकारकी ...चेष्टाएँ करता है, तथापि जैसे आँधी सड़े-गले तिनकेको न जाने कहाँ-से-कहाँ उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार कलङ्किनी तृष्णाने इसे न जाने कहाँ—किस अयोग्य अवस्थामें पहुँचा दिया। जैसे जालमें फँसे हुए पक्षी अपने घोंसलेमें जानेकी शक्तिसे वञ्चित हो वहीं शोक—दुःखसे मोहित हो जाते हैं, वैसे ही हमलोग चिन्ता या तृष्णा-जालमें फँसकर अपने पारमार्थिक स्वरूपको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो मोहमें डूबे रहते हैं।

दूरं दूरमितो गत्वा समेत्य च पुनः पुनः।
भ्रमत्याशु दिगन्तेषु तृष्णोन्मत्ता तुरंगमा॥
जडसंसर्गिणी तृष्णा कृतोर्ध्वाधोगमागमा।
क्षुब्धा ग्रन्थिमती नित्यमारघट्टाग्ररज्जुवत्॥
अन्तर्ग्रथितया देहे सर्वदुश्छेदयानया।
रज्ज्वेवाशु बलीवर्दस्तृष्णया वाह्यते जनः॥
पुत्रमित्रकलत्रादि तृष्णया नित्यकृष्टया।
खगेष्विव किरात्येदं जालं लोकेषु रच्यते॥

भीषयत्यपि धीरं मामन्धयत्यपि सेक्षणम्।
खेदयत्यपि सानन्दं तृष्णा कृष्णेव शर्वरी॥

'तृष्णा एक पागल घोड़ीके समान है, जो यहाँसे दूर-दूर जाकर बारंबार लौट आती और फिर तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काटने लगती है। जैसे घटीयन्त्र (रहट) के ऊपर लगी हुई रस्सी घड़ेके साथ सदा ऊपर-नीचे आती रहती है, जड अर्थात् जलसे सम्बन्ध रखती है, अपने भीतर गाँठें रखती है और चञ्चल बनी रहती है, उसी तरह यह तृष्णा धर्म और अधर्मके अनुसार सदा स्वर्ग और नरकमें गमनागमन कराती, चेतन और जडकी ग्रन्थिसे जुड़ी रहती, जड पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती और सदा विक्षुब्ध बनी रहती है। जो देहके भीतर मनमें गुँथी हुई है, जिसका छेदन करना प्रायः सभीके लिये अत्यन्त कठिन है, उस तृष्णाके द्वारा मनुष्य उसी प्रकार शीघ्र भारवाही बना लिया जाता है, जैसे रासकी रस्सी बैलको तत्काल भार ढोनेके लिये विवश कर देती है। जैसे बहेलियेकी स्त्री पक्षियोंको फँसानेके लिये जाल बनाती है, उसी प्रकार सदा आकर्षणशील स्वभाववाली तृष्णा लोगोंको फँसानेके लिये स्त्री, पुत्र और मित्र आदिकी परम्परा रचती रहती है। यद्यपि मैं धीर हूँ, तथापि भयानक काली रातके समान तृष्णा मुझे भयभीत-सा कर देती है। विवेकरूपी नेत्रसे सम्पन्न हूँ, तो भी वह मुझे अंधा-सा कर देती है और सच्चिदानन्दघनरूप होनेपर भी मुझे वह मानो खेदमें डाल देती है।

कुटिला कोमलस्पर्शा विषवैषम्यदा।
दशत्यपि मनाक् स्पृष्टा तृष्णा कृष्णेव भोगिनी॥
भिन्दती हृदयं पुंसां मायामयविधायिनी।
दौर्भाग्यदायिनी दीना तृष्णा कृष्णेव राक्षसी॥
नित्यमेवातिमलिना कटुकोन्माददायिनी।
दीर्घतन्त्री घनस्नेहा तृष्णा गहनवल्लरी॥

अनानन्दकरी शून्या निष्फला व्यर्थमुन्नता।
अमङ्गलकरी क्रूरा तृष्णा क्षीणेव मञ्जरी॥
जराकुसुमिताऽऽरूढा पातोत्पातफलावलिः।
संसारजङ्गले दीर्घे तृष्णा विपलता तता॥

'तृष्णाको काली नागिनके समान समझना चाहिये। वह सहस्रों कुटिलताओंसे भरी हुई है। विषय-भोग-सुख ही उसका कोमल स्पर्श है। वह विषमतारूपी विषको ही उगलती है और तनिक-सा स्पर्श हो जानेपर भी डँस लेती है (अपने सम्पर्कमें आये हुए प्राणीका नाश कर देती है*)। इतना ही नहीं, तृष्णा काली-कलूटी राक्षसीके समान भी बतायी गयी है। वह पुरुषोंके हृदयका भेदन करनेवाली तथा मायामय जगत्को रचनेवाली है। दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली तथा दीनताकी प्रतिमूर्ति है। पर्वतकी गुफाओंमें एक प्रकारकी लता होती है, जो सूर्य-किरणोंके न मिलनेसे [illegible] अत्यन्त मलिन रहती है। वह खानेमें कड़वी और [illegible] उन्मादका रोग पैदा करनेवाली है। उसकी [illegible] बहुत लंबी होती है और उसमें रसकी मात्रा अधिक रहती है। यह तृष्णा भी उसी लताके समान निरन्तर अत्यन्त मलिन, परिणाममें दुःखसे पागल बना देनेवाली, वासनारूपी विशाल ताँतोंसे युक्त तथा विषयोंमें गहरा स्नेह पैदा करनेवाली है। जैसे ऊँचे वृक्षोंकी शाखाके अग्रभागमें स्थित सूखी हुई मञ्जरी पुष्पशून्य, निष्फल तथा कण्टकाकीर्ण होनेके कारण आनन्ददायिनी नहीं होती, उसी प्रकार तृष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तारको प्राप्त होनेवाली, अमङ्गलकारिणी और क्रूर है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती। संसाररूपी विशाल वनमें तृष्णारूपिणी विषकी बेल फैली हुई है। जरा-मृत्यु आदि ही इसके फूल तथा विनिपात और उत्पात (अधःपतन और उपद्रव) ही फल हैं।

भृशं स्फुरति नीहारे शाम्यत्यालोक आगते।
दुर्लङ्घ्येषु पदं धत्ते चिन्ता चपलबर्हिणी॥
जडकल्लोलबहुला चिरं शून्यान्तरान्तरा।
क्षणमुल्लाससमायाति तृष्णा प्रावृट्तरङ्गिणी॥
नष्टमुत्सृज्य तिष्ठन्तं तृष्णा वृक्षमिवापरम्।
पुरुषात् पुरुषं याति तृष्णा लोलेव पक्षिणी॥

'मुने! चिन्ता (तृष्णा) चञ्चल मोरनीके समान है। मोरनी वर्षाकी बूँदें पड़नेपर बारंबार नृत्य करती है, शरद्ऋतुका प्रकाश आ जानेपर शान्त हो जाती है और दुर्गमस्थानोंमें भी पैर रखती है; इसी तरह तृष्णा भी कुहरेके समान मोहके आवरणमें स्फुरित होती है—नाच उठती है, विवेकका प्रकाश छा जानेपर शान्त हो जाती है और असाध्य वस्तुओंमें भी पाँव रख देती है। केवल वर्षाकालमें इतराकर बहनेवाली छोटी नदी और तृष्णामें बहुत कुछ समानता है। वह नदी वर्षाके अतिरिक्त समयमें चिरकालतक जलशून्य पड़ी रहती है। वर्षाऋतुमें भी बीच-बीचमें जब वृष्टि रुक जाती है, वह जलसे खाली हो जाती है; परंतु पानी बरसनेपर उसमें क्षणभरमें बाढ़ आ जाती है और उसमें जलकी बहुत-सी उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं। इसी प्रकार तृष्णा भी चिरकालतक फलशून्य ही रहती है, कभी-कभी सफल होनेपर भी बीच-बीचमें फलशून्य हो जाती है। जड पदार्थोंमें ही इसे अधिक आनन्द मिलता है और क्षणभरमें ही यह उल्लसित हो उठती है। चारेके लोभसे चञ्चल हुई चिड़िया जैसे फलशून्य खड़े हुए वृक्षको छोड़कर दूसरे-दूसरे फलयुक्त वृक्षपर चली जाती है, उसी प्रकार तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुषको छोड़कर विषयासक्त पुरुषके पास चली जाती है।

पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्तापि फलमीहते।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी॥

* नागिनकी भी चाल टेढ़ी और स्पर्श कोमल होता है तथा वह थोड़ा-सा छू जाय, तो भी छूनेवालेको डँसकर मार डालती है।

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥
सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैका दीर्घदुःखदा ।
अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥
प्रयच्छति परं जाड्यं परमालोकरोधिनी ।
मोहनीहारगहना तृष्णाजलदमालिका ॥
सर्वेषां जन्तुजातानां संसारव्यवहारिणाम् ।
परिप्रोतमनोमाला तृष्णा बन्धनरज्जुवत् ॥
विचित्रवर्णा विगुणा दीर्घा मलिनसंस्थितिः ।
शून्या शून्यपदा तृष्णा शक्रकार्मुकधर्मिणी ॥
अशनिर्गुणसस्यानां फलिता शरदापदाम् ।
हिमं संवित्सरोजानां तमसां दीर्घयामिनी ॥

'तृष्णा और चञ्चल बँदरिया—दोनोंका स्वभाव एक-जैसा है। वह अलङ्घ्य स्थानमें भी पैर रख देती है, तृप्त हो जानेपर भी नये-नये फलकी इच्छा करती है और विषयरूप एक स्थानपर अधिक कालतक नहीं ठहरती। तृष्णा हृदयरूपी कमलमें निवास करनेवाली भ्रमरी है। यह क्षणभरमें पातालको चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाशकी सैर करने लगती है और क्षणभरमें ही दिगन्तरूपी निकुञ्जमें मँडराती दिखायी देती है। संसारमें जितने दोष हैं, उन सबमें एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घकालतक दुःख देती रहती है। वह अन्तःपुरमें रहनेवाले मनुष्यको भी भीषण संकटमें डाल देती है। तृष्णारूपिणी मेघमाला मोहरूपी नीहार-पुञ्जसे घनीभूत होकर परम ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशको ढँक देती है और जगत्को केवल जडता (जल अथवा अज्ञान) ही प्रदान करती है। तृष्णा सांसारिक व्यवहारमें फँसे हुए समस्त प्राणियोंको बाँधनेके लिये एक मजबूत रस्सीके समान है। उसने सबके मनोंको बाँध रक्खा है। इन्द्रधनुष जिन लक्षणों अथवा धर्मोंसे युक्त दिखायी देता है, वे ही तृष्णाके भी लक्षण अथवा धर्म हैं। वह इन्द्र-धनुषकी ही भाँति बहुरंगी, गुणहीन[1], विशाल, मलिन (मेघ अथवा अशुद्ध अन्तःकरणवाले प्राणीके) आधारपर स्थित, शून्यरूप और शून्यमें ही पैर रखनेवाली है। तृष्णा गुणरूपी हरी-भरी खेतीको नष्ट करनेके लिये वज्रपातके समान है। आपत्तियोंको बढ़ानेके लिये उस शरद्-ऋतुके तुल्य है, जिसके आनेपर धान आदिकी खेती पकी हुई बालोंसे सम्पन्न हो जाती है। तत्त्व-ज्ञानरूपी कमलोंका विध्वंस करनेके लिये ओलेके सदृश और अज्ञानरूपी अन्धकारकी वृद्धिके लिये वह हेमन्तकी लंबी रातके समान है।

संसारनाटकनटी कार्यालयविहंगमी ।
मानसारण्यहरिणी स्मरसंगीतवल्लकी ॥
व्यवहाराब्धिलहरी मोहमातङ्गशृङ्खला ।
सर्गन्यग्रोधसुलता दुःखकैरवचन्द्रिका ॥
जरामरणदुःखानामेका रत्नसमुद्गिका ।
आध्व्याधिविलासानां नित्यं मत्ता विलासिनी ॥
क्षणमालोकविमला सान्धकारलवा क्षणम् ।
व्योमवीथ्युपमा तृष्णा नीहारगहना क्षणम् ॥
गच्छत्युपशमं तृष्णा कायव्यायामशान्तये ।
तमी घनतमःकृष्णा यथा रक्षो निवृत्तये ॥
तावन्मुह्यत्ययं मूको लोको विलुलिताशयः ।
यावदेवानुसंधत्ते तृष्णा विषविषूचिका ॥

'तृष्णा इस संसाररूपी नाटककी नटी है, प्रवृत्तिरूप नीडमें निवास करनेवाली पक्षिणी है, मनोरथरूपी महान् वनमें विचरनेवाली हरिणी है और कामरूपी संगीतको उद्बुद्ध करनेवाली वीणा है। वह व्यवहाररूपी समुद्रकी लहर है। मोहरूपी मतवाले गजराजको बाँधे रखनेके लिये साँकल है, सृष्टिरूपी वटवृक्षकी सुन्दर बरोह है और दुःखरूपी कुमुदोंको विकसित करनेवाली चाँदनी

१—इन्द्रधनुषके पक्षमें 'गुण'का अर्थ प्रत्यञ्चा है।

है। इतना ही नहीं, तृष्णा जरा-मृत्युरूप दुःखमय रत्नोंका संग्रह करनेके लिये एकमात्र पेटिका है तथा आधि-व्याधिरूप विलासोंका नित्य विस्तार करनेवाली मदमत्त विलासिनी है। तृष्णाको व्योमवीथी (आकाश) के समान समझना चाहिये। जैसे आकाश कभी सूर्यके प्रकाशसे निर्मल हो जाता है, कभी मेघोंकी घटा घिर आनेसे वहाँ कुछ क्षणोंके लिये कुछ-कुछ अँधेरा छा जाता है और कभी वह कुहरेसे ढक जाता है, उसी प्रकार तृष्णा भी कभी किंचित् विवेकका प्रकाश पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होनेपर अज्ञानसे मलिन रहती है और कभी कुहरेके समान मोहसे आवृत हो जाती है। जैसे घने अन्धकारसे युक्त कृष्णपक्षकी रात्रि राक्षसोंके संचारकी निवृत्तिके लिये बीत जाती है, उसी प्रकार तृष्णा देह-प्रयुक्त आयास (आवागमनरूपी कष्ट) की शान्तिके लिये नष्ट हो जाती है। अर्थात् तृष्णाक्षयसे ही मुक्ति प्राप्त होती है। जबतक विष-विशेषके उद्भवसे प्रकट होनेवाले विषूचिका (हैजा) नामक रोगके समान मृत्युकी हेतुभूता तृष्णा पीछे लगी रहती है, तभीतक यह चञ्चल-चित्त मूढ़ जनसमुदाय मोहको प्राप्त होता रहता है।

लोकोऽयमखिलं दुःखं चिन्तयोज्झितयोज्झति।
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि कथ्यते॥
अन्तःशून्या ग्रन्थिमत्यो दीर्घस्वाङ्कुरकण्टकाः।
मुक्तामणिप्रिया नित्यं तृष्णा वेणुलता इव॥
अहो बत महच्चित्रं तृष्णामपि महाधियः।
दुश्छेदामपि कृन्तन्ति विवेकेनामलासिना॥
नासिधारा न वज्रार्चिर्न तप्तायःकणार्चिषः।
तथा तीक्ष्णा यथा ब्रह्मंस्तृष्णेयं हृदि संस्थिता॥
उज्ज्वलासिततीक्ष्णाग्रा स्नेहदीर्घदशापरा।
प्रकाशा दाहदुःस्पर्शा तृष्णा दीपशिखा इव॥

अपि मेरुसमं प्राज्ञमपि शूरमपि स्थिरम्।
तृणीकरोति तृष्णैका निमेषेण नरोत्तमम्॥
(सर्ग १७)

'लोग विषयोंका चिन्तन त्याग देनेसे ही अपने सम्पूर्ण दुःखको दूर कर सकते हैं। विषयचिन्तनका त्याग ही तृष्णारूपिणी विषूचिकाके निवारणका मन्त्र कहा गया है। तृष्णा वेणुलता (बाँस) के समान बतायी जाती है। जैसे बाँस भीतरसे खोखला, बीच-बीचमें गाँठोंसे युक्त और कोंपलरूपी बड़े-बड़े काँटोंसे भरा होता है तथा उसमें सबको प्रिय लगनेवाले मोती उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तृष्णा भी भीतरसे खोखली, कपट-दुराग्रह आदि गाँठोंसे भरी, चिन्ता और दुःखरूपी कण्टकोंसे परिपूर्ण तथा मोती-मणि आदि धन-सम्पत्तियोंसे अधिक प्रेम रखनेवाली है। फिर भी यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परम बुद्धिमान् ज्ञानीजन विवेककी चमचमाती हुई तलवारसे उस दुश्छेद्य चिन्ताको भी काट डालते हैं। ब्रह्मन्! जीवोंके हृदयमें रहनेवाली यह तृष्णा जैसी तीखी है, वैसी तीखी न तो तलवारकी धार है, न वज्राग्निकी लपटें हैं और न आगमें तपाये हुए लोहकणोंकी चिनगारियाँ ही हैं। तृष्णा दीप-शिखाके समान कही गयी है। जैसे दीपककी शिखा बीचमें उज्ज्वल, अन्तमें काली होती है, उसका अग्रभाग तीखा होता है, उसमें तेल और लंबी-सी बत्ती रहती है, वह प्रकाशमान होती है और दाहके कारण उसका स्पर्श दुस्सह होता है, उसी प्रकार तृष्णा भी बीचमें भोग-वैभवसे उज्ज्वल और अन्तमें दुःख एवं मृत्यु देनेवाली होनेके कारण काली होती है, उसका अग्रभाग या आरम्भ भी असह्य होता है। वह स्त्री-पुत्र आदिके स्नेहसे पूर्ण तथा बाल्य, यौवन, बुढ़ापा नामक अवस्था-विशेषरूपी बत्तियोंसे युक्त होती है—इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा इष्ट वस्तुके वियोगजनित
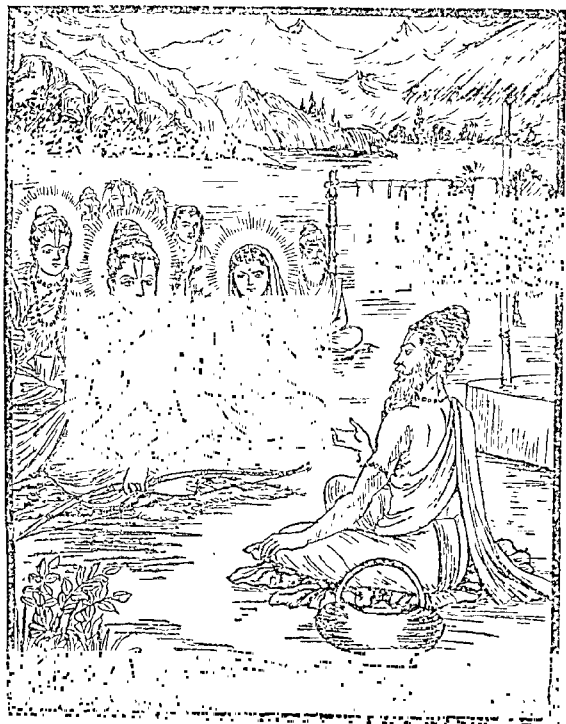
सुतीक्ष्णके आश्रममें

[पृष्ठ २४८

भरद्वाजके भाईके आश्रममें

[पृष्ठ २५०

अगस्त्यके आश्रममें

[पृष्ठ २५२

पंचवटी आश्रममें

[पृष्ठ २६०

भरतको उपदेश [पृष्ठ २६१

भरतको पादुका-दान [पृष्ठ १२२

भरद्वाजके आश्रममें [पृष्ठ २४५

वाल्मीकिके आश्रममें [पृष्ठ २४६

अन्तर्दाह उत्पन्न करनेके कारण यह सबके लिये असह्य हो उठती है। महर्षे! मेरु पर्वतके समान परम उन्नत, विद्वान्, शूरवीर, सुस्थिर और श्रेष्ठ मनुष्यको भी अकेली यह तृष्णा ही पलभरमें याचक बनाकर तिनकेके समान हल्का कर देती है।'

शरीर-निन्दा

श्रीराम उवाच

आर्द्रान्त्रतन्त्रीगहनो विकारी परिपातवान्।
देहः स्फुरति संसारे सोऽपि दुःखाय केवलम्॥
स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदिताम्।
नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणबहिष्कृतः॥
भुजशाखो घनस्कन्धो द्विजस्तम्भशुभस्थितिः।
लोचनालिबिलाक्रान्तः शिरःपीठबृहत्फलः॥
श्रवदन्तरसग्रस्तो हस्तपादसुपल्लवः।
गुल्मवान् कार्यसंघातो विहंगमकृतास्पदः॥
सच्छायो देहवृक्षोऽयं जीवपान्थगणास्पदः।
कस्यात्मीयः कस्य पर आस्थानास्थे किलात्र के॥
तात संतरणार्थेन गृहीतायां पुनः पुनः।
नावि देहलतायां च कस्य स्यादात्मभावना॥
देहनाम्नि वने शून्ये बहुगर्त्तसमाकुले।
तनूरुहासंख्यतरौ विश्वासं कोऽधिगच्छति॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'महामुने! गीली आँतों (मल-मूत्र आदिकी थैलियों) और नाड़ियोंसे भरा हुआ, नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त तथा अन्तमें पतनशील (मरणधर्मा) जो शरीर संसारमें सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःख भोगनेके लिये ही है। यह थोड़े-से खान-पान आदिके द्वारा ही आनन्दित हो उठता है और थोड़े-से ही शीत, घाम आदिसे खिन्न हो जाता है; अतः इस शरीरके समान गुणहीन, शोचनीय और अधम दूसरा कोई नहीं है। यह शरीर वृक्षके तुल्य है। दोनों भुजाएँ इसकी दो शाखाएँ हैं, परिपुष्ट कंधा तना है। दो नेत्र इसके बिल या खोडर हैं। मस्तकका स्थान इसका बड़ा भारी फल है। यह दाँतरूपी श्रेणीबद्ध पक्षियोंके बैठनेके लिये स्तम्भके समान सुन्दर आधार है। दोनों कान शब्दरूपी कठफोरवा पक्षियोंके प्रवेश करनेके लिये खोंखले हैं। हाथ और पैरोंकी अंगुलियाँ इसके सुन्दर पल्लव हैं। गुल्म नामक (पेटका) रोग ही इसपर फैली हुई लताएँ अथवा झाड़ियाँ हैं। यह कर्म करनेके लिये पञ्चभूतोंके समूहसे संगठित हुआ है। जीव तथा ईश्वररूप पक्षियोंने इसपर अपने घोंसले बना रक्खे हैं। दाँतरूपी केसरोंसे सुशोभित, उत्पत्ति-विनाशशील तथा मन्द हासमय विकाससे युक्त हर्षरूपी फूलोंद्वारा यह शरीर-वृक्ष सदा अलंकृत होता रहता है। सुन्दर कान्ति ही इसकी छाया है। यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी पथिकोंका विश्राम-स्थान है। इसे किसका आत्मीय कहा जाय और किसका पराया। इसके ऊपर आस्था और अनास्था ही क्या हो सकती है। तात! भवसागर तथा नदी आदिको पार करनेके लिये बारंबार अपनायी गयी देहलता एवं नौकामें कौन आत्मीयताकी भावना कर सकता है। जहाँ रोमरूपी असंख्य वृक्ष उगे हुए हैं, जो इन्द्रियच्छिद्ररूपी बहुसंख्यक गड्ढोंसे भरा है, उस देहरूपी निर्जन वनमें कौन विश्वस्त (निर्भय) होकर रह सकता है।

संसारारण्यसंरूढो विलसच्चित्तमर्कटः।
चिन्तामञ्जरिताकारो दीर्घदुःखघुणक्षतः॥
तृष्णाभुजंगमीगेहं कोपकाककृतालयः।
स्मितपुष्पोद्गमः श्रीमाञ्छुभाशुभमहाफलः॥
सुस्कन्धौघलताजालो हस्तस्तबकसुन्दरः।
पवनस्पन्दिताशेषस्वाङ्गावयवपल्लवः

सर्वेन्द्रियखगाधारः सुजानुस्तम्भ उन्नतः ।
सरसश्छायया युक्तः कामपान्थनिषेवितः ॥
मूर्द्धसंजनितादीर्घशिरोरुहतृणावलिः ।
अहंकारगृध्रकृतकुलायः सुषिरोदरः ॥
विच्छिन्नवासनाजालमूलत्वाद् दुर्लवाकृतिः ।
व्यायामविरसः कायवृक्षोऽयं न सुखाय मे ॥

'जो संसाररूपी वनमें उगा और बढ़ा है, जिसपर चित्तरूपी चञ्चल वानर उछलता-कूदता रहता है, जिसका प्रत्येक अवयव विषय-चिन्तनरूपी मञ्जरीसे अलंकृत है, महान् दुःखरूपी घुनोंके लग जानेसे जिसमें सब ओर छेद या घाव हो गये हैं, जो तृष्णारूपिणी सर्पिणीका घर है, जिसपर कोपरूपी कौएने घोंसला बना रक्खा है, जिसमें मन्द मुसुकानरूपी पुष्प प्रकट होते और खिलते हैं, इसीलिये जिसकी बड़ी शोभा होती है, शुभ और अशुभ (सुख और दुःख) जिसके महान् फल हैं, सुन्दर कंधे और बाँहें जिसकी शाखाएँ हैं, अङ्गुलियोंसे युक्त हाथरूपी पुष्प-गुच्छोंके कारण जो बड़ा सुन्दर जान पड़ता है, प्राणवायुरूपी पवनके स्पन्दनसे जिसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पल्लव हिलते रहते हैं, जो समस्त इन्द्रियरूपी पक्षियोंका आधार है, सुन्दर घुटनोंसे युक्त शरीरका निचला भाग जिसका तना है, जो बहुत ऊँचा है, यौवनकी कान्तिरूपी छायासे युक्त होनेके कारण जो सरस प्रतीत होता है, कामरूपी पथिक जिसका सेवन करता है, मस्तकपर उगे हुए बड़े-बड़े केश-कलाप जिसपर जमे हुए तिनकोंके समुदाय हैं, अहंकाररूपी गीध जिसपर घोंसला बनाकर रहता है, जो भीतरसे खोखला (छिद्रयुक्त) है, नाना प्रकारकी वासनारूपिणी जटाओंके जालका उद्गम-स्थान होनेके कारण जिसे काटना अत्यन्त कठिन है तथा परिश्रमरूपी शाखा-विस्तारके कारण जो विरस (रूखा) दिखायी देता है, वह शरीररूपी वृक्ष मुझे सुखद नहीं प्रतीत होता ।

कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम् ।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन मुने मम ॥
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वलत्तृष्णागृहाङ्गनम् ।
रागरञ्जितसर्वाङ्गं नेष्टं देहगृहं मम ॥
पृष्ठास्थिकाष्ठसंघट्टपरिसंकटकोटरम् ।
आन्त्ररज्जुभिराबद्धं नेष्टं देहगृहं मम ॥
प्रसृतस्नायुतन्त्रीकं रक्ताम्बुकृतकर्दमम् ।
जरामङ्कोलधवलं नेष्टं देहगृहं मम ॥
चित्तभृत्यकृतानन्तचेष्टावष्टब्धसंस्थिति ।
मिथ्यामोहमहास्थूणं नेष्टं देहगृहं मम ॥
दुःखार्भककृताक्रन्दं सुखशय्यामनोरमम् ।
दुरीहादग्धदासीकं नेष्टं देहगृहं मम ॥
मलाढ्यविषयव्यूहभाण्डोपस्करसंकटम् ।
अज्ञानक्षारवलितं नेष्टं देहगृहं मम ॥

'मुने ! शरीर अहंकाररूपी गृहस्थका विशाल गृह है । यह गिरकर सदाके लिये धरतीपर लोट जाय अथवा चिरकालतक स्थिर बना रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन है ? जहाँ इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े रहते हैं, तृष्णारूपिणी गृहस्वामिनी बारंबार (घर-आँगनमें) डोलती-फिरती है तथा जिसके समस्त अवयवोंको आसक्तिरूपी गेरू आदिके रंगसे रँगा गया है, वह शरीररूपी गृह मुझे अभीष्ट नहीं है । पीठकी हड्डी (रीढ़) रूपी शहतीरोंके परस्पर मिलनेसे जिसके भीतर खाली स्थान बहुत थोड़ा रह गया है तथा जो आँतकी रस्सियोंसे बाँधकर खड़ा किया गया है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है । जिसमें सब ओर नस-नाड़ी और आँतोंके तार बँधे हुए हैं, जिसे रक्तरूपी जलसे बनाये गये गारेके द्वारा लीपा गया है तथा बुढ़ापारूपी चूनेसे जिसपर सफेदी की गयी है, वह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है । चित्तरूपी भृत्यने नाना प्रकारकी अनन्त चेष्टाओंद्वार

जिसकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ कर दी है तथा मिथ्या और मोह (असत्य और अज्ञान)—ये दो जिसके बड़े-बड़े खंभे हैं, वह देहरूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। दुःखरूपी छोटे-छोटे बच्चोंने जहाँ रो-रोकर कोलाहल मचा रक्खा है, गाढ़ निद्रारूपी सुख-शय्याके कारण जो मनोरम प्रतीत होता है तथा जिसमें दुश्चेष्टा-रूपिणी दग्ध[१] दासी निवास करती है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। मुनीश्वर! जो मल आदि दोषोंसे युक्त विषय-समूहरूपी बर्तनों तथा अन्यान्य उपकरणोंसे ठसाठस भरा हुआ है तथा जिसमें अज्ञानरूपी नोनछा लगा हुआ है, वह देहरूपी गेह मुझे अभीष्ट नहीं है।

प्रकटाक्षगवाक्षान्तःक्रीडत्प्रज्ञागृहाङ्गनम् ।
चिन्तादुहितृकं ब्रह्मन्नेष्टं देहगृहं मम ॥
मूर्धजाच्छादनच्छन्नकर्णश्रीचन्द्रशालिकम् ।
आदीर्घाङ्गुलिनिर्व्यूहं नेष्टं देहगृहं मम ॥
सर्वाङ्गकुड्यसंघातघनरोमयवाङ्कुरम् ।
संशून्यपेटविवरं नेष्टं देहगृहं मम ॥
नखोर्णनाभिनिलयं सरमारणितान्तरम् ।
भाङ्कारकारिपवनं नेष्टं देहगृहं मम ॥
प्रवेशनिर्गमव्यग्रवातवेगमनारतम् ।
विततक्षगवाक्षं तन्नेष्टं देहगृहं मम ॥
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम् ।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥
त्वक्सुधालेपमसृणं यन्त्रसंचारचञ्चलम् ।
मनस्सदाखुनोत्खातं नेष्टं देहगृहं मम ॥
स्मितदीपप्रभोद्भासि क्षणमानन्दसुन्दरम् ।
क्षणं व्याप्तं तमःपूरैर्नेष्टं देहगृहं मम ॥
समस्तरोगायतनं वलीपलितपत्तनम् ।
सर्वाधिसारगहनं नेष्टं देहगृहं मम ॥

'ब्रह्मन्! जहाँ ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखोंके भीतर प्रज्ञा-रूपिणी गृहस्वामिनी क्रीडा कर रही है तथा चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ खेल रही हैं, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है। जो सिरके केशरूपी छाजनसे छाया हुआ है, कानरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओंसे सुशोभित है तथा कुछ लंबी अङ्गुलिरूप काष्ठ-चित्रोंसे सुसज्जित है, वह शरीररूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। जिसके समस्त अङ्गरूपी भित्तियोंके समूहमें रोमरूपी घने जौके अङ्कुर उगे हैं और जहाँ पेटका गड्ढा कभी भरता नहीं, ऐसा देहरूपी गेह मुझे नहीं चाहिये। जिसमें नखरूपी मकड़ियोंका निवास है, जहाँ भूखरूपी कुतिया निरन्तर शोर मचाये रहती है तथा जिसमें भयानक शब्द करनेवाली प्राणवायु सदा चलती रहती है, ऐसे देह-गेहकी प्राप्ति मुझे प्रिय नहीं है। जहाँ श्वास-प्रश्वासके रूपमें वायुके वेगका निरन्तर भीतर-बाहर आना-जाना लगा रहता है और जिसकी इन्द्रिय-छिद्ररूपी खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं, वह देहरूपी घर मुझे कभी इष्ट नहीं है। जिसके मुखरूपी दरवाजेपर जिह्वारूपिणी बानरी सदा डटी रहती है, अतएव जो भयंकर दिखायी देता है तथा जिसके दाँतरूपी हड्डियोंके टुकड़े स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, वह शरीररूपी घर मुझे नहीं चाहिये। यह देह-गेह त्वचारूपी चूनेके लेप (या पलस्तर) से चिकना किया हुआ है। नाडीरूप यन्त्रोंके संचारसे यह चञ्चल बना रहता है और मनरूपी सुन्दर चूहेने इसमें सब ओर बिल खोद रक्खे हैं; इसलिये यह मुझे प्रिय नहीं है। जो मन्द मुस्कानरूपी दीपककी प्रभासे क्षणभरके लिये उद्भासित हो उठता है, एक ही क्षणमें आनन्दोल्लाससे सुन्दर दिखायी देता है और फिर क्षणमात्रमें ही अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हो जाता है, वह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जो समस्त रोगोंका घर है, झुर्रियों तथा पके बालोंका नगर

१–दाह और घावसे पीड़ित।

है और समस्त मानसिक चिन्ताओंका दुर्गम वन है, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है ।

अक्षर्क्षक्षोभविषमा शून्या निस्सारकोटरा ।
तमोगहनदिक्कुञ्जा नेष्टा देहाटवी मम ॥
किं श्रिया किं च राज्येन किं कायेन किमीहितैः ।
दिनैः कतिपयैरेव कालः सर्वं निकृन्तति ॥
रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरं मुने ।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥

'यह शरीर एक भयानक वन है । इन्द्रियाँ ही इस जंगलके भालू हैं, जो अपने अपने-अपने रोषके कारण इसे दुर्गम बनाये हुए हैं । यह भीतरसे सूना है तथा अनेकानेक निस्सार खोडरोंसे युक्त है । इसकी दिशारूपी कुञ्जें घोर अज्ञानान्धकारसे व्याप्त होनेके कारण गहन जान पड़ती हैं, अतः यह मुझे कदापि प्रिय नहीं है । यहाँ धन-सम्पत्ति, राज्य, शरीर, नाना प्रकारकी चेष्टाओं और मनोरथोंसे क्या लेना-देना है; क्योंकि काल कुछ ही दिनोंमें इन सबको अपना ग्रास बना लेता है । मुने ! यह शरीर केवल रक्त-मांसका ही बना हुआ है । इसका एक ही धर्म है—विनाश । फिर इसके बाहरी और भीतरी स्वरूपपर विचार करके बताइये, इसमें कौन-सी रमणीयता है ?

मरणावसरे काया जीवं नानुसरन्ति ये ।
तेषु तात कृतघ्नेषु कैवास्था वद धीमताम् ॥
पवनस्पन्दतरलः पेलवः कायपल्लवः ।
जर्जरस्तनुवृत्तश्च नेष्टो मे कटुनीरसः ॥
भुक्त्वा पीत्वा चिरं कालं बालपल्लवपेलवाम् ।
तनुतामेत्य यत्नेन विनाशमनुधावति ॥
सुचिरं प्रभुतां कृत्वा संसेव्य विभवश्रियम् ।
नोच्छ्रायमेति न स्थैर्यं कायः किमिति पाल्यते ॥
जराकाले जरामेति मृत्युकाले तथा मृतिम् ।
सम एवाविशेषज्ञः कायो भोगिदरिद्रयोः ॥

बद्धास्था ये शरीरेषु बद्धास्था ये जगत्स्थितौ ।
तान्मोहमदिरोन्मत्तान् धिग्धिगस्तु पुनः पुनः ॥

'तात ! जो शरीर मरनेके समय जीवका अनुसरण नहीं करते—उसका साथ छोड़ देते हैं, वे कितने बड़े कृतघ्न हैं ! फिर आप ही कहिये, उनपर बुद्धिमान् पुरुषोंकी क्या आस्था हो सकती है । यह शरीर उस कोमल पल्लवके समान है, जो तनिक-सी वायुका संचार होते ही जोर-जोरसे हिलने लगता है । यह आधि-व्याधिरूपी सैकड़ों कण्टकोंसे क्षत-विक्षत होनेके कारण जर्जर हो जाता है । इसका स्वभाव क्षुद्र है तथा यह कड़वा और नीरस है, अतएव मुझे प्रिय नहीं है । चिरकालतक यत्नपूर्वक खा-पी लेनेके बाद भी नूतन पल्लवोंके समान कोमल कृशताको प्राप्त हो यह बारंबार विनाशकी ओर ही दौड़ता है । दीर्घकालतक लोगोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके धन-सम्पत्तिका सेवन करनेके बाद भी न तो यह ऊँचे उठता है और न स्थिरताको ही प्राप्त होता है; फिर इस शरीरका किसलिये पालन किया जाता है ? कोई भोग-वैभवसे सम्पन्न हो या दरिद्र—दोनोंका शरीर समान ही होता है । बुढ़ापेके समय बूढ़ा होता और मृत्युकालमें मर जाता है । उसे अपनेमें किसी विशेषताका अनुभव नहीं होता । जो लोग इन नाशवान् शरीरोंमें आस्था रखते हैं—इन्हें नित्य स्थिर रहनेवाला मानते हैं तथा जो संसारकी स्थिरतापर भी विश्वास करते हैं, वे मोहरूपी मदिराका पान करके उन्मत्त हो गये हैं । उन्हें बारंबार धिक्कार है !

नाहं देहस्य नो देहो मम नायमहं तथा ।
इति विश्रान्तचित्ता ये ते मुने पुरुषोत्तमाः ॥
शरीरश्वभ्रशायिन्या पिशाच्या पेशलाङ्गया ।
अहंकारचमत्कृत्या छलेन छलिता वयम् ॥
प्रज्ञा वराकी सर्वैव कायबद्धास्थयानया ।
मिथ्याज्ञानकुराक्षस्या छलिता कष्टभक्तिका ॥

'मुने ! मैं न तो इस शरीरका कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ। न यह शरीर मेरा है और न मेरा स्वरूप ही यह है। ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मामें विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषोंमें उत्तम हैं। जो शरीररूपी गड्ढेमें सोती है और अहंकारका चमत्कारपूर्ण कार्य है, उस मनोहर अङ्गवाली (भोगतृष्णामयी दोष-दृष्टिरूपिणी) पिशाचीने छलसे हमारा सर्वस्व हर लिया है। शरीरमें ही नित्यताका विश्वास रखनेवाली इस मिथ्या-ज्ञानरूपिणी दुष्ट राक्षसीने अकेली (असहाय) दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूपसे ठग लिया, यह कितने दुःखकी बात है !

दिनैः कतिपयैरेव निर्झराम्बुकणो यथा।
पतत्ययमयत्नेन जरठः कायपल्लवः॥
कायोऽयमचिरापायो बुद्बुदोऽम्बुनिधाविव।
व्यर्थं कार्यपरावर्त्ते परिस्फुरति निष्फलः॥
मिथ्याज्ञानविकारेऽस्मिन् स्वप्नसम्भ्रमपत्तने।
काये स्फुटतरापाये क्षणमास्था न मे द्विज॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे॥

(सर्ग १८)

'कुछ ही दिनोंमें जीर्णताको प्राप्त होकर यह शरीररूपी पल्लव झरनेके जलकी बूँदोंके समान बिना किसी यत्नके अपने-आप गिर पड़ता है। समुद्रमें उत्पन्न हुए पानीके बुलबुलोंकी तरह इस शरीरका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। ब्रह्मन् ! यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञानका विकार है और स्वप्नरूपी भ्रान्तियोंका भंडार है। इसका विनाश बहुत स्पष्ट दिखायी देता है। इसलिये इसमें मेरा क्षणभरके लिये भी विश्वास नहीं है। जिस पुरुषने बिजली, शरद् ऋतुके बादल और गन्धर्वनगरके चिरस्थायी होनेका निर्णय कर लिया है, वही इस शरीरकी नित्यतापर विश्वास करे (मैं तो नहीं कर सकता)।'

बाल्यावस्थाके दोष

श्रीराम उवाच

अशक्तिरापदस्तृष्णा मूकता मूढबुद्धिता।
गृध्नुता लोलता दैन्यं सर्वं बाल्ये प्रवर्त्तते॥
तिर्यग्जातिसमारम्भः सर्वैरेवावधीरितः।
लोलो बालसमाचारो मरणादपि दुःखदः॥
जलवह्न्यनिलाजस्रजातभीत्या पदे पदे।
यद्भयं शैशवेऽबुद्ध्या कस्यापदि हि तद्भवेत्॥
लीलासु दुर्विलासेषु दुरीहासु दुराशये।
परमं मोहमाधत्ते बालो बलवदापतन्॥
विकल्पकल्पितारम्भं दुर्विलासं पुरास्पदम्।
शैशवं शासनायैव पुरुषस्य न शान्तये॥
ये दोषा ये दुराचारा दुष्क्रमा ये दुराधयः।
ते सर्वे संस्थिता बाल्ये दुर्गर्त्त इव कौशिकाः॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'मुनीश्वर ! असमर्थता, आपत्तियाँ, तृष्णा, मूकता (बोल न सकना), मूढबुद्धिता (बुद्धिके द्वारा कुछ जान न पाना), खिलौने आदिकी अभिलाषा, चञ्चलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यावस्थामें ही प्रकट होते हैं। बाल्यावस्थामें पशु-पक्षियोंकी-सी चेष्टाएँ होती हैं। बालक सभी लोगोंके द्वारा तिरस्कृत होता है। बालकोंकी चपल चेष्टा मृत्युसे भी बढ़कर दुःख देनेवाली होती है। बाल्यावस्थामें अज्ञानवश जल, अग्नि और वायुसे निरन्तर उत्पन्न होनेवाले भयके कारण पग-पगपर जो दुःख प्राप्त होता है, वह आपत्तिकालमें भी किसको होता होगा ? बालक भाँति-भाँतिकी लीलाओं, दुर्विलासों, दुश्चेष्टाओं तथा दूषित अभिप्रायमें हठात् प्रवृत्त होकर बड़े भारी मोहमें पड़ जाता है। बाल्यावस्थामें बालक जिस किसीके भी कहनेसे निष्फल कार्यमें प्रवृत्त हो

जाते हैं, अनेक प्रकारकी दुश्चेष्टाएँ करते हैं तथा किसी प्रकार भी प्रतिष्ठाकी प्राप्ति उनके लिये दुर्लभ है। इस तरह मनुष्यका शैशवकाल केवल गुरुजनोंका शासन स्वीकार करनेके लिये ही है, सुख और शान्ति प्रदान करनेके लिये नहीं। जैसे उल्लू दिनमें अन्धकारसे भरे हुए दूषित गड्ढोंमें छिपे रहते हैं, उसी प्रकार जो-जो दोष, जितने दुराचार तथा जो-जो दुर्लङ्घ्य दुश्चिन्ताएँ हैं, वे सब-के-सब बाल्यावस्थामें ही जीवके हृदयमें छिपकर बैठे रहते हैं।

बाल्यं रम्यमिति व्यर्थबुद्धयः कल्पयन्ति ये।
तान्मूर्खपुरुषान् ब्रह्मन् धिगस्तु हतचेतसः॥
यत्र दोलाकृति मनः परिस्फुरति वृत्तिषु।
त्रैलोक्याभव्यमपि तत्कथं भवति तुष्टये॥
सर्वेषामेव सत्त्वानां सर्वावस्थाभ्य एव हि।
मनश्चञ्चलतामेति बाल्ये दशगुणं मुने॥
मनः प्रकृत्यैव चलं बाल्यं च चलतां वरम्।
तयोः संश्लिष्यतोस्त्राता क इवान्तः कुचापले॥
शैशवं च मनश्चैव सर्वास्वेव हि वृत्तिषु।
भ्रातराविव लक्ष्येते सततं भङ्गुरस्थिती॥
स्तोकेन वशमायाति स्तोकेनैति विकारिताम्।
अमेध्य एव रमते बालः कौलेयको यथा॥

'ब्रह्मन्! जो लोग बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है—ऐसी कल्पना करते हैं, उन सबकी बुद्धि व्यर्थ है। उन हतचित्त मूढबुद्धि लोगोंको वारंवार धिक्कार है। जहाँ झूलेके समान चञ्चल मन विविध विषयोंके आकारको प्राप्त होता है तथा जो तीनों लोकोंमें अमङ्गलरूप है, वह बाल्यावस्था कैसे संतोषदायक हो सकती है। मुने! सभी प्राणियोंका मन अन्य सब अवस्थाओंकी अपेक्षा बाल्यावस्थामें ही दसगुना चञ्चल हो उठता है। मन स्वभावसे ही चञ्चल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चञ्चल पदार्थोंमें सबसे बढ़कर है। जहाँ उन दोनोंका संयोग हो, वहाँ अन्तःकरणमें चपलताजनित अनर्थसे बचानेवाला कौन है। बचपन और मन—ये दोनों सभी वृत्तियों (व्यवहारों) में सदा दो सहोदर भाइयोंके समान दृष्टिगोचर होते हैं। इन दोनोंकी ही स्थिति क्षणभङ्गुर है। बालक कुत्तेके समान थोड़ा-सा ही खानेको देने या पुचकारनेसे वशमें हो जाता है और थोड़ा-सा ही घुड़कने या छड़ी आदि दिखानेसे बिगड़ जाता या डर जाता है। वह सदा अपवित्र स्थानमें ही रमता या खेलता है।

भयाहारपरं दीनं दृष्टादृष्टाभिलाषि च।
लोलबुद्धिवपुर्धत्ते बाल्यं दुःखाय केवलम्॥
स्वसंकल्पाभिलषितान् भावानप्राप्य तप्तधीः।
दुःखमेत्यबलो बालो विनिष्कृत्त इवाशये॥
नानामनोरथमयी मिथ्याकल्पितकल्पना।
दुःखायात्यन्तदीर्घाय बालता पेलवाशया॥
अन्तश्चित्तेरशक्तस्य शीतातपनिवारणे।
को विशेषो महाबुद्धे बालस्योर्वीरुहस्तथा॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम्॥
सकलदोषदशाविहताशयं
शरणमप्यविवेकविलासिनः।
इह न कस्यचिदेव महामुने
भवति बाल्यमलं परितुष्टये॥
(सर्ग १९)

'बाल्यावस्थामें प्राणी केवल दूसरोंसे डरता और खाता-पीता रहता है। वह सदा दीन रहता है, देखी और बिना देखी सभी वस्तुओंकी इच्छा करता है। उसकी बुद्धि और शरीर दोनों चञ्चल होते हैं। ऐसी बाल्यावस्थाको मनुष्य केवल दुःख भोगनेके लिये ही धारण करता है। निर्बल बालक अपने मानसिक

संकल्पसे जिन पदार्थोंको पानेकी इच्छा करता है, उन्हें न पाकर उसकी बुद्धि सदा संतप्त होती रहती है और उसे इतना दुःख होता है मानो किसीने उसके हृदयमें घाव कर दिया है। जबतक बाल्यावस्था रहती है, तबतक असत्य पदार्थोंमें ही सत्यताकी बुद्धि बनी रहती है, हृदयमें नाना प्रकारके मनोरथ उदित होते रहते हैं तथा अन्तःकरण बड़ा कोमल होता है। अतः बाल्यकाल अत्यन्त दीर्घ दुःख प्रदान करनेके लिये ही होता है, सुख देनेके लिये नहीं। परम बुद्धिमान् मुनीश्वर! जिसके अन्तःकरणमें सर्दी-गरमीका अनुभव तो होता है, परंतु जो उनका निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता, उस बालक और वृक्षमें क्या अन्तर है? बाल्यकालमें गुरुसे, माता-पितासे, अन्य लोगोंसे तथा अपनी अपेक्षा बड़े बालकोंसे भी भय होता है। अतः बाल्यावस्था भयका मन्दिर ही है। महामुने! बाल्यावस्थामें समस्त दोषपूर्ण दशाओंद्वारा अन्तःकरण दूषित होता है और बाल्यकाल अविवेक-नामधारी विलासीका विलासभवन है। इसलिये इस जगत्‌में यह बाल्यावस्था किसीके लिये भी पूर्ण संतोष-दायक नहीं है।'

युवावस्थाके दोष

श्रीराम उवाच

बाल्यानर्थमथ त्यक्त्वा पुमानभिहताशयः।
आरोहति निपाताय यौवनं सम्भ्रमेण तु॥
तत्रानन्तविलासस्य लोलस्य स्वस्य चेतसः।
वृत्तीरनुभवन् याति दुःखाद् दुःखान्तरं जडः॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानासम्भ्रमकारिणा।
बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते॥
ते ते दोषा दुरारम्भास्तत्र तं तादृशाशयम्।
तद्रूपं प्रतिलुम्पन्ति दुष्टास्तेनैव ये मुने॥
महानरकबीजेन संततभ्रमदायिना।
यौवनेन न ये नष्टा नष्टा नान्येन ते जनाः॥
नानारसमयी चित्रवृत्तान्तनिचयोम्भिता।
भीमा यौवनभूर्येन तीर्णा धीरः स उच्यते॥
निमेषभासुराकारमालोलघनगर्जितम्।
विद्युत्प्रकाशमशिवं यौवनं मे न रोचते॥
मधुरं स्वादु तिक्तं च दूषणं दोषभूषणम्।
सुराकल्लोलसदृशं यौवनं मे न रोचते॥
असत्यं सत्यसंकाशमचिराद्विप्रलम्भदम्।
स्वप्नाङ्गनासङ्गसमं यौवनं मे न रोचते॥
सर्वस्याग्रे सर्वपुंसः क्षणमात्रमनोहरम्।
गन्धर्वनगरप्रख्यं यौवनं मे न रोचते॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'महर्षे! बचपनके बाद मनुष्य बाल्यावस्थाके अनर्थोंका त्याग करके भोग भोगनेके उत्साह, भ्रान्ति अथवा कामरूप पिशाचसे दूषित-चित्त होकर नरकमें गिरनेके लिये ही यौवनारूढ़ होता है। यौवनावस्थामें मूर्ख मनुष्य अनन्त विलास (चेष्टा) वाले अपने चञ्चल चित्तकी राग-द्वेषादि वृत्तियोंका अनुभव करता हुआ एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। अपने चित्तरूपी बिलमें स्थित हो नाना प्रकारकी भ्रान्ति पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच अपने वशमें हुए पुरुषका बलपूर्वक तिरस्कार करता है। मुने! युवावस्थामें स्त्री, द्यूत और कलह आदि दुर्व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाले वे राग-लोभ आदि प्रसिद्ध एवं यौवनके द्वारा विपुलीकृत दोष वैसे (काम, चिन्ता आदिके वशीभूत) अन्तःकरणवाले पुरुषको, जो काम आदिमें तन्मय हो रहा है, नष्ट कर डालते हैं। जो महान् नरकका बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाला है, उस यौवनके द्वारा जिनका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसीसे नष्ट नहीं हो सकते। शृङ्गार आदि नाना प्रकारके रसोंसे पूर्ण और अनेक प्रकारके आश्चर्यजनक वृत्तान्तोंसे युक्त भीषण यौवनरूपा भूमिको जिसने पार

कर लिया, वही पुरुष धीर कहलाता है । जो क्षणभरके लिये प्रकाशमान, चञ्चल, मेघोंकी गम्भीर गर्जना (अभिमानपूर्ण वचनों) से व्याप्त और बिजलीकी तरह चमककर लुप्त हो जानेवाला है, वह अमङ्गलमय यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जो भोगके समय मधुर, अतएव स्वादिष्ट (मनोरम) और अन्तमें दुःखदायी होनेके कारण तिक्त प्रतीत होता है, जिसमें दोष-ही-दोष भरे हैं, जो सब दोषोंका आभूषण तथा मदिराके मद-विलासके समान मोहक है, वह यौवन मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता । जो असत्य होकर भी सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही धोखा देनेवाला है तथा स्वप्नावस्थामें किये गये स्त्री-सहवासके समान है, वह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता । यह क्षणभरके लिये सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओंमें अग्रगण्य है । सारी आयु बीत जानेपर दिखायी देनेवाले गन्धर्वनगरके समान है । यह लोगोंको क्षणमात्रके लिये मनोहर प्रतीत होता है । अतः यह मुझे अच्छा नहीं लगता ।

आपातमात्ररमणं सद्भावरहितान्तरम् ।
वेश्यास्त्रीसंगमप्रख्यं यौवनं मे न रोचते ॥
ये केचन समारम्भास्ते सर्वे सर्वदुःखदाः ।
तारुण्ये संनिधिं यान्ति महोत्पाता इव क्षये ॥
सुविस्मृतशुभाचारं बुद्धिवैधुर्यदायिनम् ।
ददात्यतितरामेष भ्रमं यौवनसम्भ्रमः ॥
कान्तावियोगजातेन हृदि दुःस्पर्शवह्निना ।
यौवने दह्यते जन्तुस्तरुर्दावाग्निना यथा ॥
सुनिर्मलापि विस्तीर्णा पावन्यपि हि यौवने ।
मतिः कलुषतामेति प्रावृषीव तरङ्गिणी ॥
सा कान्ता तौ स्तनौ पीनौ ते विलासास्तदाननम् ।
तारुण्य इति चिन्ताभिर्याति जर्जरतां जनः ॥
सर्वेषां गुणसर्गाणां परिरूढरजस्तमाः ।
अपनेतुं स्थितिं दक्षो विषमो यौवनानिलः ॥
उद्बोधयति दोषालिं विकृन्तति गुणावलिम् ।
नराणां यौवनोल्लासो विलासो दुष्कृतश्रियाम् ॥
शरीरखण्डकोद्भूता रम्या यौवनवल्लरी ।
लग्नमेव मनोभृङ्गं मदयत्युन्नतिं गता ॥
शरीरमरुतापोत्थां युवतामृगतृष्णिकाम् ।
मनोमृगाः प्रधावन्तः पतन्ति विषयावटे ॥
दिनानि कानिचिद्येयं फलिता देहजङ्गले ।
युवता शरदस्यां हि न समाश्वासमर्हथ ॥

'यह यौवन ऊपरसे तो रमणीय प्रतीत होता है, किंतु भीतरसे शुद्धचित्ततासून्य है । अतः वेश्या स्त्रीके समागमके समान घृणित होनेके कारण मुझे रुचिकर नहीं जान पड़ता । जैसे प्रलयकालमें सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात सब ओरसे उमड़ उठते हैं, उसी प्रकार युवावस्थामें सबको कष्ट प्रदान करनेवाले जो कोई भी आयोजन हैं, वे सब निकट आ जाते हैं । युवावस्थाका मोह मङ्गलमय आचारको भुला देनेवाले और बुद्धिको कुण्ठित कर देनेवाले भ्रमका अतिशय मात्रामें उत्पादन करता है । जैसे दावाग्नि वृक्षको जला देती है, उसी प्रकार युवावस्थामें जीव प्रियतमाके वियोग-जनित दुस्सह शोकाग्निसे मन-ही-मन जलता रहता है । जैसे अत्यन्त निर्मल, विस्तृत एवं पवित्र नदी भी वर्षा ऋतुमें मलिन हो जाती है, उसी प्रकार परम निर्मल, विशाल एवं शुद्ध बुद्धि भी युवावस्थामें कलुषित हो जाती है । 'वह प्राणवल्लभा, उसके वे उभरे हुए स्तन, वे मनोहर विलास और वह सुन्दर मुख कितना मनोरम है'—युवावस्थामें इसी तरहकी चिन्ताओंसे मनुष्य जर्जर हो जाता है । रजोगुण और तमोगुणसे पूर्ण यह विषम यौवनरूप आँधी सम्पूर्ण सद्गुणोंकी स्थिरताको नष्ट करनेमें दक्ष है । मनुष्योंके यौवनका उल्लास (विकास) दोष-समूहोंको जगाता और सद्गुण-समुदायका मूलोच्छेद करता है । अतएव

उसे पाप-वैभवका विलास कहा गया है। शरीररूपी उपवनमें उत्पन्न हुई यौवनकी बेल बड़ी रमणीय है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती या ऊँचे चढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अपनेसे सटे हुए मनरूपी भ्रमरको उन्मत्त बना देती है। शरीररूपी मरुभूमिमें कामरूपी घामके तापसे प्रकट हो भ्रान्तिरूपमें प्रतीत होनेवाली जो यौवनरूपिणी मृगतृष्णा है, उसकी ओर दौड़ते हुए मनरूपी मृग विषयोंके गड्ढेमें गिर जाते हैं। यह युवावस्था देहरूपी जंगलमें कुछ दिनोंके लिये प्रकाशित होनेवाली शरद्‌ऋतुके समान है। लोगो! तुम इसपर विश्वास न करो।

यदा यदा परां कोटिमध्यारोहति यौवनम्।
वल्गन्ति सज्वराः कामास्तदा नाशाय केवलम्॥
तावदेव विवल्गन्ति रागद्वेषपिशाचकाः।
नास्तमेति समस्तैषा यावद् यौवनयामिनी॥
हर्षमायाति यो मोहात् पुरुषः क्षणभङ्गिना।
यौवनेन महामुग्धः स वै नरमृगः स्मृतः॥
मानमोहान्मदोन्मत्तं यौवनं योऽभिलष्यति।
अचिरेण स दुर्बुद्धिः पश्चात्तापेन युज्यते॥
ते पूज्यास्ते महात्मानस्त एव पुरुषा भुवि।
ये सुखेन समुत्तीर्णाः साधो यौवनसंकटात्॥
सुखेन तीर्यतेऽम्भोधिरुत्कृष्टमकराकरः।
न कल्लोलबलोल्लासि सदोषं हतयौवनम्॥
विनयभूषितमार्यजनास्पदं
करुणयोज्ज्वलमावलितं गुणैः।
इह हि दुर्लभमङ्ग सुयौवनं
जगति काननमम्बरगं यथा॥

(सर्ग २०)

'जब-जब यौवन अपनी चरम सीमापर आरूढ़ हो जाता है, तब-तब संतापयुक्त कामनाएँ केवल विनाशके लिये ही बढ़ने या नृत्य करने लगती हैं। ये राग-द्वेषरूपी पिशाच तभीतक विशेषरूपसे नाचते फिरते हैं, जबतक यह यौवनरूपिणी रात्रि पूर्णरूपसे समाप्त नहीं हो जाती। जो महामुग्ध पुरुष मोहवश क्षणभङ्गुर यौवनसे हर्षको प्राप्त होता है, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही माना गया है। जो मनुष्य अभिमान या अज्ञानके कारण मदोन्मत्त यौवनावस्थाकी अभिलाषा करता है, उस दुर्बुद्धिको शीघ्र ही पश्चात्तापका भागी होना पड़ता है। साधो! इस भूतलपर वे ही पुरुष पूजनीय और महात्मा हैं, जो यौवनरूपी संकटसे सुखपूर्वक पार हो गये हैं। बड़े-बड़े मगरोंसे भरे हुए महासागरको सुखपूर्वक पार किया जा सकता है, किंतु विषय-चिन्तन आदि महातरङ्गोंके कारण उमड़े हुए और दुर्गुण-दुराचाररूप अनेक दोषोंसे भरे हुए इस निन्दनीय यौवनके पार जाना बहुत ही कठिन है। ब्रह्मन्! विनयसे अलंकृत, श्रेष्ठ पुरुषोंको आश्रय देनेवाला, करुणासे प्रकाशित तथा शम, दम, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, सरलता आदि विविध गुणोंसे युक्त उत्तम यौवन इस संसारमें उसी तरह दुर्लभ है, जैसे आकाशमें वन।'

स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निराकरण

श्रीराम उवाच

इतः केशा इतो रक्तमितीयं प्रमदातनुः।
किमेतया निन्दितया करोति विपुलाशयः॥
वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम्॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन् स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥
रक्तमांसास्थिदिग्धानि करभस्य यथा वने।
तथैवाङ्गानि कामिन्यास्तां प्रत्यपि हि को ग्रहः॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'मुनीश्वर! इधर केश हैं, इधर रक्त और मांस है। यही तो युवती स्त्रीका

शरीर है। जिसका हृदय विवेकसे विशाल हो जाता है, उस ज्ञानी पुरुषको इस निन्दित नारी-शरीरसे क्या काम। आदरणीय मुने! बहुमूल्य वस्त्र और केसर-कस्तूरी आदिके लेपसे जिन्हें बारंबार सजाकर दुलराया गया था, समस्त देहधारियोंके उन्हीं अङ्गोंको किसी समय गीध और सियार आदि मांसाहारी जीव नोचते और घसीटते हैं। जिस स्तनमण्डलपर मेरु पर्वतके शिखरप्रान्तसे सोल्लास प्रवाहित होनेवाली गङ्गाजीके जलकी धाराके समान मोतियोंके हारकी शोभा देखी गयी थी, मृत्युके पश्चात् सम्पूर्ण दिशाओंकी श्मशानभूमियोंमें नारीके उसी स्तनका कुत्ते अन्नके छोटे-से पिण्डकी भाँति आस्वादन करते हैं। जैसे वनमें चरनेवाले गदहे या ऊँटके अङ्ग रक्त, मांस और हड्डियोंसे सम्पन्न हैं, उसी प्रकार कामिनियोंके अङ्ग भी उन्हीं उपकरणोंसे युक्त हैं। फिर नारीके प्रति ही लोगोंका इतना आग्रह या आकर्षण क्यों है?

आपातरमणीयत्वं कल्प्यते केवलं स्त्रियाः।
मन्ये तदपि नास्त्यत्र मुने मोहैककारणम्॥
विपुलोल्लासदायिन्या मदमन्मथपूर्वकम्।
को विशेषो विकारिण्या मदिरायाः स्त्रियास्तथा॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥

'मुने! लोग स्त्रीके शरीरमें जिस आपात-रमणीयताकी कल्पना करते हैं, मेरी मान्यताके अनुसार वह भी उसमें है नहीं। उसमें जो रमणीयताकी प्रतीति होती है, उसका एकमात्र कारण मोह ही है। मनमें विकार उत्पन्न करनेवाली मदिरामें और युवती स्त्रीमें क्या अन्तर है? एक जहाँ मद (नशे) के द्वारा मनुष्यको प्रचुर उल्लास प्रदान करती है, वहाँ दूसरी कामका भाव जगाकर पुरुषके लिये आनन्ददायिनी बनती है (अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये दोनों ही सामान्यरूपसे त्याज्य हैं)। जैसे धूमको ही केशके रूपमें धारण करनेवाली प्रज्वलित अग्निशिखा, जो देखनेमें सुन्दर किंतु छूनेमें दुस्सह है, तिनकोंको जला डालती है, उसी प्रकार केश और काजल धारण करनेवाली तथा नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली पापरूप अग्निकी ज्वालारूप नारियाँ, जिनका स्पर्शमात्र परिणाममें दुःख देनेवाला है, पुरुषको वासनाकी आगसे जलाती रहती हैं।

पुष्पाभिराममधुरा करपल्लवशालिनी।
भ्रमराक्षिविलासाढ्या स्तनस्तबकधारिणी॥
पुष्पकेसरगौराङ्गी नरमारणतत्परा।
ददात्युन्मत्तवैवश्यं कान्ता विषलता यथा॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसाम्।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्ग बन्धनवागुराः॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥

'जैसे विषकी लता सुन्दर फूलोंसे मनोहर लगती, नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंकी क्रीडास्थली बनती, पुष्प-गुच्छ धारण करती, फूलोंके केसरसे पीले रंगकी प्रतीत होती, अपना सेवन करनेवाले मनुष्यको मार डालती या पागल बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलोंका शृङ्गार धारण करनेके कारण मनो-हारिणी लगती, करपल्लवोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंके समान चञ्चल नेत्रोंके कटाक्ष-विलासका प्रदर्शन करती, पुष्प-गुच्छोंके समान स्तनोंको वक्षपर धारण करती, फूलोंके केसरकी भाँति सुनहरी गौर-कान्तिसे प्रकाशित होती, मनुष्योंके विनाशके लिये तत्पर रहती और काम-भावसे अपना सेवन करनेवालोंको उन्माद एवं मृत्यु आदिके अधीन कर देती है। मुनिश्रेष्ठ! कामरूपी किरात (बहेलिये) ने मूढ़-चित्त मानवरूपी पक्षियोंको फँसानेके लिये स्त्रीरूपी जालको फैला रक्खा है। जन्म-स्थानरूपी छोटे-छोटे जलाशयोंमें उत्पन्न हो धनरूपी पङ्कमें

विचरनेवाले पुरुषरूपी मत्स्योंको फँसानेके लिये नारी बंसीके काँटेमें लगी हुई आटेकी गोलीके समान है और दुर्वासना ही उस बंसीकी डोर है।

किं स्तनेन किमक्ष्णा वा किं नितम्बेन किं भ्रुवा।
मांसमात्रैकसारेण करोम्यहमवस्तुना॥
इतो मांसमितो रक्तमितोऽस्थीनीति वासरैः।
ब्रह्मन् कतिपयैरेव याति स्त्री विशरारुताम्॥
इत्येषा ललनाङ्गानामचिरेणैव भाविनी।
स्थितिर्मया वः कथिता किं भ्रान्तिमनुधावथ॥
भूतपञ्चकसंघट्टसंस्थानं ललनाभिधम्।
रसादभिपतत्वेतत्कथं नाम धियान्वितः॥
शोच्यतां परमां याति तरुणस्तरुणीपरः।
निबद्धः करिणीलोलो विन्ध्यखाते यथा गजः॥
(सर्ग २१)

'नारीके स्तनसे, नेत्रसे, नितम्बसे अथवा भौंहसे, जिसमें सार वस्तुके नामपर केवल मांस है, अतएव जो किसी कामकी वस्तु नहीं है, मेरा क्या प्रयोजन है? मैं वह सब लेकर क्या करूँगा? ब्रह्मन्! इधर मांस, इधर रक्त और इधर हड्डियाँ हैं; यही नारीका शरीर है, जो कुछ ही दिनोंमें जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। संसारके मनुष्यो! नारीके अङ्गोंका थोड़े ही समयमें होनेवाला यह परिणाम मैंने तुम्हें बताया है, फिर तुम क्यों भ्रमके पीछे दौड़ रहे हो? पाँच भूतोंके सम्मिश्रणसे बना हुआ अङ्गोंका संगठन ही नारी नामसे प्रसिद्ध हो रहा है, अतः विवेकबुद्धिसे सम्पन्न कोई भी पुरुष आसक्तिसे प्रेरित होकर क्यों उसकी ओर टूट पड़ेगा? जैसे हथिनीके लिये चञ्चल हुआ हाथी विन्ध्याचल पर्वतपर उसे फँसानेके लिये बनाये हुए गड्ढेमें गिरकर बँध जाता और परम शोचनीय अवस्थाको पहुँच जाता है, यही दशा तरुणी स्त्रीके मोहमें फँसे हुए तरुण पुरुषकी होती है।'

वृद्धावस्थाकी दुःखरूपता

श्रीराम उवाच

हिमाशनिरिवाम्भोजं वात्येव शरदम्बुकम्।
देहं जरा नाशयति नदी तीरतरुं यथा॥
जर्जरीकृतसर्वाङ्गी जरा जरठरूपिणी।
विरूपतां नयत्याशु देहं विषलवो यथा॥
शिथिलादीर्णसर्वाङ्गं जराजीर्णकलेवरम्।
समं पश्यन्ति कामिन्यः पुरुषं करभं यथा॥
दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्द्धककम्पितम्॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा हृदि दाहप्रदायिनी।
सर्वापदामेकसखी वार्द्धके वर्द्धते स्पृहा॥
कर्त्तव्यं किं मया कष्टं परत्रेत्यतिदारुणम्।
अप्रतीकारयोग्यं हि वर्द्धते वार्द्धके भयम्॥
कोऽहं वराकः किमिव करोमि कथमेव च।
तिष्ठामि मौनमेवेति दीनतोदेति वार्द्धके॥
कथं कदा मे किमिव स्वादु स्वादु भोजनं जनात्।
इत्यजस्रं जरा चैषा चेतो दहति वार्द्धके॥
गर्द्धोऽभ्युदेति सोल्लासमुपभोक्तुं न शक्यते।
हृदयं दह्यते नूनं शक्तिदौःस्थ्येन वार्द्धके॥
जराजीर्णबकी यावत् कायक्लेशापकारिणी।
रौति रोगोरगाकीर्णा कायद्रुमशिरःस्थिता॥
तावदागत एवाशु कुतोऽपि परिदृश्यते।
घनान्ध्यतिमिराकाङ्क्षी मुने मरणकौशिकः॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'महर्षे! जैसे हिमरूपी वज्र कमलको, आँधी पत्तेपर पड़े हुए ओसकणको और नदी तटवर्ती वृक्षको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीरका नाश कर डालती है। जैसे लेशमात्र विषका भक्षण शरीरको शीघ्र ही कुरूप बना देता है, उसी प्रकार वृद्धके स्वरूपवाली जरावस्था मनुष्यके सारे अङ्गोंको जर्जर करके शीघ्र ही कुरूप बना देती है। जिनके सारे अङ्ग शिथिल

होकर झुर्रियोंसे भर गये हैं और जरावस्थाने जिनके सारे अङ्गोंको जर्जर बना दिया है, उन समस्त पुरुषोंको कामिनियाँ ऊँटके समान समझती हैं। वृद्धावस्थाके कारण जिसके अङ्ग काँपते रहते हैं, ऐसे मनुष्यको नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा सुहृद्गण भी उन्मत्तके समान समझकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। जो दीनतारूपी दोषसे परिपूर्ण, संताप पहुँचानेवाली तथा समस्त आपत्तियोंकी एकमात्र सहचरी है, वह विशाल तृष्णा वृद्धावस्थामें बढ़ती ही जाती है। 'हाय! बड़े खेदकी बात है, मैं परलोकमें क्या करूँगा?' इस प्रकारका अत्यन्त दारुण भय, जो प्रतीकारके योग्य नहीं है, वृद्धावस्थामें बढ़ता जाता है। बुढ़ापेमें 'मैं बेचारा कौन हूँ? मेरी हस्ती ही क्या है? मैं किस प्रकार क्या करूँ? अच्छा, मैं चुप ही रहता हूँ।' इस प्रकारकी दीनताका उदय होता है। 'मुझे किसी स्वजनसे कब, क्या और किस प्रकारका स्वादिष्ट भोजन प्राप्त हो सकता है?' इस प्रकार चिन्ता-रूपिणी दूसरी जरावस्था बुढ़ापेमें निरन्तर चित्तको जलाती रहती है। वृद्धावस्थामें मनुष्य अपनी शक्तिका संतुलन खो बैठता है—कभी खानेकी शक्ति होनेपर पचानेकी शक्ति नहीं रहती और कभी पचानेकी शक्ति होनेपर खानेकी ही शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार शक्तिह्रासके कारण भोगकी इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, परंतु उपभोग किया नहीं जा सकता। उस दशामें निश्चय ही हृदय जलता रहता है। मुने! शरीररूपी वृक्षके सिरेपर बैठी हुई जरावस्थारूपिणी वृद्धा बगुली, जो नाना प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका अपकार करनेवाली है, रोग-रूपी सर्पोंसे आक्रान्त होकर ज्यों ही चें-चें करने लगती है, त्यों ही मूर्छारूपी गहरे अन्धकारकी इच्छा रखनेवाला मृत्युरूपी उल्लू कहींसे झटपट आया हुआ ही दिखायी देता है।

सायंसंध्यां प्रजातां वै तमः समनुधावति।
जरां वपुषि दृष्ट्वैव मृतिः समनुधावति॥
शून्यं नगरमाभाति भातिच्छिन्नलतो द्रुमः।
भात्यनावृष्टिमान् देशो न जराजर्जरं वपुः॥
जरसोपहतो देहो धत्ते जर्जरतां गतः।
तुषारनिकराकीर्णपरिम्लानाम्बुजश्रियम्॥

'जैसे सायंकालकी संध्याके प्रकट होते ही अन्धकार दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार शरीरमें जरावस्थाको देखते ही मृत्यु दौड़ी चली आती है। सूना नगर, जिसकी लताएँ कट गयी हों, वह वृक्ष तथा जहाँ वर्षा न हुई हो, वह देश भी कुछ-कुछ शोभित होता है; किंतु जरासे जर्जर हुए शरीरकी तनिक भी शोभा नहीं होती। वृद्धावस्थाकी मार खाकर जर्जर हुआ शरीर हिमसमूहसे आक्रान्त हो मुरझाये हुए कमलकी-सी शोभाको धारण करता है।

जराज्योत्स्नोदितैवेयं शिरःशिखरिपृष्ठतः।
विकासयति संरब्धं वातकासकुमुद्वतीम्॥
जराजह्नुसुतोद्युक्ता मूलान्यस्य निकृन्तति।
शरीरतीरवृक्षस्य चलत्यायुषि सत्वरम्॥
जरसा वक्रतामेति शुक्लावयवपल्लवा।
तात तन्वी तनुर्नॄणां लता पुष्पानता यथा॥
जराकर्पूरधवलं देहकर्पूरपादपम्।
मुने मरणमातङ्गो नूनमुद्धरति क्षणात्॥
किं तेन दुर्जीवितदुर्ग्रहेण
जरागतेनापि हि जीव्यते यत्।
जरा जगत्यामजिता जनानां
सर्वैषणास्तात तिरस्करोति॥
(सर्ग २२)

'मस्तकरूपी पर्वतके शिखरपर उगी हुई यह वृद्धावस्था-रूपिणी चाँदनी वातरोग और खाँसीरूपिणी कुमुदिनीको यत्नपूर्वक विकसित कर देती है। यह बुढ़ापारूपिणी वेगवती गङ्गा आयुके समाप्त होनेपर शरीररूपी तटवर्ती वृक्षकी जड़ोंको तुरंत ही काट गिराती है। तात! जैसे

श्वेत पत्रवाली और फूलोंसे लदी हुई पतली लता कुछ टेढ़ी हो जाती है, उसी प्रकार जिसके सारे अवयव सफेद हो गये हैं, मनुष्योंका वह दुबला-पतला शरीर वृद्धावस्थासे टेढ़ा हो जाता है—कमानकी तरह झुक जाता है। मुने! जैसे कपूरसे सफेद हुए केलेके पेड़को हाथी क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मृत्युरूपी गजराज वृद्धावस्थासे कपूरकी भाँति सफेद हुई देहको निश्चय ही क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है। तात! जो वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीवनके लिये दुराग्रह रखनेसे क्या लाभ? भूतलपर किसीसे पराजित न होनेवाली यह जरावस्था मनुष्योंकी समस्त एषणाओंका तिरस्कार कर देती है—उनकी किसी भी इच्छाको सफल नहीं होने देती।'

कालके स्वरूपका विवेचन

श्रीराम उवाच

विकल्पकल्पनानल्पजल्पितैरल्पबुद्धिभिः ।
भेदैरुद्धुरतां नीतः संसारकुहरे भ्रमः ।
न तदस्तीह यदयं कालः सकलघस्मरः ।।
ग्रसते तज्जगज्जातं प्रोत्थाब्धिमिव वाडवः ।
समस्तसामान्यतया भीमः कालो महेश्वरः ।।
दृश्यसत्तामिमां सर्वां कवलीकर्तुमुद्यतः ।।
युगवत्सरकल्पाख्यैः किंचित्प्रकटतां गतः ।
रूपैरलक्ष्यरूपात्मा सर्वमाक्रम्य तिष्ठति ।।
ये रम्या ये शुभारम्भाः सुमेरुगुरवोऽपि ये ।
कालेन विनिगीर्णास्ते गरुडेनेव पन्नगाः ।।
निर्दयः कठिनः क्रूरः कर्कशः कृपणोऽधमः ।
न तदस्ति यदद्यापि न कालो निगिरत्ययम् ।।
कालः कवलनैकान्तमतिरत्ति गिरन्नपि ।
अनन्तैरपि लोकौघैर्नायं तृप्तो महाशनः ।।
यामिनीभ्रमरापूर्णा रचयन् दिनमञ्जरीः ।
वर्षकल्पकलावल्लीर्न कदाचन खिद्यते ।।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'मुनीश्वर! 'यह मेरी भोग्य वस्तु है, मैं इसका भोक्ता हूँ, ये भोगके साधन हैं, इस साधनसे इस तरह भोग्य वस्तुको प्राप्त करके मैं चिरकालतक इसका उपभोग करूँगा, आज यह वस्तु मैंने प्राप्त कर ली और अब इस मनोरथको प्राप्त करूँगा'—इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्प-विकल्पोंद्वारा जो अनन्त व्यावहारिक वचनोंका प्रयोग करते हैं तथा अल्प (तुच्छ) शरीरमें महत्त्वबुद्धि (आत्मभाव) रखते हैं, उन मूढ़ जनोंने हेयोपादेय, शत्रु-मित्र तथा राग-द्वेषादि भेदोंद्वारा इस संसाररूपी गुफामें भ्रमको अत्यन्त गौरवपूर्ण (दुश्छेद्य) बना दिया है। जैसे वाड़वाग्नि उमड़े हुए समुद्रको सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न हुए जगत्‌को अपना ग्रास बना लेता है। भयंकर कालरूपी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको निगल जानेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; क्योंकि सारी वस्तुएँ उनके लिये सामान्यरूपसे ग्रास बना लेनेयोग्य हैं। युग, वर्ष और कल्पके रूपमें काल ही प्रकट है। इसका वास्तविक रूप कोई देख नहीं सकता। वह सब संसारको अपने वशमें करके बैठा है। संसारमें जो रमणीय, शुभ कर्म करनेवाले तथा उच्चता या गौरवमें सुमेरु पर्वतके भी गुरु थे, उन सबको कालने उसी तरह निगल लिया, जैसे गरुड़ सर्पोंको निगल जाते हैं। यह काल बड़ा निर्दय, कठोर, क्रूर, कर्कश, कृपण और अधम है। संसारमें अबतक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई, जिसे यह काल उदरस्थ न कर ले। इस कालका विचार सदा सबको निगल जानेका ही रहता है। यह एकको निगलता हुआ भी दूसरेको चबा जाता है। अबतक असंख्य लोग इसकी उदर-दरीमें प्रवेश कर चुके हैं, तो भी यह महाखाऊ काल तृप्त नहीं होता। यह रात्रिरूपी भौंरोंसे भरी हुई और दिन-रूपी मञ्जरियोंसे सुशोभित वर्ष, कल्प और कलारूपिणी लताओंकी निरन्तर सृष्टि करता रहता है, किंतु कभी थकता नहीं।

भिद्यते नावभग्नोऽपि दग्धोऽपि हि न दह्यते।
दृश्यते नापि दृश्योऽपि धूर्तचूडामणिर्मुने॥
एकेनैव निमेषेण किंचिदुत्थापयत्यलम्।
किंचिद्विनाशयत्युच्चैर्मनोराज्यवदाततः॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुमेरुं पर्णमर्णवम्।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः॥
क्रौर्यमत्रैव पर्याप्तं लुब्धतात्रैव संस्थिता।
सर्वदौर्भाग्यमत्रैव चापलं चापि दुस्सहम्॥
महाकल्पाभिधानेभ्यो वृक्षेभ्यः परिशातयन्।
देवासुरगणान्पक्वान्फलभारानिव स्थितः॥
न खिद्यते नाद्रियते नायाति न च गच्छति।
नास्तमेति न चोदेति महाकल्पशतैरपि॥
तारुण्यनलिनीसोम आयुर्मातङ्गकेसरी।
न तदस्ति न यस्यायं तुच्छातुच्छस्य तस्करः॥
कर्ता भोक्ताथ संहर्ता स्मर्ता सर्वपदं गतः॥
सकलमप्यकलाकलितान्तरं
सुभगदुर्भगरूपधरं वपुः।
प्रकटयन् सहसैव च गोपयन्
विलसतीह हि कालबलं नृषु॥

'मुने! यह काल धूर्तोंका शिरोमणि है। इसे कितना ही तोड़ा जाय, टूटता नहीं। जलानेपर भी जलता नहीं और दृश्य होनेपर भी दीखता नहीं। यह मनोराज्यकी भाँति फैला हुआ है। एक ही निमेषमें किसी वस्तुको उत्पन्न कर देता है और पलभरमें किसी भी वस्तुका पूर्णतः विनाश कर डालता है। काल केवल अपना ही पेट भरनेमें संलग्न रहनेके कारण तिनका, धूल, इन्द्र, सुमेरु, पत्ता और समुद्र—सबको अपने अधीन करने—निगल जानेके लिये उद्यत रहता है। केवल इस कालमें ही पर्याप्त क्रूरता भरी है, लोभ भी इसीके भीतर डेरा डाले हुए है। सारा-का-सारा दुर्भाग्य भी इसीमें निवास करता है तथा दुस्सह चपलता भी इसीमें उपलब्ध होती है। यह काल महाकल्प नामक वृक्षोंसे देवता, मनुष्य और असुर आदि प्राणिसमूहरूपी पके हुए फलोंके भारोंको गिराता हुआ-सा खड़ा है। सैकड़ों महाकल्प बीत जानेपर भी यह काल न तो खिन्न होता है न किसीके द्वारा समादृत होता है, न कहीं आता है न जाता है, न अस्त होता है और न इसका उदय ही होता है। यौवनरूपी कमलिनी-को संकुचित करनेके लिये यह चन्द्रमाके समान है, आयुरूपी गजराजका मस्तक विदीर्ण करनेके लिये सिंहके सदृश है। इस संसारमें तुच्छ या महान् कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे यह कालरूपी चोर चुरा न ले जाता हो, यह काल ही व्यावहारिक अवस्थामें संसारका कर्ता, भोक्ता, संहार करनेवाला और स्मरणकर्ता आदि सभी पदोंपर प्रतिष्ठित होता है। कोई भी बुद्धिकौशलद्वारा इस कालके रहस्यका निश्चय नहीं कर पाया है। पुण्य और पापके फलभोगके अनुसार सुन्दर और कुरूप रूप धारण करनेवाले समस्त शरीरोंको काल ही उत्पन्न करता, काल ही उनकी रक्षा करता और काल ही सहसा उनका संहार कर देता है। इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र कालका विलास देखा जाता है। मनुष्योंमें तो कालका बल प्रसिद्ध ही है।

चण्डी चतुरसंचारा सर्वमातृगणान्विता।
संसारवनविन्यस्ता व्याघ्री भूतौघघातिनी॥
अजस्रस्फूर्जिताकारो वान्तदुःखशरावलिः।
अभावनामकोदण्डः परिस्फुरति सर्वतः॥

'इस कालकी पत्नी है—चण्डी (अत्यन्त कोपवती कालरात्रि), जो बड़ी चतुराईसे चलती है। इसे कालने संसाररूपी वनमें विहार करनेके लिये नियुक्त किया है, इसके साथ सारी मातृकाएँ (डाकिनी, शाकिनी आदि) रहती हैं। यह कालरात्रि बाघिनके समान प्राणिसमूहका विनाश करनेवाली है। कालके धनुषका नाम है—अभाव या संहार। वह निरन्तर टंकार करता रहता है, उससे दुःखरूपी बाणोंकी झड़ी लगी ही रहती है। यह धनुष सब ओर स्फुरित होता रहता है।

यदिदं दृश्यते किंचिज्जगदाभोगिमण्डलम् ।
तत्तस्य नर्तनागारमिहासावति नृत्यति ॥
भूयः करोति भुवनानि वनान्तराणि
लोकान्तराणि जनजालककल्पनां च ।
आचारचारुकलनामचलां चलां च
पङ्काद्यथार्भकजनो रचनामखिन्नः ॥
(सर्ग २३—२५)

'यह जो कुछ भी विस्तृत जगन्मण्डल दिखायी देता है, वह उस कालकी नृत्यशाला है । इसमें वह खूब जी भरकर नृत्य करता है । जैसे बालक गीली मिट्टीको लेकर नाना प्रकारके खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार काल भी बारंबार चौदह भुवन, विभिन्न वन, लोक-लोकान्तर, जीवसमुदाय तथा उनके नाना प्रकारके आचार-विचारोंकी सृष्टि करता है । उन आचार-विचारोंकी प्रवृत्ति सत्ययुग और त्रेतामें अचल तथा द्वापर और कलिमें चल होती है । इन सबकी सृष्टि करनेमें काल कभी थकता नहीं ।'

कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी अनित्यता

श्रीराम उवाच

वृत्तेऽस्मिन्नेवमेतेषां कालादीनां महामुने ।
संसारनाम्नि कैवास्था मादृशानां वदत्विह ॥
विक्रीता इव तिष्ठाम एतैर्दैवादिभिर्वयम् ।
मुने प्रपञ्चरचनैर्मुग्धा वनमृगा इव ॥
ग्रसतेऽविरतं भूतजालं सर्प इवानिलम् ।
कृतान्तः कर्कशाचारो जरां नीत्वाजरं वपुः ॥
यमो निर्घृणराजेन्द्रो नार्तं नामानुकम्पते ।
सर्वभूतदयोदारो जनो दुर्लभतां गतः ॥
सर्वा एव मुने फल्गुविभवा भूतजातयः ।
दुःखायैव दुरन्ताय दारुणा भोगभूमयः ॥
आयुरत्यन्तचपलं मृत्युरेकान्तनिष्ठुरः ।
तारुण्यं चातितरलं बाल्यं जडतया हृतम् ॥
कलाकलङ्कितो लोको बन्धवो भवबन्धनम् ।
भोगा भवमहारोगास्तृष्णाश्च मृगतृष्णिकाः ॥
शत्रवश्चेन्द्रियाण्येव सत्यं यातमसत्यताम् ।
प्रहरत्यात्मनैवात्मा मनसैव मनो रिपुः ॥
अहंकारः कलङ्काय बुद्धयः परिपेलवाः ।
क्रिया दुष्फलदायिन्यो
लीलाः स्त्रीनिष्ठतां गताः ॥
वाञ्छा विषयशालिन्यः सच्चमत्कृतयः क्षताः ।
नार्यो दोषपताकिन्यो रसा नीरसतां गताः ॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'महामुने ! जब जगत्में इन काल आदिके चरित्र ऐसे हैं, तब आप ही बताइये, इस संसारनामधारी प्रपञ्चमें मेरे-जैसे लोगोंकी क्या आस्था हो सकती है । मुने ! इन दैव (प्रारब्ध कर्म) आदिके द्वारा की हुई सुख-दुःख आदिरूप प्रपञ्च-रचनाओंसे मोहित हुए हमलोग किसीके हाथ बिके हुए दासों तथा वनके मृगोंकी भाँति पराधीन हो रहे हैं । जैसे सर्प वायुको पीता है, उसी प्रकार यह क्रूर आचरण करनेवाला काल तरुण शरीरको बुढ़ापेमें पहुँचाकर समस्त प्राणि-समुदायको निरन्तर अपना ग्रास बनाता रहता है । काल निर्दयोंका सम्राट् है । वह किसी भी आर्त प्राणीके ऊपर दया नहीं करता । सम्पूर्ण भूतोंपर दया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसारमें दुर्लभ हो गया है । मुने ! जगत्में जितने भी प्राणियोंकी जातियाँ हैं, उन सबका वैभव अल्प एवं तुच्छ है तथा जितने भी भोगके स्थान हैं, वे सभी भयंकर और परिणाममें अनन्त दुःखकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं । प्राणियोंकी आयु अत्यन्त चपल (अस्थिर) है, मृत्यु बहुत ही निर्दय है । जवानी भी अधिक चञ्चल होती है और बाल्यावस्था मोहमें ही बीत जाती है । संसारी मनुष्य गाने-बजानेकी कलाके रस (अथवा विषयानुसंधान) से कलङ्कित हैं । बन्धु-बान्धव संसारमें बाँधनेके लिये रस्सीके समान हैं । भोग इस जगत्के महान् रोग हैं तथा सुख आदिकी तृष्णाएँ

मृगतृष्णाके समान हैं। बिना जीती हुई इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं। सत्यस्वरूप आत्मा असत्य-सा हो गया अर्थात् जीवात्मा अज्ञानके कारण देहको ही अपना स्वरूप मानने लग गया। बिना जीता हुआ मन बन्धनका हेतु होनेसे आत्माका शत्रु है एवं अज्ञानवश यह जीवात्मा स्वयं ही अपने-आपपर उस मनके द्वारा प्रहार करता है। अहंकार ही कलङ्कका कारण है। बुद्धियाँ कोमल (आत्मनिष्ठासे रहित) हैं। क्रियाएँ शास्त्रविरुद्ध होनेसे दुःखरूप फल देनेवाली हैं और लीलाएँ (शरीर और मनकी चेष्टाएँ) स्त्रीकी प्राप्तिमें ही केन्द्रित हैं, केवल स्त्रियाँ ही उनका विषय हो गयी हैं। इच्छाएँ विषयोंमें ही शोभा पाती हैं—वे भोगोंकी ओर ही दौड़ती हैं। परमात्मस्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं। स्त्रियाँ दोषोंकी सेनाएँ हैं तथा सम्पूर्ण विषय-रस वास्तवमें नीरस हैं।

तप्यते केवलं साधो मतिराकुलितान्तरा।
रागरोगो विलसति विरागो नोपगच्छति॥
रजोगुणहता दृष्टिस्तमः सम्परिवर्द्धते।
न चाधिगम्यते सत्त्वं तत्त्वमत्यन्तदूरतः॥
स्थितिरस्थिरतां याता मृतिरागमनोन्मुखी।
धृतिर्वैधुर्यमायाता रतिर्नित्यमवस्तुनि॥
मतिर्मान्द्येन मलिना पातैकपरमं वपुः।
ज्वलतीव जरा देहे प्रतिस्फुरति दुष्कृतम्॥
यत्नेन याति युवता दूरे सज्जनसंगतिः।
गतिर्न विद्यते काचित्क्वचिन्नोदेति सत्यता॥
मनो विमुह्यतीवान्तर्मुदिता दूरतां गता।
नोज्ज्वला करुणोदेति दूरादायाति नीचता॥
धीरताधीरतामेति पातोत्पातपरो जनः।
सुलभो दुर्जनाश्लेषो दुर्लभः सत्समागमः॥
आगमापायिनो भावा भावना भवबन्धनी।
नीयते केवलं क्वापि नित्यं भूतपरम्परा॥
दिशोऽपि हि न दृश्यन्ते देशोऽप्यन्यापदेशभाक्।
शैला अपि विशीर्यन्ते कैवास्था मादृशे जने॥
अद्यते सत्तयापि द्यौर्भुवनं चापि भुज्यते।
धरापि याति वैधुर्यं कैवास्था मादृशे जने॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च शीर्यन्ते तारका अपि।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति कैवास्था मादृशे जने॥
दानवा अपि दीर्यन्ते ध्रुवाप्यध्रुवजीविताः।
अमरा अपि मार्यन्ते कैवास्था मादृशे जने॥
शक्रोऽप्याक्रम्यते वक्त्रैर्यमोऽपि हि नियम्यते।
वायुरप्येत्यवायुत्वं कैवास्था मादृशे जने॥

'महात्मन्! दूषित बुद्धिने सबके अन्तःकरणको व्याकुल कर रक्खा है। अज्ञानके कारण सभी संतप्त हो रहे हैं। रागरूपी रोग दिनोंदिन बढ़ रहा है और वैराग्य दुर्लभ हो रहा है। आत्मदर्शनकी शक्ति रजोगुणसे नष्ट हो गयी है। अतः सत्त्वगुण नहीं प्राप्त होता। केवल तमोगुण बढ़ रहा है। इसलिये तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) अत्यन्त दूर है। जीवन अस्थिर हो गया है। मृत्यु जल्दी ही आनेके लिये उत्सुक है। धैर्य शिथिल हो गया है और तुच्छ विषय-भोगोंके प्रति लोगोंकी आसक्ति प्रतिदिन बढ़ रही है। बुद्धि मूढतासे मलिन हो गयी है। शरीरका अन्तिम परिणाम एकमात्र पतन (विनाश) ही है। देहमें जरावस्था मानो प्रज्वलित हो उठी है और पापकी ही बारंबार स्फुरणा होती है। जवानी यत्नपूर्वक भागी जा रही है। सत्सङ्ग दुर्लभ हो गया है। कहीं कोई गति (दुःखसे छुटकारेका उपाय) नहीं मिलती और सत्यभावका उदय तो कहीं हो ही नहीं रहा है। मन मोहसे आच्छन्न-सा हो रहा है। दूसरेको सुखी देखकर होनेवाला आत्मसंतोष मानो दूर चला गया है। उज्ज्वल करुणाका उदय नहीं हो रहा है और नीचता दूरसे निकट चली आ रही है। धीरता अधीरतामें परिणत

हो रही है। जीवोंका काम केवल आवागमन—जन्मना-मरना रह गया है। दुष्टोंका सङ्ग पद-पदपर सुलभ है, परंतु सत्पुरुषोंका सङ्ग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वासना संसारमें बाँधनेवाली है और काल प्राणियोंकी परम्पराको नित्य कहीं अज्ञात स्थानमें लिये जाता है। दिशाएँ भी नहीं दिखायी देतीं। देश भी विदेश हो जाता है, नष्ट हो जाता और पर्वत भी बिखरकर ढह जाते हैं, फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतामें क्या विश्वास है। सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, वह काल आकाशको भी खा जाता है। चौदहों भुवनोंको भी अपना भोजन बना लेता है। पृथ्वी भी विनाशको प्राप्त हो जाती है। फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है। कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूटकर बिखर जाते हैं, सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं, फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था हो सकती है। बड़े-बड़े दानव भी विदीर्ण हो जाते हैं। ध्रुव भी अध्रुवजीवी वन जाते हैं और अमर भी मृत्युके ग्रास बना लिये जाते हैं, फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है। काल अपने अगणित मुखोंसे इन्द्रको भी चबा जाता है, यमराजको भी वशमें कर लेता है और उसीके प्रभावसे वायु भी अवायु हो जाता है—अपना अस्तित्व खो बैठता है, फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है।

सोमोऽपि व्योमतां याति
मार्तण्डोऽप्येति खण्डताम्।
भग्नतामग्निरप्येति कैवास्था, मादृशे जने॥
कालः संकाल्यते येन नियतिश्चापि नीयते।
खमप्यालीयतेऽनन्तं कैवास्था मादृशे जने॥
अश्राव्यावाच्यदुर्दर्शतत्त्वेनाज्ञातमूर्तिना।
भुवनानि विडम्ब्यन्ते केनचिद् भ्रमदायिना॥
अहंकारकलामेत्य सर्वत्रान्तरवासिना।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु यस्तेनेह न बाध्यते॥
दिवि देवा भुवि नराः पातालेषु च भोगिनः।
कल्पिताः कल्पमात्रेण नीयन्ते जर्जरां दशाम्॥
अनुरक्ताङ्गनालोललोचनालोकिताकृति।
स्वस्थीकर्तुं मनः शक्तो न विवेको महानपि॥
परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया।
बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया धिया॥
उत्पन्नध्वंसिनः कालवडवानलपातिनः।
संख्यातुं केन शक्यन्ते कल्लोला जीवितामबुधौ॥
सर्व एव नरा मोहाद् दुराशापाशपाशिनः।
दोषगुल्मकसारङ्गा विशीर्णा जन्मजङ्गले॥
संक्षीयते जगति जन्मपरम्परासु
लोकस्य तैरिह कुकर्मभिरायुरेतत्।
आकाशपादपलताकृतपाशकल्पं
येषां फलं नहि विचारविदोऽपि विद्मः॥
अद्योत्सवोऽयमृतुरेष तथेह यात्रा
ते बन्धवः सुखमिदं सविशेषभोगम्।
इत्थं मुधैव कलयन्सुविकल्पजाल-
मालोलपेलवमतिर्गलतीह लोकः॥
(सर्ग २६)

'सोम (चन्द्रमा) भी कालवश व्योम (आकाश) में विलीन हो जाता है। मार्तण्ड (सूर्य) के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्नता (विनाश) को प्राप्त हो जाती है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था की जा सकती है। जो काल (मृत्यु) को भी कवलित कर लेता है, नियतिको भी नष्ट कर देता है और अनन्त आकाशको भी अपने-आपमें विलीन कर लेता है, उस महाकालके होते हुए मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है। जिसका कानोंसे श्रवण, वाणीसे वर्णन और नेत्रोंसे दर्शन नहीं होता, ऐसे अज्ञात-

स्वरूप एवं मायाके उत्पादक किसी सूक्ष्म तत्त्वके द्वारा चौदहों भुवन अपने-आपमें ही मायाद्वारा दिखाये जा रहे हैं । समष्टि अहंकाररूप कलाको प्राप्त होकर सबके भीतर निवास करनेवाला वह तत्त्व निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है । तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो उसके द्वारा नष्ट न किया जा सके । स्वर्गमें देवता, भूतलपर मनुष्य और पातालमें सर्पोंकी सृष्टि उसीने की है । वही अपने संकल्पमात्रसे इस सबको जर्जर दशामें पहुँचा देता है । अनुरागयुक्त कामिनियोंने अपने चञ्चल लोचनोंद्वारा कटाक्षपूर्वक जिसकी ओर देखा है, उस पुरुषके मनको महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर पाता । जो दूसरोंका उपकार करनेवाली है और दूसरोंकी पीड़ा देखकर संतप्त हो उठती है, अपनी आत्माको शान्ति प्रदान करनेवाली उस शीतल बुद्धिसे युक्त ज्ञानी महात्मा ही सुखी है—ऐसा मेरा विश्वास है । जैसे समुद्रमें उत्पन्न वाडवाग्निके मुँहमें गिरकर नष्ट होनेवाली असंख्य लहरोंको कोई गिन नहीं सकता, उसी तरह संसारमें उत्पन्न हो कालके मुँहमें पड़नेवाले अनन्त प्राणियोंकी गणना कौन कर सकता है । जैसे झाड़ियोंमें बैठे हुए मृग या पक्षी अपनी जिह्वाकी लोलुपताके कारण मोहवश जालमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दुराशा-पाशमें बँधे हुए सभी मनुष्य दोषरूपी झाड़ियोंके मृग बने हुए हैं । वे सब-के-सब मोह-जालमें फँसकर पुनर्जन्मरूपी जंगलमें नष्ट हो जाते हैं । इस संसारमें लोगोंकी आयु विभिन्न जन्मोंमें किये गये उन-उन कुकर्मोंसे नष्ट हो रही है । यदि आकाशमें वृक्ष हो, उस वृक्षमें लता हो और उस लतासे गलेमें फाँसी लगाकर मनुष्यको लटका दिया जाय तो उससे जो दुःख होगा, वैसा ही दुःखमय फल उन कुकर्मोंका भी बताया गया है । उस दुःखकी निवृत्तिके लिये उपाय करना तो दूरकी बात है, उस उपायका विचार करनेवाले लोग भी यहाँ हैं या नहीं, हमें इसीका पता नहीं है । मुनीश्वर ! इस संसारमें लोगोंकी बुद्धि चञ्चल और मृदु है । उसी बुद्धिसे युक्त मनुष्य व्यर्थ ही अनेक संकल्प-विकल्पोंका जाल रचते हुए कहते हैं—'आज उत्सव है ।' 'यह बड़ी सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिये ।' 'वे लोग हमारे भाई-बन्धु हैं और यह सुख विशिष्ट भोगोंसे युक्त है ।' इन्हीं संकल्पोंमें पड़े-पड़े वे सब लोग एक दिन कालके गालमें चले जाते हैं ।'

सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारता, क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका तथा सत्पुरुषोंकी दुर्लभताका प्रतिपादन

श्रीराम उवाच

अन्यच्च तातातितरामरम्ये
मनोरमे चेह जगत्स्वरूपे ।
न किंचिदायाति तदर्थजातं
येनातिविश्रान्तिमुपैति चेतः ॥
बाल्ये गते कल्पितकेलिलीले
मनोमृगे दारदरीषु जीर्णे ।
शरीरके जर्जरतां प्रयाते
विदूयते केवलमेव लोकः ॥
जरातुषाराभिहतां शरीर-
सरोजिनीं दूरतरे विमुच्य ।
क्षणाद् गते जीवितचञ्चरीके
जनस्य संसारसरोऽवशुष्कम् ॥
तृष्णानदी सारतरप्रवाह-
ग्रस्ताखिलानन्तपदार्थजाता ।
तटस्थसंतोषसुवृक्षमूल-
निकापदक्षा वहतीह लोके ॥
शरीरनौश्चर्मनिबन्धबद्धा
भवाम्बुधावालुलिता भ्रमन्ती

प्रलोड्यते पञ्चभिरिन्द्रियाख्यै-
रधोभवन्ती मकरैरधीरा ॥
तृष्णालताकाननचारिणोऽमी
शाखाशतं काममहीरुहेषु ।
परिभ्रमन्तः क्षपयन्ति कालं
मनोमृगा नो फलमाप्नुवन्ति ॥
कृच्छ्रेषु दूरास्तविषादमोहाः
स्वास्थ्येषु नोत्सिक्तमनोऽभिरामाः ।
सुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरीभि-
रनाहतान्तःकरणा महान्तः ॥
तरन्ति मातङ्गघटातरङ्गं
रणाम्बुधिं ये मयि ते न शूराः ।
शूरास्त एवेह मनस्तरङ्गं
देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति ॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'तात ! मुनीश्वर ! इस जगत्का स्वरूप अत्यन्त अरमणीय (अभद्र) है, तो भी यह ऊपरसे मनोरम प्रतीत होता है। इसमें कोई ऐसा पदार्थ मेरी दृष्टिमें नहीं आता, जिसके प्राप्त होनेसे चित्तको अत्यन्त विश्राम (परम सुख) मिल सके। बाल्यावस्था विविध प्रकारसे कल्पित क्रीडा-कौतुकमें ही चपलतापूर्वक बीत जाती है। युवावस्था आनेपर मनरूपी मृग स्त्रीरूपिणी गुफाओंमें ही रमता हुआ जीर्ण हो जाता है। फिर वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर जब यह शरीर जर्जर हो जाता है, उस समय जनसमुदाय केवल दुःख-ही-दुःख भोगता रहता है (उसे कहीं कभी भी सुख-शान्तिका लेश भी प्राप्त नहीं होता)। बुढ़ापारूपी हिमकी वर्षासे जब देहरूपिणी कमलिनी नष्ट हो जाती है, उस समय प्राणरूपी भ्रमर इसे छोड़कर दूर, बहुत दूर चला जाता है। उस दशामें उस मनुष्यके लिये यह संसाररूपी सरोवर शुष्क (नष्ट) हो जाता है। इस संसारमें तृष्णा नामकी नदी निरन्तर बहती रहती है, जिसने अपने प्रबल प्रवाहके वेगसे यहाँके समस्त अनन्त पदार्थोंको ग्रस लिया है (नष्ट कर दिया है)। यह संतोषरूपी तटवर्ती उत्तम वृक्षकी जड़ खोदनेमें बड़ी दक्ष है। संसाररूपी समुद्रमें चमड़ेसे मढ़ी हुई शरीररूपिणी नौका क्षुधा, पिपासा आदि विविध तरङ्गोंसे आहत हो हिलती-डोलती हुई इधर-उधर घूम रही है। पाँच इन्द्रिय नामक ग्राह इसे टक्कर मारकर डुबानेके लिये उद्यत रहते हैं। इस तरह यह नौका क्रमशः नीचे जा रही है—डूबना चाहती है। इसमें धैर्य और वैराग्यसे सुशोभित होनेवाले विवेकी जीव नहीं बैठे हैं। जहाँ तृष्णारूपिणी लताओंका ही प्राधान्य है, ऐसे संसाररूपी वनमें विचरनेवाले ये मनरूपी बंदर कामरूपी वृक्षोंकी सैकड़ों शाखाओंपर भटकते हुए अपनी आयु नष्ट करते हैं, परंतु कभी मनोवाञ्छित फल नहीं पाते। महर्षे ! आपत्तियोंकी प्राप्ति होनेपर भी दुःख और मोह जिनसे दूर ही रहते हैं, स्वास्थ्य और सम्पत्तिमें भी जो अहंकारशून्य मनसे सुशोभित होते हैं तथा सुन्दरी रमणियाँ जिनके अन्तःकरणमें चोट नहीं पहुँचातीं (विकार नहीं उत्पन्न करतीं), ऐसे महात्मा पुरुष इस समय अत्यन्त दुर्लभ हैं। जो हाथियोंकी सेनारूपी तरङ्गोंसे उद्वेलित होनेवाले समर-सागरको अपने बल-विक्रमके द्वारा पार कर जाते हैं, मेरी दृष्टिमें वे शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हींको शूरवीर मानता हूँ, जो मनरूपी उत्ताल तरङ्गोंसे पूर्ण इस देह और इन्द्रियरूपी समुद्रको विवेक, वैराग्य आदिके द्वारा लाँघ जाते हैं।

कीर्त्या जगद्दिक्कुहरं प्रतापैः
श्रिया गृहं सत्त्वबलेन लक्ष्मीम् ।
ये पूरयन्त्यक्षतधैर्यबन्धा
न ते जगत्यां सुलभा महान्तः ॥
अप्यन्तरस्थं गिरिशैलभित्ते-
र्वज्रालयाभ्यन्तरसंस्थितं वा ।

सर्वे समायान्ति ससिद्धिवेगाः
सर्वाः श्रियः संततमापदश्च ॥
पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुद्ध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनाभम् ।
सर्वे तु तन्नोपकरोत्यथान्ते
यत्रातिरम्या विषमूर्च्छलैव ॥
विषादयुक्तो विषमामवस्था-
मुपागतः कायवयोऽवसाने ।
भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः ॥
कामार्थधर्माप्तिकृतान्तराभिः
क्रियाभिरादौ दिवसानि नीत्वा ।
चेतश्चलद्बर्हिणपिच्छलोलं
विश्रान्तिमागच्छतु केन पुंसः ॥
इमान्यमूनीति विभावितानि
कार्याण्यपर्यन्तमनोरमाणि ।
जनस्य जायाजनरञ्जनेन
जवाज्जरान्तं जरयन्ति चेतः ॥
पर्णानि जीर्णानि यथा तरूणां
समेत्य जन्माशु लयं प्रयान्ति ।
तथैव लोकाः स्वविवेकहीनाः
समेत्य गच्छन्ति कुतोऽप्यहोभिः ॥

'जो कीर्तिसे जगत्‌को, प्रतापसे सम्पूर्ण दिशाओंके अन्तरालोंको, सम्पत्तिसे याचकोंके घरोंको और सात्त्विक बल (क्षमा, विनय, उदारता आदि) से लक्ष्मीको परिपूर्ण करते हैं तथा जिनके धैर्यका बन्धन कभी टूटता नहीं, वे महापुरुष इस पृथ्वीपर सुलभ नहीं हैं (परम दुर्लभ हैं)। कोई पर्वतकी प्रस्तरमयी दीवार-के भीतर (गहन गुफाओंमें) निवास करता हो या वज्रनिर्मित अभेद्य दुर्गमें रहता हो, सभी मनुष्योंके पास प्रारब्धके अनुसार पुण्यके फलस्वरूप सम्पत्तियाँ अणिमा आदि सिद्धियोंको साथ लिये सदा वेगपूर्वक चली आती हैं और पापके फलस्वरूप आपत्तियाँ भी निरन्तर अपने-आप आ जाती हैं। तात! पुत्र, स्त्री और धन—इन सबको मनुष्य भ्रमवश अपनी बुद्धिके द्वारा रसायनके समान सुखद मान लेता है; परंतु मृत्युकाल आनेपर वे सब-के-सब कोई उपकार नहीं करते, अपितु अत्यन्त रमणीय भोग भी उस समय विषपान करनेसे होनेवाली मूर्छाके समान दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। शरीरकी बाल्य और युवावस्थाओंके अन्तमें बुढ़ापेकी विषम अवस्थाको पहुँचा हुआ जराजीर्ण शरीरवाला जीव विषादमग्न हो इस लोकमें अपने संचित किये हुए धर्मशून्य (पापपूर्ण) भावों (कर्मों एवं विचारों) का स्मरण करके दुस्सह अन्तर्ज्वाला-से जलता रहता है। जीवनके प्रारम्भमें केवल काम, अर्थ और सकाम धर्मकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की गयी क्रियाओंद्वारा ही अपने दिन बिताकर वृद्धावस्थाको पहुँचे हुए उन मनुष्योंका हिलते हुए मोरपंखके समान चञ्चल चित्त किस उपायसे विश्राम (सुख-शान्ति) लाभ करे। (अर्थात् निष्काम धर्म या परमार्थ-साधनके बिना सुख-शान्तिका मिलना कठिन है)। इनको अभी करना है और उन्हें बादमें—इस प्रकार जिनके लिये चिन्ता की जाती है, वे आपातरमणीय एवं परिणाममें अनर्थरूप सिद्ध होनेवाले कार्य स्त्रियों तथा अन्य लोगोंके मनोरञ्जनपूर्वक किये जाते हुए वृद्धावस्थाके अन्ततक लोगोंके चित्तको वेगपूर्वक जीर्ण-शीर्ण (विवेकभ्रष्ट) करते रहते हैं। जैसे वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न होकर थोड़े ही दिनोंमें पीले पड़कर झड़ जाते या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मविवेकसे रहित मनुष्य इस लोकमें जन्म ले एक दूसरेसे मिलकर कुछ ही दिनोंमें साथ छोड़कर चल देते हैं।

इतस्ततो दूरतरं विहृत्य
प्रविश्य गेहं दिवसावसाने ।

विवेकिलोकाश्रयसाधुकर्म-
रिक्तेऽह्नि रात्रौ क उपैति निद्राम् ॥
विद्राविते शत्रुजने समस्ते
समागतायामभितश्च लक्ष्याम् ।
सेव्यन्त एतानि सुखानि यावत्
तावत्समायाति कुतोऽपि मृत्युः ॥
कुतोऽपि संवर्द्धिततुच्छरूपै-
र्भावैरसीमैः क्षणनष्टदृष्टैः ।
विलोड्यमाना जनता जगत्यां
न वेत्युपायातमहो नु पातम् ॥
अजस्रमागच्छति सत्वरैव-
मनारतं गच्छति सत्वरैव ।
कुतोऽपि लोला जनता जगत्यां
तरङ्गमाला क्षणभङ्गुरेव ॥
प्राणापहारैकपरा नराणां
मनो मनोहारितया हरन्ति ।
रक्तच्छदाश्चञ्चलषट्पदाक्ष्यो
विषद्रुमालोललताः स्त्रियश्च ॥
इतोऽन्यतश्चोपगता मुधैव
समानसंकेतनिबद्धभावा ।
यात्रासमासङ्गसमा नराणां
कलत्रमित्रव्यवहारमाया ॥
संसारसंरम्भकुचक्रियेयं
प्रावृट्पयोबुद्बुदभङ्गुरापि ।
असावधानस्य जनस्य बुद्धौ
चिरस्थिरप्रत्ययमातनोति ॥

'भला, कौन समझदार मनुष्य दिनमें ज्ञानी महापुरुषोंका सङ्ग एवं सत्कर्मोंका अनुष्ठान न करके दूर-दूरतक व्यर्थ इधर-उधर घूमता हुआ सायंकाल घरमें लौटनेपर रातमें सुखकी नींद सो सकेगा। समस्त शत्रुओंको मार भगानेपर जो चारों ओरसे धन-सम्पत्ति प्राप्त होने लगती है, उस समय पुरुष, ज्यों ही इन विषयसुखोंके सेवनमें लगता है, त्यों ही मृत्यु कहींसे सहसा आ धमकती है। जो किसी कारणसे वृद्धिको प्राप्त होकर भी क्षणभरमें ही नष्ट होते देखे गये हैं, उन अत्यन्त तुच्छ विषयभोगोंद्वारा इधर-उधर भटकायी जाती हुई जनता इस भूतलपर अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान पाती, यह कितने आश्चर्यकी बात है। समुद्रकी क्षणभङ्गुर लहरोंके समान यह चपल जनता इस भूतलपर निरन्तर न जाने कहींसे वेगपूर्वक आती और फिर सदा वेगसे ही चली जाती है। जैसे चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रों और लाल पल्लवरूपी अधरोंवाली तथा विष-वृक्षपर चढ़कर फैली हुई चञ्चल विष-लताएँ देखनेमें अति सुन्दर होनेके कारण पहले मनको हर लेती हैं, पीछे सेवन करनेपर प्राणोंका नाश कर देती हैं, उसी प्रकार लाल अधरों और भ्रमरतुल्य चञ्चल नेत्रोंसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी स्त्रियाँ मनोहारिणी होनेके कारण पहले तो मनुष्योंके चित्तको चुराती हैं, फिर सर्वथा उनके प्राणोंका अपहरण करनेवाली बन जाती हैं। जैसे तीर्थयात्रा अथवा देवोत्सवमें बहुत-से मनुष्योंका मेला जुट जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोकसे व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हमलोगोंकी भेंट होगी, इस तरह आपसके संकेतयुक्त अभिप्रायसे एकत्र हुए लोगोंका जो स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके रूपमें यहाँ मिलन होता है, यह व्यवहार मायामय ही है। यह संसार वेगपूर्वक घूमनेवाले कुलाल[1]-चक्रके समान है। यद्यपि यह वर्षाऋतुके पानीके बुलबुलोंके समान क्षणभङ्गुर है, तथापि असावधान मनुष्योंकी बुद्धिमें अपनी चिरस्थायिताकी ही प्रतीति कराता है।

१. कुम्हारका चाक।

पुनः पुनर्दैववशादुपेत्य
स्वदेहभारेण कृतोपकारः ।
विलूयते यत्र तरुः कुठारै-
राश्वासने तत्र हि कः प्रसङ्गः ॥
मनोरमस्याप्यतिदोषवृत्ते-
रन्तर्विघाताय समुत्थितस्य ।
विषद्रुमस्येव जनस्य सङ्गा-
दासाद्यते सम्प्रति मूर्च्छमेव ॥
कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः
कास्ता दिशो यासु न दुःखदाहः ।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वं
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया ॥
कल्पाभिधानक्षणजीविनो हि
कल्पौघसंख्याकलने विरिञ्च्याः ।
अतः कलाशालिनि कालजाले
लघुत्वदीर्घत्वधियोऽप्यसत्याः ॥
सर्वत्र पाषाणमया महीध्रा
मृदा मही दारुभिरेव वृक्षाः ।
मांसैर्जनाः पौरुषबद्धभावा
नापूर्वमस्तीह विकारहीनम् ॥
आलोक्यते चेतनयानुविद्धा
पयोनुबद्धोऽनलयो नभः स्थाः ।
पृथग्विभागेन पदार्थलक्ष्म्या
एतज्जगन्नेतरदस्ति किंचित् ॥

'जहाँ दैववश बारंबार जन्म लेकर अपनी छाया, पत्र और पुष्प आदिके द्वारा निरन्तर प्राणियोंका उपकार करनेवाला वृक्ष भी कुल्हाड़ीसे काट दिया जाता है, उस संसारमें मनुष्य-जैसा अपराधी और उपकारशून्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करनेके लिये कौन-सा कारण है । बढ़ा हुआ विषका वृक्ष और विषयासक्त पुरुष दोनों ऊपरसे बड़े मनोहर लगते हैं; किंतु उनके भीतर बड़ा भारी दोष भरा रहता है । एक (विषवृक्ष) हृदयस्थित प्राणोंके विनाशके लिये खड़ा है तो दूसरा (विषयासक्त मनुष्य) आन्तरिक शान्तिके विघातके लिये तैयार रहता है । इनके सङ्गसे तत्काल मूर्छा या मूढ़ता ही प्राप्त होती है । संसारमें ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं है ? वे कौन-सी दिशाएँ हैं, जहाँ दुःख और दाह नहीं है ? वे कौन-से जीव-शरीर हैं, जो क्षणभङ्गुर नहीं हैं ? और कौन-सी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल-कपट नहीं है ? बीते हुए और आनेवाले अनन्त कल्पोंकी संख्याका परिज्ञान नहीं होता । इसलिये जैसे क्षण अनन्त हैं, उसी प्रकार कल्प भी अनन्त हैं । भगवान् विष्णु और रुद्र आदिकी दृष्टिमें कल्प भी क्षण ही है । अतः ब्रह्मलोकके निवासी भी कल्प-नामधारी एक क्षणतक ही जीनेवाले हैं । इसलिये कलाओं (विभिन्न अंशों) से सुशोभित होनेवाले कालसमूहमें लघुत्व और दीर्घत्व—चिरजीवन और क्षणजीवनकी बुद्धि भी द्रष्टाकी कल्पनाके अधीन होनेके कारण असत्य ही है । सर्वत्र पत्थरके ही पहाड़ हैं—उनमें पत्थरके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है । इसी तरह सब जगह मिट्टीकी ही पृथ्वी है, काष्ठके ही वृक्ष हैं और हाड़-मांसके ही मनुष्य हैं । लोगोंके बनाये हुए संकेतके अनुसार ही उनके विशेष नाम आदि भाव नियत हो गये हैं । इस भोग्यवर्गमें कोई भी वस्तु विकारसे हीन अथवा अपूर्व नहीं है । सब कुछ विकाररूप होनेके कारण ही असत्य है । बड़े खेदकी बात है कि जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर घट-पट आदि नाना पदार्थोंके रूपमें अविवेकी पुरुषोंको प्रतीत होते हैं । चेतनके सांनिध्यसे ही उन्हें पदार्थोंकी प्रतीति होती है । विवेक-दृष्टिसे पृथक्-पृथक् विभागपूर्वक आलोचना करनेपर यह जगत्

पाँच भूतोंसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं सिद्ध होता।

चमत्कृतिश्चेह मनस्विलोक-
चेतश्चमत्कारकरी नराणाम्।
स्वप्नेऽपि साधो विषयं कदाचित्
केषांचिदस्येति न चित्ररूपा॥

'महात्मन्! मिथ्या होनेपर भी इस पदार्थ-समूहके विषयमें व्यवहार-कुशलताके कारण विद्वान् पुरुषोंके भी मनमें भोगसम्बन्धी चमत्कार (चेष्टा) को उत्पन्न करनेवाली जो व्यवहार-चमत्कृति या प्रवृत्ति देखी जाती है, वह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कभी-कभी स्वप्नमें मिथ्याभूत विषयको लक्ष्य करके भी किन्हीं लोगोंकी उस प्रकारकी चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

आदातुमिच्छन् पदमुत्तमानां
स्वचेतसैवापहतोऽद्य लोकः।
पतत्यशङ्कं पशुरद्रिकूटा-
दानीलवल्लीफलवाञ्छयैव॥

'जैसे पशु किसी हरी-हरी लताके फलको पानेकी इच्छासे ही आगे बढ़नेपर निस्संदेह पर्वतशिखरसे गिर जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंके पद (स्थान या धन-वैभव आदि) को हठात् लेनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष राग-लोभ आदि दोषोंसे दूषित हुए अपने चित्तके द्वारा ही मारा जाकर अवश्य पतनके गर्तमें गिर जाता है।' (सर्ग २७)

जागतिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन

श्रीराम उवाच

यच्चेदं दृश्यते किंचिज्जगत्स्थावरजंगमम्।
तत्सर्वमस्थिरं ब्रह्मन् स्वप्नसंगमसंनिभम्॥
यदङ्गमद्य संवीतं कौशेयस्रग्विलेपनैः।
दिगम्बरं तदेव श्वो दूरे विशरितावटे॥
यत्राद्य नगरं दृष्टं विचित्राचारचञ्चलम्।
तत्रैवोदेति दिवसैः संशून्यारण्यधर्मता॥
यः पुमानद्य तेजस्वी मण्डलान्यधितिष्ठति।
स भस्मकूटतां राजन् दिवसैरधिगच्छति॥
अरण्यानी महाभीमा या नभोमण्डलोपमा।
पताकाच्छादिताकाशा सैव सम्पद्यते पुरी॥
या लतावलिता भीमा भात्यद्य विपिनावली।
दिवसैरेव सा याति पुनर्मरुमहीपदम्॥
सलिलं स्थलतां याति स्थली भवति वारिभूः।
विपर्यस्यति सर्वं हि सकाष्ठाम्बुतृणं जगत्॥
अनित्यं यौवनं बाल्यं शरीरं द्रव्यसंचयाः।
भावाद्भावान्तरं यान्ति तरङ्गवदनारतम्॥
वातान्तर्दीपकशिखालोलं जगति जीवितम्।
तडित्स्फुरणसंकाशा पदार्थश्रीर्जगत्त्रये॥

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी स्थावर-जंगमरूप दृश्य जगत् दिखायी देता है, वह सब सपनेमें लगे हुए मेलेके समान अस्थिर है—चिरकालतक टिकनेवाला नहीं। आज जिस शरीरको रेशमी वस्त्र, फूलोंके हार तथा भाँति-भाँतिके अनुलेपनोंसे सजाया गया है, वही कल नंगा होकर ग्राम या नगरसे बहुत दूर किसी गड्ढेमें पड़ा सड़ जायगा। जिस स्थानमें आज विचित्र आहार-व्यवहार और चहल-पहलसे भरा हुआ चञ्चल-सा नगर देखा गया है, वहीं कुछ ही दिनोंमें सूने वनके धर्मका उदय हो जायगा—वह भूमि गहन वनके समान निर्जन एवं अगम्य हो जायगी। जो पुरुष आज तेजस्वी है और अनेक मण्डलोंपर शासन करता है, वही कुछ दिनोंके अनन्तर राखका ढेर बन जाता है। आज जो आकाशमण्डलके समान नीला और महाभयंकर वन है, वही कुछ कालके पश्चात् ध्वजा-

पताकाओंसे आकाशको ढक देनेवाला विशाल नगर बन जाता है। आज जो लता-वल्लरियोंसे आवेष्टित भयंकर वनश्रेणी दृष्टिगोचर होती है, वही कतिपय दिनोंमें ही मरुभूमि (रेगिस्तान) का स्थान ग्रहण कर लेती है। जल स्थल हो जाता है और स्थल जल। काठ, जल और तिनकोंसहित सारा जगत् ही विपरीत अवस्थाको प्राप्त होता रहता है। जवानी, बचपन, शरीर और द्रव्यसंग्रह—ये सब-के-सब अनित्य हैं और तरङ्गकी भाँति निरन्तर एक भावसे दूसरे भावको प्राप्त होते रहते हैं। इस संसारमें प्राणियोंका जीवन हवासे भरे स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौके समान चञ्चल (शीघ्र ही बुझ जानेवाला) है और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण पदार्थोंकी शोभा (चमक-दमक) बिजलीकी चमकके समान क्षणिक है।

दिवसास्ते महान्तस्ते सम्पदस्ताः क्रियाश्च ताः।
सर्वं स्मृतिपथं यातं यामो वयमपि क्षणात्॥
प्रत्यहं क्षयमायाति प्रत्यहं जायते पुनः।
अद्यापि हतरूपाया नान्तोऽस्या दग्धसंसृतेः॥
तिर्यक्त्वं पुरुषा यान्ति तिर्यञ्चो नरतामपि।
देवाश्चादेवतां यान्ति किमिवेह विभो स्थिरम्॥
द्यौः क्षमा वायुराकाशं पर्वताः सरितो दिशः।
विनाशवाडवस्यैतत्सर्वं संशुष्कमिन्धनम्॥
धनानि बान्धवा भृत्या मित्राणि विभवाश्च ये।
विनाशभयभीतस्य सर्वं नीरसतां गतम्॥
क्षणमैश्वर्यमायाति क्षणमेति दरिद्रताम्।
क्षणं विगतरोगत्वं क्षणमागतरोगताम्॥
प्रतिक्षणविपर्यासदायिना निहतात्मना।
जगद्भ्रमेण के नाम धीमन्तो हि न मोहिताः॥

'महर्षे ! वे उत्सव और वैभवसे सुशोभित होनेवाले दिन, वे महाप्रतापी पुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ तथा वे बड़े-बड़े कर्म—सब-के-सब दृष्टिपथसे दूर हो केवल स्मरणके विषय रह गये हैं। इसी तरह हम भी क्षणभरमें अज्ञात स्थानको चले जायँगे और लोगोंके स्मरणीय बनकर रह जायँगे। यह संसार प्र होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न हो अतः आजतक इस नष्टप्राय जले हुए संसा नहीं हुआ। प्रभो ! मनुष्य पशु-पक्षियोंक प्राप्त होते हैं। पशु-पक्षी मानवजन्म धारण तथा देवता भी देवेतर योनियोंमें जन्म लेते इस संसारमें कौन-सी वस्तु स्थिर है। स्व वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ के-सब विनाशरूपी बड़वानलके[1] लिये सूखे समान हैं। धन, भाई-बन्धु, भृत्यवर्ग, वैभव—ये सब-के-सब विनाशके भयसे डरे हु लिये नीरस ही हैं। मुनीश्वर ! जगत्में मनुष्य में ऐश्वर्य (धन-वैभव) प्राप्त कर लेता है और में दरिद्र हो जाता है। वह क्षणभरमें ही नी क्षणभरमें रोगी हो जाता है। इस प्रकार विपरीत अवस्था प्रदान करनेवाले इस नश्वर भ्रमसे कौन बुद्धिमान् मनुष्य मोहित नहीं (इस भ्रमने सभी लोगोंको मोहमें डाल रक्खा

तमःपङ्कसमालब्धं क्षणमाकाशमण्डल
क्षणं कनकनिष्यन्दकोमलालोकसुन्द
क्षणं जलदनीलाब्जमालावलितकोट
क्षणमुड्डामररवं क्षणं मूकमिव स्थित
क्षणं ताराविरचितं क्षणमर्केण भूषित
क्षणमिन्दुकृताह्लादं क्षणं सर्वबहिष्कृत
आगमापायपरया क्षणसंस्थितिनाश
न बिभेति हि संसारे धीरोऽपि क इवानघ
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति सम्पद
क्षणं जन्म क्षणं मृत्युर्मुने किमिव न क्षण
प्रागासीदन्य एवेह जातस्त्वन्यो नरो दि
सदेकरूपं भगवन् किंचिदस्ति न सुस्थिर

१. यहाँ बड़वानलका अर्थ अग्निमात्र समझना च

अशूरेण हतः शूर एकेनापि हतं शतम् ।
प्राकृताः प्रभुतां याताः सर्वमावर्त्यते जगत् ॥
बाल्यमल्पदिनैरेव यौवनश्रीस्ततो जरा ।
देहेऽपि नैकरूपत्वं काऽऽस्था बाह्येषु वस्तुषु ॥
आविर्भावतिरोभावभागिनो भवभागिनः ।
जनस्य स्थिरतां यान्ति नापदो न च सम्पदः ॥
कालः क्रीडत्ययं प्रायः सर्वमापदि पातयन् ।
हेलाविचलिताशेषचतुराचारचञ्चुरः ॥
(सर्ग २८)

'आकाशमण्डल क्षणभरमें अन्धकाररूपी कीचड़से लिप जाता है। फिर क्षणभरमें ही सुवर्णद्रवके समान शीतल मृदुल चाँदनीके अति उज्ज्वल प्रकाशसे उद्भासित हो परम सुन्दर दिखायी देने लगता है। दूसरे ही क्षण मेघरूपी नील कमलोंकी मालासे उसका अन्तःप्रदेश (वक्ष एवं उदर) ढक जाता है। क्षणभरमें ही वहाँ उच्चस्वरसे मेघोंकी गम्भीर गर्जना होने लगती है और क्षणमें ही वह मूककी भाँति नीरव हो जाता है। क्षणमें ही ताराओंकी हारावलीसे अलंकृत और क्षणमें ही सूर्यरूपी मणिसे विभूषित हो जाता है। क्षणमें ही वहाँ चन्द्रमाकी चटकीली चाँदनीसे आह्लाद छा जाता है और क्षणभरमें ही वह सबसे सूना हो जाता है। इस तरह जैसे आकाशकी स्थिति क्षण-क्षणमें बदलती रहती है, उसी प्रकार संसारके सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं। महर्षे! संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी क्षणभरमें स्थित और क्षणभरमें नष्ट होनेवाली, आवागमनकी परम्परासे युक्त इस सांसारिक स्थितिसे भयभीत नहीं होता? मुने! यहाँ क्षणभरमें आपत्तियाँ आती हैं और क्षणभरमें सम्पत्तियाँ। क्षणमें ही जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु। इस जगत्‌में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो? भगवन्! यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों बाद अन्य प्रकारका हो जाता है। यहाँ सदा एकरूप रहनेवाली सुस्थिर वस्तु कोई नहीं है। यहाँ कायरके द्वारा शूरवीर मारा जाता है। एक ही व्यक्तिके हाथसे सैकड़ों मनुष्य मारे जाते हैं और साधारण लोग भी राजा बन बैठते हैं। इस प्रकार यह सारा जगत् विपरीत अवस्थामें परिवर्तित होता रहता है। बाल्यावस्था थोड़े ही दिनोंमें चली जाती है, फिर यौवनकी शोभा छा जाती है और कुछ ही दिनोंमें वह भी समाप्त हो जाती है। तत्पश्चात् वृद्धावस्थाका पदार्पण होता है। जब हमारे शरीरमें भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, तब बाह्य वस्तुओंमें एकरूपताका विश्वास क्या हो सकता है। उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषोंकी न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही। यह काल चतुर मनुष्योंको भी अवहेलनापूर्वक विपरीत स्थितियोंमें परिवर्तित करनेके कार्यमें अत्यन्त कुशल है। प्रायः सब लोगोंको आपत्तिमें ढकेलकर यह क्रीड़ा करता है।'

श्रीराम-गीता

(अध्यात्मरामायण)

(१)

अध्यात्मरामायणके अनुसार अयोध्यामें राज्याभिषेक हो जानेके अनन्तर श्रीलक्ष्मणजीने भगवान् श्रीराघवेन्द्रसे प्रश्न किया और श्रीरघुनाथजीने उनके उत्तरमें उन्हें श्रीरामगीताका उपदेश किया। जो निम्नलिखित है—

लक्ष्मणके द्वारा उपदेशके लिये प्रार्थना

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम् ।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत् ॥
त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम् ।
प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम् ।
यथाञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम् ॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ३—५)

किसी दिन, भगवान् राम, जिनके चरणकमलोंकी सेवा साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी करती हैं, एकान्तमें बैठे हुए थे । उस समय शुद्ध विचारवाले लक्ष्मणजीने (उनके पास जा) उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम कर अति विनीत-भावसे कहा—'महामते ! आप शुद्धज्ञानस्वरूप, समस्त देहधारियोंके आत्मा, सबके स्वामी और स्वरूपसे निराकार हैं । जो आपके चरणकमलोंके लिये भ्रमररूप हैं उन परम भागवतोंके सहवासके रसिकोंको ही आप ज्ञानदृष्टिसे दिखलायी देते हैं । प्रभो ! योगिजन जिनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसारसे छुड़ानेवाले उन आपके चरणकमलोंकी मैं शरण हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे मैं सुगमतासे ही अज्ञानरूपी अपार समुद्रके पार हो जाऊँ ।'

(भगवान् श्रीरामका उत्तर) सकाम कर्मसे अज्ञानका नाश नहीं होगा

श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः ।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः ॥
आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः ।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत् सद्गुरुमात्मलब्धये ॥
क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ॥
अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ॥
न ज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद् बुधो ज्ञानविचारवान् भवेत् ॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ६—१०)

श्रीलक्ष्मणजीके ये सब वचन सुनकर शरणागत-वत्सल भूपालशिरोमणि भगवान् राम, सुननेके लिये उत्सुक हुए लक्ष्मणको उनके अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये प्रसन्नचित्तसे ज्ञानोपदेश करने लगे । (वे बोले—) 'सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) बतलायी हुई क्रियाओंका यथावत् पालन कर, चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय । कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किये गये हैं; क्योंकि उनमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं । उनसे धर्म और अधर्म—दोनोंकी ही प्राप्ति होती है और उनके कारण शरीर प्राप्त होता है जिससे फिर कर्म होते हैं । इसी प्रकार यह संसार चक्रके समान चलता रहता है । संसारका मूल कारण अज्ञान ही है और इन (शास्त्रीय) विधिवाक्योंमें उस (अज्ञान) का नाश ही (संसारसे मुक्त होनेका) उपाय बतलाया गया है । अज्ञानका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, (सकाम) कर्म नहीं; क्योंकि उस (अज्ञान) से उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो

सकता । सकाम कर्मद्वारा अज्ञानका नाश अथवा रागका क्षय नहीं हो सकता; बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है, उससे पुनः संसारकी प्राप्ति होना अनिवार्य है । इसलिये बुद्धिमान्‌को ज्ञान-विचारमें ही तत्पर होना चाहिये ।'

कर्मके द्वारा ज्ञान मुक्तिका साधन हो सकता है—ऐसा वितर्कवाद

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम् ।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः ॥
कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा ।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते ॥
न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान् ।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये ॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ११—१३)

कुछ वितर्कवादी ऐसा कहते हैं कि 'जिस प्रकार वेदके कथनानुसार ज्ञान पुरुषार्थका साधक है वैसे ही कर्म वेदविहित हैं; और प्राणियोंके लिये कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यताका विधान भी है, इसलिये वे कर्म ज्ञानके सहकारी हो जाते हैं । साथ ही श्रुतिने कर्म न करनेमें दोष भी बतलाया है, इसलिये मुमुक्षुको उन्हें सर्वदा करते रहना चाहिये और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवं निश्चय ही अपना फल देनेवाला है, उसे मनसे भी किसी औरकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, तो उसका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जिस प्रकार (वेदोक्त) यज्ञ सत्य कर्म होनेपर भी अन्य कारकादिकी अपेक्षा करता ही है, उसी प्रकार विधिसे प्रकाशित कर्मोंके द्वारा ही ज्ञान मुक्तिका साधक हो सकता है (अतः कर्मोंका त्याग उचित नहीं है) ।'

वितर्कवादका खण्डन—ज्ञान होनेपर कर्मका त्याग हो जाता है

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्दृष्टिविरोधकारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति ॥
विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता
विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम् ॥
तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत् ।
आत्मानुसंधानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥
यावच्छरीरादिषु माययात्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम् ।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य त-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । १४—१८)

(सिद्धान्ती—) 'ऐसा जो कोई कुतर्की कहते हैं उनके कथनमें प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण वह ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म देहाभिमानसे होता है और ज्ञान अहंकारके नाश होनेपर सिद्ध होता है । (वेदान्त-वाक्योंका विचार करते-करते) विशुद्ध विज्ञान-प्रकाशसे उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है उसीको विद्या (आत्मज्ञान) कहते हैं । इस

अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादिकी सहायतासे होता है किंतु विद्या समस्त कारकादिका (अनित्यत्वकी) भावनाद्वारा नाश कर देती है। इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानुसंधानमें लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि विद्याका विरोधी होनेके कारण कर्मका उसके साथ समुच्चय नहीं हो सकता। जबतक मायासे मोहित रहनेके कारण मनुष्यका शरीरादिमें आत्मभाव है; तभीतक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। 'नेति-नेति' आदि वाक्योंसे सम्पूर्ण अनात्म-वस्तुओंका निषेध करके अपने परमात्मस्वरूपको जान लेनेपर फिर उसे समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये।'

ज्ञान स्वतन्त्र है और मोक्षके लिये वही समर्थ है

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम्।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः॥
श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति॥
यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात् स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५। १८—२०)

'जिस समय परमात्मा और जीवात्माके भेदको दूर करनेवाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरणमें स्पष्टतया भासित होने लगता है, उसी समय आत्माके लिये संसार-प्राप्तिकी कारण माया अनायास ही कारकादिके सहित लीन हो जाती है। श्रुति-प्रमाणसे उसके नष्ट कर दिये जानेपर फिर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ भी किस प्रकार हो सकेगी? क्योंकि परमार्थतत्त्व एकमात्र ज्ञानस्वरूप निर्मल और अद्वितीय है। अतः (बोध हो जानेपर) फिर अविद्या उत्पन्न नहीं होगी। जब एक बार नष्ट हो जानेपर अविद्याका फिर जन्म ही नहीं होता तो बोधवान्को 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, उसे जीवके मोक्षके लिये किसी और (कर्मादि) की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उसके लिये समर्थ है।

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्॥
विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम्॥
सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद् बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम्॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५। २१—२३)

'इसके सिवा तैत्तिरीय शाखाकी प्रसिद्ध श्रुति* भी आग्रहपूर्वक स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मोंका त्याग करना ही अच्छा है तथा 'एतावद्' इत्यादि वाजसनेयी शाखाकी श्रुति† भी कहती है कि मोक्षका साधन ज्ञान ही है, कर्म नहीं। और तुमने

* 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'। (तै० आ० १०। १०)

† 'एतावदरे खल्वमृतम्'। (बृ० उ० ४। ५। १५)

जो ज्ञानकी समानतामें यज्ञादिका दृष्टान्त दिया सो ठीक नहीं है; क्योंकि उन दोनोंके फल अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ तो (होता, ऋत्विक्, यजमान आदि) बहुत-से कारकोंसे सिद्ध होता है और ज्ञान इसके विपरीत है (अर्थात् वह कारकादिसे साध्य नहीं है)। '(कर्मके त्याग करनेसे) मैं अवश्य प्रायश्चित्त-भागी होऊँगा'—ऐसी अनात्म-बुद्धि अज्ञानियोंको हुआ करती है, तत्त्वज्ञानीको नहीं। इसलिये विकार-रहित चित्तवाले बोधवान् पुरुषको विहित कर्मोंका भी विधिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये।'

आत्मा अजन्मा, अविनाशी, सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः॥
आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्॥
प्रत्यक्परोक्षादि विरोधमात्मनो-
र्विहाय संगृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥
एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवे-
त्तथाजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५। २४—२७)

'फिर शुद्ध-चित्त होकर श्रद्धापूर्वक गुरुकी कृपासे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके द्वारा परमात्मा और जीवात्माकी एकता जानकर सुमेरुके समान निश्चल एवं सुखी हो जाय। यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्यका अर्थ जाननेमें पहले उसके पदोंके अर्थका ज्ञान ही कारण है। (इस 'तत्त्वमसि' महावाक्यके) 'तत्' और 'त्वम्' पद क्रमसे परमात्मा और जीवात्माके वाचक हैं और 'असि' उन दोनोंकी एकता करता है। इन दोनों (जीवात्मा और परमात्मा) में जीवात्मा प्रत्यक् (अन्तःकरणका साक्षी) है और परमात्मा परोक्ष (इन्द्रियातीत) है, इस (वाच्यार्थरूप) विरोधको छोड़कर और लक्षणावृत्तिसे लक्षित उनकी शुद्ध चेतनताको ग्रहणकर उसे ही अपना आत्मा जाने और इस प्रकार एकीभावसे स्थित हो। इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें एकरूप होनेके कारण जहतीलक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरुद्ध होनेके कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदोंके अर्थकी भाँति इन तत् और त्वम् पदोंमें भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषतासे हो सकती है*।

* जहाँ शब्दोंके वाच्यार्थ (अर्थात् उनकी शक्तिवृत्तिसे सिद्ध होनेवाले अर्थ) को छोड़कर दूसरा अर्थ लिया जाता है वहाँ लक्षणा वृत्ति होती है। वह जहती, अजहती और जहत्यजहती नामसे तीन प्रकारकी है। जहतीलक्षणामें शब्दके वाच्यार्थका सर्वथा त्याग करके उसका बिल्कुल नया ही अर्थ किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गङ्गाजीपर पशुशाला है) इस वाक्यके वाच्यार्थसे गङ्गाजीके प्रवाहपर पशुशालाका होना सिद्ध होता है। परंतु यह सर्वथा असम्भव है। इसलिये यहाँ 'गङ्गा' शब्दका अर्थ 'गङ्गाप्रवाह' न करके 'गङ्गा-तीर' किया जाता है। परंतु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ 'ईश्वर' और 'जीव' का सर्वथा त्याग कर देनेसे उन दोनोंकी चेतनताका भी त्याग हो जाता है और चेतनताकी एकता ही अभीष्ट है; इसलिये जहती लक्षणासे इन पदोंके अर्थकी एकता नहीं हो सकती। अजहतीलक्षणामें वाच्यार्थका त्याग न करके उसके साथ अन्य अर्थ भी ग्रहण किया

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं
भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम् ।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः ॥
सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम् ।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः ॥
अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम् ।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात् ॥
कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा ।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन्परितो विचारिते ॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । २८—३१)

जाता है । जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) इस वाक्यका अभिप्राय केवल कौओंसे दहीकी रक्षा करना ही नहीं है बल्कि उसके साथ कुत्ता, बिल्ली आदि अन्य जीवोंसे सुरक्षित रखना भी है । यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थमें विरोध है, फिर अन्य अर्थको सम्मिलित करनेसे भी वह विरोध तो दूर होगा ही नहीं; इसलिये अजहल्लक्षणासे भी इनकी एकता सिद्ध नहीं हो सकती । इन दोनोंके सिवा जहाँ कुछ अर्थ रक्खा जाता है और कुछ छोड़ा जाता है, वह जहत्यजहती (भागत्याग) लक्षणा होती है । जैसे 'सोऽयम्' (यह वही है) इस वाक्यमें 'अयम्' पदसे कहे जानेवाले पदार्थकी अपरोक्षता और 'सः' पदके वाच्य-पदार्थकी परोक्षताका त्याग करके इन दोनोंसे रहित जो निर्विशेष पदार्थ है उसकी एकता कही जाती है । इसी प्रकार महावाक्यके 'तत्' पदके वाच्य 'ईश्वर' के गुण सर्वज्ञता, परोक्षता आदिका और 'त्वम्' पदके वाच्य 'जीव' के गुण अल्पज्ञता, प्रत्यक्ता आदिका त्याग करके केवल चेतनांशमें एकता बतलायी जाती है ।

'पृथिवी आदि पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए, सुख-दुःखादि कर्म-भोगोंके आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफलसे प्राप्त होनेवाले इस मायामय आदि-अन्तवान् शरीरको विज्ञजन आत्माकी स्थूल उपाधि मानते हैं और मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण (इन सत्रह अङ्गों) से युक्त और अपञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्मशरीरको, जो भोक्ताके सुख-दुःखादि अनुभवका साधन है, आत्माका दूसरा देह मानते हैं । (इनके अतिरिक्त) अनादि और अनिर्वाच्य मायामय कारण शरीर ही जीवका तीसरा देह है । इस प्रकार उपाधिभेदसे सर्वथा पृथक् स्थित अपने आत्मस्वरूपको क्रमशः (उपाधियोंका बाध करते हुए) अपने हृदयमें निश्चय करे । स्फटिकमणिके समान यह आत्मा भी (अन्नमयादि) भिन्न-भिन्न कोशोंमें उनके सङ्गसे उन्हींके आकारका भासने लगता है किंतु इसका भली प्रकार विचार करनेसे यह अद्वितीय होनेके कारण असङ्गरूप और अजन्मा निश्चित होता है ।

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः ।
अन्योन्यतोऽस्मिन्व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे ॥
देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां
संघादजस्रं परिवर्तते धियः ।
वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः ॥
नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः ।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम् ॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः ।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः ॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ३२—३५)

त्रिगुणात्मिका बुद्धिकी ही स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति-भेदसे तीन प्रकारकी वृत्तियाँ दिखायी देती हैं; किंतु इन तीनों वृत्तियोंमेंसे प्रत्येकका एक दूसरीमें व्यभिचार होनेके कारण, ये (तीनों ही) एकमात्र कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्ममें मिथ्या हैं (अर्थात् उसमें इन वृत्तियोंका सर्वथा अभाव है) । बुद्धिकी वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्माके संघातरूपसे निरन्तर परिवर्तित होती रहती है । यह वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाली होनेके कारण अज्ञानरूपा है और जबतक यह रहती है, तभीतक संसारमें जन्म होता रहता है । 'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमाणसे निखिल संसारका बाध करके और हृदयमें चिद्घनामृतका आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत्को, उसके साररूप सत् (ब्रह्म) को ग्रहण करके त्याग दे, जैसे नारियलके जलको पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं । आत्मा न कभी मरता है, न जन्मता है; वह न कभी क्षीण होता है और न बढ़ता ही है । वह पुरातन, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित, सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है ।

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते ।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात् ॥
यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः ।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत् ॥
विकल्पमायारहिते चिदात्मके-
ऽहङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः ।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे ॥
इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः
सदा धियः संसृतिहेतवः परे ।
यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः ॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ३६—३९)

'जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुखस्वरूप है, उसमें यह दुःखमय संसारकी प्रतीति कैसे हो सकती है ? यह तो अध्यासके कारण अज्ञानसे ही दिखायी दे रहा है, ज्ञानसे तो यह एक क्षणमें ही लीन हो जाता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है । भ्रमसे जो अन्यमें अन्यकी प्रतीति होती है उसीको विद्वानोंने अध्यास कहा है । जिस प्रकार असर्परूप रज्जु आदिमें सर्पकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है । जो विकल्प और मायासे रहित है उस सबके कारण निरामय, अद्वितीय और चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्ममें पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यासकी ही कल्पना होती है । सबके साक्षी आत्मामें इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दुःखादिरूप बुद्धिकी वृत्तियाँ ही जन्म-मरणरूप संसारकी कारण हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें इनका अभाव हो जानेपर हमें आत्माका सुखरूपसे भान होता है ।'

आत्मरूप अहं प्रकाशरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर भासमान, अति निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, निष्क्रिय, एकमात्र आनन्दस्वरूप, नित्यमुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, निर्विकार और अनन्तपार है

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः ।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि ॥

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत् ।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः ॥
गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
संजातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम् ।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम् ॥
प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयो-
ऽसकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः ।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः ॥
सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रियात्मकः ।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः ॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ४०-४४)

'अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुई बुद्धिमें प्रतिविम्बित चेतनका प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है । बुद्धिके साक्षीरूपसे आत्मा उससे पृथक् है, वह परमात्मा तो बुद्धिसे अपरिच्छिन्न है । अग्निसे तपे हुए लोहेके समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धिके एकत्र रहनेसे परस्पर अन्योन्याध्यास होनेके कारण क्रमशः उनकी चेतनता और जडता प्रतीत होती है । (अर्थात् जिस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहपिण्डमें अग्नि और लोहेका तादात्म्य हो जानेसे लोहेका आकार अग्निमें और अग्निकी उष्णता लोहेमें दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्माका तादात्म्य हो जानेसे आत्माकी चेतनता बुद्धि आदिमें और बुद्धि आदिकी जडता आत्मामें प्रतीत होने लगती है । इसलिये अध्यासवश बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्त अनात्म-वस्तुओंको ही आत्मा मानने लगते हैं । गुरुके समीप रहनेसे और वेदवाक्योंसे आत्मज्ञानका अनुभव होनेपर अपने हृदयस्थ उपाधिरहित आत्माका साक्षात्कार करके आत्मारूपसे प्रतीत होनेवाले देहादि सम्पूर्ण जडपदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये । मैं प्रकाशरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्दस्वरूप हूँ । मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, अविकृतरूप और अनन्तपार हूँ । वेदवादी पण्डितजन अहर्निश मेरा हृदयमें चिन्तन करते हैं ।'

परमात्म-भावना करते-करते योगी मुक्तस्वरूप हो जाता है और फिर उस काम-क्रोधादि शत्रुओंपर विजय-प्राप्त मन-इन्द्रियोंको जीतनेवाले महात्माको मेरा (भगवान्का) साक्षात्कार होता है

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचारमाणस्य विशुद्धभावना ।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः ॥
विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः ।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥
विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे ।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम् ॥
पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत् ।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधतः ॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५ । ४५-४८)

श्रीरामका वनवासी, राजा और गृहस्थ रूप
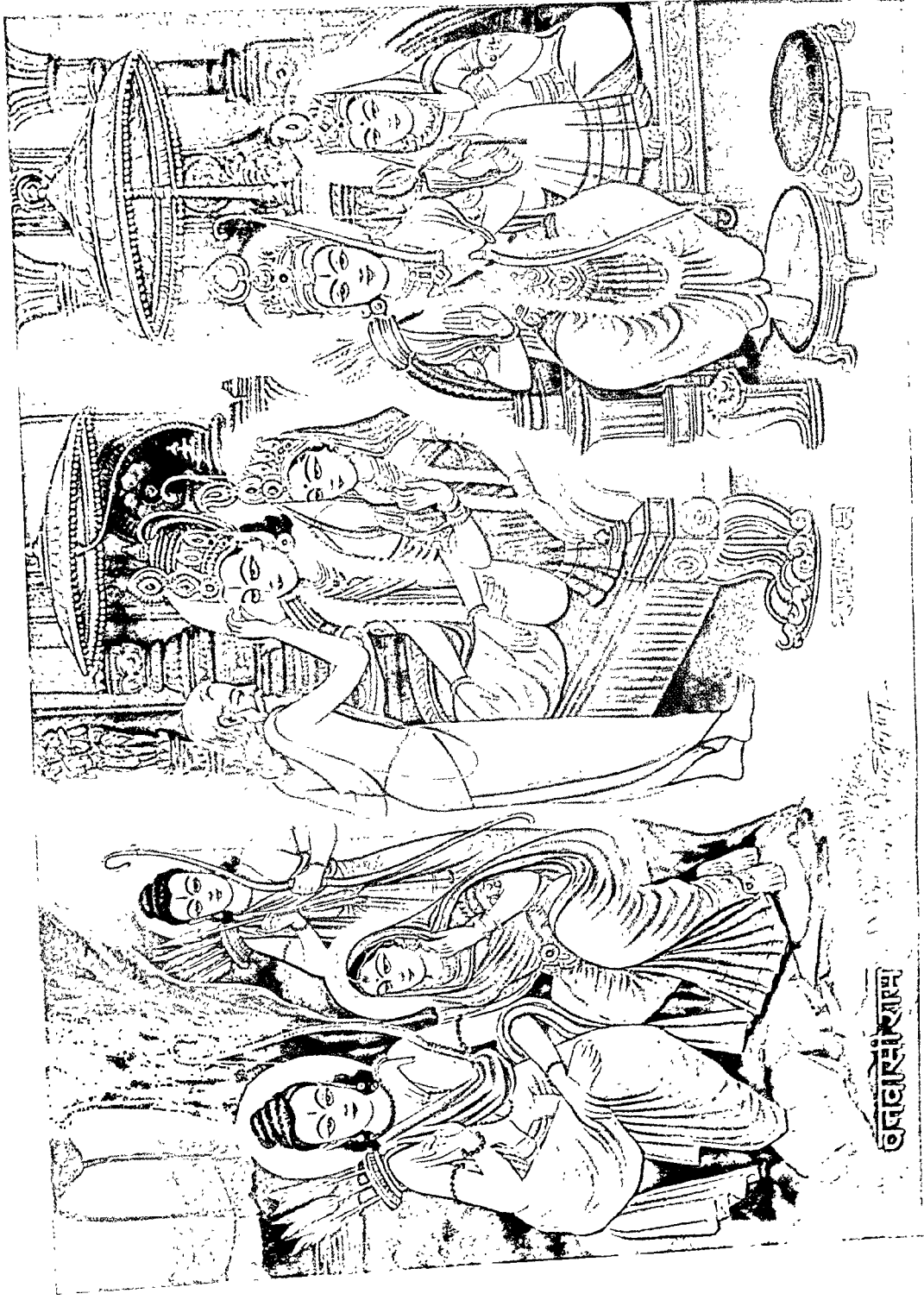
'इस प्रकार सदा आत्माका अखण्ड-वृत्तिसे चिन्तन करनेवाले पुरुषके अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरंत ही कारकादिके सहित अविद्याका नाश कर देती है, जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई ओषधि रोगको नष्ट कर डालती है। (आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि) एकान्त देशमें इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर और अन्तःकरणको अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मामें स्थित होकर और किसी साधनका आश्रय न लेकर शुद्धचित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टिके द्वारा एक आत्माकी ही भावना करे। यह विश्व परमात्मस्वरूप है—ऐसा समझकर इसे सबके कारणरूप आत्मामें लीन करे, इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूपसे स्थित हो जाता है, उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता। समाधि प्राप्त होनेके पूर्व ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर जगत् केवल ओंकारमात्र है। यह संसार वाच्य है और ओंकार इसका वाचक है। अज्ञानके कारण ही इसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होनेपर इसका कुछ भी नहीं रहता।

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत्॥
विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥
मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत् प्राज्ञमपीह कारणम्।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिम-
द्विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५। ४९–५१)

'(ओंकारमें अ, उ और म—ये तीन वर्ण हैं; इनमेंसे) अकार विश्व (जागृतिके अभिमानी) का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्नका अभिमानी) कहलाता है और मकार प्राज्ञ (सुषुप्तिके अभिमानी) को कहते हैं; यह व्यवस्था समाधि-लाभसे पहलेकी है, तत्त्वदृष्टिसे ऐसा कोई भेद नहीं है। नाना प्रकारसे स्थित अकाररूप विश्व पुरुषको उकारमें लीन करे और ओंकारके द्वितीय वर्ण तैजसरूप उकारको उसके अन्तिम वर्ण मकारमें लीन करे। फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकारको भी चिद्घनरूप परमात्मामें लीन करे; (और ऐसी भावना करे कि) वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ।

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत्॥
एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥
ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥
(अध्यात्म०, उत्तर० ५। ५२–५४)

'इस प्रकार निरन्तर परमात्मभावना करते-करते जो आत्मानन्दमें मग्न हो गया है, तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च विस्मृत हो गया है, वह नित्य आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरङ्ग समुद्रके समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार जो निरन्तर समाधियोगका अभ्यास करता है

जिसके सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिसने काम-क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओंको परास्त कर दिया है, उस छहों इन्द्रियों (मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों) को जीतनेवाले महात्माको मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है। इस प्रकार अहर्निश आत्माका ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता-भोक्तापनके) अभिमानको छोड़कर प्रारब्धफल भोगता रहे। इससे वह अन्तमें साक्षात् मुझमें ही लीन हो जाता है।'

ऐसा महात्मा भक्त अपनी चरणरजके स्पर्शसे त्रिलोकीको पवित्र कर देता है

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत् स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम्॥
आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥
इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥
यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५। ५५-५८)

'संसारको आदि, अन्त और मध्यमें सब प्रकार भय और शोकका ही कारण जानकर समस्त वेदविहित कर्मोंको त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मारूप अपने आत्माका भजन करे। जिस प्रकार समुद्रमें जल, दूधमें दूध, महाकाशमें घटाकाशादि और वायुमें वायु मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपने आत्माके साथ अभिन्नरूपसे चिन्तन करनेसे जीव मुझ परमात्माके साथ अभिन्नभावसे स्थित हो जाता है। यह जो जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे बाधित होनेके कारण चन्द्रभेद और दिशाओंमें होनेवाले दिग्भ्रमके समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक-(व्यवहार) में स्थित मुनि इसे देखे। जबतक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे, तबतक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है, उसे अपने हृदयमें सर्वदा मेरा ही साक्षात्कार होता है।

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसंग्रहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात्॥
भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः॥
यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥
विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः॥

(अध्यात्म०, उत्तर० ५। ५९-६२)

'प्रिय! सम्पूर्ण श्रुतियोंके साररूप इस गुप्त रहस्यको मैंने निश्चय करके तुमसे कहा है। जो

मान् इसका मनन करेगा, वह तत्काल समस्त से मुक्त हो जायगा। भाई! यह जो कुछ [illegible] दिखायी देता है, वह सब माया है। अपने चित्तसे निकालकर मेरी भावनासे शुद्धचित्त सुखी होकर आनन्दपूर्ण और क्लेशशून्य हो [illegible]। जो पुरुष अपने चित्तसे मुझ गुणातीत निर्गुण- अथवा कभी-कभी मेरे सगुण स्वरूपका भी सेवन करता है वह मेरा ही रूप है, वह अपनी चरणरजके स्पर्शसे सूर्यके समान सम्पूर्ण त्रिलोकीको पवित्र कर देता है। यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियोंका एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरुभक्तिसम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा उसकी यदि मेरे वचनोंमें प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा।'

श्रीरामगीता

(२)

[श्रीरामचरितमानस]

श्रीरामचरितमानसके अनुसार पञ्चवटीमें सीताहरणसे लक्ष्मणजीने प्रश्न किया और श्रीरामने उन्हें जो उपदेश [illegible], उसीका नाम 'श्रीराम-गीता' है।

माया, विद्या और अविद्याका स्वरूप

एक बार प्रभु सुख आसीना।
लछिमन बचन कहे छलहीना॥
सुर नर मुनि सचराचर साईं।
मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं॥
मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा।
सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया।
कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

(श्रीरामचरित०, अरण्य० १३। ३-४, १४)

''एक बार प्रभु श्रीरामजी सुखसे बैठे हुए थे। उस [समय] लक्ष्मणजीने उनसे छलरहित (सरल) वचन कहे— [दे]वता, मनुष्य, मुनि और चराचरके स्वामी! मैं अपने [प्रभु]की तरह (अपना स्वामी समझकर) आपसे पूछता हूँ। [देव]! मुझे समझाकर वही कहिये, जिससे सब छोड़कर आपकी चरणरजकी ही सेवा करूँ। ज्ञान, वैराग्य और [मा]याका वर्णन कीजिये; और उस भक्तिको कहिये जिसके [कार]ण आप दया करते हैं। प्रभो! ईश्वर और जीवका [भेद] भी सब समझाकर कहिये, जिससे आपके चरणोंमें [मेरी] प्रीति हो और शोक, मोह तथा भ्रम नष्ट हो जायँ।'

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई।
सुनहु तात मति मन चित लाई॥
मैं अरु मोर तोर तैं माया।
जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई।
सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ।
बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।
जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें।
प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं।
देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी।
तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

(श्रीरामचरित०, अरण्य० १४। १-४)

[श्रीरामजीने कहा—] ''तात! मैं थोड़ेमें ही सब समझाकर कहे देता हूँ। तुम मन, चित्त और बुद्धि लगाकर सुनो। मैं और मेरा; तू और तेरा—यही माया है, जिसने समस्त जीवोंको वशमें कर रक्खा है। इन्द्रियोंके विषयोंको और जहाँतक मन जाता है, भाई! उस सबको, माया जानना। उसके भी—एक विद्या और दूसरी अविद्या, इन दोनों भेदोंको तुम सुनो—एक (अविद्या) दुष्ट

(दोषयुक्त) है और अत्यन्त दुःखरूप है, जिसके वश होकर जीव संसाररूपी कुएँमें पड़ा हुआ है। और एक (विद्या) जिसके वशमें गुण है और जो जगत्‌की रचना करती है, वह प्रभुसे ही प्रेरित होती है, उसके अपना बल कुछ भी नहीं है। ज्ञान वह है जहाँ (जिसमें) मान आदि एक भी [दोष] नहीं है और जो सबमें समानरूपसे ब्रह्मको देखता है। तात ! उसीको परम वैराग्यवान् कहना चाहिये जो सारी सिद्धियोंको और तीनों गुणोंको तिनकेके समान त्याग चुका है। [जिसमें मान, दम्भ, हिंसा, क्षमाराहित्य, टेढ़ापन, आचार्यसेवाका अभाव, अपवित्रता, अस्थिरता, मनका निगृहीत न होना, इन्द्रियोंके विषयमें आसक्ति, अहंकार, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमय जगत्‌में सुख-बुद्धि, स्त्री-पुत्र-घर आदिमें आसक्ति तथा ममता, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक, भक्तिका अभाव, एकान्तमें मन न लगना, विषयी मनुष्योंके संगमें प्रेम—ये अठारह न हों और नित्य अध्यात्म (आत्मा) में स्थिति तथा तत्त्वज्ञानके अर्थ (तत्त्वज्ञानके द्वारा जाननेयोग्य) परमात्माका नित्य दर्शन हो, वही ज्ञान कहलाता है। देखिये गीता अध्याय १३ । ७ से ११]'

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छप्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव ॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० १५)

"जो मायाको, ईश्वरको और अपने स्वरूपको नहीं जानता, उसे जीव कहना चाहिये। जो [कर्मानुसार] बन्धन और मोक्ष देनेवाला, सबसे परे और मायाका प्रेरक है वह ईश्वर है।"

जो भक्ति स्वतन्त्र है, उससे भगवान् शीघ्र द्रवित होते हैं। उस भक्तिके लक्षण और फल—

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना ॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना।
तेहि आधीन ग्यान बिग्याना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो संत होइँ अनुकूला ॥
भगति कि साधन कहउँ बखानी।
सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी ॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।
निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।
तब मम धर्म उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं।
मम लीला रति अति मन माहीं ॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा।
मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा ॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा।
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा।
गदगद गिरा नयन बह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाकें।
तात निरंतर बस मैं ताकें ॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम ॥
(श्रीरामचरित०, अरण्य० १५ । १—६, १६)

"धर्म [के आचरण] से वैराग्य और योगसे ज्ञान होता है तथा ज्ञान मोक्षका देनेवाला है—ऐसा वेदोंने वर्णन किया है। और भाई ! जिससे मैं शीघ्र ही प्रसन्न होता हूँ, वह मेरी भक्ति है जो भक्तोंको सुख देनेवाली है। वह भक्ति स्वतन्त्र है, उसको [ज्ञान-विज्ञान आदि किसी] दूसरे साधनका सहारा (अपेक्षा) नहीं है। ज्ञान और विज्ञान तो उसके अधीन हैं। तात ! भक्ति अनुपम एवं सुखकी मूल है; और वह तभी मिलती है जब संत अनुकूल (प्रसन्न) होते हैं। अब मैं भक्तिके साधन विस्तारसे कहता हूँ—यह सुगम मार्ग है, जिससे जीव मुझको सहज ही पा जाते हैं। पहले तो ब्राह्मणोंके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति हो और वेदकी रीतिके अनुसार अपने-अपने [वर्णाश्रमके] कर्मोंमें लगा रहे। इसका फल, फिर विषयोंसे वैराग्य होगा। तब (वैराग्य होनेपर) मेरे धर्म (भागवतधर्म) में प्रेम उत्पन्न होगा। तब श्रवण आदि नौ प्रकारकी भक्तियाँ दृढ़ होंगी और मनमें मेरी लीलाओंके प्रति अत्यन्त प्रेम होगा। जिसका संतोंके चरणकमलोंमें अत्यन्त प्रेम हो, मन, वचन और कर्ममें भजनका दृढ़ नियम हो और

जो मुझको ही गुरु, पिता, माता, भाई, पति और देवता सब कुछ जाने और सेवामें दृढ़ हो, मेरा गुण गाते समय जिसका शरीर पुलकित हो जाय, वाणी गद्गद हो जाय और नेत्रोंसे [प्रेमाश्रुओंका] जल बहने लगे तथा काम, मद और दम्भ आदि जिसमें न हों, भाई ! मैं सदा उसके वशमें रहता हूँ । जिनको कर्म, वचन और मनसे मेरी ही गति है और जो निष्काम भावसे मेरा भजन करते हैं, उनके हृदय-कमलमें मैं सदा विश्राम किया करता हूँ ।'

श्रीरामगीता

(३)

[अद्भुत रामायण]

(अनुवादक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

अद्भुत रामायणकी यह रामगीता भी अद्भुत ही है । इसमें श्रीरामने अपने निर्गुण-सगुण, सर्वात्मक, सर्वेश्वर, परात्पर स्वरूपका उपदेश किया है । यह उपदेश किया है उन्होंने श्रीहनुमान्‌जीको और वह भी अद्भुत रीतिसे ।

सीता-हरणके पश्चात् श्रीराम-लक्ष्मण जानकीजीको ढूँढ़ते ऋष्यमूक पर्वतके समीप पहुँचते हैं तो उस पर्वतपर स्थित सुग्रीवको संदेह होता है कि वे कहीं वालीके भेजे न हों । सुग्रीव हनुमान्‌जीको पता लगाने भेजते हैं । हनुमान् आकर पूछते हैं—'आप कौन हैं ?'

इसके उत्तरमें श्रीराम उन्हें अपना विराट् रूप दिखलाते हैं । उसके दर्शनसे चकित हनुमान् फिर पूछते हैं—'प्रभु ! आप कौन हैं ?'

तब श्रीराम अपने निर्गुण-सगुण, उभयात्मक, सर्वेश्वर स्वरूपका परिचय देते हुए कहते हैं—

सांख्ययोगका उपदेश

(आत्माके स्वरूपका निरूपण)

रामः प्राह हनूमन्तमात्मानं पुरुषोत्तमः ।
वत्स वत्स हनूमंस्त्वं भक्तो यत्पृष्टवानसि ॥
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वावहितो मम ।
अवाच्यमेतद्विज्ञानमात्मगुह्यं सनातनम् ॥
यन्न देवा विजानन्ति यतन्तोऽपि द्विजातयः ।
इदं ज्ञानं समाश्रित्य ब्रह्मभूता द्विजोत्तमाः ॥
न संसारं प्रपश्यन्ति पूर्वेऽपि ब्रह्मवादिनः ।
गुह्याद् गुह्यतमं साक्षाद् गोपनीयं प्रयत्नतः ॥
वंशे भक्तिमतो ह्यस्य भवन्ति ब्रह्मवादिनः ।
आत्मा यः केवलः स्वच्छः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः ॥
अस्ति सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्रस्तमसः परः ।
सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः ॥
स कालाग्निस्तदव्यक्तं सद्यो वेदयति श्रुतिः ।
अस्माद्विजायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते ॥
मायावी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः ।
न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत् प्रभुः ॥

पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीसे कहा—'वत्स ! वत्स ! हनुमन् ! तुम मेरे भक्त हो ! तुमने मुझसे जो कुछ पूछा है, वह सब मैं तुम्हें बता रहा हूँ, सावधान होकर सुनो । यह आत्माका गोपनीय विज्ञान सनातन है । इसे सबके सामने नहीं कहना चाहिये । देवता और श्रेष्ठ द्विज सदा यत्न करते रहनेपर भी इस ज्ञानको ठीक-ठीक नहीं जान पाते हैं । इस ज्ञानका आश्रय लेकर बहुतसे श्रेष्ठ ब्राह्मण ब्रह्मभूत हो गये हैं । पहलेके ब्रह्मवादी महापुरुष भी संसारको सत्य रूपमें नहीं देखते थे । यह ज्ञान गोपनीयसे भी अत्यन्त गोपनीय है । इसे स्वयं प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिये । जो इस ज्ञानको धारण करते हैं, वे भक्तिमान् हैं । ऐसे भक्तिमान् पुरुषोंके कुलमें ब्रह्मवादी पुरुष जन्म ग्रहण करते हैं । आत्मा केवल (अद्वितीय), स्वच्छ, शान्त, सूक्ष्म एवं सनातन है, वही सबका अन्तर्यामी साक्षात् चिन्मय तथा अज्ञानान्धकारसे परे है ।

वह अन्तर्यामी आत्मा ही सबके शरीरके भीतर शयन करनेके कारण पुरुष कहलाता है। वही प्राण और वही महेश्वर है। प्रलयकालिक संवर्त्तक अग्नि भी वही है। उसीको अव्यक्त कहते हैं। श्रुति ही उस परमात्माका तत्काल ज्ञान कराती है। उसीसे इस संसारकी उत्पत्ति होती है तथा उसीमें सम्पूर्ण विश्वका लय होता है। वह मायापति परमात्मा अपनेको मायासे आवृत करके नाना प्रकारके शरीरोंकी रचना करता है। वह प्रभु न तो स्वयं संसार-बन्धनमें पड़ता है और न किसी औरको ही संसार-चक्रमें डालता है।

नायं पृथ्वी न सलिलं न तेजः पवनो नभः।
न प्राणो न मनो व्यक्तं न शब्दः स्पर्श एव च॥
न रूपरसगन्धाश्च नाहङ्कर्ता न वागपि।
न पाणिपादौ नो पायुर्न चोपस्थं प्लवङ्गम॥
न कर्ता न च भोक्ता च न च प्रकृतिपूरुषौ।
न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः॥
तथा प्रकाशतमसो सम्बन्धो नोपपद्यते।
तद्वदेव न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः॥
छायातरू यथा लोके परस्परविलक्षणौ।
तद्वत्प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौ परमार्थतः॥
यद्यात्मा मलिनोऽस्वस्थो विकारी स्यात्स्वभावतः।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥
पश्यन्ति मुनयो मुक्ताः स्वात्मानं परमार्थतः।
विकारहीनं निर्दुःखमानन्दात्मानमव्ययम्॥
अहं कर्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः।
साप्यहंकृतिसम्बन्धादात्मन्यारोप्यते जनैः॥
वदन्ति वेदविद्वांसः साक्षिणं प्रकृतेः परम्।
भोक्तारमक्षयं बुद्ध्वा सर्वत्र समवस्थितम्॥

'कपिश्रेष्ठ! वह परमात्मा न तो पृथ्वी है न जल है, न तेज है न वायु है और न आकाश ही है। वह निश्चय ही न तो प्राण है न मन है, न शब्द है न स्पर्श है, न रूप, रस, गन्ध, अहंकर्त्ता तथा वाक् ही है। उसके हाथ, पैर, पायु (गुदा) और उपस्थ आदि कुछ भी नहीं है। वह न कर्त्ता है न भोक्ता, न प्रकृति है न पुरुष, न माया है न प्राण। वास्तवमें वह चैतन्य मात्र है। जैसे प्रकाश और अन्धकारमें सम्बन्ध नहीं हो सकता, उसी प्रकार इस विश्वप्रपञ्च तथा परमात्मामें कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे लोकमें वृक्ष और उसकी छाया एक दूसरेसे विलक्षण है, उसी तरह प्रपञ्च और परमात्मा वस्तुतः परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। यदि आत्मा स्वभावतः मलिन, अस्वस्थ और विकारवान् हो तो सौ जन्मोंमें भी उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। मुक्त मुनिजन अपने आत्माको वास्तवमें निर्विकार, दुःखरहित, आनन्दस्वरूप और अविनाशी देखते हैं। मैं कर्त्ता, सुखी, दुखी, दुर्बल और स्थूल हूँ—इस तरहकी बुद्धिका अहंकारके सम्बन्धसे लोग आत्मामें आरोप कर लेते हैं। वेदोंके विद्वान् आत्मतत्त्वको जानकर यह बताते हैं कि आत्मा प्रकृतिसे परे, सबका साक्षी, भोक्ता, अविनाशी तथा सर्वत्र व्यापक है।

तस्मादज्ञानमूलोऽयं संसारः सर्वदेहिनाम्।
अज्ञानादन्यथा ज्ञातं तच्च प्रकृतिसङ्गतम्॥
नित्योदितः स्वयंज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः।
अहंकाराविवेकेन कर्ताहमिति मन्यते॥
पश्यन्ति ऋषयो व्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं बुद्ध्वा कारणं ब्रह्मवादिनः॥
तेनात्र सङ्गतो ह्यात्मा कूटस्थोऽपि निरञ्जनः।
आत्मानमक्षरं ब्रह्म नावबुद्ध्यन्ति तत्त्वतः॥
अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद्दुःखं तथेतरत्।
रागद्वेषादयो दोषाः सर्वभ्रान्तिनिबन्धनाः॥
कार्यं ह्यस्य भवेदेषा पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः॥
नित्यः सर्वत्रगो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।

एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥
तस्माद्द्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः।
भेदोऽव्यक्तस्वभावेन सा च मायाऽऽत्मसंश्रया॥

'इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त देहधारियोंका यह संसार-बन्धन अज्ञानमूलक है। अज्ञानसे विपरीत ज्ञान होता है और वह प्रकृतिके सम्बन्धसे प्राप्त है। परम-पुरुष परमात्मा नित्य उदित, स्वयंप्रकाश और सर्वव्यापी हैं। अहंकारका आश्रय ले प्रकृतिसे अपने पार्थक्यका विवेक भुला देनेके कारण देहधारी जीव मैं कर्त्ता हूँ—ऐसा मानने लगता है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि निश्चय ही परमात्माको नित्य एवं सदसत्-स्वरूप समझते हैं। ब्रह्मवादी महात्मा प्रधान नामसे विख्यात, गुणोंकी साम्यावस्था-रूप प्रकृतिको भलीभाँति जानकर उसीको पाञ्चभौतिक जगत्का उपादानकारण बताते हैं। यही कारण है कि आत्मा कूटस्थ तथा निरञ्जन (निर्मल) होनेपर भी इस प्रकृतिमें संगत हो गया है—वह अपनेको प्रकृतिसे अभिन्न मानने लगा है। 'मैं वस्तुतः अविनाशी ब्रह्म हूँ'—ऐसा अपने आपको नहीं समझता। अतः अनात्म-पदार्थमें आत्मबुद्धि करनेसे ही दुःख और सुख होते हैं। राग-द्वेष आदि सारे दोष भ्रमके ही कारण उत्पन्न होते हैं। भ्रमके ही कारण इस जीवको कर्त्तव्य-कर्ममें पुण्य और पापकी भावना होती है। ऐसा श्रुतिका कथन है। उसी भावनाके वशीभूत होकर वह वैसे कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और उन कर्मोंके ही फल भोगनेके लिये सम्पूर्ण देहधारियोंके समस्त शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। वस्तुतः आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ, दोषरहित तथा अद्वितीय है। वह मायाशक्तिसे ही भेद या नानात्वको प्राप्त होता है, स्वरूपसे नहीं। इसीलिये ऋषि-मुनियोंने अद्वैतको ही पारमार्थिक सिद्धान्त बताया है। भेद अव्यक्त स्वभावसे होता है। वह अव्यक्त स्वभाव आत्माके आश्रित रहनेवाली माया ही है।

यथा हि धूमसम्पर्कान्नाकाशो मलिनो भवेत्।
अन्तःकरणजैर्भावैरात्मा तद्वन्न लिप्यते॥
यथा स्वप्रभया भाति केवलः स्फटिकोपलः।
उपाधिहीनो विमलस्तथैवात्मा प्रकाशते॥
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपमेवाज्ञाः पश्यन्त्यन्ये कुबुद्धयः॥
कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः।
दृश्यते ह्यर्थरूपेण पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः॥
यथा संलक्ष्यते व्यक्तः केवलः स्फटिको जनैः।
रक्तिकाव्यवधानेन तद्वत्परमपूरुषः॥
तस्मादात्माक्षरः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽव्ययः।
उपासितव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यश्च मुमुक्षुभिः॥

'जैसे धूम (या बादल)के सम्पर्कसे आकाश मलिन नहीं होता है, उसी प्रकार अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाले रागादि दोषोंसे आत्मा लिप्त नहीं होता। जैसे केवल (विशुद्ध) स्फटिक-शिला अपनी प्रभासे सदा एक-सी प्रकाशित होती है, उसी प्रकार उपाधिरहित आत्मा सदा निर्मल रूपसे प्रकाशित होता है। विद्वान् पुरुष इस जगत्को ज्ञानस्वरूप ही बताते हैं; किंतु दूसरे कुत्सित बुद्धिवाले अज्ञानी लोग इसे अर्थस्वरूप (नाना पदार्थरूप) देखते हैं। जो कूटस्थ निर्गुण व्यापक तथा स्वभावतः चैतन्य-स्वरूप है, वही परमात्मा भ्रान्त दृष्टिवाले पुरुषोंको भौतिक पदार्थके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। जैसे विशुद्ध स्फटिक रक्तिका (गुञ्जा) के व्यवधानसे लोगोंको लाल रंगका दिखायी देता है—उसी तरह परम पुरुष परमात्मा मायाके व्यवधानसे प्रपञ्चमय दीखने लगता है। इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि वे आत्माको अविनाशी, शुद्ध, नित्य, सर्वव्यापी एवं निर्विकार मानकर उसी रूपमें उसका श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन करें।

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम्॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते स्वयम् ॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभि पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
तदासावमृतीभूतः क्षेमं गच्छति पण्डितः ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः ।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतः ॥
यदा जन्मजरादुःखव्याधीनामेकभेषजम् ।
केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः ॥
यथा नदी नदा लोके सागरेणैकतां ययुः ।
तद्वदात्माक्षरेणासौ निष्कलेनैकतां व्रजेत् ॥

'जब योगी (साधक) के मनमें सदा सर्वत्र व्यापक चैतन्यका बिना किसी व्यवधानके प्रकाश हो जाय, तब वह स्वयं परमात्मस्वरूप हो जाता है। जब ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने आत्मामें ही देखने लगता है तथा सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माका साक्षात्कार करने लगता है, तब वह स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जब विद्वान् पुरुष सम्पूर्ण भूतोंका अपने आत्मामें ही दर्शन करता है, तब वह परमात्मासे एकीभूत होकर कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। जब साधकके हृदयमें विद्यमान सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं, तब वह विद्वान् अमृतस्वरूप होकर कल्याणको प्राप्त होता है। जब साधक सम्पूर्ण भूतोंके पृथक्-भाव (नानात्व) को एकमात्र परमात्माके संकल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, तब वह ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। जब वह आत्माको वस्तुतः एकमात्र (अद्वितीय) देखता है और सम्पूर्ण जगत्को मायामात्र मानने लगता है, तब वह परमानन्दको प्राप्त होता है। जब जन्म, जरा, दुःख एवं व्याधियोंकी एकमात्र ओषधि विशुद्ध ब्रह्मका सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है, तब ज्ञानी पुरुष शिवरूप हो जाता है। जैसे लोकमें नदियाँ और नद समुद्रमें मिलकर उसके साथ एक हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा निराकार अविनाशी परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है।

तस्माद्विज्ञानमेवास्ति न प्रपञ्चो न संस्थितिः ।
अज्ञानेनावृतं लोके विज्ञानं तेन मुह्यति ॥
तज्ज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम् ।
अज्ञानमिति तत्सर्वं विज्ञानमिति मे मतम् ॥
एतत्ते परमं सांख्यं भाषितं ज्ञानमुत्तमम् ।
सर्ववेदान्तसारं हि योगस्तत्रैकचित्तता ॥
योगात् संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रजायते ।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित् ॥
यदेव योगिनो यान्ति सांख्यं तदभिगम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥
अन्ये च योगिनो वत्स ऐश्वर्यासक्तचेतसः ।
मज्जन्ति तत्र तत्रैव सत्वात्मैक्यमिति श्रुतिः ॥
यत्तत्सर्वगतं दिव्यमैश्वर्यमचलं महत् ।
ज्ञानयोगाभियुक्तस्तु देहान्ते तदवाप्नुयात् ॥
एष आत्माहमव्यक्तो मायावी परमेश्वरः ।
कीर्तितः सर्ववेदेषु सर्वात्मा सर्वतोमुखः ॥

'इसलिये विज्ञान ही परमार्थ सत्य है। न तो जगत्की सृष्टि सत्य है और न इसका संहार। लोकमें विज्ञानपर अज्ञानका आवरण पड़ा हुआ है। इसीलिये लोग मोहमें पड़ जाते हैं। वह ज्ञान निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्प और अविनाशी है। यह सारा प्रपञ्च, जिसे अज्ञान कहा जाता है, मेरे मतमें विज्ञानरूप ही है। हनुमन्! यह मैंने तुमसे परमोत्तम ज्ञान-सांख्यका वर्णन किया है—यही सम्पूर्ण वेदान्तका सार है। इस ज्ञानस्वरूप

परमात्मामें चित्तका एकीभावसे लग जाना योग कहलाता है। योगसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे योग। जो योग और ज्ञान दोनोंसे सम्पन्न है, उसके लिये कहीं कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है। योगी जिस पदको प्राप्त करते हैं, सांख्यज्ञानसे भी उसी पदकी प्राप्ति होती है। जो सांख्य और योग दोनोंको फलकी दृष्टिसे एक देखता है, वही तत्त्ववेत्ता है। वत्स! दूसरे योगीजन अणिमा आदि ऐश्वर्योंमें आसक्तचित्त होकर उन्हीं-उन्हींमें डूब जाते हैं। आत्माकी एकताका बोध ही वास्तवमें प्राप्य परमपद है—ऐसा श्रुतिका कथन है। जो सर्वव्यापी दिव्य महान् एवं अचल ऐश्वर्यस्वरूप है, उस ब्रह्मपदको ज्ञानयोग-सम्पन्न पुरुष देहत्यागके पश्चात् प्राप्त कर लेता है। हनुमन्! यह आत्मा मैं ही हूँ! मैं ही अव्यक्त मायाधिपति परमेश्वर हूँ। मुझे ही सम्पूर्ण वेदोंमें सर्वात्मा एवं सर्वतोमुख कहा गया है।

सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धोऽजरोऽमरः।
सर्वतः पाणिपादोऽहमन्तर्यामी सनातनः॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता हृदि संस्थितः।
अचक्षुरपि पश्यामि तथाकर्णः शृणोम्यहम्॥
वेदाहं सर्वमेवेदं न मां जानाति कश्चन।
प्राहुर्महान्तं पुरुषं मामेकं तत्त्वदर्शिनः॥
निर्गुणामलरूपस्य यत्तदैश्वर्यमुत्तमम्।
यन्न देवा विजानन्ति मोहिता मायया मम॥
यन्मे गुह्यतमं देहं सर्वगं तत्त्वदर्शिनः।
प्रविष्टा मम सायुज्यं लभन्ते योगिनोऽव्ययम्॥
येषां हि न समापन्ना माया वै विश्वरूपिणी।
लभन्ते परमं शुद्धं निर्वाणं ते मया सह॥
न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि।
प्रसादान्मम ते वत्स एतद्वेदानुशासनम्॥
नापुत्रशिष्ययोगिभ्यो दातव्यं हनुमन्कचित्।
यदुक्तमेतद्विज्ञानं सांख्ययोगसमाश्रयम्॥

(इत्यार्षे अद्भुतरामायणे उत्तरकाण्डे सांख्ययोगो नाम एकादशः सर्गः)

'सम्पूर्ण कामनाएँ, सम्पूर्ण रस तथा सम्पूर्ण गन्ध मैं ही हूँ। जरा और मृत्यु मुझे छू नहीं सकते। मेरे सब ओर हाथ-पैर हैं। मैं ही सनातन अन्तर्यामी आत्मा हूँ। मेरे हाथ और पैर नहीं हैं, तो भी मैं सब कुछ ग्रहण करता और वेगसे चलता हूँ। मैं ही सबके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान हूँ। मैं आँख न होनेपर भी देखता और कानके बिना भी सुनता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण विश्वको जानता हूँ। किंतु मुझे कोई नहीं जानता। तत्त्वदर्शी पुरुष मुझे एकमात्र महान् पुरुष—परमात्मा कहते हैं। मेरा स्वरूप निर्गुण और निर्मल है; उसका जो परमोत्तम ऐश्वर्य है, उसे देवता भी नहीं जानते, क्योंकि वे भी मेरी मायासे मोहित हैं। मेरा जो गुह्यतम सर्वव्यापी तथा अविनाशी, चिन्मय स्वरूप है, उसमें प्रविष्ट होकर तत्त्वदर्शी योगी मेरा सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं। जिन्हें विश्वरूपिणी मायाने आक्रान्त नहीं किया है, वे मेरे साथ एकीभूत होकर परम शुद्ध निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त कर लेते हैं। सौ करोड़ कल्पोंमें भी उनकी इस संसारमें पुनरावृत्ति नहीं होती। वत्स! मेरी कृपासे तुम्हें यह वेदका उपदेश प्राप्त हुआ। हनुमन्! जो पुत्र, शिष्य अथवा योगी न हो, ऐसे लोगोंको कभी इस ज्ञानका उपदेश नहीं देना चाहिये। यह विज्ञान जो तुम्हें बताया गया है, सांख्ययोगसे सम्बद्ध है।'

(अद्भुत रामायण, उत्तरकाण्ड, सांख्ययोग नामक ११वाँ सर्ग समाप्त।)

पुना रामः प्रवचनमुवाच द्विजपुंगव।
अव्यक्तादभवत् कालः प्रधानं पुरुषः परः॥
तेभ्यः सर्वमिदं जातं तस्मात्सर्वमहं जगत्।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्॥

सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ॥
सर्वाधारं स्थिरानन्दमव्यक्तं द्वैतवर्जितम् ।
सर्वोपमानरहितं प्रमाणातीतगोचरम् ॥
निर्विकल्पं निराभासं सर्वाभासं परामृतम् ।
अभिन्नं भिन्नसंस्थानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम् ॥
निर्गुणं परमं व्योम तज्ज्ञानं सूरयो विदुः ।
स आत्मा सर्वभूतानां स बाह्याभ्यन्तरात्परः ॥
सोऽहं सर्वत्रगः शान्तो ज्ञानात्मा परमेश्वरः ।
मया ततमिदं विश्वं जगदव्यक्तरूपिणा ॥
मत्स्थानि सर्वभूतानि यस्तं वेद स वेदवित् ।

उपनिषत्-सिद्धान्तका निरूपण

क्षत्रियशिरोमणि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपने प्रवचनको चालू रखते हुए कहा—'हनुमन् ! मुझ अव्यक्त परमात्मासे काल, प्रधान नामक तत्त्व और परमपुरुष (आत्मा)—इन तीनोंका प्रादुर्भाव हुआ । इन्हीं तीनोंसे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है इसलिये सम्पूर्ण जगत् मैं ही हूँ । परब्रह्म परमात्माके सब ओर हाथ-पैर हैं। उनके नेत्र, मस्तिष्क और मुख भी सब ओर हैं। उनके कान भी सब ओर हैं । वे लोकमें सबको व्याप्त करके स्थित हैं । वे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणों (विषयों) को प्रकाशित करनेवाले हैं, तथापि समस्त इन्द्रियोंसे रहित हैं । वे सबके आधार हैं । उनका आनन्द स्थिर है । वे अव्यक्त हैं । उनमें द्वैतका अभाव है । वे सम्पूर्ण उपमाओंसे रहित और प्रमाणोंके अगोचर हैं । निर्विकल्प, निराभास, सबके प्रकाशक तथा परम अमृतस्वरूप हैं । उनमें भेदका सर्वथा अभाव है । तथापि वे भिन्न-भिन्न शरीर धारण करते हैं । सनातन, ध्रुव और अविनाशी हैं । वे निर्गुण, परम व्योमस्वरूप तथा ज्ञानमय हैं; विद्वान् पुरुष उन्हें इसी रूपमें जानते हैं । वे ही सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा हैं । बाह्य और आभ्यन्तर सभी पदार्थोंसे परे हैं । वह सर्वत्र व्यापक, शान्तस्वरूप ज्ञानात्मा परमेश्वर मैं ही हूँ । मुझ अव्यक्तस्वरूप परमेश्वरने इस सम्पूर्ण विश्वको व्याप्त कर रक्खा है । सम्पूर्ण भूत मुझमें ही स्थित हैं । इस प्रकार जो मुझ परमात्माको जानता है, वही वेदवेत्ता है ।

प्रधानं पुरुषं चैव तत्त्वद्वयमुदाहृतम् ॥
तयोरनादिर्निर्दिष्टः कालः संयोजकः परः ।
त्रयमेतदनाद्यन्तमव्यक्ते समवस्थितम् ॥
तदात्मकं तदन्यत्स्यात्तद्रूपं मामकं विदुः ।
महदाद्यं विशेषान्तं सम्प्रसूतेऽखिलं जगत् ॥
या सा प्रकृतिरुद्दिष्टा मोहिनी सर्वदेहिनाम् ।
पुरुषः प्रकृतिस्थोऽपि भुङ्क्ते यः प्राकृतान्गुणान्॥
अहंकारविविक्तत्वात्प्रोच्यते पञ्चविंशकः ।
आद्यो विकारः प्रकृतेर्महानात्मेति कथ्यते ॥
विज्ञानशक्तिर्विज्ञानादहंकारस्तदुत्थितः ।
एक एव महानात्मा सोऽहंकारोऽभिधीयते ॥
स जीवः सोऽन्तरात्मेति गीयते तत्त्वचिन्तकैः ।
तेन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु ॥
स विज्ञानात्मकस्तस्य मनः स्यादुपकारकम् ।
तेनाविवेकतस्तस्मात् संसारः पुरुषस्य तु ॥

'प्रकृति और पुरुष—ये दो तत्त्व कहे गये हैं । उन दोनोंमें संयोग उत्पन्न करनेवाला परम काल कहा गया है, जो अनादि है । प्रकृति, पुरुष और काल—ये तीनों तत्त्व अनादि और अनन्त हैं । मुझ अव्यक्त परमात्मामें ही इनकी स्थिति है । जो इन त्रिविध तत्त्वोंसे अभिन्न तथा इनसे परे भी है, वही मेरा अनिर्वचनीय स्वरूप है—यह विद्वान् पुरुष जानते हैं । मेरा स्वरूपभूत वह परम ब्रह्म ही महत्से लेकर विशेषपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्की रचना करता है । जो प्रकृति कही गयी है, वह समस्त देहधारियोंको मोहमें डालनेवाली है । पुरुष उस प्रकृतिमें ही स्थित होकर प्राकृत गुणोंका उपभोग करता है ।

*

अहंकारसे पृथक् होनेके कारण वह पचीसवाँ तत्त्व कहा गया है। प्रकृतिका जो प्रथम विकार है, उसे महान् आत्मा या महत् तत्त्व कहते हैं, उसीका नाम विज्ञान-शक्ति या समष्टिबुद्धि है। उस विज्ञानसे अहंकार उत्पन्न हुआ है। एकमात्र महान् आत्मा ही अहंकार कहलाता है। तत्त्वचिन्तक विद्वान् उसीको जीव तथा अन्तरात्मा कहते हैं। उसीके द्वारा प्रत्येक जन्ममें प्राणी समस्त सुख-दुःखोंका अनुभव करता है। विज्ञानात्मासे युक्त जीवका मन उपकारक होता है। उस विज्ञानात्मा (महत् तत्त्व अथवा प्रकृति) से अपने पार्थक्यका बोध न होनेसे पुरुषको संसार-बन्धनकी प्राप्ति होती है।

स चाविवेकः प्रकृतौ सङ्गात्कालेन सोऽभवत्।
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः॥
सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे।
सोऽन्तरा सर्वमेवेदं नियच्छति सनातनः॥
प्रोच्यते भगवान् प्राणः सर्वज्ञः पुरुषः परः।
सर्वेन्द्रियेभ्यः परमं मनः प्राहुर्मनीषिणः॥
मनसश्चाप्यहंकारमहंकारान्महान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः॥
पुरुषाद्भगवान्प्राणस्तस्य सर्वमिदं जगत्।
प्राणात्परतरं व्योम व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः॥
सोऽहं सर्वत्रगः शान्तो ज्ञानात्मा परमेश्वरः।
नास्ति मत्परमं भूतं मां विज्ञाय विमुच्यते॥
नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजंगमम्।
ऋते मामेकमव्यक्तं व्योमरूपं महेश्वरम्॥
सोऽहं सृजामि सकलं संहरामि सदा जगत्।
मायी मायामयो देवः कालेन सह संगतः॥
मत्संनिधावेष कालः करोति सकलं जगत्।
नियोजयत्यनन्तात्मा ह्येतद्वेदानुशासनम्॥

(इत्यार्षे अद्भुतरामायणे उत्तरकाण्डे उपनिषत्कथनं नाम द्वादशः सर्गः॥)

'प्रकृतिमें आसक्ति होनेसे कालके द्वारा वह अविवेक दृढ़ हुआ है। काल ही प्राणियोंकी सृष्टि करता है और काल ही समस्त प्रजाका संहार। सब लोग कालके वशमें हैं। काल किसीके वशमें नहीं है। वह सनातन काल सबके भीतर रहकर इस सम्पूर्ण जगत्का नियन्त्रण करता है। भगवान् काल ही प्राण, सर्वज्ञ एवं परम पुरुष कहे जाते हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है। मनसे परे अहंकार है, अहंकारसे परे महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त है और अव्यक्तसे परे पुरुष विराजमान है। पुरुषसे परे भगवान् प्राण हैं। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींकी रचना है। प्राणसे परे व्योम और व्योमसे परे अग्निस्वरूप ईश्वर है। वह ईश्वर मैं हूँ। मैं ही सर्वत्र व्यापक, शान्त और ज्ञानस्वरूप परमेश्वर हूँ। मुझसे श्रेष्ठ कोई प्राणी नहीं है। जो मुझे जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है। संसारमें कोई भी स्थावर-जंगम भूत नित्य नहीं है। एकमात्र मुझ अव्यक्त परमाकाशस्वरूप महेश्वरको छोड़कर सब कुछ अनित्य है। मैं ही सदा सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि और संहार करता हूँ। मायाका अधिपति मायामय देवता मैं कालसे संयुक्त हूँ। यह काल मेरे निकट रहकर ही सारे जगत्की सृष्टि करता है। अनन्तात्मा काल ही इस विश्वको विभिन्न कार्योंमें नियुक्त करता है। यह वेदका उपदेश है।'

(अद्भुत रामायण उत्तरकाण्ड उपनिषद्-सिद्धान्त निरूपणनामक १२वाँ सर्ग समाप्त।)

वक्ष्ये समाहितमनाः शृणुष्व पवनात्मज।
येनेदं लभ्यते रूपं येनेदं सम्प्रवर्तते॥
नाहं तपोभिर्विविधैर्न दानेन न चेज्यया।
शक्यो हि पुरुषैर्ज्ञातुमृते भक्तिमनुत्तमाम्॥
अहं हि सर्वभावानामन्तस्तिष्ठामि सर्वगः।

मां सर्वसाक्षिणं लोका न जानन्ति प्लवंगम ॥
यस्यान्तरा सर्वमिदं यो हि सर्वान्तरः परः ।
सोऽहं धाता विधाता च
लोकेऽस्मिन् विश्वतोमुखः ॥
न मां पश्यन्ति मुनयः सर्वेऽपि त्रिदिवौकसः ।
ब्राह्मणा मनवः शक्रा ये चान्ये प्रथितौजसः ॥
गृणन्ति सततं वेदा मामेकं परमेश्वरम् ।
यजन्ति विविधैरग्निं ब्राह्मणा वैदिकैर्मखैः ॥
सर्वे लोका नमस्यन्ति ब्रह्मलोके पितामहम् ।
ध्यायन्ति योगिनो देवं भूताधिपतिमीश्वरम् ॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता चैव फलप्रदः ।
सर्वदेवतनुर्भूत्वा सर्वात्मा सर्वसंस्तुतः ॥

भक्तियोगका निरूपण

'पवननन्दन ! अब मैं पुनः जो बात बता रहा हूँ, उसे एकाग्र होकर सुनो । जिससे इस रूपकी प्राप्ति होती है तथा जिससे यह जगत् व्यवहारमें प्रवृत्त होता है, वह तत्त्व मैं ही हूँ । मुझे मनुष्य नाना प्रकारके तप, दान तथा यज्ञोंके अनुष्ठानसे नहीं जान सकते । मेरी परम उत्तम भक्तिको छोड़कर और किसी उपायसे मेरा सम्यक्-ज्ञान नहीं हो सकता । कपिश्रेष्ठ ! मैं ही सम्पूर्ण पदार्थोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हूँ, सर्वत्र व्याप्त हूँ । मैं ही सबका साक्षी हूँ । किंतु संसारके लोग मुझे इस रूपमें नहीं जानते । जिसके भीतर यह सारा प्रपञ्च विद्यमान है, जो सबका अन्तरात्मा, परम पुरुष है वह मैं ही हूँ । मैं ही इस लोकमें धाता और विधाताके नामसे प्रसिद्ध हूँ । मेरे सब ओर मुख हैं । मुनि, सम्पूर्ण देवता, ब्राह्मण, मनु, इन्द्र तथा अन्य प्रख्यात तेजस्वी पुरुष भी मुझे नहीं देखते । वेद मुझ परमेश्वरका ही सदा स्तवन करते हैं । ब्राह्मण-लोग भाँति-भाँतिके वैदिक यज्ञोंद्वारा मुझ अग्निस्वरूप परमेश्वरका ही यजन करते हैं । मैं ही ब्रह्मलोकमें पितामह हूँ । उस रूपमें सब लोग मुझे ही नमस्कार करते हैं । योगी पुरुष भूतनाथ महेश्वरदेवके रूपमें मेरा ही ध्यान करते हैं । मैं ही सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और फलदाता हूँ । सम्पूर्ण देवताओंका शरीर धारण करके मैं सर्वात्मा ही सबकी स्तुति-प्रशंसाका विषय हो रहा हूँ ।

मां पश्यन्तीह विद्वांसो धार्मिका वेदवादिनः ।
तेषां संनिहितो नित्यं ये भक्ता मामुपासते ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या धार्मिका मामुपासते ।
तेषां ददामि तत्स्थानमानन्दं परमं पदम् ॥
अन्येऽपि ये विकर्मस्थाः शूद्राद्या नीचजातयः ।
भक्तिमन्तः प्रमुच्यन्ते कालेन मयि संगताः ॥
न मद्भक्ता विनश्यन्ते मद्भक्ता वीतकल्मषाः ।
आदावेतत्प्रतिज्ञातं न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
यो वा निन्दति तं मूढो देवदेवं स निन्दति ।
यो हि तं पूजयेद्भक्त्या स पूजयति मां सदा ॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं मदाराधनकारणात् ।
यो मे ददाति नियतः स मे भक्तः प्रियो मतः ।
निधाय दत्तवान् वेदानशेषानास्यनिस्सृतान् ॥
अहमेव हि सर्वेषां योगिनां गुरुरव्ययः ।
धार्मिकाणां च गोप्ताहं निहन्ता वेदविद्विषाम् ॥
अहं वै सर्वसंसारान्मोचको योगिनामिह ।
संसारहेतुरेवाहं सर्वसंसारवर्जितः ॥

'धार्मिक वेदवादी विद्वान् यहाँ ज्ञान-दृष्टिसे मुझे देखते हैं । जो भक्तजन मेरी उपासना करते हैं, उनके निकट मैं नित्य निवास करता हूँ । जो ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा धार्मिक वैश्य मेरी आराधना करते हैं, उन्हें मैं अपना परमानन्द-मय धाम—परमपद प्रदान करता हूँ; दूसरे भी शूद्र आदि जो लोग विपरीत कर्ममें लगे रहनेवाले तथा नीच जातिके हैं, वे भी यदि भक्तिभावसे मेरा भजन करते हैं तो इस संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और समयानुसार मुझमें मिल जाते हैं । मेरे भक्तोंका कभी विनाश नहीं होता ।

'मेरी आराधनाके अभिलाषी अन्य जो तीन प्रकारके भक्त हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं और पुनः लौटकर इस संसारमें नहीं आते। मैंने ही सम्पूर्ण जगत्का विस्तार किया है—जो इस बातको जानता है, वह अमृतस्वरूप हो जाता है। मैं इस समस्त जगत्को स्वभावसे ही वर्तमान देखता हूँ, जिसे महायोगेश्वर साक्षात् भगवान्ने समयानुसार रचा है। वे ही योगशास्त्रके वक्ता हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें उन्हें योगी और मायावी कहा गया है। विद्वानोंने उन्हीं महाप्रभु भगवान् महादेवको योगेश्वर कहा है। सम्पूर्ण जीवोंसे महान् होनेके कारण परमात्माको महेश्वर कहा गया है और वे ही सबसे परे होनेके कारण परमेश्वर कहे जाते हैं। महान् ब्रह्ममय होनेसे ही उनका नाम भगवान् ब्रह्मा है। यह सब मेरे ही स्वरूपका परिचय है। जो मुझे इस प्रकार महायोगेश्वरेश्वर जानता है, वह अविचल योगसे युक्त होता है—इसमें संशय नहीं है। वही मैं सबका प्रेरक परम देव परमानन्दका आश्रय ले सर्वत्र विराजमान हूँ। जो योगी सदा इस प्रकार मुझे जानता है, वही वेदवेत्ता है। यह सम्पूर्ण वेदोंमें निश्चित रूपसे प्रतिपादित गुह्यतम ज्ञान है। जो प्रसन्नचेता धर्मात्मा एवं अग्निहोत्री हो, उसे इसका उपदेश देना चाहिये।'

(अद्भुत रामायण, उत्तरकाण्ड, भक्तियोग नामक १३वाँ सर्ग समाप्त।)

सर्वलोकैकनिर्माता सर्वलोकैकरक्षिता।
सर्वलोकैकसंहर्ता सर्वात्माहं सनातनः॥
सर्वेषामेव वस्तूनामन्तर्यामी पिता ह्यहम्।
मय्येवान्तःस्थितं सर्वं नाहं सर्वत्र संस्थितः॥
भवता चाद्भुते दृष्टं यत्स्वरूपं तु मामकम्।
ममैषा ह्युपमा वत्स मायया दर्शिता मया॥
सर्वेषामेव भावानामन्तरा समवस्थितः।
प्रेरयामि जगत्सर्वं क्रियाशक्तिरियं मम॥
मयेदं चेष्टते विश्वं मत्स्वभावानुवर्ति च।
सोऽहं काले जगत्कृत्स्नं करोमि हनुमन् किल॥
संहराम्येकरूपेण द्विधावस्था ममैव तु।
आदिमध्यान्तनिर्मुक्तो मायातत्त्वप्रवर्तकः॥
क्षोभयामि च सर्गादौ प्रधानपुरुषावुभौ।
ताभ्यां संजायते सर्वं संयुक्ताभ्यां परस्परम्॥

भगवान् श्रीरामके सर्वात्मक एवं सर्वशासक स्वरूपका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—'पवननन्दन! मैं सम्पूर्ण लोकोंका एकमात्र स्रष्टा, सब लोगोंका एकमात्र पालक तथा समस्त संसारका एकमात्र संहारक, सबका आत्मा सनातन परमात्मा हूँ। मैं समस्त वस्तुओंके भीतर रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा तथा सबका पिता हूँ। सारा जगत् मेरे ही भीतर स्थित है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्के भीतर स्थित नहीं हूँ। वत्स! तुमने जो मेरा अद्भुत स्वरूप देखा है, यह मेरी एक उपमामात्र है, इसे मैंने मायाद्वारा दिखाया है। मैं सभी पदार्थोंके भीतर स्थित रहकर सम्पूर्ण जगत्को प्रेरित करता हूँ। यह मेरी क्रिया-शक्तिका परिचय है। हनुमन्! यह सम्पूर्ण विश्व मेरे सहयोगसे ही चेष्टाशील होता है, यह मेरे स्वभावका ही अनुसरण करनेवाला है। अवश्य मैं ही सृष्टिकालमें समस्त जगत्की रचना करता हूँ तथा एक दूसरे रूपसे इसका संहार भी करता हूँ। ये दोनों प्रकारकी अवस्थाएँ मेरी ही हैं। मैं आदि, मध्य तथा अन्तसे रहित एवं माया-तत्त्वका प्रवर्तक हूँ। मैं ही सृष्टिके प्रारम्भमें प्रधान एवं पुरुष—दोनोंको क्षुब्ध करता हूँ। फिर परस्पर संयुक्त हुए उन दोनोंसे ही सबकी उत्पत्ति होती है।

महदादिक्रमेणैव मम तेजो विजृम्भितम्।
यो हि सर्वजगत्साक्षी कालचक्रप्रवर्तकः॥
हिरण्यगर्भो मार्तण्डः सोऽपि मद्देहसम्भवः।

तस्मै दिव्यं स्वमैश्वर्यं ज्ञानयोगं सनातनम् ॥
दत्तवानात्मजान्वेदान् कल्पादौ चतुरः किल ।
स मन्नियोगतो ब्रह्मा सदा मद्भावभावितः ॥
दिव्यं तन्मामकैश्वर्यं सर्वदा वहति स्वयम् ।
स सर्वलोकनिर्माता मन्नियोगेन सर्ववित् ॥
भूत्वा चतुर्मुखः सर्गं सृजत्येवात्मसम्भवः ।
योऽपि नारायणोऽनन्तो लोकानां प्रभवाव्ययः ॥
ममैव परमा मूर्तिः करोति परिपालनम् ।
योऽन्तकः सर्वभूतानां रुद्रः कालात्मकः प्रभुः ॥
मदाज्ञयासौ सततं संहरत्येव मे तनुः ।
हव्यं वहति देवानां कव्यं कव्याशिनामपि ॥
पाकं च कुरुते वह्निः सोऽपि मच्छक्तिचोदितः ।
भुक्तमाहारजातं यत्पचत्येतदहर्निशम् ॥

'महत्तत्त्व आदिके क्रमसे ही मेरे तेजका विस्तार हुआ है । जो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी, कालचक्रके प्रवर्तक, हिरण्यगर्भस्वरूप मार्तण्डदेव हैं, वे भी मेरे ही दिव्य स्वरूपसे प्रकट हुए हैं । मैंने उन्हें अपना दिव्य ऐश्वर्य, सनातन योग प्रदान किया है । कल्पके आदिमें मुझसे प्रकट हुए चार वेद मैंने ही ब्रह्माजीको दिये थे । सदा मेरे ही भावसे भावित ब्रह्मा मेरी आज्ञासे सृष्टि करते और मेरे उस दिव्य ऐश्वर्यको सदा स्वयं वहन करते हैं । सर्वज्ञ ब्रह्मा मेरे आदेशसे ही सम्पूर्ण लोकोंके निर्माणमें संलग्न हुए हैं । आत्मयोनि ब्रह्मा मेरी ही आज्ञासे चार मुखोंवाले होकर सृष्टि-रचना करते हैं । सम्पूर्ण लोकोंके उद्भव तथा प्रलयस्थान जो अनन्त भगवान् नारायण हैं, वे भी मेरे ही उत्कृष्ट स्वरूप हैं, जो जगत्के पालनमें लगे हैं । जो सम्पूर्ण भूतोंके संहारक भगवान् कालरुद्र हैं, वे भी मेरे ही शरीर हैं तथा मेरी ही आज्ञासे सदा संहारकार्यमें प्रवृत्त रहते हैं । जो हव्यभोजी देवताओंको हव्य पहुँचाते हैं, कव्यभोजी पितरोंको कव्यकी प्राप्ति कराते हैं तथा अन्नका परिपाक करते रहते हैं, वे अग्निदेव भी मेरी शक्तिसे प्रेरित हो लोगोंके खाये हुए आहार-समूहका दिन-रात पाचन करते हैं ।

वैश्वानरोऽग्निर्भगवानीश्वरस्य नियोगतः ।
यो हि सर्वाम्भसां योनिर्वरुणो देवपुंगवः ॥
स संजीवयते सर्वमीशस्यैव नियोगतः ।
योऽन्तस्तिष्ठति भूतानां बहिर्देवो निरञ्जनः ॥
मदाज्ञयासौ भूतानां शरीराणि बिभर्ति हि ।
योऽपि संजीवनो नृणां देवानाममृताकरः ॥
सोमः स मन्नियोगेन चोदितः किल वर्तते ।
यः स्वभासा जगत्कृत्स्नं प्रकाशयति सर्वदा ॥
सूर्यो वृष्टिं वितनुते शास्त्रेणैव स्वयम्भुवः ।
योऽप्यशेषजगच्छास्ता शक्रः सर्वामरेश्वरः ॥
यज्ञानां फलदो देवो वर्ततेऽसौ मदाज्ञया ।
यः प्रशास्ता ह्यसाधूनां वर्तते नियमादिह ॥
यमो वैवस्वतो देवो देवदेवनियोगतः ।
योऽपि सर्वधनाध्यक्षो धनानां सम्प्रदायकः ॥
सोऽपीश्वरनियोगेन कुबेरो वर्तते सदा ।
यः सर्वरक्षसां नाथस्तापसानां फलप्रदः ॥
मन्नियोगादसौ देवो वर्तते निर्ऋतिः सदा ।
वेतालगणभूतानां स्वामी भोगफलप्रदः ॥
ईशानः सर्वभक्तानां सोऽपि तिष्ठेन्ममाज्ञया ।

'भगवान् वैश्वानर अग्नि मुझ परमेश्वरके आदेशसे ही अपने कर्तव्यके पालनमें लगे हैं । सम्पूर्ण जलकी योनि-स्वरूप जो देवेश्वर वरुण हैं, वे मुझ परमेश्वरकी आज्ञासे ही सबको जीवन प्रदान करते हैं । जो निरञ्जन परमदेव समस्त भूतोंके भीतर-बाहर विराजमान हैं, वे मेरी ही आज्ञासे प्राणियोंके शरीरका भरण-पोषण करते हैं । जो समस्त मानवोंके जीवनदाता तथा देवताओंके लिये अमृतकी खान हैं, वे चन्द्रदेव मेरी ही आज्ञासे प्रेरित हो अपने कार्यमें प्रवृत्त हैं । जो अपनी प्रभासे सदा

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च ॥
नियोगादेव वर्तन्ते सर्वाण्येव स्वयम्भुवः ।

'जो नामसे अनन्त हैं, जिनकी महिमा भी अनन्त है, तथा जो सम्पूर्ण देवताओंके प्रभु हैं, वे शेष भी मेरी ही आज्ञासे समस्त लोकको सिरपर धारण करते हैं। जो सांवर्त्तक अग्निदेव नित्य वड़वारूपसे स्थित हो सम्पूर्ण सागरके जलको पीते रहते हैं, वे भी मुझ परमेश्वरके आदेशसे ही चलते हैं। आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, दोनों अश्विनीकुमार तथा अन्य सम्पूर्ण देवता मेरे शासनमें ही रहते हैं। गन्धर्व, नाग, यक्ष, सिद्ध, साध्य, चारण, भूत, राक्षस तथा पिशाच भी मुझ स्वयम्भूके शासनमें ही स्थित हैं। कला, काष्ठा, निमेष, मुहूर्त, दिवस, क्षण, ऋतु, वर्ष, मास और पक्ष भी मुझ प्रजापतिके शासनमें स्थित हैं। युग, मन्वन्तर, परार्द्ध, पर तथा अन्यान्य कालभेद भी मेरी ही आज्ञामें स्थित हैं। चार प्रकारके समस्त स्थावर और जंगम प्राणी मुझ स्वयम्भूकी आज्ञासे ही चलते हैं।

पत्तनानि च सर्वाणि भुवनानि च शासनात् ॥
ब्रह्माण्डानि च वर्तन्ते देवस्य परमात्मनः ।
अतीतान्यप्यसंख्यानि ब्रह्माण्डानि ममाज्ञया ॥
प्रवृत्तानि पदार्थौघैः सहितानि समन्ततः ।
ब्रह्माण्डानि भविष्यन्ति सह वस्तुभिरात्मगैः ॥
हरिष्यन्ति सहैवाज्ञां परस्य परमात्मनः ।
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ॥
भूतादिरादिप्रकृतिर्नियोगान्मम वर्तते ।
याशेषसर्वजगतां मोहिनी सर्वदेहिनाम् ॥
मायापि वर्तते नित्यं सापीश्वरनियोगतः ।
विधूय मोहकलिलं यथा पश्यति यत्पदम् ॥
सापि विद्या महेशस्य नियोगाद् वशवर्तिनी ।
बहुनात्र किमुक्तेन मम शक्त्यात्मकं जगत् ॥
मयैव पूर्यते विश्वं मय्येव प्रलयं व्रजेत् ।

'सम्पूर्ण नगर, चौदहों भुवन तथा निखिल ब्रह्माण्ड मुझ परमात्म-देवके शासनसे ही कार्यरत रहते हैं। अतीत कालमें जो असंख्य ब्रह्माण्ड हो गये हैं, वे भी सम्पूर्ण पदार्थसमूहोंके साथ मेरी आज्ञासे ही अपने कर्त्तव्यपालनमें प्रवृत्त हुए थे। चारों ओर भविष्यकालमें जो ब्रह्माण्ड होंगे, वे भी अपनी समस्त वस्तुओंके साथ सदा मुझ परमात्माकी ही आज्ञाका पालन करेंगे। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार तथा आदि प्रकृति भी मेरे आदेशसे ही कार्य करते हैं। जो समस्त लोकों एवं सम्पूर्ण देहधारियोंको मोहमें डालनेवाली है, वह माया भी मुझ ईश्वरके आदेशसे ही सारा व्यवहार चलाती है। जो मोहरूपी कलिलका नाश करके सदा परमात्म-पदका साक्षात्कार कराती है, वह ब्रह्मविद्या भी मुझ महेश्वरकी आज्ञाके ही अधीन है। इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ, यह सारा जगत् मेरी शक्तिसे ही उत्पन्न हुआ है, मुझसे ही इस विश्वका भरण-पोषण होता है तथा अन्ततोगत्वा सबका मुझमें ही प्रलय होता है।

अहं हि भगवानीशः स्वयंज्योतिः सनातनः ॥
परमात्मा परं ब्रह्म मत्तो ह्यन्यन्न विद्यते ।
इत्येतत्परमं ज्ञानं भवते कथितं मया ॥
ज्ञात्वा विमुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात् ।
मायामाश्रित्य जातोऽहं गृहे दशरथस्य हि ॥
रामोऽहं लक्ष्मणो ह्येष शत्रुघ्नो भरतोऽपि च ।
चतुर्धा सम्प्रभूतोऽहं कथितं तेऽनिलात्मज ॥
मायास्वरूपं च तव कथितं यत्प्लवंगम ।
कृपया तद्धृदा धार्यं न विसर्तव्यमेव हि ॥
येनायं पठ्यते नित्यं संवादो भवतो मम ।
जीवन्मुक्तो भवेत्सोऽपि सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
श्रावयेद्वा द्विजाञ्छुद्धान्ब्रह्मचर्यपरायणान् ।
यो वा विचारयेदर्थं स याति परमां गतिम् ॥

यश्चैतच्छृणुयान्नित्यं भक्तियुक्तो दृढव्रतः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते ॥

(इत्यार्षे अद्भुतरामायणे उत्तरकाण्डे, चतुर्दशः सर्गः)

'मैं ही स्वयंप्रकाश सनातन भगवान् ईश्वर हूँ । मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ । मुझसे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है । हनुमन् ! यह परम ज्ञान मैंने तुमसे कहा है—इसे जानकर जीव जन्म-मृत्युरूप संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है । पवननन्दन ! मैंने मायाका आश्रय लेकर राजा दशरथके घरमें अवतार लिया है । वहाँ मैं राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न—इन चार रूपोंमें प्रकट हुआ हूँ । यह सारी बात मैंने तुम्हें बता दी । कपिश्रेष्ठ ! मैंने कृपापूर्वक तुम्हें अपने स्वरूपका परिचय दिया है । इसे सदा हृदयमें धारण करते रहना चाहिये । कभी भूलना नहीं चाहिये । जो तुम्हारे और मेरे इस संवादका नित्य पाठ करेगा, वह जीवन्मुक्त होगा और समस्त पापोंसे छुटकारा पा जायगा । जो विशुद्ध आचार-विचारवाले ब्रह्मचर्यपरायण द्विजोंको यह उपदेश सुनाता है, अथवा जो इसके अर्थका विचार करता है, वह परम गतिको प्राप्त होता है । जो दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हुए भक्तिभावसे प्रतिदिन इस प्रसङ्गको सुनता है, वह भी सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित होता है । इसलिये मनीषी पुरुषों—विशेषतः ब्राह्मणोंको चाहिये कि वे सम्पूर्ण प्रयत्नके साथ इस प्रसङ्गको पढ़ें, सुनें और सदा इसका मनन करें ।'

(अद्भुतरामायण, उत्तरकाण्डमें भगवान् श्रीराम और हनुमान्‌का संवाद नामक चौदहवाँ सर्ग समाप्त ।)

श्रीरामगीता

(४)

[स्कन्दपुराण]

(अनुवादक—पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल शास्त्री, साहित्यकेसरी)

श्रीसनकजीने पूछा—अरुणानन्दन ! उन सामर्थ्यशाली श्रीरामके द्वारा राक्षसराज रावणके मारे जानेपर जब तीनों लोकोंमें शान्ति स्थापित हो गयी, धर्म अपनी स्थितिमें आ गया तथा अग्निदेवके द्वारा अनिन्दिता सीताजी ला दी गयीं, उस समय श्रीरामकी क्रोधाग्नि पुनः क्यों भड़क उठी ? क्योंकि तब तो कोप करनेका कोई अवसर नहीं था । तबतक भगवान् श्रीराम अपना सम्पूर्ण कार्य भी सम्पन्न कर चुके थे, फिर भी उन्हें वह पुनः क्रोध उत्पन्न हुआ, यह महान् संशयका विषय है, जो मेरे हृदयमें उथल-पुथल मचा रहा है । अहो ! जिन लोगोंने श्रीरामके वैभवका दर्शन किया है, वे परम धन्य हैं; क्योंकि आज भी उसका श्रवण करनेपर हमलोगोंको भी रोमाञ्च हो आता है ॥ १–४ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तदनन्तर लोगोंको रुलानेवाले उस रावणका वध हो जानेपर जब सिद्धसमुदाय भगवान् रामकी स्तुति कर रहे थे तथा उनके स्वरूपका भी स्मरण करा रहे थे, उस समय भक्तोंके हृदयमें रमण करनेवाले स्वच्छन्द चेष्टासम्पन्न श्रीरामने मानुषभावका परित्याग कर दिया । तत्पश्चात् वे जैसे समस्त प्राणियोंको अपने परमैश्वर्यशाली रूपका दर्शन करा रहे हों, इस प्रकार देवता, राक्षस और मनुष्यसहित इस विश्वको पूर्णरूपसे आच्छादित करके उसके बाहर-भीतर व्याप्त हो गये । उस समय उन्होंने विचार किया कि जैसे पहले मैं अपने एकत्वभावका गोपन करके सृष्टि-प्रपञ्चरूपसे विस्तारको प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार आज पुनः प्रपञ्चताका उत्सर्ग करके एकत्वभावमें ही परिवर्तित हो जाऊँ । यों विचारकर अखण्ड चिदानन्दस्वरूपके आवेशसे वृद्धिको प्राप्त हुए परमाकाशस्वरूप भगवान् राम सब ओरसे बढ़ने लगे । उस समय वे आकाश, पृथ्वी और दसों दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करके स्वच्छन्दतापूर्वक समस्त

भुवनोंका उपसंहार करनेका उपक्रम करने लगे। वे सनातन विष्णु ही भवपाशद्वारा बाँधनेवाले और भवपाशसे मुक्त करनेवाले हैं तथा वे ही कैवल्य-मोक्षके दाता एवं परब्रह्म हैं। जो गुणशाली व्यक्ति श्रीरामचन्द्रके गुणसमूहकी गणना करना चाहते हैं, वे मानो सागरके सम्पूर्ण जलको घड़ेसे नाप लेना चाहते हैं॥ ५–१२॥

तदनन्तर प्रलयाग्निसे संयुक्त शेषजी विशेषरूपसे क्षुब्ध हो उठे। वे अपने फणोंद्वारा ब्रह्माण्डको ऊपर उठाते हुए चराचर जगत्‌को ग्रस लेना चाहते थे। उस समय पर्वत, नदी और नदोंसहित सारी पृथ्वी काँपने लगी। द्वीपोंसहित सातों समुद्र परस्पर मिलकर एकार्णवरूप हो गये। बारहों सूर्य एकबारगी अपनी किरणोंद्वारा प्रचण्डरूपसे तपने लगे तथा अग्निके तेजसे संतप्त हुई सात प्रकारकी वायु बड़ी तेजीसे चलने लगी। तब समस्त देवगण तथा सिद्धों और ऋषियोंके समुदाय इन्द्रको आगे करके ब्रह्माकी शरणमें गये। ब्रह्मा भी भयभीत होकर उन सबके साथ कैलास-पर्वतपर गये। वहाँ वे चन्द्रमौलिसे श्रीरामकी चेष्टाका पूर्णरूपसे निवेदन करते हुए कहने लगे— 'देवेश्वर! आप कल्याण करनेवाले हैं, अतः इस महान् भयसे हमारी रक्षा कीजिये। भव! आपके अतिरिक्त उन सर्वव्यापी श्रीरामकी क्रोधाग्निको कौन शान्त कर सकेगा। पार्वतीवल्लभ! अकस्मात् श्रीरामके क्रोधसे उद्भूत हुई यह प्रलयाग्नि हमलोगोंका पीछा कर रही है। पता नहीं, अब हमारी क्या गति होगी? किस दिशामें हमें आश्रय मिलेगा? और हम किस अवस्थामें पहुँच जायँगे?' ॥ १३—१९॥

इस प्रकार ब्रह्माका कथन सुनकर अपनी ध्वजामें वृषभ-चिह्न धारण करनेवाले भगवान् शंकर उन सबको साथ लेकर शीघ्र ही वैकुण्ठलोकमें विष्णुके निवासस्थानपर आये। वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण लोकोंको अभय प्रदान करनेवाले गरुड़-वाहन विष्णुका दर्शन किया और उन्हें प्रणाम करके सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों उन्हें कह सुनाया। तब ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि समस्त देवगण एक साथ होकर महात्मा रामके पास आये। वहाँ उन्होंने श्रीरामको सारे ब्रह्माण्ड-मण्डलमें व्याप्त देखा। मायाने जिनकी बुद्धिपर परदा डाल रखा था, ऐसे देवता और मानव पहले उन मायातीत श्री-रामको एक श्रेष्ठ मानव समझकर उनका निरादर करके चले गये थे, वे ही अब उन्हें विश्वकोशको ग्रास बनाते देखकर भयभीत हो गये, उनकी आँखें मुँद गयीं। तब उन्होंने स्तुति करना प्रारम्भ किया॥ २०–२३॥

देवगण बोले—चिदाकाशस्वरूप भगवन्! राक्षसोंके कुलका संहार करनेवाले ये श्रीराम क्या त्रिलोकविजयी मानव हैं अथवा स्वयं अधोक्षज हैं—इस प्रकार हम-जैसे जीवोंने जो आपके रूपके विषयमें विकल्प किया था, वह मृषा ही प्रतीत हो रहा है। दीनबन्धो! इस समय आपने जो यह रूप धारण कर रक्खा है, वह सदा रक्षणरूप कार्यके लिये मनुष्यरूपमें अभिनय करनेवाला, अपरिमित कृपामय और विष्णु आदि देवोंको भी नचानेवाला है। अतः विश्वभूमाका भी अतिक्रमण करने-वाले आपको हमारा प्रणाम प्राप्त हो। विभो! न तो हम आपका नाम जानते हैं और न हमें आपके रूपका ही ज्ञान है। आप अकेले ही अपनी आभासे विश्वको धारण किये हुए हैं। आपके शरीरमें इन समस्त भुवनोंके साथ हमारा स्थान कहाँ है—इसका ज्ञान हमें नहीं है; बल्कि आकाशमें रजःकण-की भाँति हम आपमें भ्रमण कर रहे हैं। भगवन्! आपका परमार्थ अतर्क्य है। जब आपकी कोई मूर्ति ही नहीं है, तब बहुत प्रकारसे वर्णन करनेवाली ये वाणियाँ किससे सम्बन्ध स्थापित करें और ये मन किसमें संलग्न हों। इस-लिये आप-जैसे जिस किसी महान् प्रभुको सदैव हमारा नमस्कार है। आपको ब्रह्मा तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि आप रजोगुणसे रहित हैं। सत्त्वगुणसे हीन होनेके कारण आप विष्णु भी नहीं हैं। आप स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं और तमोगुणसे परे प्रकाशित हो रहे हैं, अतः आपको त्रिपुर-संहारक शंकर भी कैसे कहा जाय। श्रीराम मनुष्य और देवता—इन दोनोंसे भिन्न तथा स्थूल, सूक्ष्म, चर-अचर, दृश्य-अदृश्य समस्त जगत्‌में व्याप्त हैं। पहले भी थे और आगे भी होंगे। विश्व आपकी मूर्ति है, आपका क्रोध ही रुद्र है, यह काम ही प्रजा-पति ब्रह्मा है, मोह—मायास्वरूपा लक्ष्मीके स्वामी स्वयं विष्णु हैं और हमलोग आपके आज्ञाकारी अनुचर हैं। आप आनन्दघन हैं, अतः आपके लिये मोहका कोई हेतु नहीं है। अद्वितीय होनेके कारण आपमें राग-द्वेष भी कैसे हो सकते हैं? एकमात्र स्वयं अमितानुकम्पाके अतिरिक्त दूसरा कौन आपकी इस लीलाके निवारण करनेमें समर्थ हो सकता है। जिन आपका उन्मेष—पलक खोलना ही यह सृष्टि है और निमेष—पलक मूँदना ही प्रलय भी है तथा इन दोनों उन्मेष-निमेषकी साम्यावस्था ही ब्रह्माण्डोंका स्थिति-काल है, उन

आपको नियुक्त करनेमें हमलोग कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥ २४—३२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तदनन्तर वे सभी देवता जब भगवान् श्रीरामको प्रणिपात करके उठ खड़े हुए, तब उनकी ओर दृष्टि पड़ते ही पुनः अत्यन्त भयभीत हो गये। उस समय उनका 'तत्, त्वम्, अहम्' यह सारा ज्ञान भूल गया और वे सब-के-सब निश्चेष्ट होकर इस प्रकार मौन हो गये मानो उनके शरीरमें कोई इन्द्रिय-विकार था ही नहीं। तत्पश्चात् वे विष्णु आदि देवगण एक-दूसरेसे मिले और श्रीरामके ऐसे उत्कृष्ट प्रभावको देखकर उनके मन सुन्न हो गये। यों सबके गतिहीन हो जानेपर शंकर दयार्द्र हो गये और श्रीरामको प्रसन्न करनेके लिये वे उन परमेश्वरकी स्तुति करने लगे ॥ ३३—३५ ॥

श्रीशंकरजी बोले—'सुरनाथ! ये वेद जिसे सारी आपत्तियोंसे उद्धार करनेवाला, अद्वितीय तथा सम्पूर्ण ज्ञानका मूल आकर बतलाते हैं और जो संसारमें भक्तोंके सुख आदिके भोग और मुक्तिका एकमात्र कारण है, राम! वे तुम्हीं हो। कुछ लोग तपस्याद्वारा, दूसरे लोग यज्ञोंद्वारा तथा अन्यान्य लोग हवन-अर्चन, अध्ययन-दान और यम-नियमादि योगाङ्गोंसे एवं कुछ लोग एकमात्र परा भक्तिके द्वारा—यों विभिन्न प्रकारसे आप अद्वितीय परम पुरुषका भजन करते हैं। योगियोंके रमण-स्थान राम! आपका उत्तम नाम राक्षसरूपी गहन काननके लिये प्रलयाग्नि है। नाथ! जो आपके चरणकमलके भ्रमर हैं, उन हमलोगोंको भय हो रहा है, अतः आप शीघ्र ही हमारा भय दूर कर दीजिये। यह विश्व आपका शरीर हो अथवा आप विश्वातीत हों या इससे बढ़-चढ़कर कोई अन्य ही आपका रूप हो, किंतु उससे हमें भय प्राप्त हो रहा है। अतः इस विश्वरूपका उपसंहार कर लीजिये; क्योंकि इसके तेजसे हम सब लोग विवश कर दिये गये हैं।

'करुणामय! जिससे सदा लोकोंका कल्याण होता है—ऐसा श्रुतियाँ वर्णन करती हैं और जिसकी कृपासे भक्त-गण भवसागरको भी गौके खुरसे बने हुए गड्ढेकी भाँति पार कर जाते हैं, उन आपसे यदि आपके उपाश्रयी भक्तोंको भय प्राप्त हो तो अब हमलोग क्या कर सकते हैं। श्रीराम! आप ही षडैश्वर्यसम्पन्न[1] ईश्वर हैं और हमलोग आप परमेश्वरके अनुरक्त भक्त हैं। परमार्थ-दृष्टिसे तो हम आपके वैभवके एकमात्र निवासस्थान हैं। भला, ये परिमित कमल-कोशके अन्तर्व्यापी आकाश उस महान् आकाशसे पृथक् कैसे हो

श्रीशंकर उवाच

सर्वापदुद्धरणमेकमशेषसंवि-
न्मूलाकरं च निगमा निगदन्त्यमी यम्।
सोऽसि त्वमेव सुरनाथ सुखादिभुक्ते-
र्मुक्तेश्च राम! भजतामिह यो निदानम् ॥
एके तपोभिरपरे क्रतुभिस्तथान्ये
होमार्चनाध्ययनदानयमादियोगैः।
भक्त्यैकयैव परया कतिचित् सदैव
त्वामेकमेव परमं बहुधा भजन्ति ॥
त्वं राम राम रजनीचरदुर्वनानां
कल्पान्तपावकनिजोत्तमनामधेयम्।
नाथ त्वदङ्घ्रिसरसीरुहषट्पदानां
यस्माद् भयं त्वमभयं कुरु नस्ततो द्राक् ॥

विश्वं वपुर्भवतु वा तदतीतमस्माद्
वृंहिष्ठमन्यदपि वास्तु यतो भयं नः।
तस्मात्तदेतदुपसंहर विश्वरूपं
यत्तेजसा वयममी विवशीकृताः स्म ॥

क्षेमं यतो हि जगतां श्रुतिभिः सदोक्तं
त्वत्तो भयं यदि ततस्त्वदुपाश्रितानाम्।
कुर्मः किमत्र करुणामय यत्प्रसादाद्
भक्ता भवाब्धिमपि गोष्पदमातरन्ति ॥
राम त्वमेव भगवान्प्रणता वयं ते
त्वद्वैभवैकनिलयाः परमार्थदृष्ट्या।
व्योम्नः पृथक् कथममी प्रमिताब्जकोशा-
काशास्ततः परतरात् परमेश्वरस्य ॥

१. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥
(ना० पूर्व० ४६। १७, २१-२२)

सकते हैं। ईश ! कहाँ तो आप तत्त्वमार्गसे अत्यन्त दूर गमन करनेवाले हैं और कहाँ हमलोग, जो तत्त्वरूपी अटवीमें परिभ्रमण कर रहे हैं, तथापि केवल आपकी भक्तिका अवलम्बन करके आप-जैसे किसी महापुरुषको नमस्कार करते हैं।

'आप परब्रह्म एवं विश्वके उत्पत्तिस्थान हैं, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा आपके ही अंश हैं, सत्-चित्-आनन्द आपका स्वरूप है, आप विश्वरूपको नमस्कार है। आप शाश्वत आनन्दके सुदृढ़ मूल हैं, आपका स्वरूप त्रिलोकीको आनन्दित करनेवाला है, आप मङ्गलमूर्ति विष्णुको प्रणाम है। उपाधिरहित स्वरूपवाले आनन्दात्माको अभिवादन है। जो ब्रह्मा और शंकरके भी पूजनीय हैं, उन सर्वदेवमयको मैं प्रणिपात करता हूँ। जो उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले तथा दुःखहारी हैं, जिनके सहस्रों सिर हैं, उन पुराणपुरुषको नमस्कार है। विश्व जिनका एकांशभूत है, जो त्रिपाद रूपसे ऊपर स्थित हैं, जो विश्वातीत तथा विश्वमय हैं, उन महापुरुषको प्रणाम है। आपकी शक्तिका कहीं ओर-छोर नहीं है, आप नित्य-तृप्त हैं, आपको अभिवादन है। आपकी शक्ति कभी लुप्त नहीं होती, आप सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, आपको बारंबार नमस्कार है। आप मन-बुद्धिसे परे हैं, केवल ज्ञान ही आपका स्वरूप है, ऐसे सत्त्वगुणरूप राघव तथा विद्यास्वरूपा सीताको प्रणाम है। जिनका स्वरूप प्रपञ्चरहित है, उन श्रीरामको तथा प्रपञ्चरूपिणी सीताको नमस्कार है। योगीलोग जिनके स्वरूपका ध्यान करते हैं, उन राघवको तथा ध्यानस्वरूपिणी जानकीको प्रणाम है। जो परिणाम और अपरिणामरूपसे नित्य तथा कूटस्थ अक्षर और बीजरूप हैं, उन प्रकृतिस्वरूपा सीता और पुरुषरूप श्रीरामको बारंबार नमस्कार है।

'यह विश्व, जो शब्द-अर्थ अर्थात् नाम-रूपके आकारमें विस्तारको प्राप्त हो रहा है, जिसका विवर्त है, वह चिदाकाश आप ही हैं तथा यह सम्पूर्ण जगत् आपकी ही शक्ति है। इच्छा, ज्ञान, क्रिया, विद्या, अविद्या, परा, अपरा, सत्, असत्, व्यक्त, अव्यक्त आदि सारी कलाएँ आपकी शक्तिसे उत्पन्न हुई हैं। प्रवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, उत्तमा, शान्त्यतीता, परा, सूक्ष्मा, समना आदि जो आपकी अनुग्रह-शक्तिसे नाना रूपोंमें दीख पड़ती हैं, यह सब सीताका ही विलास है। आप तो एकमात्र अद्वितीय ही पाये जाते हैं। आप क्षेत्ररक्षक होकर प्रवृत्तिके स्वामी 'सद्योजात' हैं तथा वासनारूपी शरीरमें स्थित होकर प्रतिष्ठाके स्वामी 'वामदेव' हैं। आप तेजके अक्षयनिधि

क्वासीश तत्त्वसरणेरतिदूरगस्त्वं
तत्त्वाटवीपरिचरा हि वयं क्व च सः।
त्वद्भक्तिमात्रमवलम्ब्य तथापि तुभ्यं
कस्मैचिदेव महसे नम आविदध्मः॥

नमोऽस्तु ब्रह्मणे तुभ्यं परस्मै विश्वयोनये।
सच्चिदानन्दरूपाय विश्वरूपाय वेधसे॥
नमो निरन्तरानन्दमूलकंदाय विष्णवे।
जगत्त्रयकृतानन्दमूर्तये शुभमूर्तये॥
नमोऽस्तु निर्गतोपाधिस्वरूपाय मुदात्मने।
नमो ब्रह्मेशपूज्याय सर्वदेवमयाय च॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणे क्लेशहारिणे।
नमः सहस्रशिरसे पुराणपुरुषाय ते॥
एकांशीभूतविश्वाय त्रिपादूर्ध्वस्थिताय च।
विश्वातीताय महसे नमो विश्वमयाय च॥
अनन्तशक्तये तुभ्यं नित्यतृप्ताय वै नमः।
अलुप्तशक्तये तुभ्यं स्वतन्त्राय नमो नमः॥

अचिन्त्याय नमस्तुभ्यं केवलज्ञानमूर्तये।
सन्मात्राय च विद्यायै सीतायै राघवाय च॥
नमः प्रपञ्चरूपिण्यै निष्प्रपञ्चस्वरूपिणे।
नमो ध्यानस्वरूपिण्यै योगिध्येयात्मरूपिणे॥
परिणामापरिणामनित्याभ्यां च नमो नमः।
कूटस्थबीजरूपाभ्यां प्रकृत्यै पुरुषाय च॥
यद्विवर्त्त इदं विश्वं शब्दार्थाकृति जृम्भते।
तत्त्वमेव पराकाशस्त्वच्छक्तिरखिलं जगत्॥
इच्छाज्ञानक्रियाश्चैव विद्याविद्या परापरा।
सदसद्व्यक्तिरव्यक्तं त्वच्छक्तेरखिलाः कलाः॥
प्रवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथोत्तमाः।
शान्त्यतीता परा सूक्ष्मा समना चोन्मनेति च॥
सीताविलसितं सर्वं नानाकारेण दृश्यते।
तवानुग्रहशक्त्यैव त्वदेकमपि लभ्यते॥
सद्योजातः प्रवृत्तेस्त्वमीशिषे क्षेत्ररक्षकः।
वामदेवः प्रतिष्ठाया वासनातनुमास्थितः॥

'अघोर' हैं और विद्याके भी स्वामी हैं तथा तत्त्वोंके यन्त्र-वाहक होकर शान्तिके प्राणस्वरूप 'तत्पुरुष' हैं। आप चिदाकाशरूपसे व्यापक होकर शान्त्यतीताके लिये 'ईशान' हैं। समनाके विष्णु तथा उन्मनाके निरञ्जन आप ही हैं। इस प्रकार यह भावस्थिति साक्षात् भिन्न-अभिन्नरूपसे स्थित है। यह शक्तिस्वरूपा सीता अचिन्त्या, अचला, अपरा तथा आपकी मूर्ति है।

'श्रीराम! सीता उन्मना हैं तो आप राम हैं, ये समना हैं तो आप शिव हैं, ये मातृका शुद्धा विद्या हैं तो आप सदाशिव हैं, ये अविद्या हैं तो आप ईश्वर हैं, ये माया हैं तो आप त्रिनेत्रधारी शिव हैं, सीता लक्ष्मी हैं तो आप विष्णु हैं, सीता गौरी हैं तो आप शिव हैं, सीता स्वयं सावित्री हैं तो आप चतुर्मुख ब्रह्मा हैं। सीता शची हैं तो आप इन्द्र हैं, सीता स्वाहा हैं तो आप अग्निदेव हैं, सीता संहार करनेवाली देवी हैं तो आप यमराज हैं। रघुश्रेष्ठ! सीता तामसी देवी हैं तो आप निर्ऋति हैं, सीता भार्गवी देवी हैं तो आप जगदीश्वर वरुण हैं। विभो! सीता सदागति देवी (सदा गमन करनेवाली वायुशक्ति) हैं तो आप जगत्के प्राणस्वरूप स्वयं वायुदेव हैं, सीता समस्त सम्पत्तिस्वरूपा हैं तो आप सदा वृद्धिंगत कुबेर हैं। जानकी ऐश्वर्यस्वरूपा हैं और आप साक्षात् देवाधिदेव ईशान हैं, सीता रोहिणीदेवी हैं तो आप लोकोंको सुख प्रदान करनेवाले चन्द्रदेव हैं। विभो! सीता संज्ञा हैं तो आप सूर्य हैं, सीता रात्रि हैं तो आप दिन हैं, सीता दक्षिणा देवी हैं तो आप यज्ञपुरुष हैं। पुरुषोत्तम! भगवती सीता भुक्ति हैं तो आप भोग हैं। ये सीता अचला मुक्ति हैं तो आप भयरहित मोक्ष हैं। सीता जगत्का धारण-पोषण करनेवाली शक्ति हैं तो आप शक्तिसम्पन्न महेश्वर हैं, सीता महाकाली देवी हैं तो महाकाल भी आप ही हैं। श्रीराम! इस विषयमें बहुत कहनेसे क्या लाभ, आप परात्पर ब्रह्म हैं और ये सीता आपकी विभूति हैं, जो विश्वरूपसे विस्तारको प्राप्त हो रही हैं।

'सर्वव्यापक प्रभो! सारे लोकोंमें जितनी वस्तुएँ स्त्री-चिह्नसे विभूषित हैं, वे सब जानकीके स्वरूप हैं और जितने पदार्थ पुरुष-नामसे चिह्नित हैं, उन सबके रूपमें आप विद्यमान हैं। सर्वत्र सभी प्राणियोंके शरीरोंमें सीता जैसे षट्चक्र[1]को धारण करनेवाली हैं, उसी प्रकार आप भी चक्रके भीतर चित्स्वरूपसे स्थित होकर विश्वको प्रकाशित

विद्याया अप्यघोरस्त्वं तेजसां निधिरक्षयः।
प्राणस्तत्पुरुषः शान्तेस्तत्त्वानां यन्त्रवाहकः॥
ईशानः शान्त्यतीताय व्यापको व्योमविग्रहः।
विष्णुश्च समनायास्त्वमुन्मनाया निरञ्जनः॥
सेयं भावस्थितिः साक्षाद् भिन्नाभिन्नतया स्थिता।
सीता शक्तिरचिन्त्येयं त्वन्मूर्त्तिरचलापरा॥
सीतोन्मना भवान् राम समनेयं भवाञ्छिवः।
विद्येयं मातृका शुद्धा त्वं तु देव सदाशिवः॥
ईश्वरस्त्वमविद्येयं मायेयं त्वं च त्र्यम्बकः॥
सीता रमा भवान् विष्णुः सीता गौरी भवाञ्छिवः।
सीता स्वयं हि सावित्री भवान् ब्रह्मा चतुर्मुखः॥
सीता शची भवानिन्द्रः सीता स्वाहानलो भवान्।
सीता संहारिणी देवी यमरूपधरो भवान्॥
सीता तु तामसीदेवी निर्ऋतिस्त्वं रघूत्तम।
सीता तु भार्गवीदेवी वरुणस्त्वं जगत्पतिः॥
सीता सदागतिर्देवी जगत्प्राणः स्वयं विभो।
सीता हि सर्वसम्पत्तिः कुबेरस्त्वं सदोदितः॥
ऐश्वर्यं जानकी साक्षादीशानस्त्वं महेश्वरः।
सीता तु रोहिणीदेवी चन्द्रस्त्वं लोकसौख्यदः॥
सीता संज्ञा भवान् सूर्यः सीता रात्रिर्दिनं भवान्।
सीता च दक्षिणामूर्तिर्यज्ञमूर्तिर्भवान् विभो॥
सीता भुक्तिर्भगवती भोगस्त्वं पुरुषोत्तम।
सीतेयं मुक्तिरचला मोक्षस्त्वमकुतोभयः॥
सीता शक्तिर्जगद्धात्री शक्तिमांस्त्वं महेश्वरः।
सीता देवी महाकाली महाकालस्त्वमेव हि॥
किमत्र बहुनोक्तेन राम त्वं ब्रह्म तत्परम्।
त्वद्विभूतिरियं सीता विश्वाकारा विजृम्भते॥
स्त्रीचिह्नं सर्वलोकेषु यत्तत् सर्वं हि जानकी।
पुन्नामलाञ्छितं वस्तु यत्तत्सर्वं भवान् विभो॥
सर्वत्र सर्वदेहेषु सीता षट्चक्रधारिणी।
तथा त्वमपि चक्रान्तश्चिन्मूर्तिर्विश्वभासकः॥

[1] षट्चक्र—गुह्यस्थलमें मूलाधारचक्र, लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठान-चक्र, नाभिमण्डलमें मणिपूरकचक्र, हृदयमें अनाहतचक्र, कण्ठदेशमें विशुद्धचक्र और भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र है।

करते हैं। वस्तुतस्तु आप स्त्री-पुरुषभावसे रहित परम पद हैं। सारे देवता आपसे डरते रहते हैं और मनसहित वाणी भी आपसे भयभीत रहती है। जहाँ भेदका नाम-निशान नहीं है, वह सत्यानन्द आप ही हैं। 'तत्, त्वम् और अहम्'—यों तीन प्रकारका जो यह सृष्टि-प्रपञ्च है, वह आपकी लीला है। प्रभो ! वस्तुतः यह शक्ति-तत्त्वादिका भेद आपमें है ही नहीं; क्योंकि आप सत्-स्वरूप, अद्वितीय, सर्वव्यापक तथा एक हैं। जब आप अपनी स्वतन्त्रतासे सृष्टि करनेकी इच्छा करते हैं, तब आपमें शक्ति आदिका उपचार होता है। महेश्वर ! आपके नाम-रूप भक्तोंके लिये मुक्तिदाता हों। आप अप्रतिहत गतिवाले ईश्वर हैं। निराकार होते हुए भी भक्तोंपर कृपा करनेके हेतु साकार हो जाते हैं और अपने आनन्दमें ही रमण करते हैं। जनकनन्दिनी सीता चिच्छक्तिस्वरूपा हैं। आप इन्हें अपनेसे भिन्नकी भाँति प्रकट करके तारक ब्रह्म नामसे विख्यात अपने आपको स्वयं छिपा लेते हैं।

'जहाँसे वाणी मनके साथ दूरसे ही लौट आती है (पासतक नहीं पहुँच पाती), अन्धकारसे परे वह अविनाशी परम ज्योति आप ही हैं। मैं, ब्रह्मा, विष्णु, सारे देवता, चराचर जगत्—सभी आपके अंश हैं। इसी कारण इन उमाके साथ मैं जगत्पूज्य हुआ हूँ। श्रीराम हम दोनों (गौरी-शंकर) जगत्-पूज्य हैं और आप दो (सीता-राम) हम दोनोंके भी पूज्य हैं। गौरी स आपके नामका जप करती रहती हैं और मैं आप मन्त्रका जापक हूँ। मणिकर्णिका-तीर्थमें जब प्रा अर्धजलमें निवास करता है, तब उस मुमूर्षुके लिये आपके तारक-ब्रह्मनामक मन्त्रका उपदेश देता हूँ 'श्रीराम राम राम'—यही तारक मन्त्र कहलाता है अतः जानकीनाथ ! निश्चय ही आप परब्रह्म हैं। स प्राणी आपकी मायासे मोहाच्छन्न हो रहे हैं, इसी कार आपको तत्त्वतः नहीं जान पाते। आप अद्वितीय अख ब्रह्म हैं, आपको केवल आपकी भक्तिद्वारा ही जाना सकता है। श्रीराम ! यद्यपि विश्व आपका रूप है औ समस्त शब्द आपके ही वाचक हैं, तथापि आपका मूलमन सभीका अविनाशी बीज है। श्रीराम ! आपका मूलमन 'ॐ' बीजसे युक्त होनेपर मुक्ति, 'श्रीं' बीजसे युक्त होने भुक्ति, 'ऐं' बीजसे युक्त होनेपर वाक्सिद्धि और 'ह्रीं' बीजसे युक्त होनेपर सम्पूर्ण काम्य वस्तुओंका दाता है महाबाहो ! यह मन्त्रचिन्तामणि अचिन्त्य है। विभो मोहाच्छन्न प्राणी इसे छोड़कर इधर-उधर भटकते रहते हैं

स्त्रीपुम्भावादिरहितं त्वमेव परमं पदम्।
त्वत्तो बिभ्यति देवाश्च मनसा सह वागपि ॥
सत्यानन्दस्त्वमेवासि यत्र भेदो न विद्यते।
तव लीलाप्रपञ्चोऽयं तत्त्वं चाहमिति त्रिधा ॥
सन्मात्रस्याद्वितीयस्य विभोरेकस्य ते प्रभो।
शक्तितत्त्वादिभेदोऽयं वस्तुतो नैव विद्यते ॥
स्वस्वातन्त्र्यात्सिसृक्षोर्वा शक्त्यादिरुपचर्यते।
भजतां मुक्तये स्यातां नामरूपे महेश्वर ॥
निराकारोऽपि साकारो भक्तानामनुकम्पया।
स्वानन्द एव रमसे स्वच्छन्दगतिरीश्वरः ॥
भिन्नामिव विधायैनां चिच्छक्तिजनकात्मजाम्।
गोपयस्यात्मनाऽऽत्मानं तारकं ब्रह्मशब्दितम् ॥
यतो वाचो निवर्त्तन्ते मनसा सह दूरतः।
तत्त्वमेव परं ज्योतिस्तमसः परमक्षयम् ॥
तवांशोऽहं हरिर्ब्रह्मा सर्वे देवाश्चराचराः।
जगत्पूज्यो ह्यहं तस्मादुमया सह चानया ॥
आवां राम जगत्पूज्यावावयोश्च युवां सदा।
त्वन्नामजापिनी गौरी त्वन्मन्त्रजपवानहम् ॥
मुमूर्षोर्मणिकर्णे तदर्द्धोदकनिवासिनः।
अहं दिशामि ते मन्त्रं तारकं ब्रह्मवाचकम् ॥
श्रीराम राम रामेति ह्येतत्तारकमुच्यते।
अतस्त्वं जानकीनाथ परं ब्रह्मासि निश्चितम् ॥
त्वन्मायामोहिताः सर्वे न त्वां जानन्ति तत्त्वतः।
त्वद्भक्त्यैव विजानन्ति ब्रह्मैकं त्वामखण्डितम् ॥
विश्वरूपस्य ते राम विश्वेशब्दा हि वाचकाः।
तथापि मूलमन्त्रस्ते विश्वेषां बीजमक्षयम् ॥
तारादिर्मुक्तये राम रमादिरपि भुक्तये।
वाग्भवादिश्च वाक्सिध्यै मायादिरखिलेष्टदः ॥
अचिन्त्योऽयं महाबाहो मन्त्रश्चिन्तामणिर्विभो।
विहायैनं विमूढात्मा इतश्चेतश्च धावति ॥

अग्नि और सोम जगत्की उत्पत्तिके कारण हैं तथा बिन्दु और नाद क्षर-अक्षर हैं। परंतु आप इनसे अतीत तारक ब्रह्मस्वरूप मायारहित परमात्मा हैं।

'योगीलोग 'तत्, त्वम्, अहम्'—इस गुह्य तत्त्वत्रयको एकाकार करके अपने मूर्धामें स्वयंज्योतिःस्वरूप आपका साक्षात्कार करते हैं, जहाँ पहुँच जानेपर पुनः प्रत्यावर्तन नहीं होता। आप सर्वव्यापक, अचल और स्वराट् हैं। योगीलोग मनोनिग्रह और प्राणायामके द्वारा तीनों ज्योतियोंका भेदन करके आपको प्राप्त कर लेते हैं। ['राम' शब्दमें] रेफ (र) रुद्र-अग्नि तथा मकार (म) विष्णु-सोम कहलाता है और इन दोनों (रेफ और मकार) के मध्यमें आनेवाला आकार (ा) ब्रह्मा और सूर्य नामसे अभिहित होता है। सर्वव्यापक आकाशस्वरूप स्वयं नाद तीनों ज्योतियोंको ग्रास बनाकर सत्-स्वरूप आप परमेश्वरका ही निर्देश करता है। महेश्वर! सर्वप्रधान, विश्वका बीज और तारक होनेके कारण आपके अंशभूत हम तीनों (ब्रह्मा, विष्णु और शंकर) देवोंने आपके नाम (राम) को स्वीकार किया है। ये ब्रह्मा पहले ही भृगुवंशमें उत्पन्न होकर आपके नाम (परशुराम) को स्वीकार कर चुके हैं। पुनः इस समय विष्णु दशरथ-नन्दन राम होकर उसे स्वीकार कर रहे हैं। आगे चलकर मैं भी आपका सनातन संकर्षण (बलराम) नाम स्वीकार करूँगा। यों एक ही नाम उत्पत्ति, पालन और संहारके लिये तीन प्रकारसे स्वीकार किया गया है। श्रीराम! आपके तीनों भाई (भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न) ब्रह्माके, विष्णुके तथा मेरे (शंकरके) ही स्वरूप हैं। हमलोग आपसे ही प्रकट हुए हैं और पुनः आपमें ही लीन हो जायँगे।

'आप ही परम गुह्य, आप ही परम पद, आप ही परम ब्रह्म और आप ही हितकारी आश्रय हैं। श्रीराम! 'तत्, त्वम्, असि' यह महावाक्य वेदान्त-महावाक्योंद्वारा उपपादित आपके मन्त्रके तत्त्वार्थका निरूपण करता है। आपको नमस्कार है। ये विद्यास्वरूपा सीता आपकी स्वरूपभूता तथा आपमें ही अनुरक्त रहनेवाली हैं। इनमें दोषकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। ये आत्मघातियोंद्वारा अप्राप्य हैं। इन्हें अपनी शक्तिरूपमें देखिये। महाबाहो! यह विश्व आपकी क्रीडास्थली ही है; क्योंकि आप बुद्धिसहित दसों (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय) इन्द्रियोंद्वारा इस विश्वमें व्याप्त हैं। ये वही आपके पिता दशरथजी हैं, जो अपने तेजसे प्रकाशित हो रहे हैं। ये इन्द्रकी अनुमतिसे आपको देखनेके लिये यहाँ पधारे हैं। इनकी ओर दृष्टिपात कीजिये। सुरेश्वर! ये देवगण,

---

अग्नीषोमौ जगद्योनी बिन्दुनादौ क्षराक्षरौ।
तारकस्तदतीतस्त्वं परमात्मा निरञ्जनः॥
तत्त्वत्रयमिदं गुह्यमेकीकृत्य स्वमूर्द्धनि।
स्वयंज्योतिः प्रपश्यन्ति यद्गत्वा न निवर्त्तते॥
त्रीणि ज्योतींषि निर्भिद्य मनसा मारुतेन च।
योगिनस्त्वां प्रपद्यन्ते स्वराजमचलं विभुम्॥
रुद्राग्निरुच्यते रेफो विष्णुः सोमोऽथ उच्यते।
तयोर्मध्यगतो ब्रह्मा त्वाकारो रविरुच्यते॥
ज्योतींषि कवलीकृत्य त्रीण्याकाशो विभुः स्वयम्।
नादोऽभिधत्ते सन्मात्रं त्वामेव परमेश्वरम्॥
मुख्यत्वाद् विश्वबीजत्वात् तारकत्वान्महेश्वरः।
त्वदंशैः स्वीकृतं देवैरस्माभिर्नाम ते त्रिभिः॥
भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्रे नाम ते विधिः।
विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः॥
संकर्षणश्च तच्चाहं स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्।
एकमेव त्रिधोपात्तं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे॥
भ्रातरस्ते त्रयो राम ब्रह्मा विष्णुरहं तथा।
त्वत्तो विनिर्गता भूयो वयं लीयेमहि त्वयि॥
त्वमेव परमं गुह्यं त्वमेव परमं पदम्।
त्वमेव परमं ब्रह्म त्वमेव शरणं हितः॥
तत्त्वमसीति वेदान्तमहावाक्योपपादितम्।
निर्वक्ति मन्त्रतत्त्वार्थमिति राम नमोऽस्तु ते॥
सीतानवद्या विद्येयं त्वन्मयी त्वत्परायणा।
पश्यैनामात्मनः शक्तिमप्राप्यामात्महिंसकैः॥
विश्वमेतन्महाबाहो लीलावसथ एव ते।
दशेन्द्रियैर्यतो विश्वं व्याप्तोऽसि च धिया सह॥
पिता दशरथः सोऽयं दीप्यमानः स्वतेजसा।
पश्यैनमिन्द्रानुमतं त्वां दिदृक्षुमिहागतम्॥

पितर और मुनिश्रेष्ठ—सभी आपके अंश एवं शरणागत भक्त हैं, अतः हमपर अनुग्रह कीजिये। सारी शक्तियोंको धारण करनेवाले आप ही हमारे परमाधार, नेत्रस्वरूप तथा प्रेरक हैं। हम सब लोग आपका ही आश्रय लेकर समस्त कार्योंका विधान करते हैं। ईश ! आप विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहारके लिये (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप) तीन शक्तियोंको ग्रहण करके सदा अपने भक्तजनोंको सुख देनेवाले अत्यन्त दुष्कर कार्योंको करते हैं। ईश ! इस संसारमें आपके चरणाश्रित सभी भक्तजन निर्मल बुद्धिद्वारा आपके ईश्वरीय रूपको जानकर अपने मन, वचन, चेष्टा, मनोरथ तथा प्राणोंको आपमें ही अर्पित कर देते हैं, फिर एकीभूत होकर अक्षय पदको प्राप्त कर लेते हैं।

'आपने संसारका संहार तथा मोक्षरूप फल प्रदान करनेके लिये दीक्षा ले रक्खी है, ऐसे आत्माके मूलभूत आपकी जो लोग अन्य सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये उपासना करते हैं, उनकी बुद्धिको निश्चय ही आपकी मायाने हर लिया है। प्रारब्ध निरन्तर उनके भाग्यको नष्ट करता रहता है और वे अभागे सदा भटकते रहते हैं। जिनका स्वरूप अनन्यभक्तिद्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है, जो परमानन्दरूप, निर्गुण तथा गुणात्मा हैं, उ[न] चिदानन्दस्वरूप आपको नमस्कार है। जो समस्त तत्त्वरू[प] तथा तत्त्वोंके आधार हैं, जिनकी महिमा गुणोंद्वारा आच्छादि[त] रहती है, जो सदा असुरोंसे द्वेष रखनेवाले हैं, उ[न] आपको बारंबार प्रणाम है। मन्त्रके तत्त्वस्वरूप, शार्ङ्ग धनुषधारी भगवान्‌को नमस्कार है। जो सम्पूर्ण ज्ञानस्वरू[प] तथा गौरवरूप हैं, उन चित्सुखात्माको प्रणाम है[।] शक्तिसम्पन्न आप हमारे सारे कार्योंका ज्ञान प्रदान करनेवा[ले] हैं। सदा भक्तिपूर्वक आपकी उपासना करके हमलोग लोक[में] पूजित होते हैं।' ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवगणोंने इ[स] प्रकार स्तवन करके चैतन्यविग्रहधारी परमेश्वर रामसे य[ह] वर-याचना की—'भगवन् ! हमारी यह भक्ति आपमें ह[ी] अटलरूपसे रहनेवाली हो। यों कभी विमुख न होनेवाल[ी] भक्ति हमें दीजिये। इसके अतिरिक्त हम अन्य वर नह[ीं] चाहते' ॥३६—११०॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तब दयालु श्रीरामने प्रसन्न होकर शिवजीसे 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' यों कहा और फिर उनका यथोचित सत्कार करके वे इस प्रकार कहने लगे ॥१११॥

त्वदंशानमरानेतान् पितॄंश्च मुनिपुंगवान्।
अनुगृहाण त्वं भक्तान् नः सुरेश्वर संश्रितान्॥
त्वं हि नः परमश्चक्षुः प्रेरकः सर्वशक्तिधृक्।
त्वामाश्रित्य वयं सर्वे सर्वकार्यविधायिनः॥
त्वं विश्वजन्मस्थितिसंयमार्थे
गृहीतशक्तित्रय ईश शश्वत्।
करोषि कर्माण्यतिदुष्कराणि
भक्तेष्वोपपन्नेषु सुखावहानि॥
भक्तास्तवाङ्घ्रिशरणाः किल ईश लोके
विज्ञाय निर्मलधिया तव रूपमैशम्।
सर्वे त्वदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणा व्रजन्ति पदमक्षयमेकभावाः॥
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणलब्धदीक्ष-
मर्चन्ति नान्यसुखहेतव आत्ममूलम्।
नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
दैवेन शश्वदतिभग्नभगा भ्रमन्ति॥
नमस्ते नित्सुखायैकभक्त्या ग्राह्यस्वरूपिणे।
परमानन्दरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने॥
नमः समस्ततत्त्वाय तत्त्वाधाराय ते नमः।
गुणच्छन्नमहिम्ने ते सर्वदादिविषद्द्विषे॥
नमो भगवते मन्त्रतत्त्वलिङ्गाय शार्ङ्गिणे।
नमः सर्वप्रबोधाय गरिम्णे चित्सुखात्मने॥
त्वन्नः शक्तिधरः सर्वकार्यसंवित्प्रदायकः।
त्वामुपास्य सदा भक्त्या भवामो लोकपूजिताः॥
इति स्तुतिपराऽऽत्मानं रामं चैतन्यविग्रहम्।
ब्रह्मविष्णुमहेशाद्या वरयामासुरीश्वरम्॥
स्यान्नस्त्वेषा तु भगवन्भक्तिरव्यभिचारिणी।
त्वय्येवाविरता भक्तिं देहि नातो वरान्तरम्॥
(अध्याय १, श्लोक ३६ से ११०)

श्रीराम उवाच

यः स्तौति परया भक्त्या स्तोत्रेणानेन मानवः।
स याति परमं स्थानं यत्र गत्वा न शोचति॥
रहस्यमन्यद्वक्ष्यामि भक्तानामनुकम्पया।
यस्य स्मरणमात्रेण शत्रूणां संक्षयो भवेत्॥

हुं फट् रां ॐ राम राम मम मन्त्रं घोरं द्राक् ।
हन हन योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥
योऽसौ कालाग्निरुद्रोऽभून्मत्तः शत्रुविनाशनः ।
मदंशः स त्वमेवाजावमोघास्त्रं भविष्यति ॥
यत्प्रभावाद् भयं नैव शत्रुभ्यः पार्वतीपते ।
जप्तं हुतं सदा ध्यातं मृत्योरपि विनाशकम् ॥
अस्त्रं तु कवचादूर्ध्वं तारं च प्रणवात् पुरा ।
महामन्त्रेण युग्मात्तु जीवाक्षरयुगं वदेत् ॥
घोरोपलक्षितं शत्रुं तच्छब्देन विनिर्दिशेत् ।
द्राक्पदादुपरिष्टात् तु हनद्वन्द्वं समुच्चरेत् ॥
योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इत्येतदुच्चरेत् ।
एतन्मदस्त्रं शत्रूणां मूर्ध्नि वज्रं पतिष्यति ॥
कालवज्रमिति ख्यातं तव स्नेहात् प्रकाशितम् ।
येन शत्रुभयान्मुक्तो मद्भक्तः सुखमेधते ॥

(अध्याय १, श्लोक ११२—११९)

श्रीरामने कहा—जो मनुष्य पराभक्तिसे युक्त इस स्तोत्रद्वारा मेरा स्तवन करता है, वह उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँ जाकर पुनः शोक नहीं करना पड़ता। अब मैं भक्तोंके प्रति कृपापरवश हो एक दूसरे रहस्यका वर्णन करता हूँ, जिसके स्मरणमात्रसे शत्रुओंका विनाश हो जाता है। वह मन्त्र यों है—'हुम् फट् राँ ॐ राम राम मम मन्त्रं घोरं द्राक्। हन हन योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥' वह जो शत्रुओंका विनाशक कालाग्निरुद्र मुझसे आविर्भूत हुआ था, मेरा अंशभूत वही तुम संग्राममें अमोघास्त्र होओगे। पार्वतीपते ! जिसके प्रभावसे शत्रुओंका भय नहीं रह जाता और जो जपने, हवन करने तथा सदा ध्यान करनेसे मृत्युका भी विनाशक है (वह अस्त्र इस प्रकार है—) कवच (हुम्) के बाद अस्त्र (फट्) तथा प्रणव (ॐ) के पूर्व तार (रां) रखना चाहिये। पुनः दो बार महामन्त्र (राम राम) रखकर उसके बाद दो जीवाक्षर (मम) का उच्चारण करना चाहिये। 'घोर' शब्द शत्रुका उपलक्षण है, अतः उसके स्थानपर शत्रुका नाम-निर्देश करना चाहिये। तत्पश्चात् 'द्राक्' पदका न्यास करके उसके बाद दो हन (हन हन) का उच्चारण करे। तदनन्तर 'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' इसका उच्चारण करना चाहिये। यों 'हुम् फट् रां ॐ राम राम मम घोरं द्राक्। हन हन योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः' यह मेरा अस्त्र शत्रुओंके मस्तकपर वज्रके सदृश गिरेगा। यह 'कालवज्र' नामसे विख्यात है। इसे तुम्हारे स्नेहवश मैंने प्रकट कर दिया है। इसके प्रभावसे मेरा भक्त शत्रुभयसे मुक्त हो जाता है और उसे सुखकी प्राप्ति हो जाती है ॥११२—११९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—नर-नारायण ऋषियोंने इस अथर्ववेदोक्त अस्त्रको सुन्दर रथन्तरसामरूप कवच धारण करनेवाले वसिष्ठको प्रदान किया था। इसका तीन लाख जप करके उसके दशांश (३००००) मन्त्रद्वारा घीसंयुक्त खैरकी समिधासे हवन करना चाहिये, तब यह मन्त्र सिद्ध हो जाता है। जो मनुष्य जगत्में इस प्रकार शिवजीके मुखकमलसे निकले हुए स्तोत्रमन्त्रोंद्वारा भक्तिपूर्वक प्रतिदिन श्रीरामकी आराधना करता है, वह यतियोंके लिये भी दुर्लभ अद्वितीय परम धामको प्राप्त करके अपार भवसागरके दुःखसे शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। हे महामायास्वरूपिणी जानकी तथा त्रिपुर-संहारक श्रीराम ! मैं अपार भवसागरमें डूब रहा हूँ, आप मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं (अर्थात् भवसागरसे मुझे उबार लीजिये) ॥१२०—१२३॥

स्कन्दमहापुराणोपनिषद्वर्णित श्रीमद्रामगीताका पहला अध्याय समाप्त ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तदनन्तर जिनका रौद्रांश चतुर्दिक् प्रकट हो रहा था, जो स्वेच्छानुसार विष्णु और ब्रह्माके अंशको ग्रहण करनेके लिये प्रयत्नशील थे, असंख्य तत्त्व जिनके आभरण थे, जो अनन्त सूर्योंके समान वर्चस्वी तथा असंख्य हाथ, पैर, नेत्र, सिर और मुख आदिकी क्रियाओंसे संयुक्त थे, जो निराकार, साकार प्रभामण्डलसे सुशोभित, विश्वके एकमात्र साक्षी, विश्वस्वरूप, विश्वातीत

तथा मायारहित हैं, जिनका स्वरूप कहीं प्रसन्न दीखता है, इस अवसरपर जो शान्त थे और अन्यत्र भयंकर रूप धारण कर लेते हैं, जो नाना शक्तियोंसे व्याप्त तथा अनेकों दुर्धर्ष शरीर धारण करनेवाले हैं, जिनके प्रत्येक रोममें अनेक ब्रह्माण्ड लगे हुए थे, जिनसे उनकी विचित्र शोभा हो रही थी, जो बहुत-से रूप धारण करनेवाले तथा रूपरहित भी हैं, इस प्रकार जो ईश्वर-भावका आश्रय लेकर क्रीड़ा कर रहे थे, उन परमेश्वर रामको देखकर श्रीहरिने हाथ जोड़कर उन्हें बारंबार प्रणाम किया और उनकी स्तुति प्रारम्भ की॥१-६॥

श्रीविष्णु बोले—'श्रीराम ! आप सर्वव्यापक तथा विश्वके एकमात्र साक्षी हैं, ऐसे आपको नमस्कार है। विश्व एकमात्र आपका ही शरीर है तथा आप विश्वसे परे भी हैं, आपको बारंबार प्रणाम है। नित्य, शुद्ध, सर्वसमर्थ तथा कालस्वरूप आपको अभिवादन है। दसों दिशाएँ जिनकी भुजाएँ हैं, पृथ्वी जिनका चरण है, ऐसे आपको नमस्कार है। जल जिनका वीर्य है, सनातन तेज जिनका नेत्र है, वायु जिनकी चेष्टा है और आकाश जिनका शरीर है, उन महापुरुषको पुनः-पुनः अभिवादन है। श्रीराम ! मैं आपका हृदय हूँ। पितामह ब्रह्मा आपकी नाभि हैं। ये नीलकण्ठ महादेव आपके कण्ठस्थानीय हैं। सूर्य आपकी भौंहोंका मध्यभाग हैं। सदाशिव आपका ललाट हैं और उसके ऊपर-का भाग परात्पर शिव हैं। प्रभो ! सारे तत्त्व आप विश्वरूप-के आभूषण हैं। आपके नृत्य करते समय ये पृथ्वी आदि सातों लोक आपकी रङ्गभूमि बन जाते हैं और सातों पातालगर्त आपके पादतलकी वायुके रूपमें स्थित हो जाते हैं। श्रीराम ! आपकी अनन्त शक्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं।

'प्रभो ! मैं आज आपके श्रीविग्रहमें पूर्वमें न देखे हुए ऐसे बहुत-से पितामहोंको, असंख्य विष्णुओंको तथा अनेकों रुद्रोंको देख रहा हूँ, जिनके विभिन्न रूप हैं, जो बहुत-सी भुजाओंवाले हैं, जिनके शरीरका रंग अनेकों प्रकारका है और जो महान् अभ्युदयशाली हैं। साथ ही जो अतीतके गर्तमें विलीन हो चुके हैं, जो वर्तमानमें स्थित हैं तथा जो भविष्यमें होनेवाले हैं, ऐसे बहुत-से देवगण भी आपके शरीरमें दृग्गोचर हो रहे हैं। प्रभो ! यों मैं आपकी विभूतियोंका अन्त नहीं देख पा रहा हूँ। आपके एक रोम-कूपमें देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किंनर, विद्याधर, ऋषिगण, चारणोंसहित सिद्ध, मनुष्य, पितृगण, पशु, सरीसृप (नाग)—ये सब-के-सब स्थावरों-सहित विलीन हो रहे हैं। यह विश्व-प्रपञ्च जिससे उत्पन्न हुआ है और जो विश्वपर विमोहका आवरण डालनेवाली है, वह यह त्रिगुणमयी माया आपकी इच्छासे उत्पन्न हुई है। यद्यपि परमार्थतः जीवात्मारूप हमलोग आप चिद्भानुके ही अंश हैं तथापि आपकी मायाके कारण भिन्नकी भाँति दिखायी पड़ रहे हैं। विभो ! नक्षत्रोंसमेत समस्त ग्रह, सिद्ध तथा ऋषिगण जहाँ विचरण करते हैं और जिसने सारे जगत्को व्याप्त कर रक्खा है, वह आकाश आपकी नाभि है।

श्रीविष्णुरुवाच

नमो रामाय विभवे तुभ्यं विश्वैकसाक्षिणे।
नमो विश्वैकदेहाय नमो विश्वातिगाय ते॥
नमो नित्याय शुद्धाय प्रभवे कालमूर्तये।
दशदिग्बाहवे तुभ्यं नमो भूचरणाय च॥
नमोऽम्भोरेतसे शश्वत्तेजोनेत्राय ते नमः।
वायुचेष्टाय महते व्योमदेहाय ते नमः॥
अहं ते हृदयं राम तव नाभिः पितामहः।
कण्ठस्ते नीलकण्ठोऽसौ भ्रूमध्यं च दिवेश्वरः॥
सदाशिवो ललाटस्ते तत ऊर्ध्वं परः शिवः।
भूषणानि च तत्त्वानि विश्वाकारस्य ते प्रभो॥
भूरादिसप्तलोकाश्च नृत्यतो रङ्गभूमयः।
सप्त पातालगर्त्ताश्च पार्ष्णिवाताः स्थिता हि ते॥
अनन्ताः शक्तयो राम प्रदृश्यन्ते तव प्रभो।
बहूंश्चादृष्टपूर्वांश्च पश्याम्यद्य पितामहान्॥
विष्णूनसंख्यान् पश्यामि त्वयि रुद्राननेकशः।
बहुरूपान् बहुभुजान् बहुवर्णान् महोदयान्॥
वर्तमानानतीतांश्च सुरानिह भविष्यतः।
नाहमन्तं प्रपश्यामि विभूतीनां तव प्रभो॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिंनराः।
विद्याधराश्च ऋषयः सिद्धाश्च सहचारणैः॥
नराश्च पितरश्चैव पशवश्च सरीसृपाः।
त्वदेकरोमकूपे तु लीयन्ते स्थावरैः सह॥
सेयं माया गुणमयी प्रपञ्चोऽयं यदात्मकः।
तवेच्छातः समुत्पन्ना यया विश्वं विमोह्यते॥
तवांशवोऽमी चिद्भानोः क्षेत्रज्ञास्त्वस्मदादयः।
भिन्ना इव प्रदृश्यन्ते मायया परमार्थतः॥
यत्र ग्रहाः सनक्षत्राः सिद्धाश्च ऋषयस्तथा।
येन व्याप्तं च सकलं तत्ते नाभिर्विभो नभः॥

'जिनकी वाणी प्रमाणस्वरूप मानी जाती है, ऐसे महापुरुष आपको आनन्दस्वरूप, अखण्ड, अद्वितीय तथा समस्त मायोपाधिसे रहित बतलाते हैं। जिसमें न पक्षपात है, न वैरभाव है, न अध्वषट्क है न मलत्रय, न षडूर्मियाँ हैं, न नाम-रूप हैं, न कारणत्व है, न कार्यता है, न अन्त है, न आदि है, न मध्य है, न थोड़ा भी आलम्बन है और न शून्यभाव ही है, मनसहित वाणी तथा अनेकों प्रमाण जिससे बहुत दूर रहते हैं—निकटतक नहीं पहुँच पाते, जिसने अपने परम सूक्ष्म महनीय प्रकाशसे विश्वको निरन्तर परिपूर्ण कर रक्खा है, हमलोग तथा अन्य समस्त देवता और सभी पितर जिसके अंशभूत हैं—अधिक कहनेसे क्या लाभ, यह सारा जगत् रमणकी इच्छावाले जिस सर्वव्यापककी परम विभूति है, जो विश्वभूमाको समेट लेनेवाला तथा स्वधाम-स्वरूप है, उस परात्परको हमलोग नमस्कार करते हैं। जिनके लिये सम्पूर्ण यज्ञोंमें आहुतियाँ दी जाती हैं, जिन प्रपितामहके लिये स्वधाका विधान किया जाता है, जिन विश्वभोक्ता-के लिये जगत्में समस्त वेदत्रयी, वषट्कार तथा स्वाहाका प्रयोग होता है, प्राणायामपरायण पुरुषोंका वेदादि बीजस्वरूप उद्गीथ (प्रणव) जिनकी प्राप्तिके लिये पर्याप्त है, जो अविनाशी तथा सामर्थ्यशालियोंके भी सनातन प्रभु हैं, जिनके सारे विकार नष्ट हो चुके हैं, अज्ञानसे आच्छादित बुद्धिवाले मूढलोग मनुष्यभावकी कल्पना करके जिनसे द्रोह करते हैं, सारे देवता, सिद्ध, ऋषि तथा वेदान्त-तत्त्वार्थके ज्ञाता यतीन्द्र भक्तिद्वारा जिनकी स्पृहा करते हैं, जो अद्वितीय ब्रह्म हैं, श्रीराम! वे आप ही हैं।

'गुणमयी मूर्तिरहित राम! जिस समय आप अपने एक रूपको अनेक रूपोंमें विभक्त करके विश्वका विस्तार करते हैं, उस समय जैसे सूर्यसे ये किरणें प्रसरित होती हैं, उसी प्रकार हमलोग आपसे प्रादुर्भूत होते हैं। श्रीराम! यह क्रियाशक्ति पाँचों (व्यान, उदान, समान, अपान, प्राण) प्राणोंमें प्रवेश करके विश्वका सृजन करती है। पुनः आपकी यह पञ्चमुखी चित्-शक्ति पाँच प्रकारसे सम्पूर्ण जगत्का उपभोग करती है। जो

१—ऊर्मि छः हैं—एक मतसे सर्दी-गरमी, लोभ-मोह, भूख-प्यास हैं तथा दूसरे मतसे भूख-प्यास, जरा-मृत्यु, शोक-मोह हैं।

त्वामाहुरानन्दमखण्डमेकं
निरस्तमायोपधिमाप्तवाचः।
यस्मिन् सपक्षो न च वा विपक्षो
न चाध्वषट्कं न मलत्रयं च॥
षडूर्मयो वा न च नामरूपे
न कारणं त्वं न च कार्यतापि।
नान्तो न चादिर्न च मध्यमीष-
दालम्बनं नैव च शून्यभावः॥
यतोऽतिदूरे निवसन्ति वाचो
मानान्यनेकानि हृदा सहैव।
येनैव विश्वं महसा स्वभासा
पूर्णं सुसूक्ष्मेण निरन्तरेण॥
यस्यांशभूताश्च वयं तथान्ये
सुराः समस्ताः पितरश्च सर्वे।
किं वा बहूक्तेन जगत् समस्तं
विभोर्विभूतिः परमा रिरंसोः॥
परात्परायाहृतविश्वभूम्ने
तस्मै स्वधाम्ने हि नमो वितन्मः।
यज्ञानशेषान् जुहुमश्च यस्मै
स्वधां विदध्मः प्रपितामहाय॥
त्रयी समस्ता च वषट्कृतिः सा
स्वाहा जगद्विश्वभुजे च यस्मै।
उद्गीथ प्रवायमलं यदाप्त्यै
वेदादिबीजं विजितानिलानाम्॥
नित्याय नित्यप्रभवे प्रभूणां
सदावधूताखिलविक्रियाय।
द्रुह्यन्त्यविद्योपहताश्च यस्मै
मर्त्यादिभावं परिकल्प्य मूढाः॥
देवाश्च सिद्धा ऋषयश्च सर्वे
वेदान्ततत्त्वार्थविदो यतीन्द्राः।
भक्त्यैव राम स्पृहयन्ति यस्मै
त्वमेव तद्ब्रह्म यदद्वितीयम्॥
यदैकमात्मानमनेकधैव
विभज्य विश्वं व्यतनोरमूर्ते।
तदैव भानोरिव रश्मयोऽमी
त्वत्तो वयं राम विनिस्सृता हि॥
राम क्रियाशक्तिरियं हि पञ्च-
प्राणान् समाविश्य करोति विश्वम्।
चिच्छक्तिरेषा तव पञ्चधैव
भुङ्क्ते जगच्चाखिल पञ्चवक्त्रा॥

इच्छारूपसे इस लोक और परलोकमें व्याप्त है, दसों इन्द्रियाँ जिसके मुखभूत हैं, वह आद्याशक्ति ही विश्वका सृजन, पालन और संहार करती है। आपकी शक्तिका अन्त नहीं है, विश्व आपका ही स्वरूप है और आप परम शक्तिसम्पन्न हैं; अतः (सृजन, पालन और संहाररूप) ये तीनों दृष्टियाँ आपकी ही हैं। महेश्वर! आप अटल सामर्थ्यशाली तथा आत्मतृप्त हैं। जब आपको विहार करनेकी इच्छा होती है, तब आपकी जो श्वेत, कृष्ण और लाल रंगकी कलाएँ हैं, उनके द्वारा आप विश्वरूपसे सृष्टिका विस्तार करते हैं। आप एक, सर्वव्यापक, अविनाशी और अद्वितीय हैं। हमलोग आपकी शरणमें हैं। आपकी उन्हीं तीनों कलाओंसे गौरी, लक्ष्मी और सरस्वती—ये तीनों ईश्वर-शक्तियाँ भी प्रकट हुई हैं। उनकी सोलह अंशकलाएँ विश्वके कल्याणके लिये सदा रुद्रों, विष्णुओं और ब्रह्माओंमें निवास करती हैं। आपकी भावनासे भावित होनेके कारण ही जगत्‌में नित्य हमारी, अन्धकासुरके शत्रु शिवकी तथा ब्रह्माकी पूजा होती है। साथ ही कुछ ऐसे अवधूत भी हैं, जिनकी सारी कामनाएँ नष्ट हो चुकी हैं और आपकी भक्तिके द्वारा जिनके मनकी कालिमा धुल गयी है; वे लोकमें जयशील

इच्छोभयत्रानुगता दशास्या
सृजत्यवत्यत्ति च शक्तिराद्या।
अनन्तशक्तेरिह विश्वमूर्ते-
स्तिस्रो दृशः शक्तिमतस्तवैव ॥

याभिर्महेश्वर सितासितलोहिताभिः
स्वाभिः कलाभिरचलप्रभुरात्मतृप्तः।
स त्वं प्रपञ्चयसि विश्वतया विहर्तुं
त्वामेकमेव विभुमव्ययमद्वितीयम् ॥

ताभ्यस्तिसृभ्य उदिता ननु तावकीभ्यो
गौरीन्दिरागिर इहेश्वरशक्तयोऽपि।
तत्षोडशाङ्गविभवानि रसन्ति नित्यं
रुद्रेषु विष्णुषु विधातृषु विश्वभूत्यै ॥

पूज्योऽहमन्धकरिपुश्च तथा विरिञ्चि-
स्त्वद्भावभाविततयैव जगत्सु नित्यम्।
एतेऽपि केचन जयन्ति निरस्तकामा-
स्त्वद्भक्तिधौतमनसो भुवनेऽवधूताः ॥

हो रहे हैं। अपने शरीर आदिमें भी जिनकी स्पृहा [illegible] रह गयी है, आकाशमें व्याप्त रहनेवाली वायुद्वार[illegible] जिनके अङ्गोंकी चेष्टा होती है, जिनका भवरूपी कानन [illegible] हो चुका है, ऐसे कल्याणकारी मुनियोंके सहारे आप ही [illegible] परिमाणरहित, सर्वव्यापक महेश्वर! यद्यपि आप सत् [illegible] असत् सभी वस्तुओंमें विराजमान हैं, तथापि जिनका [illegible] आपकी कृपादृष्टिसे पावन नहीं हो चुका है, वे लोग [illegible] तरहसे विचार करनेपर भी आपको जाननेमें असमर्थ [illegible] एक ओर कहाँ तो यह मानुषभाव और दूसरी ओर [illegible] यह लोकसे परे ईश्वरभाव! यह देखकर हमलोग [illegible] मायासे मोहित हो रहे हैं; अतः आप ही हमारे आश्रय [illegible]

'महेशान! बतलाइये, आप कौन हैं? तथा आज [illegible] क्या करना चाहते हैं! आपका यह विश्वरूप तो अत्यन्त [illegible] है, जिसे देखकर हमलोगोंको मोह हो रहा है। महे[illegible] आप स्वयं ही अपनेको सम्यक् प्रकारसे जानते हैं। आ[illegible] हों, सो हों; आपको प्रमाणोंद्वारा प्रकाशमें उसी प्रकार [illegible] लाया जा सकता, जैसे जुगुनुओंद्वारा सूर्य। वायु, अग्नि, [illegible] और पृथ्वीमें स्थित परमाणुओंका अन्त तो मिल सकत[illegible] परंतु अखण्डस्वरूप आपमें स्थित ब्रह्माण्डोंका अन्त नह[illegible] आपसे ही उद्भूत बहुत-से ऐसे ब्रह्मा दीख पड़ रहे हैं, [illegible] पराक्रमकी सीमा नहीं है, जो स्वरूप, आयुध और वा[illegible]

अपि स्वदेहादिषु निःस्पृहाणा-
माकाशलीनानिलचेष्टितानाम् ।
त्वमेव कल्याणकृतां मुनीना-
मालम्बनं ध्वस्तभवाटवीनाम् ॥
किं तन्महेश्वर विभो बहुधा विमृश्य
तत्रासि यत्सदपि वाप्यसदेव वस्तु।
ज्ञातुं तथाप्यपरिमेय न शक्यसे तै-
र्येषामनुग्रहदृशा न पुनासि चेतः ॥
क्व चायं मानुषो भावः क्व चायमतिलौकिकः।
त्वन्मायामोहितानां नस्त्वमेव शरणं भव ॥
कोऽसि ब्रूहि महेशान किं तवाद्य समीहितम्।
अत्यद्भुतं ते वैश्वात्म्यं मुह्यामो यन्निरीक्षणात् ॥
त्वमेव वेत्थ त्वां सम्यग् योऽसि सोऽसि महेश्वर।
द्योत्यसे नैव मानैस्त्वं खद्योतैर्द्युमणिर्यथा ॥
अन्तोऽस्ति परमाणूनां मरुत्तेजोऽम्बुभूमिषु।
नान्तोऽस्ति त्वयि लीनानां ब्रह्माण्डानामखण्डिते ॥
लक्ष्यन्ते येन बहवो ब्रह्माणोऽतिपराक्रमाः।
विलक्षणा मिथश्चैते स्वरूपायुधवाहनैः ॥

भेदसे परस्पर एक-दूसरेसे विलक्षण हैं। उनमेंसे कुछ चार मुखवाले हैं तो किन्हीं-किन्हींके पाँच, छः, दस और सौ मुखतक हैं। कुछ हजार मुखवाले भी हैं तथा अन्य कुछ ब्रह्माओंके बहुत-से मुख हैं, बहुत-सी भुजाएँ हैं और आकार भी अनेक हैं। उनके आयुध और वाहन विचित्र हैं। वे विभिन्न प्रकारकी सृष्टि-रचनामें कुशल हैं। उनकी शक्ति भी विचित्र है, वे भक्तिपूर्वक आप महेश्वरको नमस्कार कर रहे हैं। कुछ अनेकों स्तोत्रोंद्वारा आपका स्तवन कर रहे हैं तो कुछ निश्चल होकर आपके ध्यानमें मग्न हैं। वे मत्सरहीन होकर एक-दूसरेको आपकी प्राप्तिका उपाय बतला रहे हैं और सर्वभावसे परमाश्रयरूप आपके ही शरणागत हैं। इसी प्रकार विलक्षण शक्तिसम्पन्न असंख्य विष्णु और शिव भी दीख रहे हैं। उनके भी वाहन, आयुध और विग्रह भिन्न-भिन्न हैं। वे सभी आपकी प्रभाके अंशके अंशसे उद्भूत हुए हैं और सदा आपकी उपासना करते रहते हैं। इसलिये विश्वतोमुख! कृपापूर्वक हम भक्तोंपर अनुग्रह कीजिये ॥७—४७॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—प्रभावशाली विष्णुके द्वारा यों स्तवन किये जानेपर श्रीरामका मुख प्रसन्नतासे उत्फुल्ल हो उठा और वे हँसते हुए वचन बोले ॥ ४८ ॥

श्रीराम उवाच

अहमात्मा परो नित्यः सन्मात्रो विभुरीश्वरः ।
सदसद्भावरहितो भेदाभेदविवर्जितः ॥
एकोऽद्वितीयोऽविकृतो निराकारो निरञ्जनः ।
मच्छक्तयो विश्वमिदं भिन्नाभिन्नतया स्थितम् ॥
यत्र त्वमन्ये बहवस्तत्त्वानामधिपाः सुराः ।
मदंशांशावलम्बेन खे खद्योता इवासते ॥
अहमेवादिरानन्दो निरालम्बः स्वराड् विभुः ।
सर्वः सर्वगतः शान्तः शुद्धश्चैतन्यविग्रहः ॥
आकाशस्यास्मि चाकाशो दिग्दिशामस्मि शाश्वती ।
कालस्यापि महान् कालो ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमम् ।
कारणं कारणानां च करणानामहं मनः ।
अणूनां परमाणीयान् महतां च महत्तरः ॥
विभुर्विभूनामधिकस्तत्त्वानां तत्त्वमुत्तमम् ।
योगो निर्वाणमार्गाणामहमस्मि सनातनः ॥
प्राणः प्राणभृतामस्मि दमश्चास्मि तपस्विनाम् ।
शान्तिरस्मि मुमुक्षूणां प्रणवोऽस्मि गिरामहम् ॥
विधिः क्रियाव्रतामस्मि निवृत्तिरपि योगिनाम् ।
दीक्षितानां रतिश्चास्मि विरतिश्च विवेकिनाम् ॥
महोपनिषदं विष्णो संगृह्य कथयामि ते ।
समना संसरिष्णूनामुन्मनास्मि मदर्थिनाम् ॥
यत्किंचित्परमं लोके तत्तदस्मि जनार्दन ।
मया व्याप्तमिदं विष्णो विश्वमव्यक्ततेजसा ॥
(अध्याय २, श्लोक ४९ से ५९)

श्रीरामने कहा—मैं परमात्मा, अविनाशी, सत्-स्वरूप, सर्वव्यापक, परमेश्वर, सत्-असत्भावसे रहित, भेदाभेदशून्य, एक, अद्वितीय, अविकारी, निराकार और मायारहित हूँ। यह विश्व मेरी शक्तियोंका ही विलास है, जो भिन्न-अभिन्न रूपसे स्थित है। जिसमें तुम तथा अन्य बहुत-से तत्त्वाधीश्वर देवता मेरे अंशांशके सहारे आकाशमें जुगुनुओंकी भाँति स्थित हैं। मैं ही आदि, आनन्दस्वरूप, निरालम्ब, स्वराट्, व्यापक, सर्वरूप, सर्वव्यापी, शान्त, शुद्ध, चैतन्यविग्रह और आकाशका भी आकाश हूँ। मैं ही दिशाओंकी सनातनी दिशा हूँ। कालका भी महाकाल, ज्योतियोंकी उत्तम ज्योति, कारणों-

---

केचिच्चतुर्मुखाः केचित् पञ्चवक्त्राश्च षण्मुखाः ।
दशवक्त्रा शतास्याश्च सहस्रवदना अपि ॥
बहुवक्त्रा बहुभुजा बहुरूपास्तथापरे ।
विचित्रसृष्टिकुशला विचित्रायुधवाहनाः ॥
विचित्रशक्तयो भक्त्या त्वां नमन्ति महेश्वरम् ।
स्तुवन्ति बहुभिः स्तोत्रैरेके ध्यायन्ति निश्चलाः ॥
त्वत्प्राप्त्युपायमन्योन्यं बोधयन्ति विमत्सराः ।
प्रपन्नाः सर्वभावेन त्वमेव शरणं परम् ॥
एवं बहुविधाकार वाहनायुधविग्रहाः ।
विचित्रशक्तयोऽनन्ता हरयश्च कपर्दिनः ॥
त्वत्प्रभांशांशविभवास्त्वां सदा पर्युपासते ।
अनुगृह्णीष्व भक्तान्नः प्रसादाद् विश्वतोमुख ॥
(अध्याय २, श्लोक ७ से ४७)

का कारण और इन्द्रियोंका शासक मन-इन्द्रिय मैं हूँ। मैं ही अणुओंमें परमाणु, महनीयोंमें महत्तर, विभुओंमें श्रेष्ठ विभु, तत्त्वोंका उत्तम तत्त्व और निवृत्तिमार्गियोंका सनातन योग हूँ। मैं प्राणधारियोंका प्राण हूँ, तपस्वियों-का इन्द्रिय-संयम हूँ, मुमुक्षुओंकी शान्ति हूँ और वाणियोंमें ॐकार हूँ। क्रियावानोंकी विधि और योगियोंकी निवृत्ति भी मैं ही हूँ। मैं ही दीक्षितोंकी रति और ज्ञानियोंका वैराग्य हूँ। गमनशीलोंके लिये समना तथा मेरे लिये यत्न करनेवालोंके लिये उन्मना मैं ही हूँ। विष्णो! यों महोपनिषद्‌का संग्रह करके मैंने तुमसे वर्णन किया है। जनार्दन! इस प्रकार लोकमें जितनी परमोत्कृष्ट वस्तुएँ हैं, वे सब मैं ही हूँ। विष्णो! जिसका तेज अव्यक्त है, ऐसे मेरेद्वारा यह सारा विश्व व्याप्त है ॥४९–५९॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों कहते हुए उन अचिन्त्यात्मा रामने सबके देखते-देखते मानुषभावका परित्याग करके विश्वरूप धारण कर लिया। उस समय वे अपने ही आनन्दके कारण अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त हो गये। तदनन्तर उन्होंने विश्वरूपको छोड़कर चिदाकाशरूप धारण कर लिया और विष्णुको लक्ष्य करके कहा ॥ ६०-६१ ॥

श्रीराम उवाच

अदृष्टमूर्तेरभवद्रिरंसो-
र्मत्तो रमेश ध्वनिरम्बरादिः।
मदिच्छयैवाखिल वाक् प्रपञ्च-
स्ततः परस्मादुदभूदुदर्कः॥
लीने च यस्मिन् स्वयमद्वितीयः
स्फुरामि साक्षादहमेक एव।
योगोत्थितेनाप्यमृतत्वमेषां
भवेद्यतीनामिह एव येन॥
इतोऽष्टमायात्मभुवे विधातुः
पुरस्ततोताय कृशानुशीर्ष्णो।
मयोपदिष्टं गगनादिसृष्टेः
प्रागेव कालोत्तरमाद्यतन्त्रम्॥
तदेव दिग्विश्वसृजाममीषां
तत्त्वत्रयात्मा विवृतं यथावत्।
यत्रैव दृष्टाः सकलाश्च वेदा
यैरात्मभूर्विश्वमयं व्यधत्त॥
व्योम्नीव ताराणि यदक्षराणि
स्फुरन्ति चात्रैव मदन्तराले।
मच्छक्तयस्त्वत्प्रमुखा मुरारे
यैर्व्यक्तिमायान्ति सुराः समस्ताः॥
येभ्यः समुद्धृत्य मयोपदिष्ट-
मुपास्य ते तारकमन्त्रराजम्।
स्रक्ष्यन्त्यनेनैव जगन्ति रुद्राः
सिद्धाश्च साध्या ऋषयश्च भूयः॥
अनेन मन्त्रेण च वालखिल्या
वैखानसा मद्गतचेतसोऽत्र।
सृष्ट्वैव सम्यक्सुविभूतमाया
मामेव चेष्यन्त्यपि चक्रपाणे॥

श्रीराम बोले—'लक्ष्मीपते! जब मेरी रमण करने इच्छा हुई, तब मुझ निराकारसे आकाशकी कारणभूता ध्व प्रकट हुई। फिर सारा वाक्-प्रपञ्च मेरी इच्छासे ही उत हुआ। तत्पश्चात् उपसंहारका उद्भव हुआ। जिसके विलं हो जानेपर साक्षात् अद्वितीय स्वयं अकेला मैं ही स्फु करता हूँ, जिससे लोकमें इन यतियोंको योगाभ्यासद्व उत्पन्न हुई अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। तत्त्वत्रय आत्माका जो यथार्थ विवरण है, सारे वेद जहाँ दृष्टिगो होते हैं और जिनके द्वारा ब्रह्माने विश्व-प्रपञ्चकी र की है, वही इन विश्वके रचयिताओंकी दिशा मुरारे! जैसे आकाशमें अविनाशी तारे चमकते उसी प्रकार मेरी शक्तियाँ मेरे ही अन्तरालमें स्फु करती हैं। जिनसे तुम जिनमें प्रधान हो, ऐसे देवगण प्रकट होते हैं, जिनके लिये मैंने ता मन्त्रराजको प्रकट करके उसका उपदेश किया है,

मन्त्रराजकी उपासना करके उसीके बलसे वे रुद्र, सिद्ध, साध्य और ऋषिगण पुनः लोकोंकी सृष्टि करते हैं। चक्रपाणे! इसी मन्त्रके प्रभावसे जिन्होंने सम्यक् प्रकारसे मायाको झकझोर डाला है तथा जिनका चित्त मुझमें ही लीन रहता है, वे बाल-ब्रह्मचारी वालखिल्य ऋषि मेरी प्राप्तिके लिये ही चेष्टा करते हैं।

प्राणांस्त्यजन्तो मणिकर्णिकायां
मद्वाचकं तारकमुच्चरन्तः।
श्रुत्वा च वेदान्तमुपास्यवाच्यं
पश्यन्ति मामेव हि विश्वनाथम्॥
प्राप्यैनमाराध्य च मामनेन
हिरण्यगर्भा मुनयोऽपि सप्त।
ज्ञानं च मन्निष्ठमुपेत्य सम्यग्
दिवि प्रथन्ते मदनुग्रहेण॥
अयं च मैत्रावरुणिर्विधातु-
रस्मात्तृतीयो भविता स्वयंभूः।
व्यासश्च विष्णुर्भविता चतुर्थः
स्कन्दो मृडोऽस्मादपि शूलपाणेः॥
मत्प्राप्त्युपायप्रथनार्थमेव
ब्रह्माण एते बहवो नियुक्ताः।
यूयं च मद्वैभवबोधनार्थं
रुद्रा मदाच्छादनहेतवे च॥
वेदेष्वमी विश्वसृजः प्रधाना
यूयं च मुख्याः श्रुतिमस्तकेषु।
सर्वेषु शास्त्रेषु तथागमेषु
रुद्रा अमी मुख्यतमा भवन्ति॥
ममैकांशे जगत्यस्मिन् प्रतिगोलमवस्थिताः।
तत्तद्गुणाधिपतयो ब्रह्मविष्णुकपर्दिनः॥
तत्राण्डकोशे चैतस्मिन् मुक्तकोशोऽयमात्मभूः।
विष्णुः पालयिता चास्य त्वमण्डस्यामृतेश्वरः॥
रुद्रोऽप्यसावहिर्बुध्न्यः संहरिष्यति तत्पुनः।
अस्य विश्वसृजः सर्गे भुवनानि चतुर्दश॥

'जो लोग मणिकर्णिका-तीर्थमें श्रीराम-वाचक तारक-मन्त्रका उच्चारण करते हुए प्राणत्याग करते हैं, वे लोग उस वेदान्त-वाक्यको सुनकर और उसकी उपासना करके मुझ विश्वनाथका ही दर्शन करते हैं। सात हिरण्यगर्भ मुनि भी मेरी आराधना करके इस मन्त्रराजको पाकर इसके द्वारा मुझमें स्थित ज्ञानको भलीभाँति प्राप्त कर लेते हैं। तत्पश्चात् मेरी कृपासे आकाशमें स्थित होते हैं। ये मित्रावरुणनन्दन वसिष्ठ इस ब्रह्मासे तीसरी पीढ़ीमें ब्रह्मा होंगे। व्यास चौथे विष्णु होंगे और स्कन्द इस त्रिशूलपाणि शिवके पश्चात् शंकर होंगे। मेरी प्राप्तिके उपायका प्रचार-प्रसार करनेके लिये ये बहुत-से ब्रह्मा, मेरे ऐश्वर्यका ज्ञान करानेके लिये तुमलोग और मेरे आच्छादनके लिये ये रुद्रलोग नियुक्त हुए हैं। वेदोंमें ये विश्वस्रष्टा ब्रह्मा प्रधान हैं, प्रधान श्रुतियोंमें तुमलोग मुख्य हो और सभी शास्त्रों तथा आगमोंमें ये रुद्र मुख्यतम माने जाते हैं। मेरे एकांशभूत इस जगत्में रजस्, सत्त्व और तमस् गुणोंके अधिपति ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र प्रत्येक गोलकमें स्थित हैं। उन गोलकोंके इस ब्रह्माण्डमें ये स्वयम्भू ब्रह्मा सृष्टिकर्ता हैं और तुम देवेश्वर विष्णु इस ब्रह्माण्डके पालक हो। ये अहिर्बुध्न्य रुद्र पुनः इसका संहार करेंगे। इस विश्वस्रष्टाकी सृष्टिमें चौदह भुवन हैं।

भूमाविह त्वदंशोऽसावभूद्दशरथो नृपः।
यत्रावतीर्ण मां सर्वे वदन्त्यजमपि प्रभुम्॥
आदौ गुणानामधिपैर्भवद्भिरमरेश्वरैः।
मयैव सृष्टैः क्रीडार्थं सृष्टिस्थित्यन्तकारणैः॥
स्वेषु स्वेष्विह कल्पेषु तपस्तप्तं सुदारुणम्।
अमूर्त्तेरपि मे नित्यं रूपस्यास्य दिदृक्षया॥
साकं भवद्भिर्गन्धर्वो विश्वावसुरपि स्वयम्।
सहस्रसत्रैरिष्ट्वा मां सामशाखासहस्रवित्॥
मामेव तोषयामास गायं गायं च सामभिः।
नीरूपमपि मां द्रष्टुं महामायाविमोहितः॥

मर्त्यरूपमनेनापि वृत्तं तत्त्वमजानता ।
निवृत्तिधर्मानुत्सृज्य काम्यकर्माणि कुर्वता ॥
राक्षसत्वमभिप्राप्तममूर्तेर्मूर्तिमिच्छता ।
मद्भक्तिलब्धयोगेन प्राप्स्यते च मदात्मताम् ॥
प्राप्तं चानेन निधनं मत्त एवान्यदुर्लभम् ।
रावणोऽयं महाबाहुर्मनुत्वमुपयास्यति ॥
पुनरिन्द्रत्वमासाद्य भुक्त्वा भोगान् यथेप्सितान् ॥
गुरोस्तु वामदेवस्य नित्यं शुश्रूषणे रतः ।
कुशनाभ इति ख्यातो ऋषित्वमुपयास्यति ॥
ऋषेरुद्दालकस्याथ पुत्रो योगविदां वरः ।
निवृत्तिधर्मैर्मामिष्ट्वा मत्सायुज्यमुपैष्यति ॥
मन्दरे गुरुणा शप्तः कण्वः सोऽयं विभीषणः ।
क्रव्यादत्वमपि प्राप्यन् जहौ धर्ममनुत्तमम् ॥
ऐन्द्रं पदमनेनेह यावत् कल्पमभीरुणा ।
भोक्ष्यते मत्प्रसादेन मद्धाम प्राप्स्यते ततः ॥

'इस भूतलपर तुम्हारा अंश ही इन राजा दशरथके रूपमें प्रकट हुआ था। यद्यपि मैं अजन्मा प्रभु हूँ तथापि सभी लोग मुझे इन दशरथसे ही उत्पन्न हुआ बतलाते हैं। सृष्टिके आदिमें क्रीडाके लिये मैंने ही जिनकी सृष्टि की थी; जो उत्पत्ति, पालन और संहारके कारण, रज-सत्त्व-तमगुणोंके अधीश्वर तथा देवगणोंके नायक हैं, उन आपलोगोंने अपने-अपने कल्पोंमें नित्य मुझ निराकारके इस रूपके दर्शनकी इच्छासे अत्यन्त घोर तप किया था। आपलोगोंके साथ ही सहस्रों साम-शाखाओंके ज्ञाता स्वयं विश्वावसु गन्धर्वने भी हजारों यज्ञोंद्वारा मेरा यजन करके बारंबार साम-मन्त्रोंका गान करते हुए मुझे ही संतुष्ट किया था; क्योंकि वह भी मुझ निराकारका दर्शन करना चाहता था। उस समय महामायाने उसकी बुद्धिको मोहित कर दिया था, इसलिये उसने भी निवृत्तिधर्मोंका त्याग करके काम्य-कर्मोंका ही आचरण किया और तत्त्वको न जानते हुए मनुष्य-रूपका ही वरण किया। मुझ निराकारको साकार-रूपमें देखनेकी इच्छाके कारण उसे राक्षस-योनिकी भी प्राप्ति हुई। अब वह मेरी भक्तिके संयोगसे मेरी सारूप्य-मुक्तिको प्राप्त कर लेगा। मेरे ही हाथों इसकी मृत्यु हुई है जो दूसरोंके लिये दुर्लभ है। अब यह महाबाहु रावण इन्द्रकी पदवीको प्राप्त करके यथाभिलषित भोगोंको भोगकर पुनः मनुके स्थानको प्राप्त करेगा। उस समय यह कुशनाभ नामसे विख्यात होगा और नित्य अपने गुरु वामदेवकी सेवा-शुश्रूषामें तत्पर रहेगा। तत्पश्चात् महर्षि उद्दालकके पुत्ररूपमें ऋषिभावको प्राप्त होगा। अपने समयमें यह योगवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा और निवृत्तिपरक धर्मोंद्वारा मेरा यजन करके मेरी सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त कर लेगा। यह विभीषण वही कण्व ऋषि हैं, जिन्हें मन्दराचलपर उनके गुरुने शाप दे दिया था, जिससे उन्होंने राक्षस-योनिको प्राप्त होकर अपने श्रेष्ठ ऋषिधर्मका परित्याग कर दिया। अब यह मेरी कृपासे निर्भय होकर कल्पपर्यन्त इन्द्र-पदका उपभोग करेगा। तदनन्तर इसे मेरे धामकी प्राप्ति हो जायगी।

यद्भोलेनैव भूर्लोपस्त्रीणि भूतानि सर्वदा ।
शीतोऽग्निर्मारुतस्तीव्रो ब्रह्माख्यस्य प्रजापतेः ॥
जायन्ते जन्तवो वह्नेः कामरूपा सुखोल्बणाः ।
व्योमगेहा वह्निभुजो वायुभाजो मनोजवाः ॥
तत्रैकपादं यो रुद्रो हनूमान् मत्परायणः ।
द्वात्रिंशदर्बुदान्येव रुद्राणां पर्युपासते ॥
मद्भक्तिलब्धयोगस्तु मत्प्रसादात्सवैभवः ।
आपदुद्धरणश्चायं भजतां नात्र संशयः ॥
संग्रहेण प्रवक्ष्यामि गुह्यमन्यत्तवाच्युत ।
येन विज्ञानमात्रेण छिद्यते संशयः स्वयम् ॥
येयं सीता महामाया शक्तिर्मे क्रीडतः सदा ।
भिन्नेव दृश्यतेऽभिन्नां जानीहि विश्वमेव ताम् ॥
कार्यकारणरूपेण येयमेका निवर्त्तते ।
यस्य तत्त्वं न जानन्ति देवास्त्वत्प्रमुखा अपि ॥

अनुवाकश्रुतिभिः प्रोक्ता यथा मुच्येत बन्धनात्।
एष मे प्रथमः पादः परमोपनिषत्ततः ॥
न यत्र शक्तिस्तत्त्वानि पराणि नैव किञ्चन।
तदेव परमं व्योम भावाभावविलक्षणम् ॥
मद्रूपमचलं नित्यं सत्यमाद्यन्तवर्जितम्।
तदेतदपि वैश्वात्म्यं हेयं स्याद्यदपेक्षया ॥
यत्र कुण्ठी भवन्त्येव मानानि सकलान्यपि।
परमं तद्धि निर्वाणं मदनुग्रहतो भवेत् ॥
मद्भावभाविता यूयं मन्मयाश्च भविष्यथ।
स्वस्वकर्माणि कुर्वन्तो रमध्वमकुतोभयाः ॥

(अध्याय २, श्लोक ६२—१००)

'जिसके गोलकसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—ये पाँच भूत सदा उत्पन्न होते हैं, उन प्रजापति ब्रह्माके भयसे जब प्रचण्ड अग्नि शीतल हो जाती है, तब उस अग्निसे ऐसे बहुत-से जन्तु उत्पन्न होते हैं, जो इच्छानुसार रूप धारण करनेमें समर्थ होते हैं, उनका सुख असीम होता है, आकाश ही उनका गृह तथा अग्नि ही भोजन होता है, वे वायुसेवी तथा मनके सदृश वेगवाले होते हैं। उनमें जो एकपाद अहिर्बुध्न्य नामक रुद्र हैं, वही मेरे परायण रहनेवाला हनुमान् है, जिसकी बत्तीस अर्बुद रुद्र उपासना करते हैं। उसे मेरा भक्तियोग उपलब्ध है और मेरी कृपासे समस्त वैभव उसके हस्तगत हैं, जिससे यह निस्संदेह अपने भक्तोंका आपत्तिसे उद्धार करता है। अच्युत! अब मैं तुम्हें एक दूसरा ऐसा गुह्य रहस्य संक्षेपमें बतलाता हूँ, जिसके जान लेनेमात्रसे स्वयं ही संशयका नाश हो जाता है। यह जो महामाया सीता है, वह मेरी ही स्वरूपाशक्ति है। यद्यपि वह मुझसे अभिन्न है तथापि जब मैं क्रीडा करने लगता हूँ, तब वह भिन्न-सी दीखती है, उसीको तुम विश्व जानो। जो यह अकेले ही कार्य-कारणरूपसे विस्तारको प्राप्त होती है, तुम जिनमें प्रमुख हो, ऐसे देवगण भी जिसके तत्त्वको नहीं जानते, जिसके प्रभावसे जीव बन्धनसे मुक्त हो जाता है—ऐसा अनुवाक श्रुतियोंने जिसके विषयमें वर्णन किया है, वही मेरा प्रथम पादरूप परमोपनिषद् है। जहाँ न तो शक्तिका अस्तित्व है और न कोई अन्य तत्त्व ही वर्तमान हैं, वही भाव-अभावसे विलक्षण परमाकाश है। जिसकी अपेक्षा यह विश्वरूप भी हेय हो जाता है, मेरा वह रूप अचल, नित्य, सत्य और आदि-अन्तसे रहित है। जिसके विषयमें सारे-के-सारे प्रमाण कुण्ठित हो जाते हैं, वही परम निर्वाण है और वह मेरे अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है। तुमलोग मेरी भावनासे भावित तथा मुझमें ही मन लगानेवाले होओगे। अब अपने-अपने कर्मोंका सम्पादन करते हुए निर्भय होकर रमण करो' ॥६२—१००॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों श्रीरामके वचनको सुनकर विष्णु आदि समस्त देवताओंने मस्तकपर हाथ जोड़कर श्रीरामको पुनः-पुनः प्रणाम किया और 'राम-राम' यों जपते हुए शब्दब्रह्मके परायण हो उस विश्वरूपका स्मरण करते हुए उसीका अनुसंधान करने लगे। जो मनुष्य उन सर्वव्यापक रामको सिरसे नमस्कार करके श्रीहरिद्वारा कहे गये इस स्तोत्रका पाठ करता है, वह इन्द्रादिकी लक्ष्मीका उपभोग करके अन्तमें विष्णुके परम पदको प्राप्त हो जाता है। जो पृथ्वी आदि सप्त लोकोंके पालन-पोषण करनेवाले, षडैश्वर्यसम्पन्न और उपेन्द्ररूपमें प्रकट होते हैं, उन अधोक्षज रघुश्रेष्ठ रामके मैं सदा शरणागत हूँ ॥ १०१—१०४ ॥

(स्कन्दपुराणोक्त श्रीरामगीताका दूसरा अध्याय समाप्त।)

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—तदनन्तर शम्भुके मुखसे निकले हुए स्तोत्रोंसे प्रसन्न होकर श्रीरामने उपसंहार-कार्यका परित्याग कर ही दिया था, पुनः विष्णुद्वारा की गयी स्तुतियोंसे उनका मुख और भी प्रसन्न हो गया। तब वे उस उत्कृष्ट भावको अन्तर्हित करके सूक्ष्मभावमें प्रतिष्ठित हो गये। ऐसी दशामें ब्रह्मा उन विश्वेश्वर श्रीरामकी स्तुति करनेके लिये उद्यत हुए ॥ १-२ ॥

ब्रह्मा बोले—'श्रीराम! आप ही छब्बीस तत्त्वोंके रूपमें विद्यमान हैं तथा महान् आत्मबल-सम्पन्न, उत्पत्ति, पालन

ब्रह्मोवाच
नमः पुंसे पुराणाय षड्विंशाय महात्मने।
उद्भवस्थितिसंहारमूलबीजाय तेजसे ॥

और संहारके मूल बीज और तेजस्वरूप हैं, आप पुराण-पुरुषको नमस्कार है। आपका पद कार्य, कारण और कर्तासे विलक्षण है, तीनों वेद आपके नेत्र हैं, आपका स्वरूप त्रिगुणातीत है, आप विश्व-स्रष्टा, विधाता तथा ब्रह्माके स्वामी हैं, आपको प्रणाम है। आप सर्वव्यापक, विश्वका भरण-पोषण करनेवाले और विष्णुओंके स्वामी हैं, आपको मेरा अभिवादन है। आप रुद्ररूप, विश्वके संहारक और रुद्रोंके अधिपति हैं, आपको नमस्कार है। आप ही विश्वेदेव तथा महत्तत्त्वरूप हैं, आप परमात्माको प्रणाम है। आप अपनी इच्छासे पचीस तत्त्वके रूपमें प्रकट होते हैं तथा कूटस्थ, अविनाशी, तत्त्वरहित और तत्त्वोंके अधीश्वर हैं, आपको पुनः-पुनः अभिवादन है। जिन्होंने नियतिद्वारा विश्वको आक्रान्त कर रक्खा है, जो नियतिके भी नियन्त्रण-कर्ता और विश्वकर्मके एकमात्र साक्षी हैं, उन निष्क्रियस्वरूप आपको नमस्कार है। आप अपनेको तीन रूपोंमें विभक्त करके स्थित हैं—प्राग्दृष्टिसे हवि, प्रत्यग्दृष्टिसे हविके भोक्ता और दोनोंके साक्षी होता हैं, आपको प्रणाम है।

'विभो! आपकी क्रिया शक्तिसे ऋग्वेद, ज्ञानशक्तिसे यजुर्वेद और इच्छाशक्तिसे सामवेद प्रकट हुआ है। आपके शरीरमें लक्ष्मी, मनमें इच्छास्वरूपा पार्वती और वाणीमें साक्षात् भगवती सरस्वती सदैव निवास करती हैं। आप विश्वमूर्तिके असंख्य वर्ण-वैखरी हैं। जो आपके उत्तम स्वरूपका दर्शन करते हैं, उनका मध्यमवर्ती चित्त मध्यमा है। आपका जो यह स्वरूप है, वह आद्य, अव्यक्त, गुणातीत, सदा प्रकट रहनेवाला, निर्वाणरूप, अविनाशी और साक्षात् परात्म परम पद है। विभो! आप निराकार हैं। अतः आपका न कोई स्थान है, न आकार है, न रूप है, न हेतु है और न आपके वाहनकी ही कल्पना की जा सकती है। यह जो विश्व, देवता, मनुष्य आदिके नाना आकार आप धारण करते हैं, इसका कारण तो भक्तोंपर अनुग्रह करना तथा धर्मकी संस्थापना ही है। प्रभो! काल विश्वकी गणना करता है और उस कालकी गणना आप करते हैं। श्रीराम! काल आपके नेत्रसे उद्भूत हुआ है। अतः वह आपकी गणना करनेमें समर्थ नहीं है। न मैं सृष्टिकर्ता हूँ, न विष्णु सृष्टिरक्षक हैं और न रुद्र संहारक ही हैं। यह सब बिना किसी अपेक्षाके आपके अंशोंद्वारा होता रहता है। चारों ओर आपके नेत्र हैं, जिनसे आप देखते हैं। चारों ओर आपके मुख हैं जिनसे आप आरोगते हैं, आपकी भुजाएँ चारों ओर फैली हैं जिनसे आप कार्य करते हैं और आपके पैर चारों ओर हैं जिनसे आप गमन करते हैं। आपके पदमें मानव प्रतिष्ठित है और मस्तकमें देवता स्थित हैं। वेद आपकी नाभिसे निकले हुए हैं। आपने कानोंद्वारा सारे

कार्यकारणकर्तृभ्यो विलक्षणपदाय ते ।
त्रिवेदीचक्षुषे तुभ्यं त्रिगुणातीतमूर्त्तये ॥
तुभ्यं विश्वसृजे धात्रे ब्रह्मणः पतये नमः ।
विष्णवे विश्वभर्त्रे च विष्णूनां पतये नमः ॥
रुद्राय विश्वसंहर्त्रे रुद्राणां पतये नमः ।
विश्वेदेवाय महते नमस्ते परमात्मने ॥
स्वेच्छया पञ्चविंशाय कूटस्थायाविनाशिने ।
निस्तत्त्वाय नमस्तुभ्यं तत्त्वानां पतये नमः ॥
नियत्याक्रान्तविश्वाय नियन्त्रे नियतेरपि ।
निष्क्रियाय नमस्तुभ्यं विश्वकर्मैकसाक्षिणे ॥
प्राग्दृशा हविषे तुभ्यं प्रत्यग्दृष्ट्या हविर्भुजे ।
तयोश्च साक्षिणे होत्रे नमस्त्रेधा स्थितात्मने ॥
क्रियाशक्तेर्ऋचोऽस्य ज्ञानशक्तेर्यजूंषि च ।
सामानि चेच्छाशक्तेस्तेऽप्यथर्वाङ्गिरसो विभो ॥
श्रीस्ते काये सदैवास्ते मनस्यिच्छा सती शिवा ।
वाणी साक्षाद्भगवती सदैवास्ते सरस्वती ॥
विश्वमूर्त्तेरनन्तानि वर्णानि तव वैखरी ।
मध्यमा मध्यमं चेतः पश्यन्ति यत्तवोत्तमम् ॥
आद्यं यदेतदव्यक्तं गुणातीतं सदोदितम् ।
निर्वाणमक्षयं साक्षात् परात्मपरमं पदम् ॥
न स्थानानि न चाकारो न रूपाणि न हेतवः ।
न वाहनानि कल्प्यानि निराकारस्य ते विभो ॥
विश्वामरनराकारा भक्तानुग्रहहेतवे ।
क्रियन्ते भवता नानाधर्मसंस्थापनाय च ॥
कालः कलयते विश्वं तं त्वं कलयसि प्रभो ।
स त्वां कलयितुं नेष्टे राम त्वन्नेत्रसम्भवः ॥
नाहं स्रष्टा न च त्राता विष्णुर्नान्तकरो हरः ।
त्वदंशैरेव सकलं विद्यते निरपेक्षया ॥
ईक्षसे विश्वतश्चक्षुर्भुङ्क्षे त्वं विश्वतोमुखः ।
करोषि विश्वतोबाहुर्विश्वतश्चाथ गच्छसि ॥
पदे प्रतिष्ठिता मर्त्याः शीर्षे देवा व्यवस्थिताः ।
नाभेर्विनिःसृता वेदाः श्रोत्रैर्व्याप्तं चराचरम् ॥

चराचर जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। वृषभरूपधारी धर्मके तीन पैर, चार सींग, सात हाथ और दो मस्तक हैं। वह सदा बोलनेवाला और तीन प्रकारसे आबद्ध है। वह महान् देवता आप ही हैं।

'आप ही यज्ञ, आप ही यज्ञकर्ता, आप ही हवि, आप ही देवता, आप ही ऋत्विक्, आप ही मन्त्र और यज्ञभोक्ता अग्नि हैं। आप ही घी, आप ही वसन्त, आप ही भूमिको संतप्त करनेवाला ग्रीष्म और आप ही शरद्-ऋतु हैं। आप पवित्र हविको सात मुख धारण करके ग्रहण करते हैं। प्रभो! आप अपने मुखके लिये अपने द्वारा अपने मुखमें इस विश्वकी आहुति देते हैं। सदानन्दस्वरूप! यह सनातन यज्ञ आपकी प्राप्तिके लिये ही है। आपकी यह पारमेश्वरी नियति हमलोगोंद्वारा दुर्लङ्घ्य है। अतः आपकी तीव्र शक्तिके सहारे हमलोग मुक्तिके लिये उसीकी खोज कर रहे हैं। विप्रगण पहले चार वर्णोंसे, पुनः चार, दो और पाँचसे, पुनः चार और दोसे आप साक्षात् यज्ञपुरुषके लिये आहुतियाँ देकर अमृतस्वरूप हो जाते हैं। श्रीराम! यह प्राज्ञ पुरुष जाग्रत्में विश्वको, स्वप्नमें इस तेजको तत्पश्चात् सूक्ष्म सुषुप्तिको प्राप्त होता है। अथवा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तुरीयधाममें जिस अखण्ड ब्रह्मका दर्शन करता है, वह आप ही हैं। महेश! जो लोग शरीर, मन और वचनसे आपकी भक्ति करते हैं, उनकी इन्द्रियाँ पवित्र हो जाती हैं। फिर तो उनका आवरण नष्ट हो जाता है और वे मायासे मुक्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् वे आपके साथ ऐक्य—सारूप्य-मुक्तिका आस्वादन करते हैं। दीनबन्धो! यदि हृदयने क्षणमात्र भी आपका ध्यान कर लिया तो क्या वह कभी अणुसे लेकर विभु-पदतकका त्याग कर सकता है? अर्थात् वह सूक्ष्मसे लेकर महान् पदतकका अधिकारी हो जाता है। इसी प्रकार अनाहत नादसे उत्पन्न हुई वाणी भी परमाकाशके अंदरसे आप सर्वव्यापक रामको आकाशका निदानरूप बतलाती है। अपने-अपने स्वभावोंसे मुक्त हुई बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियाँ भी उस अखण्ड पदका त्याग कैसे कर सकती हैं। यह शरीर अपने कर्म-समुदायसे आपका भजन करता हुआ यज्ञके फलस्वरूप स्वयं ही विश्वाकारताको ग्रहण कर लेता है। इन्धन पहले जड ही रहते हैं परंतु जब वे अग्निके भीतर डाल दिये जाते हैं तब क्या अग्निका स्वरूप नहीं धारण कर लेते अर्थात् अग्निस्वरूप ही हो जाते हैं, उसी प्रकार ईश! ये तत्त्व आपसे पृथक् रहनेपर जड कैसे माने जा सकते हैं जब कि आपमें प्रविष्ट होनेपर आपके ही स्वरूप हो जाते हैं।

वृषस्त्रिपाच्चतुःशृङ्गः सप्तहस्तो द्विमस्तकः।
सदारवस्त्रिधाबद्धो महान् देवस्त्वमेव हि॥
त्वमेव यज्ञस्त्वं यष्टा त्वं हविस्त्वं हि देवता।
त्वमेव चर्त्विजो मन्त्रास्त्वं वैश्वानर यज्ञभुक्॥
त्वं सर्पिस्त्वं वसन्तस्त्वं ग्रीष्मो भूदिध्म एव च।
शरदेव हविः पूतं सप्तास्यः परिधीयते॥
तवास्ये हूयते विश्वं त्वदास्याय त्वया प्रभो।
त्वत्प्राप्तये सदानन्द क्रतुरेष सनातनः॥
दुर्लङ्घ्येयमिहास्माभिर्नियतिः पारमेश्वरी।
त्वत्तीव्रशक्त्या तामेव मुक्तये मृगयामहे॥
चतुर्भिर्वर्णैश्च पुनश्चतुर्भिः
द्वाभ्यां च विप्रा इह पञ्चभिश्च।
हुत्वव यज्ञाय पुनश्चतुर्भ्यो
द्वाभ्यां हि साक्षादमृतीभवन्ति॥

जाग्रद्विश्वं स्वप्नमेतद्धि तेजः
प्राज्ञश्चायं याति सूक्ष्मां सुषुप्तिम्।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मं धाम यद्वा तुरीयं
ब्रह्माखण्डं राम चैतत्त्वमेव॥
ये त्वां भजन्ति वपुषा मनसा च वाचा
तेषां भवन्ति करणानि पवित्रितानि।
यैरैक्यमेव भवता सह मुक्तमायै-
रास्वाद्यते ननु निरावरणैर्महेश॥
ध्यातो भवान् यदि हृदा क्षणमार्त्तबन्धो
किं तज्जहात्यणुविभुत्वपदं कदाचित्।
वागप्यनाहतभवा परमाम्बरान्त-
स्त्वां वक्ति रामिति विभुं नभसो निदानम्॥
बाह्यान्तराणि करणान्यपि तैः स्वभावै-
र्मुक्तान्यखण्डितपदं कथमुत्सृजेयुः।
देहः स्वकर्मविभवैश्च भजन् भवन्तं
विश्वाकृतिं क्रतुवशाव स्वयमाददाति॥
प्रागिन्धनान्यपि जडानि हुताशनान्तः-
क्षिप्तानि किं न हि भजन्ति हुताशनत्वम्।
तत्त्वान्यमूनि कथमीश जडानि तद्वत्
त्वत्तः पृथक्त्वयि गतानि विभोर्भवेयुः॥

'जिनकी बाह्य तथा आन्तरिक मायाका विनाश हो चुका है, ऐसे अज्ञानरहित मुनिगण एकमात्र आपका ही चित्-सूर्यरूपमें दर्शन करते हैं, यद्यपि सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा—ये तीनों भी आपके ही अंश हैं और अपनी किरणोंद्वारा लोकोंको प्रकाशित करते हैं। विश्व जिनका स्वरूप है, विष्णु, ब्रह्मा, शिव आदि जिनकी मूर्तियाँ हैं, जो तत्त्वोंके रूपमें विद्यमान तथा निरन्तर ज्ञानसम्पन्न हैं—उन आपको जो लोग इस जगत्में भलीभाँति भजते हैं, उन्हें उसीके समान रूप और लोकोंकी प्राप्ति होती है। फिर वे तन्मय होकर सामीप्य-मुक्तिके भागी बनकर आपके निकट पहुँच जाते हैं। भगवन्! आप एक हैं और आपको इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं है, फिर भी अलक्ष्य रहते हुए आप एक साथ सबका साक्षात्कार कर लेते हैं; परंतु परमेश्वर! ऐसा कोई नहीं है जो क्रमशः सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी सहायतासे कहीं भी आपका साक्षात्कार करता हो। जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है और जिनके प्राण तथा मन सदा आपमें ही संलग्न रहते हैं ऐसे जो लोग अपनी विभूतिसे विश्वमें व्याप्त रहनेवाले, अचल, परात्पर, अद्वितीय आपका ध्यान करते हैं, उन्हें यमका भय कहाँसे हो सकता है? क्योंकि वे तो कालको भी ग्रास बनानेवाले होते हैं। कहाँ तो सुकृतोंद्वारा उपार्जित यह परिमित सम्पत्ति और कहाँ आत्मामें स्थित यह अचल महान् विभूति। किंतु श्रीराम! जो एकमात्र आपके उत्तम पदका ही सेवन करनेवाले हैं, उन मुनियोंके लिये इन्द्र आदिकी सम्पत्ति भी तुच्छ कौड़ीके ही समान है। ये समस्त वेद आदि जिनके श्वाससे प्रकट हुए हैं, उन आपकी स्तुति हम कैसे करें? आप मनकी भूमिकासे परे, विश्वकी सीमासे ऊपर और सदैव विश्वमें निवास करनेवाले हैं—ऐसे आपको भला हम कैसे जान सकते हैं' ॥ ३-३६ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—आत्मनाथ! इस प्रकार कमलयोनि ब्रह्माने सैकड़ों स्तुतियोंद्वारा श्रीरामको संतुष्ट किया। फिर वाणीकी शक्तिसे परे होनेके कारण हृदयसे ध्यान करके तत्त्वको प्राप्त किया। फिर तो उनका मन आनन्दमग्न हो गया और वे चुप हो गये। तदनन्तर बालखिल्य आदि मुनि प्रसन्नमनसे उन प्रशान्त तथा परमानन्दविग्रह ईशानकी स्तुति करने लगे ॥ ३७-३८ ॥

बालखिल्य बोले—'श्रीराम! आपसे पर अथवा अपर कुछ भी नहीं है और न कुछ आपसे अणु अथवा महान् ही है। आप सदा अद्वितीय, स्वराट् और अचल हैं तथा सर्वव्यापक होते हुए आकाशको निगलकर पुनः आकाशका-सा व्यवहार करते हैं। आपको कोई कर्म, संतान अथवा धनसे नहीं प्राप्त कर सकता; क्योंकि आप सदा सर्वत्र आत्मतृप्त हैं। आपका रूप सदा एक-सा रहनेवाला है; अतः अवधूतलोग हृदय-गुहाके अंदर उच्चस्वरसे उद्गीथका उच्चारण करके आपको प्राप्त कर लेते हैं। जो विद्वान् हैं, वे उन धर्मोंका भी पालन नहीं करते जिनका विधान आपके लिये हुआ है; क्योंकि उनकी उत्पत्ति आपकी भक्तिमें विघ्न पड़नेके कारण ही हुई है। तब भला, उनकी बुद्धि अधर्ममें कैसे लग सकती है? जिन सुकृती जनोंपर आप प्रसन्न हो जाते हैं, उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहसे

त्वामेकमेव बहिरन्तरभिन्नमायाः
पश्यन्त्यपास्ततमसो मुनयश्चिदर्कम्।
यस्यांशवोऽर्कहुतभुग्हिमरश्मयः स्वै-
राभासयन्ति भुवनानि करैस्त्रयोऽपि ॥
विश्वाकृतिं हरिविरिञ्चिशिवादिमूर्त्तिं
तत्त्वाकृतिं तव निरन्तरबोधसत्त्वम्।
सम्यग् भजन्ति इह तत्समरूपलोकाः
सांनिध्यभाज उपयान्ति च तन्मयास्ते ॥
एकस्त्वमेव सकलं करणानपेक्ष्यः
साक्षात्करोषि युगपद्भगवंस्त्वलक्ष्यः।
नैवास्ति तद्यदखिलैः करणैः क्रमेण
साक्षात्करोति परमेश्वर कुत्रचित्त्वाम् ॥
ये त्वामपास्ततमसो निजया विभूत्या
सुव्याप्तविश्वमचलं परमद्वितीयम्।
ध्यायन्ति लीनपवनास्त्वयि लीनचित्ताः
कालाशिनां यमभयं कुत एव तेषाम् ॥

क्व श्रीरियं परिमिता सुकृतैरुपात्ता
क्वात्म्ये स्थितेयमचला महती विभूतिः।
राम त्वदुत्तमपदैकजुषां मुनीना-
मिन्द्रादिसम्पदपि तुच्छकपर्दिकैव ॥
स्तुमः कथं त्वामतिवाचमेते
वेदादयो यच्छ्वसितं समस्ताः।
विद्मः कथं त्वां मनसोऽतिभूमिं
विश्वातिगं विश्वसदः सदैव ॥
(अध्याय ३, श्लोक ३ से ३६)

निवृत्ति, उच्च स्तरका इन्द्रिय-संयम, संतोष, आस्तिकता और अखण्ड भक्तिकी प्राप्ति स्वयं हो जाती है। संसारके भयसे आपका आश्रय-ग्रहण, भोगोंमें एकमात्र दोष-दृष्टि, आपमें अनन्यभाव आदि जो आपकी प्राप्तिके उपाय हैं, वे आपके प्रसन्न होनेपर संयमशीलोंके अधिकारमें स्वयं आ जाते हैं। ईश! जबतक पञ्चतत्त्वोंका राजा प्राण परिस्पन्दन कर रहा है और चित्त भी उससे बँधा हुआ उसीके पीछे दौड़ रहा है, अहंकार भी देहादि अनात्म वस्तुओंके ग्रहणके कारण जन्म-मरणसे सम्बन्धित है तबतक मुक्ति कैसे हो सकती है?

'आशयहीनता, आकाशमें विलीन होना, अपनी सत्तामात्रकी स्थिति, नित्य लोभहीनता, गुरुसे अभेद, आपके साथ अपनी समता—ये सब आपकी कृपासे सभी प्राणियोंमें पाये जाते हैं। जो विषयोंके इन्द्रियगोचर होनेपर उन्हें मिट्टीके ढेलेके समान और भोगकालमें विषतुल्य देखता है, उस जीवके मनका नाश हो जाता है। तब आपकी कृपासे उसे इस जन्ममें ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है। ये जो पूर्ण सिद्धलोग हैं वे बाहर-भीतर अखण्डरूपसे विद्यमान आप अद्वितीयको देखकर संकोचका त्याग कर देते हैं, फिर आपका सहारा लेकर सायुज्य मुक्तिरूप साम्राज्य-पदमें रमण करते हैं। आप अन्तरहीन हैं, फिर भी आपके उदरमें अन्तर देखना महान् भयका स्थान है; किंतु जो अपनेसे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं देखता, उस प्रत्यग्दर्शीके लिये भय कहाँसे हो सकता है? भक्तगण शरीर, प्राण, अन्तःकरण, अहंतारूपी हविको नमस्काररूपी स्रुवाद्वारा ऊपर उठाकर और स्वाराज्यको प्रणवसे संयुक्त करके होमाग्निमें हवन करते हैं। 'तत्, त्वम्, अहम् मृषा हैं' इस प्रकारके ये तीनों भाव जीवको तभीतक जीवभावमें जकड़े रखते हैं, जबतक अज्ञानाच्छादित मन घनीभूत चिदाकाशस्वरूप आपमें ही विलीन नहीं हो जाता। जिनके कर्मानुष्ठान आपके लिये ही होते हैं, जो उत्कृष्ट वाणीद्वारा आपके नामका जप करते हैं और आपके लिये ही जिनके प्राण प्रशान्त हुए रहते हैं, उनके मन चिदाकाश-स्वरूप आपमें ही प्रलयको प्राप्त हो जाते हैं। जिनका ज्ञान न होनेसे ही मनुष्योंको संसारमें जन्म लेना पड़ता है और जिनके ज्ञानसे तुरंत ही मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है उन आप परात्पर परमेश्वरको हम केवल नमस्कार कर रहे हैं।

'परमहंसस्वरूप आपको नमस्कार है। आप शुचिषद्को प्रणाम है। आपका तेज परमोत्कृष्ट है, आप अन्तरिक्षमें वास करनेवाले हैं, ऐसे वसुरूप आपको अभिवादन है। प्राचीन होतारूप आपको नमस्कार है। बर्हिषद् पितृगण आपके ही स्वरूप हैं, आपको प्रणाम है। आप द्रोणसत्‌को अभिवादन है। अतिथिरूप आपको नमस्कार है। आप निषत्, कर्ता और वरसत् हैं, आपको पुनः-पुनः प्रणाम है। त्वत्सद्, धाता तथा आकाशवासी आपको सदा मेरा नमस्कार प्राप्त हो। आप अमृत तथा नित्य सत्य हैं, सूर्य आपके ही स्वरूप हैं, विश्व आपका नेत्र है, आपको प्रणाम है। आपके शरीरका रंग स्वर्ण-सा चमकीला है, विश्व आपका वीर्य है, ऐसे त्रिधामस्वरूप आपको अभिवादन है। आप शिपिविष्ट तथा पशुपति विष्णुको नमस्कार है। पुरोहित, यज्ञ और इन्द्र आप ही हैं, आपको प्रणाम है। सामवेद आपका शरीर तथा शब्दब्रह्म आपकी मूर्ति है, आपको अभिवादन है। आप (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्ररूप) त्रिमूर्तिधारी परब्रह्मको बारंबार प्रणाम है। आप सुन्दर पंखोंसे विभूषित गरुड हैं। त्रैवृत्त आपका सिर कहा जाता है। स्तोम आप यज्ञपुरुषका आत्मा तथा उत्तम गायत्र साम आपका नेत्र है। बृहत् और रथन्तर नामक साम आपके पक्ष तथा वामदैव्य साम आपका शरीर है। छन्द आपके अङ्ग और यज्ञ एवं यज्ञ-सामग्रियाँ आपकी पूँछ हैं। बृहत् आपका नित्य निवासस्थान है। आपका नाम यजुर्वेदकी ऋचाएँ हैं। आपके ऐसे तारक रूपकी हमलोग नित्य उपासना करते हैं' ॥ ३९—६१ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों भक्तिपूर्वक स्तुति करते हुए उन बालखिल्य मुनियोंका चित्त भगवद्धाममें आविष्ट हो गया और वे वहीं परब्रह्ममें समाधिको प्राप्त हो गये। तदनन्तर जब इन्द्रको यह ज्ञात हो गया कि ये परमेश्वर श्रीराम ब्रह्मा, विष्णु और शिवके द्वारा भी अचिन्त्य हैं तब वे भी भक्तिका आश्रय लेकर श्रीरामकी स्तुति करने लगे ॥ ६२-६३ ॥

इन्द्र बोले—'श्रीराम! आप निस्तत्त्व, निष्क्रिय, सदा प्रपञ्चरहित और स्वानन्दमें मग्न रहनेवाले हैं। हम-लोग सदासे आपके किंकर हैं और प्रतिदिन कर्माटवीमें भटक रहे हैं। अतः ईश! अपनी परमोत्कृष्ट करुणासे हमारा इस भवसागरसे उद्धार कीजिये। यद्यपि आप दैवी वाणीके अगोचर, ब्रह्मादि देवोंके लिये भी अचिन्त्य, अविनाशी, अद्वितीय प्रभु हैं, तथापि मैं आपको धनुर्धारी (?) गमन करनेवालोंमें श्रेष्ठ एक रघुवंशी राजा ही समझता था।

र ! यह देव-परिषद् आपको त्रिनेत्रधारी, सर्पका आभूषण रण करनेवाले चन्द्रमौलि रुद्रके रूपमें, जलसे भरे हुए बादलकी-सी आभावाले गरुडवाहन विष्णुके रूपमें था कमलासन चतुर्मुख ब्रह्माके रूपमें देख रही है। ईश ! नियोंकी परिषद्, जो तत्त्वज्ञानमें निपुण है, आपको दान्तप्रतिपादित अद्वितीय ब्रह्म मानती है, सिद्धसमुदाय आपको विश्वरूप मानता है; परंतु यह योगीन्द्रोंकी सभा आपको विश्वातीत आदिपुरुष ही मानती है। श्रीराम ! स प्रकार विद्वान्‌लोग परावर (ऊँच-नीच) के विचारसे हुत-सा रूप धारण करनेवाले अद्वितीय आपका अनेक कारसे वर्णन करते हैं; किंतु हम तो आपको विश्वरूप टकके एकमात्र अभिनेता, अप्रमेयस्वरूप सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर मानते हैं।

'आप कालके भी महाकाल हैं; क्योंकि आपके नेत्र मूँदते समय जिनके एक-एक दिनमें चौदह इन्द्रोंका समय बीतता है, ऐसे ये सुरश्रेष्ठ कितने ब्रह्मा आदि भी नष्ट हो जाते हैं। हमलोगोंका दिन तो एक मानव-वर्षके बराबर कहा गया है। श्रीराम ! यद्यपि आप एक, अजन्मा, विभु और अद्वितीय हैं तथापि जब कभी आपकी यह इच्छा होती है कि मैं बहुत रूपमें प्रकट होऊँ (एकोऽहं बहु स्याम्), उस समय आत्माराम आपकी परमोत्कृष्ट क्रिया, इच्छा और ज्ञानस्वरूपिणी तीनों शक्तियाँ भी प्रकट होती हैं। जिन शक्तियोंके कलाविलासमें करोड़ों दशाननरूपी कीट और इन्द्ररूपी मच्छरोंका स्थान कहाँ है—यह हम नहीं जान पाते, उन शक्तियोंकी मूल जननी आपकी आद्याशक्ति सीता हैं, जिनके लिये आपने यह युद्धलीला की है। ईश ! आप स्वात्माराममें काम कहाँ ? आप साक्षात् विश्वमूर्ति हैं, आपमें क्रोध कैसा ? अथवा सच्चिदानन्दभानुरूप आपमें मोहकी सम्भावना कैसे हो सकती है। आपमें जो इस प्रकारकी कल्पना की जाती है, यही अज्ञानका कारण है। कर्मोंकी इच्छा ही भ्रान्तिकी जड़ है; परंतु यह भ्रान्ति मोहरहितोंके लिये सदा नहीं रहती; क्योंकि ये श्रेष्ठ मुनिगण आपकी भक्तिके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके भ्रान्तिकी जड़को भलीभाँति नष्ट कर डालते हैं। महेश ! जिनकी समस्त कामनाएँ नष्ट हो चुकी हैं; जो एकमात्र अपने आत्मामें ही तृप्त हैं, ऐसे परमावधूत जहाँ जीवन धारण करते हैं, वहीं आपसे विमुख रहनेवाले, बहिर्दृष्टि सकामी जीव मृत्युको प्राप्त होते हैं।

'प्रभो ! जैसे उत्कृष्ट गुणसम्पन्न वेद आपके निःश्वास तथा वेदके सर्वोच्च भाग गुण आदि आपके उच्छ्वास हैं, उसी तरह अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न आपकी लीलासे जगत्‌में जीवोंके बन्धन और मोक्ष—ये दोनों भी हों। मोहसे कामकी उत्पत्ति होती है और उसके परिणामस्वरूप क्रमशः क्रोध और मोह उत्पन्न होते हैं। यों चक्रकी आवृत्तिके समान पाशोंसे जकड़ा हुआ मैं सदा भटक रहा हूँ, अब मुझे इन पाशोंका छेदन करके आपके अतिरिक्त दूसरा कौन मुक्त कर सकता है ? रामभद्र ! अपने-अपने अधिकारोंमें नियुक्त होनेपर गुणोंद्वारा प्राप्त हुए भोगोंसे अन्धीभूत नेत्रोंवाले हमलोग भव-सागरमें डूब रहे हैं। यदि आप हमारा उद्धार कर देंगे तो हम यहाँसे उछलकर आपमें ही लीन हो जायँगे। महाचिदात्मस्वरूप भगवन् ! ये छब्बीसों तत्त्व हमें घेरकर खड़े हैं। यदि आपकी आज्ञासे आपकी प्रचण्ड शक्तिद्वारा इनका भेदन हो जाय तो आपमें और हममें कहीं अणुमात्र भी भेद नहीं है। भोगोंमें जो इच्छा होती है, मेरी वह इच्छा अथवा कर्म यदि स्वतः ही आपमें हो जाय तो उससे आपमें प्रतिष्ठित रहनेवाला ज्ञान मिल जाय; परंतु आपके प्रसन्न हो जानेपर तो यह सब यों ही प्राप्त हो जाता है। दीनबन्धो ! मैंने यह विज्ञापन कर दिया है, उसे सुनकर आप मेरी भव-बाधाकी शान्ति करें अथवा न करें (यह तो आपके अधीन है)। मैंने जीवोंके हितके लिये यह याचना की है। मेरी यह भक्ति आपमें निश्चलरूपसे स्थित हो जाय। आपकी भक्ति यदि शरीर, वाणी और मनसे तन्मय होकर की जाय तो उससे आपकी कृपा सुलभ हो जाती है। अतः आप अभिवादनीय परात्पर पुरुषको अपने सम्पूर्ण भावोंसे हम नमस्कार कर रहे हैं।

'शब्द-अर्थ जिनके नेत्र हैं तथा जो शब्दसे परे हैं, उन आपको नमस्कार है। आप विश्वकी एकमात्र योनि तथा देवोंके अधिदेव हैं, आपको प्रणाम है। वेदान्तद्वारा जाननेयोग्य तथा वेदके मुखस्वरूप आपको अभिवादन है। आप त्रिगुणोंसे शून्य तथा अटल ज्योतिवाले हैं, आपको पुनः-पुनः नमस्कार है। आप सत्योंके भी सत्य तथा विज्ञानकी मूर्ति हैं, निर्मल आनन्दस्वरूप आपको बारंबार प्रणाम है। आप ही यज्ञ, वषट्कार, विष्णु और प्रजापति हैं। होता, मन्त्र, इन्द्र और अग्नि भी आपके ही स्वरूप हैं। आप ही दक्षिणा, श्रद्धा, हवि और देवता हैं। सोम, काम, मन और इन्द्रियाँ भी आप ही हैं। आप ही विद्या,

अविद्या, काल और प्रकृति हैं। क्रियाकी समाप्तिमें दीक्षितोंको फल प्रदान करनेवाले आप ही हैं। आप विश्वके कर्ता, भोक्ता, संहारक और विश्वरूप हैं। आप हवि, विश्वद्रष्टा, शुद्ध, नित्यतृप्त और महान् उत्कर्षसम्पन्न हैं। आपका वर्ण सुवर्णका-सा चमकदार है। आप सर्वोत्तम सामर्थ्यशाली हैं। सूर्य आपके स्वरूप हैं। आप विश्वाधिक तथा महर्षि हैं। विश्वेदेव भी आप ही हैं। आप ओंकार, कालनायक, कर्ता, हर्ता, विराट्, शिव, ऋक्, यजुष्, साम, ऋत, सत्य, महान्, तप, अक्षर, अचल, ध्रुव, महादेव और चिदाकाश-रूप शरीरवाले हैं। इन महान् यशोंद्वारा हम आप परमात्माका ही यजन करते हैं। ब्रह्मा आदि भी जिनका अन्त न पाकर शान्त हो जाते हैं तब भला दूसरा कौन आपको स्तोत्रोंद्वारा संतुष्ट कर सकता है। उरुगाय! आपको नमस्कार है' ॥ ६४—९२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करके इन्द्रने उनपर कल्पद्रुमके पुष्पोंकी वर्षा की और कहा—'श्रीराम! शरणागत भक्तोंके दुष्कर्मका विनाश करनेके लिये आपका नाम-रूप दुष्टाटवीके दावानलके समान है।' तत्पश्चात् इन्द्रने वाद्यसमूहोंको मँगवाकर प्रत्येक दिशामें लोकपालोंसहित देवाङ्गनाओंका नाच कराया और स्वयं 'अखिल लोक-समुदायके आदिस्वामी श्रीरामकी जय हो' यों पद-पदपर गाते हुए विराम लिया। भक्ति-सम्पन्न उन इन्द्रद्वारा यों स्तवन किये जानेपर श्रीरामने समस्त देवोंकी ओर दृष्टिपात करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए कहा— ॥ ९३—९५ ॥

श्रीराम उवाच

भो भोस्तत्त्वाधिपतयो मुनयश्च तपोधनाः।
सिद्धाः साध्याश्च पितरो ये चान्ये गोलवर्त्तिनः॥
मयैतद्विदितं सर्वं यदर्थं यूयमागताः।
तत्तथैव विधास्यामि भयं वो व्यपगच्छतु॥
भवद्भिर्यदिदं दृष्टं वैश्वात्म्यं मम शाश्वतम्।
एकांशमात्रमेतद्धि ब्रह्माण्डानेकमण्डितम्॥
अत ऊर्ध्वमसंसक्तस्तत्त्वातीतो निरन्तरः।
नित्यशुद्धो निरातङ्को मानातीतो निरञ्जनः॥
निरंशो यः पराकाशो भावाभावविलक्षणः।
निस्तरङ्गसदानन्दसुधाब्धिरतिनिर्मलः ॥
निरालम्बो निराकारो विभुरेकः परः स्वराट्।
सोऽहं भवद्भिरखिलैर्द्रष्टुं शक्यो न जातुचित्॥
भक्त्यैव दृढया सम्यक् नित्यमभ्यासिनः सुराः।
ममैतत्परमं रूपं यूयं द्रक्ष्यथ* चापरे॥
(अध्याय ३, श्लोक ९६ से १०२

श्रीराम बोले—भो भो तत्त्वाधीश्वर तपोधन मुनि-गण, सिद्ध और साध्योंके समुदाय, पितर तथा ब्रह्माण्ड-गोलकवासी अन्य जीवो! जिस लिये तुमलोग यह आये हो, वह सारा वृत्तान्त मुझे विदित है। मैं तदनुकू-ही विधान करूँगा; अतः अब तुमलोगोंका भय द- हो जाना चाहिये। इस समय तुमलोगोंने मेरे जि- सनातन विश्वरूपका दर्शन किया है, यह अने- ब्रह्माण्डोंसे सुशोभित मेरा एक अंशमात्र है। इस ऊपर जो आसक्तिरहित, तत्त्वातीत, अभेदस्वरू- नित्यशुद्ध, निर्भय, अप्रमेय, मायाहीन, अंशवर्जि- चिदाकाशस्वरूप, भाव-अभावसे विलक्षण, तरङ्गरहि- सदानन्दामृत-सागर, अत्यन्त निर्मल, आलम्बनही- निराकार, व्यापक, अद्वितीय, परात्पर स्वराट् है, वह ही हूँ। तुम सब लोग कभी भी मेरा दर्शन नहीं क- सकते। देवताओ! जो नित्य भलीभाँति अभ्यास करनेवा- हैं, ऐसे तुमलोग तथा अन्य मानव-गण भी अट- भक्तिद्वारा ही मेरे इस परम रूपको देख सकोगे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार यह उपनिष- सम्बन्धी तत्त्व स्तोत्रके माध्यमसे प्रकाशित हुआ है। इसक- बारंबार स्मरण करके वे सब क्षणमात्रके लिये तन्मयताक- प्राप्त हो गये। जिन्हें ज्ञेयका ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा ज- परमहंस-विग्रहधारी हैं, ऐसे वे पवित्र सिद्ध मानस-तीर्थ- इस ब्रह्मविद्यारूपिणी स्तुतिका जप करते हैं। इस स्तोत्र- माहात्म्यका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। निस्संदे- यह अभिलषित पदार्थोंको देनेके लिये कामधेनु है। - स्तुति करने योग्य, सर्वोच्च महनीय, देवोंके अनन्य स्वा- उन महापुरुष रामका ध्यान करके ब्रह्मादि... कहे हुए इ-

* इदानीं पश्यथ पुनर्द्रक्ष्यथापरे नरा द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः।

स्तोत्रका पाठ करता है, वह अविनाशी परम धाममें चला जाता है। जो नित्य इन तीनों (शंकर, विष्णु तथा ब्रह्माकृत) स्तोत्रोंका पाठ अथवा श्रवण करते हैं, उनके हृदयमें योग-सम्पद्, वैराग्य और ईश्वर-भक्ति उत्पन्न हो जाती है। देव! इस स्तोत्रमें जो अक्षर या पद छूट गये हों अथवा जो मात्रारहित उच्चरित हुए हों, उन सबको क्षमा कर दीजिये। रघुनन्दन! प्रसन्न होइये॥ १०३-१०४॥

श्रीस्कन्दपुराणोक्त श्रीरामगीताका तीसरा अध्याय समाप्त॥

उपनिषदोंमें श्रीरामवचनामृत तथा श्रीराममहिमासहित रामतत्त्व

(१)

मुक्तिकोपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वह (परमात्मा) पूर्ण है, यह पूर्ण है, पूर्णसे पूर्ण निकलता है, पूर्णसे पूर्ण निकलनेपर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

हनुमान्‌का प्रश्न

ॐ अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यमे।
सीताभरतसौमित्रिशत्रुघ्नाद्यैः समन्वितम्॥
सनकाद्यैर्मुनिगणैर्वसिष्ठाद्यैः शुकादिभिः।
अन्यैर्भागवतैश्चापि स्तूयमानमहर्निशम्॥
धीविक्रियासहस्राणां साक्षिणं निर्विकारिणम्।
स्वरूपध्याननिरतं समाधिविरमे हरिम्॥
भक्त्या शुश्रूषया रामं स्तुवन्पप्रच्छ मारुतिः।
राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः॥
इदानीं त्वां रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहुः।
त्वद्रूपं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतो राम मुक्तये॥
अनायासेन येनाहं मुच्येयं भवबन्धनात्।
कृपया वद मे राम येन मुक्तो भवाम्यहम्॥

श्रीरामचन्द्रजी अयोध्यापुरीमें रमणीय रत्नमण्डपके बीच सीता, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न आदिसे समन्वित होकर रत्नसिंहासनपर आसीन थे। सनक-सनन्दनादि मुनिगण, वसिष्ठ आदि गुरुजन तथा शुकादि अन्यान्य भागवत रात-दिन उनका स्तवन करते रहते थे। सर्वान्तर्यामी एवं निर्विकार श्रीरामचन्द्र-जी एक समय अपने स्वरूप-ध्यानमें रत होकर समाधिस्थ हो रहे थे। उनकी समाधि टूटनेपर श्रीहनुमान्‌जीने भक्तिपूर्वक सुननेकी इच्छासे स्तवन करते हुए श्रीरामचन्द्रजीसे पूछा—'श्रीरामजी! आप परमात्मा हैं, सत्-चित् और आनन्दस्वरूप परब्रह्मके अवतार हैं। रघुवर! इस अवसरपर मैं आपको बारंबार प्रणाम करता हूँ। श्रीरामजी! मैं आपके यथार्थ स्वरूपको जानना चाहता हूँ, जो मुक्ति प्रदान करनेवाला है, जिससे मैं अनायास—सहजमें ही इस संसार-बन्धनसे छूट जाऊँ। श्रीरामजी! कृपा करके मुझसे उसका वर्णन कीजिये, जिससे मैं मुक्त हो जाऊँ।'

श्रीरामका उत्तर

साधु पृष्टं महाबाहो वदामि शृणु तत्त्वतः।
वेदान्ते सुप्रतिष्ठोऽहं वेदान्तं समुपाश्रय॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'महाबलशाली हनुमान्! तुमने अच्छा प्रश्न किया। मैं तत्त्वकी बात कहता हूँ, सुनो। मेरा स्वरूप वेदान्तमें अच्छी प्रकारसे वर्णित है, अतएव तुम वेदान्तशास्त्रका आश्रय लो।'

हनुमान्‌का प्रश्न

वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठ वर्तन्ते कुत्र ते वद।

हनूमान्‌जीने पूछा—'रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी! वेदान्त किसे कहते हैं और उसकी स्थिति कहाँ है? मुझे बतलायें।'

श्रीरामका उत्तर

हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि वेदान्तस्थितिमञ्जसा॥
निःश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जाताः सुविस्तराः।
तिलेषु तैलवद्वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः॥

श्रीरामजीने कहा—'हनुमान्! सुनो, मैं तुम्हें अविलम्ब वेदान्तकी स्थिति बतलाऊँगा। मुझ विष्णुके निःश्वाससे सुविस्तृत चारों वेद उत्पन्न हुए। तिलोंमें तेलकी भाँति वेदोंमें वेदान्त सुप्रतिष्ठित है।'

हनुमान्‌का प्रश्न

राम वेदाः कतिविधास्तेषां शाखाश्च राघव।
तासूपनिषदः काः स्युः कृपया वद तत्त्वतः॥

हनूमान्‌जीने पूछा—'श्रीरामजी! वेद कितने प्रकारके हैं? और राघव! उनकी शाखाएँ कितनी हैं तथा उनमें उपनिषद् कौन-कौनसे हैं, यह कृपा करके तत्त्वतः—यथार्थरूपसे समझाइये।'

श्रीरामका उत्तर

वेद, उनकी शाखा और उपनिषद्

श्रीराम उवाच

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा॥
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परंतप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।
तासामेकामृचं यश्च पठते भक्तितो मयि॥
स मत्सायुज्यपदवीं प्राप्नोति मुनिदुर्लभाम्।

श्रीरामजीने कहा—'वेद चार कहे गये हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। उन चारोंकी अनेक शाखाएँ हैं और उन शाखाओंकी उपनिषद् भी अनेक हैं। ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ हैं। पवन-तनय! यजुर्वेदकी एक सौ नौ शाखाएँ हैं और शत्रुतापन! सामवेदके सहस्र शाखाएँ निकली हैं। कपीश्वर! अथर्ववेदकी शाखाओंके पचास भेद हैं। एक-एक शाखाकी एक-एक उपनिषद् मानी गयी है। जो व्यक्ति उन उपनिषदोंके एक भी मन्त्रका भक्तिपूर्वक पाठ करता है, वह व्यक्ति मुनियोंके लिये भी दुर्लभ मेरी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करता है।'

हनुमान्‌का प्रश्न

राम केचिन्मुनिश्रेष्ठा मुक्तिरेकेति चक्षिरे॥
केचित्त्वन्नामभजनात् काश्यां तारोपदेशतः।
अन्ये तु सांख्ययोगेन भक्तियोगेन चापरे॥
अन्ये वेदान्तवाक्यार्थविचारात् परमर्षयः।
सालोक्यादिविभागेन चतुर्धा मुक्तिरीरिता॥

हनूमान्‌जीने कहा—'श्रीरामजी! कोई-कोई मुनि-श्रेष्ठ कहते हैं कि मुक्ति एक ही प्रकारकी होती है और कुछ मुनिगण कहते हैं कि तुम्हारा नामस्मरण करनेसे मुक्ति होती है तथा काशीमें मरनेवालेको भगवान् शंकर तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे प्राणी मुक्त हो जाता है। दूसरे मुनियोंका कथन है कि सांख्ययोगसे मुक्ति होती है और कुछ मुनियोंके मतसे भक्तियोग ही मुक्तिका कारण है। अन्य महर्षियोंके कथनानुसार वेदान्त-वाक्योंके अर्थका विचार करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है और किसी-किसीके मतमें सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य और कैवल्यरूपसे मुक्ति चार प्रकारकी कही गयी है।'

मुक्तिके चार प्रकार—सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य एवं उनके साधन

स होवाच श्रीरामः

कैवल्यमुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी ।
दुराचाररतो वापि मन्नामभजनात् कपे ॥
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम् ।
काश्यां तु ब्रह्मनालेऽस्मिन्मृतो मत्तारमाप्नुयात् ॥
पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं प्राप्नोति मानवः ।
यत्र कुत्रापि वा काश्यां मरणे स महेश्वरः ॥
जन्तोर्दक्षिणकर्णे तु मत्तारं समुपादिशेत् ।
निर्धूताशेषपापौघो मत्सारूप्यं भजत्ययम् ॥
सैव सालोक्यसारूप्यमुक्तिरित्यभिधीयते ।
सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्यधीः ॥
मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम् ।
सैव सालोक्यसारूप्यसामीप्या मुक्तिरिष्यते ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन्मद्गुणमव्ययम् ।
मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्भजेद् भ्रमरकीटवत् ॥
सैव सायुज्यमुक्तिः स्याद् ब्रह्मानन्दकरी शिवा ।
चतुर्विधा तु या मुक्तिर्मदुपासनया भवेत् ॥
इयं कैवल्यमुक्तिस्तु केनोपायेन सिध्यति ।

श्रीरामने कहा—'कपिवर! कैवल्य-मुक्ति तो एक ही प्रकारकी है, वह परमार्थरूप है। इसके अतिरिक्त भक्तिपूर्वक मेरा नाम-स्मरण करते रहनेसे दुराचारमें लगा हुआ मनुष्य भी सालोक्य मुक्तिको प्राप्त होता है, वहाँसे वह अन्य लोकोंमें नहीं जाता। जिसकी काशी-क्षेत्रमें ब्रह्मनाल नामक प्रदेशके अन्तर्गत मृत्यु होती है, वह मेरे तारक-मन्त्रको प्राप्त करता है और उसे वह मुक्ति मिलती है, जिससे उसे आवागमनमें नहीं आना पड़ता। काशीक्षेत्रमें चाहे कहीं भी मृत्यु हो, शंकरजी प्राणीके दाहिने कानमें मेरे तारक-मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे उसके सारे पापोंके समूह झड़ जाते हैं तथा वह मेरे सारूप्यको—समान रूपको प्राप्त हो जाता है। वही सालोक्य-सारूप्य मुक्ति कहलाती है। जो द्विज सदाचार-रत होकर नित्य एकमात्र मेरा ध्यान करता है और मुझ सर्वात्मस्वरूपका चिन्तन करता है, वही मेरे सामीप्यको प्राप्त होता है—सदा मेरे समीप निवास करता है। वही सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य मुक्ति कहलाती है। जब गुरुके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे मेरे अव्यय, निर्विकार स्वरूपका ध्यान करता है, तब वह द्विज भ्रमरकीटके समान सम्यक्-रूपसे मेरे सायुज्यको प्राप्त करता है। यही कल्याणकारी, ब्रह्मानन्दको प्रदान करनेवाली सायुज्य-मुक्ति है। मेरी उपासनासे जो चार प्रकारकी मुक्तियाँ होती हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य एवं कैवल्य, उनमें यह कैवल्यमुक्ति किस उपायका अवलम्बन करनेसे सिद्ध होती है सो सुनो।

उपनिषदोंका स्वाध्याय मुक्तिका साधन

माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥
तथाप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ ।
ज्ञानं लब्ध्वाचिरादेव मामकं धाम यास्यसि ॥
तथापि दृढता नो चेद्विज्ञानस्याञ्जनासुत ।
द्वात्रिंशाख्योपनिषदं समभ्यस्य निवर्तय ॥
विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ ।
तासां क्रमं सशान्तिं च शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥

'अकेली माण्डूक्योपनिषद् मुमुक्षुजनोंको मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ है। यदि उससे भी ज्ञानमें परिपक्वता न आये तो दस उपनिषदोंका अध्ययन करो। उससे ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही मुझे अद्वैतधाम अर्थात् तेजके रूपमें प्राप्त करोगे। अञ्जनीकुमार! यदि उससे भी ज्ञानकी दृढ़ता न हो तो बत्तीस उपनिषदोंका सम्यक्‌रूपसे अभ्यास करके संसारसे

निवृत्त हो जाओ । यदि विदेहमुक्त—शरीर छोड़नेके बाद मुक्त होना चाहते हो तो एक सौ आठ उपनिषदोंका पाठ करो । उन उपनिषदोंके नाम, क्रम और शान्ति-पाठ यथार्थतः कहता हूँ, सुनो ।

१०८ उपनिषदोंके नाम

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुर्नादशिरः शिखा ॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी ।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका ॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् ।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम् ।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाह्वयम् ॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम् ।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा ॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका ॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् ।
त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना ।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम् ॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् ।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥
एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम् ।
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम् ॥

'ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ब्रह्म, कैवल्य, जाबाल, श्वेताश्वतर, हंस, आरुणिक, गर्भ, नारायण, परमहंस, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, अथर्वशिरस्, अथर्वशिखा, मैत्राय कौषीतकिब्राह्मण, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापनीय, काल रुद्र, मैत्रेयी, सुबाल, क्षुरिका, मन्त्रिका, सर्वसार, निराल शुकरहस्य, वज्रसूचिका, तेजोबिन्दु, नादबिन्दु, ध्य बिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, आत्मप्रबोध, नारदपरिव्राज त्रिशिखिब्राह्मण, सीता, योगचूडामणि, निर्वाण, मण् ब्राह्मण, दक्षिणामूर्ति, शरभ, स्कन्द, त्रिपाद्विभू महानारायण, अद्वयतारक, रामरहस्य, रामतापनी वासुदेव, मुद्गल, शाण्डिल्य, पैङ्गल, भिक्षुक, मह शारीरक, योगशिखा, तुरीयातीत, संन्यास, परमहंसप व्राजक, अक्षमाला, अव्यक्त, एकाक्षर, अन्नपूर्णा, सू अक्षि, अध्यात्म, कुण्डिका, सावित्री, आत्मा, पाशुप परब्रह्म, अवधूत, त्रिपुरातापनीय, देवी, त्रिपुरा, कठरु भावना, रुद्रहृदय, योगकुण्डली, भस्मजाबाल, रुद्राक्ष जाबाल, गणपति, जाबालदर्शन, तारसार, महावाक्य पञ्चब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, गोपालतापनीय, कृष्ण, याज्ञ वल्क्य, वराह, शाट्यायनीय, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड कलिसंतरण, जाबालि, सौभाग्यलक्ष्मी, सरस्वतीरहस्य बह्वृच और मुक्तिकोपनिषद् । ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक औ आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं । इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोक-वासना, शास्त्र-वासना एवं देह-वासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है ।

उपनिषदोंकी महिमा और उनके अधिकारी

पूर्वोत्तरेषु विहिततत्तच्छान्तिपुरःसरम् ।
वेदविद्याव्रतस्नातदेशिकस्य मुखात्स्वयम् ॥
गृहीत्वाष्टोत्तरशतं ये पठन्ति द्विजोत्तमाः ।
प्रारब्धक्षयपर्यन्तं जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ।
वैदेहीं मामकीं मुक्तिं यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥

'पूर्व और पश्चात् विहित प्रत्येक उपनिषद्की शान्तिका पाठ करते हुए, वेदविद्याविशारद, व्रतपरायण, स्नान किये हुए, स्वयं आत्मतत्त्वोपदेष्टाके मुखसे ग्रहण अर्थात् श्रवण करके जो द्विजश्रेष्ठ अष्टोत्तरशत उपनिषदोंका पाठ करते हैं, वे जबतक प्रारब्ध-कर्मोंका नाश नहीं हो जाता, तबतक जीवन्मुक्त बने रहते हैं। उसके पश्चात् कालक्रमसे जब प्रारब्धका नाश हो जाता है, तब वे मेरी विदेह-मुक्तिको प्राप्त करते हैं।

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम्।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम्॥
मयोपदिष्टं शिष्याय तुभ्यं पवननन्दन।
इदं शास्त्रं मयाऽऽदिष्टं गुह्यमष्टोत्तरं शतम्॥
ज्ञानतोऽज्ञानतो वापि पठतां बन्धमोचकम्।
राज्यं देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम्॥
इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित्।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै॥
मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते।
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन॥
सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते।
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे॥
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यमेवमष्टोत्तरं शतम्।
यः पठेच्छृणुयाद्वापि स मामेति न संशयः॥

'समस्त उपनिषदोंके बीच एक सौ आठ उपनिषद् साररूप हैं। इनका एक बार भी श्रवण करनेसे सारे पापोंके समूह नष्ट हो जाते हैं। पवनकुमार! तुम मेरे शिष्य हो, अतएव मैंने तुम्हारे लिये इस शास्त्रका वर्णन किया है। मेरे द्वारा वर्णित यह अष्टोत्तरशत उपनिषद्रूप शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। ज्ञानसे, अज्ञानसे अथवा प्रसङ्गवश भी इनका पाठ करनेसे संसाररूप बन्धनसे मुक्ति मिल जाती है। जो तुमसे राज्य अथवा धन माँगे, उसे उसकी कामना-पूर्तिके लिये राज्य अथवा धन दे सकते हो, परंतु इन एक सौ आठ उपनिषदोंको जिस-किसीको देना ठीक नहीं। निश्चयपूर्वक जो नास्तिक हैं, कृतघ्न हैं, दुराचारी हैं, मेरी भक्तिसे मुँह मोड़े हुए हैं तथा शास्त्ररूप गड्ढोंमें गिरकर मोहित हो रहे हैं अर्थात् जो केवल शास्त्रचर्चामें ही लगे हुए हैं, उन्हें तो कभी नहीं देना चाहिये। मारुति! सेवा-परायण शिष्यको, अनुकूल (आज्ञाकारी) पुत्रको अथवा जो कोई भी मेरा भक्त हो, अच्छे कुलमें उत्पन्न हो, सुशील और सद्बुद्धिसम्पन्न हो, उसे भलीभाँति परीक्षा करके अष्टोत्तरशत उपनिषदोंको प्रदान करना चाहिये। इस प्रकारका जो व्यक्ति इन उपनिषदोंको पढ़ता या सुनता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।'

ऋचाका प्रमाण

तदेतदृचाभ्युक्तम्।
विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवे शठाय मा
मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥
यमेव विद्याश्रुतमप्रमत्तं
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
तस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक्
परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्॥ इति।

'यही बात ऋचामें भी कही गयी है। कहते हैं, वेद-विद्या—उपनिषद् ब्राह्मणके पास गयी और बोली—'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि हूँ। याद रहे—मुझे निन्दकों, मिथ्याचारी और दुष्ट प्रकृतिवालोंको मत सुनाना, कभी मत सुनाना, तभी मैं वीर्यवती—सामर्थ्ययुक्त अथवा सफल होऊँगी। जिसे गुरु श्रुतिशील (शास्त्राभ्यासी), प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचर्यसे युक्त समझे, उसीके समीप आनेपर उसकी सम्यक् परीक्षा करके इस आत्म-विषयक वैष्णवी विद्याको प्रदान करे।'

उपनिषदोंके शान्तिमन्त्रोंके विषयमें हनुमान्का प्रश्न

अथ हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ ऋग्वेदादिविभागेन पृथक् शान्तिमनुब्रूहीति ।

पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीसे हनुमान्जीने पूछा—'भगवन् ! ऋग्वेदादिके अनुसार उपनिषदोंका अलग-अलग विभाग करके शान्ति-मन्त्रोंको मुझपर अनुग्रह करके कहिये ।'

श्रीरामका उत्तर

स होवाच श्रीरामः, ऐतरेयकौषीतकीनादबिन्द्वात्मप्रबोधनिर्वाणमुद्गलाक्षमालिकात्रिपुरासौभाग्यबह्वृचानामृग्वेदगतानां दशसंख्याकानामुपनिषदां 'वाङ् मे मनसीति' शान्तिः ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'ऐतरेय, कौषीतकिब्राह्मण, नादबिन्दु, आत्मप्रबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी और बह्वृच—ये दस उपनिषद् ऋग्वेदीय हैं और इनका शान्ति-मन्त्र है 'वाङ् मे मनसि' इत्यादि ।

ईशावास्यबृहदारण्यजाबालहंसपरमहंससुबालमन्त्रिकानिरालम्बत्रिशिखीब्राह्मणमण्डलब्राह्मणाद्वयतारकपैङ्गलभिक्षुतुरीयातीताध्यात्मतारसारयाज्ञवल्क्यशाट्यायनीमुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदगतानामेकोनविंशतिसंख्याकानामुपनिषदां 'पूर्णमदः' इति शान्तिः ।

'ईशावास्य, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मन्त्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैङ्गल, भिक्षुक, तुरीयातीत, अध्यात्म, तारसार, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी और मुक्तिका—ये शुक्लयजुर्वेदके उन्नीस उपनिषद् हैं । इनका शान्तिमन्त्र है 'पूर्णमदः पूर्णमिदं' इत्यादि ।

कठवल्लीतैत्तिरीयकब्रह्मकैवल्यश्वेताश्वतरगर्भनारायणामृतबिन्द्वमृतनादकालाग्निरुद्रक्षुरिकासर्वसारशुकरहस्यतेजोबिन्दुध्यानबिन्दुब्रह्मविद्यायोगतत्त्वदक्षिणामूर्तिस्कन्दशारीरकयोगशिखैकाक्षराक्ष्यवधूतकठरुद्रहृदययोगकुण्डलिनीपञ्चब्रह्मप्राणाग्निहोत्रवराहकलिसंतरणसरस्वतीरहस्यानां कृष्णयजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां 'सह नाववत्विति' शान्तिः ।

'कठवल्ली, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर गर्भ, नारायण, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, कालाग्निरुद्र क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठ, रुद्रहृदय योगकुण्डलिनी, पञ्चब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण और सरस्वतीरहस्य—ये कृष्णयजुर्वेदके बत्तीस उपनिषद् हैं, इनका शान्तिमन्त्र है—'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु' इत्यादि ।

केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणिमैत्रेयीवज्रसूचिकायोगचूडामणिवासुदेवमहत्संन्यासाव्यक्तकुण्डिकासावित्रीरुद्राक्षजाबालदर्शनजाबालीनां सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानामुपनिषदामाप्यायन्त्विति शान्तिः

'केन, छान्दोग्य, आरुणिक, मैत्रायणी, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूडामणि, वासुदेव, महत्, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजाबाल, जाबालदर्शन और जाबालि—ये सामवेदके सोलह उपनिषद् हैं, इनका शान्तिमन्त्र है—'आप्यायन्तु ममाङ्गानि०' इत्यादि ।

प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्याथर्वशिरोऽथर्वशिखाबृहज्जाबालनृसिंहतापनीनारदपरिव्राजकसीताशरभमहानारायणरामरहस्यरामतापनीशाण्डिल्यपरमहंसपरिव्राजकान्नपूर्णासूर्यात्मपाशुपतपरब्रह्मत्रिपुरातपन-

देवीभावनाब्रह्मजाबालगणपतिमहावाक्यगोपालतपनकृष्णहयग्रीवदत्तात्रेयगारुडानामथर्ववेदगतानामेकत्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां 'भद्रं कर्णेभिरिति' शान्तिः ।

'प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिरस्, अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापनीय, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापनीय, शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपत, परब्रह्म, त्रिपुरातापनीय, देवी, भावना, ब्रह्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापनीय, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय और गरुड—ये अथर्ववेदके इकतीस उपनिषद् हैं। इनका शान्तिमन्त्र है—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम०' इत्यादि ।

साधनचतुष्टयसम्पन्न पुरुषको ज्ञानके द्वारा कैवल्य मुक्तिकी प्राप्ति

मुमुक्षवः पुरुषाः साधनचतुष्टयसम्पन्नाः श्रद्धावन्तः सुकुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यगुणवन्तमकुटिलं सर्वभूतहितेरतं दयासमुद्रं सद्गुरुं विधिवदुपसंगम्योपहारपाणयोऽष्टोत्तरशतोपनिषदं विधिवदधीत्य श्रवणमनननिदिध्यासनानि नैरन्तर्येण कृत्वा प्रारब्धक्षयाद्देहत्रयभङ्गं प्राप्योपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत् परिपूर्णता विदेहमुक्तिः सैव कैवल्यमुक्तिरिति । अतएव ब्रह्मलोकस्था अपि ब्रह्ममुखाद्वेदान्तश्रवणादि कृत्वा तेन सह कैवल्यं लभन्ते । अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञानमात्रेणोक्ता । न कर्मसांख्ययोगोपासनादिभिरित्युपनिषत् । इति प्रथमोऽध्यायः ।

'जो लोग मुक्तिके अभिलाषी हैं, जो नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इस लोक एवं परलोकके भोगोंसे वैराग्य, शम-दम आदि षट्सम्पत्ति तथा मोक्षाभिलाषरूप साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हैं, वे श्रद्धावान् पुरुष सत्कुलमें उत्पन्न, श्रोत्रिय (वेदज्ञानसम्पन्न), शास्त्रानुरागी, गुणवान्, सरल हृदय, समस्त प्राणियोंकी भलाईमें रत तथा दयाके समुद्र सद्गुरुके निकट विधिपूर्वक भेंट लेकर जाते हैं और उनसे १०८ उपनिषदोंको विधिपूर्वक पढ़कर निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासनका अभ्यास करते हैं। फिर प्रारब्धका क्षय होनेपर जब उनके स्थूल, सूक्ष्म तथा आतिवाहिक—तीनों शरीर नष्ट हो जाते हैं, तब वे उपाधिमुक्त घटाकाशके समान परिपूर्णताको प्राप्त करते हैं, अर्थात् ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। यही विदेहमुक्ति कहलाती है, इसीको कैवल्यमुक्ति भी कहते हैं। अतएव ब्रह्मलोकमें रहनेवाले भी ब्रह्माजीके मुखसे वेदान्तका श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके उन्हींके साथ कैवल्यको प्राप्त करते हैं। अतः सबके लिये केवल ज्ञानद्वारा ही कैवल्यमुक्ति कही गयी है—कर्मयोग, सांख्ययोग तथा उपासनादिके द्वारा नहीं। यह उपनिषद् है।'

जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्तिके सम्बन्धमें हनुमान्‌का प्रश्न

तथा हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ । केयं वा तत्सिद्धिः सिद्ध्या वा किं प्रयोजनमिति ।

तत्पश्चात् हनुमान्‌जीने श्रीरामजीसे पूछा—'भगवन्! जीवन्मुक्ति क्या है, विदेहमुक्ति क्या है और इनके होनेमें प्रमाण क्या है? तथा उनकी सिद्धि कैसे होती है और उस सिद्धिका प्रयोजन क्या है?'

श्रीरामका उत्तर

स होवाच श्रीरामः । पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति । तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः । उपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्प्रारब्धक्षयाद्विदेहमुक्तिः । जीवन्मुक्तिविदेहमुक्त्योरष्टोत्तरशतोपनिषदः प्रमाणम् । कर्तृत्वादिदुःखनिवृत्तिद्वारा नित्यानन्दावाप्तिः प्रयोजनं

भवति। तत्पुरुषप्रयत्नसाध्यं भवति। यथा पुत्रकामेष्टिना पुत्रं वाणिज्यादिना वित्तं ज्योतिष्टोमेन स्वर्गं तथा पुरुषप्रयत्नसाध्यवेदान्तश्रवणादिजनितसमाधिना जीवन्मुक्त्यादिलाभो भवति। सर्ववासनाक्षयात्तल्लाभः।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'हनूमान्! जीवको 'मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं सुखी हूँ—'इत्यादि जो ज्ञान होता है, वह चित्तका धर्म है। यही ज्ञान क्लेशरूप होनेके कारण उसके लिये बन्धनका कारण हो जाता है। इस प्रकारके ज्ञानका निरोध ही जीवन्मुक्ति है। घटरूप उपाधिसे मुक्त घटाकाशकी भाँति प्रारब्धरूप उपाधिके नष्ट होनेपर यह जीव विदेहमुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिके होनेमें अष्टोत्तरशत उपनिषद् ही प्रमाण हैं। कर्तापन और भोक्तापन आदि दु:खोंकी निवृत्तिके द्वारा नित्यानन्दकी प्राप्ति ही इनका प्रयोजन है। वह आनन्द-प्राप्ति पुरुषके प्रयत्नसे—पुरुषार्थसे सिद्ध होती है। जैसे पुत्रेष्टियज्ञके द्वारा पुत्रकी, वाणिज्य-व्यापारके द्वारा धनकी एवं ज्योतिष्टोम यज्ञके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषके प्रयत्नसे होनेवाले वेदान्तके श्रवण-मनन और निदिध्यासनसे उत्पन्न हुई समाधिसे जीवन्मुक्ति आदिकी सिद्धि होती है और वह सारी वासनाओंके नाश होनेपर प्राप्त होती है।

दो प्रकारका पुरुषार्थ—शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रानुकूल

अत्र श्लोका भवन्ति।

तच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम्॥
लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते॥
द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च तौ।
वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदनुनीयसे॥
तत्क्रमेणाशु तेनैव मामकं पदमाप्नुहि।
अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति संक[ट]
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता क[पे]
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरि[त्]
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे प[थि]
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्
अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतर[म्]
पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम्
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम्
तदाभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन
संदिग्धायामपि भृशं शुभमेव समाचर
शुभायां वासनावृद्धौ न दोषाय मरुत्सुत

'पुरुषका प्रयत्न या पुरुषार्थ दो प्रकारका होता [है—] शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रानुकूल। उनमें शास्त्रविरुद्ध पु[रुषार्थ] अनर्थका कारण होता है और शास्त्रानुकूल पुरुषार्थ प[रमार्थ]को सिद्ध करनेवाला होता है। लोक-वासना, शास्त्र-[वासना] तथा देह-वासनाके कारण प्राणीको यथार्थ ज्ञ[ानकी] प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् ये तीन प्रकारकी वा[सनाएँ] ही ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधक हैं। वासनाएँ पुन: दो प्र[कार]की होती हैं—शुभ और अशुभ। शुभ वासन[ाओंके] द्वारा—हनूमान्! यदि तुम ज्ञानका अनुशीलन [करते] हो तो क्रमशः उसके द्वारा मेरे पदको प्राप्त करोगे[।] यदि अशुभ भावोंसे युक्त रहते हो तो वे तुम्हें स[ंकटमें] डाल देंगे। कपीश्वर! पूर्वके संस्कारोंको तुम्हें यत्न[से] जीतना चाहिये। शुभाशुभ मार्गोंसे बहती हुई वा[सना]रूपी नदीको अपने पुरुषार्थके द्वारा शुभ मार्गमें ल[गाना] चाहिये। अशुभ मार्गोंमें जाते हुए वासनाप्रवाहको [शुभ] मार्गोंमें उतारना चाहिये; क्योंकि मनका यह स्वभा[व है] कि अशुभसे हटानेपर वह शुभकी ओर आता है [और] शुभसे हटाये जानेपर अशुभमें प्रवृत्त होता है। म[नुष्य]को चाहिये कि पुरुषार्थके द्वारा यत्नपूर्वक चित्त[रूपी] बालकको फुसलाकर—थपथपाकर शुभमें ही लग[ाये।] अभ्यासके द्वारा जब तुम्हारी दोनों प्रकारकी वास[नाएँ]

ही क्षीण होने लगें, तब शत्रुओंका मर्दन करने- हनूमान्! तुम जान लेना कि अभ्यास परिपक्वता- प्राप्त हो गया। पवनकुमार! जहाँ वासनाके तत्वका संदेह भी हो, वहाँ शुभ वासनाओंमें ही रंबार चित्तको लगाये। शुभ वासनाओंकी वृद्धि होने- र कभी दोष नहीं उत्पन्न हो सकता।

वासनाक्षय, विज्ञान और मनोनाश

वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मताः॥
त्रय एवं समं यावन्नाभ्यस्ताश्च पुनः पुनः।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः॥
एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम्।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीर्तिता इव॥
त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥
तस्मात्सौम्य प्रयत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेव समाश्रय॥

'महामति हनूमान्! वासनाक्षय, विज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ चिरकालतक अभ्यास करनेपर ये फल प्रदान करते हैं। जबतक इन तीनोंका बारंबार एक साथ अभ्यास न किया जाय, तबतक सैकड़ों वर्ष बीतनेपर भी कैवल्य-पदकी प्राप्ति नहीं होती। यदि अलग-अलग इनका चिरकालतक भी खूब अभ्यास किया जाय तो, जिस प्रकार टुकड़े-टुकड़े करके जपे हुए मन्त्र सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार इनसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। यदि इन तीनोंका चिरकाल- तक अभ्यास किया जाय तो हृदयकी दृढ़ ग्रन्थियाँ भी निःसंदेह उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कमलकी नालको तोड़नेपर उसके रेशे टूट जाते हैं। जिस झूठी संसार-वासनाका सैकड़ों जन्मोंसे अभ्यास हो रहा है, वह चिरकालतक साधना किये बिना कदापि क्षीण नहीं होती। इसलिये प्यारे हनूमान्! पुरुषार्थके द्वारा प्रयत्न करते हुए विवेकपूर्वक भोगकी इच्छाओंको दूरसे ही नमस्कार करके इन तीनोंका सम्यक्‌रूपसे अवलम्बन करो।

वासनायुक्त बद्ध और वासनारहित मुक्त

तस्माद् वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग् वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते।
मनोनिर्वासनीभावमाचराशु महाकपे॥
सम्यगालोचनात् सत्याद् वासना प्रविलीयते।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत्॥
वासनां सम्परित्यज्य मयि चिन्मात्रविग्रहे।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः सोऽहं सच्चित्सुखात्मकः॥
समाधिमथ कार्याणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनात्तसर्वेहो मुक्त एवोत्तमाशयः॥

'वासनासे युक्त मनको ज्ञानियोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सम्यक्तया मुक्त हो गया है, वह मुक्त कहलाता है। महाकपि! मनको वासनाविहीन स्थितिमें शीघ्र ले आओ। भलीभाँति विचार करनेसे और सत्यके अभ्याससे वासनाओंका नाश हो जाता है। वासनाओंके नाशसे चित्त उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है। वासनाओंका भलीभाँति त्याग करके मुझ चैतन्यस्वरूपमें जो निवात दीपशिखाके समान निश्चल होकर स्थित रहता है, वह मुझ सच्चिदानन्दस्वरूपको एकीभावसे प्राप्त होता है। समाधि अथवा कर्मानुष्ठान वह करे या न करे, जिसके हृदयमें वासनाका सर्वथा अभाव हो गया है, वही मुक्त है, वही उत्तमाशय है

वासनाका स्वरूप

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ।
न समाधानजाप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥
वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः ।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासनामात्रकारणम् ॥
अयत्नोपनतेष्वक्षि दृग्द्रव्येषु यथा पुनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः ॥

'जिसके मनसे वासनाएँ दूर हो गयी हैं, उसे न नैष्कर्म्यसे—कर्मोंके त्यागसे मतलब है और न कर्मानुष्ठानसे । उसे समाधान अर्थात् षट्सम्पत्ति और जपकी भी आवश्यकता नहीं है । सारी वासनाओंका त्याग करके मनका मौन धारण करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा परम पद नहीं है । किसी प्रकारकी प्रत्यक्ष सना न होनेपर भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो स्वतः पने-अपने बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, इसमें कोई-न-कोई सूक्ष्म वासना ही कारण है । अनायास सामने आये हुए दृश्य विषयोंमें जैसे चक्षु-इन्द्रियकी बारंबार प्रवृत्ति रागरहित ही होती है, उसी प्रकार धीर पुरुष कार्योंमें अनासक्तभावसे ही प्रवृत्त होते हैं ।

भावसंवित्प्रकटितामनुरूपा च मारुते ।
चित्तस्योत्पत्त्युपरमां वासनां मुनयो विदुः ॥
दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम् ।
चित्तं संजायते जन्मजरामरणकारणम् ॥
वासनावशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना ।
क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥

'पवनतनय ! जो सत्ताबुद्धिसे प्रकट होती है और उसीके अनुकूल होती है तथा जिसमें चित्तका उदय और लय भी होता है, मुनिलोग उसी वृत्तिको वासनाके नामसे पुकारते हैं । चिर-परिचित पदार्थोंके अनन्य चिन्तनके द्वारा जो चित्तमें अत्यन्त चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है, वही चित्त-चाञ्चल्य जन्म, जरा और मृत्युका एकमात्र कारण होता है । वासनाके कारण प्राणोंमें स्पन्दन होता है और उस स्पन्दनसे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकार चित्तरूपी बीजमें अङ्कुर लगते रहते हैं ।

पहले अशुभ वासनाका त्याग करके फिर शुभका भी त्याग कर दे

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥
असङ्गव्यवहारत्वाद् भवभावनवर्जनात् ।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ।
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम् ॥
अवासनत्वात् सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥
अव्युत्पन्नमना यावद् भवानज्ञाततत्पदः ।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना ।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना

'चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—प्राण-स्पन्दन (प्राणोंकी गति) और वासना । इन दोनोंमेंसे एकके भी क्षीण होनेसे दोनों नष्ट हो जाते हैं । अनासक्त होकर व्यवहार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़ देनेसे और शरीरकी विनश्वरताका दर्शन करते रहनेसे वासना उत्पन्न ही नहीं होती और वासनाका भलीभाँति त्याग हो जानेपर चित्त अचित्तताको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी वासनात्मिका प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है । वासनाके नष्ट हो जानेपर जब मन मनन करना छोड़ देता है, तब मनके निराकृत होनेपर परम शान्तिप्रद विवेककी उत्पत्ति होती है । जबतक तुम्हारे अंदर ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं

स्वर्णमृगके लिये सीताका अनुरोध
[पृष्ठ ७४
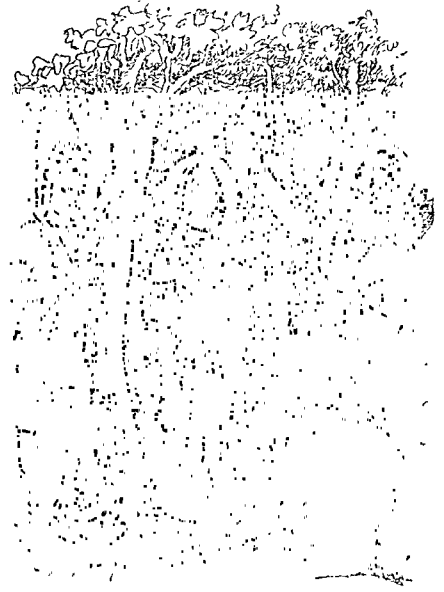
सीताकी रक्षाके लिये लक्ष्मणको आदेश
[पृष्ठ ७६

सीताहरणके बाद रामका विषाद
[पृष्ठ ७८

पशु-पक्षियोंसे सीताका पता पूछना
[पृष्ठ ८०-८१

सीताकी खोजमें

[पृष्ठ ८४

सुग्रीव-मैत्री

[पृष्ठ १३३

सुग्रीवको हृदयसे लगा रहे हैं

[पृष्ठ १२९

सुग्रीवसे वार्तालाप

[पृष्ठ १३३

जाती, जबतक तुम्हें परमपद अज्ञात है, तबतक तथा शास्त्र-प्रमाणके द्वारा निर्णीत मार्गका आचरण । तदनन्तर कषायोंका परिपाक होनेपर जब क्षयपूर्वक तुम्हें तत्त्वका ज्ञान हो जाय, तब तुम्हें श्चिन्त होकर समस्त शुभ वासनाओंका भी त्याग कर ना चाहिये ।

चित्तनाशके दो प्रकार—'सरूप' और 'अरूप'

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥
अस्य नाशमिदानीं त्वं पावने शृणु सादरम् ॥
चित्तनाशाभिधानं हि यदा ते विद्यते पुनः ।
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं शान्तिमेति न संशयः ।
भूयो जन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ॥
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।
अरूपस्तु मनोनाशो वैदेही मुक्तिगो भवेत् ॥
सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः ॥
अस्य संसारवृक्षस्य मनोमूलमिदं स्थितम् ।
संकल्प एव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत् ॥
शोषयाशु यथा शोषमेति संसारपादपः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहे ॥
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनो ज्ञस्य हि शृङ्खला ॥
तावन्निशीव वेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥
हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥
उपविश्योपविश्यैकां चिन्तकेन मुहुर्मुहुः ।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥

'चित्तनाश दो प्रकारका होता है—सरूप और अरूप । जीवन्मुक्तका चित्तनाश सरूप होता है और विदेहमुक्तका अरूप होता है । अर्थात् जीवन्मुक्तका चित्त स्वरूपसे रहता तो है, पर वह अचित्त हुआ रहता है; विदेहमुक्त होनेपर उसका स्वरूपतः नाश हो जाता है । पवनसुत ! अब एकाग्रचित्तसे मनोनाशके विषयमें सुनो । जब तुम्हारा मन चित्तनाशकी स्थिति को प्राप्त हो जायगा अर्थात् उसकी अनुसंधानात्मिक वृत्ति शान्त हो जायगी, तब मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा प्रभृति गुणोंसे युक्त होकर वह परमशान्ति प्राप्त कर लेगा—इसमें कोई संशय नहीं है । जीवन्मुक्त का मन आवागमनसे मुक्त हो जाता है, अतः उसका वह मनोनाश सरूप कहलाता है । विदेह-मुक्ति मि जानेपर जो मनोनाश होता है, वह अरूप कहला है । अतएव सहस्रों अङ्कुर, त्वचा, पत्ते, शाखा फल-फूलसे युक्त इस संसार-वृक्षका यह मन ही है—यह निश्चित हुआ और वह मन संकल्प है । संकल्पको निवृत्त करके उस मनस्तत्त्वको सु डालो, जिससे यह संसार-वृक्ष भी नीरस होकर जाय । अपने मनके निग्रहका एक ही उपाय है, है यह निश्चय करना कि मनका अभ्युदय—उ स्फीत होना ही उसका विनाश—पतन है और उ नाशमें ही उसका महान् अभ्युदय—उसकी उन है । ज्ञानसे मनोनाश होता है । अज्ञानीका मन उ लिये शृङ्खलारूप—बन्धनका कारण होता है । र वेतालोंकी भाँति हृदयमें वासनाओंका वेग तभीतक है, जबतक एक तत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनपर नहीं कर ली जाती । जिनका चित्त और अ क्षीण हो गये हैं और इन्द्रियरूपी शत्रु वशमें हैं, उनकी भोगवासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जा जैसे हेमन्त ऋतुके आनेपर कमलिनी—कमलका स्वयमेव नष्ट हो जाता है । हाथसे हाथको म दाँतसे दाँत पीसकर तथा अङ्गोंको अङ्गोंसे दबाव

अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाकर पहले अपने मनको जीतना चाहिये। बारंबार एकाग्रचित्त होकर तथा सद्युक्तिके द्वारा आत्मचिन्तन करनेके अतिरिक्त मनको जीतनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

चित्त वशमें करनेके चार साधन—अध्यात्मविद्या, साधुसङ्ग, वासनात्याग और प्राणनिरोध

अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च॥
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥
सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतसो दीपमुत्सृज्य विचिन्वन्ति तमोऽञ्जनैः॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं बिसतन्तुभिः॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना॥
सा हि सर्वगता संवित् प्राणस्पन्देन चाल्यते।
चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते॥
तत्साधनमथो ध्यानं यथावदुपदिश्यते।

'जिस प्रकार मदमत्त हाथी अङ्कुशके बिना वशमें नहीं आता, उसी प्रकार चित्तको वशमें करनेके लिये अध्यात्मविद्याका ज्ञान, सत्सङ्गति, वासनाओंका भलीभाँति परित्याग तथा प्राणवायुका निरोध अर्थात् प्राणायाम—ये प्रबल उपाय हैं। इन श्रेष्ठ युक्तियोंके रहते हुए जो हठपूर्वक चित्तको निरुद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, वे दीपकको छोड़कर अन्धकारकी खोज करते हैं। जो मूढ़ पुरुष हठसे चित्तको वशमें करनेका उद्योग करते हैं, वे उन्मत्त हाथीको कमल-नालके तन्तुओंसे बाँधनेकी चेष्टा करते हैं। वृत्तिरूप लताओंके आश्रयभूत चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—एक है प्राणोंका स्पन्दन (गति), दूसरी दृढभावना। प्राण-वायुके संचालनसे घट-घट-व्यापक संवित्-समष्टि-चेतना चलायमान हो उठती है। चित्तकी एकाग्रतासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उससे मुक्तिलाभ होता है। अतएव चित्तकी एकाग्रताके साधनोंमें ध्यानकी यथोचित विधि बतलायी जाती है।

चिदानन्दस्वरूपका चिन्तन

विनाप्यविकृतिं कृत्स्नां सम्भवव्यत्ययक्रमात्।
यशोऽरिष्टं च चिन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तय॥
अपानेऽस्तंगते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते॥
बहिरस्तंगते प्राणे यावन्नापान उद्गतः।
तावत् पूर्णां समावस्थां बहिष्ठं कुम्भकं विदुः॥

'चित्त सर्वथा विकारहीन न हो, तो भी यशके आविर्भाव और अरिष्टके तिरोभावके क्रमसे केवल चैतन्य—चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करो। जिस क्षण चित्त चिदानन्दमें आरूढ होता है, वह यशकी स्थिति है और जिस क्षण उससे अलग होता है, वह अरिष्टकी स्थिति है। चित्तकी चञ्चलताके कारण यह स्वाभाविक स्थिति होती है, अतएव अरिष्टकी स्थितिसे पुनः-पुनः यशकी स्थितिमें चित्तको स्थापित कर परब्रह्मके चिन्तनमें लगो। अपानवायुके भीतर रोक दिये जानेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका उदय नहीं होता, तबतक वह कुम्भकावस्था रहती है, जिसका योगी लोग अनुभव करते हैं और प्राण-वायुके बाहर रोक दिये जानेपर जबतक अपान-वायुका उदय नहीं होता, तबतक जो पूर्ण समावस्था रहती है, उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं।

सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि

ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहंकृतिं विना।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददायकम्।
असम्प्रज्ञातनामायं समाधिर्योगिनां प्रियः॥

भाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम् ।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनिभावितः ॥
ऊर्ध्वपूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मकम् ।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः ॥

'चिरकालतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेपर जब ङ्कार विलुप्त हो जाता है और मनोवृत्ति ब्रह्माकारमें ाहित होने लगती है, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि हते हैं। जब चित्तकी सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती उस समय परमानन्द प्रदान करनेवाली असम्प्रज्ञात मकी समाधि होती है, जो योगियोंको प्रिय । इस समाधिकी अवस्थामें कुछ भी भान नहीं ता। हो कैसे, उस स्थितिमें मन और बुद्धिका स्तित्वतक नहीं रहता, केवल चित्स्वरूपकी अवस्थिति ती है। इस समाधिमें चित्त निरालम्ब होकर कैवल्य-थतिमें रहता है, मुनिलोग इस समाधिकी भावना रते हैं। इस समाधिमें ऊपर, नीचे और बीचमें—सर्वत्र ावस्वरूप पूर्ण ब्रह्म ही अनुभूत होते हैं। यह समाधि रमार्थ अर्थात् मोक्षस्वरूप है तथा साक्षात् ब्रह्माके ुखसे उपदिष्ट हुई है।

शुद्ध और मलिन वासना

दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥
भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः ।
भवत्याशु कपिश्रेष्ठ विगतेतरवासनः ॥
तादृग् रूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।
सम्पश्यति यदैवैतत्सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥
वासनावेगवैचित्र्यात् स्वरूपं न जहाति तत् ।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव ॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥
अज्ञानसुघनाकारा घनाहंकारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥

'दृढ़ भावनाके द्वारा पूर्वापरका विचार छोड़कर चित्त जो पदार्थके स्वरूपको ग्रहण करता है, उस चित्तविकारको वासना कहते हैं। कपिश्रेष्ठ! आत्मा चित्तके तीव्र संवेगसे जैसी भावना करता है, इतर वासनाओंसे मुक्त होकर वह शीघ्र वैसा ही बन जाता है। इस प्रकारका पुरुष वासनाके वशीभूत होकर जो कुछ देखता है, उसीको सद्वस्तु—यथार्थ मानकर मोहको प्राप्त होता है। वासनाके वेगकी विभिन्नताके कारण चित्त अपने वासनात्मक स्वरूपको नहीं छोड़ता। एक वासनाके छोड़ते-छोड़ते दूसरी वासनामें रमने लगता है। जिस प्रकार नशेके कारण पुरुषकी विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वह दुर्बुद्धि भ्रान्त होकर सब कुछ देखता है। वासना दो प्रकारकी होती है—शुद्ध और मलिन। मलिन वासना आवागमनमें डालती है और शुद्ध वासना मनुष्यको जन्म-मृत्युसे छुड़ाती है। ज्ञानीजन कहते हैं कि मलिन वासना निविड़ अहङ्कार और घन अज्ञानस्वरूप होती है, वह पुनर्जन्म प्रदान करती है।

वासना नष्ट होनेपर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है

पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थितिः सम्भ्रष्टबीजवत्॥
बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम् ।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन मारुते ज्योतिरान्तरम् ॥
दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
य आस्ते कपिशार्दूल ब्रह्म स ब्रह्मवित्स्वयम् ॥
अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥
स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
विरागकारणं तस्य किमन्यदुपदिश्यते ॥

'जिस प्रकार बीजके अच्छी प्रकार भुन जानेपर उससे अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार संसार-वासनाके नष्ट हो जानेपर पुनर्जन्म नहीं होता। अतएव दग्ध-बीजके समान स्थिति होनी चाहिये। वायुनन्दन! चबाये हुएको चबानेके समान नाना शास्त्रोंकी व्यर्थ आलोचनासे क्या लाभ; प्रयत्न होना चाहिये भीतरी प्रकाशको खोजनेके लिये। कपिशार्दूल! दर्शन और अदर्शन अर्थात् सत्-ख्याति और असत्-ख्याति—दोनोंको छोड़कर जो स्वयं कैवल्यस्वरूपमें स्थित रहता है, वह ब्रह्मविद् नहीं, स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है। चारों वेदोंका और अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करके भी जो ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता, वह परमानन्दसे उसी प्रकार वञ्चित रहता है, जैसे करछुल भोजनके पदार्थोंमें रहती हुई भी उनके रसको नहीं जानती। जिसका अपने शरीरकी अपवित्र गन्धको प्रत्यक्ष करके भी उससे विराग नहीं होता, उसको विराग पैदा करनेवाला दूसरा कौन-सा उपदेश दिया जा सकता है।

वासनासे बँधा हुआ बद्ध है, वासनाका क्षय ही मोक्ष है

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥
बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः।
वासनां सम्परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज॥
मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः।
मैत्र्यादिवासनानाम्नी गृहाणामलवासनाः॥
ता अप्यतः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि।
अन्तःशान्तः समस्नेहो भव चिन्मात्रवासनः॥
तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम्।
शेषस्थिरसमाधानो मयि त्वं भज मारुते॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनामगोत्रं मम रूपमीदृशं
भजस्व नित्यं पवनात्मजार्तिहन्॥

'शरीर अत्यन्त मलयुक्त है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है, दोनोंके भेदको जानकर किसकी शुचिताका उपदेश किया जाय। जो वासनासे बँधा है, वही बद्ध है और वासनाओंका नाश ही मोक्ष है। अतएव वासनाओंका सम्यक्‌रूपसे परित्याग करके मोक्ष-प्राप्तिकी वासनाका भी त्याग करो। पहले मानसी वासनाओंका त्याग करके विषय-वासनाओंका भी त्याग करो और मोक्षादिकी शुद्ध—निर्दोष वासनाओंको ग्रहण करो। इसके बाद उनको भी छोड़कर अथवा उन भव्य वासनाओंको व्यवहारमें रखते हुए भी भीतरसे शान्त अर्थात् सब प्रकारकी वासनाओंसे मुक्त रहकर सबके प्रति समान स्नेह रखते हुए एकमात्र चित्स्वरूपमें अपनी वासना लगाओ। मारुति! फिर उस चिद्वासनाको भी मन और बुद्धिके साथ परित्याग करके अन्ततोगत्वा तुम मुझमें पूर्णतया समाहित हो जाओ। जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है, जो कभी विकारको नहीं प्राप्त होता, जिसका न कोई नाम है और न कोई गोत्र है तथा जो सब प्रकारके दुःखोंको हरनेवाला है। पवनतनय! इस प्रकारके मेरे स्वरूपका तुम भजन करो।

जीवन्मुक्ति और निर्वाणमुक्ति

दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं
सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम्।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं
तदेव चाहं सकलं विमुक्तम्॥
दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको
न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः
सुपूर्णभूमाहमितीह भावय॥

अजोऽमरश्चैव तथाजरोऽमृतः
स्वयंप्रभः सर्वगतोऽहमव्ययः ।
न कारणं कार्यमतीत्य निर्मलः
सदैव तृप्तोऽहमितीह भावय ॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥

'हनुमन् ! जो साक्षिस्वरूप हैं, आकाशके समान नन्त हैं, जिसे एक बार जान लेनेपर कुछ भी नना शेष नहीं रहता; जो अजन्मा, एक, अद्वितीय, र्लेप, सर्वव्यापी एवं सर्वश्रेष्ठ है; जो अकार-उकार-कारस्वरूप तीन कलाओंसे युक्त तथा सम्पूर्ण कलाओंसे मुक्त अद्वय-तत्त्व है, वह ओङ्काररूप अक्षर-अविनाशी म मैं ही हूँ । मैं द्रष्टा हूँ, शुद्धस्वरूप हूँ, कभी कारको प्राप्त नहीं होता और मेरे अतिरिक्त कोई सरा पदार्थ नहीं है, जो मेरा विषय बने । अर्थात् रा द्रष्टापन भी कहनेके लिये ही है । मैं आगे-पीछे, पर-नीचे सर्वत्र परिपूर्ण हूँ । मैं भूमा हूँ, मुझमें किसी कारकी कमी नहीं है । हनुमन् ! तुम मेरे इस स्वरूपका चिन्तन करो । मैं अज हूँ, अमर हूँ, अजर , स्वयंप्रकाश हूँ, सर्वव्यापी हूँ, अव्यय–अविनाशी हूँ, रा कोई कारण नहीं, मैं स्वयम्भू हूँ, समस्त कार्य-लापसे परे मैं शुद्धस्वरूप हूँ, नित्यतृप्त हूँ—इस प्रकार म चिन्तन करो । इस प्रकार चिन्तन करते-करते ब कालवश शरीरपात होगा, तब वायुके स्पन्दनके समान तुम जीवन्मुक्त-पदका भी परित्याग करके निर्वाण-मुक्ति—विदेह-मुक्तिकी अवस्थामें पहुँच जाओगे ।

विष्णुका परमपद

तदेतदृचाभ्युक्तम् ।
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते ।
विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत् ।
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।
हरिः ॐ तत्सत् ।

'यही बात ऋचामें भी कही गयी है—जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परमव्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परमधामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं । साधनमें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परमपद कहते हैं । वह परमपद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है । जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है । यह महा-उपनिषद् है ।'

---

(२)

रामरहस्योपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

'हे देवगण ! हम भगवान्‌का यजन (आराधन) करते हुए कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें, नेत्रोंसे कल्याण ही देखें, सुदृढ़ अङ्गों एवं शरीरसे परमात्माका स्तवन करते हुए हमलोग जो आयु इष्टदेव (परमेश्वर) के काम आ सके, उसका उपभोग करें ।'

प्रथम अध्याय

सनकादिकोंकी हनुमान्‌जीसे तत्त्वविषयक जिज्ञासा,

अविद्या, काल और प्रकृति हैं। क्रियाकी समाप्तिमें दीक्षितोंको फल प्रदान करनेवाले आप ही हैं। आप विश्वके कर्ता, भोक्ता, संहारक और विश्वरूप हैं। आप हवि, विश्वद्रष्टा, शुद्ध, नित्यतृप्त और महान् उत्कर्षसम्पन्न हैं। आपका वर्ण सुवर्णका-सा चमकदार है। आप सर्वोत्तम सामर्थ्यशाली हैं। सूर्य आपके स्वरूप हैं। आप विश्वाधिक तथा महर्षि हैं। विश्वेदेव भी आप ही हैं। आप ओंकार, कालनाशक, कर्ता, हर्ता, विराट्, शिव, ऋक्, यजुष्, साम, ऋत, सत्य, महान्, तप, अक्षर, अचल, ध्रुव, महादेव और चिदाकाश-रूप शरीरवाले हैं। इन महान् यशोंद्वारा हम आप परमात्माका ही यजन करते हैं। ब्रह्मा आदि भी जिनका अन्त न पाकर शान्त हो जाते हैं तब भला दूसरा कौन आपको स्तोत्रोंद्वारा संतुष्ट कर सकता है। उरुगाय! आपको नमस्कार है' ॥ ६४—९२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करके इन्द्रने उनपर कल्पद्रुमके पुष्पोंकी वर्षा की और कहा—'श्रीराम! शरणागत भक्तोंके दुष्कर्मका विनाश करनेके लिये आपका नाम-रूप दुष्टाटवीके दावानलके समान है।' तत्पश्चात् इन्द्रने वाद्यसमूहोंको मँगवाकर प्रत्येक दिशामें लोकपालोंसहित देवाङ्गनाओंका नाच कराया और स्वयं 'अखिल लोक-समुदायके आदिस्वामी श्रीरामकी जय हो' यों पद-पदपर गाते हुए विराम लिया। भक्ति-सम्पन्न उन इन्द्रद्वारा यों स्तवन किये जानेपर श्रीरामने समस्त देवोंकी ओर दृष्टिपात करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए कहा— ॥ ९३—९५ ॥

श्रीराम उवाच

भो भोस्तत्त्वाधिपतयो मुनयश्च तपोधनाः।
सिद्धाः साध्याश्च पितरो ये चान्ये गोलवर्त्तिनः ॥
मयैतद्विदितं सर्वं यदर्थं यूयमागताः।
तत्तथैव विधास्यामि भयं वो व्यपगच्छतु ॥
भवद्भिर्यदिदं दृष्टं वैश्वात्म्यं मम शाश्वतम्।
एकांशमात्रमेतद्धि ब्रह्माण्डानेकमण्डितम् ॥
अत ऊर्ध्वमसंसक्तस्तत्त्वातीतो निरन्तरः।
नित्यशुद्धो निरातङ्को मानातीतो निरञ्जनः ॥
निरंशो यः पराकाशो भावाभावविलक्षणः।
निस्तरङ्गसदानन्दसुधाब्धिरतिनिर्मलः ॥
निरालम्बो निराकारो विभुरेकः परः स्वराट्।
सोऽहं भवद्भिरखिलैर्द्रष्टुं शक्यो न जातुचित् ॥
भक्त्यैव दृढया सम्यक् नित्यसभ्यासिनः सुराः।
ममैतत्परमं रूपं यूयं द्रक्ष्यथ* चापरे ॥

(अध्याय ३, श्लोक ९६ से १०२)

श्रीराम बोले—भो भो तत्त्वाधीश्वर तपोधन मु[illegible] गण, सिद्ध और साध्योंके समुदाय, पितर तथा ब्रह्माण्ड गोलकवासी अन्य जीवो! जिस लिये तुमलोग य[illegible] आये हो, वह सारा वृत्तान्त मुझे विदित है। मैं तदनुकू[illegible] ही विधान करूँगा; अतः अब तुमलोगोंका भय [illegible] हो जाना चाहिये। इस समय तुमलोगोंने मेरे जि[illegible] सनातन विश्वरूपका दर्शन किया है, यह अने[illegible] ब्रह्माण्डोंसे सुशोभित मेरा एक अंशमात्र है। इस[illegible] ऊपर जो आसक्तिरहित, तत्त्वातीत, अभेदस्वरूप नित्यशुद्ध, निर्भय, अप्रमेय, मायाहीन, अंशवर्जित चिदाकाशस्वरूप, भाव-अभावसे विलक्षण, तरङ्गरहि[illegible] सदानन्दामृत-सागर, अत्यन्त निर्मल, आलम्बनहीन निराकार, व्यापक, अद्वितीय, परात्पर स्वराट् है, वह मैं ही हूँ। तुम सब लोग कभी भी मेरा दर्शन नहीं कर सकते। देवताओ! जो नित्य भलीभाँति अभ्यास करनेवाले हैं, ऐसे तुमलोग तथा अन्य मानव-गण भी अटल भक्तिद्वारा ही मेरे इस परम रूपको देख सकेंगे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार यह उपनिषद्-सम्बन्धी तत्त्व स्तोत्रके माध्यमसे प्रकाशित हुआ है। इसका बारंबार स्मरण करके वे सब क्षणमात्रके लिये तन्मयताको प्राप्त हो गये। जिन्हें ज्ञेयका ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा जो परमहंस-विग्रहधारी हैं, ऐसे वे पवित्र सिद्ध मानस-तीर्थमें इस ब्रह्मविद्यारूपिणी स्तुतिका जप करते हैं। इस स्तोत्रके माहात्म्यका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। निस्संदेह यह अभिलषित पदार्थोंको देनेके लिये कामधेनु है। जो स्तुति करने योग्य, सर्वोच्च महनीय, देवोंके अनन्य स्वामी उन महापुरुष रामका ध्यान करके ब्रह्माद्वारा कहे हुए इस

* इदानीं पश्यथ पुनर्द्रक्ष्यथापरे नरा द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः।

वायुपुत्रके ऐसा कहनेपर उन श्रोताओंने पुनः हनुमान्‌जीसे पूछा—'महाबली अञ्जनानन्दन ! गृहस्थ ब्राह्मणोंको प्रणवका अधिकार कैसे प्राप्त होता है ?'

स होवाच श्रीराम एवोवाचेति

येषामेव षडक्षराधिकारो वर्तते तेषां प्रणवाधिकारः स्यान्नान्येषाम् । केवलमकारोकारमकारार्धमात्रासहितं प्रणवमूह्य यो राममन्त्रं जपति तस्य शुभकरोऽहं स्याम् । तस्य प्रणवस्याकारस्योकारस्य मकारस्यार्धमात्रायाश्च ऋषिश्छन्दो देवता तत्तद्वर्णावस्थानं स्वरवेदाग्निगुणानुच्चार्यान्वहं प्रणवमात्राद्विगुणं जप्त्वा पश्चाद्राममन्त्रं यो जपेत् स रामो भवतीति रामेणोक्तास्तस्माद्रामाङ्गं प्रणवः कथित इति ।

वे बोले—इस विषयमें श्रीरामका ही कथन इस प्रकार है, 'जिनका षडक्षर मन्त्रमें अधिकार है, उन्हींका प्रणवमें अधिकार है, दूसरोंका नहीं । जो केवल अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रासहित प्रणवकी ऊहा करके श्रीराममन्त्रका जप करता है उसके लिये मैं शुभकारक होऊँगा। जो प्रणवस्थ अकार, उकार, मकार और अर्धमात्राके ऋषि, छन्द, देवता और उन-उन वर्णों एवं अवर्णोंके अवस्थान, स्वर, वेद, अग्नि एवं गुणोंका उच्चारण करके प्रतिदिन प्रणवमात्रासे दूना जप करनेके पश्चात् राममन्त्रका जप करता है, वह श्रीरामस्वरूप हो जाता है ।' -इस प्रकार रामने कहा है; इसलिये प्रणवको राम-मन्त्रका अङ्ग बताया गया है ।*

इति प्रथमोऽध्यायः

द्वितीय अध्याय

विभिन्न मन्त्रोंके स्वरूप, विनियोग और ध्यानका विवेचन

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः आञ्जनेय महाबल तारकब्रह्मणो रामचन्द्रस्य मन्त्रग्रामं नो ब्रूहीति ।

---

* यहाँ मूलग्रन्थमें विभीषण-राम-संवादका उल्लेख है जो आदि और अन्तके प्रसङ्गमे भिन्न-सा जान पड़ता है। अतः उक्त प्रसङ्ग मूल तथा अनुवादसहित यहाँ टिप्पणीमें दिया जाता है ।

एक 'रामोपनिषद्' पृथक् है । उसमें विभीषणसम्बन्धी कुछ प्रसङ्ग मिलता है । उक्त 'रामोपनिषद्' भी इसी अंकमें छप रहा है ।

विभीषण उवाच

सिंहासने समासीनं रामं पौलस्त्यसूदनम् ।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥
रघुनाथ महाबाहो केवलं कथितं त्वया ।
अङ्गानां सुलभं चैव कथनीयं च सौलभम् ॥

विभीषण बोले—पुलस्त्यपौत्र रावणका नाश करनेवाले भगवान् राम जब अयोध्याके राजसिंहासनपर आसीन हुए, उस समय भूमिपर दण्डकी भाँति गिरकर—साष्टाङ्ग प्रणाम करके पुलस्त्यकुलनन्दन विभीषणने उनसे इस प्रकार कहा—

'महाबाहु रघुनाथजी ! आपने केवल अङ्गोंका सुलभ (परिचय) बताया; अब उनका सौलभ (फल) बताना चाहिये ।'

श्रीराम उवाच

अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहननः कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटिनामानि जपति स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते । स्वयमेव सच्चिदानन्दस्वरूपो भवेन्न किम् ।

श्रीरामने कहा—पितृवध, मातृवध, ब्राह्मणवध, गुरुवध तथा कोटि यतियोंका वध—ये पाँच प्रकारके पाप पाँच दण्डक कहे गये हैं । इन पापोंसे जो युक्त है तथा जिसने और भी अनेकानेक पाप किये हैं, ऐसा भी जो मनुष्य मेरे छियानबे करोड़ नामोंका जप कर लेता है; वह उन सब पापोंसे मुक्त हो जाता है । क्या वह सच्चिदानन्दस्वरूप नहीं हो जाता ? अवश्य हो जाता है ।

पुनरुवाच विभीषणः । तत्राप्यशक्तोऽयं किं करोति ।

पुनः विभीषणने पूछा—भगवन् ! यदि उतने नामोंके जपमें भी असमर्थ हो तो वह मनुष्य क्या करे ?

है। उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति श्याम है तथा मुनिजन उन्हें घेरकर बैठे हैं। अथवा भगवान् पुष्पक-विमानके ऊपर बैठे हैं; लक्ष्मणजीने उनके सिरपर छत्र लगा रक्खा है। दशमुख रावणका संहार करके लौटे हुए वे श्रीराम सुग्रीव तथा विभीषणके साथ उस विमानपर विराजमान हैं।' इस प्रकार ध्यान करके जयार्थी पुरुष इस पञ्चाक्षर मन्त्रका उसकी अक्षर-संख्याके अनुसार पाँच लाख जप करे।

स्वकामशक्तिवाग्लक्ष्मीस्तवाद्याः पञ्चवर्णकाः।
षडक्षरः षड्विधः स्याच्चतुर्वर्गफलप्रदः॥

स्व-बीज (रां), काम-बीज (क्लीं), शक्ति-बीज (ह्रीं), वाग्बीज (ऐं), लक्ष्मी-बीज (श्रीं) तथा स्तव-बीज (ॐ)—ये पञ्चाक्षर मन्त्रके आदिमें लगा दिये जायँ तो छः प्रकारका षडक्षर मन्त्र हो जाता है। यह षडक्षर मन्त्र धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप फल देनेवाला है। ((१) रां रामाय नमः, (२) क्लीं रामाय नमः, (३) ह्रीं रामाय नमः (४) ऐं रामाय नमः (५) श्रीं रामाय नमः (६) ॐ रामाय नमः)।

पञ्चाशन्मातृकामन्त्रवर्णप्रत्येकपूर्वकम्।
लक्ष्मीवाङ्मन्मथादिश्च तारादिः स्यादनेकधा॥
श्रीमायामन्मथैकैकं बीजाद्यन्तर्गतो मनुः।
चतुर्वर्णः स एव स्यात्षड्वर्णो वाञ्छितप्रदः॥

अकारसे लेकर सकारतक पचास मातृका-वर्ण तथा पाँच मन्त्र-वर्ण होते हैं; उनमेंसे प्रत्येकको पञ्चाक्षर मन्त्रके आदिमें लगाया जाय तथा बारी-बारीसे उक्त मन्त्रके आदिमें श्रीं ऐं क्लीं ॐ इन चार बीजोंको जोड़ा जाय तो उसके अनेक भेद हो सकते हैं तथा श्रीबीज (श्रीं), माया-बीज (ह्रीं) तथा काम-बीज (क्लीं) को यदि चतुरक्षर मन्त्रके आदि और अन्तमें भी लगाया जाय तो वही चतुरक्षर मन्त्र षडक्षर हो जायगा, जो मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करनेवाला है।

स्वाहान्तो हुंफडन्तो वा नत्यन्तो वा भवेदयम्।
अष्टाविंशत्युत्तरशतभेदः षड्वर्ण ईरितः॥

वह चतुरक्षर मन्त्र 'स्वाहान्त' भी होता है और हुंफडन्त भी; तथा नमस्कारान्त भी हुआ करता है। इस प्रकार षडक्षर मन्त्रके कुल एक सौ अट्ठाईस भेद कहे गये हैं।

षडक्षर मन्त्रके ऋषि आदि

ब्रह्मा सम्मोहनः शक्तिर्दक्षिणामूर्तिरेव च।
अगस्त्यश्च शिवः प्रोक्ता मुनयोऽनुक्रमादिमे॥

ब्रह्मा, संमोहन, शक्ति, दक्षिणामूर्ति, अगस्त्य तथा शिव—ये क्रमशः इन छहों अक्षरोंके ऋषि हैं।

छन्दो गायत्रसंज्ञं च श्रीरामश्चैव देवता।
अथवा कामबीजादेर्विश्वामित्रो मुनिर्मनोः॥
छन्दो देव्यादिगायत्री रामभद्रोऽस्य देवता।
बीजशक्ती यथापूर्वं षड्वर्णान्विन्यसेत्क्रमात्॥
ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृन्नाभ्यूरुषु पादयोः।
बीजैः षड्दीर्घयुक्तैर्वा मन्त्रार्णैर्वा षडङ्गकम्॥

गायत्री छन्द तथा श्रीराम देवता हैं। अथवा काम-बीज (क्लीं) आदिके विश्वामित्र ऋषि हैं, षडक्षर मन्त्रका देवी आदि गायत्री छन्द है तथा श्रीरामभद्र देवता हैं। बीज (रां), शक्ति[1] (मां) पूर्ववत् हैं। मन्त्रके छः अक्षरोंका क्रमशः ब्रह्मरन्ध्र, भ्रूमध्य, हृदय, नाभि, ऊरुद्वय तथा चरणद्वयमें न्यास करे। सानुस्वार दीर्घस्वरसे युक्त रकार रूप छः बीजोंसे अथवा मन्त्रके छः अक्षरोंके द्वारा षडङ्गन्यासकी क्रिया सम्पन्न करे।

---

१. नारदपुराणमें शक्तिके स्थानमें 'सत्य' नाम आया है।

दीर्घस्वरसे युक्त माया-बीजके साथ प्रणवयुक्त पञ्चाक्षर मन्त्रद्वारा षडङ्ग-न्यास करे। यथा—ह्रां ॐ नमो रामाय हृदयाय नमः। ह्रीं ॐ नमो रामाय शिरसे स्वाहा। ह्रूं ॐ नमो रामाय शिखायै वषट्। ह्रैं ॐ नमो रामाय कवचाय हुम्। ह्रौं ॐ नमो रामाय नेत्रत्रयाय वौषट्। ह्रः ॐ नमो रामाय अस्त्राय फट्।

ध्यान

रामं त्रिनेत्रं सोमार्धधारिणं शूलिनं परम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे॥

जो तीन नेत्र, अर्धचन्द्र तथा शूल धारण करनेवाले हैं। जिनके सर्वाङ्गमें भस्म पुता हुआ है और जो मस्तकपर जटाजूटसे सुशोभित हैं, उन शिवरूप श्रीरामकी हम उपासना करते हैं।

रामाभिरामां सौन्दर्यसीमां सोमावतंसिकाम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां ध्यायेत्त्रिलोचनाम्॥

जो रामकी दृष्टिमें अभिराम (परम सुन्दरी) हैं अथवा रमाओं (रमणियों) में सर्वाधिक सौन्दर्य-शालिनी हैं, सुन्दरताकी चरम सीमा हैं, चन्द्रमा जिनके शिरोभूषण हैं; जो पाश, अङ्कुश, धनुष और बाण धारण करनेवाली हैं तथा जिनके तीन नेत्र शोभा पाते हैं, उन उमास्वरूपा श्रीसीताजीका इस रूपमें चिन्तन करे।

ध्यायन्नेवं वर्णलक्षं जपतर्पणतत्परः।
बिल्वपत्रैः फलैः पुष्पैस्तिलाज्यैः पङ्कजैर्हुनेत्॥

इस प्रकार ध्यान करते हुए वर्णसंख्याके अनुरूप मन्त्रका आठ लाख जप करे। जप तथा तर्पणमें संलग्न रहे। बिल्वपत्र, फल, फूल, तिल, घी तथा कमलकी आहुति दे।

स्वयमायान्ति निधयः सिद्धयश्च सुरेप्सिताः।
पुनरष्टाक्षरस्याथ ब्रह्मगायत्रराघवाः॥

ऐसा करनेसे सब निधियाँ स्वयं अपने पास आती हैं और देववाञ्छित सिद्धियाँ भी सुलभ हो जाती हैं। पुनः अष्टाक्षर मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि, गायत्री छन्द और श्रीरघुनाथजी देवता हैं।

ऋष्यादयस्तु विज्ञेयाः श्रीबीजं मम शक्तिकम्।
तत्प्रीत्यै विनियोगश्च मन्त्रार्णैरङ्गकल्पना॥

इस प्रकार ऋषि आदि जानने चाहिये। 'श्रीं' बीज है और 'नमः' शक्ति है। श्रीरघुनाथजीकी प्रसन्नताके लिये इसका विनियोग है तथा मन्त्रके अक्षरोंसे अङ्गन्यासकी कल्पना करनी चाहिये।

ध्यान

केयूराङ्गदकङ्कणैर्मणिगतैर्विद्योतमानं सदा
रामं पार्वणचन्द्रकोटिसदृशच्छत्रेण वै राजितम्।
हेमस्तम्भसहस्रषोडशयुते मध्ये महामण्डपे
देवेशं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम्॥

जो मणिजटित केयूर, अङ्गद और कङ्कणोंसे सदा उद्भासित होते रहते हैं, पूर्णिमाके कोटि चन्द्रमाओंकी भाँति प्रकाशमान छत्रसे सुशोभित हैं तथा सुवर्णमय सोलह सहस्र खंभोंसे युक्त महान् मण्डपके भीतर भरत आदि बन्धुओंसे घिरे हुए बैठे हैं, उन श्यामवर्ण देवेश्वर श्रीरामका मैं भजन (चिन्तन) करता हूँ।

किं मन्त्रैर्बहुभिर्विनश्वरफलै-
रायाससाध्यैर्वृथा
किंचिल्लोभवितानमात्रविफलैः
संसारदुःखावहैः।
एकः सन्नपि सर्वमन्त्रफलदो
लोभादिदोषोज्झितः
श्रीरामः शरणं ममेति सततं
मन्त्रोऽयमष्टाक्षरः॥

परिश्रमसे साध्य तथा विनश्वर फल देनेवाले बहुतसे मन्त्रोंके व्यर्थ अनुष्ठानसे क्या लाभ ? वे किञ्चित् लोभका विस्तार मात्र करनेके कारण विफल हैं और सांसारिक दुःखकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं। जो एकमात्र होता हुआ भी सम्पूर्ण मन्त्रोंका फल देनेवाला तथा लोभादि दोषोंसे रहित है, वह 'श्रीरामः शरणं मम' यह अष्टाक्षर मन्त्र ही सदा सेवनके योग्य है।

एवमष्टाक्षरः सम्यक् सप्तधा परिकीर्तितः।
रामसप्ताक्षरो मन्त्र आद्यन्ते तारसंयुतः॥
नवार्णो मन्त्रराजः स्याच्छेषं षड्वर्णवन्न्यसेत्।
जानकीवल्लभं ङेऽन्तं वह्नेर्जायाहुतादिकम्॥
दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात्सर्वाभीष्टफलप्रदः।

इस तरह सात प्रकारका अष्टाक्षर मन्त्र बताया गया है। श्रीरामका जो (रामभद्राय नमः या रामचन्द्राय नमः) यह सप्ताक्षर मन्त्र है, उसके आदि और अन्तमें प्रणव लगा दिया जाय तो वह नवाक्षर मन्त्रराज हो जाता है। इसका अङ्गन्यास षडक्षर मन्त्रकी भाँति करना चाहिये। ङे विभक्त्यन्त जानकीवल्लभ शब्द हो और उसके बाद हुम् एवं स्वाहा शब्द हो तो यह 'जानकीवल्लभाय हुं स्वाहा' इस प्रकार दशाक्षर मन्त्र होता है जो सम्पूर्ण अभीष्ट फलोंको देनेवाला है।

दशाक्षर मन्त्रके ऋषि आदि

दशाक्षरस्य मन्त्रस्य वसिष्ठोऽस्य ऋषिर्विराट्॥
छन्दोऽस्य देवता रामः सीतापाणिपरिग्रहः।
आद्यो वीजं द्विठः शक्तिः
कामेनाङ्गक्रिया मता॥

इस दशाक्षर मन्त्रके वसिष्ठ ऋषि, विराट् छन्द तथा सीताका पाणिग्रहण करनेवाले श्रीराम देवता हैं। आदि अक्षर (जां) वीज है और स्वाहा शक्ति है। (दीर्घस्वरयुक्त) काम-बीज (क्लीं) से अङ्गन्यासकी क्रिया बतायी गयी है।

शिरोललाटभ्रूमध्ये तालुकर्णेषु हृद्यपि।
नाभ्यूरुजानुपादेषु दशार्णान्विन्यसेन्मनोः॥

मन्त्रके दस अक्षरोंका क्रमशः सिर, ललाट, भ्रू-मध्य, तालु, कान (या कण्ठ), हृदय, नाभि, ऊरु (जाँघ), जानु (घुटने) और चरणोंमें न्यास करे।

ध्यान

अयोध्यानगरे रत्नचित्रे सौवर्णमण्डपे।
मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणाञ्चिते॥
सिंहासने समासीनं पुष्पकोपरि राघवम्।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैर्दिव्ययानगतैः शुभैः॥
संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम्।
सीतालंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपसेवितम्॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम्।

दिव्य अयोध्या-नगरमें रत्नोंसे चित्रित एक सुवर्णमय मण्डप है, जिसमें मन्दारके फूलोंसे चँदोवा बनाया गया है। उसमें तोरण लगे हुए हैं, उसके भीतर पुष्पक विमानपर एक दिव्य सिंहासनके ऊपर राघवेन्द्र श्रीराम बैठे हुए हैं। उस दिव्य विमानमें एकत्र हो शुभस्वरूप देवता, वानर, राक्षस और विनीत महर्षिगण भगवान्की स्तुति एवं परिचर्या करते हैं। श्रीराघवेन्द्रके वाम भागमें भगवती सीता विराजमान हो उस वामाङ्गकी शोभा बढ़ाती हैं। भगवान्का दाहिना भाग लक्ष्मणजीसे सेवित है। श्रीरघुनाथजीकी कान्ति श्याम है, उनका मुख प्रसन्न है तथा वे समस्त आभूषणोंसे विभूषित हैं।

ध्यायन्नेवं जपेन्मन्त्रं वर्णलक्षमनन्यधीः॥

इस प्रकार ध्यान करते हुए एकाग्रचित्त हो अक्षर-संख्याके अनुसार दस लाख जप करे।

रामं ङेऽन्तं धनुष्पाणयेऽन्तः स्याद्वह्निसुन्दरी।
दशाक्षरोऽयं मन्त्रःस्यान्मुनिर्ब्रह्मा विराट् स्मृतः॥

अविद्या, काल और प्रकृति हैं। क्रियाकी समाप्तिमें दीक्षितोंको फल प्रदान करनेवाले आप ही हैं। आप विश्वके कर्ता, भोक्ता, संहारक और विश्वरूप हैं। आप हवि, विश्वद्रष्टा, शुद्ध, नित्यतृप्त और महान् उत्कर्षसम्पन्न हैं। आपका वर्ण सुवर्णका-सा चमकदार है। आप सर्वोत्तम सामर्थ्यशाली हैं। सूर्य आपके स्वरूप हैं। आप विश्वाधिक तथा महर्षि हैं। विश्वेदेव भी आप ही हैं। आप ओंकार, कालनाशक, कर्ता, हर्ता, विराट्, शिव, ऋक्, यजुष्, साम, ऋत, सत्य, महान्, तप, अक्षर, अचल, ध्रुव, महादेव और चिदाकाश-रूप शरीरवाले हैं। इन महान् यज्ञोंद्वारा हम आप परमात्माका ही यजन करते हैं। ब्रह्मा आदि भी जिनका अन्त न पाकर शान्त हो जाते हैं तब भला दूसरा कौन आपको स्तोत्रोंद्वारा संतुष्ट कर सकता है। उरुगाय! आपको नमस्कार है' ॥ ६४—९२ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—यों अपनी बुद्धिके अनुसार स्तुति करके इन्द्रने उनपर कल्पद्रुमके पुष्पोंकी वर्षा की और कहा—'श्रीराम! शरणागत भक्तोंके दुष्कर्मका विनाश करनेके लिये आपका नाम-रूप दुष्टाटवीके दावानलके समान है।' तत्पश्चात् इन्द्रने वाद्यसमूहोंको मँगवाकर प्रत्येक दिशामें लोकपालोंसहित देवाङ्गनाओंका नाच कराया और स्वयं 'अखिल लोक-समुदायके आदिस्वामी श्रीरामकी जय हो' यों पद-पदपर गाते हुए विराम लिया। भक्ति-सम्पन्न उन इन्द्रद्वारा यों स्तवन किये जानेपर श्रीरामने समस्त देवोंकी ओर दृष्टिपात करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए कहा—॥ ९३—९५ ॥

श्रीराम उवाच

भो भोस्तत्त्वाधिपतयो मुनयश्च तपोधनाः।
सिद्धाः साध्याश्च पितरो ये चान्ये गोलवर्त्तिनः॥
मयैतद्विदितं सर्वं यदर्थं यूयमागताः।
तत्तथैव विधास्यामि भयं वो व्यपगच्छतु॥
भवद्भिर्यदिदं दृष्टं वैश्वात्म्यं मम शाश्वतम्।
एकांशमात्रमेतद्धि ब्रह्माण्डानेकमण्डितम्॥
अत ऊर्ध्वमसंसक्तस्तत्त्वातीतो निरन्तरः।
नित्यशुद्धो निरातङ्को मानातीतो निरञ्जनः॥
निरंशो यः पराकाशो भावाभावविलक्षणः।
निस्तरङ्गसदानन्दसुधाब्धिरतिनिर्मलः॥
निरालम्बो निराकारो विभुरेकः परः स्वराट्।
सोऽहं भवद्भिरखिलैर्द्रष्टुं शक्यो न जातुचित्॥
भक्त्यैव दृढया सम्यक् नित्यमभ्यासिनः सुराः।
ममैतत्परमं रूपं यूयं द्रक्ष्यथ* चापरे॥
(अध्याय ३, श्लोक ९६ से १०२)

श्रीराम बोले—भो भो तत्त्वाधीश्वर तपोधन मुनि-गण, सिद्ध और साध्योंके समुदाय, पितर तथा ब्रह्माण्ड-गोलकवासी अन्य जीवो! जिस लिये तुमलोग यहाँ आये हो, वह सारा वृत्तान्त मुझे विदित है। मैं तदनुकूल ही विधान करूँगा; अतः अब तुमलोगोंका भय दूर हो जाना चाहिये। इस समय तुमलोगोंने मेरे जिस सनातन विश्वरूपका दर्शन किया है, यह अनेक ब्रह्माण्डोंसे सुशोभित मेरा एक अंशमात्र है। इसके ऊपर जो आसक्तिरहित, तत्त्वातीत, अभेदस्वरूप, नित्यशुद्ध, निर्भय, अप्रमेय, मायाहीन, अंशवर्जित, चिदाकाशस्वरूप, भाव-अभावसे विलक्षण, तरङ्गरहित सदानन्दामृत-सागर, अत्यन्त निर्मल, आलम्बनहीन, निराकार, व्यापक, अद्वितीय, परात्पर स्वराट् है, वह मैं ही हूँ। तुम सब लोग कभी भी मेरा दर्शन नहीं कर सकते। देवताओ! जो नित्य भलीभाँति अभ्यास करनेवाले हैं, ऐसे तुमलोग तथा अन्य मानव-गण भी अटल भक्तिद्वारा ही मेरे इस परम रूपको देख सकोगे।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार यह उपनिषद्-सम्बन्धी तत्त्व स्तोत्रके माध्यमसे प्रकाशित हुआ है। इसका बारंबार स्मरण करके वे सब क्षणमात्रके लिये तन्मयताको प्राप्त हो गये। जिन्हें ज्ञेयका ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा जो परमहंस-विग्रहधारी हैं, ऐसे वे पवित्र सिद्ध मानस-तीर्थमें इस ब्रह्मविद्यारूपिणी स्तुतिका जप करते हैं। इस स्तोत्रके माहात्म्यका वर्णन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है। निस्संदेह यह अभिलषित पदार्थोंको देनेके लिये कामधेनु है। जो स्तुति करने योग्य, सर्वोच्च महनीय, देवोंके अनन्य स्वामी उन महापुरुष रामका ध्यान करके ब्रह्मभाग करते हुए इस

* इदानीं पश्यथ पुनर्द्रक्ष्यथापरे नरा द्रक्ष्यन्तीत्यर्थः।

ततस्तु कवचास्त्रान्तः षोडशाक्षर ईरितः ।
तस्यागस्त्यऋषिश्छन्दो बृहती देवता च सः ॥

'नमः सीतापतये रामाय हन हन हुं फट्' यह षोडशाक्षर मन्त्र कहा गया है। इसके अगस्त्य ऋषि, बृहती छन्द और सीतापति श्रीराम देवता हैं।

रां बीजं शक्तिरस्त्रं च कीलकं हुमितीरितम् ।
द्विपञ्चत्रिचतुर्वर्णैः सर्वैरङ्गं न्यसेत्क्रमात् ॥

'राम' बीज है, 'फट्' शक्ति है और 'हुम्' कीलक है। इस मन्त्रके दो, पाँच, तीन, चार, दो तथा सम्पूर्ण मन्त्राक्षरोंसे क्रमशः अङ्गन्यास करे। यथा 'नमः' हृदयाय नमः। 'सीतापतये' शिरसे स्वाहा। 'रामाय' शिखायै वषट्, 'हन हन' कवचाय हुम्। हुं फट् नेत्रत्रयाय वौषट्। 'नमः सीतापतये रामाय हन हन हुं फट्' अस्त्राय फट्।

तारादिसहितः सोऽपि मन्त्रः सप्तदशाक्षरः ।

यह भी पूर्ववत् आदिमें ॐ आदि बीजोंसे युक्त होनेपर सप्तदशाक्षर मन्त्र हो जाता है।

१८, १९, २०, २१, २२ तथा २३ अक्षरके मन्त्र तथा ऋषि आदि

तारं नमो भगवते रामं ङेऽन्तं महा ततः ॥
पुरुषाय पदं पश्चाद्धृदन्तोऽष्टादशाक्षरः ।
विश्वामित्रो मुनिश्छन्दो गायत्रं देवता च सः ॥
कामादिसहितः सोऽपि मन्त्र एकोनविंशकः ।

'ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः' यह अष्टादशाक्षर मन्त्र है। इस मन्त्रके विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द तथा देवता महापुरुष श्रीराम हैं। यह मन्त्र भी क्लीं आदि बीजोंसे युक्त होनेपर उन्नीस अक्षरोंका हो जाता है।

तारं नमो भगवते रामायेति पदं वदेत् ॥
सर्वशब्दं समुच्चार्य सौभाग्यं देहि मे वदेत् ।
वह्निजायां तथोच्चार्य मन्त्रो विंशार्णको भवः ॥

'ॐ नमो भगवते रामाय सर्वसौभाग्यं देहि मे स्वाहा' यह बीस अक्षरोंका मन्त्र है।

तारं नमो भगवते रामाय सकलं वदेत् ।
आपन्निवारणायेति वह्निजायां ततो वदेत् ॥
एकविंशार्णको मन्त्रः सर्वाभीष्टफलप्रदः ।

'ॐ नमो भगवते रामाय सकलापन्निवारणाय स्वाहा' यह इक्कीस अक्षरोंका मन्त्र है, जो सम्पूर्ण अभीष्ट फलोंको देनेवाला है।

तारं रमा स्वबीजं च ततो दाशरथाय च ॥
ततः सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टपदं वदेत् ।
ततो दाय हृदन्तोऽयं मन्त्रो द्वाविंशदक्षरः ॥

'ॐ श्रीं रां दाशरथाय सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टदाय नमः' यह बाईस अक्षरोंका मन्त्र है।

तारं नमो भगवते वीररामाय संवदेत् ।
किल शत्रून् हन द्वन्द्वं वह्निजायां ततो वदेत् ॥
त्रयोविंशाक्षरो मन्त्रः सर्वशत्रुनिबर्हणः ।
विश्वामित्रो मुनिः प्रोक्तो गायत्री छन्द उच्यते ॥
देवता वीररामोऽसौ बीजाद्याः पूर्ववन्मताः ।
मूलमन्त्रविभागेन न्यासान्कृत्वा विचक्षणः ॥

'ॐ नमो भगवते वीररामाय सकलशत्रून् हन हन स्वाहा' यह तेईस अक्षरोंका मन्त्र है, जो समस्त शत्रुओंका संहार करनेवाला है। इस मन्त्रके विश्वामित्र ऋषि, गायत्री छन्द तथा वीर राम देवता बताये गये हैं। बीज आदि पूर्ववत् समझने चाहिये। विद्वान् पुरुष मूल मन्त्रके छः विभाग करके अङ्गन्यास करनेके पश्चात् इस प्रकार ध्यान करे।

ध्यान

शरं धनुषि संधाय तिष्ठन्तं रावणोन्मुखम् ।
वज्रपाणिं रथारूढं रामं ध्यात्वा जपेन्मनुम् ॥

वीर श्रीराम धनुषपर बाण रखकर रावणकी ओर मुख किये खड़े हैं। वे रथपर आरूढ हैं और हाथमें वज्र लिये हुए हैं। इस प्रकार ध्यान करके मन्त्रका जप करे।

२४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१ और ३२ अक्षरके मन्त्र

तारं नमो भगवते श्रीरामाय पदं वदेत् ।
तारकब्रह्मणे चोक्त्वा मां तारय पदं वदेत् ॥
नमस्तारात्मको मन्त्रश्चतुर्विंशतिवर्णकः ।
बीजादिकं यथापूर्वं सर्वं कुर्यात्षडर्णवत् ॥

'ॐ नमो भगवते श्रीरामाय तारकब्रह्मणे मां तारय नमः ॐ ।' यह मन्त्र चौबीस अक्षरोंका है। बीज आदि पूर्ववत्। षडक्षर मन्त्रकी भाँति अङ्गन्यास करे।

कामस्तारो नतिश्चैव ततो भगवते पदम् ।
रामचन्द्राय चोच्चार्य सकलेति पदं वदेत् ॥
जनवश्यकरायेति स्वाहा कामात्मको मनुः ।
सर्ववश्यकरो मन्त्रः पञ्चविंशतिवर्णकः ॥

'क्लीं ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय सकलजनवश्यकराय स्वाहा' यह पचीस अक्षरोंका कामात्मक मन्त्र सबको वशमें करनेवाला है।

आदौ तारेण संयुक्तो मन्त्रः षड्विंशदक्षरः ।
अन्तेऽपि तारसंयुक्तः सप्तविंशतिवर्णकः ॥

इसके आदिमें ॐ लगा देनेपर यह छब्बीस अक्षरोंका मन्त्र होता है; अन्तमें भी प्रणव जोड़ दिया जाय तो यह सत्ताईस अक्षरोंका मन्त्र हो जाता है।

*

तारं नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय च ।
सर्वविघ्नान्समुच्चार्य निवारय पदद्वयम् ॥
स्वाहान्तो मन्त्रराजोऽयमष्टाविंशतिवर्णकः ।
अन्ते तारेण संयुक्त एकोनत्रिंशदक्षरः ॥
आदौ स्वबीजसंयुक्तस्त्रिंशद्वर्णात्मको मनुः ।
अन्तेऽपि तेन संयुक्त एकत्रिंशात्मकः स्मृतः ॥

'ॐ नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय सर्वविघ्नान् निवारय निवारय स्वाहा' यह मन्त्रराज अट्ठाईस अक्षरोंका है। अन्तमें प्रणव जुड़ जाय तो यही उनतीस अक्षरोंका तथा आदिमें 'रां' बीज लग जाय तो यही तीस अक्षरोंका मन्त्र हो जाता है। तीस अक्षरवालेके अन्तमें भी रां बीज जुड़ जाय तो यह इकतीस अक्षरोंका मन्त्र होता है।

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।
भो दशास्यान्तकास्माकं श्रियं दापय देहि मे ॥*
(रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम ।
भो दशास्यान्तकास्माकं श्रियं परमां देहि मे ॥)
आनुष्टुभ ऋषी रामश्छन्दोऽनुष्टुप् स देवता ।
रां बीजमस्य यं शक्तिरिष्टार्थे विनियोजयेत् ॥

अर्थात् 'हे महाधनुर्धर रामभद्र! हे नृपश्रेष्ठ रघुवीर! हे दशमुख रावणका अन्त करनेवाले श्रीराम! मुझे अपनी लक्ष्मी दिलाइये और दीजिये।'

यह बत्तीस अक्षरोंका मन्त्र है। इस अनुष्टुप्-मन्त्रमें वर्णित श्रीराम ही इस मन्त्रके ऋषि तथा देवता हैं और अनुष्टुप् छन्द है। रां बीज है, यं शक्ति है; अभीष्टसिद्धिके लिये इसका विनियोग होता है।

---

* श्रीरामतापनीयोपनिषद्में इस मन्त्रके चतुर्थ चरणके स्थानमें 'रक्षां देहि श्रियं च ते' ऐसा पाठ मिलता है। नारदपुराणमें उत्तरार्धका पाठ इस प्रकार है—'दशास्यान्तक मां रक्ष देहि मे परमां श्रियम् ।'

पादं हृदि च विन्यस्य पादं शिरसि विन्यसेत् ।
शिखायां पञ्चभिर्न्यस्य त्रिवर्णैः कवचं न्यसेत् ॥
नेत्रयोः पञ्चवर्णैश्च दापयेत्यस्त्रमुच्यते ।

इस मन्त्रके एक चरणका हृदयमें, दूसरे चरणका सिरमें, पाँच अक्षरोंका शिखामें, तीन अक्षरोंका कवचमें तथा पाँच अक्षरोंका नेत्रत्रयमें न्यास करके 'दापय' इन तीन अक्षरोंसे अङ्गन्यास करे ।

ध्यान

चापबाणधरं श्यामं ससुग्रीवविभीषणम् ॥
हत्वा रावणमायान्तं कृतत्रैलोक्यरक्षणम् ।
रामभद्रं हृदि ध्यात्वा दशलक्षं जपेन्मनुम् ॥

'धनुष-बाणधारी श्यामकान्ति श्रीरामभद्र रावणका वध और त्रिभुवनकी रक्षाका कार्य सम्पन्न करके सुग्रीव तथा विभीषणके साथ आ रहे हैं ।' इस प्रकार मनमें ध्यान करके उक्त मन्त्रका दस लाख जप करे ।

श्रीरामगायत्री

वदेद्दाशरथायेति विद्महेति पदं ततः ।
सीतापदं समुद्धृत्य वल्लभाय ततो वदेत् ॥
धीमहीति वदेत्तन्नो रामश्चापि प्रचोदयात् ।
दाशरथाय विद्महे, सीतावल्लभाय धीमहि ।
तन्नो रामः प्रचोदयात् ।
तारादिरेषा गायत्री मुक्तिमेव प्रयच्छति ॥

आदिमें प्रणवसे युक्त होनेपर यह गायत्री निश्चय मोक्ष प्रदान करती है ।

मायादिरपि वैदुष्यं रामादिश्च श्रियः पदम् ।
मदनेनापि संयुक्तः स मोहयति मेदिनीम् ॥

यदि इसके आदिमें 'ह्रीं' बीजको भी लगाकर जपा जाय तो यह विद्वत्ता देता है तथा 'रां' बीजका भी आदिमें योग हो जाय तो यह गायत्री लक्ष्मीका पद प्रदान करती है । पुनः यदि आदिमें 'क्लीं'का भी योग हो तो यह गायत्री-मन्त्र भूमण्डलको मोह लेनेमें समर्थ होता है ।

पञ्च त्रीणि षडर्णैश्च त्रीणि चत्वारि वर्णकैः ।
चत्वारि च चतुर्वर्णैरङ्गन्यासं प्रकल्पयेत् ॥

(इस तरह 'क्लीं रां ह्रीं ॐ' इन चार बीजोंके जुड़ जानेसे इस मन्त्रमें उनतीस अक्षर होते हैं) इन अक्षरोंमेंसे पाँचके द्वारा हृदय-न्यास, तीनसे शिरोन्यास, छः अक्षरोंसे शिखान्यास, तीनसे कवचन्यास, चारसे नेत्रन्यास तथा शेष चारसे अङ्गन्यास करे । इस प्रकार षडङ्ग-न्यासकी कल्पना करे ।

बीजध्यानादिकं सर्वं कुर्यात्षड्वर्णवत्क्रमात् ।

बीज, ध्यान आदि सब कुछ क्रमशः षडक्षर मन्त्रके समान ही करे ।

तारं नमो भगवते चतुर्थ्यां रघुनन्दनम् ॥
रक्षोघ्नविशदं तद्वन्मधुरेति वदेत्ततः ।
प्रसन्नवदनं ङेऽन्तं वदेदमिततेजसे ॥
बलरामौ चतुर्थ्यन्तौ विष्णुं ङेऽन्तं नतिस्ततः ।
प्रोक्तो मालामनुः सप्तचत्वारिंशद्भिरक्षरैः ॥

'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः ॐ' यह सैंतालीस अक्षरोंका माला-मन्त्र कहा गया है ।

ऋषिश्छन्दो देवतादि ब्रह्मानुष्टुभराघवाः ।
सप्ततुसप्तदशषड्रुद्रसंख्यैः षडङ्गकम् ॥

इस मन्त्रके ऋषि ब्रह्मा, छन्द अनुष्टुप् तथा देवता श्रीरघुनाथजी हैं । इसके सात, छः, सात, दस, छः तथा ग्यारह अक्षरोंद्वारा क्रमशः हृदयादि षडङ्ग-न्यासका कार्य सम्पन्न करे ।

ध्यानं दशाक्षरं प्रोक्तं लक्षमेकं जपेन्मनुम् ।

इसका ध्यान दशाक्षर मन्त्रके समान बताया गया है। एक लाख मन्त्रका जप करे।

सीता-षडक्षर मन्त्रके ऋषि आदि

श्रियं सीतां चतुर्थ्यन्तां स्वाहान्तोऽयं षडक्षरः ॥
जनकोऽस्य ऋषिश्छन्दो गायत्री देवता मनोः।
सीता भगवती प्रोक्ता श्रीं बीजं नतिशक्तिकम् ॥
कीलं सीता चतुर्थ्यन्तमिष्टार्थे विनियोजयेत्।
दीर्घस्वरयुताद्येन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥

'श्रीं सीतायै स्वाहा' यह षडक्षर मन्त्र है। इसके जनक[1] ऋषि, गायत्री छन्द तथा भगवती सीता देवता कही गयी हैं। श्रीं बीज है और नमः शक्ति, 'सीतायै' कीलक है तथा अभीष्टसिद्धिके लिये जपमें इसका विनियोग करे। दीर्घस्वरयुक्त बीज (श्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः) से क्रमशः छहों अङ्गोंका न्यास करे।

ध्यान

स्वर्णाभाम्बुजकरां रामालोकनतत्पराम्।
ध्यायेत्षट्कोणमध्यस्थरामाङ्कोपरिशोभिताम् ॥

भगवती सीता षट्कोणचक्रमें विराजमान भगवान् श्रीरामके वामाङ्कमें सुशोभित हैं और उन्हींके मुखारविन्दका दर्शन कर रही हैं। उनकी अङ्गकान्ति सुवर्णके समान गौर है और वे अपने हाथमें कमलका पुष्प धारण किये हुए हैं। इस प्रकार ध्यान करे।

श्रीलक्ष्मण आदिका मन्त्र एवं ध्यान

लकारं तु समुद्धृत्य लक्ष्मणाय नमोऽन्तकः।
अगस्त्यऋषिरस्याथ गायत्रं छन्द उच्यते ॥
लक्ष्मणो देवता प्रोक्तो लं बीजं शक्तिरस्य हि।
नमस्तु विनियोगो हि पुरुषार्थचतुष्टये ॥

'लं लक्ष्मणाय नमः' यह लक्ष्मणका सप्ताक्षर मन्त्र है। इसके अगस्त्य ऋषि तथा गायत्री छन्द कहे गये हैं। लक्ष्मण देवता हैं। 'लं' बीज है, 'नमः' शक्ति है। चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धिके लिये जपमें इसका विनियोग है।

दीर्घभाजा स्वबीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत्।

दीर्घस्वरोंसे युक्त लं बीज (अर्थात् लां लीं लूं लैं लौं लः) से षडङ्ग-न्यासकी क्रिया सम्पादित करे।

ध्यान

द्विभुजं स्वर्णरुचिरतनुं पद्मनिभेक्षणम् ॥
धनुर्बाणधरं देवं रामाराधनतत्परम्।

श्रीलक्ष्मणजीके दो भुजाएँ हैं, सुवर्णके सदृश कान्तिमान् सुन्दर शरीर है तथा प्रफुल्ल कमलके तुल्य विशाल नेत्र हैं। वे दिव्य देहधारी लक्ष्मण धनुष-बाण लिये श्रीरामकी समाराधनामें तत्पर हैं।

भकारं तु समुद्धृत्य भरताय नमोऽन्तकः ॥
अगस्त्यऋषिरस्याथ शेषं पूर्ववदाचरेत्।

'भं भरताय नमः' यह भरतका सप्ताक्षर मन्त्र है। इसके ऋषि अगस्त्य हैं। शेष सब बातें पूर्ववत् (लक्ष्मण-मन्त्रके समान जाने और करे।) अङ्गन्यास भां भीं भूं भैं भौं भः—इन बीजोंसे करना चाहिये।

ध्यान

भरतं श्यामलं शान्तं रामसेवापरायणम् ॥
धनुर्बाणधरं वीरं कैकेयीतनयं भजे।

कैकेयीनन्दन भरतकी अङ्गकान्ति श्याम है। वे शान्तभावसे श्रीरामकी सेवामें तत्पर हैं। धनुष-बाण धारण करनेवाले उन वीर भरतका मैं भजन (चिन्तन) करता हूँ।

शं बीजं तु समुद्धृत्य शत्रुघ्नाय नमोऽन्तकः।
ऋष्यादयो यथापूर्वं विनियोगोऽरिनिग्रहे ॥

'शं शत्रुघ्नाय नमः' यह शत्रुघ्नसम्बन्धी सप्ताक्षर मन्त्र

---

१. नारदपुराणमें इस मन्त्रके वाल्मीकि ऋषि बताये गये हैं।

है। इसके भी ऋषि आदि पूर्ववत् (भरतके तुल्य) हैं। (अङ्गन्यास शां शीं शूं शैं शौं शः—इन बीजोंसे करे।) इस मन्त्रका विनियोग शत्रु-निग्रहके लिये किया जाता है।

ध्यान

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्।
लवणासुरहन्तारं सुमित्रातनयं भजे॥

लवणासुरके हन्ता सुमित्राकुमार शत्रुघ्नजीके दो भुजाएँ हैं। वे सुवर्णसदृश कान्तिमान् हैं और श्रीरामकी सेवामें तत्पर हैं। मैं उनका भजन करता हूँ।

हनुमान्‌जीके मन्त्र और ध्यान

हं हनूमांश्चतुर्थ्यन्तं हृदन्तो मन्त्रराजकः।
रामचन्द्र ऋषिः प्रोक्तो योजयेत्पूर्ववत्क्रमात्॥

'हं हनुमते नमः' यह मन्त्रराज है। इसके ऋषि स्वयं श्रीरामचन्द्र हैं। छन्द गायत्री तथा देवता हनुमान्‌जी हैं। अङ्गन्यासकी योजना पूर्ववत् क्रमशः (हां हीं हूं हैं हौं हः—इन बीजोंसे) कर लेनी चाहिये।

ध्यान

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्।
मौञ्जीकौपीनसहितं मां ध्यायेद्रामसेवकम्॥

हनुमान्‌जी मौञ्जी तथा कौपीन धारण करके श्रीरामकी सेवामें संलग्न हैं। उनके दो भुजाएँ हैं और अङ्गकान्ति सुवर्णके सदृश उद्भासित हो रही है। इस प्रकार मुझ राम-सेवकका ध्यान करे।

इस प्रकार रामरहस्योपनिषद्में
द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ

तृतीय अध्याय

यन्त्राकार पूजापीठका वर्णन

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः। आञ्जनेय महाबल पूर्वोक्तमन्त्राणां पूजापीठमनुब्रूहीति।

सनकादि मुनियोंने हनुमान्‌जीसे पूछा—महाबली अञ्जनानन्दन! पूर्वोक्त यन्त्रोंके पूजा-पीठका वर्णन कीजिये।

हनूमान् होवाच

आदौ षट्कोणम्। तन्मध्ये रामबीजं सश्रीकम्। तदधोभागे द्वितीयान्तं साध्यम्। बीजोर्ध्वभागे षष्ठ्यन्तं साधकम्। पार्श्वे दृष्टिबीजे तत्परितो जीवप्राणशक्तिवश्यबीजानि। तत्सर्वं सन्मुखोन्मुखाभ्यां प्रणवाभ्यां वेष्टनम्। अग्नीशासुरवायव्यपुरःपृष्ठेषु षट्कोणेषु दीर्घभाञ्जि। हृदयादिमन्त्राः क्रमेण। रां रीं रूं रैं रौं रः इति दीर्घभाञ्जि तद्युक्तहृदयाद्यस्त्रान्तम्। षट्कोणपार्श्वे रमामायाबीजे। कोणाग्रे वाराहं हुमिति। तद्बीजान्तराले कामबीजम्। परितो वाग्भवम्। ततो वृत्तत्रयं साष्टपत्रम्। तेषु दलेषु स्वरानष्टवर्गान् प्रतिदलं मालामनुवर्णषट्कम्। अन्ते पञ्चाक्षरम्। तद्दलकपोलेष्वष्टवर्णान्। पुनरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु नारायणाष्टाक्षरो मन्त्रः। तद्दलकपोलेषु श्रीबीजम्। ततो वृत्तम्। ततो द्वादशदलम्। तेषु दलेषु वासुदेवद्वादशाक्षरो मन्त्रः। तद्दलकपोलेष्वादिक्षान्तान् (आदित्यान्)। ततो वृत्तम्। ततः षोडशदलम्। तेषु दलेषु हुं फड् नतिसहितरामद्वादशाक्षरम्। तद्दलकपोलेषु मायाबीजम्। सर्वत्र प्रतिकपोलं द्विरावृत्त्या हं सं भ्रं व्रं भ्रं श्रुं ज्रम्। ततो वृत्तम्। ततो द्वात्रिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु नृसिंहमन्त्रराजानुष्टुभमन्त्रः। तद्दलकपोलेष्वष्टवस्वेकादशरुद्रद्वादशादित्यमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताः

ङचतुर्थ्यन्ताः क्रमेण । तद्बहिर्वषट्कारं परितः । ततो रेखात्रययुक्तं भूपुरम् । द्वादशदिक्षु राश्यादिभूषितम् । अष्टनागैरधिष्ठितम् । चतुर्दिक्षु नारसिंहबीजम् । विदिक्षु वाराहबीजम् । एतत्सर्वात्मकं यन्त्रं सर्वकामप्रदं मोक्षप्रदं च । एकाक्षरादिनवाक्षरान्तानामेतद्यन्त्रं भवति । तद्दशावरणात्मकं भवति । षट्कोणमध्ये साङ्गं राघवं यजेत् । षट्कोणेष्वङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः । अष्टदलमूले आत्माद्यावरणम् । तदग्रे वासुदेवाद्यावरणम् । द्वितीयाष्टदलमूले धृष्टयाद्यावरणम् । तदग्रे हनूमदाद्यावरणम् । द्वादशदलेषु वसिष्ठाद्यावरणम् । षोडशदलेषु नीलाद्यावरणम् । द्वात्रिंशद्दलेषु ध्रुवाद्यावरणम् । भूपुरान्तरिन्द्राद्यावरणम् । तद्बहिर्वज्राद्यावरणम् । एवमभ्यर्च्य मनुं जपेत् ।

हनुमान्‌जी बोले—पहले षट्कोण बनावे । उसके ... भागमें रां और श्रीं लिखे । इनके अधोभागमें द्वितीया विभक्त्यन्त साध्य कार्यका उल्लेख करे । बीजोंके ऊर्ध्व भागमें षष्ठी विभक्त्यन्त साधकका उल्लेख करे । पार्श्व भागमें दृष्टि बीज तथा उनके चारों ओर जीव, प्राण, शक्ति और वश्य बीज लिखे । वह सब कुछ आमने-सामने अङ्कित किये गये दो प्रणवोंसे वेष्टित कर दे । अग्निकोण, ईशानकोण, नैर्ऋत्यकोण, वायव्यकोण तथा पूर्व और पश्चिम दिशाके छः कोणोंमें दीर्घस्वरसे युक्त राम बीज (रां) लिखे और उसी क्रमसे हृदयादि मन्त्रोंका भी उल्लेख करे । रां, रीं, रूं, रैं, रौं, रः—ये दीर्घस्वरसे युक्त रामबीज हैं । इन बीजोंसे युक्त क्रमशः हृदयसे लेकर आस्यपर्यन्त मन्त्र लिखने चाहिये । छहों कोणोंके पार्श्व-भागमें 'श्रीं' और 'ह्रीं'—ये दो-दो बीज लिखे । कोणोंके अग्रभागमें (भीतर तथा बाहर भी) वाराह बीज 'हुम्' लिखे । उस बीजसे युक्त कोणोंके अन्तराल भागमें 'क्लीं' बीजका उल्लेख करे । कोणाग्रवर्ती 'हुम्' बीजके उभय पार्श्वमें 'ऐं' बीज लिखे । तत्पश्चात् तीन वृत्त (गोलाकार रेखाएँ) बनाये । इन वृत्तोंके बाह्य भागमें आठ दल अङ्कित करे । उन दलोंमें प्रत्येकके भीतर दो-दोके क्रमसे सोलह स्वरों, एक-एकके क्रमसे आठ व्यञ्जन-वर्गों तथा मालामन्त्रके छः-छः अक्षरोंके क्रमसे सम्पूर्ण मन्त्रका उल्लेख करे । अन्तिम दलमें पाँच ही अक्षर होंगे । उन दलोंके कपोल भागोंमें ही क्रमशः एक-एकके क्रमसे कवर्गादि आठ वर्गोंका उल्लेख होना चाहिये । (आठ वर्ग ये हैं—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, शवर्ग और छवर्ग । छवर्गमें ळ और क्ष—ये दो अक्षर हैं) । इसके बाद पुनः तीन वृत्त बनाकर उनके बाह्य भागमें आठ दल अङ्कित करे । उन दलोंमें प्रत्येकके भीतर एक-एक अक्षरके क्रमसे अष्टाक्षर नारायण मन्त्र लिखे और उन दलोंके कपोल भागोंमें श्री-बीज (श्रीं) का उल्लेख करे । तदनन्तर एक वृत्ताकार रेखा खींचे । उस रेखाके बाह्य भागमें द्वादशदल अङ्कित करे । उन दलोंमें एक-एक अक्षरके क्रमसे वासुदेव द्वादशाक्षर मन्त्र लिखे । दलोंके कपोल भागोंमें 'अ' से लेकर 'क्ष' तकके इक्यावन अक्षरोंका प्रत्येक दलमें चार-चार अक्षरके क्रमसे उल्लेख करे । अन्तिम दलमें सात अक्षर लिखे जायँगे । तदनन्तर पुनः वृत्ताकार रेखा खींचे, उस रेखापर षोडश दल अङ्कित करे । उन दलोंमें हुं फट् नमः सहित राम द्वादशाक्षर मन्त्र (अर्थात् ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा हुम् फट् नमः) के सोलह अक्षरोंका एक-एकके क्रमसे उल्लेख करे । उक्त दलोंके कपोलोंमें माया-बीज (ह्रीं) लिखे । निम्नाङ्कित बीजोंकी दो-दो आवृत्ति करके उनको उक्त कपोलोंमें अङ्कित करे । वे बीजमन्त्र इस प्रकार हैं—हं सृं भ्रृं ष्टृं लं अं जृं तथा श्रृं । * (ये हनुमान्‌जी आदिके

---

* ये बीज रामतापनीय उपनिषद्के अनुसार दिये गये हैं । रामरहस्यके मूल भागमें जो पाठ दिया गया है,

बीज हैं)। तदनन्तर पुनः वृत्त बनावे और उसपर बत्तीस दल अङ्कित करे। उन दलोंमें एक-एक अक्षरके क्रमसे नृसिंहमन्त्रराज अनुष्टुभ् मन्त्र लिखे। उन दलोंके कपोलोंमें आठ वसु, एकादश रुद्र तथा बारह आदित्योंके मन्त्र लिखे। प्रत्येकके आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः पद रहे। उन वसु आदिके नाम चतुर्थ्यन्त रहें—यथा 'ॐ ध्रुवाय नमः' इत्यादि*। ये वसु, रुद्र, आदित्य इकतीस दलोंमें ही आ जायँगे। इनके अतिरिक्त बत्तीसवें दलमें वषट् लिखे। यह रामतापनीयके अनुसार है। राम-रहस्यके अनुसार बत्तीस दलोंके बाह्य भागमें सब ओर 'वषट्' लिखना चाहिये। (तदनन्तर एक वृत्ताकार रेखासे उन दलोंको घेर दे।) इस चक्रके बाह्य भागमें तीन चौकोर रेखाओंसे उक्त भूपुर बनावे। उस भूपुरके चारों दिशाओंमें दो-दो करके आठ राशियोंका और कोणोंमें एक-एक करके चार राशियोंका—इस तरह बारह दिशाओंमें बारह राशियोंको अङ्कित करे। राशियोंके आदि अक्षरको बीज बनाकर ले ले और उनके चतुर्थ्यन्त पदके साथ नमः पद जोड़ दे। यथा—'में मेषाय नमः' इत्यादि। भूपुरका बाह्य भाग अनन्त, वासुकि आदि आठ नागोंसे अधिष्ठित होना चाहिये। भूपुरके भीतर चारों दिशाओंमें नारसिंह-बीज (क्ष्रौं) तथा कोणोंमें वाराह बीज (हुम्) का उल्लेख करे। यह सर्वात्मक यन्त्र सम्पूर्ण कामनाओंको देनेवाला तथा मोक्ष प्रदान करनेवाला है। एकाक्षर मन्त्रसे लेकर नवाक्षर मन्त्र तकके लिये यह यन्त्र उपयोगी होता है। इस यन्त्रके दस आवरण होते हैं। षट्कोण चक्रके मध्यभागमें अङ्गोंसहित राघवका यजन करे। छः कोणोंमें अङ्गोंद्वारा प्रथम आवरण सिद्ध होता है। अष्टदलोंके मूलभागमें आत्मादि आवरण है। उसके बाद वासुदेवादिका आवरण है। द्वितीय अष्टदलके मूलमें धृष्टि आदिका आवरण है। उसके बाद हनुमान् आदिका आवरण होता है। द्वादश दलोंमें वसिष्ठ आदिका आवरण है। षोडश दलोंमें नील आदिका आवरण होता है। बत्तीस दलोंमें ध्रुव, धर आदिका आवरण है। भूपुरके भीतर इन्द्र आदिका और बाहर वज्र आदिका आवरण है। इस प्रकार आवरणसहित यन्त्रका पूजन करके मन्त्र जपना चाहिये।

अथ दशाक्षरादिद्वात्रिंशदक्षरान्तानां मन्त्राणां पूजापीठमुच्यते।

अब दशाक्षरसे लेकर बत्तीस अक्षरतकके मन्त्रोंका पूजा-पीठ बताया जाता है।

आदौ षट्कोणम्। तन्मध्ये स्वबीजम्। तन्मध्ये साध्यनामानि। एवं कामबीजवेष्टनम्। ततः शिष्टेन नवार्णेन वेष्टनम्। षट्कोणेषु षडङ्गान्यग्नीशासुरवायव्यपूर्वपृष्ठेषु तत्कपोलेषु श्रीमाये। कोणाग्रे क्रोधम्। ततो वृत्तम्। ततोऽष्टदलम्। तेषु दलेषु षट्संख्यया मालामनुवर्णान्। तद्दलकपोलेषु षोडश स्वराः। ततो वृत्तम्। तत्परित आदिक्षान्तम्। तद्बहिर्भूपुरं साष्टशूलाग्रम्। दिक्षु विदिक्षु नारसिंहवाराहौ। एतन्महायन्त्रम्। आधारशक्त्यादिवैष्णवपीठम्। अङ्गैः प्रथमाऽऽवृतिः। मध्ये रामम्। वामभागे सीताम्। तत्पुरतः शार्ङ्गं शरं च। अष्टदलमूले हनुमदादिद्वितीयावरणम्। धृष्ट्यादितृतीयावरणम्। इन्द्रादिभिश्चतुर्थी आवृतिः। वज्रादिभिः पञ्चमी। एतद्यन्त्राराधनपूर्वकं दशाक्षरादिमन्त्रं जपेत्॥ इति तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

उसमें मुद्रणसम्बन्धी भूल प्रतीत होती है। वह पाठ यों है—हं स्रं भ्रं ब्रं भ्रं मं श्रुं जम्।

१—नृसिंहमन्त्रराज इस प्रकार है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

* रामतापनीयोपनिषद्में प्रणवके स्थानमें नामके आदि अक्षरको ही सानुस्वार बीजके रूपमें उल्लेख करनेका आदेश है। यथा ध्रुं ध्रुवाय नमः इत्यादि।

पहले षट्कोण चक्र हो। उसके मध्यभागमें स्वबीज (रां) अङ्कित किया जाय। उसके भीतर साध्यके नाम लिखे जायँ। फिर दशाक्षर मन्त्रके प्रथम अक्षर काम-बीज (क्लीं) से इसका वेष्टन हो। फिर अवशिष्ट अक्षरोंसे उसको वेष्टित करे। छः कोणोंमें—आग्नेय, ईशान, नैर्ऋत्य, वायव्य, पूर्व तथा पश्चिम दिशाओंमें छः अङ्ग अङ्कित किये जायँ। उनके कपोल भागोंमें 'श्रीं' तथा 'ह्रीं'का उल्लेख हो। कोणाग्र भागोंमें क्रोध-बीज 'हुम्' लिखा जाय। तदनन्तर वृत्ताकार रेखा हो, उसपर अष्टदल अङ्कित किये जायँ। उन दलोंमें छः-छः अक्षरों-के क्रमसे माला-मन्त्र लिखा जाय। उसके साथ ही व्यञ्जन वर्ण चार-चारके क्रमसे अङ्कित हों। अन्तिम दलमें अवशिष्ट सभी अक्षर लिखे जायँ। उन दलोंके कपोल भागोंमें दो-दोके क्रमसे सोलह स्वर अङ्कित हों। तदनन्तर वृत्ताकार रेखा और उसके चारों ओर 'अ'से लेकर 'क्ष' तकके सभी अक्षर लिखे जायँ। उसके बाह्य भागमें भूपुर (द्वारयुक्त तीन चौकोर रेखाएँ) अङ्कित हों। भूपुरकी आठों दिशाओंमें आठ शूलाग्र रहें। दिशाओंमें नरसिंह-बीज (क्ष्रौं) और कोणोंमें वाराह-बीज (हुं) अङ्कित हों। यह महायन्त्र है। यह आधार-शक्तिसे युक्त आदि वैष्णवपीठ है। इसमें अङ्गोंद्वारा प्रथम आवरण होता है। इस यन्त्रके मध्यभागमें श्रीरामकी, उनके वामभागमें सीताकी तथा सामने शार्ङ्गधनुष एवं बाणकी स्थापना और पूजा करे। अष्टदलके मूल भागमें हनुमान्-जी आदि पार्षदोंसे द्वितीय आवरण बनता है। धृष्टि आदि वानरोंसे तृतीय, इन्द्रादि दिक्पालोंसे चतुर्थ और उनके वज्र आदि आयुधोंसे पाँचवाँ आवरण सम्पादित होता है। इस यन्त्रकी आराधनापूर्वक दशाक्षरादि मन्त्रों-का जप करे।

इस प्रकार रामरहस्योपनिषद्में तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

चतुर्थ अध्याय

श्रीराम-मन्त्रोंकी पुरश्चरण-विधि

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः। श्रीराम-मन्त्राणां पुरश्चरणविधिमनुब्रूहीति।

सनकादि मुनियोंने हनुमान्‌जीसे पूछा—पवन-नन्दन! अब आप हमसे श्रीराम-मन्त्रोंकी पुरश्चरण-विधि क्या है? इसका वर्णन कीजिये।

॥ हनूमान् होवाच ॥

**नित्यं त्रिषवणस्नायी पयोमूलफलादिभुक्।
अथवा पायसाहारी हविष्यान्नाद एव वा॥**

हनुमान्‌जी बोले—महर्षियो! साधक प्रतिदिन तीनों समय स्नान और दूध, मूल-फल आदिका आहार करे; अथवा वह खीर खाकर रहे या हविष्यान्न भोजन करे।

**षड्रसैश्च परित्यक्तः स्वाश्रमोक्तविधिं चरन्।
वनितादिषु वाक्कर्ममनोभिर्निःस्पृहः शुचिः॥**

उसे षड्रस भोजनोंसे दूर रहना चाहिये। अपने आश्रमके लिये विहित कृत्योंका अनुष्ठान करते हुए वह स्त्री आदि भोगोंकी ओरसे मन, वाणी और क्रियाद्वारा सर्वथा निःस्पृह रहे। शुद्ध आचार-विचारका आश्रय ले।

**भूमिशायी ब्रह्मचारी निष्कामो गुरुभक्तिमान्।
स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः॥**

भूमिपर शयन और ब्रह्मचर्यका पालन करे। मनमें कोई कामना न रक्खे। गुरुके प्रति दृढ़ भक्ति रक्खे। स्नान, पूजा, जप, ध्यान, होम और तर्पणमें तत्पर रहे।

**गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन् राममनन्यधीः।
सूर्येन्दुगुरुदीपादिगोब्राह्मणसमीपतः॥**

जटायुकी परम गति [पृष्ठ १४६

शबरीपर कृपा [पृष्ठ २९३

श्रीरामसंनिधौ मौनी मन्त्रार्थमनुचिन्तयन् ।
व्याघ्रचर्मासने स्थित्वा स्वस्तिकाद्यासनक्रमात् ॥
तुलसीपारिजातश्रीवृक्षमूलादिकस्थले ।
पद्माक्षतुलसीकाष्ठरुद्राक्षकृतमालया ॥
मातृकामालया मन्त्री मनसैव मनुं जपेत् ।
अभ्यर्च्य वैष्णवे पीठे जपेदक्षरलक्षकम् ॥

गुरुके बताये हुए मार्गसे श्रीरामचन्द्रजीका अनन्य चित्तसे चिन्तन करते हुए सूर्य, चन्द्रमा, गुरु और दीपक आदिके समक्ष तथा गौ, ब्राह्मण अथवा श्रीराम-विग्रहके समीप मौनावलम्बनपूर्वक जप करे । जपकालमें मन्त्रार्थका बारंबार चिन्तन करता रहे । व्याघ्रचर्मके आसनपर स्वस्तिकादि आसनके क्रमसे बैठे और तुलसी, पारिजात तथा बिल्ववृक्षके मूल आदि स्थलोंमें पद्माक्ष, तुलसीकाष्ठ या रुद्राक्षकी बनी हुई मालाद्वारा अथवा मातृका-वर्णोंकी मालाद्वारा मन्त्रसाधक मन-ही-मन मन्त्र-का जप करे । पहले वैष्णव-पीठपर यन्त्रकी पूजा करके थोड़े अक्षरवाले मन्त्रोंका उनकी जितनी अक्षर-संख्या हो उतने लाख जप करे ।

तर्पयेत्तद्दशांशेन पायसात्तद्दशांशतः ।
जुहुयाद् गोघृतेनैव भोजयेत्तद्दशांशतः ॥

जपकी दशांश-संख्यामें खीरकी आहुति देकर इष्टदेव-का तर्पण करे, फिर उसके भी दशांश-संख्यामें गोघृतसे होम करे । उस होमकी दशांश संख्याके अनुसार ब्राह्मणों-को भोजन करावे ।

ततः पुष्पाञ्जलिं मूलमन्त्रेण विधिवच्चरेत् ।
ततः सिद्धमनुर्भूत्वा जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥

तदनन्तर मूल-मन्त्रसे विधिवत् पुष्पाञ्जलि अर्पित करे । इस तरहके अनुष्ठानसे साधकका मन्त्र सिद्ध हो जाता है और सिद्धमन्त्र हुआ साधक जीवन्मुक्त मुनि हो जाता है ।

अणिमादिर्भजत्येनं यूनं वरवधूरिव ।
ऐहिकेषु च कार्येषु महापत्सु च सर्वदा ॥
नैव योज्यो राममन्त्रः केवलं मोक्षसाधकः ।
ऐहिके समनुप्राप्ते मां स्मरेद्रामसेवकम् ॥

अणिमादि सिद्धियाँ उसकी सेवामें उसी तरह उपस्थित होती हैं, जैसे सुन्दर युवा पुरुषकी सेवामें सुन्दरी वधू । ऐहलौकिक कार्योंके लिये तथा बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंमें भी कभी राममन्त्रका उपयोग नहीं करना चाहिये । वह केवल मोक्षका साधक है । यदि कोई ऐहलौकिक कार्य आ पड़े या संकट-निवारणकी कामना हो तो मुझ राम-सेवक (हनुमान्) का स्मरण करे ।

यो रामं संस्मरेन्नित्यं भक्त्या मनुपरायणः ।
तस्याहमिष्टसंसिद्ध्यै दीक्षितोऽस्मि मुनीश्वराः ॥

मुनीश्वरो ! जो नित्य भक्तिभावसे मन्त्र-जपमें संलग्न हो श्रीरामका सम्यक् स्मरण करता है उसके अभीष्टकी पूर्णतः सिद्धिके लिये मैं सदा दीक्षा लिये बैठा हूँ ।

वाञ्छितार्थं प्रदास्यामि भक्तानां राघवस्य तु ।
सर्वथा जागरूकोऽस्मि रामकार्यधुरंधरः ॥

श्रीरघुनाथजीके भक्तोंको मैं अवश्य मनोवाञ्छित वस्तु प्रदान करूँगा । श्रीरामका कार्य-भार मैंने सिरपर उठा रक्खा है और उसके लिये मैं सर्वथा जागरूक हूँ ।

इस प्रकार श्रीराम-रहस्योपनिषद्में चौथा अध्याय पूर्ण हुआ ॥

पञ्चम अध्याय

श्रीराममन्त्रार्थका निरूपण

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः । श्रीराम-मन्त्रार्थमनुब्रूहीति ।

सनकादि मुनियोंने हनुमान्‌जीसे पूछा—पवननन्दन ! श्रीराममन्त्रका अर्थ क्या है ? इसका हमारे समक्ष निरूपण कीजिये ।

हनुमान् उवाच

सर्वेषु राममन्त्रेषु मन्त्रराजः षडक्षरः ।
एकधाथ द्विधा त्रेधा चतुर्धा पञ्चधा तथा ॥
षट्सप्तधाष्टधा चैव बहुधायं व्यवस्थितः ।
षडक्षरस्य माहात्म्यं शिवो जानाति तत्त्वतः ॥
श्रीराममन्त्रराजस्य सम्यगर्थोऽयमुच्यते ।
नारायणाष्टाक्षरे च शिवपञ्चाक्षरे तथा ॥
सार्थकार्णद्वयं रामो रमन्ते यत्र योगिनः ।
रकारो वह्निवचनः प्रकाशे पर्यवस्यति ॥

हनुमान्‌जी बोले—मुनीश्वरो ! सम्पूर्ण राममन्त्रोंमें षडक्षर मन्त्र मन्त्रराज माना गया है । वह एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात तथा आठ प्रकारका है । इसके सिवा वह और भी अनेक रूपोंमें व्यवस्थित है । षडक्षर मन्त्रके माहात्म्यको भगवान् शिव ही ठीक-ठीक जानते हैं ।

मैं श्रीराम-मन्त्रराजका यह अर्थ भलीभाँति बता रहा हूँ । नारायणाष्टाक्षर तथा शिवपञ्चाक्षर मन्त्रोंमें जो सार्थक दो अक्षर 'रा' और 'म' है, वे ही राम हैं ।* जिनमें योगीजन रमण करते हैं । रकार अग्निका वाचक है जो प्रकाशके अर्थमें पर्यवसित होता है ।

सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते ।
व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः ॥
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगं विद्धि तत्प्राणयोजनम् ।
रेफो ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमाकारयोजनम् ॥

अतः रकार सच्चिदानन्दस्वरूप है, इसका अर्थ परमात्मा बताया जाता है । व्यञ्जन निष्कल ब्रह्म है और आकार-स्वर प्राण एवं मायाका वाचक है । व्यञ्जनोंके साथ जो स्वर-संयोग है उसे चेतनके साथ प्राण-संयोजन समझो । इसीलिये ज्योतिर्मय रेफमें आकारकी योजना की गयी है ।

मकारोऽभ्युदयार्थत्वात् स मायेति च कीर्त्यते ।
सोऽयं बीजं स्वकं यस्मात् समायं ब्रह्म चोच्यते ॥

मकार अभ्युदयका वाचक है, इसीलिये उसे माया भी कहते हैं । यह मकार राममन्त्रका अपना बीज है, इसलिये राम शब्दसे मायायुक्त (लीलामय) ब्रह्मका प्रतिपादन होता है ।

सबिन्दुः सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दुरूपवान् ।
ज्योतिस्तस्य शिखा रूपं नादः सप्रकृतिर्मतः ॥

'रां'में जो अनुस्वार उच्चारित होता है वह बिन्दु कहा गया है । अतः उक्त बीज सबिन्दु पुरुषका बोधक है । वह पुरुष शिव, सूर्य और चन्द्ररूप है । ज्योति उसकी शिखा है और नाद रूप है । उस नादको ही प्रकृति कहा गया है ।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ समायाद् ब्रह्मणः स्मृतौ ।
बिन्दुनादात्मकं बीजं वह्निसोमकलात्मकम् ॥

प्रकृति और पुरुष दोनोंका आविर्भाव मायायुक्त ब्रह्मसे हुआ है । बिन्दु पुरुष और नाद प्रकृति है । वह बिन्दु-नादात्मक बीज अग्निकला और सोमकला-स्वरूप है ।

अग्नीषोमात्मकं रूपं रामबीजे प्रतिष्ठितम् ।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः ॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।
बीजोक्तमुभयार्थत्वं रामनामनि दृश्यते ॥

यह अग्नीषोमात्मक रूप रामबीजमें प्रतिष्ठित है । जैसे वट-बीजके भीतर प्राकृत विशाल वृक्ष अवस्थित है । उसी प्रकार राम बीजमें यह सम्पूर्ण चराचर जगत् निहित है । बीजोक्त उभयार्थता रामनाममें देखी जाती है ।

* 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रसे 'रा' तथा 'नमः शिवाय' इस पञ्चाक्षर मन्त्रसे 'म' लेकर 'राम' मन्त्र बना है; अतः यह उन दोनों मन्त्रोंका सार-तत्त्व है ।

बीजं मायाविनिर्मुक्तं परं ब्रह्मेति कीर्त्यते ।
मुक्तिदं साधकानां च मकारो मुक्तिदो मतः ॥
मारूपत्वादतो रामो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।

बीज मायामुक्त परब्रह्म कहा जाता है। वह साधकोंके लिये मोक्षदायक है और मकार भोग-प्रदाता माना गया है; क्योंकि वह मा—लक्ष्मीका रूप है। इसीलिये राम भोग और मोक्ष दोनों फलोंके दाता हैं।

आद्यो रा तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वम्पदार्थवान्॥
तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्त्वविदो विदुः ।

रामका आदि अक्षर 'रा' तत्पदार्थ है और मकार 'त्वं' पदार्थ। इन दोनोंका संयोजन 'असि' के अर्थमें हुआ है। (इस तरह रामका अर्थ हुआ 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह ब्रह्म तुम हो)—ऐसा तत्त्ववेत्ता पुरुष जानते हैं।

नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ॥
असीत्यर्थे चतुर्थी स्यादेवं मन्त्रेषु योजयेत् ।

'रामाय नमः' इस मन्त्रमें जो नमः पद है, उसका अर्थ त्वम् (तुम) जानना चाहिये। तथा 'राम' शब्द तत्पदका वाचक कहा जाता है, चतुर्थी विभक्ति असिके अर्थमें है। इस प्रकार मन्त्रोंमें योजना करनी चाहिये।

तत्त्वमस्यादिवाक्यं तु केवलं मुक्तिदं यतः ॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतत्तस्मादप्यतिरिच्यते ।
मनुष्वेतेषु सर्वेषामधिकारोऽस्ति देहिनाम् ॥

'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-वाक्य तो केवल मुक्ति देनेवाले हैं, परंतु राममन्त्र भोग और मोक्ष दोनोंका दाता है। इसलिये यह उक्त वेदान्तवाक्यसे भी बढ़कर है। इन राम-मन्त्रोंमें समस्त देहधारियोंका अधिकार है।

मुमुक्षूणां विरक्तानां तथा चाश्रमवासिनाम् ।
प्रणवत्वात्सदा ध्येयो यतीनां च विशेषतः ।
राममन्त्रार्थविज्ञानी जीवन्मुक्तो न संशयः ॥

मुमुक्षु, विरक्त, आश्रमवासी और विशेषतः यति (संन्यासी)—इन सब लोगोंके लिये राममन्त्र सदा ही ध्येय है, क्योंकि वह प्रणवरूप है। इस प्रकार राम-मन्त्रके अर्थको जाननेवाला जीवन्मुक्त है, इसमें संशय नहीं है।

य इमामुपनिषदमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति। स राममन्त्राणां कृतपुरश्चरणो रामचन्द्रो भवति। तदेतदृचाभ्युक्तम् ।

जो इस उपनिषद्का अध्ययन करता है वह अग्निपूत (आगमें तपाकर शुद्ध किये गये सुवर्णके समान पवित्र) हो जाता है। वह वायुपूत हो जाता है। वह सुरापानके पापसे मुक्त एवं शुद्ध हो जाता है। सुवर्णकी चोरी-जैसे महापातकसे छूटकर पवित्र हो जाता है तथा उसे ब्रह्महत्याके महान् पातकसे भी छुटकारा मिल जाता है। वह श्रीराम-मन्त्रोंका पुरश्चरण करके श्रीरामचन्द्र-स्वरूप हो जाता है। यही बात ऋचाद्वारा यों बतायी गयी है—

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥

रामोऽहमस्मि—'मैं राम हूँ'—इस प्रकार जो सदा यथार्थतः कहते और अनुभव करते हैं, वे निश्चय ही संसारी नहीं हैं। वे श्रीराम-स्वरूप ही हैं—इसमें कोई संदेह नहीं है। ॐ सत्यम् इति उपनिषत् ।

'ॐ भद्रं कर्णेभिरिति' शान्तिः ॥

इति श्रीरामरहस्योपनिषत् ॥

'ॐ भद्रं कर्णेभिः' इत्यादि शान्तिमन्त्रका पाठ करे।

इस प्रकार श्रीरामरहस्य-उपनिषद्की समाप्ति हुई।

ॐ शान्तिः !! शान्तिः !! शान्तिः !!

(३)

श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याणचिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं—'हे देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ (कल्याणकारी) वचन ही सुनें—निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें । न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें—किन्हीं अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो । हमारा शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें—हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते । हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके ।

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ।'

प्रथम खण्ड

राम-नामके विविध अर्थ, भगवान्‌के साकार तत्त्वकी व्याख्या, मन्त्र एवं यन्त्रका माहात्म्य

**ॐ चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ॥**
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः ।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा ॥
रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः ।
राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा ॥
प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम् ।
धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ॥
यथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात् ।
तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि ।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥

"ॐ सच्चिदानन्दमय महाविष्णु श्रीहरि जब रघुकुलमें दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए, उस समय उनका नाम 'राम' हुआ । इस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'जो महीतलपर स्थित होकर भक्तजनोंका सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करते और राजाके रूपमें सुशोभित होते हैं, वे राम हैं'—ऐसा विद्वानोंने लोकमें 'राम' शब्दका अर्थ व्यक्त किया है । 'राति राजते यो महीस्थितः सन् इति रामः'—इस विग्रहके अनुसार 'राति' या 'राजते' का प्रथम अक्षर 'रा' और 'महीस्थितः' का आदि अक्षर 'म' लेकर 'राम' बनता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । राक्षस जिनके द्वारा मरणको प्राप्त होते हैं, वे राम हैं । अथवा अपने ही उत्कर्षसे इस भूतलपर उनका 'राम' नाम विख्यात हो गया (उसकी प्रसिद्धिमें कोई व्युत्पत्तिजनित अर्थ ही कारण है, ऐसा नहीं मानना चाहिये) । अथवा वे अभिराम (सबके मनको रमानेवाले) होनेसे राम हैं । अथवा जैसे राहु मनसिज (चन्द्रमा) को हतप्रभ कर देता है, उसी प्रकार जो राक्षसोंको मनुष्यरूपसे प्रभाहीन (निष्प्रभ) कर देते हैं, वे राम हैं । अथवा वे राज्य पानेके अधिकारी महीपालों-

को अपने आदर्श चरित्रके द्वारा धर्ममार्गका उपदेश देते हैं, नामोच्चारण करनेपर ज्ञानमार्गकी प्राप्ति कराते हैं, ध्यान करनेपर वैराग्य देते हैं और अपने विग्रहकी पूजा करनेपर ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, इसलिये इस भूतलपर उनका 'राम' नाम पड़ा होगा। परंतु यथार्थ बात तो यह है कि उस अनन्त, नित्यानन्दस्वरूप, चिन्मय ब्रह्ममें योगीजन रमण करते हैं, इसलिये वह परब्रह्म परमात्मा ही 'राम' पदके द्वारा प्रतिपादित होता है।"

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

'यद्यपि ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत अवयवरहित और (पाञ्चभौतिक) शरीरसे रहित है, तथापि भक्त-जनोंके अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये वह चिन्मय देहको प्रकट करता है—भक्तोंके स्नेहवश निराकार ब्रह्म भी नराकार धारण कर लेता है।'

रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना।
द्वि चत्वारि षडष्टाऽऽसां दश द्वादश षोडश॥
अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना॥
शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना॥

'भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित जो देवता हैं, उन्हींकी पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, अङ्ग और अस्त्र आदिके रूपमें कल्पना होती है। अर्थात् भिन्न-भिन्न देवता ही अस्त्र आदिके रूपमें भगवान्‌की सेवा करते हैं, परंतु वे भगवत्स्वरूपसे पृथक् नहीं हैं। भगवान् जो अनेक प्रकारके स्वरूप धारण करते हैं, उनमें किसीके दो, किसीके चार, किसीके छः, आठ, दस, बारह, सोलह और अठारह—इतने-इतने हाथ कहे गये हैं। ये शङ्ख आदिसे सुशोभित होते हैं। 'विश्वरूप' धारण करनेपर भगवान्‌के सहस्रों हाथ हो जाते हैं। उन सभी विग्रहोंके भिन्न-भिन्न रंग और वाहन आदिकी भी कल्पना होती है। उनके लिये नाना प्रकारकी शक्तियों तथा सेना आदिकी भी कल्पना की जाती है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मामें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश आदिके रूपमें पञ्चविध शरीरकी कल्पना होती है और उन सबके लिये पृथक्-पृथक् सेना आदिकी कल्पना होती है।'

ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञकः।
जप्तव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति॥
क्रिया कर्मेति कर्तॄणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ।
मननात् त्राणनान्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः॥
सोभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना।
विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति॥

"ब्रह्मासे लेकर वृक्षादिपर्यन्त समस्त जड-चेतनका वाचक जो यह 'राम' मन्त्र है, यह अर्थके अनुरूप ही है—जैसा इस नामका अर्थ है, वैसा ही इसका प्रभाव भी है। अतः इस राम-मन्त्रकी दीक्षा लेकर सदा इसका जप करना चाहिये। इसके बिना भगवान्‌की प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती। क्रिया, कर्म इत्यादिका अनुष्ठान करनेवाले जो साधक हैं, उनके अर्थ (अभीष्ट प्रयोजन) को मन्त्र बता देता है—उसकी सिद्धिका निश्चय करा देता है, अतः मनन (निश्चय) और त्राणन (रक्षा) करनेके कारण वह मन्त्र कहलाता है। वह सम्पूर्ण अभिधेयोंका वाचक होता है। स्त्री-पुरुष उभयरूपमें विराजमान जो भगवान् हैं, उनके लिये प्रतीकरूप विग्रह-यन्त्रका निर्माण है। यदि बिना यन्त्रके पूजा होती है तो उससे देवता प्रसन्न नहीं होते।"

द्वितीय खण्ड

श्रीरामके स्वरूपका कथन, राम-बीजकी व्याख्या

स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।
जीवत्वेनेदमों यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च॥

कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजस्सत्त्वतमोगुणैः ।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महाद्रुमः ॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।
रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव चेति ॥
सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ
जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त ।
स्थितानि च प्रहृतान्येव तेषु
ततो रामो मानवो माययाध्यात् ॥
जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नमः स्या-
न्नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्प्राग्गुणेनेति ॥

"भगवान् किसी कारणकी अपेक्षा न रखकर स्वतः प्रकट होते या नित्य विद्यमान रहते हैं, इसलिये 'स्वभू' कहलाते हैं। चिन्मय प्रकाश ही उनका स्वरूप है, अतः वे ज्योतिर्मय हैं। रूपवान् होते हुए भी वे अनन्त हैं—देश, काल और वस्तुकी सीमासे परे हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है, वे अपनेसे ही प्रकाशित होते हैं। वे ही अपनी चैतन्यशक्तिसे सबके भीतर जीवरूपसे प्रतिष्ठित होते हैं तथा वे ही रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणका आश्रय लेकर समस्त जगत्की उत्पत्ति, रक्षा और संहारके कारण बनते हैं, ऐसा होनेसे ही यह जगत् सदा प्रतीतिगोचर होता है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब ॐकार है—परमात्मस्वरूप है। जैसे प्राकृत वटका महान् वृक्ष वटके छोटेसे बीजमें स्थित रहता है, उसी प्रकार यह चराचर जगत् रामबीजमें स्थित है। ('राम्' ही रामबीज है।) ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—ये तीन मूर्तियाँ 'राम्' के रकारपर आरूढ़ हैं तथा उत्पत्ति, पालन एवं संहारकी त्रिविध शक्तियाँ अथवा बिन्दु, नाद और बीजसे प्रकट होनेवाली रौद्री, ज्येष्ठा एवं वामा—ये त्रिविध शक्तियाँ भी वहीं स्थित हैं। ('राम्'का अक्षर-विभाग इस प्रकार है—र्, आ, अ, म्। इनमें रकार तो साक्षात् श्रीरामका वाचक है तथा उसपर आरूढ़ जो 'आ', 'अ' और 'म्' हैं, वे क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन देवोंके और उपर्युक्त त्रिविध शक्तियोंके वाचक हैं।) इस बीजमन्त्रमें प्रकृति-पुरुषरूप सीता तथा राम पूजनीय हैं। इन्हीं दोनोंसे चौदह भुवनोंकी उत्पत्ति हुई है। इनमें ही इन लोकोंकी स्थिति है तथा उन आकार-अकार-मकाररूप ब्रह्मा, विष्णु, शिवमें इन सबका लय भी होता है। अतः श्रीरामने माया (लीला) से ही अपनेको मानव माना। जगत्के प्राण एवं आत्मा-रूप इन भगवान् श्रीरामको नमस्कार है। इस प्रकार नमस्कार करके गुणोंके भी पूर्ववर्ती परब्रह्मस्वरूप इन नमस्कार-योग्य देवता श्रीरामके साथ अपनी एकताका उच्चारण करे अर्थात् दृढ़ भावनापूर्वक 'मैं ही श्रीरामरूप ब्रह्म हूँ'—यों कहे।"

तृतीय खण्ड

राम-मन्त्रकी व्याख्या, जपकी प्रक्रिया तथा ध्यान

जीववाचि नमोनाम चात्मा रामेति गीयते ।
तदात्मिका या चतुर्थी तथा चायेति कथ्यते ॥
मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः ।
फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥
यथा नामी वाचकेन नाम्ना योऽभिमुखो भवेत् ।
तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥
बीजशक्ती न्यसेद्दक्षवामयोः स्तनयोरपि ।
कीलो मध्येऽविनाभाव्यः स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥
सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारणः क्रमः ।
अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना समः ॥
स त्वनुष्णगुविश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत् ।
उत्पन्नं सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥

"नमः' यह नाम जीववाचक है और 'राम' इस पदके द्वारा आत्माका प्रतिपादन होता है तथा

खड़े हैं। उस समय श्रीराम, लक्ष्मण और श्रीसीताजीका एक त्रिकोण बन जाता है।

चतुर्थ खण्ड

षडक्षर मन्त्रका स्वरूप, भगवान् श्रीरामका स्तवन

तथैव तस्य मन्त्रस्य शेषोऽणुश्च खडेऽन्तया।
एवं त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः॥
स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम्।
कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च॥
नमो वेदादिरूपाय ओंकाराय नमो नमः।
रामाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने।
भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥

"जैसे श्रीराम-मन्त्रका 'राम्' यह बीज बताया गया, उसी प्रकार उसका शेष अंश भी बताया जाता है। अर्थात् 'राम' शब्दके चतुर्थ्यन्त रूपके साथ 'अणु'—जीव [ ] 'नमः' पद हो तो 'रां रामाय नमः' यह षडक्षर मन्त्र बनता है। इस प्रकार षडक्षर मन्त्र सिद्ध होनेपर दूसरा त्रिकोणरूप बनता है। (अर्थात् छहों अक्षरोंके न्यासके लिये छः कोण बनते हैं।) एक बार जब देवता भगवान्का दर्शन करनेके लिये आये, तब उन्होंने कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनपर विराजमान जगदीश्वर श्रीरघुनाथजीका इस प्रकार स्तवन किया—'काम-रूपधारी तथा मायामय स्वरूप ग्रहण करनेवाले श्रीरामको नमस्कार है। (अथवा कामबीज 'क्लीं' और मायामय बीज 'ह्रीं'से युक्त श्रीराम-मन्त्रको नमस्कार है—क्लीं रामाय नमः, ह्रीं रामाय नमः।') वेदके आदिकारण ॐकारस्वरूप श्रीरामको नमस्कार है। (इससे 'ॐ रामाय नमः' इस मन्त्रकी सूचना मिलती है।) रामा श्रीसीताजीको धारण करनेवाले अथवा रमणीय अधरोंवाले, आत्मरूप, नयनाभिराम श्रीरामको नमस्कार है। श्रीजानकीजीका शरीर ही जिनका आभूषण है अथवा जो श्रीजनकनन्दिनीके श्रीविग्रहको स्वयं ही शृङ्गार आदिसे विभूषित करते हैं, जो राक्षसोंके संहारक तथा कल्याणमय विग्रहवाले हैं तथा जो दशमुख रावणका अन्त करनेके लिये यमराजस्वरूप हैं, उन मङ्गलमय रघुवीरको नमस्कार है। हे रामभद्र! हे महा-धनुर्धर! हे रघुवीर! हे नृपश्रेष्ठ! हे दशवदन-विनाशक! हमारी रक्षा कीजिये तथा हमें ऐसी श्री—ऐश्वर्य-सम्पदा दीजिये, जिसका सम्बन्ध आपसे हो, अर्थात् जो भगवत्प्रीत्यर्थ ही उपयोगमें लायी जा सके।"

पञ्चम खण्ड

खरके वधसे लेकर वाली-वध तकका संक्षिप्त चरित्र

त्वमैश्वर्यं दापयाथ सम्प्रत्याखरमारणम्।
कुर्वन्ति स्तुत्य देवाद्यास्तेन सार्धं सुखं स्थिताः॥
स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः।
रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे।
स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः॥
तद्व्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च॥
विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम्।
हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया॥
पूजितावीरपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम्।
आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ॥

"रघुवीर! आप हमें ऐश्वर्यकी प्राप्ति कराइये।' भगवान् श्रीरामने जबतक खर-नामक राक्षसका वध किया, उतने समयतक देवता आदि उपर्युक्त रूपसे उनकी स्तुति करके उनके साथ सुखपूर्वक स्थित हुए। देवताओंकी ही भाँति ऋषि भी भगवान्की स्तुति करते रहे। उस समय खर आदिके मारे जानेपर राक्षसकुलोत्पन्न रावण (मारीचके साथ) वनमें आया और उसने अपने ही विनाशके लिये रामपत्नी सीताजीको हर लिया। उन

दिनों सीताजी भी वनमें ही रहती थीं। उसने 'वन'से उनको हरण किया, इससे वह राक्षस रावण कहलाया ('राम' शब्दसे 'रा' एवं 'वन' शब्दसे 'वन' लेकर 'रावण' नाम बना)। अथवा दूसरोंको रुलानेके कारण वह रावण कहलाता था। (अथवा एक दिन दशाननने कैलासको उठा लिया था। तब महादेवजीने कैलासपर बहुत भार डाल दिया। उस समय दशाननने बड़ा रव किया, इसीसे उसका नाम रावण हो गया।) तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण सीतादेवीका पता लगानेके व्याजसे वन-भूमिपर विचरने लगे। सामने कबन्ध नामक असुरको उपस्थित देख दोनों भाइयोंने उसे मार डाला और उस कबन्धके कथनानुसार वे दोनों शबरीके आश्रमपर गये। वहाँ शबरीने उनका बड़ी भक्तिसे स्वागत-सत्कार किया। तत्पश्चात् आगे जानेपर उन्हें वायुपुत्र भक्तवर हनुमान्‌जी मिले, जिन्होंने (मध्यस्थरूपमें) कपिराज सुग्रीवको बुलाकर उनके साथ दोनों भाइयोंकी मैत्री करायी। तत्पश्चात् दोनों भाइयोंने सुग्रीवसे अपना सब हाल आदि-से अन्ततक कह सुनाया।"

स तु रामे शङ्कितः सन्प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः।
विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत्॥
सप्त तालान्विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा॥
तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ स रामस्तस्य पत्तनम्।
जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात्॥
वाली तदा निर्जगाम तं वालिनमथाहवे।
निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयेत्ततः॥

'सुग्रीवको श्रीरामके पराक्रममें संदेह था, अतः उन्होंने परीक्षाके लिये श्रीरामको दुन्दुभिनामक राक्षसका विशाल शरीर दिखाया (जिसे वालीने मार गिराया था); श्रीरामने दुन्दुभिके उस शवको अनायास ही बहुत दूर फेंक दिया। इसके सिवा एक ही बाणसे सात तालवृक्षोंको तत्काल बींध डाला और इस प्रकार अपने मित्रको आश्वासन देकर प्रसन्नताका अनुभव किया। इससे कपिराज सुग्रीवको बड़ा हर्ष हुआ। इसके बाद वे श्रीरघुनाथजी सुग्रीवके नगरमें गये। वहाँ वालीके भाई सुग्रीवने बड़ी विकट गर्जना की। उस गर्जनाको सुनकर वाली बड़े वेगसे घरके बाहर निकला। श्रीरामने युद्धमें उस वालीको मार गिराया और किष्किन्धाके राज्यसिंहासनपर सुग्रीवको बिठा दिया।'

षष्ठ खण्ड

शेष चरित्रका संक्षिप्त वर्णन, आवरण-पूजाके लिये यन्त्रस्थ देवताओंका निरूपण

हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना॥
आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत।
ततस्तताार हनुमानब्धिं लङ्कां समाययौ॥
सीतां दृष्ट्वासुरान् हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम्।
स्वयमागत्य रामाय न्यवेदयत तत्त्वतः॥
तदा रामः क्रोधरूपी तानाहूयाथ वानरान्।
तैः सार्धमादायास्त्रांश्च पुरीं लङ्कां समाययौ॥
तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत्।
घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्भ्यां युक्तं तमाहवे॥
हत्वा विभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम्।
आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम सः॥

'तदनन्तर सुग्रीवने वानरोंको बुलाकर कहा—'वानर वीरो! तुम सब दिशाओंकी बातें जानते हो इस समय शीघ्र यहाँसे जाओ और मिथिलेशकुमारी सीताको आज ही ढूँढ़ लाकर रघुनाथजीको तुरंत अर्पित करो।' (इस आदेशके अनुसार सब दिशाओंकी ओर बहुत-से वानर चल पड़े।) तत्पश्चात् हनुमान्‌जी (जो कुछ प्रमुख वानरोंके साथ दक्षिण दिशामें खोज करनेके लिये भेजे गये थे) समुद्र लाँघकर लङ्कामें घुस गये। वहाँ सीताजीका दर्शन करके उन्होंने अनेक असुरोंका वध किया और स्वयं लङ्कामें आग लगा दी। फिर

पीछेकी ओर छत्र-चँवर धारण किये लक्ष्मणजी विराजमान हैं।* लक्ष्मणजीसे नीचे स्तरमें ताड़के पंखे हाथमें लिये हुए दोनों भाई भरत-शत्रुघ्न खड़े हैं। इस प्रकार लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको लेकर दूसरा त्रिकोण और बन जाता है। इस तरह छः कोण होते हैं। भगवान् श्रीराम पहले तो बीज-मन्त्रस्वरूप दीर्घ अक्षरोंके ही आवरणसे घिरे हुए हैं। (वह प्रथम आवरण इस प्रकार है—'रां', 'रीं', 'रूं', 'रैं', 'रौं', 'रः')।

द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतः ।
तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥
विभीषणं लक्ष्मणं चाङ्गदं चारिविमर्दनम् ।
जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥
विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च ।
अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रैरेभिरावृतः ॥
सहस्रदृग्वह्निधर्मरक्षोवरुणानिलाः ।
इन्द्वीशधात्रनन्ताश्च दशभिस्त्वेभिरावृतः ॥
बहिस्तदायुधैः पूज्यो नलादिभिरलंकृतः ।
वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥

द्वितीय आवरण यों है—वासुदेव, शान्ति, संकर्षण, श्री, प्रद्युम्न, सरस्वती, अनिरुद्ध और रति। ये क्रमशः भगवान्के आग्नेय आदि दिशाओंमें स्थित हैं। द्वितीय आवरणमें भगवान् इन सबसे संयुक्त रहते हैं। तृतीय आवरणमें हनुमान्, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद तथा जाम्बवान् और शत्रुघ्नकी गणना है। अर्थात् इन सबसे जब श्रीरघुनाथजी संयुक्त होते हैं, तब तृतीय आवरण सिद्ध होता है। इनके अतिरिक्त धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्रसे आवृत होनेपर भी तृतीय आवरण ही रहता है। इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त—इन दस दिक्पालोंसे जब भगवान् आवृत होते हैं, तब चतुर्थ आवरण होता है। (इनमें इन्द्र पूर्वके, अग्नि अग्निकोणके, यम दक्षिणके, निर्ऋति नैर्ऋत्यकोणके, वरुण पश्चिमके, वायु वायव्यकोणके, चन्द्रमा उत्तरके और ईशान—शिव ईशानकोणके अधिपति हैं। इन सबकी अपनी-अपनी दिशामें पूजा करनी चाहिये। ब्रह्माका स्थान पूर्व दिशा और ईशानकोणके मध्यभागमें है तथा अनन्तका स्थान नैर्ऋत्यकोण और पश्चिमके मध्यभागमें है। इन्द्र आदिके बीज-मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—लं रं मं क्षं वं यं सं हं आं नं)। इन दिक्पालोंके बाह्य भागमें उनके ही वज्र आदि आयुध हैं, जिनसे आवृत भगवान् पूजनीय होते हैं। (उन आयुधोंके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—इन्द्रका वज्र, अग्निका शक्ति, यमका दण्ड, निर्ऋतिका खड्ग, वरुणका पाश, वायुका अङ्कुश, चन्द्रमाका गदा, ईशानका शूल, ब्रह्माका पद्म और अनन्तका चक्र।) उसी आवरणमें नल आदि वानर भी भगवान्की शोभा बढ़ाते हैं। साथ ही वसिष्ठ, वामदेव आदि मुनि भगवान्की उपासनामें संलग्न रहते हैं।

सप्तम खण्ड

पूजा-यन्त्रका विस्तृत वर्णन

एवमुद्देशतः प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना ।
त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥
तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः साध्यमालिखेत् ।
द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वे षष्ठ्यन्तं साधकं तथा ॥
कुरुद्वयं च तत्पार्श्वे लिखेद् बीजान्तरे रमाम् ।
तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टितं बुद्धिबुद्धिमान् ॥

* पहले लक्ष्मणको भगवान्के दक्षिण भागमें स्थित बता आये हैं और यहाँ पश्चिमभागमें उनकी स्थिति बतायी जाती है; परंतु इसमें विरोध नहीं है। वहाँ वनवासके समयका ध्यान है, अतः उसमें भरत आदिकी उपस्थिति नहीं है। यहाँ राज्याभिषेकके समय भरतजी भी हैं, अतः उस समय लक्ष्मणजीका पश्चभागमें स्थित होना उचित ही है।

दीर्घभाजि षडस्रेषु लिखेद् बीजं हृदादिभिः ।
कोणपार्श्वे रमामाये तदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ॥
क्रोधं कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्र्यभितो गिरम् ।
वृत्तत्रयं साष्टपत्रं सरोजं विलिखेत् स्वरान् ॥
केसरेष्वष्टपत्रे च वर्गाष्टकमथालिखेत् ।
तेषु मालामनोर्वर्णान् विलिखेदूर्मिसंख्यया ॥
अन्ते पञ्चाक्षरानेवं पुनरष्टदलं लिखेत् ।
तेषु नारायणाष्टार्णं लिखेत् तत्केसरे रमाम् ॥
तद्बहिर्द्वादशदलं विलिखेद् द्वादशाक्षरम् ।
तथोंनमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ॥

"इस प्रकार संक्षेपसे पूजा-यन्त्रका वर्णन किया गया । अब उसका पूर्णतया निर्देश किया जाता है । समरेखाओंके दो त्रिकोण बनाकर उनके मध्यभागमें दो प्रणवोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख करे । फिर उन दोनोंके बीचमें आद्यबीज (रां) लिखकर उसके नीचे साध्य-कार्यका उल्लेख करे । साध्यका नाम द्वितीयान्त होना चाहिये । आद्यबीजके ऊपरी भागमें साधकका नाम लिखना चाहिये । साधकका नाम षष्ठ्यन्त रहना चाहिये । तत्पश्चात् बीजके दोनों ओर—वाम-दक्षिण पार्श्वोंमें एक-एक 'कुरु' पदका उल्लेख करना चाहिये । बीजके बीचमें और साध्यके ऊपर श्री-बीज 'श्रीं' लिखे । बुद्धिमान् पुरुष ये सब बीज आदि इस प्रकार लिखे कि वे दोनों प्रणवोंसे सम्पुटित रहें । फिर छहों कोणोंमें दीर्घस्वरसे युक्त मूल-बीजका उल्लेख करे; साथ ही क्रमशः एक-एकके साथ 'हृदयाय नमः', 'शिरसे स्वाहा' इत्यादिको भी अङ्कित करे । (अर्थात् 'रां हृदयाय नमः,' 'रीं शिरसे स्वाहा', 'रूं शिखायै वषट्,' 'रैं कवचाय हुम्', 'रौं नेत्राभ्यां वौषट्' तथा 'रः अस्त्राय फट्'—इस प्रकार छः वाक्य छः कोणोंमें लिखने चाहिये ।) कोणोंके पार्श्वभागमें रमा-बीज (श्रीं) और माया-बीज (ह्रीं) लिखे तथा उसके आगे काम-बीज (क्लीं) का उल्लेख करे । कोणके अग्रभाग और भीतरी भागोंमें क्रोध-बीज (हुम्) लिखकर मन्त्र-साधक उस 'हुम्'के दोनों पार्श्वोंमें सारस्वत-बीज (ऐं) लिखे । फिर तीन वृत्त (गोलाकार रेखाएँ) बनाये । (इनमें एक वृत्त तो षट्कोणके ऊपर होगा, एक मध्यमें होगा और एक दलोंके अग्रभागमें रहेगा ।) इन तीन वृत्तोंके साथ-साथ एक अष्टदल कमल भी लिखे । कमलके जो केसर हैं, उनमें दो-दो अक्षरके क्रमसे सभी स्वर-वर्णोंका उल्लेख करे । आठों दलोंमें स्वरोंके ऊपर व्यञ्जन-वर्णोंके आठ वर्गोंका लेखन करे (आठ वर्ग ये हैं—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, शवर्ग और ळवर्ग) । उन आठों दलोंमें अष्टवर्गके ऊपर आगे बताये जानेवाले माला-मन्त्रके ४७ वर्णोंका एक-एक दलमें छः-छः वर्णके क्रमसे उल्लेख करे । अन्तिम दलमें अवशिष्ट पाँच वर्णोंका ही उल्लेख होगा । पूर्वोक्त प्रकारसे पुनः एक अष्टदल कमल बनाये । उसके आठ दलोंमें 'ॐनमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रके एक-एक अक्षरका न्यास करे । उसके केसरमें रमा-बीज (श्रीं) लिखे । उसके बाहर बारह दलोंका कमल बनाये और उसके बारहों दलोंमें द्वादशाक्षर मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इसके एक-एक अक्षरको अङ्कित करे ।"

अष्टम खण्ड

पूजा-यन्त्रके अगले अङ्गोंका वर्णन

आदिक्षान्तान् केसरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत् ।
तद्बहिः षोडशदलं लिखेत् तत्केसरे ह्रियम् ॥
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाक्षरम् ॥
तत्सन्धिष्वीरजादीनां मन्त्रान्मन्त्री समालिखेत् ।
हँ स्रँ भ्रँ व्रँ लँ श्रँ ज्रँ च लिखेत् सम्यक् ततो बहिः ॥
द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ।
विलिखेन्मन्त्रराजार्णांस्तेषु पत्रेषु यत्नतः ॥
ध्यायेदष्टवसूनेकादश रुद्रांश्च तत्र वै ।
द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं ततो बहिः ॥

भूगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम्।
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम्॥

"उक्त द्वादशदल कमलके केसरोंमें 'अकार' से लेकर 'क्ष' तकके वर्णोंको (१६ स्वर और ३५ व्यञ्जन) गोलाकार लिखे। (एक-एक केसरमें चार-चार अक्षर होंगे, किंतु अन्तिम केसरमें सात होंगे) उसके बाह्य-भागमें पुनः षोडशदल कमल लिखे और उसके केसरोंमें माया-बीज (ह्रीं) का उल्लेख करे। उसके षोडश दलोंमें एक-एक अक्षरके क्रमसे 'हुं' 'फट्' 'नमः' तथा द्वादशाक्षर मन्त्रको[1] अङ्कित करे। षोडश दलोंकी संधियोंमें मन्त्रवेत्ता पुरुष हनुमान्‌जी आदिके बीज-मन्त्र लिखे। वे मन्त्र इस प्रकार हैं—ह्रं सं भं वृं लं अं जूं और श्रृं। (इनके अतिरिक्त धृष्टि आदिके बीज-मन्त्रोंका भी उल्लेख करे। ये हैं—धृं जूं वृं सृं त्रृं अं धृं और श्रृं। मूल श्लोकमें आये हुए 'च' से इनका समुच्चय होता है।) उसके बाह्यभागमें बत्तीस दलोंका महाकमल बनाये, जो नाद और बिन्दुसे युक्त हो। उसके दलोंपर यत्नपूर्वक नारसिंह-मन्त्रराजके[2] बत्तीस अक्षरोंको लिखे। उन दलोंमें ही आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और सबको धारण करनेवाले[3] वषट्कारका न्यास एवं ध्यान करे। (वसु, रुद्र, आदित्य और वषट्कार—ये सब मिलकर बत्तीस हैं। इनका क्रमशः एक-एक दलमें ध्यान एवं न्यास करना चाहिये। ध्रुव, धर, सोम, आप्, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास—ये आठ वसु बताये गये हैं। विष्णुपुराण (१। १। १५) के अनुसार हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, शम्भु, वृषाकपि, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र हैं। धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा तथा विष्णु—ये बारह आदित्य हैं। उक्त बत्तीस दलोंवाले कमलके भी बहिर्भागमें भूगृह (भूपुर[4]) बनाये। उसके चारों दिशाओंमें वज्र तथा कोणोंमें शूलका चिह्न अङ्कित करे। उक्त भूपुरको तीन रेखाओंसे भी संयुक्त करे। ये रेखाएँ सत्त्वादि तीन गुणोंको सूचित करनेवाली होंगी। इसके सिवा—जैसे किसी मण्डपमें द्वार बने होते हैं, उसी प्रकार इसमें भी द्वार बनाये। साथ ही, उस भूपुरको राशि आदिसे भी विभूषित करे। अर्थात् उसे ज्योतिर्मण्डल-के आकारका बनाकर उसमें यथास्थान राशि आदि स्थापित करे। उक्त भूपुर-यन्त्रको शेषनागसे युक्त बनाये अर्थात् इस पुरमें प्रदर्शित करे कि इस यन्त्रको शेषनागने धारण कर रक्खा है। (अथवा उसको आठों दिशाओंसे आठों नागोंने धारण कर रक्खा है। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्ख और कुलिक)।"

---

१. द्वादशाक्षर मन्त्र यह है—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा।'

२. नारसिंह-मन्त्रराज इस प्रकार है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

३. वषट्कारके साथ मूल श्लोकमें 'धाता' शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ 'धारण करनेवाला' है। वषट्कार दानके अर्थमें प्रयुक्त होता है। दानसे ही समस्त लोक धारण किये जाते हैं, अतः 'धाता' पद 'वषट्कार' का विशेषण ही है। 'धाता' को देवतावाचक इसलिये नहीं मानना चाहिये कि बारह आदित्योंकी श्रेणीमें धाता नामक आदित्यका नाम आ चुका है। अथवा 'धाता' पद ब्रह्माजीका वाचक है और 'वषटकार' उसका विशेषण है। ब्रह्माजी ही सबको जन्म और जीवन प्रदान करते हैं, अतः उनके लिये 'वषट्कार' विशेषण देना उपयुक्त ही है।

४. भूपुर-यन्त्रका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'भूमेश्चतुरस्रं सवज्रकं पीतं च'—चौकोर रेखा, वज्र-चिह्नका संयोग और पीला रंग—यह भूपुर है।

मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजां-
स्युपर्यधर्यादिमैरर्चितानि ।
रजस्सत्त्वं तम एतानि वृत्त-
त्रयं बीजाढ्यं क्रमाद्भावयेच्च ॥
आशाव्याशास्वप्यथात्मानमन्त-
रात्मानं वा परमात्मानमन्तः ।
ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु
मायाविद्ये ये कलापारतत्त्वे ॥
सम्पूजयेद् विमलादींश्च शक्ती-
रभ्यर्चयेद्देवमावाहयेच्च ।
अङ्गव्यूहानिलजाद्यैश्च पूज्य
धृष्ट्यादिकैर्लोकपालैस्तदस्त्रैः ॥
वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नीलमुख्यै-
राराधयेद् राघवं चन्दनाद्यैः ।
मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्यै-
स्तस्मै जपादींश्च सम्यक् प्रकल्प्य ॥
एवंभूतं जगदाधारभूतं
रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम् ।
गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं
स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः ॥
विश्वव्यापी राघवो यस्तदानी-
मन्तर्दधे शङ्खचक्रे गदाब्जे ।
धृत्वा रमासहितस्सानुजश्च
सपत्तनस्सानुगस्सर्वलोकी ॥
तद्भक्ता ये लब्धकामांश्च भुक्त्वा
तथा पदं परमं यान्ति ते च ।
इमा ऋचस्सर्वकामार्थदाश्च
ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥

'सर्वप्रथम द्वार-पूजा करके पद्मासन[2] आदि आसनसे बैठे; फिर प्रसन्नचित्त होकर पञ्चभूत आदिकी शुद्धि करे (पृथिवी आदि तत्त्वोंका क्रमशः अपने कारणमें लय करते हुए अन्तमें सब कुछ परमात्मामें लय कर देना ही तत्त्वोंका शोधन है)।'

---

१. द्वारपूजाकी विधि इस प्रकार है—आचार्य विधिपूर्वक स्नान करके पूर्वाह्न-कृत्य (संध्या-वन्दन आदि नित्य-नियम) कर लेनेके पश्चात् वस्त्र और माला आदिसे अलंकृत हो पूजनादिरूप यज्ञके लिये मौनभावसे यज्ञ-मण्डपमें पदार्पण करे । वहाँ सविधि आचमन करके सामान्यतः पूजाके लिये अर्घ्य बनाकर रख ले। फिर मन्त्रयुक्त जलसे द्वारका अभिषेक करके उसका पूजन आरम्भ करे । द्वारके ऊपरी भागमें उदुम्बर (गूलर) का काष्ठ हो, उसमें विघ्न, लक्ष्मी तथा सरस्वतीका 'विं विघ्नाय नमः, लं लक्ष्म्यै नमः, सं सरस्वत्यै नमः'—इन मन्त्रोंसे आवाहन-पूजन करे। तत्पश्चात् दक्षिण शाखामें विघ्नका और वाम शाखामें क्षेत्रपालका पूजन करे । इन दोनोंके पार्श्वभागमें क्रमशः गङ्गा-यमुनाका पुष्प और जलसे पूजन करे। (दक्षिण द्वारभागमें गङ्गाका और वाम द्वारभागमें यमुनाका पूजन करना उचित है ।) तत्पश्चात् द्वारके निचले भागमें देहलीपर 'अस्त्राय फट्'का उच्चारण करते हुए 'अस्त्र'की पूजा करे । प्रत्येक द्वारपर इसी क्रमसे पूजन करना चाहिये ।

२. पद्मासन लगानेकी विधि यह है—बायीं जाँघपर दाहिना चरण रक्खे और दायीं जाँघपर बायाँ चरण रक्खे । फिर दाहिने हाथको पीठकी ओरसे ले जाकर बायें चरणका अँगूठा दृढ़ताके साथ पकड़ ले। इसी प्रकार बायें हाथको पीठकी ओरसे ले आकर दाहिने चरणका अँगूठा पकड़ ले । फिर गर्दन झुकाकर अपनी ठोढ़ीको छातीमें सटा ले और नेत्रोंसे केवल नासिकाके अग्रभागको ही देखे । यह योगाभ्यासी पुरुषोंके उपयोगमें आनेवाला पद्मासन कहलाता है; यह रोगोंका नाश करनेवाला है । परंतु जो भगवान्‌की पूजा करने बैठा हो, वह दोनों हाथोंसे अँगूठा पकड़नेका कार्य न करे; क्योंकि वैसे करनेपर हाथ खाली न रहनेसे पूजा सम्भव न होगी ।

(भूतशुद्धि यहाँ प्राण-प्रतिष्ठा और मातृकान्यासका भी उपलक्षण है ।) भगवान् श्रीरामके पूजन-क्रममें सिंहासन-

३. भूतशुद्धिका प्रकार यह है । अपने शरीरमें पैरोंसे लेकर घुटनोंतकका भाग पृथ्वीका स्थान है—ऐसी भावना करे । यह पृथिवीका स्थान चौकोर, वज्रके चिह्नसे युक्त और पीतवर्ण है, इसमें 'लं' बीज अङ्कित है—इस प्रकार चिन्तन करे । घुटनोंसे लेकर नाभितकके भागको जलका स्थान मानकर यह भावना करे कि इसकी आकृति अर्धचन्द्रके समान और वर्ण शुक्ल है । इसमें कमलका चिह्न है । इस जल-मण्डलमें 'वं' बीज अङ्कित है । नाभिसे लेकर कण्ठतकके भागको भावनाद्वारा त्रिकोणाकार अग्निमण्डलके रूपमें देखे । उसका वर्ण लाल है, उसमें स्वस्तिकका चिह्न और 'रं' बीज अङ्कित है—इस प्रकार चिन्तन करे । कण्ठसे ऊपर भौंहोंके मध्यतकका भाग वायुमण्डल है । उसका वर्ण कृष्ण है, आकृति षट्कोण है और वह छः बिन्दुओंसे अङ्कित है । उसमें 'यं' बीज अङ्कित है—यों ध्यानद्वारा देखे । भौंहोंके मध्यसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतकका भाग आकाशमण्डल है । उसकी आकृति गोल है और रंग धूएँके समान है । उसमें ध्वजाका चिह्न और 'हं' बीज अङ्कित है—ऐसा ध्यान करे । इस प्रकार चिन्तन करनेके पश्चात् उन भूतोंका लय करे । पृथिवीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें तथा आकाशको अव्यक्त प्रकृतिमें विलीन करे । यह प्रकृति ही अपरब्रह्म अथवा माया कहलाती है । इसका परमात्मामें लय करे । इस प्रकार भावनाद्वारा समस्त देहादि प्रपञ्चका परमात्मामें लय करके कुछ क्षणतक परमात्मरूपसे ही स्थित रहे, अर्थात् ध्यानद्वारा यह देखे कि मैं परमात्मामें मिलकर उनसे अभिन्न हो गया हूँ । फिर (ध्यान लगनेपर) अपने लिये भावनाद्वारा ही परम पवित्र शरीरकी सृष्टि करे । ध्यानके नेत्रोंसे देखे मानो परमात्मासे शब्द-ब्रह्मात्मिका माया प्रकट हुई है । यही जगन्माता और परा प्रकृति है । इस जगन्मातासे आकाश उत्पन्न हुआ है । आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी प्रकट हुई है । इन्हीं विशुद्ध भूतोंसे यह तेजोमय शरीर निर्मित हुआ है, जो परम पवित्र होनेके कारण आराध्यदेवकी आराधनाके सर्वथा योग्य है । उस शरीरमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, समस्त देवतारूप, सम्पूर्ण मन्त्रमय एवं कल्याणमय परमात्मा ही आत्मा एवं कारणरूपसे विराजमान है । इस प्रकारकी भावना ही मुख्यतः भूतशुद्धि कही गयी है ।

भूतशुद्धिकी दूसरी प्रक्रिया इस प्रकार है । साधक यह भावना करे कि मेरा हृदय एक प्रफुल्ल कमल है, जो प्रणवके द्वारा विकासको प्राप्त हुआ है । धर्म ही इस हृदय-कमलका मूल और ज्ञान ही नाल (मृणाल) है । यह बहुत ही शोभायमान है । अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य ही इसके आठ दल हैं । वैराग्य ही इसकी कर्णिका (मध्यभाग) है । इस कर्णिकामें जीवात्मा विराजमान है, जिसकी आकृति दीपककी ज्योतिके समान है । ऐसी भावनाके साथ साधक उस जीवात्माको सुषुम्णा नाड़ीके मार्गसे ब्रह्मरन्ध्रतक ले जाय और उसे परमात्मामें मिला दे । उस समय वह अपनेको परमात्मासे अभिन्न देखता हुआ 'सोऽहम्' मन्त्रका चिन्तन करता रहे । फिर योगयुक्त विधिसे अन्य (पृथिवी आदि) सब तत्त्वोंको भी उन्हीं परमात्मामें विलीन कर दे । तत्पश्चात् अनादि जन्मोंमें संचित किये हुए पापसमुदायका एक पुरुषके रूपमें चिन्तन करे । ब्रह्महत्या उस पापपुरुषका मस्तक है, सुवर्णकी चोरी उसकी दो भुजाएँ हैं, सुरापानरूपी हृदयसे वह युक्त है । गुरुपत्नीगमन ही उसके दो कटिभाग हैं । इन पापों और पापियोंका संसर्ग ही उसके युगल चरण हैं । उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग पातकमय ही है । उपपातक ही उसके रोएँ हैं । उसकी मूँछ-दाढ़ीके बाल और नेत्र लाल हैं । उसके शरीरका रंग काला है और वह अपने हाथोंमें ढाल-तलवार लिये हुए है । ऐसे पापमय पुरुषको अपनी कुक्षिके भीतर दाहिने भागमें स्थित देखते हुए चिन्तन करे । तत्पश्चात् पूरक आदिके क्रमसे अर्थात् पूरक, कुम्भक और रेचकरूप प्राणायामके द्वारा प्राणवायुको रोककर 'यं' बीज एवं वायुके द्वारा उस पापपुरुषके शरीरको सुखा दे । फिर अग्नि-बीज 'रं' के द्वारा अग्नि प्रकट करके उससे उसके शुष्क शरीरको जला डाले । तत्पश्चात् उत्तम बुद्धिसे युक्त विद्वान् पुरुष यह चिन्तन करे कि उस पापपुरुषके दग्ध शरीरका भस्म मेरी नासिकाके मार्गसे बाहर निकल आया है । तदनन्तर 'वं' इस बीजके द्वारा जल प्रकट करके उससे अपने समस्त शरीरको आप्लावित कर दे । इस प्रकार उस भावनामय दिव्य जलमें स्नान करके जब समस्त शरीर निर्मल एवं देवोपासनाके योग्य हो जाय, तब अपने साथ परमात्मामें लीन हुए पृथिवी आदि तत्त्वोंको पुनः अपनी-अपनी पूर्वावस्थामें पहुँचा दे । फिर जीवात्माको भी परमात्मासे पृथक् करके 'हंसः' इस मन्त्रके

जप करते हुए विधिपूर्वक हृदय-कमलपर ले आये। उक्त दोनों प्रकारोंमेंसे किसी एक प्रकारसे भूतशुद्धि कर लेना आवश्यक है। भूतशुद्धिके बिना की हुई पूजा अभिचार तथा बिना भक्तिके पूजनकी भाँति विपरीत फल दे सकती है।

४. इस प्रकार भूतशुद्धि करनेके पश्चात् प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिये। इसका विनियोग इस प्रकार है—'अस्य श्रीप्राणप्रतिष्ठामन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ऋषयः ऋग्यजुःसामाथर्वाणि छन्दांसि क्रियामयवपुः प्राणाख्या देवता आं बीजं ह्रीं शक्तिः क्रौं कीलकम्, अस्यां मूर्तौ प्राणप्रतिष्ठापने विनियोगः।

इस प्रकार विनियोग करके भगवान्‌की प्रतिमा अथवा यन्त्रपर हाथ रखकर निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़े—

'ॐ आं ह्रीं क्रौं अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः क्रौं ह्रीं आं हंसः सोऽहम्, अस्यां मूर्तौ अमुष्य प्राणा इह प्राणाः।' इसका उच्चारण करते समय भावना करनी चाहिये कि इस भगवद्विग्रहमें प्राणसंचार हो रहा है। 'अस्यां मूर्तौ' के आगे अमुष्यके स्थानमें 'श्रीरामस्य' इत्यादि आवश्यकताके अनुसार जोड़ लेना चाहिये।

इसी प्रकार पूर्वोक्त बीजोंको ॐ आं.....से लेकर सोऽहम् तक पुनः पढ़कर 'अस्यां मूर्तौ अमुष्य जीव इह स्थितः' इस वाक्यका उच्चारण करते हुए यह भावना करनी चाहिये कि इस भगवद्विग्रहमें जीवात्मारूपसे भगवान् स्वयं विराजमान हो रहे हैं। इसी प्रकार पुनः ॐ आं ह्रीं' इत्यादि पढ़कर 'अस्यां मूर्तौ अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणपाणिपादपायूपस्थानि इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु' इसका उच्चारण करते हुए विग्रह अथवा यन्त्रमें भगवान्‌की सम्पूर्ण इन्द्रियोंके आविर्भावकी भावना करे। 'अमुष्य' के स्थानपर सर्वत्र 'आराध्यदेव' के नामका षष्ठ्यन्त रूप लेना चाहिये और प्रत्येक कार्यमें तीन-तीन बार पाठ करना चाहिये। तत्पश्चात् गर्भाधानादि संस्कारकी सिद्धिके लिये पंद्रह बार प्रणव-जप करना आवश्यक है। प्राणप्रतिष्ठाके समय भगवद्विग्रहमें ऋषि आदिका न्यास भी करना चाहिये। उसका प्रकार यों है—'ॐ ब्रह्मविष्णुमहेश्वरऋषिभ्यो नमः शिरसि। ऋग्यजुःसामाथर्वच्छन्दोभ्यो नमः मुखे। प्राणदेवतायै नमः हृदि। आं बीजाय नमः गुह्ये। ह्रीं शक्तये नमः पादयोः। क्रौं कीलकाय नमः नाभौ।' इन छः मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करते हुए सिर, मुख, हृदय, गुह्य (गुदा), दोनों पैर और नाभिका दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे स्पर्श करना चाहिये। किसी-किसीके मतसे प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रमें केवल ब्रह्मा ही ऋषि, विराट् छन्द और प्रणव बीज है।

५—मातृकान्यासका क्रम इस प्रकार है। निम्नाङ्कित वाक्यका उच्चारण करके विनियोग करे—ॐ अस्य मातृकान्यासमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः गायत्री छन्दः सरस्वती देवता भगवत्प्रीतये ललाटाद्यङ्गेषु मातृकावर्णानां न्यासे विनियोगः। तत्पश्चात् निम्नाङ्कित छः वाक्योंको पढ़कर न्यास करे—१—'अं कं खं गं घं ङं आं' हृदयाय नमः। २—'इं चं छं जं झं ञं ईं' शिरसे स्वाहा। ३—'उं टं ठं डं ढं णं ऊं' शिखायै वषट्। ४—'एं तं थं दं धं नं ऐं' कवचाय हुम्। ५—'ओं पं फं बं भं मं औं' नेत्रत्रयाय वौषट्। ६—'अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः' अस्त्राय फट्। इनमेंसे पहले तीन वाक्योंको पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे क्रमशः हृदय, सिर और शिखाका स्पर्श करना चाहिये। चौथे वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथसे बायें और बायें हाथसे दायें कंधेका एक साथ ही स्पर्श करना चाहिये। पाँचवें वाक्यका उच्चारण करके दाहिने हाथकी अँगुलियोंके अग्रभागसे दोनो नेत्रों और ललाटके मध्यभागका स्पर्श करना चाहिये तथा छठे वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर तर्जनी तथा मध्यमा अँगुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये। तदनन्तर ध्यान करे—'मैं उज्ज्वल कान्ति एवं तीन नेत्रोंसे विभूषित माता सरस्वती देवीकी शरण लेता हूँ। उनके मुख, भुजा, चरण, कटिभाग एवं वक्षःस्थल आदि अङ्ग पचास अक्षरोंमें विभक्त हैं। मस्तकपर अर्धचन्द्रजटित चमचमाता हुआ किरीट शोभा पा रहा है। उनके उरोज सब ओरसे उभरे हुए—स्थूल एवं ऊँचे हैं। वे अपने कर-कमलोंमें मुद्रा, अक्षसूत्र, अमृतपूर्ण कलश और विद्या धारण किये हुए हैं।' इस प्रकार ध्यान करके ललाट, मुख-मण्डल, दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नासिका, दोनों कपोल, दोनों ओठ, दोनों दन्तपङ्क्ति, मस्तक, मुख, दोनों बाहुमूल, दोनों कूर्पर (कोहनी), दोनों मणिबन्ध (कलाई), दोनों हाथोंके अङ्गुलिमूल, दोनों हाथोंके अङ्गुल्यग्र, दोनों

दिशा अर्थात् कोणोंमें हैं, उनमें आग्नेय कोणसे आरम्भ करके क्रमशः आत्मा (लिङ्ग), अन्तरात्मा (जीव), परमात्मा (ईश्वर) और ज्ञानात्मा (लीला-पुरुषोत्तम) का पूजन करे[1] तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः माया-तत्त्व, विद्या-तत्त्व, कला-तत्त्व एवं पर-तत्त्वकी पूजा करे।[2] तदनन्तर विमला[3] आदि शक्तियोंका विधिवत् पूजन करे। फिर प्रधान देवताका आवाहन और पूजन करे।[4] इसके बाद जल आदिसे अङ्गव्यूहोंकी[5] पूजा करके धृष्टि[6] आदि, लोकपालगण,[7] उनके अस्त्र,[8] वसिष्ठ[9] आदि मुनि तथा नील[10] आदिके साथ चन्दन आदि उपचारों तथा नाना प्रकारके श्रेष्ठ उपहारोंद्वारा श्रीरघुनाथजीकी आराधना करे। उनकी पूजा करके विधिपूर्वक जप आदि भी उन्हें समर्पित करे। 'जो ऐसी महिमावाले, जगत्के आधारभूत और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, जिनके कर-कमलोंमें गदा, चक्र, शङ्ख और पद्म शोभा पा रहे हैं तथा जो भव-बन्धनका नाश करनेवाले हैं, उन भगवान् श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ।' यों कहकर उनकी वन्दना करे। जो इस प्रकार भगवान् श्रीरामका ध्यान करते हैं, वे सब मोक्ष (भगवान्का परमधाम) प्राप्त कर लेते हैं। विश्वव्यापी भगवान् श्रीराम लीला-संवरण-कालमें सशरीर अन्तर्धान हो गये थे। (अन्य प्राणियोंकी भाँति उन्होंने देहत्याग नहीं किया था।) शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मरूप उनके आयुध भी साथ ही अन्तर्धान हुए। उन्होंने अपने स्वाभाविक स्वरूपको धारणकर सीताजीके साथ परमधाममें पदार्पण किया। उस समय उनके साथ सारा परिवार, पुरजन, परिजन, समस्त भाई, समस्त प्रजाजन तथा विभीषण आदि शत्रुके वंशज भी परमधाममें चले गये। जो उनके भक्त होते हैं, वे मनोवाञ्छित भोगोंको पाते हैं, प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करते हैं तथा अन्तमें वे भी भगवान्के परमपदको प्राप्त करते हैं। जो लोग सम्पूर्ण काम्य भोगों और अर्थोंको देनेवाली इन ऋचाओं-का पाठ करते हैं, वे शुद्धान्तःकरण होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो पाठ करते हैं, वे निर्मल अन्तःकरणवाले होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

१—पूजाके मन्त्र इस प्रकार हैं'''ॐ आत्मने नमः, अन्तरात्मने नमः, परमात्मने नमः, ज्ञानात्मने नमः। २—मायातत्त्वाय नमः। विद्यातत्त्वाय नमः। कलातत्त्वाय नमः। परतत्त्वाय नमः। ३—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये पीठकी शक्तियाँ हैं। इनका स्थान अष्टदल कमलके केसरोंमें है। ये वर और अभयकी मुद्राओंसे युक्त होती हैं। ४—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय'''''इत्यादि मूल-मन्त्रका उच्चारण करके 'आहूतो भव' यों कहकर आवाहनकी मुद्रा दिखाये। दोनों हाथोंकी अञ्जलि बनाकर अनामिका अँगुलियोंके मूलपर्वपर अँगूठेको लगा देना—यह आवाहनकी मुद्रा है। यही अधोमुखी (नीचेकी ओर मुखवाली) कर दी जाय तो स्थापिनी (बिठानेवाली) मुद्रा कहलाती है। अँगूठोंको ऊपर उठाकर दोनों हाथोंकी संयुक्त मुट्ठी बाँध लेनेपर संनिधापिनी (निकट सम्पर्कमें लानेवाली) मुद्रा बन जाती है। यदि मुट्ठीके भीतर अँगूठेको डाल दिया जाय तो संरोधिनी (रोक रखनेवाली) मुद्रा कहलाती है। दोनों मुट्ठियोंको उत्तान कर देनेपर इसका नाम सम्मुखीकरणी (सम्मुख करनेवाली) मुद्रा होता है। ५—हृदय, मस्तक आदि भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी जल आदिसे पूजा ही अङ्गव्यूहोंकी पूजा है। ६—धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र। ७—इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त। ८—वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अङ्कुश, गदा, शूल, चक्र और पद्म—ये क्रमशः इन्द्र आदिके आयुध हैं। ९—वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वाल्मीकि, नारद, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार। १०— नील, नल, सुषेण, मैन्द, शरभ, द्विविद, धनद, गवाक्ष, किरीट, कुण्डल, श्रीवत्स, कौस्तुभ, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म—ये सोलह नील आदि हैं।

(४)

श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

"गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं—'हे देवगण! हम अपने कानोंसे शुभ (कल्याणकारी) वचन ही सुनें—निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें । न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें—किन्हीं अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो । हमारा शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ़ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें—हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते । हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके ।'

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ।'

प्रथम खण्ड

काशी एवं तारक-मन्त्रकी महिमा, ॐकाररूप पुरुषोत्तम रामके चार पाद

ॐ बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनमविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनं तस्माद्यत्र क्वचन गच्छेत्तदेव मन्येतेतीदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनमत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति तस्मादविमुक्तमेव निषेवेताविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥

"ॐबृहस्पतिने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'ब्रह्मन्! जिस तीर्थके सामने कुरुक्षेत्र भी छोटा लगे, जो देवताओंके लिये भी देव-पूजनका स्थान हो, जो समस्त प्राणियोंके लिये परमात्म-प्राप्तिका निकेतन हो, वह कौन है ?' यह प्रश्न सुनकर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'निश्चय ही अविमुक्त तीर्थ ही प्रधान कुरुक्षेत्र (सत्कर्मका स्थान) है । वही देवताओंके लिये भी देव-पूजाका स्थान है, वही समस्त प्राणियोंके लिये परमात्म-प्राप्तिका निकेतन है । अतः जहाँ कहीं भी जाय, उस अविमुक्त तीर्थको ही प्रधान कुरुक्षेत्र माने । वही देवताओंके लिये भी देवाराधनका स्थान है । वही सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये परब्रह्म-प्राप्तिका स्थान है । यहीं जीवके प्राण निकलते समय भगवान् रुद्र तारक-ब्रह्मका उपदेश करते हैं, जिससे वह अमृतमय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इसलिये अविमुक्त (काशी) का ही सेवन करे । अविमुक्त तीर्थका कभी परित्याग न करे । ठीक ऐसी ही बात है ।' इस प्रकार याज्ञवल्क्यने समझाया ।"

अथ हैनं भरद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं किं तारकं किं तरतीति स होवाच याज्ञवल्क्यस्तारकं दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं पुनर्माय नमश्चन्द्राय नमो भद्राय नम इत्येतद्ब्रह्मात्मिकाः सच्चिदानन्दाख्या इत्युपासितव्याः । अकारः प्रथमाक्षरो

भवत्युकारो द्वितीयाक्षरो भवति मकारस्तृतीयाक्षरो भवत्यर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति बिन्दुःपञ्चमाक्षरो भवति नादः षष्ठाक्षरो भवति तारकत्वात्तारको भवति तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि तदेवो-पास्यमिति ज्ञेयम् । गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्-भयात्संतारयति तस्मादुच्यते तारकमिति । य एतत्तारकं ब्राह्मणो नित्यमधीते स सर्वपाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति सर्वं तरति सोऽविमुक्तमा-श्रितो भवति स महान्भवति सोऽमृतत्वं च गच्छतीति ॥

तदनन्तर भरद्वाजने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा—'भगवन्! कौन तारक (तारनेवाला) है और कौन तरता है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनि बोले—"तारक-मन्त्र इस प्रकार होता है। दीर्घ आकारसहित अनल (रेफ, रकार) हो और वह रेफ बिन्दु (अनुस्वार) से पहले स्थित हो, उसके बाद पुनः दीर्घ स्वरविशिष्ट रेफ हो और उसके अनन्तर 'माय नमः' —ये दो पद हों; इस प्रकार 'रां रामाय नमः' यह तारक-मन्त्रका स्वरूप है। इसके सिवा 'राम' पदके सहित 'चन्द्राय नमः' और 'भद्राय नमः' ये दो मन्त्र भी तारक ही हैं। ये तीन मन्त्र क्रमशः ॐकारस्वरूप, तत्स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप हैं। ये ही क्रमशः 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' नाम धारण करते हैं। इस प्रकार इन नामोंकी उपासना करनी चाहिये। ॐकारमें प्रथम अक्षर अकार है, दूसरा अक्षर उकार है, तीसरा अक्षर मकार है, चौथा अक्षर अर्धमात्रा है, पञ्चम अक्षर अनुस्वार है और छठा अक्षर नाद है। (इस प्रकार छः अक्षर-वाला तारक-मन्त्र होता है।) यह सबको तारनेवाला होनेसे तारक कहलाता है। उस ॐकार अथवा उपर्युक्त त्रिविध राम-मन्त्रको ही तुम 'तारक ब्रह्म' समझो। वही उपासनाके योग्य है—यों जानना चाहिये। वह गर्भ, जन्म, जरावस्था, मृत्यु तथा सांसारिक महान् भयसे भलीभाँति तार देता है। इसलिये 'तारक' इस नामसे इसका कथन किया जाता है। जो ब्राह्मण इस तारक-मन्त्रका सदा जप करता है, वह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है, वह मृत्युको लाँघ जाता है, वह ब्रह्महत्यासे तर जाता है, वह भ्रूणहत्यासे तर जाता है तथा वह वीर-हत्यासे तर जाता है। इतना ही नहीं, वह सम्पूर्ण हत्याओंसे तर जाता है, वह संसारसे तर जाता है, सबको पार कर जाता है। वह (जहाँ कहीं भी रहता हुआ) अविमुक्त-क्षेत्र (काशी-धाम) में ही रहता है। वह महान् होता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।'

अथैते श्लोका भवन्ति—

अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः ।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥
श्रीरामसांनिध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका ।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥

"इस विषयमें ये श्लोक हैं—

'सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी प्रणवके अकार अक्षरसे प्रादुर्भूत हुए हैं। ये जाग्रत्‌के अभिमानी 'विश्व' के रूपमें भावना करनेयोग्य हैं। (ये ही चतुर्व्यूहोंमें संकर्षणरूप हैं।) शत्रुघ्न स्वप्नके अभिमानी 'तैजस' रूप हैं, इनका आविर्भाव प्रणवके 'उ' अक्षरसे हुआ है। (चतुर्व्यूहोंमें इन्हींकी 'प्रद्युम्न' संज्ञा है।) भरतजी सुषुप्तिके अभिमानी 'प्राज्ञ'-रूप हैं। ये प्रणवके

'म्' अक्षरसे प्रकट हुए हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको 'अनिरुद्ध' कहा गया है।) भगवान् श्रीराम प्रणवकी अर्धमात्रारूप हैं। ये ही तुरीय पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्मानन्द ही इनका एकमात्र विग्रह है। (चतुर्व्यूहोंमें ये ही 'वासुदेव' नामसे प्रसिद्ध हैं।) श्रीरामके सामीप्य मात्रसे जो सम्पूर्ण देहधारियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं, वे जगदानन्ददायिनी विदेहनन्दिनी सीता नाद-बिन्दुस्वरूपा हैं। वे ही 'मूल प्रकृति' के नामसे जाननेयोग्य हैं। प्रणवसे अभिन्न होनेके कारण ही उन्हें ब्रह्मवादी जन 'प्रकृति' कहते हैं।'

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं—

भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पाज्जागरित-स्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूल-भुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः।

"ओम्' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् उसका ही उपव्याख्यान है—उसीकी महिमाका प्रकाशन करनेवाला है। जो पहले हो चुका है, जो अभी वर्तमान है तथा जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सम्पूर्ण जगत् ॐकार ही है; तथा जो ऊपर बताये हुए तीनों कालोंसे अतीत दूसरा कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है। (ॐकार नाम है और परमात्मा नामी, नाम और नामीमें कोई अन्तर नहीं है—यह दिखानेके लिये ही यहाँ सब कुछ ॐकार बताया गया है।) निश्चय ही यह सब ब्रह्म है। यह सर्वान्तर्यामी आत्मा भी ब्रह्म है। इस परमात्माके चार पाद हैं। (यद्यपि परमात्मा एक और अखण्ड है, तथापि उनके सम्पूर्ण स्वरूपका बोध करानेके लिये ही उसमें चार पादों—अंशोंकी कल्पना की गयी है। जाग्रत् यानी स्थूल जगत्, स्वप्न अर्थात् सूक्ष्म जगत्, सुषुप्ति—प्रलयावस्था अर्थात् कारण-तत्त्वमें लीन जगत् तथा इन सबसे अतीत विशुद्ध ब्रह्म—ये ही समग्र परमेश्वरके चार पाद अथवा अंश हैं। श्रीराम-तत्त्वके वर्णनमें 'रां' यह बीज ही प्रणव है तथा पुरुषोत्तम राम सम्पूर्ण परमेश्वर हैं। इनके चार पाद या अंश हैं—लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत तथा कौसल्यानन्दन श्रीराम—ये चारों मिलकर ही सम्पूर्ण राम हैं। जैसे सब कुछ 'ओम्' है, वैसे ही 'रां' भी है। 'रां' और 'ॐ' में माहात्म्य और महिमाकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। अतः यह सम्पूर्ण जगत् श्रीरामकी ही महत्ताका प्रकाशन कर रहा है।)

"जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् जिसका अवयव-संस्थान (शरीर) है, जो बहिःप्रज्ञ है—जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत्में सब ओर फैला हुआ है; भूः भुवः आदि सात लोक ही जिसके सात अङ्ग हैं; दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिसके मुख हैं; जो इस स्थूल जगत्का भोक्ता अर्थात् इसको जानने और अनुभव करनेवाला है—ऐसा वैश्वानर (विश्वरूप पुरुषोत्तम) ही सम्पूर्ण परमेश्वरका पहला पाद है। (लीलापुरुषोत्तम श्रीरामके चार पादोंमेंसे प्रथम पाद श्रीलक्ष्मणजी हैं। ये शेषनागके रूपमें अखिल विश्वके आश्रय होनेके कारण ही 'विश्व' अथवा 'वैश्वानर' नाम धारण करते हैं तथा श्रीरामकी प्राप्तिके लिये प्रथम उपाय है—श्रीलक्ष्मणजीकी आराधना। अतएव उन्हें प्रथम पाद कहा गया है। वे सदा जागरूक स्थितिमें रहते हैं, अतएव 'जागरितस्थान' हैं। बाहरकी सम्पूर्ण बातोंको जाननेमें सतत सावधान रहनेके कारण उन्हें 'बहिःप्रज्ञ' कहा गया है। भूर्भुवः आदि सात लोक अथवा तल-अतल आदि सात पातालोंकी स्थिति उनके ही अङ्गोंपर है, अतः वे 'सप्ताङ्ग' हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र;

जाता है। ऐसे जो अनिर्वचनीय परमात्मा श्रीराम हैं, वह मैं ही हूँ—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये। ॐ, तत्, सत्, यत् और परं ब्रह्म आदि नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले जो चिन्मय श्रीरामचन्द्रजी हैं, वह मैं ही हूँ, ॐ····सच्चिदानन्दमय, परम ज्योतिःस्वरूप जो वे श्रीरामभद्र हैं, वह मैं हूँ, वह मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनेको सामने लाकर मनके द्वारा परब्रह्म परमात्मा श्रीरामके साथ एकता करे—भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नताका चिन्तन करे।

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः॥
इत्युपनिषद्य एवं वेद स मुक्तो भवतीति याज्ञवल्क्यः॥

"जो लोग सदा यथार्थरूपसे समझकर 'मैं राम हूँ' यों कहते हैं, वे संसारी नहीं हैं। निश्चय ही वे श्रीरामके ही स्वरूप हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। यह उपनिषद् है। जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है—इस प्रकार याज्ञवल्क्यजीने उपदेश दिया।"

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा काच नाशीति सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवतीति सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति कतमच्चास्य स्थानं भवतीति भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीत्येतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद उपासत इति सोऽयमविमुक्त उपास्य इति सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेवं वेद स एषोऽक्षरोऽनन्तोऽव्यक्तः परिपूर्णानन्दैकचिदात्मा योऽयमविमुक्ते प्रतिष्ठित इति।

तदनन्तर महर्षि अत्रिने इन सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्यमुनिसे प्रश्न किया—'यह जो अनन्त एवं अव्यक्त आत्मा (परमात्मा) है, इसे मैं कैसे जानूँ?'

तब वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यजी बोले—उस अव्यक्त परमात्माकी अविमुक्त क्षेत्रमें उपासना करनी चाहिये। यह जो अनन्त एवं अव्यक्त आत्मा है, वह अविमुक्त क्षेत्रमें प्रतिष्ठित है।

प्रश्न—किंतु उस अविमुक्त क्षेत्रकी स्थिति कहाँ है?

उत्तर—अविमुक्त क्षेत्र वरणा और नाशीके मध्यमें प्रतिष्ठित है।

प्रश्न—'वरणा' नामसे कौन प्रसिद्ध है? और 'नाशी' किसका नाम है?

उत्तर—सम्पूर्ण इन्द्रियकृत दोषोंका वारण करती है, इससे वह 'वरणा' है और समस्त इन्द्रियजनित पापोंका नाश करती है, इससे वह 'नाशी' कहलाती है।

प्रश्न—इस अविमुक्तक्षेत्रका आध्यात्मिक स्थान कौन है?

उत्तर—भौंहों और नासिकाकी जो संधि है (जहाँ इडा और पिङ्गला नामकी दो नाड़ियाँ मिली हुई हैं), वह द्युलोक तथा उससे भी उत्कृष्ट ज्योतिर्मय परमधामकी संधिका स्थान है। निश्चय ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस संधिकी ही 'संध्या'के रूपमें उपासना करते हैं। अतः उस अव्यक्त परमात्मा श्रीरामकी अविमुक्त क्षेत्रमें रहकर अविमुक्तमें (भौंहों और नासिकाकी संधिमें) ही उपासना करनी चाहिये। जो उसे इस प्रकार जानता है, अर्थात् जो ऊपर बताये अनुसार यह भलीभाँति समझता है कि 'अव्यक्त परमात्माकी

उपासनाका आधिभौतिक स्थान अविमुक्तक्षेत्र (काशी) और आध्यात्मिक स्थान भौंहों एवं नासिकाके मध्यका भाग है—यहीं ध्यानद्वारा इस अव्यक्त तत्त्वका चिन्तन करना चाहिये, वही परमात्मासे नित्य सम्बद्ध (अविमुक्त) ज्ञानका उपदेश कर सकता है। यह अविनाशी, अनन्त, अव्यक्त, परिपूर्णानन्दैकचिन्मयविग्रह परमात्मा अविमुक्तक्षेत्रमें प्रतिष्ठित है।

अथ तं प्रत्युवाच—
श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।
मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः॥
ततः प्रसन्नो भगवाञ्श्रीरामः आह शंकरम्।
वृणीष्व यदभीष्टं तद् दास्यामि परमेश्वर इति॥
ततः सत्यानन्दचिदात्मा श्रीराममीश्वरः पप्रच्छ—
मणिकर्ण्यां वा मत्क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः॥
म्रियते देहि तज्जन्तोर्मुक्तिं नातो वरान्तरमिति।

इसके बाद याज्ञवल्क्यजीने अत्रि मुनिसे यह कथा कही—

"एक समय भगवान् शंकरने काशीमें हजारों मन्वन्तरतक जप, होम और पूजन आदिके द्वारा श्रीरामकी आराधना करते हुए श्रीराम-मन्त्रका जप किया। उससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामने शंकरजीसे कहा—'परमेश्वर! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँग लो, मैं उसे दूँगा।' तब सत्यानन्दचिन्मय भगवान् शंकरने श्रीरामसे कहा—'भगवन्! मणिकर्णिका तीर्थमें, मेरे काशीक्षेत्रमें अथवा गङ्गामें या गङ्गाके तटपर जो प्राण-त्याग करता है, उस जीवको आप मुक्ति प्रदान कीजिये। इसके सिवा दूसरा कोई वर मुझे अभीष्ट नहीं है।'

अथ होवाच श्रीरामः—
क्षेत्रेऽत्र तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः।
कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा॥
अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये।
अहं संनिहितस्तत्र पाषाणप्रतिमादिषु॥
क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद् भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्।
जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते॥
मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिवेति॥

"तब भगवान् श्रीरामने कहा—'देवेश्वर! तुम्हारे इस पावन क्षेत्रमें जहाँ कहीं भी प्राण त्याग करनेवाले कीड़े-मकोड़े आदि भी तत्काल मुक्त हो जायँगे, इसमें कोई संशय नहीं है। तुम्हारे इस अविमुक्त क्षेत्रमें सब लोगोंकी मुक्ति-सिद्धिके लिये मैं वहाँ पाषाणकी प्रतिमा आदिमें सदा निवास करता रहूँगा। शिवजी! इस काशीधाममें मेरे इस षडक्षर तारक-मन्त्र (रां रामाय नमः) द्वारा जो भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करेगा, मैं उसे ब्रह्महत्या आदि पापोंसे भी मुक्त कर दूँगा, तुम चिन्ता न करो। तुमसे अथवा ब्रह्माजीके मुखसे जो यहाँ षडक्षर मन्त्रकी दीक्षा लेते हैं, वे जीते-जी तो मन्त्रसिद्ध होते हैं और मृत्युके बाद जन्म-मरणसे मुक्त हो मुझे प्राप्त कर लेते हैं। शिवजी! जिस किसी भी मरणासन्न प्राणीके दाहिने कानमें तुम स्वयं मेरे मन्त्रका उपदेश करोगे, वह निश्चय ही मुक्त हो जायगा।'

श्रीरामचन्द्रेणोक्तं योऽविमुक्तं पश्यति स जन्मान्तरितान् दोषान् वारयतीति स जन्मान्तरितान् पापान् नाशयतीति।

"इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा वरदानसे अनुगृहीत अविमुक्तक्षेत्रका जो दर्शन करता है, वह जन्मान्तरके दोषोंको दूर कर देता है तथा वह जन्मान्तरके पापोंका नाश कर डालता है।"

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाचाथ कैर्मन्त्रैः

स्तुतः श्रीरामः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तान् नो ब्रूहि भगवन्निति । स होवाच याज्ञवल्क्यः श्रीरामेणैवं शिक्षितो ब्रह्मा पुनरेतया गद्यया गाथया नमस्करोति—

तदनन्तर उन प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यजीसे भरद्वाजने पूछा—'भगवन्! किन मन्त्रोंद्वारा स्तुति करनेपर भगवान् श्रीराम प्रसन्न होते हैं और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं? उन मन्त्रोंका आप हमें उपदेश करें।'

तब वे प्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्यजी बोले—'ब्रह्मन्! जिस प्रकार भगवान् शंकरको वरदान देते हुए श्रीरामजीने काशीका महत्त्व बताया था, उसी प्रकार किसी समय ब्रह्माजीको भी उन्होंने वैसा ही उपदेश दिया था। उनके द्वारा ऐसा उपदेश पाकर ब्रह्माजीने निम्नाङ्कित गद्यमयी गाथासे उन्हें नमस्कार किया।

विश्वाधारं महाविष्णुं नारायणमनामयम् ।
परिपूर्णानन्दविज्ञं परज्योतिःस्वरूपिणम् ॥
मनसा संस्मरन् ब्रह्मा तुष्टाव परमेश्वरम् ।

'जो सम्पूर्ण विश्वके आधार और महाविष्णुरूप हैं, रोग-शोकसे रहित नारायण हैं, परिपूर्ण आनन्द-विज्ञानके आश्रय हैं और परम प्रकाशरूप हैं, उन परमेश्वर श्रीरामका मन-ही-मन स्तवन करते हुए ब्रह्माजीने उनकी इस प्रकार स्तुति की—

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत् परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चाखण्डैकरसात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च ब्रह्मानन्दामृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यत् तारब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो ब्रह्मविष्णुरीश्वरो यः सर्वदेवात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः सपुराणा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यं जीवात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सर्वभूतान्तरात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये देवासुरमनुष्यादिभावा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च प्राणो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च यमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चान्तको भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च मृत्युर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

'ॐ जो जगत्-प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय

हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चामृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यानि पञ्चमहाभूतानि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः स्थावरजंगमात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च पञ्चाग्नयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् याः सप्त-महाव्याहृतयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या विद्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या सरस्वती भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या लक्ष्मीर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या गौरी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च त्रैलोक्यं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सूर्यो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सोमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यानि च नक्षत्राणि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च नवग्रहा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः।

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो अमृत एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो पाँच महाभूत और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा स्थावर-जंगमके आत्मा (अथवा चराचरस्वरूप) हैं तथा जो भू आदि तीनों लोक हैं, वे उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आहवनीय आदि पाँच अग्नियाँ एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो भूः आदि सात महाव्याहृतियाँ और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो विद्या और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं- तथा जो सरस्वती और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको

निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो लक्ष्मी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो गौरी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो भगवती जनकनन्दिनी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो त्रिलोकी—भूः, भुवः और स्वः है, वह सब भी उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो सूर्यदेव और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो चन्द्रमा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो नक्षत्रगण एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो नवग्रह और भू आदि तीन लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है।

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चाष्टौ लोकपाला भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चाष्टौ वसवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चैकादश रुद्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च द्वादशादित्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च भूतं भव्यं भविष्यद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति विराड् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो हिरण्यगर्भो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या प्रकृति-र्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चोंकारो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चतस्रोऽर्द्धमात्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः परमपुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च महेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च महादेवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् य ॐ नमो भगवते वासुदेवाय यो महाविष्णुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः परमात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो विज्ञानात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सच्चिदानन्दैकरसात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ।

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आठ लोकपाल और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आठ वसु और भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं तथा जो ग्यारह रुद्र और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो बारह आदित्य और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो कुछ बीत चुका है, हो रहा है तथा आगे होनेवाला है एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विराट परमेश्वर इस ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर व्याप्त हैं, वे और भू आदि तीनों लोक भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो प्रकृति एवं भूः भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ॐकार और भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो चार अर्धमात्राएँ और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो परम पुरुष एवं भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो महेश्वर और भूः-भुवः-स्वः—तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं, तथा जो महादेव एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रसे नमस्कार

[क]रने योग्य महाविष्णु एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे [भ]ी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो परमात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विज्ञानात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सच्चिदानन्दैकरसात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है।'

इत्येतान्ब्रह्मवित्सप्तचत्वारिंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवंस्ततो देवः प्रीतो भवति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति सोऽमृतत्वं च गच्छतीति ॥

'जो ब्रह्मवेत्ता इन (मन्त्रराजके ४७ अक्षरोंके अनुसार) सैंतालीस मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान् श्रीरामका स्तवन करता है, उसके ऊपर इस स्तुतिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। अतः जो इन मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान्की स्तुति करता है, वह भगवान्का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।'

अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच श्रीराममन्त्रराजस्य माहात्म्यमनुब्रूहीति।

तदनन्तर भरद्वाजने याज्ञवल्क्यकी सेवामें उपस्थित होकर प्रार्थना की—'भगवन्! श्रीराम-मन्त्रराजके माहात्म्यका वर्णन कीजिये।'

स होवाच याज्ञवल्क्यः—

स्वप्रकाशः परं ज्योतिः स्वानुभूत्यैकचिन्मयः।
तदेव रामचन्द्रस्य मनोराद्यक्षरः स्मृतः॥
अखण्डैकरसानन्दस्तारकब्रह्मवाचकः।
रामायेति सुविज्ञेयः सत्यानन्दचिदात्मकः॥
नमः पदं सुविज्ञेयं पूर्णानन्दैककारणम्।
सदा नमन्ति हृदये सर्वे देवा मुमुक्षव इति॥

तब उन प्रसिद्ध महात्मा याज्ञवल्क्यने कहा—

"स्वयंप्रकाश, परम ज्योतिर्मय तथा केवल अपने ही अनुभवद्वारा गम्य अद्वितीय चिन्मात्रस्वरूप जो परमात्म[ा] है, वही श्रीरामचन्द्रजीके षडक्षर मन्त्रका प्रथम अक्ष[र] ('रां' बीज) माना गया है। मन्त्रका मध्यभाग ज[ो] 'रामाय' पद है, वह अखण्डैकरसानन्दस्वरूप तार[क] ब्रह्मका वाचक है; उसे सच्चिदानन्दस्वरूप ही समझन[ा] चाहिये। मन्त्रका अन्तिम भाग जो 'नमः' पद है, उस[े] भी पूर्णानन्दैकविग्रह परमात्मस्वरूप ही जानना चाहिये। सम्पूर्ण देवता और मुमुक्षु पुरुष सदा अपने हृदयम[ें] उसको नमन करते रहते हैं।"

य एतं मन्त्रराजं श्रीरामचन्द्रषडक्षरं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति, स आदित्यपूतो भवति, स सोमपूतो भवति, स ब्रह्मपूतो भवति, स विष्णुपूतो भवति, स रुद्रपूतो भवति, स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति, स सर्वक्रतुभिरिष्टवान् भवति, तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति, श्रीरामचन्द्रमनुस्मरणेन गायत्र्याः शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतकोटिर्जपता भवति। दशपूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति, स पङ्क्तिपावनो भवति, स महान् भवति, सोऽमृतत्वं च गच्छति।

"जो श्रीरामचन्द्रके इस षडक्षर मन्त्रराज ('रां रामाय

स होवाच हनूमान् रामभक्तविभीषणकृत-रामपरिचर्यायां सप्त सहस्राणि संस्कृतवाक्यानि सप्त सहस्राणि गद्यानि पञ्चशतान्यार्याः अष्टौ सहस्राणि श्लोकाः चतुर्विंशतिसहस्राणि पद्यानि दशसहस्राणि दण्डका इत्येवमनुक्रमं ज्ञात्वा कृत-कृत्यो भवेदिति हनुमदुपनिषत् ॥

हनुमान्जीने कहा कि "मुझसे भगवान् श्रीरामने यह बतलाया है। इसलिये प्रणव श्रीरामका अङ्ग बतलाया गया है।" इस प्रकार पवनपुत्रके कहनेपर उन ऋषियोंने पुनः श्रीहनुमान्जीसे पूछा और उनके उत्तरमें हनुमान्जीने बताया—"श्रीरामके भक्त श्रीविभीषणजीकी बनायी हुई—'श्रीरामपरिचर्या' में सात सहस्र संस्कृत-वाक्य, सात सहस्र गद्य, पाँच सौ आर्याछन्द, आठ सहस्र श्लोक, चौबीस सहस्र पद्य, दस सहस्र दण्डक हैं। इन मन्त्रोंके क्रमको जानकर जीव कृतकृत्य हो जाता है।"

द्वितीय खण्ड

हनुमानुवाच

सिंहासने समासीनं रामं पौलस्त्यसूदनम्।
प्रणम्य दण्डवद् भूमौ पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥
रघुनाथ महाबाहो कैवल्यं कथितं मया।
अज्ञानां सुलभं चैव कथनीयं च सौलभम् ॥

श्रीहनुमान्जीने कहा—"एक समयकी बात है, विभीषणने सिंहासनासीन रावणान्तक भगवान् श्रीरामको पृथ्वीपर लेटकर दण्डवत् प्रणाम करके उनसे प्रार्थना की—'हे महाबाहु श्रीरघुनाथजी! मैंने अपनी 'श्रीरामपरिचर्या' में कैवल्यस्वरूपका वर्णन किया है। वह सबके लिये सुलभ नहीं। अतः अज्ञजनोंकी सुलभताके लिये आप अपने सुलभ स्वरूपका उपदेश करें।'

श्रीराम उवाच

अथ पञ्च दण्डकाः पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहननःकोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटिनामानि जपते स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते स्वयमेव सच्चिदानन्दस्वरूपो भवेन्न किम् ॥

"यह सुनकर भगवान् श्रीरामने कहा—'तुम्हारे ग्रन्थमें जो पाँच दण्डक हैं, वे घोर-से-घोर पापात्माओंको भी पवित्र करनेवाले हैं। इनके अतिरिक्त जो मेरे छियानबे करोड़ नामों (राम) का जप करता है, वह भी उन सभी पापोंसे छूट जाता है। इतना ही नहीं, वह स्वतः सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है।'

पुनरुवाच विभीषणः—तत्राप्यशक्तो यः स किं करोति। स होवाच रामः पञ्चाशल्लक्षमन्मन्त्र-माद्यन्तप्रणवं मन्मन्त्राद्द्विगुणं प्रणवं यो जपते स स्वयमेवाहं भवेन्न किम्। पुनरुवाच कैकसेयः—तत्राप्यशक्ता ये ते किं कुर्वन्तीति स होवाच रामः। अथ त्रीणि पद्यानि पुरश्चरणानि तत्राप्यशक्तो यो मम गीता (रामगीता) मन्नामसहस्रं मद्विश्वरूपं मदष्टोत्तरशताभिधानं नारदोक्तं स्तवराजं हनूमदुक्तं मन्त्रराजात्मकस्तवं च सीतास्तवं रामरक्षेत्यादिभिः स्तवैरेतैर्मां नित्यं स्तौति स मत्सदृशो भवेन्न किमिति ॥ १३ ॥

"विभीषणजीने पुनः प्रार्थना की—'जो पाँच दण्डक या छियानबे करोड़ राम-नाम जपनेमें असमर्थ हो, वह क्या करे?' भगवान् श्रीरामने बतलाया—आदि-अन्तमें प्रणवसे सम्पुटित करके मेरे मन्त्रका पचास लाख जप, इसी प्रकार मेरे मन्त्रसे दुगुने प्रणवका जप जो करता है, वह निस्संदेह मेरा स्वरूप ही हो जाता है।' विभीषणने पुनः प्रार्थना की कि 'जो इतना करनेमें भी असमर्थ हों, वे क्या करें?' भगवान् श्रीरामने कहा—'वे तीन पद्यों (गायत्री) का पुरश्चरण करें और जो इसमें भी असमर्थ हों, वे

मेरी गीता (रामगीता), मेरे सहस्रनाम (रामसहस्रनाम) का जप, जो मेरे विश्वरूपका परिचायक है, करें। अथवा जो मेरे एक सौ आठ नामोंका जप, अथवा देवर्षि नारदद्वारा कहे श्रीरामस्तवराजका पाठ, अथवा हनुमान्‌जीद्वारा कहे गये मन्त्रराजात्मक स्तोत्र तथा सीतास्तोत्र या श्रीरामरक्षा आदि इन स्तोत्रोंसे नित्य मेरी स्तुति करते हैं, वे भी मेरे समान हो जाते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं।"

श्रीरामके द्वारा उपदिष्ट राजनीति

श्रीरामका लक्ष्मणके प्रति राजनीतिका उपदेश

(अनु०—साहित्याचार्य पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

(अग्निपुराण, अध्याय २३८)

[प्रस्तावनाके कुछ शब्द—आजकलके युगमें मेकियावेलीको महान् कूटनीतिज्ञ माना गया है। पर वस्तुतः कौटल्यके सामने वह निरा बच्चा-सा लगता है। इन कौटल्यने भी अपने अर्थशास्त्रमें बार-बार शुक्रका आदरपूर्वक परम नीतिमान्‌के रूपमें उल्लेख किया है।[क] और वे ही शुक्राचार्य अपने 'नीतिसार'में कहते हैं कि 'रामके समान नीतिमान् राजा पृथ्वीपर न कोई हुआ और न कभी होना सम्भव ही है'—

न रामसदृशो राजा पृथिव्यां नीतिमानभूत्।
(शुक्र० ४। ६। १३४६)

अन्य भी प्रसिद्ध सूक्तियाँ हैं—

नदीषु गङ्गा नृपतौ च रामः
काव्येषु माघः कविकालिदासः। –इत्यादि

पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज भी महर्षि वसिष्ठके शब्दोंमें कहते हैं—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ॥
(श्रीरामचरितमानस २। १५४। ५)

साथ ही उन्होंने भगवान् श्रीरामद्वारा श्रीलक्ष्मणजीको राजनीतिके उपदेशकी बात भी लिखी है—

फटिक सिला अति सुभ्र सुहाई।
सुख आसीन तहाँ द्वौ भाई॥
कहत अनुज सन कथा अनेका।
भगति बिरति नृपनीति बिबेका॥
(श्रीरामचरित०, किष्किन्धा० १३। ६-७)

पर लक्ष्मणजीको क्या उपदेश किया गया,[ख] इसका वहाँ उल्लेख नहीं मिलता। इसका विस्तृत उल्लेख अग्निपुराणके[ग] २३८ से २४२ अध्यायोंमें हुआ है। यद्यपि

(क) देखिये 'कौटलीय अर्थशास्त्र' १। २। ६–७—'दण्डनीतिरेका विधेत्यौशनसाः इति'। पुनः १। ८। २३, ८। १। ५६ इत्यादि।

(ख) भगवान् श्रीरामने भरतजीको भी राजनीतिका श्रेष्ठ उपदेश दिया है। उसका वर्णन वाल्मीकिरामायण (अयोध्याकाण्ड सर्ग १००) में देखना चाहिये। उसे विस्तारसे समझनेके लिये धर्माकूत, तिलक, शिरोमणि, तीर्थ, कतक तथा भूषण नामकी व्याख्याओंको भी देखना चाहिये।

(ग) अग्निपुराणका कालनिर्णय—कुछ लोग अग्निपुराणको अनेक कारणोंसे अत्यन्त आधुनिक बतलाते हैं। पर कालविवेचक विद्वानोंने विस्तारको पश्चाद्वर्त्तीका लक्षण माना है (देखिये पं० उदयवीर शास्त्रीकृत–'सांख्येतिहास' में 'अतिदूरात् सामीप्यात्' आदि कारिकापर विस्तृत विमर्श)। इस तरह कामन्दकादि ही पश्चाद्वर्ती हैं। कम-से-कम सामलक्षणपर यह स्पष्ट हो जाता है। अग्निपुराण पृ० ४३६ (मोर-संस्करण) में साम दो प्रकारका, पृ० ४७१, २४१। ४७ में ४ प्रकारका है। पर कामन्दक आदि

भारतीय राजनीतिके अनन्त ग्रन्थ हैं, जिनमें मत्स्यपुराणकी राजनीति, महाभारतका राजधर्म, गौतमधर्मसूत्र, श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणके प्रायः ६०० अध्यायोंके दूसरे एवं तीसरे खण्ड, बार्हस्पत्यार्थशास्त्र, कौटिलीय अर्थशास्त्र, सोमदेवका नीतिवाक्यामृत, शुक्र और कामन्दकके नीतिसार तथा इनकी जयमङ्गला, निरपेक्षा आदि व्याख्याएँ, चण्डेश्वरका राजनीतिरत्नाकर, वीरमित्रका राजनीतिप्रकाश आदि मुख्य हैं। तथापि प्रायः सभीमें अग्निपुराणकी यह रामोक्त राजनीति ही सूत्ररूपमें प्रविष्ट है। श्रीगोस्वामीजी महाराजने तो इनसे भी सूक्ष्मतर क्या सूक्ष्मतम रूपमें मानसके दो (प्रायः एकार्थक) दोहोंमें ही भगवान् श्रीरामके श्रीमुखसे समस्त राजनीति—राजनीतिका [illegible] कहला दिया है और उसकी महिमा भी कह दी है—

> सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
> तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥
> (श्रीरामचरितमानस २। ३०६)

> मुखिया मुख सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
> पालइ पोसइ सकल अँग तुलसी सहित बिबेक॥
> (श्रीरामचरितमानस २। ३१५)

> राजधरम सरबसु एतनोई। जिमि मन माहँ मनोरथ गोई॥
> (श्रीरामचरितमानस २। ३१६। १)

यहाँ राज्याङ्गोंमें मुख्य होनेसे राजाको मुखिया कहा गया है। भगवान् श्रीरामके आज्ञानुसार उसको मुखकी तरह होना चाहिये। जैसे मुख ही अन्नादिको ग्रहण करता दीखता है, पर वह पोषण सभी अङ्गोंका एक समान रूपसे करता है। इसी तरह यद्यपि कर, उपहारादि राजा ही ग्रहण करता दीखता है, तथापि उसके द्वारा राज्यके समस्त अङ्गोंका पोषण समानरूपसे होना चाहिये। बस, इसीके लिये राजधर्म—राजनीतिका विस्तृत प्रपञ्च है। यों राजनीतिका सार-सर्वस्व इतना ही है।

राज्याङ्ग क्या और कौन ?

मुखसे पोषित होनेवाले अङ्ग—हाथ, पाँव, नाक, कान, आँख आदि प्रसिद्ध हैं। पर मुखियाद्वारा पोषित राज्याङ्ग कौन-से हैं ? इस सम्बन्धमें भगवान् रामका निर्देश इस प्रकार है—

> स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
> परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते॥
> (अग्निपुराण, रामोक्त राजनीति, २३९। १)

शुक्र, कामन्दक, भीष्म, महाभारत, मत्स्यपुराण, पुष्कर (श्रीविष्णुधर्मोक्त राजनीति), अमर, बृहस्पति (गरुडपुराणोक्त नीतिशास्त्र) तथा कौटल्यादिका भी यही कथन है—

> स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
> सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपः स्मृतः॥
> (शुक्रनीति १। ६१; कामन्दक ४। १; अमर, महाभारत, कौटल्य, विष्णुधर्मोत्तर आदि सर्वत्र)

> दृगमात्यः सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
> हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि॥
> (शुक्र० १। ६२)

इस प्रकार शुक्रादिके अनुसार मन्त्री ही नेत्र, मित्र ही कान, कोश ही मुख, सेना मन, दुर्ग हाथ और राष्ट्र ही—राज्य ही पैर कहे गये हैं। ये सात राज्याङ्ग प्रसिद्ध हैं।

इन्हींके संचालन, पालन, संरक्षण और संवर्द्धनमें समस्त राजनीति गतार्थ होती है। इस रामोक्त राजनीतिका विस्तार प्रायः अन्यान्य राजनीति-ग्रन्थोंमें किया गया है, जिनका स्थालीपुलाकन्यायसे थोड़ा-सा दिग्दर्शन टिप्पणीके रूपमें कराया जायगा *। —पं० जानकीनाथ शर्मा]

इसके ५ प्रकार निरूपित हैं। अतः कामन्दक आदि ही भाष्य हैं। कम-से-कम १०वीं शतीके तथा पश्चाद्वर्ती साहित्यदर्पणादि बहुत-से ग्रन्थोंमें तो इसका नामपूर्वक निर्देश है। अतः बहुत आधुनिकताकी बात ही नहीं है। फाहियान, हुएनसांग, अलबरुनी आदिने भी इसका उल्लेख किया है।

* अग्निपुराणोक्त श्रीरामके द्वारा उपदिष्ट राजनीतिके दो अध्यायोंपर सम्मान्य पं० श्रीजानकीनाथजी शर्माने भी कृपापूर्वक लेख लिखा था। उसमें प्रत्येक श्लोकके अनुवादके साथ ही उपयोगी टिप्पणियाँ भी थीं। इधर पाँचों अध्यायोंका अनुवाद सटिप्पण सम्मान्य पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने भी लिख दिया है। उसीको प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तावना तथा टिप्पणी (क) से (न) तक पं० श्रीजानकीनाथजी शर्माकी लिखी हुई है।

—सम्पादक

अग्निरुवाच

नीतिस्ते पुष्करोक्ता तु
रामोक्ता लक्ष्मणाय या।
जयाय तां प्रवक्ष्यामि
शृणु धर्मादिवर्धनीम् ॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ ! मैंने तुमसे पुष्करकी कही हुई नीतिका वर्णन किया है। अब तुम लक्ष्मणके प्रति श्रीरामचन्द्रद्वारा कही गयी विजयदायिनी नीतिका निरूपण सुनो। यह धर्म आदिको बढ़ानेवाली है।

राजाकी चतुर्विधवृत्ति तथा पृथ्वीपालनके साधनभूत नय, विक्रम, उत्थान एवं विनय

श्रीराम उवाच

न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं रक्षणं तथा।
सत्पात्रप्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम् ॥
नयविक्रमसम्पन्नः सूत्थानश्चिन्तयेच्छ्रियम्।[घ]
नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयात् ॥
विनयो हीन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति।
तन्निष्ठस्य हि शास्त्रार्थाः प्रसीदन्ति ततः श्रियः॥

श्रीराम कहते हैं—लक्ष्मण ! न्याय (धान्यका छठा भाग लेने आदि) के द्वारा धनका अर्जन करना, अर्जित किये हुए धनको व्यापार आदि द्वारा बढ़ाना, उसकी स्वजनों और परजनोंसे रक्षा करना तथा उसका सत्पात्रमें नियोजन करना (यज्ञादिमें तथा प्रजापालनमें लगाना एवं गुणवान् पुत्रको सौंपना)—ये राजाके चार प्रकारके व्यवहार बताये गये हैं। राजा नय और पराक्रमसे सम्पन्न एवं भलीभाँति उद्योगशील होकर स्वमण्डल एवं परमण्डलकी लक्ष्मीका चिन्तन करे। नयका मूल है विनय और विनयकी प्राप्ति होती है[च] शास्त्रके निश्चयसे। इन्द्रिय-जयका ही नाम विनय है। जो उस विनयसे युक्त होता है, वही शास्त्रोंको प्राप्त करता है। जो शास्त्रमें निष्ठा रखता है, उसीके हृदयमें शास्त्रके अर्थ (तत्त्व) स्पष्टतया प्रकाशित होते हैं। ऐसा होनेसे स्वमण्डल और परमण्डलकी 'श्री' प्रसन्न (निष्कण्टकरूपसे प्राप्त) होती है—उसके लिये लक्ष्मी अपना द्वार खोल देती हैं।

सम्पत्तिसाधक गुण

शास्त्रप्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता।
उत्साहो वाग्मिता दार्ढ्यमापत्क्लेशसहिष्णुता ॥
प्रभावः शुचिता मैत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता।[छ]
कुलं शीलं दमश्चेति गुणाः सम्पत्तिहेतवः ॥

(घ) ये दोनों श्लोक कामन्दक नीतिसार १। २०-२१, शुक्रनीति १। ९०-९१, विष्णुधर्मोत्तर आदिमें हैं। कौटल्य १। २। १० में भी इसका भाव है। प्रायः आगेके सभी श्लोक बहुत स्थलोंपर मिलते हैं।

(च) 'यह तनय मो सम विनय बल'
(रा० मा० ४। १० छन्द)

वाल्मीकिरामायण २। ११२। १६—वैनयिकी च या; विनयः—४। १७। ३४, धर्मे विनीतः ४। ५। ९; गीता—५। १८ 'विद्याविनयसम्पन्ने' पर शांकरभाष्यादि। तथा कौ० अर्थ० २-३, रघुवंश १। २४; ६। ७९; ३। २४, १०। मालतीमाधव १। १८ इत्यादिमें तथा प्रायः राजनीति-शास्त्रोंमें सर्वत्र ही विनयका अर्थ जितेन्द्रियता अथवा मनोऽनुकूल न चलकर नीति-शास्त्रानुसार चलना ही है।

(छ) ये श्लोक कामन्दकनीति० १। २२-२३, शुक्रनीति १। ९२-९३, विष्णुधर्मोत्तर पु० इत्यादिमें हैं।

शास्त्रज्ञान, आँठ गुणोंसे युक्त बुद्धि[ज], धृति (उद्वेगका अभाव), दक्षता (आलस्यका अभाव), प्रगल्भता (सभामें बोलने या कार्य करनेमें भय अथवा संकोचका न होना), धारणशीलता (जानी-सुनी बातको भूलने न देना), उत्साह[झ] (शौर्यादि गुण[2]) प्रवचन-शक्ति, दृढ़ता (आपत्तिकालमें क्लेश सहन करनेकी क्षमता), प्रभाव (प्रभु-शक्ति), शुचिता (विविध उपायोंद्वारा परीक्षा लेनेसे सिद्ध हुई आचार-विचारकी शुद्धि), मैत्री (दूसरोंको अपने प्रति आकृष्ट कर लेनेका गुण), त्याग (सत्पात्रको दान देना), सत्य (प्रतिज्ञापालन), कृतज्ञता (उपकारको न भूलना), कुल (कुलीनता), शील (अच्छा स्वभाव) और दम (क्लेशसहनकी क्षमता)—ये सम्पत्तिके हेतुभूत गुण हैं।[3]

इन्द्रियोंको वशमें करने और काम-क्रोधादि षड्वर्गको त्याग देनेसे सुख

प्रकीर्णे विषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथिनम्।
ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत वश्यमिन्द्रियदन्तिनम्॥[ञ]
कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः॥[ट]

१—बुद्धिके आठ गुण ये हैं—सुननेकी इच्छा, सुनना, (ग्रहण करना, धारण करना (याद रखना), अर्थ-विज्ञान विविध साध्य-साधनोंके स्वरूपका विवेक), ऊह (वितर्क), अपोह (अयुक्ति-युक्तका त्याग) तथा तत्त्वज्ञान (वस्तुके स्वभावका निर्णय), जैसा कि कौटिल्यने कहा है—

'शुश्रूषा श्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः'

(कौटि० अर्थ० ६।१।९६) इति।

(ज) राजनीतिमें बुद्धिको ही प्रधानता दी गयी है। राजनीतिज्ञोंने 'बुद्धि' को अष्टाङ्ग माना है। वाल्मीकिरामायण, किष्किन्धाकाण्डमें समुद्रोल्लङ्घनके पूर्व अङ्गदके प्रस्तावको सुनकर हनुमान्‌जी उन्हें 'अष्टाङ्ग-बुद्धिसम्पन्न' समझते हैं—

बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गया युक्तं चतुर्बलसमन्वितम्।
चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् वालिनः सुतम्॥
(वाल्मीकि० ४।५४।२)

इसी प्रकार महाभारत वनपर्व २।१८, स्कन्दपुराण, माहेश्वरखण्ड, कौमारिकाखण्ड ४६।२३ आदिमें भी कमठादिने नन्दभद्रादिको अष्टाङ्ग-बुद्धिसे सर्वाश्रय-विज्ञातक कहा है। सांख्यदर्शन, सांख्यकारिका तथा उसकी विभिन्न टीकाओंमें अष्टाङ्ग-बुद्धिपर पचासों पृष्ठ हैं। कौटल्यने 'शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः' (६।१।४)—ये प्रज्ञाके गुण लिखे हैं। काम० ४।२१ में भी प्रायः ये ही बातें हैं। इनके जयमङ्गलादि व्याख्याताओंने इसपर बहुत ही विस्तृत प्रपञ्चका प्रस्तार किया है। इस अष्टाङ्गबुद्धिकी प्राप्तिके उपायपर भी सभी प्रायः एक-मत हैं। यथा—

गुरुस्तु विद्याधिगमाय सेव्यते
श्रुता च विद्या मतये महात्मनाम्।
श्रुतानुवर्तीनि मतानि वेधसा-
मसंशयं साधु भवन्ति भूतये॥
(कामन्दक० १।६९)

(झ) ६।१।९६ में कौटल्य शौर्य, अमर्ष तथा दाक्ष्यको 'उत्साह' गुण मानते हैं।

२—उत्साहके सूचक चार गुण हैं—दक्षता (आलस्यका अभाव), शीघ्रकारिता, अमर्ष (अपमानको न सह सकना) तथा शौर्य।

३—यहाँ धारणशीलता बुद्धिसे और दक्षता उत्साहसे सम्बन्ध रखनेवाले गुण हैं; अतः इनका वहीं अन्तर्भाव हो सकता था; तथापि इनका जो पृथक् उपादान हुआ है, वह इन गुणोंकी प्रधानता सूचित करनेके लिये।

(ञ) यह श्लोक भी शुक्रनीति १।९७ एवं कामन्दक १।२७ आदिमें मिलता है।

(ट) यह श्लोक भी कामन्दकनीति १।५७, शुक्रनीति १।१४२, विष्णुधर्म० तथा हितोपदेश ४।९६ आदि अनेक स्थलोंपर उपलब्ध होता है।

उन विद्याओंके अनुसार अनुष्ठान करनेवाले कर्मठ पुरुषोंके साथ बैठकर चिन्तन करे (जिससे लोकमें इनका सम्यक् प्रचार और प्रसार हो) । आन्वीक्षिकीसे आत्मज्ञान एवं वस्तुके यथार्थ स्वभावका बोध होता है । धर्म और अधर्मका ज्ञान वेदत्रयीपर अवलम्बित है, अर्थ और अनर्थ वार्ताके सम्यक् उपयोगपर निर्भर हैं तथा न्याय और अन्याय दण्डनीतिके समुचित प्रयोग और अप्रयोगपर आधारित हैं ।

सामान्य धर्म तथा राजाके सदाचार

अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते ॥ (त)

प्रजाः समनुगृह्णीयात् कुर्यादाचारसंस्थितिम् ।
वाक्सूनृता दया दानं दीनोपगतरक्षणम् ॥ (थ)

इति सङ्गः सतां साधु हितं सत्पुरुषव्रतम् ।
आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने ॥ (द)

को हि राजा शरीराय धर्मापेतं समाचरेत् ।

केवल एक तथा कामन्दक (२ । २–१०), कौटल्य (१ । २ । १–८) के अनुसार विद्याएँ चार हैं ।

वार्ता दण्डनीतिश्चेति वार्हस्पत्याः । दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः । चतस्र एवेति कौटल्यः ।

शुक्र आदिने एकमें ही सबको ग्रथित किया है ।

आजकी शुक्रनीतिमें ३२ विद्याओं एवं ६४ कलाओंका उल्लेख अवान्तरीय है—मुख्य एकके अन्तर्गत ।

(त) यह श्लोक कामन्दकीय नीतिसार (२ । ३२) में भी है । इसकी व्याख्यामें कामन्दकके २ । १८ से २ । ३५ के श्लोक द्रष्टव्य हैं । इनमें धर्मकी महिमा, चारों वर्णाश्रमोंके धर्म तथा धर्मरक्षाके लिये ही राजाकी आवश्यकता तथा वर्णाश्रमपालनसे राजाको श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति निरूपित है । यह बात सर्वत्र ही राजनीतिशास्त्रोंमें मुख्य मानी गयी है । इसके विना महर्घता तथा दुर्व्यवस्थाकी वृद्धिसे लोकक्षयकी नौबत पहुँच जाती है । कालिदास, कौटल्य, गौतम आदिके अनुसार भी वर्णाश्रमपालन ही प्रधान राजधर्म—राज्यव्यवस्था है । यथा—

वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ।
(मनु० ७ । ३५ तथा ८ । ३०४—३११ तक)

वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत् ।
चलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत् ।
(गौतम-धर्मसूत्र ११ । ४, १०)

चतुर्वर्णाश्रमस्यायं लोकस्याचाररक्षणात् ।
नश्यतां सर्वधर्माणां राजा धर्मप्रवर्तकः ॥
(कौटल्य० ३ । १ । ५०)

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥
(वही १ । ३ । १७)

वर्णाश्रमव्यवस्था तु तथा कार्या विशेषतः ।
स्वधर्मप्रच्युतान् राजा स्वधर्मे स्थापयेत्तथा ॥
(श्रीविष्णुधर्मकी राजनीति २ । ६३ । ५५)

मत्स्यपुराण २१५ । ६ तथा याज्ञवल्क्य० १ । ३२३; मार्कण्डेय-पुराणकी राजनीति (मदालसाप्रोक्त २७ । ३१-३२ तथा २८ । ३४), रघुवंशमें कालिदास १४ । ६७, महाभारत-शान्तिपर्व १४ । ६७, उद्योग० ६७, श्रीमद्भागवत १ । १७ । १६, वायुपुराण १७ । श्रीविष्णुधर्मोत्तरकी राजनीति २ । ६३ । ५५ –इन सभीका तात्पर्य वर्णाश्रम-धर्ममर्यादाकी रक्षामें है ।

(थ) यह श्लोक कामन्दकनीतिसार (३ । १-२) इत्यादिमें है ।

(द) यह श्लोक कामन्दकनीतिमें ३ । ९ पर है ।

भगवान् रामकी धर्मपरायणतापर विशेष जानकारीके लिये 'कल्याण' २५ । ४ का 'रामो विग्रहवान् धर्मः' शीर्षक लेख देखना चाहिये । उन्होंने समस्त राजाओंसे धर्मरक्षाकी प्रार्थना की है और धर्मशिलालेख लिखकर सेतुबन्धमें रखा है—जो इस प्रकार है—

भूयो भूयो भाविनो भूमिपाला
नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः ।
सामान्योऽयं धर्मसेतुर्नराणां
काले काले पालनीयो भवद्भिः ॥
वाताभ्रविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
मापातमात्रमधुरा विषयोपभोगाः ।

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करना—कष्ट न पहुँचाना, मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण करना, बाहर और भीतरसे पवित्र रहना एवं शौचाचारका पालन करना, दीनोंके प्रति दयाभाव रखना तथा क्षमा (निन्दा आदिको सह लेना)—ये चारों वर्णों तथा आश्रमोंके सामान्य धर्म कहे गये हैं। राजाको चाहिये कि वह प्रजापर अनुग्रह करे और सदाचारके पालनमें संलग्न रहे। मधुर वाणी, दीनोंपर दया, देश-कालकी अपेक्षासे सत्पात्रको दान, दीनों और शरणागतोंकी रक्षा* तथा सत्पुरुषोंका सङ्ग—ये सत्पुरुषोंके आचार हैं। यह आचार प्रजासंग्रहका उपाय है, जो लोकमें प्रशंसित होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा भविष्यमें भी अभ्युदयरूप फल देनेवाला होनेके कारण हितकारक है। यह शरीर मानसिक चिन्ताओं तथा रोगोंसे घिरा हुआ है। आज या कल इसका विनाश निश्चित है। ऐसी दशामें इसके लिये कौन राजा धर्मके विपरीत आचरण करेगा ?

दीनोंके उत्पीड़नसे हानि, दुर्जनको भी हाथ जोड़ने तथा सबसे प्रिय वचन बोलनेका उपदेश

न हि स्वसुखमन्विच्छन् पीडयेत् कृपणं जनम्।
कृपणः पीड्यमानो हि मन्युना हन्ति पार्थिवम्[ध] ॥
क्रियतेऽभ्यर्हणीयाय स्वजनाय यथाञ्जलिः।
ततः साधुतरः कार्यो दुर्जनाय शिवार्थिना ॥

* यहाँ यह प्रश्न होता है कि 'शरणागतोंकी रक्षा तो दयाका ही कार्य है, अतः दयासे ही वह सिद्ध है, फिर उसका अलग कथन क्यों किया गया ?' इसके उत्तरमें निवेदन है कि दयाके दो भेद हैं—उत्कृष्ट और अनुत्कृष्ट। जो उत्कृष्ट दया है, उसके द्वारा दीनोंका उद्धार होता है और अनुत्कृष्ट दयासे उपगत या शरणागतकी रक्षा की जाती है। यही सूचित करनेके लिये उसका अलग प्रतिपादन किया गया है।

(ध) यह श्लोक कामन्दक-नीति ३। ७, शुक्रनीति १। १५० इत्यादिमें भी आया है। अन्तिम पङ्क्तिमें शुक्रनीतिका पाठ 'हि मन्युना'की जगह 'स्वमृत्युना' है; अर्थ होगा—अपनी मौतसे अर्थात् स्वयं मरकर—प्राणदण्ड स्वीकार करके भी पीडकको मारता तथा स्वयं दीर्घायु होता है।

प्राणास्तृणाग्रजलबिन्दुसमा नराणां
धर्मः सदा सुहृदहो न विरोधनीयः ॥
चलदलदललीलाचञ्चले जीवलोके
तृणलवलघुसारे सर्वसंसारसौख्ये।
अपहरति दुराशः शासनं ब्राह्मणानां
नरकगहनगर्तावर्तपातोत्सुको यः ॥
(स्कन्दपुराण, धर्मा० ३४। ३८—४०)

अर्थात् भावी राजाओ ! रामचन्द्र आपलोगोंको बार-बार नमस्कार करके यह भिक्षा माँगता है कि 'आप आपातमधुर भोगोंमें न भूलें। तृणाग्रस्थ चपल जल-बिन्दुवत् लोल प्राणोंके मोहमें भी न पड़ें। राज्य भी तो वायुमें उड़कर नष्ट होनेवाले मेघके समान ही है, यह जीवलोक पीपलके पत्तेके समान चञ्चल है और संसारके सम्पूर्ण भोग तृणवत् अत्यन्त तुच्छ हैं। सुहृद् तो एक धर्म ही है; अतः उसका विरोध कभी न करें। जब जो राजा हों, धर्मसेतुका ही पालन करें।

'धर्म सेतु पालक तुम्ह ताता।'········

'श्रुतिसेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी'के अनुसार स्वयं वे वैसे ही रहे।

भगवान् श्रीव्यासदेवका कथन है कि यह ताम्रपत्रपर लिखा हुआ उनका शासनपत्र दो करोड़ वर्षोंसे अद्यावधि अक्षुण्ण है।

इसी प्रकार उनके पदचिह्न भी चित्रकूटादिमें अक्षुण्ण हैं। इनके कारणोंपर भी स्कन्दपुराण, धर्मारण्यखण्ड (३४। ११। १६) में श्रीव्यासदेवजीने प्रकाश डाला है। यथा—

अविनाशो हि ताम्रस्य कारणं तत्र विद्यते ॥
यस्य प्रतापाद्दृषदस्तारिता जलमध्यतः।
मुनिपुत्रं मृतं रामो यमलोकादुपानयत् ॥
तस्येदं शासनं दत्तमक्षयं न कथं भवेत्।
(स्कन्द० धर्मा० ३४। ७, १२, १३, १५)

प्रियमेवाभिधातव्यं सत्सु नित्यं द्विषत्सु च।[न]
देवास्ते प्रियवक्तारः पशवः क्रूरवादिनः॥

'राजाको चाहिये कि वह अपने लिये सुखकी इच्छा रखकर दीन-दुखी लोगोंको पीड़ा न दे; क्योंकि सताया जानेवाला दीन-दुखी मनुष्य दुःखजनित क्रोधके द्वारा अत्याचारी राजाका विनाश कर डालता है। अपने पूजनीय पुरुषको जिस तरह सादर हाथ जोड़ा जाता है, कल्याणकामी राजा दुष्टजनको उससे भी अधिक आदर देते हुए हाथ जोड़े। (तात्पर्य यह है कि दुष्टको सामनीतिसे ही वशमें किया जा सकता है।) साधु सुहृदों तथा दुष्ट शत्रुओंके प्रति भी सदा प्रिय[१] वचन ही बोलना चाहिये। प्रियवादी देवता कहे गये हैं और कटुवादी पशु।'

दूसरोंको अनुकूल बनानेके लिये राजाके बर्ताव

शुचिरास्तिक्यपूतात्मा पूजयेद्देवताः सदा।
देवतावद् गुरुजनमात्मवच्च सुहृज्जनम्॥
प्रणिपातेन हि गुरुं सतोऽनूचानचेष्टितैः।
कुर्वीताभिमुखान् भूत्यै देवान् सुकृतकर्मणा॥
सद्भावेन हरेन्मित्रं सम्भ्रमेण च बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यान् प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतराञ्जनान्॥

'बाहर और भीतरसे शुद्ध रहकर राजा आस्तिकता (ईश्वर तथा परलोकपर विश्वास) द्वारा अन्तःकरणको पवित्र बनाये और सदा देवताओंका पूजन करे। गुरुजनोंका देवताओंके समान ही सम्मान करे तथा सुहृदोंको अपने तुल्य मानकर उनका भलीभाँति सत्कार करे। वह अपने ऐश्वर्यकी रक्षा एवं वृद्धिके लिये गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणामद्वारा अनुकूल बनाये। अनूचान (साङ्गवेदके अध्येता) की-सी चेष्टाओंद्वारा विद्यावृद्ध सत्पुरुषोंका साम्मुख्य प्राप्त करे। सुकृतकर्म (यज्ञादि पुण्यकर्म तथा गन्ध-पुष्पादि-समर्पण) द्वारा देवताओंको अपने अनुकूल करे। सद्भाव (विश्वास) द्वारा मित्रका हृदय जीते, सम्भ्रम (विशेष आदर) से बान्धवों (पिता और माताके कुलोंके बड़े-बूढ़ों) को अनुकूल बनाये। स्त्रीको प्रेमसे तथा भृत्यवर्गको दानसे वशमें करे। इनके अतिरिक्त जो बाहरी लोग हैं, उनके प्रति अनुकूलता दिखाकर उनका हृदय जीते।'

राजाके महापुरुषोचित बर्ताव

अनिन्दा परकृत्येषु स्वधर्मपरिपालनम्।
कृपणेषु दयालुत्वं सर्वत्र मधुरा गिरः॥

(न) मृदु भाषणका विशेष जाननेके लिये 'कल्याण' ३०। ३ में हमारा 'विश्व-वशीकरण' शीर्षक लेख देखें। संक्षेपमें यहाँ कुछ मूल वचन दिये जाते हैं—

नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
यथास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद्रुशतीं पापलौल्याम्॥

(महाभारत, आदिपर्व ८७। ८, सभापर्व ६६। ६, अनुशासनपर्व १०४। २१, मत्स्यपुराण ३६। ८, भविष्यपुराण २०५। ८२ इत्यादि)

अरुंतुदं परुषं रूक्षवाक्यं वाक्कूटकैर्वितुदन्तं मनुष्यान्।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां मुखे निबद्धां निर्ऋतिं वहन्तम्॥

(महा० आदि० ८७। ९-११, उद्योग० ३४। ८०, ३६। ७-८, सभा० ६६। ७, अनुशासनपर्व १०४। ३२, मत्स्य० ३६। ९)

नवनीतोपमा वाणी करुणाकोमलं मनः।
धर्मबीजप्रसूतानामेतत्प्रत्यक्षलक्षणम्॥

(पद्मपुराण० १। ५१। १३१—३३)

मदरक्तस्य हंसस्य कोकिलस्य शिखण्डिनः।
हरन्ति न तथा वाचो यथा वाचो विपश्चिताम्॥

(शुक्र० १। १६८, महा० आदि० ८७। १२, कामन्दक० ३। २८-२९-४०)

कामान् दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाच्यमाहुः॥

(उत्तर० रा० च० ५। ३१)

१—प्रिय वचनसे शत्रु भी विश्वस्त होकर वशमें करनेयोग्य हो जाते हैं अथवा वे प्रसन्न होकर अपकार करना छोड़ देते हैं।

प्राणैरप्युपकारित्वं मित्रायाव्यभिचारिणे ।
गृहागते परिष्वङ्गः शक्त्या दानं सहिष्णुता ॥
स्वसमृद्धिष्वनुत्सेकः परवृद्धिष्वमत्सरः ।
नान्योपतापि वचनं मौनव्रतचरिष्णुता ॥
बन्धुभिर्बद्धसंयोगः सुजने चतुरश्रता ।
तच्चित्तानुविधायित्वमिति वृत्तं महात्मनाम् ॥[प]

'दूसरे लोगोंके कृत्योंकी निन्दा या आलोचना न करना, अपने वर्ण तथा आश्रमके अनुरूप धर्मका निरन्तर पालन, दीनोंके प्रति दया, सभी लोक-व्यवहारोंमें सबके प्रति मीठे वचन बोलना, अपने अनन्य मित्रका प्राण देकर भी उपकार करनेके लिये उद्यत रहना, घरपर आये हुए मित्र या अन्य सज्जनोंको भी हृदयसे लगाना—उनके प्रति अत्यन्त स्नेह एवं आदर प्रकट करना, आवश्यकता हो तो उनके लिये यथाशक्ति धन देना, लोगोंके कटुव्यवहार एवं कठोर वचनको भी सहन करना, अपनी समृद्धिके अवसरोंपर निर्विकार रहना (हर्ष या दर्पके वशीभूत न होना), दूसरोंके अभ्युदय-पर मनमें ईर्ष्या या जलन न होना, दूसरोंको ताप देनेवाली बात न बोलना, मौनव्रतका आचरण (अधिक वाचाल न होना); बन्धुजनोंके साथ अटूट सम्बन्ध बनाये रखना, सज्जनोंके प्रति चतुरश्रता (अवक्र—सरलभावसे उनका समाराधन), उनकी हार्दिक सम्मतिके अनुसार कार्य करना—ये महात्माओंके आचार हैं ।'
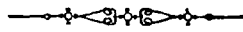
(प) (१) ये श्लोक कामन्दक 'नीति' ३ । २१–३७ इत्यादि तकमें भी आये हैं ।

(२) यह सामान्यनीति हुई । टीकाकारोंने तथा अन्य नीतिकारोंने राजाके लिये कुछ और सामान्य नीतियाँ लिखी हैं । वे अग्निपुराणमें हैं । उनमें कुछ ये हैं—

नास्य च्छिद्रं परो विद्याद् विद्याच्छिद्रं परस्य तु । गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् । विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् । वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥
दृढप्रहारी च भवेत्तथा शूकरवन्नृपः । चित्राकारश्च शिखिवद् दृढभक्तस्तथाश्ववत् ॥
भवेच्च मधुराभाषी शुककोकिलवन्नृपः । काकशङ्की भवेन्नित्यमज्ञातां वसतिं वसेत् ॥
नापरीक्षितपूर्वं च भोजनं शयनं व्रजेत् । न गाहेज्जनसम्बाधं न चाज्ञातं जलाशयम् ॥

(राजनीतिप्रकाश, पृष्ठ ११७, महा० शान्ति० १३८ । १९६–२००, आदिपर्व १४० । २४–२६, पञ्चतन्त्र २ ४७-४८, मत्स्यपुराण २१५ । ६८–७५, अग्निपुराण २२५ । २७—३०, कौटल्य० अर्थ० १ । १५ । ६५–६७, मनुस्मृति० ७ । १०५—१०७ इत्यादि)

तदनुसार राजाको कछुएके समान अपने अङ्गोंको—रहस्योंको अप्रकट रखना चाहिये । किसीपर पूरा विश्वास नहीं करना चाहिये । बकके तुल्य समाहित हो उपाय सोचना चाहिये, सिंहके समान पराक्रम करना चाहिये, भेड़ियेकी तरह आक्रमण करना चाहिये तथा खरहेकी तरह कूदना चाहिये । शूकरके समान दृढ़प्रहारी होना चाहिये और मयूरके समान सुन्दर वर्णवाला, कुत्तेकी तरह पूर्ण स्वामिभक्त एवं शुक-कोकिलके तुल्य मधुरभाषी होना चाहिये । राजाको काकके समान शङ्कालु हो गुप्तवास करना चाहिये तथा अपरीक्षित भोजन, शयन, नौका, जलाशय आदिका उपयोग-उपभोग भी नहीं करना चाहिये ।

उचित एवं उत्तम कार्यमें लगानेवाला), पात्रवित् (सत्पात्रका ज्ञान रखनेवाला), क्रोध, लोभ, भय, द्रोह, स्तम्भ (मान) और चपलता (बिना विचारे कार्य कर बैठना)—इन दोषोंसे दूर रहनेवाला, परोपताप (दूसरोंको पीड़ा देना), पैशुन्य (चुगली करके मित्रोंमें परस्पर फूट डालना), मात्सर्य (डाह), ईर्ष्या, (दूसरोंके उत्कर्षको न सह सकना) और अनृत* (असत्यभाषण)—इन दुर्गुणोंको लाँघ जानेवाला, वृद्धजनोंके उपदेशको मानकर चलनेवाला, श्लक्ष्ण (मधुरभाषी), मधुरदर्शन (आकृतिसे सुन्दर एवं सौम्य दिखायी देनेवाला), गुणानुरागी (गुणवानोंके गुणोंपर रीझनेवाला) तथा मितभाषी (नपी-तुली बात कहनेवाला) राजा श्रेष्ठ है। इस प्रकार यहाँ राजाके (य) आत्मसम्पत्ति-सम्बन्धी गुण (उसके स्वरूपके उपपादक गुण) बताये गये हैं।

सचिवके गुण

कुलीनाः शुचयः शूराः श्रुतवन्तोऽनुरागिणः।
दण्डनीतेः प्रयोक्तारः सचिवाः स्युर्महीपतेः॥

'उत्तम कुलमें उत्पन्न, बाहर-भीतरसे शुद्ध, शौर्य-सम्पन्न, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंको जाननेवाले, स्वामिभक्त तथा दण्डनीतिका समुचित प्रयोग जाननेवाले लोग राजाके सचिव (अमात्य†) होने चाहिये।

* आभिगामिक गुणोंमें 'सत्य' आ चुका है, यहाँ भी अनृत-त्याग कहकर जो पुनः उसका ग्रहण किया गया है, यह दोनों जगह उसकी अङ्गता प्रदर्शित करनेके लिये है।

(य) राजा सप्तराज्याङ्गोंमें प्रधान, अतः जीवात्मा-तुल्य है। उसके गुण आत्मसम्पत् हैं। इसपर शास्त्रोंमें बहुत विस्तृत सामग्री है। पूरी राजनीति प्रायः इसमें आ जाती है। महाभारतादिमें मुख्यतया राजाके आवश्यक छत्तीस गुण बतलाये गये हैं।

† कौटल्यने भी ऐसा ही कहा है—

'अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तान् अमात्यान् कुर्वीत।' (कौट० अर्थ० १।८।४)

बुद्धिसचिव और कर्मसचिवके सामान्य गुण

स्ववग्रहो[1] जानपदः कुलशीलबलान्वितः
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान्
स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः
सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुतः
कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः
दृढभक्तिरकर्ता च वैराणां सचिवो भवेत्

'जिसे अन्यायसे हटाना कठिन न हो, जिसका उसी जनपदमें हुआ हो, जो कुलीन (ब्राह्मण आदि सुशील, शारीरिक बलसे सम्पन्न, उत्तम वक्ता, स निर्भीक होकर बोलनेवाला, शास्त्ररूपी नेत्रसे उत्साहवान् (उत्साहसम्बन्धी त्रिविध[2] गुण—श अमर्ष एवं दक्षतासे सम्पन्न), प्रतिपत्तिमान् (प्रति शाली, भय आदिके अवसरोंपर उनका तत्काल प्रति करनेवाला), स्तब्धता (मान) और चपलतासे रहि मैत्र (मित्रोंके अर्जन एवं संग्रहमें कुशल), श उष्ण आदि क्लेशोंको सहन करनेमें समर्थ, शु (उपधाद्वारा परीक्षासे प्रमाणित हुई शुद्धिसे सम्पन्न सत्य (झूठ न बोलना), सत्त्व (व्यसन अभ्युदयमें भी निर्विकार रहना), धैर्य, स्थिर प्रभाव तथा आरोग्य आदि गुणोंसे सम्पन्न, कृतशि (सम्पूर्ण कलाओंके अभ्याससे सम्पन्न), दक्ष (शीघ्र पूर्वक कार्य-सम्पादनमें कुशल), प्रज्ञावान् (बुद्धिमान् धारणान्वित (अविस्मरणशील), दृढभक्ति (स्वामी प्रति अविचल अनुराग रखनेवाला) तथा किसीसे वैर रखनेवाला और दूसरोंद्वारा किये गये विरोधको शा कर देनेवाला पुरुष राजाका बुद्धिसचिव एवं कर्मसचि होना चाहिये।

१—सुविग्रहो।

२—कौटल्यने भी ऐसा ही कहा है—

'शौर्यममर्षो दाक्ष्यं चोत्साहगुणाः।' (कौट० अर्थ० ६।१।९६)

बुद्धि-सचिवके या मन्त्रीके विशेष गुण

स्मृतिस्तत्परतार्थेषु वितर्को[1] ज्ञाननिश्चयः ।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्तिता ॥

'स्मृति (अनेक वर्षोंकी बीती बातोंको भी न भूलना), अर्थ-तत्परता (दुर्गादिकी रक्षा एवं संधि आदिमें सदैव तत्पर रहना), वितर्क (विचार), ज्ञाननिश्चय (यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है—इस प्रकारका निश्चय), दृढ़ता तथा मन्त्रगुप्ति (कार्यसिद्धि होनेतक मन्त्रणाको अत्यन्त गुप्त रखना)—ये मन्त्रिसम्पत्के गुण कहे गये हैं ।'

पुरोहितके गुण

त्रय्यां च दण्डनीत्यां च कुशलः स्यात्पुरोहितः ।
अथर्ववेदविहितं कुर्याच्छान्तिकपौष्टिकम् ॥

'पुरोहितको तीनों वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) तथा दण्डनीतिके ज्ञानमें भी कुशल होना चाहिये; वह सदा अथर्ववेदोक्त विधिसे राजाके लिये शान्तिकर्म एवं पुष्टिकर्मका सम्पादन करे ।'*

निर्वाचनप्रणाली या चुनाव, अमात्योंकी गुणपरीक्षा

साधु तेषाममात्यानां तद्विद्यैः सह बुद्धिमान् ।
चक्षुष्मत्तां च शिल्पं च परीक्षेत गुणद्वयम् ॥

'बुद्धिमान् राजा तत्तद् विद्याके विद्वानोंद्वारा उन अमात्योंके शास्त्रज्ञान तथा शिल्पकर्म—इन दो गुणोंकी परीक्षा करे ।† यह परोक्ष या आगम प्रमाणद्वारा परीक्षण है ।'

कुल आदिकी परीक्षा

स्वजनेभ्यो विजानीयात् कुलं स्थानमवग्रहम् ।
परिकर्मसु दाक्ष्यं[1] च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ॥
गुणत्रयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां[2] तथा ।
कथायोगेषु बुध्येत वाग्मित्वं सत्यवादिताम् ॥

'कुलीनता, जन्मस्थान तथा अवग्रह (उसे नियन्त्रित रखनेवाले बन्धुजन)—इन तीन बातोंकी जानकारी उसके आत्मीयजनोंके द्वारा प्राप्त करे । (यहाँ भी आगम या परोक्ष प्रमाणका ही आश्रय लिया गया है ।) परिकर्म (दुर्गादि-निर्माण) में दक्षता (आलस्य न करना), विज्ञान (बुद्धिसे अपूर्व बातको जानकर बताना) और धारयिष्णुता (कौन कार्य हुआ और कौन-सा कर्म शेष रहा इत्यादि बातोंको सदा स्मरण रखना)—इन तीन गुणोंकी भी परीक्षा करे । प्रगल्भता (सभा आदिमें निर्भीकता), प्रतिभा (प्रत्युत्पन्नमतिता), वाग्मिता (प्रवचनकौशल) तथा सत्यवादिता—इन चार गुणोंको बातचीतके प्रसङ्गोंमें स्वयं अपने अनुभवसे जाने ।

आपत्तिकाल एवं व्यवहारकालमें परीक्षणीय गुण

उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ।
धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चापदि लक्षयेत् ॥
भक्तिं मैत्रीं च शौचं च जानीयाद्व्यवहारतः ॥

'उत्साह (शौर्यादि), प्रभाव, क्लेश सहन करनेकी क्षमता, धैर्य, स्वामिविषयक अनुराग और स्थिरता—इन गुणोंकी परीक्षा आपत्तिकालमें करे ।

१—चित्तशो ।

* यही अभिप्राय लेकर कौटल्यने कहा है—

'पुरोहितम् उदितोदितकुलशीलं साङ्गवेदे दैवे निमित्ते दण्डनीत्या च अभिविनीतमापदां दैवमानुषीणाम् आथर्वभिः उपायैः प्रतिकर्तारं प्रकुर्वीत । (कौट० अर्थ० १ । ९ । ५०)

† राजाओंके लिये तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमान । जैसा कि कौटल्यका कथन है—

'प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया हि राजवृत्तिः ।' इनमें स्वयं देखा हुआ प्रत्यक्ष, दूसरोंके द्वारा कथित परोक्ष तथा किये गये कर्मसे अकृत कर्मका अवेक्षण अनुमान है ।

१-दक्षम् । २-प्रीनताम् ।

राजाके प्रति दृढ़भक्ति, मैत्री तथा आचार-विचारकी शुद्धि—इन गुणोंको व्यवहारसे जाने ।'

पड़ोसियोंसे तथा प्रत्यक्ष और अनुमानसे जानने योग्य गुण

संवासिभ्यो बलं सत्त्वमारोग्यं शीलमेव च ।
अस्तब्धतामचापल्यं वैराणां चाप्यकर्तृताम्[१] ॥
प्रत्यक्षतो विजानीयाद्भद्रतां क्षुद्रतामपि ।
कर्मानुमेयाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ॥

'आसपास एवं पड़ोसके लोगोंसे बल, सत्त्व (सम्पत्ति और विपत्तिमें भी निर्विकार रहनेका स्वभाव), आरोग्य, शील, अस्तब्धता (मान और दर्पका अभाव) तथा अचापल्य (चपलताका अभाव एवं गम्भीरता)—इन गुणोंको जाने । वैर न करनेका स्वभाव, भद्रता (भलमनसाहत) तथा क्षुद्रता (नीचता) को प्रत्यक्ष देखकर जाने । जिनके गुण और बर्ताव प्रत्यक्ष नहीं हैं, उनके कार्योंसे सर्वत्र उनके गुणोंका अनुमान करना चाहिये ।'

उत्तम और अधम भूमिकी परीक्षा

सस्याकरवती पण्यखनिद्रव्यसमन्विता ।
गोहिता भूरिसलिला पुण्यैर्जनपदैर्वृता[३] ॥
रम्या सकुञ्जरवना[४] वारिस्थलपथान्विता ।
अदेवमातृका चेति शस्यते भूर्विभूतये[५] ॥
*** [सशर्करा सपाषाणा साटवी नित्यतस्करा ।**
रूक्षा सकण्टकवना सव्याला चेति भूरभूः ॥]

'जहाँ खेतीकी उपज अधिक हो, विभिन्न वस्तुओंकी खानें हों, जहाँ विक्रयके योग्य तथा खनिज पदार्थ प्रचुर मात्रामें उपलब्ध होते हों, जो गौओंके लिये हितकारिणी (घास आदिसे युक्त) हो, जहाँ पानीकी बहुतायत हो, जो पवित्र जनपदोंसे घिरी हुई हो, जो सुरम्य हो, जहाँके जंगलोंमें हाथी रहते हों, जहाँ जलमार्ग (पुल आदि) तथा स्थलमार्ग (सड़कें) हों, जहाँकी सिंचाई वर्षापर निर्भर न हो अर्थात् जहाँ सिंचाईके लिये प्रचुर मात्रामें जल उपलब्ध हो, ऐसी भूमि ऐश्वर्य-वृद्धिके लिये प्रशस्त मानी गयी है ।

'जो भूमि कँकरीली और पथरीली हो, जहाँ जंगल-ही-जंगल हों, जो सदा चोरों और लुटेरोंके भयसे आक्रान्त हो, जो रूक्ष (ऊसर) हो, जहाँके जंगलोंमें काँटेदार वृक्ष हों तथा जो हिंसक जन्तुओंसे भरी हो, वह भूमि नहींके बराबर है ।'

जनपदके गुण

*** [स्वाजीवो भूगुणैर्युक्तः सानूपः पर्वताश्रयः ।]**
शूद्रकारुवणिक्प्रायो महारम्भकृषीवलः ।
सानुरागो रिपुद्वेषी पीडाकरसहः पृथुः ॥
नानादेश्यैः समाकीर्णो धार्मिकः पशुमान् धनी[१] ।
ईदृग्जनपदः शस्तोऽमूर्खव्यसनिनायकः ॥

'जहाँ सुखपूर्वक आजीविका चल सके, जो पूर्वोक्त उत्तम भूमिके गुणोंसे सम्पन्न हो, जहाँ जलकी अधिकता हो, जिसे किसी पर्वतका सहारा प्राप्त हो, जहाँ शूद्रों, कारीगरों और वैश्योंकी बस्ती अधिक हो, जहाँके किसान विशेष उद्योगशील एवं बड़े-बड़े कार्योंका आयोजन करनेवाले हों, जो राजाके प्रति अनुरक्त, उनके शत्रुओंसे द्वेष रखनेवाला, जो पीड़ा तथा करका भार सहन करनेमें समर्थ हो, हृष्ट-पुष्ट एवं सुविस्तृत हो, जहाँ अनेक देशोंके लोग आकर रहते हों, जो धार्मिक, पशु-सम्पत्तिसे भरा-पूरा तथा धनी हो तथा जहाँके नायक (गाँवोंके मुखिया) मूर्ख और व्यसनग्रस्त न हों, ऐसा जनपद राजाके लिये प्रशस्त कहा गया है ।'

१—कीर्तनम् । २—फला । ३—पुण्या । ४—वला । ५—भूरिभूतये ।

* [ ]—भाग अधिक है ।
१—वली ।

दुर्गके गुण और भेद

पृथुसीमं[1] महाखातमुच्चप्राकारगोपुरम्[2] ।
समावसेत् पुरं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ॥
जलवद्धान्यधनवद् दुर्गं कालसहं महत् ।
औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनं तथा ॥
* [शस्तं प्रशस्तमतिभिर्दुर्गं दुर्गोपचिन्तकैः ।]

'जिसकी सीमा बहुत बड़ी एवं विस्तृत हो, जिसके चारों ओर विशाल खाइयाँ बनी हों, जिसके प्राकार (परकोटे) और गोपुर (फाटक) बहुत ऊँचे हों, जो पर्वत, नदी, मरुभूमि अथवा जंगलका आश्रय लेकर बना हो, ऐसे पुर (दुर्ग) में राजाको निवास करना चाहिये । जहाँ जल, धान्य और धन प्रचुरमात्रामें विद्यमान हों, वह दुर्ग दीर्घकालतक शत्रुके आक्रमणका सामना करनेमें समर्थ होता है । जलमय, पर्वतमय, वृक्षमय, ऐरिण (उजाड़ या वीरान स्थानपर बना हुआ) तथा धान्वन (मरुभूमि या बालुकामय प्रदेशमें स्थित) —ये पाँच प्रकारके दुर्ग हैं । दुर्गका विचार करनेवाले उत्तम बुद्धिमान् पुरुषोंने इन सभी दुर्गोंको प्रशस्त बतलाया है ।'

कोष कैसा हो ?

[बह्वादानोऽल्पनिःस्रावः ख्यातः पूजितदैवतः ।]
ईप्सितद्रव्यसम्पूर्णो हृद्यः[3] स्वाप्तैरधिष्ठितः ।
धर्मार्जितो व्ययसहः कोषो धर्मादिवृद्धये ॥

'जिसमें आय अधिक हो और खर्च कम अर्थात् जिसमें जमा अधिक होता हो और जिसमेंसे धनको कम निकाला जाता हो, जिसकी ख्याति खूब हो तथा जिसमें धनसम्बन्धी देवता (लक्ष्मी, कुबेर आदि) का सदा पूजन किया जाता हो, जो मनोवाञ्छित द्रव्योंसे भरा-पूरा हो, मनोरम हो और विश्वस्त जनोंकी देख-रेखमें हो, जिसका अर्जन धर्म एवं न्यायपूर्वक किया गया हो तथा जो महान् व्ययको भी सह लेनेमें समर्थ हो—ऐसा कोष श्रेष्ठ माना गया है । कोषका उपयोग धर्मादिकी वृद्धि तथा भृत्योंके भरण-पोषण आदिके लिये होना चाहिये ।'

१—सीमं । २—तोरणम् । ३—पितृपैतामहोचितः ।

सेना या सैनिक कैसे हों ?

पितृपैतामहो वश्यः संहतो दत्तवेतनः ।
विख्यातपौरुषो जन्यः कुशलः कुशलैर्वृतः[1] ॥
नानाप्रहरणोपेतो नानायुद्धविशारदः ।
नानायोधसमाकीर्णो नीराजितहयद्विपः ॥
प्रवासायासदुःखेषु युद्धेषु च कृतश्रमः ।
अद्वैध्यः क्षत्रियप्रायो दण्डो दण्डविदां[2] मतः ॥

'जो बाप-दादोंके समयसे ही सैनिक सेवा करते आ रहे हों, वशमें रहते (अनुशासन मानते) हों, संगठित हों, जिनका वेतन चुका दिया जाता हो—बाकी न रहता हो, जिनके पुरुषार्थकी प्रसिद्धि हो, जो राजाके अपने ही जनपदमें जन्मे हों, युद्धकुशल हों और कुशल सैनिकोंके साथ रहते हों, नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हों, जिन्हें नाना प्रकारके युद्धोंमें विशेष कुशलता प्राप्त हो तथा जिनके दलमें बहुत-से योद्धा भरे हों, जिन सैनिकोंद्वारा अपनी सेनाके घोड़े और हाथियोंकी आरती उतारी जाती हो जो परदेश-निवास, युद्धसम्बन्धी आयास तथा नाना प्रकारके क्लेश सहन करनेके अभ्यासी हों तथा जिन्होंने युद्धमें बहुत श्रम किया हो, जिनके मनमें दुविधा न हो तथा जिनमें अधिकांश क्षत्रिय जातिके लोग हों, ऐसी सेना या सैनिक दण्डवेत्ताओंके मतमें श्रेष्ठ है ।'

मित्रके गुण

त्यागविज्ञानसत्वाढ्यं[3] महापक्षं प्रियंवदम् ।
आयतिक्षममद्वैधं मित्रं कुर्वीत सत्कुलम् ॥

१—शकुनैर्वृतः । २—दण्डवताम् । ३—योग ।

दूरादेवाभिगमनं स्पष्टार्था हृदयानुगा।
वाक्सत्कृत्य प्रदानं च त्रिविधो मित्रसंग्रहः॥
धर्मकामार्थसंयोगो मित्रात्तु त्रिविधं फलम्।
औरसं मैत्रसंनद्धं तथा वंशक्रमागतम्॥
रक्षितं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम्।
मित्रे गुणाः सत्यताद्याः समानसुखदुःखता॥

'जो त्याग (अलोभ एवं दूसरोंके लिये सब कुछ उत्सर्ग करनेका स्वभाव), विज्ञान (सम्पूर्ण शास्त्रोंमें प्रवीणता तथा सत्त्व (विकारशून्यता)—इन गुणोंसे सम्पन्न, महापक्ष (महान् आश्रय एवं बहुसंख्यक बन्धु आदिके वर्गसे सम्पन्न), प्रियंवद (मधुर एवं हितकर वचन बोलनेवाला), आयतिक्षम (सुस्थिर स्वभाव होनेके कारण भविष्यकालमें भी साथ देनेवाला), अद्वैध (दुविधामें न रहनेवाला) तथा उत्तम कुलमें उत्पन्न हो—ऐसे पुरुषको अपना मित्र बनाये। मित्रके आनेपर दूरसे ही अगवानीमें जाना, स्पष्ट एवं प्रिय वचन बोलना तथा सत्कारपूर्वक मनोवाञ्छित वस्तु देना—ये मित्रसंग्रहके तीन प्रकार हैं। धर्म, काम और अर्थकी प्राप्ति—ये मित्रसे मिलनेवाले तीन प्रकारके फल हैं। चार प्रकारके मित्र जानने चाहिये—औरस (माता-पिताके सम्बन्धसे युक्त), मित्रताके सम्बन्धसे बँधा हुआ, कुलक्रमागत तथा सकटसे बचाया हुआ। सत्यता (झूठ न बोलना), अनुराग और दुःख-सुखमें समानरूपसे भाग लेना—ये मित्रके गुण हैं।'

राजाके अनुजीवी (सेवक) के गुण

वक्ष्येऽनुजीविनां वृत्तं सेवी सेवेत भूपतिम्।
दक्षता भद्रता दार्ढ्यं क्षान्तिःक्लेशसहिष्णुता।
संतोषः शीलमुत्साहो मण्डयन्त्यनुजीविनम्॥

'अब मैं अनुजीवी (राजसेवक) जनोंके वर्तावका वर्णन करूँगा। सेवकोचित गुणोंसे सम्पन्न पुरुष राजा का सेवन करे। दक्षता (कौशल तथा शीघ्रकारिता), भद्रता (भलमनसाहत या लोकप्रियता), दृढ़ता (सुस्थिर स्नेह एवं कर्मोंमें दृढ़तापूर्वक लगे रहना), क्षमा (निन्दा आदिको सहन करना), क्लेशसहिष्णुता (भूख-प्यास आदिके क्लेशको सहन करनेकी क्षमता), संतोष, शील और उत्साह—ये गुण अनुजीवीको अलङ्कृत करते हैं।'

सेवाकी विधि

यथाकालमुपासीत राजानं सेवको नयात्।
परस्थानगमं क्रौर्यमौद्धत्यं मत्सरं त्यजेत्।
विगृह्य कथनं भृत्यो न कुर्याज्ज्यायसा सह॥

'सेवक यथासमय न्यायपूर्वक राजाकी सेवा करे; दूसरेके स्थानपर जाना, क्रूरता, उद्दण्डता या असभ्यता और ईर्ष्या—इन दोषोंको वह त्याग दे। जो पद या अधिकारमें अपनेसे बड़ा हो, उसका विरोध करके या उसकी बात काटकर राजसभामें न बोले।'

गुह्यं मर्म च मन्त्रं च न च भर्तुः प्रकाशयेत्।
रक्ताद्वृत्तिं समीहेत विरक्तं संत्यजेन्नृपम्॥

'राजाके गुप्त कर्मों तथा मन्त्रणाको कहीं प्रकाशित न करे। सेवकको चाहिये कि वह अपने प्रति स्नेह रखनेवाले स्वामीसे ही जीविका प्राप्त करनेकी चेष्टा करे; जो राजा विरक्त हो—सेवकसे घृणा करता हो, उसे सेवक त्याग दे।'

बन्धु, मित्र और सेवकके कर्तव्य

अकार्यात् प्रतिषेधश्च कार्ये चैवानुवर्तनम्।
संक्षेपादिति सद्वृत्तं बन्धुमित्रानुजीविनाम्॥

'यदि राजा अनुचित कार्यमें प्रवृत्त हो तो उसे मना करना और यदि न्याययुक्त कार्यमें संलग्न

हो तो उसमें उसका साथ देना—यह थोड़ेमें बन्धु, मित्र और सेवकोंका श्रेष्ठ आचार बताया गया है।'

राजाके कर्तव्य

आजीव्यः सर्वसत्त्वानां राजा पर्जन्यवद्भवेत्।
आयद्वारेषु सर्वेषु कुर्यादाप्तान् परीक्षितान्।
आददीत धनं तैस्तु भास्वानुस्रैरिवोदकम्॥

'राजा मेघकी भाँति समस्त प्राणियोंको आजीविका प्रदान करनेवाला हो। उसके यहाँ आयके जितने द्वार (साधन) हों, उन सबपर वह विश्वस्त एवं जाँचे-परखे हुए लोगोंको नियुक्त करे। जैसे सूर्य अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जल लेता है, उसी प्रकार राजा उन आयुक्त पुरुषोंद्वारा धन ग्रहण करे।'

कर्माध्यक्षोंके गुण

अभ्यस्तकर्मणस्तज्ज्ञान् शुचीन् शुद्धार्थसंगतान्।
कुर्यादुद्योगसम्पन्नानध्यक्षान् सर्वकर्मसु॥
कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्।
खन्याकरो वनादानं शून्यानां च निवेशनम्॥
अष्टवर्गमिमं राजा साधुवृत्तोऽनुपालयेत्।

'जिन्हें उन-उन कर्मोंके करनेका अभ्यास तथा यथार्थ ज्ञान हो, जो उपधाद्वारा शुद्ध प्रमाणित हुए हों तथा जिनके ऊपर जाने-समझे हुए गणक आदि करणवर्गकी नियुक्ति कर दी गयी हो तथा जो उद्योगसे सम्पन्न हों, ऐसे ही लोगोंको सम्पूर्ण कर्मोंमें अध्यक्ष बनाये। खेती, व्यापारियोंके उपयोगमें आनेवाले स्थल और जलके मार्ग, पर्वत आदि दुर्ग, सेतुबन्ध (नहर एवं बाँध आदि), कुञ्जरबन्धन (हाथी आदिके पकड़नेके स्थान), सोने-चाँदी आदिकी खानें, वनमें उत्पन्न साल-दारु आदि (साखू, शीशम आदि) की निकासीके स्थान तथा शून्य स्थानोंको बसाना—आयके इन आठ द्वारोंको अष्टवर्ग कहते हैं। अच्छे आचार-व्यवहारवाला राजा इस अष्टवर्गकी निरन्तर रक्षा करे।'

प्रजापर आनेवाले पाँच प्रकारके भय

आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात्।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम्॥

'आयुक्तक (रक्षाधिकारी राजकर्मचारी), चोर, शत्रु, राजाके प्रिय सम्बन्धी तथा राजाके लोभ—इन पाँचोंसे प्रजाजनोंको पाँच प्रकारका भय प्राप्त होता है।'

बाह्य और आभ्यन्तर राज्य

अपोह्यैतद्भयं काल आददीत करं नृपः।
आभ्यन्तरं शरीरं स्वं बाह्यं राष्ट्रं च रक्षयेत्॥

'इस भयका निवारण करके राजा उचित समयपर प्रजासे कर ग्रहण करे। राज्यके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। राजाका अपना शरीर ही आभ्यन्तर राज्य है तथा राष्ट्र या जनपदको बाह्य राज्य कहा गया है। राजा इन दोनोंकी रक्षा करे।'

कण्टकशोधन तथा आत्मरक्षा

राज्योपघातं कुर्वीरन् ये पापा राजवल्लभाः।
दण्ड्यांस्तान् दण्डयेद्राजा स्वं रक्षेच्च विषादितः।
स्त्रियः पुत्रांश्च शत्रुभ्यो विश्वसेन्न कदाचन॥

'जो पापी राजाके प्रिय होनेपर भी राज्यको हानि पहुँचा रहे हों, वे दण्डनीय हैं। राजा उन सबको दण्ड दे तथा विष आदिसे अपनी रक्षा करे। स्त्रियोंपर, पुत्रोंपर तथा शत्रुओंपर कभी विश्वास न करे।'

(अग्निपुराण, अध्याय २४०)

*द्वादशराजमण्डल-चिन्तन**

राम उवाच

मण्डलं चिन्तयेन्मुख्यं राजा द्वादशराजकम् ।
अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् ॥

* यदि विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको नौ हजार योजनके क्षेत्रफलवाले चक्रवर्ती क्षेत्रपर विजय प्राप्त करना हो तो उसे अपने आगेके पाँच तथा पीछेके चार राजाओंकी ओर ध्यान देना होगा। इसी तरह अगल-बगलके उस राज्यपर भी विचार करना होगा, जिसकी सीमा अपने राज्यसे तथा शत्रुके राज्यसे भी मिलती होगी। ऐसे राज्यकी 'मध्यम' संज्ञा है। इस सम्पूर्ण मण्डलसे बाहर जो प्रबल राज्य या राजा है—उसकी संज्ञा 'उदासीन' है। विजिगीषुके सामनेके जो पाँच राज्य हैं, उनके नामोंका क्रमशः इस प्रकार व्यवहार होगा—(१) शत्रु-राज्य, (२) मित्र-राज्य, (३) शत्रुके मित्रका राज्य, (४) मित्रके मित्रका राज्य तथा (५) शत्रुके मित्रके मित्रका राज्य। विजिगीषुके पीछेके जो चार राज्य हैं, वे क्रमशः—१. पार्ष्णिग्राह, २. आक्रन्द, ३. पार्ष्णिग्राहासार ४. आक्रन्दासार—इन नामोंसे व्यवहृत होंगे। विजिगीषुसहित इन सबकी संख्या बारह होती है। यह सम्भावनात्मक संख्या दी गयी है। यदि विजिगीषु इससे अधिकके क्षेत्रको अपनी विजयका लक्ष्य बनाता है तो इसी ढंगसे अन्य राज्य भी इसी मण्डलमें परिगणित होंगे और द्वादशकी जगह अधिक राज्यमण्डल भी हो सकते हैं। नीचे द्वादशात्मक राजमण्डलका एक परिचयात्मक क्रम दिया जाता है—

द्वादश राजमण्डल

अग्रदिशा

		अरिमित्रमित्र ६		
		मित्रमित्र ५		
		अरिमित्र ४		
		मित्र ३		
		अरि २		
उदासीन १२	मध्यम ११	विजिगीषु १	मध्यम ११	उदासीन १२
		पार्ष्णिग्राह ७		
		आक्रन्द ८		
		पार्ष्णिग्राहासार ९		
		आक्रन्दासार १०		

तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरः स्मृताः ।
पार्ष्णिग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् ॥
आसारावनयोश्चेति विजिगीषोस्तु पृष्ठतः ।
अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः ॥
अनुग्रहे संहतयोर्निग्रहे व्यस्तयोः प्रभुः ।
मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः ॥
अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः ।

'राजाको चाहिये कि वह मुख्य द्वादश राजमण्डलका चिन्तन करे। १. अरि, २. मित्र, ३. अरिमित्र, तत्पश्चात् ४. मित्रमित्र तथा ५. अरिमित्रमित्र—ये क्रमशः विजिगीषुके सामनेवाले राजा कहे गये हैं। विजिगीषुके पीछे क्रमशः चार राजा होते हैं, जिनका नाम इस प्रकार है—१. पार्ष्णिग्राह, उसके बाद २. आक्रन्द, तदनन्तर इन दोनोंके आसार अर्थात् ३. पार्ष्णिग्राहासार एवं ४. आक्रन्दासार। अरि और विजिगीषु दोनोंके राज्यसे जिसकी सीमा मिलती है, वह राजा 'मध्यम' कहा गया है। अरि और विजिगीषु—ये दोनों यदि परस्पर मिले हों—संगठित हो गये हों तो मध्यम राजा कोष और सेना आदिकी सहायता देकर इन दोनोंपर अनुग्रह करनेमें समर्थ होता है और यदि ये परस्पर संगठित न हों तो वह मध्यम राजा पृथक्-पृथक् या बारी-बारीसे इन दोनोंका वध करनेमें समर्थ होता है। इन सबके मण्डलसे बाहर जो अधिक बलशाली या अधिक सैनिक शक्तिसे सम्पन्न राजा है, उसकी 'उदासीन' संज्ञा है। विजिगीषु, अरि और मध्यम—ये परस्पर संगठित हों तो उदासीन राजा इनपर अनुग्रह मात्र कर सकता है और यदि ये संगठित न होकर पृथक्-पृथक् हों तो वह उदासीन इन सबका वध कर डालनेमें समर्थ हो जाता है।'

षाड्गुण्य-विवेचन

(संधिके १६ भेद)

संधिं च विग्रहं यानमासनादि वदामि ते ॥

आदिष्ट, ११. आत्मामिष, १२. उपग्रह, १३. परिक्रय, १४. उच्छिन्न, १५. परदूषण तथा १६. स्कन्धोपनेय—ये संधिके १६ भेद बतलाये गये हैं।*

जिसके साथ संधि की जाती है,—वह संधेय कहलाता है। उसके दो भेद हैं—अभियोक्ता और अनभियोक्ता। उक्त संधियोंमेंसे उपन्यास, प्रतिकार और संयोग—ये तीन संधियाँ अनभियोक्ता (अनाक्रमणकारी) के प्रति करनी चाहिये। शेष सभी अभियोक्ता (आक्रमणकारी) के प्रति कर्तव्य हैं।'

१०. जहाँ अपनी भूमिका एक भाग देकर शेषकी रक्षाके लिये बलवान् शत्रुके साथ संधि की जाती है, उसे आदिष्ट कहा गया है।

११. जहाँ अपनी सेना देकर संधि की जाती है, वहाँ अपने आपको ही आमिष (भोग्य) बना देनेके कारण उस संधिका नाम आत्मामिष है।

१२. जहाँ प्राणरक्षाके लिये सर्वस्व अर्पण कर दिया जाता है, वह संधि उपग्रह कही गयी है।

१३. जहाँ कोषका एक भाग, कुप्य (वस्त्र, कम्बल आदि) अथवा सारा ही खजाना देकर शेष प्रकृति (अमात्य, राष्ट्र आदि) की रक्षा की जाती है, वहाँ मानो उस धनसे उन शेष प्रकृतियोंका क्रय किया जाता है, अतएव उस संधिको परिक्रय कहते हैं।

१४. जहाँ सारभूत भूमि (कोष आदिकी अधिक वृद्धि करानेवाले भूभाग) को देकर संधि की जाती है, वह अपना उच्छेद करनेके समान होनेसे उच्छिन्न कहलाती है।

१५. अपनी सम्पूर्ण भूमिसे जो भी फल या लाभ प्राप्त होता है, उसको कुछ अधिक मिलाकर देनेके बाद जो संधि होती है, वह परदूषण कही गयी है।

१६. जहाँ परिगणित फल (लाभ) खण्ड-खण्ड करके अर्थात् कई किस्तोंमें बाँटकर पहुँचाये जाते हैं, वैसी संधि स्कन्धोपनेय कही गयी है।

मतान्तरसे संधिके चार भेद

परस्परोपकारश्च मैत्रः सम्बन्धजस्तथा।
उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारोऽन्ये तु संधयः॥

'परस्परोपकार, मैत्र, सम्बन्धज तथा उपहार—ये ही चार संधिके भेद जानने चाहिये—ऐसा अन्य लोगोंका मत है।*'

किनके साथ संधि न करे?

बालो वृद्धो दीर्घरोगस्तथा बन्धुबहिष्कृतः।
भीरुको भीरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा॥
विरक्तप्रकृतिश्चैव विषयेष्वतिसक्तिमान्।
अनेकचित्तमन्त्रश्च देवब्राह्मणनिन्दकः॥
दैवोपहतकश्चैव दैवचिन्तक एव च।
दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसंकुलः।
अदेशस्थो बहुरिपुर्युक्तः काले न यश्च ह॥
सत्यधर्मव्यपेतश्च विंशतिः पुरुषा अमी।
एतैः संधिं न कुर्वीत विगृह्णीयात्तु केवलम्॥

'बालक, वृद्ध, चिरकालका रोगी, भाई-बन्धुओंसे बहिष्कृत, डरपोक, भीरु सैनिकोंवाला, लोभी, लालची सेवकोंसे घिरा हुआ, अमात्य आदि प्रकृतियोंके अनुरागसे वञ्चित, अत्यन्त विषयासक्त, अस्थिरचित्त और अनेक लोगोंके सामने मन्त्र प्रकट करनेवाला, देवताओं और ब्राह्मणोंका निन्दक, दैवका मारा हुआ, दैवको ही सम्पत्ति और विपत्तिका कारण मानकर स्वयं उद्योग न करनेवाला, जिसके ऊपर दुर्भिक्षका संकट आया हो वह, जिसकी सेना कैद कर ली गयी हो अथवा शत्रुओंसे घिर गयी हो वह, अयोग्य देशमें स्थित (अपनी सेनाकी पहुँचसे बाहरके स्थानमें विद्यमान), बहुत-से शत्रुओंसे

* परस्परोपकार ही प्रतिकार है; 'मैत्र' का ही नाम 'संगत' संधि है। सम्बन्धजको ही 'संतान' कहा गया है और 'उपहार' तो पूर्वकथित 'उपहार' है ही। इन्हींमें अन्य सबका समावेश है।

युक्त, जिसने अपनी सेनाको युद्धके योग्य कालमें नहीं नियुक्त किया है वह, तथा सत्य और धर्मसे भ्रष्ट—ये बीस पुरुष ऐसे हैं, जिनके साथ संधि न करे, केवल विग्रह करे।'

विग्रह

परस्परापकारेण पुंसां भवति विग्रहः ॥
आत्मनोऽभ्युदयाकाङ्क्षी पीड्यमानः परेण वा।
देशकालबलोपेतः प्रारभेतेह विग्रहम् ॥

'एक दूसरेके अपकारसे मनुष्योंमें विग्रह (कलह या युद्ध) होता है। राजा अपने अभ्युदयकी इच्छासे अथवा शत्रुसे पीड़ित होनेपर यदि देश-कालकी अनुकूलता और सैनिक शक्तिसे सम्पन्न हो तो विग्रह प्रारम्भ करे।'

विग्रहके बीस हेतु

राज्यस्त्रीस्थानदेशानां ज्ञानस्य च बलस्य च।
अपहारो मदो मानः पीडा वैषयिकी तथा ॥
ज्ञानार्थशक्तिधर्माणां विघातो दैवमेव च।
मित्रार्थश्चापमानश्च तथा बन्धुविनाशनम् ॥
भूतानुग्रहविच्छेदस्तथा मण्डलदूषणम्।
एकार्थाभिनिवेशित्वमिति विग्रहयोनयः ॥

'सप्ताङ्ग राज्य, स्त्री (सीता आदि-जैसी असाधारण देवी), जनपदके स्थानविशेष, राष्ट्रके एक भाग, ज्ञानदाता उपाध्याय आदि और सेना—इनमेंसे किसीका भी अपहरण विग्रहका कारण है (इस प्रकार छः हेतु बताये गये)। इनके सिवा मद (राजा दम्भोद्भव आदिकी भाँति शौर्यादिजनित दर्प), मान (रावण आदिकी भाँति अहंकार), जनपदकी पीड़ा (जनपद-निवासियोंका सताया जाना), ज्ञानविघात (शिक्षा-संस्थाओं अथवा ज्ञानदाता गुरुओंका विनाश), अर्थ-विघात (भूमि, हिरण्य आदिको क्षति पहुँचाना), शक्तिविघात (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साह-श[...] का अपक्षय), धर्मविघात, दैव (प्रारब्धजनित दुर[...] सुग्रीव आदि-जैसे मित्रोंके प्रयोजनकी सिद्धि, [...] जनोंका अपमान, बन्धुवर्गका विनाश, भूतानुग्रह [...] (प्राणियोंको दिये गये अभयदानका खण्डन—जैसे किसी वनमें वहाँके जन्तुओंको अभय देनेके मृगयाकी मनाही कर दी, किंतु दूसरा उस नि[...] तोड़कर शिकार खेलने आ गया—यही भूतानुग्रह [...] है), मण्डलदूषण (द्वादशराजमण्डलमेंसे कि[...] विजिगीषुके विरुद्ध उभाड़ना), एकार्थाभिनि[...] (जो भूमि या स्त्री आदि अर्थ एकको अभी[...] उसीको लेनेके लिये दूसरेका भी दुराग्रह)—[...] विग्रहके कारण हैं।

मतान्तरसे पाँच प्रकारके वैर

सापत्नं वास्तुजं स्त्रीजं वाग्जातमपराधजम्[...]
वैरं पञ्चविधं प्रोक्तं साधनैः प्रशमं नयेत्[...]

'सापत्न (रावण और विभीषणकी भाँति [...] भाइयोंका वैमनस्य), वास्तुज (भूमि, सुवर्ण आ[...] हरणसे होनेवाला अमर्ष), स्त्रीके अपहरणसे होने[...] रोष, कटुवचनजनित क्रोध तथा अपराधजनित [...] शोधकी भावना—ये पाँच प्रकारके वैर अन्य वि[...] बताये हैं।*

सोलह प्रकारके त्याज्य विग्रह

किंचित्फलं निष्फलं वा संदिग्धफलमेव च[...]
तदात्वे दोषजननमायत्यां चैव निष्फलम्[...]

* सापत्न वैरमें पूर्वोक्त एकार्थाभिनिवेशका अन[...] हो जाता है, स्त्री-और वास्तुके अपहरणजनित वैरमें पूर्वव[...] स्त्रीस्थानापहारज वैरका अन्तर्भाव है। वाग्जात वैरमें पू[...] ज्ञानापहारज और अपमानजनित वैर अन्तर्भूत होते हैं[...] अपराधजनित वैरमें पूर्वोक्त शेष १४ कारणोंका सम[...] हो जाता है।

अपने पार्ष्णिग्राह संज्ञावाले पृष्ठवर्ती शत्रुके साथ संधि करके जो अन्यत्र—अपने सामनेवाले शत्रुपर आक्रमणके लिये यात्रा की जाती है, विजिगीषुकी उस यात्राको भी 'संधायगमन' कहते हैं। सामूहिक लाभमें समानरूपसे भागी होनेवाले सामन्तोंके साथ, जो शक्ति और शुद्धभावसे युक्त हों, एकीभूत होकर मिलकर जो किसी एक ही शत्रुपर चढ़ाई की जाती है, उसका नाम 'सम्भूयगमन' है। अथवा जो विजिगीषु और उसके शत्रु दोनोंकी प्रकृतियोंका विनाश करनेके कारण दोनोंका शत्रु हो, उसके प्रति विजिगीषु तथा शत्रु दोनोंका मिलकर युद्धके लिये यात्रा करना सम्भूयगमन है। उसके उदाहरण हैं सूर्य और हनुमान्। हनुमान् बाल्यावस्थामें लोहित सूर्यमण्डलको उदित हुआ देख, यह क्या है—इस बातको जाननेके लिये बालोचित चपलतावश उछलकर उसे पकड़नेके लिये आगे बढ़े। निकट पहुँचनेपर उन्होंने देखा कि भानुको ग्रहण करनेके लिये स्वर्भानु (राहु) आया है। फिर तो उसे ही अपना प्रतिद्वन्द्वी जान हनुमान्जी उसपर टूट पड़े। उस समय सूर्यने भी अपने प्रमुख शत्रु राहुको दबानेके लिये अपने भोले-भाले शत्रु हनुमान्जीका ही साथ दिया। एकपर आक्रमण करनेके लिये प्रस्थित हुआ राजा यदि प्रसङ्गवश उसके विरोधी दूसरे पक्षको अपने आक्रमणका लक्ष्य बना लेता है तो उसकी उस यात्राको 'प्रसङ्गतःगमन' या 'प्रसङ्गयान' कहते हैं, इसके दृष्टान्त हैं राजा शल्य। वे दुर्योधनपर पाण्डवपक्षसे आक्रमणके लिये चले थे, किंतु मार्गमें दुर्योधनके अति सत्कारसे प्रसन्न हो उसे वर माँगनेके लिये कहकर उसकी प्रार्थनासे उसीके सेनापति हो गये और अपने भांजे युधिष्ठिरको ही अपने आक्रमणका लक्ष्य बनाया। शत्रुके प्रति आक्रमण करनेवाले विजिगीषुको रोकनेके लिये यदि उस शत्रुके बलवान् मित्र आ पहुँचें तो उस शत्रुकी उपेक्षा करके उसके उन मित्रोंपर ही चढ़ाई करना 'उपेक्षायान' कहलाता है—जैसे इन्द्रकी आज्ञासे निवातकवचोंका वध करनेके लिये प्रस्थित हुए अर्जुनको रोकनेके निमित्त जब हिरण्यपुरवासी कालकञ्ज नामक असुर आ पहुँचे, तब अर्जुन उन निवातकवचोंकी उपेक्षा करके कालकञ्जोंपर ही टूट पड़े और उनको परास्त करनेके बाद ही उन्होंने निवातकवचोंका वध किया।

आसनके पाँच भेद

परस्परस्य सामर्थ्यविघातादासनं स्मृतम्॥

अरेश्च विजिगीषोश्च यानवत् पञ्चधा स्मृतम्।

'जब विजिगीषु और शत्रु दोनों एक दूसरेकी शक्तिका विघात न कर सकनेके कारण आक्रमण न करके बैठ रहें तो इसे 'आसन' कहा जाता है; इसके भी 'यान'की ही भाँति पाँच भेद होते हैं—१. विगृह्य आसन, २. संधाय आसन, ३. सम्भूय आसन, ४. प्रसङ्गासन तथा ५. उपेक्षासन।*

* जब शत्रु और विजिगीषु परस्पर आक्रमण करके कारणवशात् युद्ध बंद करके बैठ जायँ तो इसे 'विगृह्यासन' कहते हैं। यह एक प्रकार है। विजिगीषु शत्रुके किसी प्रदेशको क्षति पहुँचाकर जब स्वतः युद्धसे विरत होकर बैठ जाता है, तब यह भी विगृह्यासन कहलाता है।

यदि शत्रु दुर्गके भीतर स्थित होनेके कारण पकड़ा न जा सके, तो उसके आसार (मित्रवर्ग) तथा बीज (अनाजकी फसल आदि) को नष्ट करके उसके साथ विग्रह छोड़कर बैठ रहे। दीर्घकालतक ऐसा करनेसे प्रजा आदि प्रकृतियाँ उस शत्रु राजासे विरक्त हो जाती हैं। अतः समयानुसार वह वशीभूत हो जाता है। शत्रु और विजिगीषु समान बलशाली होनेके कारण युद्ध छिड़नेपर जब समानरूपसे क्षीण होने लगें, तब परस्पर संधि करके बैठ जाय। यह 'संधाय आसन' कहलाता है। पूर्वकालमें निवातकवचोंके साथ जब दिग्विजयी रावणका युद्ध होने लगा, तब दोनों पक्ष ब्रह्माजीके वरदानसे शक्तिशाली होनेके कारण एक दूसरेको परास्त न कर सके। उस दशामें ब्रह्माजीको ही बीचमें डालकर रावण संधि करके बैठा रहा। यह 'संधाय आसन'का उदाहरण है।

विजिगीषु और उसके शत्रुको उदासीन और मध्यमसे आक्रमणकी समानरूपसे शङ्का हो, तब उन दोनोंको मिल जाना चाहिये। इस प्रकार मिलकर बैठना 'सम्भूय आसन' कहलाता है। जब मध्यम और उदासीनमेंसे कोई-सा भी विजिगीषु और उसके शत्रु—दोनोंका विनाश करना चाहता हो, तब वह उन दोनोंका शत्रु समझा जाता है; उस दशामें विजिगीषु अपने शत्रुके साथ मिलकर दोनोंके ही अधिक बलवान् शत्रुभूत उस मध्यम या उदासीनका सामना करे। यही 'सम्भूय आसन' है।

द्वैधीभाव

बलिनोर्द्विषतोर्मध्ये वाचाऽऽत्मानं समर्पयन् ॥
द्वैधीभावेन तिष्ठेत काकाक्षिवदलक्षितः ।

'दो बलवान् शत्रुओंके बीचमें पड़कर वाणीद्वारा दोनोंको ही *आत्मसमर्पण* करे—मैं और मेरा राज्य दोनोंके ही हैं, यह संदेश दोनोंके ही पास गुप्तरूपसे भेजे और स्वयं दुर्गमें छिपा रहे । यह द्वैधीभावकी नीति है ।'

उभयोरपि सम्पाते सेवेत बलवत्तरम् ।
यदा द्वावपि नेच्छेतां संश्लेषं जातसंविदौ ।
तदोपसर्पेत् तच्छत्रुमधिकं वा स्वयं व्रजेत् ॥

'जब उक्त दोनों शत्रु पहलेसे ही संगठित होकर आक्रमण करते हों, तब जो उनमें अधिक बलशाली हो, उसकी शरण ले । यदि वे दोनों शत्रु परस्पर मन्त्रणा करके उसके साथ किसी भी शर्तपर संधि न करना चाहते हों, तब विजिगीषु उन दोनोंके ही किसी शत्रुका आश्रय ले अथवा किसी भी अधिक शक्तिशाली राजाकी शरण लेकर आत्मरक्षा करे ।'

यदि विजिगीषु किसी अन्य शत्रुपर आक्रमणकी इच्छा रखता हो; किंतु कार्यान्तर (अर्थलाभ या अनर्थ-प्रतिकार) के प्रसङ्गसे अन्यत्र बैठ रहे तो इसे 'प्रसङ्गासन' कहते हैं ।

अधिक शक्तिशाली शत्रुकी उपेक्षा करके अपने स्थानपर बैठे रहना 'उपेक्षासन' कहलाता है । भगवान् श्रीकृष्णने जब पारिजातहरण किया था, उस समय उन्हें अधिक शक्तिशाली जानकर इन्द्रदेव उपेक्षा करके बैठ रहे, यह उपेक्षासनका उदाहरण है । इसका एक दूसरा उदाहरण रुक्मी है । महाभारत-युद्धमें वह क्रथ और कैशिकोंकी सेना लेकर बारी-बारीसे कौरवों और पाण्डवोंके पास गया और बोला, 'यदि तुम डरे हुए हो तो हम तुम्हारी सहायता करके तुम्हें विजय दिलायें ।' उसकी इस बातपर दोनोंने उसकी उपेक्षा कर दी । अतः वह किसी ओरसे युद्ध न करके अपने घरपर ही बैठा रहा ।

समाश्रय

उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः ।
कुलोद्भूतं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम् ॥
तद्दर्शनोपास्तिकता नित्यं तद्भावभाविता ।
तत्कारिता प्रश्रयिता वृत्तं संश्रयिणां स्मृतम् ॥

'यदि विजिगीषुपर किसी बलवान् शत्रुका आक्रमण हो और वह उच्छिन्न होने लगे तथा किसी उपायसे उस संकटका निवारण करना उसके लिये असम्भव हो जाय, तब वह किसी कुलीन, सत्यवादी, सदाचारी तथा शत्रुकी अपेक्षा अधिक बलशाली राजाकी शरण ले । उस आश्रयदाताके दर्शनके लिये उसकी आराधना करना, सदा उसके अभिप्रायके अनुकूल चलना, उसीके लिये कार्य करना और सदा उसके प्रति आदरका भाव रखना—यह आश्रय लेनेवालेका व्यवहार बतलाया गया है ।'

(अग्निपुराण, अध्याय २४१)

मन्त्रविकल्प

श्रीराम उवाच

प्रभावोत्साहशक्तिभ्यां मन्त्रशक्तिः प्रशस्यते ।
प्रभावोत्साहवान् काव्यो जितो देवपुरोधसा ॥

श्रीराम कहते हैं—'लक्ष्मण ! प्रभावशक्ति और उत्साह-शक्तिसे मन्त्रशक्ति श्रेष्ठ बतायी गयी है । प्रभाव और उत्साहसे सम्पन्न शुक्राचार्यको देवपुरोहित बृहस्पतिने मन्त्रबलसे जीत लिया ।'

मन्त्रणा किसके साथ करे ?

शक्याशक्य-परिच्छेद

मन्त्रयेतेह कार्याणि सहाप्तेन विपश्चिता ।
आप्तं मूर्खमनाप्तं च मन्त्रिणं परिवर्जयेत् ॥

या बाढ़), रोग, दुर्भिक्ष (अकाल पड़ना) और मरक (महामारी)—ये पाँच प्रकारके दैव-व्यसन हैं। शेष मानुष-व्यसन हैं। पुरुषार्थ अथवा अथर्ववेदोक्त शान्तिकर्मसे दैवव्यसनका निवारण करे। उत्थान-शीलता (दुर्गादि-निर्माणविषयक चेष्टा) अथवा नीति—संधि या साम आदिके प्रयोगके द्वारा मानुष व्यसनकी शान्ति करे।'

अमात्यके कर्म

मन्त्रो मन्त्रफलावाप्तिः कार्यानुष्ठानमायतिः।
आयव्ययौ दण्डनीतिरमित्रप्रतिषेधनम्॥
व्यसनस्य प्रतीकारो राज्यराजाभिरक्षणम्।
इत्यमात्यस्य कर्मेदं हन्ति तद्व्यसनान्वितः॥

'मन्त्र (कार्यका निश्चय), मन्त्रफलकी प्राप्ति, कार्यका अनुष्ठान, भावी उन्नतिका सम्पादन, आय-व्यय, दण्डनीति, शत्रुका निवारण तथा व्यसनको टालनेका उपाय, राजा एवं राज्यकी रक्षा—ये सब अमात्यके कर्म हैं। यदि अमात्य व्यसनग्रस्त हो तो वह इन सब कर्मोंको नष्ट कर देता है।'*

राष्ट्रकी प्रजाके कर्म

हिरण्यधान्यवस्त्राणि वाहनं प्रजया भवेत्॥
तथान्ये द्रव्यनिचया हन्ति सव्यसना प्रजा।

'सुवर्ण, धान्य, वस्त्र, वाहन तथा अन्यान्य द्रव्योंका संग्रह जनपदवासिनी प्रजाके कर्म हैं। यदि प्रजा व्यसनग्रस्त हो तो वह उपर्युक्त सब कार्योंका नाश कर डालती है।'

दुर्ग-साध्य कर्म

प्रजानामापदि त्राणं रक्षणं कोषदण्डयोः॥
पौराश्चैवोपकुर्वन्ति संश्रयायेह दुर्गिणाम्।
तूष्णीं युद्धं जनत्राणं मित्रामित्रपरिग्रहः॥
सामन्ताटविकाबाधानिरोधा दुर्गसंश्रयाः।

'आपत्तिकालमें प्रजाजनोंकी रक्षा, कोष और सेनाकी रक्षा, गुप्त या आकस्मिक युद्ध, आपत्तिग्रस्त जनोंकी रक्षा, संकटमें पड़े हुए मित्रों और अमित्रोंका संग्रह तथा सामन्तों और वनवासियोंसे प्राप्त होनेवाली बाधाओंका निवारण भी दुर्गका आश्रय लेनेसे होता है। नगरके नागरिक भी शरण लेनेके लिये दुर्गपतियोंका कोष आदिके द्वारा उपकार करते हैं। (यदि दुर्ग विपत्तिग्रस्त हो जाय तो ये सब कार्य विपन्न हो जाते हैं)।'

कोष-साध्य कर्म

भृत्यानां भरणं दानं भूषणं वाहनक्रयः।
स्थैर्यं परोपजापश्च दुर्गसंस्कार एव च॥
सेतुबन्धो वणिक्कर्म प्रजामित्रपरिग्रहः।
धर्मकामार्थसिद्धिश्च कोषादेतत् प्रवर्तते॥
कोषस्य व्यसनाद्धन्ति कोषमूलो हि भूपतिः।

'भृत्यों (सैनिक आदि) का भरण-पोषण, दानकर्म, भूषण, हाथी-घोड़े आदिका खरीदना, स्थिरता, शत्रुपक्षकी लुब्ध प्रकृतियोंमें धन देकर फूट डालना, दुर्गका संस्कार (मरम्मत और सजावट), सेतुबन्ध (खेतीके लिये जलसंचय करनेके निमित्त बाँध आदिका निर्माण), वाणिज्य, प्रजा और मित्रोंका संग्रह, धर्म, अर्थ एवं कामकी सिद्धि—ये सब कार्य कोषसे सम्पादित होते हैं। कोषसम्बन्धी व्यसनसे राजा इन सबका नाश कर देता है; क्योंकि राजाका मूल है कोष।'

---

* इन कर्मोंमें मन्त्र या कार्यका निश्चय मन्त्रीके अधीन है। शत्रुओंको दूरसे ही भगाकर मन्त्रसाध्य फलकी प्राप्ति दूतके अधीन है। कार्यका अनुष्ठान (दुर्गादिकर्मकी प्रवृत्ति) अध्यक्षके अधीन है। आयति अथवा भावी उन्नतिका सम्पादन अमात्योंके अधीन है। आय और व्यय अक्ष-पटलिक (अर्थमन्त्री) के अधीन हैं। दण्डनीति धर्मस्थ (न्यायाधिकारी) के हाथमें है तथा शत्रुओंका निवारण मित्र-साध्य कर्म है। ऐसा विभाग जयमङ्गलाकारने किया है।

दूरवर्ती स्थानमें रखा गया हो, ऐसा कोष व्यसनग्रस्त बताया जाता है ।'

सेनाके व्यसन

उपरुद्धं परिक्षिप्तं विमानितमसानितम् ।
अभृतं व्याधितं श्रान्तं दूरायातं नवागतम् ॥
परिक्षीणं प्रतिहतं प्रहताग्रजवं तथा ।
आशानिर्वेद्यभूमिष्ठमनृतप्राप्तमेव च ॥
कलत्रगर्भ्यतिक्षिप्तमन्तःशल्यं तथैव च ।
दुष्पार्ष्णिग्राहसार्धं च बलव्यसनमुच्यते ॥

'जो चारों ओरसे अवरुद्ध कर दी गयी हो, जिसपर घेरा पड़ गया हो, जिसका अनादर या असम्मान हुआ हो, जिसका ठीक-ठीक भरण-पोषण नहीं किया गया हो, जिसके अधिकांश सैनिक रोगी, थके-माँदे, चलकर दूरसे आये हुए तथा नवागत हों, जो सर्वथा क्षीण और प्रतिहत हो चली हो, जिसके आगे बढ़नेका वेग कुण्ठित कर दिया गया हो, जिसके अधिकांश लोग आशाजनित निर्वेद (खेद एवं विरक्ति) से भरे हों, जो अयोग्य भूमिमें स्थित, अनृत प्राप्त (अविश्वस्त) हो गयी हो, जिसके भीतर स्त्रियाँ अथवा स्त्रैण हों, जिसके हृदयमें कुछ काँटा-सा चुभ रहा हो तथा जिस सेनाके पीछे दुष्ट पार्ष्णिग्राह (शत्रु) की सेना लगी हुई हो, उस सेनाकी इस दुर-वस्थाको 'बलव्यसन' कहा जाता है ।'

मित्र-व्यसन

दैवोपपीडितं मित्रं ग्रस्तं शत्रुबलेन च ।
कामक्रोधादिसंयुक्तमुत्साहादरिभिर्भवेत् ॥

'जो दैवसे पीड़ित, शत्रुसेनासे आक्रान्त तथा पूर्वोक्त काम, क्रोध आदिसे संयुक्त हो, उस मित्रको व्यसनग्रस्त बताया गया है । उसे उत्साह एवं सहायता दी जाय तो वह शत्रुओंसे युद्धके लिये उद्यत एवं विजयी हो सकता है ।'

क्रोध और कामसे होनेवाले व्यसन

अर्थस्य दूषणं क्रोधात् पारुष्यं वाक्यदण्डयोः ।
कामजं मृगया द्यूतं व्यसनं पानकं स्त्रियः ॥

'अर्थदूषण, वाणीकी कठोरता तथा दण्डविषयक अत्यन्त क्रूरता—ये तीन क्रोधज व्यसन हैं । मृगया, जूआ, मद्यपान तथा स्त्रीसङ्ग—ये चार प्रकारके कामज व्यसन हैं ।'

दण्डका औचित्य

वाक्पारुष्यं परं लोक उद्वेजनमनर्थकम् ।
असिद्धसाधनं दण्डस्तं युक्त्यैव नयेन्नृपः ॥
उद्वेजयति भूतानि दण्डपारुष्यवान्नृपः ।
भूतान्युद्वेज्यमानानि द्विषतां यान्ति संश्रयम् ॥
विवृद्धाः शत्रवश्चैव विनाशाय भवन्ति ते ।

'वाणीकी कठोरता लोकमें अत्यन्त उद्वेग पैदा करनेवाली और अनर्थकारिणी होती है । अर्थहरण, ताड़न और वध—यह तीन प्रकारका दण्ड असिद्ध अर्थका साधक होनेसे सत्पुरुषोंद्वारा शासन कहा गया है । उसको युक्तिसे ही प्राप्त कराये । जो राजा युक्त (उचित) दण्ड देता है, उसकी प्रशंसा की जाती है । जो क्रोधवश कठोर दण्ड देता है, वह राजा प्राणियोंमें उद्वेग पैदा करता है । उस दण्डसे उद्विग्न हुए मनुष्य विजिगीषुके शत्रुओंकी शरणमें चले जाते हैं, उनसे वृद्धिको प्राप्त हुए शत्रु उक्त राजाके विनाशमें कारण होते हैं ।'

अर्थ-दूषण

दूष्यस्य दूषणार्थं च परित्यागो महीयसः ।
अर्थस्य नीतितत्त्वज्ञैरर्थदूषणमुच्यते ॥

'दूषणीय मनुष्यके दूषण (अपकार) के लिये उससे प्राप्त होनेवाले किसी महान् अर्थका विघातपूर्वक

परित्याग नीति-तत्त्वज्ञ विद्वानोंद्वारा अर्थदूषण कहा जाता है ।'

मृगयासे हानि

यानात्पातः पिपासा क्षुन्मृगयातोऽरितः क्षयः।।
जितश्रमार्थं मृगयां विचरेद्रक्षिते वने ।

'दौड़ते हुए यान (अश्व आदि) से गिरना, ...व-प्यासका कष्ट उठाना आदि दोष मृगयासे प्राप्त ...ते हैं। किसी छिपे हुए शत्रुसे मारे जानेकी ...भावना रहती है। श्रम या थकावटपर विजय ...के लिये किसी सुरक्षित वनमें राजा शिकार खेले ।'

द्यूत, स्त्री तथा पानसे हानि

...धर्मार्थप्राणनाशादि द्यूते स्यात्कलहादिकम् ।।
...कालातिपातो धर्मार्थपीडा स्त्रीव्यसनाद्भवेत् ।
...पानदोषात् प्राणनाशः कार्याकार्यविनिश्चयः।।

'जूएमें धर्म, अर्थ और प्राणोंके नाश आदि दोष ...हैं; उसमें कलह आदिकी भी सम्भावना रहती ...। स्त्रीसम्बन्धी व्यसनसे प्रत्येक कर्तव्य कार्यके ...नेमें बहुत अधिक विलम्ब होता है—ठीक समयसे ...ई काम नहीं हो पाता, धर्म और अर्थको भी ...ने पहुँचती है। मद्यपानके व्यसनसे प्राणोंका ...ातक हो जाता है, नशेके कारण कर्तव्य और ...कर्तव्यका निश्चय नहीं हो पाता ।'

सेनाका पड़ाव

...स्कन्धावारनिवेशज्ञो निमित्तज्ञो रिपुं जयेत् ।
...स्कन्धावारस्य मध्ये तु सकोषं नृपतेर्गृहम् ।।
...मौलं भृतं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम् ।
...राजहर्म्यं समावृत्य क्रमेण विनिवेशयेत् ।।

'सेनाकी छावनी कहाँ और कैसे पड़नी चाहिये, ...बातको जो जानता है तथा भले-बुरे निमित्त (शकुन) का ज्ञान रखता है, वह शत्रुपर विजय पा सकता है। स्कन्धावार (सेनाकी छावनी) के मध्यभागमें खजानासहित राजाके ठहरनेका स्थान होना चाहिये। राजभवनको चारों ओरसे घेरकर क्रमशः मौल (पिता-पितामहके कालसे चली आती हुई मौलिक सेना), भृत (भोजन और वेतन देकर रखी हुई सेना), श्रेणि (जनपद-निवासियोंका दल अथवा कुविन्द आदिकी सेना), मित्रसेना, द्विषद्बल (राजाकी दण्डशक्तिसे वशीभूत हुए सामन्तोंकी सेना) तथा आटविक (वन्यप्रदेशके अधिपतिकी सेना)—इन सेनाओंकी छावनी डाले ।'

सैनिकोंके कार्य

सैन्यैकदेशः संनद्धः सेनापतिपुरस्सरः ।
प्रयत्नवान् परिपतेन्[1]मण्डलेन बहिर्निशि ।।
वाताश्वका विजानीयुर्दूरसीमान्तचारिणः ।
निर्गच्छेत्प्रविशेच्चैव सर्व एवोपलक्षितः ।।

'(राजा और उसके अन्तःपुरकी रक्षाकी सुव्यवस्था करनेके पश्चात्) सेनाका एक चौथाई भाग युद्ध-सज्जासे सुसज्जित हो सेनापतिको आगे करके प्रयत्न-पूर्वक छावनीके बाहर रातभर चक्कर लगाये, वायुके समान वेगशाली घोड़ोंपर बैठे हुए घुड़सवार दूर सीमान्तपर विचरते हुए शत्रुकी गतिविधिका पता लगायें। जो भी छावनीके भीतर प्रवेश करें या बाहर निकलें, सब राजाकी आज्ञा प्राप्त करके ही वैसा करें ।'

साम आदि उपाय

साम दानं च भेदश्च दण्डोपेक्षेन्द्रजालकम् ।
मायोपायाः सप्त परे निक्षिपेत्साधनाय तान् ।।

'साम, दान, दण्ड, भेद, उपेक्षा, इन्द्रजाल और माया—ये सात उपाय हैं; इनका शत्रुके प्रति प्रयोग

१. पाठान्तर—परिभ्रमेच्चत्वरांश्च ।

कल्याण

वालीको उपदेश [पृष्ठ २८०

ताराको उपदेश
[पृष्ठ २९६, ३०६

हनुमान्‌को मुद्रिका-दान
[पृष्ठ १६६

जटायुपर कृपा
[पृष्ठ

शबरीके फल [पृष्ठ २११

शबरीको उपदेश
[पृष्ठ २१२

समुद्रपर कोप
[पृष्ठ १६७

विभीषण-शरणागति
[पृष्ठ १५१

करना चाहिये। इन उपायोंसे शत्रु वशीभूत होता है।'

सामके पाँच भेद

स्मृतं पञ्चविधं* साम उपकारानुकीर्तनम्।
मिथः सम्बन्धकथनं मृदुपूर्वं च भाषणम्॥
आयतेर्दर्शनं वाचा तवाहमिति चार्पणम्।

'सामके पाँच भेद बताये गये हैं—१. दूसरेके उपकारका वर्णन, २. आपसके सम्बन्धको प्रकट करना (जैसे आपकी माता मेरी मौसी हैं इत्यादि), ३. मधुरवाणीमें गुणकीर्तन करते हुए बोलना, ४. भावी उन्नतिका प्रकाशन—यथा ऐसा होनेपर आगे चलकर हम दोनोंका बड़ा लाभ होगा इत्यादि, तथा ५. मैं आपका हूँ—यों कहकर आत्मसमर्पण करना।'

दानके पाँच भेद

यः सम्प्राप्तधनोत्सर्ग उत्तमाधममध्यमः॥
प्रतिदानं तदा तस्य गृहीतस्यानुमोदनम्।
द्रव्यदानमपूर्वं च स्वयंग्राहप्रवर्तनम्॥
देयस्य प्रतिमोक्षश्च दानं पञ्चविधं स्मृतम्।

'किसीसे उत्तम (सार), अधम (असार) तथा मध्यम (सारासार) भेदसे जो द्रव्य—सम्पत्ति प्राप्त हुई हो, उसको उसी रूपमें लौटा देना—यह दानका प्रथम भेद है। बिना दिये ही जो धन किसीके द्वारा ले लिया गया हो, उसका अनुमोदन करना (यथा आपने अच्छा किया जो ले लिया, मैंने पहलेसे ही आपको देनेका विचार कर लिया था)—यह दानका दूसरा भेद है। ३. अपूर्व द्रव्यदान (भाण्डागारसे निकालकर दिया गया नूतन दान), ४. स्वयंग्राहप्रवर्तन (किसी दूसरेसे स्वयं ही धन ले लेनेके लिये प्रेरित करना—यथा अमुक व्यक्तिसे अमुक द्रव्य ले लो, वह तुम्हारा ही हो जायगा) तथा ५. दातव्य ऋण आदिको छोड़ देना या न लेना—इस प्रकार ये दानके पाँच भेद कहे गये हैं।'

तीन प्रकारका भेद

स्नेहरागापनयनं संघर्षोत्पादनं तथा॥
संतर्जनं च भेदज्ञैर्भेदश्च[1] त्रिविधः स्मृतः।

'स्नेह और अनुरागको दूर कर देना, परस्पर संघर्ष (कलह) पैदा करना तथा धमकी देना—भेदज्ञ पुरुषोंने भेदके ये तीन प्रकार बताये हैं।'

दण्डके भेद

वधोऽर्थहरणं चैव परिक्लेशस्त्रिधा दमः॥
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकद्विष्टान्प्रकाशतः।
उद्विज्यते हतैर्लोको यैर्ये स्युर्नृपवल्लभाः॥
बाधन्तेऽभ्यधिका ये तु तेषूपांशु प्रशस्यते।
विषेणोपनिषद्योगैर्हन्याच्छस्त्रादिना द्विषः॥
जातिमात्रं द्विजं नैव हन्यात्सामोत्तरं वशे।

'वध, धनका अपहरण और बन्धन एवं ताड़न आदिके द्वारा क्लेश पहुँचाना—ये दण्डके तीन भेद हैं। वधके दो प्रकार हैं—(१) प्रकाश (प्रकट) और (२) अप्रकाश (गुप्त)। जो सब लोगोंके द्वेषपात्र हों, ऐसे दुष्टोंका प्रकटरूपमें वध करना चाहिये; किंतु जिनके मारे जानेसे लोग उद्विग्न हो उठें, जो राजाके प्रिय हों तथा अधिक बलशाली हों, वे यदि राजाके हितमें बाधा पहुँचाते हैं तो उनका गुप्तरूपसे वध करना उत्तम कहा गया है। गुप्तरूपसे वधका प्रयोग यों करना चाहिये—विष देकर, एकान्तमें आग आदि लगाकर, गुप्त मनुष्योंद्वारा शस्त्रका प्रयोग कराकर अथवा शरीरमें फोड़ा पैदा करनेवाले उबटन लगवाकर राज्यके शत्रुको

* पाठान्तर—चतुर्विधं स्मृतम्।

१. पाठान्तर—मिथो भेदश्च।

नष्ट करे। जो जातिमात्रसे भी ब्राह्मण हो, उसे प्राणदण्ड न दे। उसपर सामनीतिका प्रयोग करके उसे वशमें लानेकी चेष्टा करे।'

सामका प्रयोग

प्रलिम्पन्निव चेतांसि दृष्ट्या साधु पिबन्निव।
स्रवन्निवामृतं साम प्रयुञ्जीत प्रियं वचः॥

"प्रिय वचन बोलना 'साम' कहलाता है। उसका प्रयोग इस तरह करे कि जिससे चित्तमें अमृतका-सा लेप होने लगे अर्थात् वह हृदयमें स्थान बना ले। ऐसी स्निग्ध दृष्टिसे देखे मानो वह सामनेवालेको प्रेमसे पी जाना चाहता हो तथा इस तरह बात करे मानो उसके मुखसे अमृतकी वर्षा हो रही हो।"

भेदनीतिके पात्र

मिथ्याभिशस्तः श्रीकाम आहूयाप्रतिमानितः।
राजद्वेषी चातिकरस्त्वात्मसम्भावितस्तथा॥
विच्छिन्नधर्मकामार्थः क्रुद्धो मानी विमानितः।
अकारणात् परित्यक्तः कृतवैरोऽभिसान्त्वितः॥
हृतद्रव्यकलत्रश्च पूजार्होऽप्रतिपूजितः।
एतांस्तु भेदयेच्छत्रौ स्थितान्नित्यं सुशङ्कितान्॥
आगतान् पूजयेत् कामैर्निजांश्च प्रशमं नयेत्।

'जिसपर झूठा ही कलङ्क लगाया गया हो, जो धनका इच्छुक हो, जिसे अपने पास बुलाकर अपमानित किया गया हो, जो राजाका द्वेषी हो, जिसपर भारी कर लगाया गया हो, जो विद्या और कुल आदिकी दृष्टिसे अपनेको सबसे बड़ा मानता हो, जिसके धर्म, काम और अर्थ छिन्न-भिन्न हो गये हों, जो कुपित, मानी और अनादृत हो, जिसे अकारण राज्यसे निर्वासित कर दिया गया हो, जो पूजा एवं सत्कारके योग्य होनेपर भी असत्कृत हुआ हो, जिसके धन तथा स्त्रीका हरण कर लिया गया हो, जो मनमें वैर रखते हुए भी ऊपरसे सामनीतिके प्रयोगसे शान्त रहता हो; ऐसे लोगोंको तथा जो सदा शङ्कित रहते हों, उनमें, यदि वे शत्रुपक्षके हों तो, फूट डाले और अपने पक्षमें इस तरहके लोग हों तो उन्हें यत्नपूर्वक शान्त करे। यदि शत्रुपक्षसे फूटकर ऐसे लोग अपने पक्षमें आयें तो उनका सत्कार करे।'

भेदके उपाय

समतृष्णानुसंधानमत्युग्रभयदर्शनम्॥
प्रधानं दानमानं च भेदोपायाः प्रकीर्तिताः।

'समान तृष्णाका अनुसंधान (उभयपक्षको समान-रूपसे लाभ होनेकी आशाका प्रदर्शन), अत्यन्त उग्रभय (मृत्यु आदिकी विभीषिका) दिखाना तथा उच्चकोटिका दान और मान—ये भेदके उपाय कहे गये हैं।'

भेद, दण्ड और सामनीतिके साध्य

भिन्नं हि तत्काष्ठमिव घुणजग्धं विशीर्यते॥
त्रिशक्तिर्देशकालज्ञो दण्डेनास्तं नयेदरीन्।
मैत्रीप्रधानं कल्याणबुद्धिं सान्त्वेन साधयेत्॥

'शत्रुकी सेनामें जब भेदनीतिद्वारा फूट डाल दी जाती है, तब वह घुन लगे हुए काष्ठकी भाँति विशीर्ण (छिन्न-भिन्न) हो जाती है। प्रभाव, उत्साह तथा मन्त्रशक्तिसे सम्पन्न एवं देश-कालका ज्ञान रखनेवाला राजा दण्डके द्वारा शत्रुओंका अन्त कर दे। जिसमें मैत्रीभाव प्रधान है, तथा जिसका विचार कल्याणमय है, ऐसे पुरुषको सामनीतिके द्वारा वशमें करे।'

दान आदिसे साध्य

लुब्धं क्षीणं च दानेन भिन्नानन्योन्यशङ्कया।
दण्डस्य दर्शनादुष्टान् पुत्रभ्रात्रादि सामतः॥

१. पि।

दानभेदैश्वमूलुख्यान् योधाञ्जनपदादिकान् ।
सामन्ताटविकान् भेददण्डाभ्यामपराञ्जनान् ॥

'जो लोभी हो और आर्थिक दृष्टिसे क्षीण हो चला हो, उसको दानद्वारा सत्कारपूर्वक वशमें करे । परस्पर शङ्कासे जिनमें फूट पड़ गयी हो तथा जो दुष्ट हों, उन सबको दण्डका भय दिखाकर वशमें ले आये । पुत्र और भाई आदि बन्धुजनोंको सामनीतिद्वारा एवं धन देकर वशीभूत करे । सेनापतियों, सैनिकों तथा जनपदके लोगोंको दान और भेदनीतिके द्वारा अपने अधीन करे । सामन्तों (सीमावर्ती नरेशों), आटविकों (वन्य प्रदेशके शासकों) तथा यथासम्भव दूसरे लोगोंको भी भेद और दण्डनीतिसे वशमें करे ।'

माया

देवताप्रतिमास्तम्भसुषिरान्तर्गता नराः ।
पुमान् स्त्रीवस्त्रसंवीतो निशि चाद्भुतदर्शनः ॥
वेतालोल्कापिशाचानां देवानां च सरूपता ।
कामतो रूपधारित्वं शस्त्राग्न्यश्माम्बुवर्षणम् ॥
तमोऽनिलोऽचलो मेघा इति माया ह्यमानुषी ।
जघान कीचकं भीम आस्थितः स्त्रीसरूपताम् ॥

'देवताओंकी प्रतिमाओं तथा जिनमें देवताओंकी मूर्ति खुदी हो ऐसे खंभोंके बड़े-बड़े छिद्रोंमें छिपकर खड़े हुए मनुष्य मानुषी माया है ।* स्त्रीके कपड़ोंसे ढँका हुआ अथवा रात्रिमें अद्भुतरूपसे दर्शन देनेवाला पुरुष भी मानुषी माया है । वेताल, मुखसे आग उगलनेवाले पिशाच तथा देवताओंके समान रूप धारण करना इत्यादि मानुषी माया है । इच्छानुसार रूप धारण करना, शस्त्र, अग्नि, पत्थर और जलकी वर्षा करना तथा अन्धकार, आँधी, पर्वत और मेघोंकी सृष्टि कर देना—यह अमानुषी माया है । पूर्वकल्पकी चतुर्युगीमें जो द्वापर आया था, उसमें पाण्डुवंशी भीमसेनने स्त्रीके समान रूप धारण करके अपने शत्रु कीचकको मारा था ।'

उपेक्षा

अन्याये व्यसने युद्धे प्रवृत्तस्यानिवारणम् ।
उपेक्षेयं स्मृता भ्रातोपेक्षितश्च हिडिम्बया ॥

'अन्याय (अदण्ड्यदण्डन आदि), व्यसन (मृगया आदि) तथा बड़ेके साथ युद्धमें प्रवृत्त हुए आत्मीय-जनको न रोकना उपेक्षा है । पूर्वकल्पवर्ती भीमसेनके साथ युद्धमें प्रवृत्त हुए अपने भाई हिडिम्बको हिडिम्बाने मना नहीं किया, अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये उसकी उपेक्षा कर दी ।'

इन्द्रजाल

मेघान्धकारवृष्ट्यग्निपर्वताद्भुतदर्शनम् ।
दूरस्थानां च सैन्यानां दर्शनं ध्वजशालिनाम् ॥
छिन्नपाटितभिन्नानां संस्रुतानां च दर्शनम् ।
इतीन्द्रजालं द्विषतां भीत्यर्थमुपकल्पयेत् ॥

'मेघ, अन्धकार, वर्षा, अग्नि, पर्वत तथा अन्य अद्भुत वस्तुओंको दिखाना, दूर खड़ी हुई ध्वजशालिनी सेनाओंका दर्शन कराना, शत्रुपक्षके सैनिकोंको कटे, फाड़े तथा विदीर्ण किये गये और अङ्गोंसे रक्तकी धारा बहाते हुए दिखाना—यह सब इन्द्रजाल है । शत्रुओंको डरानेके लिये इस इन्द्रजालकी कल्पना करनी चाहिये ।'

(अग्निपुराण, अध्याय २४२)

सेनाके छः भेद, इनका बलाबल तथा छः अङ्ग

श्रीराम उवाच

षड्विधं तु बलं व्यूह्य देवान् प्राच्र्य रिपुं व्रजेत् ।
मौलं भृतं श्रेणिसुहृद्द्विषदाटविकं बलम् ॥

* वहाँ छिपे हुए मनुष्य यथासमय निकलकर शत्रुपर टूट पड़ते हैं, या वहींसे शत्रुके विनाशकी सूचना देते हैं । शत्रुपर यह प्रभाव डालते हैं कि विजिगीषुकी सेवासे प्रसन्न होकर हम देवता ही उसकी सहायता कर रहे हैं ।

पूर्वं पूर्वं गरीयस्तु बलानां व्यसनं तथा।
षडङ्गं मन्त्रकोषाभ्यां पदात्यश्वरथद्विपैः॥

श्रीराम कहते हैं—'छः प्रकारकी सेनाको कवच आदिसे संनद्ध एवं व्यूहबद्ध करके इष्ट देवताओंकी तथा संग्रामसम्बन्धी दुर्गा आदि देवियोंकी पूजा करनेके पश्चात् शत्रुपर चढ़ाई करे। मौल, भृत, श्रेणि, सुहृद्, शत्रु तथा आटविक—ये छः प्रकारके सैन्य हैं।* इनमें परकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व सेना श्रेष्ठ कही गयी है। इनका व्यसन भी इसी क्रमसे गरिष्ठ माना गया है। पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथीसवार—ये सेनाके चार अङ्ग हैं। किंतु मन्त्र और कोष—इन दो अङ्गोंके साथ मिलकर सेनाके छः अङ्ग हो जाते हैं।'

सेनापति-प्रचार तथा सेनाकी व्यूह-रचना

नद्यद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं भवेत्।
सेनापतिस्तत्र तत्र गच्छेद् व्यूहीकृतैर्बलैः॥
नायकः पुरतो यायात् प्रवीरपुरुषावृतः।
मध्ये कलत्रं स्वामी च कोशः फल्गु च यद् बलम्॥

'नदी-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग तथा वन-दुर्ग—इनमें जहाँ-जहाँ (सामन्त तथा आटविक आदिसे) भय प्राप्त हो, वहाँ-वहाँ सेनापति संनद्ध एवं व्यूहबद्ध सेनाओंके साथ जाय। एक सेनानायक उत्कृष्ट वीर योद्धाओंके साथ आगे जाय (और मार्ग एवं सेनाके लिये आवास-स्थानका शोध करे)। विजिगीषु राजा और उसका अन्तःपुर सेनाके मध्यभागमें रहकर यात्रा करे। खजाना तथा फल्गु (असार एवं बेगार करनेवालोंकी) सेना भी बीचमें ही रहकर चले।'

पार्श्वयोरुभयोरश्वा वाजिनां पार्श्वयो रथाः।
रथानां पार्श्वयोर्नागा नागानां चाटवीबलम्॥
पश्चात्सेनापतिः सर्वं पुरस्कृत्य कृती स्वयम्।
यायात् संनद्धसैन्यौघः खिन्नानाश्वासयञ्छनैः॥

'स्वामीके अगल-बगलमें घुड़सवारोंकी सेना रहे, घुड़सवार सेनाके उभय पार्श्वमें रथसेना रहे। रथ-सेनाके दोनों तरफ हाथियोंकी सेना रहनी चाहिये। उसके दोनों बगल आटविकों (जंगली लोगों) की सेना रहे। यात्राकालमें प्रधान एवं कुशल सेनापति स्वयं स्वामीके पीछे रहकर सबको आगे करके चले। थके-माँदे (हतोत्साह) सैनिकोंको धीरे-धीरे आश्वासन देता रहे। उसके साथकी सारी सेना कमर कसकर युद्धके लिये तैयार रहे।

यायाद् व्यूहेन महता मकरेण पुरो भये।
श्येनेनोद्धृतपक्षेण सूच्या वा वीरवक्त्रया॥
पश्चाद्भये तु शकटं पार्श्वयोर्वज्रसंज्ञितम्।
सर्वतः सर्वतोभद्रं भये व्यूहं प्रकल्पयेत्॥

'यदि आगेकी ओरसे शत्रुके आक्रमणका भय सम्भावित हो तो महान् मकर-व्यूहकी रचना करके आगे बढ़े। (यदि तिर्यग् दिशासे भयकी सम्भावना हो तो) खुले या फैले पंखवाले श्येन पक्षीके आकारकी व्यूह रचना करके चले। (यदि एक आदमीके ही चलने योग्य पगडंडी मार्गसे यात्रा करते समय सामनेसे भय हो तो) सूची-व्यूहकी रचना करके चले तथा उसके मुख-भागमें वीर योद्धाओंको खड़ा करे। पीछेसे

---

* मूलभूत पुरुषके सम्बन्धोंसे चली आनेवाली वंश-परम्परागत सेना 'मौल' कही गयी है। आजीविका देकर जिसका भरण-पोषण किया गया हो, वह 'भृत' बल है। जनपदके अन्तर्गत जो व्यवसायियों तथा कारीगरोंका संघ है; उनकी सेना 'श्रेणिबल' है। सहायताके लिये आये हुए मित्रकी सेना 'सुहृद्बल' है। अपनी दण्डशक्तिसे वशमें की गयी सेना 'शत्रुबल' है तथा स्वमण्डलके अन्तर्गत अटवी (जंगल) का उपभोग करनेवालोंको 'आटविक' कहते हैं। उनकी सेना 'आटविकबल' है।

१. उसका मुख विस्तृत होनेसे वह पीछेकी समस्त सेनाकी रक्षा करता है।

भय हो तो शकटव्यूह[2]की, पार्श्वभागसे भय हो तो वज्रव्यूह[3]की तथा सब ओरसे भय होनेपर 'सर्वतोभद्र[4]' नामक व्यूहकी रचना करे।'

संकटसे सेनाकी रक्षा

कन्दरे शैलगहने निम्नगावनसंकटे।
दीर्घाध्वनि परिश्रान्तं क्षुत्पिपासाहितक्लमम्॥
व्याधिदुर्भिक्षमरकपीडितं दस्युविद्रुतम्।
पङ्कपांसुजलच्छन्नं व्यस्तं पुञ्जीकृतं पथि॥
प्रसुप्तं भोजनव्यग्रमभूमिष्ठमसंस्थितम्।
चौराग्निभयवित्रस्तं वृष्टिवातसमाहतम्॥
इत्यादौ स्वचमूं रक्षेत्परसैन्यं च घातयेत्।

'जो सेना पर्वतकी कन्दरा, पर्वतीय दुर्गम स्थान एवं गहन वनमें, नदी एवं घने वनसे संकीर्ण पथपर फँसी हो, जो विशाल मार्गपर चलनेसे थकी हो, भूख-प्याससे पीड़ित हो, रोग, दुर्भिक्ष (अकाल) एवं महामारीसे कष्ट पा रही हो, लुटेरोंद्वारा भगायी गयी हो, कीचड़, धूल तथा पानीमें फँस गयी हो, विक्षिप्त हो, एक-एक व्यक्तिके ही चलनेका मार्ग होनेसे जो आगे न बढ़कर एक ही स्थानपर एकत्र हो गयी हो, सोयी हो, खाने-पीनेमें लगी हो, अयोग्य भूमिपर स्थित हो, बैठी हो, चोर तथा अग्निके भयसे डरी हो, वर्षा और आँधीकी चपेटमें आ गयी हो तथा इसी तरहके अन्यान्य संकटोंमें फँस गयी हो, ऐसी अपनी सेनाकी तो सब ओरसे रक्षा करे तथा शत्रुसेनाको घातक प्रहारका निशाना बनाये।'

प्रकाश तथा कूट-युद्ध

विशिष्टो देशकालाभ्यां भिन्नारिप्रकृतिर्बली॥
कुर्यात्प्रकाशयुद्धं हि कूटयुद्धं विपर्यये।
तेष्ववस्कन्दकालेषु परं हन्यात्समाकुलम्॥
अभूमिष्ठं स्वभूमिष्ठः स्वभूमौ चोपजापतः।

'जब आक्रमणके लक्ष्यभूत शत्रुकी अपेक्षा विजिगीषु राजा देश-कालकी अनुकूलताकी दृष्टिसे बढ़ा-चढ़ा हो तथा शत्रुकी प्रकृतिमें फूट डाल दी गयी हो और अपना बल अधिक हो तो शत्रुके साथ प्रकाश-युद्ध (घोषित या प्रकट संग्राम) छेड़ दे। यदि विपरीत स्थिति हो तो कूट-युद्ध (छिपी लड़ाई) करे। जब शत्रुकी सेना पूर्वोक्त बलव्यसन (सैन्य-संकट) के अवसरों या स्थानोंमें फँसकर व्याकुल हो तथा युद्धके अयोग्य भूमिमें स्थित हो और सेनासहित विजिगीषु अपने अनुकूल भूमिपर स्थित हो, तब वह शत्रुपर आक्रमण करके उसे मार गिराये। यदि शत्रु-सैन्य अपने लिये अनुकूल भूमिमें स्थित हो तो उसकी प्रकृतियोंमें भेदनीतिद्वारा फूट डलवाकर अवसर देख शत्रुका विनाश कर डाले।'

युद्धनीति

प्रकृतिप्रग्रहाकृष्टं पाशैर्वनचरादिभिः॥
हन्यात्प्रवीरपुरुषैर्भङ्गदानापकर्षणैः।
पुरस्ताद्दर्शनं दत्त्वा तल्लक्ष्यकृतनिश्चयान्॥
हन्यात् पश्चात्प्रवीरेण बलेनोपेत्य वेगिना।
पश्चाद्वा संकुलीकृत्य हन्याच्छूरेण पूर्वतः॥

'जो युद्धसे भागकर या पीछे हटकर शत्रुको उसकी भूमिसे बाहर खींच लाते हैं, ऐसे वनचरों (आटविकों) तथा अमित्र सैनिकोंने पाशभूत होकर जिसे प्रकृति-प्रग्रहसे (स्वभूमि या मण्डलसे) दूर—परकीय भूमिमें आकृष्ट कर लिया है, उस शत्रुको प्रकृष्ट वीर योद्धाओं-द्वारा मरवा डाले। कुछ थोड़े-से सैनिकोंको सामनेकी ओरसे युद्धके लिये उद्यत दिखा दे और जब शत्रुके सैनिक उन्हींको अपना लक्ष्य बनानेका निश्चय कर लें, तब पीछेसे वेगशाली उत्कृष्ट वीरोंकी सेनाके साथ पहुँचकर उन शत्रुओंका विनाश करे। अथवा पीछेकी ओर ही

२. शकट-व्यूह पीछेकी ओरसे विस्तृत होता है।

३. वज्र व्यूहमें दोनों ओर विस्तृत मुख होते हैं।

४. सर्वतोभद्रमें सभी दिशाओंकी ओर सेनाका मुख होता है।

सेना एकत्र करके दिखाये और जब शत्रु सैनिकोंका ध्यान उधर ही खिंच जाय, तब सामनेकी ओरसे शूरवीर बलवान् सेनाद्वारा आक्रमण करके उन्हें नष्ट कर दे।

आभ्यां पार्श्वाभिघातौ तु व्याख्यातौ कूटयोधने।
पुरस्ताद्विषमे देशे पश्चाद्धन्यात्तु वेगवान्॥
पुरः पश्चात्तु विषम एवमेव तु पार्श्वयोः।

'सामने तथा पीछेकी ओरसे किये जानेवाले इन दो आक्रमणोंद्वारा अगल-बगलसे किये जानेवाले आक्रमणोंकी भी व्याख्या हो गयी अर्थात् बायीं ओर कुछ सेना दिखाकर दाहिनी ओरसे और दाहिनी ओर सेना दिखाकर बायीं ओरसे गुप्तरूपसे आक्रमण करे। कूट-युद्धमें ऐसा ही करना चाहिये।

प्रथमं योधयित्वा तु दूष्यामित्राटवीबलैः॥
श्रान्तं मन्दं निराक्रन्दं हन्यादश्रान्तवाहनः।
दूष्यामित्रबलैर्वापि भङ्गं दत्त्वा प्रयत्नवान्॥
जितमित्येव विश्वस्तं हन्यान्मन्त्रव्यपाश्रयः।

'पहले दूष्यबल, अमित्रबल तथा आटविकबल—इन सबके साथ शत्रुसेनाको लड़ाकर थका दे। जब शत्रुबल श्रान्त, मन्द (हतोत्साह) और निराक्रन्द (मित्ररहित एवं निराश) हो जाय और अपनी सेनाके वाहन थके न हों, उस दशामें आक्रमण करके शत्रुवर्गको मार गिराये। अथवा दूष्य एवं अमित्र सेनाको युद्धसे पीछे हटने या भागनेका आदेश दे दे और जब शत्रुको यह विश्वास हो जाय कि मेरी जीत हो गयी, अतः वह ढीला पड़ जाय, तब मन्त्रबलका आश्रय ले प्रयत्नपूर्वक आक्रमण करके उसे मार डाले।

स्कन्धावारपुरग्रामसस्यसार्थव्रजादिषु॥
विलोभ्य च परानीकमप्रसत्तो विनाशयेत्।
अथवा गोग्रहाकृष्ट्या तल्लक्ष्यं मार्गबन्धनात्॥
अवस्कन्दभयाद्रात्रौ प्रजागरकृतश्रमम्।
दिवासुप्तं समाहन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम्॥
निशि विश्रब्धसंसुप्तं नरैर्वा खड्गपाणिभिः।

'स्कन्धावार (सेनाके पड़ाव), पुर, ग्राम, सस्यसमूह तथा गौओंके व्रज (गोष्ठ)—इन सबको लूटनेका लोभ शत्रु सैनिकोंके मनमें उत्पन्न करा दे और जब उनका ध्यान बँट जाय, तब स्वयं सावधान रहकर उन सबका संहार कर डाले। अथवा शत्रु राजाकी गायोंका अपहरण करके उन्हें दूसरी ओर (गायोंको छुड़ानेवालोंकी ओर) खींचे और जब शत्रुसेना उस लक्ष्यकी ओर बढ़े तब उसे मार्गमें ही रोककर मार डाले अथवा अपने ही ऊपर आक्रमणके भयसे रातभर जागनेके श्रमसे दिनमें सोयी हुई शत्रुसेनाके सैनिक जब नींदसे व्याकुल हों, उस समय उनपर धावा बोलकर मार डाले। अथवा रातमें ही निश्चिन्त सोये हुए सैनिकोंको तलवार हाथमें लिये हुए पुरुषोंद्वारा मरवा दे।'

गजसेनाद्वारा साध्यकर्म

प्रयाणे पूर्वयायित्वं वनदुर्गप्रवेशनम्।
अभिन्नानामनीकानां भेदनं भिन्नसंग्रहः।
विभीषिका द्वारघातः कोषरक्षेभकर्म च॥

'जब सेना कूच कर चुकी हो तथा शत्रुने मार्गमें ही घेरा डाल दिया हो तो उसके उस घेरे या अवरोधको नष्ट करनेके लिये हाथियोंको ही आगे-आगे ले चलना चाहिये। वन-दुर्गमें जहाँ घोड़े भी प्रवेश न कर सकें, वहाँ हाथियोंकी ही सहायतासे सेनाका प्रवेश होता है—वे आगेके वृक्ष आदिको तोड़कर सैनिकोंके प्रवेशके लिये मार्ग बना देते हैं। जहाँ सैनिकोंकी पंक्ति ठोस हो, वहाँ उसे तोड़ देना हाथियोंका ही काम है तथा जहाँ व्यूह टूटनेसे सैनिकपंक्तिमें दरार पड़ गयी हो, वहाँ हाथियोंके खड़े होनेसे छिद्र या दरार बंद हो जाती है। शत्रुओंमें भय उत्पन्न करना, शत्रुके दुर्गके द्वारको माथेकी टक्कर देकर तोड़ गिराना, खजानेको सेनाके साथ ले चलना

इस पथ में है सहज हुआ चलना हमें,
छल न सकी वह लोभ-मोह-छलना हमें ।
हम सौरों की प्राचि, पुराधिष्ठात्रि तू,
मनुष्यत्व—मनुजात-धर्म की धात्रि तू !
तेरे जाये सदा याद आते रहे,
नव-नव गौरव पुण्यपर्व पीते रहे ।
तू भावों की चारु चित्रशाला बनी,
चारित्र्यों की गीत-नाट्य-माला बनी ।
तू है पाठावली आर्य-कुल-कर्म की,
पत्र-पत्रपर छाप लगी ध्रुव धर्म की ।
चलना, फिरना और विचरना हो कहीं;
किंतु हमारा प्रेम-पालना है यहीं ।
हो जाऊँ मैं लाख बड़ा नर-लोक में,
शिशु ही हूँ तुझ मातृभूमि के ओक में ।
यहीं हमारे नाभि-कंज की नाल है,
विधि-विधान की सृष्टि यहीं सुविशाल है ।
हम अपने तुझ दुग्ध-धाम के विष्णु हैं,
हैं अनेक भी एक, इसीसे जिष्णु हैं ।
तेरा पानी शस्त्र हमारे हैं धरे,
जिसमें अरि आकण्ठमग्न होकर तरे ।
तब भी तेरा शान्ति-भरा सद्भाव है,
सब क्षेत्रों में हरा हृदय का हाव है ।
मेरा प्रिय हिण्डोल-निकुञ्जागार तू,
जीवन-सागर, भाव-रत्न-भांडार तू ।
मैं हूँ तेरा सुमन, चढूँ-सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढूँ-बरसूँ कहीं ।
शुचि रुचि शिल्पादर्श, शरद्घन-पुञ्ज तू,
कलाकलित अति ललित कल्पना-कुञ्ज तू ।
स्वर्गोपरि साकेत, रामका धाम तू,
रक्षित रख निज उचित अयोध्या नाम तू ।
राज्य जाय, मैं आप चला जाऊँ कहीं,
आऊँ अथवा लौट यहाँ, आऊँ नहीं ।
रामचन्द्र भवभूमि अयोध्याकी सदा,
और अयोध्या रामचन्द्र की सर्वदा ।''

(पञ्चम सर्ग)

× × ×

श्रीरघुनाथ वन चले गये । महाराज दशरथ रामके योगमें परलोक पधारे । समाचार पाकर भरत ननिहालसे अयोध्या आये और पिताकी उन्होंने अन्त्येष्टि की । इसके पश्चात् भरत अयोध्याके पूरे समाजको साथ लेकर श्रीरामको मनाने चित्रकूट पहुँचे ।

चित्रकूटमें भरतने श्रीरामसे अनुनय-विनय की; किंतु श्रीराम तो लौटनेको प्रस्तुत नहीं थे । अन्तमें महारानी कैकेयी बोलीं । उन्होंने श्रीरामसे लौटनेके लिये कहा—

हो तुम्हीं भरतके राज्य, स्वराज्य सम्हालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो ।
स्वामीको जीते जी न दे सकी सुख मैं,
मर कर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं ।

× × ×

अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुमसे विनय आज यह माता ।

× × ×

श्रीरघुनाथ कातर हो उठे माताकी बात सुनकर । वे बोले—

हा मातः, मुझको करो न यों अपराधी,
मैं सुन न सकूँगा बात और अब आधी ।
कहती हो तुम क्यों अन्य-तुल्य यह वाणी,
क्या राम तुम्हारा पुत्र नहीं वह मानी ?
इस भाँति मना कर हाय, मुझे न रुठाओ,
जो उठूँ न मैं, क्यों तुम्हीं न आप उठाओ ।
वे शैशव के दिन आज हमारे बीते,
माँ के शिशु क्यों शिशु ही न रहे मनचीते ।
तुम रीझ-खीझ कर प्यार जतातीं मुझको,
हँस आप रुठातीं, आप मनातीं मुझको ।
वे दिन बीते, तुम जीर्ण दुःखकी मारी,
मैं बड़ा हुआ अब और साथ ही भारी ।
अब उठा सकोगी तुम न तीनमें कोई ।''
''तुम हलके कब थे ?''—हँसी कैकयी, रोई !
''माँ, अब भी तुमसे राम विनय चाहेगा ?
अपने ऊपर क्या आप अग्नि दाहेगा ?
अब तो आज्ञा की, अम्ब ! तुम्हारी बारी,
प्रस्तुत हूँ मैं भी धर्मधनुर्धनिधारी ।
जननी ने मुझको जना, तुम्हींने पाला,
अपने साँचे में आप यत्न से ढाला ।
सबके ऊपर आदेश तुम्हारा, मैया !
मैं अनुचर पूत, सपूत, प्यारका भैया ।

वनवास लिया है मान तुम्हारा शासन,
लूँगा न प्रजाका भार, राज-सिंहासन ?
पर यह पहला आदेश प्रथम हो पूरा,
वह तात-सत्य भी रहे न अम्ब ! अधूरा,
जिसपर हैं अपने प्राण उन्होंने त्यागे,
मैं भी अपना व्रत-नियम निबाहूँ आगे।
निष्फल न गया माँ ! यहाँ भरतका आना,
सिर-माथे मैंने वचन तुम्हारा माना।
संतुष्ट मुझे तुम देख रही हो वन में,
सुख धन-धरतीमें नहीं, किंतु निज मन में।
यदि पूरा प्रत्यय न हो तुम्हें इस जन पर,
तो चढ़ सकते हैं राजपूत तो धन पर।"

× × ×

"हे वत्स, तुम्हें वनवास दिया मैंने ही,
अब उसका प्रत्याहार किया मैंने ही।'
"पर रघुकुल में जो वचन दिया जाता है,
लौटा कर वह कब कहाँ लिया जाता है ?
क्यों व्यर्थ तुम्हारे प्राण खिन्न होते हैं ?
वे प्रेम और कर्तव्य भिन्न होते हैं।
जाने दो, निर्णय करें भरत ही सारा—
मेरा अथवा है कथन यथार्थ तुम्हारा।
मेरी-इनकी चिर पंच रहीं तुम माता,
हम दोनोंके मध्यस्थ आज ये भ्राता।"

× × ×

किंतु भरत क्या निर्णय करें ? वे स्वयं अत्यन्त व्याकुल हैं, अवश हैं। अन्तमें उन्हें भी श्रीराम समझाते हैं—

"मुझ जैसे मेरे लिये तुम्हें यह कितना ?
शिष्टागम निष्फल नहीं कहीं होता है,
वन में भी नागरभाव-बीज बोता है।
कुछ देख रही है दूर दृष्टि-मति मेरी,
क्या तुम्हें इष्ट है, वीर ! विफल-गति मेरी ?
तुमने मेरा आदेश सदा से माना,
हे तात, कहो क्यों आज व्यर्थ हठ ठाना ?
करने में निज कर्त्तव्य कुयश भी यश है।"

(अष्टम सर्ग)

× × ×

रामचरित-चिन्तामणि

महाकवि पण्डित श्रीरामचरित उपाध्यायरचित खड़ी बोलीका महाकाव्य है—'रामचरित-चिन्तामणि'। यह महाकाव्य अनेक दृष्टियोंसे श्रीवाल्मीकीय रामायणका अनुगमन करता है। इसका प्रकृति-चित्रण बहुत हृदयग्राही बन पड़ा है।

वनवासके लिये यात्रा करते हुए श्रीरघुनाथ जानकी एवं लक्ष्मणके साथ पहले चित्रकूट पहुँचे हैं। वहाँ वन तथा ऋषि-आश्रमोंकी छटाका वर्णन वे श्रीजानकीसे करते हैं। श्रीराम कहते हैं—

विचित्र ही चित्रित चित्रकूट है,
प्रिये ! यहाँ की सुषमा अटूट है।
कहीं हरी घास हरी दरी-समा,
कहीं दरी है गृह-सी अनूपमा॥
प्रभा यहाँ है प्रखरा दिनेश की,
न है यहाँ श्री मुखरा सुरेश की।
प्रिये ! यहाँ के मृग क्या अभीत हैं ?
सभी यहाँ के सब के सुमीत हैं॥
प्रिये ! निकुञ्जावलि है यहाँ जहाँ,
मनो मयूरावलि है जड़ी वहाँ।
यहाँ सना सौरभ से समीर है,
यहाँ बना शीतल स्वच्छ नीर है॥
तपस्वियों के चय को विलोक के,
सुखी हुए राघव शोक रोक के।
विदेहजे ! देख इसे स्वदेह का,
रहा नहीं ज्ञान मुझे स्वगेह का॥
कैसा अच्छा यह आश्रम है ?
जहाँ द्वेष का तनिक न गम है।
मानो शान्ति देह को धर कर,
आ बैठी है वन के भीतर॥
सिंह-वधू चुपचाप खड़ी है,
उसका थन बछड़ा पीता है।
पागुर करती धेनु पड़ी है,
उसको चाट रहा चीता है॥
कहीं सिंह-शिशु को मीठे फल,
उठा-उठा कर गज देता है।
सूँघ-सूँघ कर देता है चल,
मुख में यह न उन्हें लेता है॥

केहरि के कंधे पर चढ़ कर,
मृग-शिशु तरु-पत्ते खाता है।
कहीं सूँड में पानी भर कर,
करी सिंह को नहलाता है॥
कहीं मेखला टँगी हुई है,
कहीं कमण्डलु पड़ा हुआ है।
कहीं वेदिका बनी हुई है,
कहीं सरोवर, कहीं कुँआ है॥
कहीं मृगाजिन, कहीं कुशासन,
बिछे हुए हैं सुन्दर भू पर।
कहीं गुफाएँ, कहीं लताएँ,
कहीं महा निर्मल जल के झर॥
साम-गान तोते करते हैं,
कहीं व्याकरण वटु पढ़ते हैं।
कहीं कथा मुनिवर कहते हैं,
बैठे भूप उसे सुनते हैं॥
कहीं सारिका सरस वचन से,
श्लोक पुराणों के पढ़ती है।
फूल-फलों के भारीपन से,
कहीं लता टूटी पड़ती है॥
कोई वटु समिधा लाता है,
नीर लिये कोई आता है।
कोई अग्निहोत्र करता है,
पूत धूम सब दुख हरता है॥
चम्पादिक फूले हैं तो भी,
हव्य-गन्ध मन को हरता है।
नृप के सज्जित महलों को भी,
यह आश्रम लज्जित करता है॥
प्रियतमे! यह आश्रम धन्य है,
मुनि-समान यहाँ मृग वन्य हैं।
अब इसे हम छोड़ चलें कहाँ,
सुख सने कुछ काल रहें यहाँ॥
(८। ११–२५)

पञ्चवटीमें मारीचको मायामृग बनाकर रावण सीता-हरणमें सफल हो गया। श्रीराम उस मायामृगको मारकर लौटे। श्रीजानकीको न पाकर वियोगविह्वल वे वनमें भाई-के साथ भटकने लगे। रावणके द्वारा आहत जटायुको रघुनाथने निजधाम दिया। शबरीके आश्रम जाकर उसकी चिर प्रतीक्षा सफल की और वहाँसे आगे चले तो विशाल, निर्मल, सरोज-शोभित पम्पासरको देखकर सानुज रघुवरकी मनोवृत्ति कुछ तृप्त हुई। अतः—

हँस कर कहने लगे अनुज से धीमे स्वर में
लक्ष्मण! क्या कुछ अधिक यहाँ से सुख है घर में?
लक्ष्मण! जग में मान्य-धन्य जन उपकारी हैं,
सचमुच वह प्रत्यक्ष धर्म के वपु-धारी हैं।
सब जीवों को तुल्य वारि यह सर देता है,
लक्षों का संताप दूर यह कर देता है॥
देखो, भ्रम में पड़े हुए हैं अनुज! भ्रमर ये,
शुक्ल वर्ण पर मुग्ध हुए हैं बाँध कमर ये।
कब्जे में कर अब्ज इन्हीं का वध करते हैं,
पर तो भी ये मूढ़ नहीं उनसे डरते हैं॥
हंसों पर दो दृष्टि, अनुज! ये शुक्ल सही हैं;
हाँ, पर इनके हृदय कालिमा-रिक्त नहीं हैं।
पर की उन्नति देख मूढ़ ये जल जाते हैं,
नभ में घन को देख कहीं ये टल जाते हैं॥
अपने गुण का गर्व इन्हें जैसा होता है,
औरों को गुण-गर्व नहीं वैसा होता है।
अपने सुख से सुखी, अलग रहते हैं सब से,
फिर भी निज को न्यायशील कहते हैं सब से॥
हंसों ही के तुल्य बकों का भी शरीर है,
इनका भी आवास सदा ही सरस्तीर है।
चलते भी हैं मूढ़ बना कर चाल मराली,
पर इनकी दुष्क्रिया घृणित है और निराली॥
नीर-क्षीर-विवेक भला बक क्या जानेंगे?
पर अपने को हंस बराबर ही मानेंगे।
बड़ी भूल है, अनुज! इन्हें आश्रय का देना,
सुख देकर के इन्हें दुःख मानो है लेना॥
इन्हें भाग्य से शुभ्र देह मिल गई सही है,
वञ्चकता क्या अनुज! बकों में भरी नहीं है?
देखो, जिनके साथ सदा सुख से सोते हैं,
उन मीनों के लिये काल ये ही होते हैं॥
बक होवें या हंस, रंग दोनों का सम है,
कृतघ्नता या स्वार्थ—ढंग दोनों का सम है।
जहाँ बसें सुख-सहित और जीवन पाते हैं,
अनुज! कहो, क्या लाभ वहाँ ये पहुँचाते हैं?

कालोंका भी हृदय अनुज ! उज्ज्वल होता है,
श्वेतों के भी हृदय-बीच कज्जल होता है।
मधुकर मधु के लिये चित्त में व्यग्र बड़े हैं,
बक मीनों के लिये मौन निःस्पन्द खड़े हैं॥
इन्दीवर, हे अनुज ! प्रफुल्लित ज्यों होते हैं,
मोद-हीन हो कुमुद संकुचित क्यों होते हैं ?
किसी बात में श्याम शुक्ल से यद्यपि न कम है,
तद्यपि कृष्ण से शुक्ल विमुख रहता हरदम है॥
श्वेताब्जों की प्रकृति अनुज ! अनुपम होती है,
उनमें मत्सरता न अग्नि से कम होती है।
दिनकर को ये उदित देखकर मुरझाते हैं,
और उसी का अस्त देख कर सुख पाते हैं॥

पम्पा से भी उठे अनुज के सहित अवधपति,
ऋष्यमूक को चले, दुखी हो कर मन्थर-गति।
वर्णन करने लगे देखकर सोभा बन की,
या करने वे लगे प्रकट सम्मति निज मन की।
सौमित्र ! इन पादपोंकी कैसी स्थिति है यहाँ ?
जिन्हें देखते ही हृदय हर्षित होता है महा॥

क्या सज्जन भी कभी किसी से कुछ लेते हैं ?
किंतु अन्यके लिये स्वयं तन-मन देते हैं।
उपकारों में निरत निरन्तर वे रहते हैं,
सुखी रहे जग, इसी लिये दुख वे सहते हैं।
पत्र-पुष्प-फल दे हमें, ये शीतल हैं कर रहे।
इनकी अमित गुणावली अनुज ! कहो, कैसे कहें ?

चन्दन-तरु ये अनुज ! पुष्प से हीन यद्यपि हैं,
निज सुगन्धसे सदा जगत-सम्मान्य तदपि हैं।
भले-बुरे का भेद नहीं होता है इनमें,
कहीं मधुप, अहि-वृन्द कहीं सोता है इनमें।
गुणी पुरुष धन-हीन भी, यदि उदारता-युक्त है।
लोकमान्य वह है ! वही जग में जीवन्मुक्त है॥

स्वार्थ-सिद्धिके लिये विविध व्यापारी तो हैं।
किंतु धन्य वे पुरुष, देश-हितकारी जो हैं।
अपने ही से सुखी अन्य को करनेवाले,
दुर्लभ हैं, 'पर' में भी निज गुण भरनेवाले।
ये मलयज निज देशको करते हैं सुरभित सदा।
इनसे मिलकर कौन तरु हुआ न इनके सम कदा ?॥

अधमवर्ग में जन्म मिला हो यद्यपि नर का,
और सङ्ग भी उसे मिला हो दुर्जनतरका।
पर जग में वह पुरुष सदा सम्मानित होगा,
उपकारी जो होगा और गुणान्वित होगा।
गिरि पर जिसका जन्म है, जो सर्पावृत है सही।
उसी काष्ठ का जगत यह, क्या आदर करता नहीं ?॥

रूपवान का नाम मनोहर यद्यपि पड़ा है,
तो क्या वह इस हेतु किसी से कभी बड़ा है ?
बन सकता है वही बड़ा, जो है गुन वाला,
कैसा ही हो रंग अनुज ! गोरा या काला।
चारु पत्र पाकर वृथा गर्वित हुआ अशोक है।
पुष्प-हीनतापर उसे होता तनिक न शोक है॥

गुण-विहीन, धन-हीन और उपकार-हीन नर,
मलिन-वदन हो सदा छिपा जो रहे कहीं पर।
आदर उसका कभी नहीं कोई करता है,
सुख पाने के लिये तरस कर वह मरता है।
पुष्प-सुरभि-फल-हीन यह तरु तमाल का है खड़ा।
श्याम पत्र के व्याज से, मनो कलङ्कित है बड़ा॥

तनिक दृष्टि दो, अनुज ! दाख-लतिकाओं पर भी,
वे तरुओं से लिपट रही हैं जड होकर भी।
फल भी इनके मधुर, रसीले, सुखदायक हैं,
पर काकों के लिये बड़े वे दुखदायक हैं।
कभी सती के निकट में लम्पट जाते हैं नहीं।
यदि वे जावें भूल कर, तो सुख पाते हैं नहीं॥

पर-पालन का पाठ नहीं जो पढ़े हुए हैं,
डीलडौल में मूढ़ व्यर्थ वे बढ़े हुए हैं।
कोई उनके निकट, कहो, क्यों जा सकता है ?
जाता है जग वहीं, जहाँ कुछ पा सकता है।
इन बातों को ताल-तरु मनो सिखाते हैं हमें।
निज जीवन की व्यर्थता या दिखलाते हैं हमें॥

नारिकेल-तरु यदपि ताल के ही भाई हैं,
निज छाया से नहीं किसी को सुखदायी हैं।
तो भी रस से भरे हुए ये फल देते हैं।
पहले निज काठिन्य हमें दिखला लेते हैं।
दानी जन की निठुरता सह सकता संसार है।
केवल सूखे हृदयका जीवन भू का भार है॥

यथा भीरु का हृदय सदा कम्पित रहता है,
कभी न वह रिपु-शक्ति स्वप्न में भी सहता है।
कायरपनके कर्म सभी को सिखलाता है,
या वह अपनी व्यर्थ तुच्छता दिखलाता है।

उसी भाँति अश्वत्थ ये स्थिर होकर रहते नहीं।
कभी वायु के वेग को दृढ़ होकर सहते नहीं॥

ज्यों भविष्य में देश-दशा की देख अधोगति,
देशहितैषी की न कभी रहती है स्थिर मति।
नहीं दुष्ट-उत्कर्ष सहन उसको होता है,
अश्रुपातके सहित क्षुभित हो वह रोता है।

यह मधूक-तरु भी तथा पुष्प-पात के व्याज से।
मनो सोच शुचि की व्यथा रोता है भय-लाज से॥

जैसे दम्भी मनुज अनुज ! हैं ठाट बनाते ?
बनते हैं वे व्यर्थ बड़े, कुछ भी न लजाते।
पर उनसे क्या लाभ किसीका कुछ होना है ?
उनका होना दास स्वयं गौरव खोना है।

त्यों सेमर-तरु सुमन से सजे हुए हैं व्यर्थ ही।
इनके फल में तनिक भी स्वाद-तत्त्व कुछ है नहीं॥

नीच मनुज के साथ नीच ही रह सकता है,
क्योंकि वही नीचत्व नीच का सह सकता है।
करके उसका सङ्ग नीचता कौन पढ़ेगा ?
अधम रजक को छोड़ गधे पर कौन चढ़ेगा।

इन नीमों के योग्य ही रसिक मिले हैं काक भी।
अन्य पतग इनकी तरफ क्यों सकते हैं ताक भी॥

दुख-ही-दुख का लाभ सदा है कण्टक जने से,
कोई उनसे कभी नहीं मिलता है मने से।
क्या वह सद्व्यवहार किसीसे कर सकता है ?
ताडित होकर भी न किसीसे डर सकता है।

वही बबूलों की दशा है सचमुच ही देखिये।
लाभ न कुछ होगा इन्हें, यदपि सुधा से सींचिये॥

दैवयोग से कभी शक्ति दुर्जन यदि पावें,
अपने कुल को प्रथम क्यों न वे मार भगावें ?
कण्टक हो जो स्वयं अकण्टक बनना चाहें,
क्यों कृतज्ञता कभी किसीके साथ निबाहें ?

ये करीर फूले सही, पर पत्तों को नष्ट कर।
काँटे-काँटे रह गये, जो हैं सब को कष्टकर॥

श्रीफल इनका नाम अनुज ! हा ! किसने रक्खा ?
इनके फल को, भला, सहज में किसने चक्खा ?
खग-मृग इनके निकट भला कैसे आवेंगे ?
क्यों वे इनसे चोंच-रदों को तुड़वावेंगे ?

अनुज ! बिना ठोकर दिये दुष्ट नहीं हैं मानते।
उनसे जो होवे कड़ा, उसे सभ्य हैं मानते॥

निज गौरव का ज्ञान बना रहता है जिनको,
कभी अपर का वेश नहीं भाता है उनको।
वे अपना ही रंग चढ़ाते हैं औरों को,
सदा ऐक्य के हाथ बढ़ाते हैं औरों को।

खदिर-वृक्ष भी अनुज ! ये रहते हैं निज रंग में।
लाल हुए चूनादि भी, पड़ कर इनके संग में॥

निजकुल-नाशक हा ! कपूत होते हैं जैसे,
बाँसों को भी अनुज ! जान लेना तुम वैसे।
करते हैं ये अग्नि प्रकट आपस में लड़ कर,
हो जाता है भस्म गहन भी उसमें पड़ कर॥

हित-अनहित का ज्ञान क्यों शून्य हृदय को हो कभी ?
विविध यत्न भी कीजिये, निष्फल होते हैं सभी॥

ज्यों कलि के धनवान श्वान को दूध पिलावें,
हाय ! गायको किंतु घास भी नहीं खिलावें।
भू-देवों को छोड़, धर्म से होकर न्यारे,
करते हैं सम्मान सदा नीचों का सारे।

यह वट-विटपी भी तथा हंसादिक को छोड़ कर।
निन्दित है, निज मित्रता क्षुद्र खगों से जोड़ कर॥

दानवीर वह धन्य, अन्य-उपकार करे जो,
देह-दानसे सदा लोक का दैन्य हरे जो।
दुर्लभ ऐसे मनुज अनुज ! जग में होते हैं,
दुख सह कर जो स्वयं पराये दुख खोते हैं।

शिवि-दधीचि के सम सुयश इसी भूर्ज-तरु ने लिया।
जड भी हो कर के अहो ! त्वचा-दान जग को दिया॥

कर्मवीर पर से सहायता कभी न लेते,
निज विक्रम से निज प्रभुत्व स्थापित कर देते।
पराधीन हो कभी न वे दुख को सहते हैं,
सौमित्रे ! सर्वत्र सदा निर्भय रहते हैं।

कर्मवीर ये सिंह भी सच्चे हैं, संशय नहीं।
कभी किसीसे भय नहीं होता है इनको कहीं॥

विषय-लीनता कभी नहीं नृप का लक्षण है,
लक्ष्मण ! उनका कर्म धर्म का ही रक्षण है।
विद्या से ही नहीं भूपता मिल जाती है,
बलशाली के साथ मही शोभा पाती है।
निपटे हैं ये सिंह, पर विक्रम इनमें है भरा।
इसी लिये इनकी सदा सेवा करती है धरा ॥

राजतिलक क्या कभी किसीने इन्हें दिया है ?
बल से मृगराजत्व इन्होंने स्वयं लिया है।
कभी किसीसे नहीं याचना ये करते हैं,
निज-रक्षाके लिये सभी से लड़ मरते हैं।
पराधीनता से सुखद मरण जानना चाहिये।
कृती इन्हें निज से अधिक अनुज ! मानना चाहिये ॥

स्थूलकाय ही नहीं शक्ति धारण करते हैं,
अनुज ! व्यर्थ ये गर्व मूढ वारण करते हैं।
बन्धनस्थ हो मार अङ्कुशों की सहते हैं।
ये औरों के द्वार खड़े आश्रित रहते हैं।
कभी घमंडी जगत में यश को पाते हैं नहीं।
द्वार-द्वार पर वे सदा धक्के खाते हैं सही ॥

सीधे का निर्वाह नहीं होता है जग में,
खल रहते हैं खड़े सदा उसके ही मग में।
यद्यपि जग-उपकार नित्य ही वह करता है,
तो भी औचक कभी खलों के कर भरता है,
ये मृग निज मद से गहन सुरभित करते हैं सदा।
व्याध-सरों के लक्ष्य पर जाने बन जावें कदा ॥

जन्मभूमि में प्रीति बनी रहती है जिसकी,
कर सकता है कौन बड़ाई कविवर उसकी ?
पुरुषोत्तम है वही, वही है सकल-गुणाकर,
देशाराधन किया जिसीने चित्त लगाकर।
इन ऊँटों को दीजिये चरने को नन्दन सही।
तो भी निज मरुभूमि को कभी भूल सकते नहीं ॥

(१२ । ६४—६२)

पम्पासरसे आगे बढ़ते ही सुग्रीवद्वारा भेजे श्रीहनुमान्‌जी मिले। उन्होंने सुग्रीवसे मित्रता करायी। सुग्रीवकी विपत्ति-गाथा श्रीरामने सुनी और वालीको मारकर सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य देनेकी प्रतिज्ञा की। प्रतिज्ञा पूरी हुई। वाली श्रीरामकी दयामिकी भेंट हो गया। सुग्रीवको वानरोंका अधिपतित्व प्राप्त हुआ; किंतु इतनेमें वर्षाऋतु आ गयी। इस ऋतुमें सीता-शोधका कार्य सम्भव नहीं था। भाईके साथ श्रीराम ऋष्यमूक पर्वतकी गुफामें चातुर्मास्य व्यतीत करने लगे। वहाँ एक दिन सायंकालके समय वे सूर्यास्त देखकर लक्ष्मणसे बोले—

होता है अभ्युदय किसी का दैवयोग से,
होता है वह ग्रस्त तुरत ही गर्व-रोग से।
कृत्याकृत्य-विचार नहीं उसमें रहता है,
इसी हेतु वह कभी बड़ा दुख भी सहता है।
यही सूर्य जो इस घड़ी डूब रहा है, देखिये।
कैसे-कैसे जगत में घोर कर्म इसने किये ॥

जिसकी होगी सृष्टि, नाश भी उसका होगा,
जिसकी होगी वृद्धि, ह्रास भी उसका होगा।
जिसका है उत्थान, पतन भी उसका होगा,
जिसका है आगमन, गमन भी उसका होगा।
उदित हुआ था सूर्य भी, डूबेगा फिर क्यों नहीं ?
किंतु अनुज ! रह जायँगे इसके यश-अपयश यहीं ॥

जो फूलेगा, उसे कभी कुम्हलाना होगा।
जो जन्मेगा, उसे कभी मर जाना होगा।
इन बातों पर ध्यान किंतु क्या खल देते हैं ?
करते हैं अन्याय, नहीं वे कल लेते हैं।
अनुज ! सूर्य के पतन का तनिक शोक करना नहीं।
उत्पीडक की अन्त में होती है दुर्गति यहीं ॥

दुख-दायक को दुखी देखकर दुखी न होना—
कभी चाहिये, किंतु चाहिये सुख से सोना।
जब होगा खल-अन्त, शान्ति तब होगी जग में।
फूल बिछेंगे वहाँ, रहे काँटे जिस मग में।
तपन-पतन के साथ ही जगत्ताप घटने लगा,
और यहाँ से, देखिये, हा-हा रव हटने लगा ॥

अनुज विलोको दिवा नहीं है, न है दिवाकर,
कहाँ छिपी है निशा, छिपा है कहाँ निशाकर।
न है कहीं तम-नाम, तेज का लेश नहीं है,
सुखी शान्त है विश्व, किसीको क्लेश नहीं है।
तरु पर बैठे हैं कहीं कोकिल-काक-शिखी सही।
और मही पर मौन हो मृगा, महिष, शूकर कहीं ॥

खल समृद्धि को देख नष्ट ज्यों सुख पाते हैं,
करते हैं अन्याय, और बढ़ते जाते हैं।
प्रतिपल में इस समय दिवस बढ़ता जाता है,
विकसित होकर अर्क हर्ष को दिखलाता है।

चरण-दलित रज-पुञ्ज भी मस्तक पर शोभित हुआ।
उस वायु से जगत यह कैसा विक्षोभित हुआ॥

तुच्छ जनों के लिये बड़ा अनुकूल समय है,
उन्हें किसी का नहीं स्वप्न में भी कुछ भय है।
तृण-समूह जो पड़ा हुआ था भैया! भू पर,
वही अलौकिक केलि निरत है नभ के ऊपर।

अहो समय के फेर से पानी भी बिकने लगा।
जबसे दुखदायक कुटिल, ग्रीष्म यहाँ टिकने लगा॥

लक्ष्मण! प्रतिदिन निशा कृशा होती है जैसे,
होती होगी क्षीण सती सीता भी वैसे।
दुष्ट वचन से दुखद दिवाकर के भी कर हैं,
जीवन के ही हाथ जगज्जीवन निर्भर है।

शीत भीत हो जा छिपा जलाशयों की शरण में।
सबका होता है भला महाशयों की शरण में॥

यथा खलों का चित्त सदा जलता रहता है,
त्यों नदियों का नीर तप्त होकर बहता है।
सूख-सूख कर पत्र कहीं तरु के गिरते हैं,
खग तृषार्त्त हैं कहीं, कहीं जलचर मरते हैं।

कौन बचा है इस समय, जो न पड़ा हो क्लेशमें।
क्यों न प्रजा पीड़ित रहे, अन्यायी के देशमें॥

अनुज! यहाँ अब नहीं चपल खञ्जन रहते हैं,
क्या खल का अन्याय कभी मानी सहते हैं?
हाँ, ये निलज मयूर समय दुख में खोते हैं,
दुष्ट भूप के यथा कुकवि आश्रित होते हैं।

मृगतृष्णा में तृषित मृग दौड़ रहे हैं हो दुखी।
भाग्यहीन होते नहीं ज्यों उद्योगी भी सुखी॥

अनुज! गया ऋतुराज, जगत में हुई उदासी,
क्यों न नष्ट हो जाय शीघ्र ही भूप विलासी?
यहाँ कहाँ से ग्रीष्म नीच निर्दय आया है,
आधि-व्याधि-अकाल साथ अपने लाया है।

अधम दबाने के लिये कपट-यत्न इसने किया।
किंतु आजकल तो यहाँ हाहाकार मचा दिया॥

कामासक्त प्रमाद-नींद में जो सोता है,
पराधीन या देश-बहिष्कृत वह होता है।
अन्यायी जन जहाँ जिसे दुर्बल पाते हैं,
उसका ही सर्वस्व पहुँच कर अपनाते हैं।

वासन्ती के साथ में जिस वसन्त ने सुख किया।
अनुज! उसीको ग्रीष्म ने आकर चौपट कर दिया॥

पर तुम रखना याद, कभी भी नहीं भूलना,
पर को देकर दुःख व्यर्थ है अनुज! फूलना।
उत्पीडन का न्याय नहीं स्थायी रहता है,
दुख को क्या सर्वदा कभी कोई सहता है?

ग्रीष्म तभी तक है बना, जब तक घन उठते नहीं।
यहाँ शेष रह जायगा फिर उसका दुर्नाम ही॥

दुष्टों के सँग दुष्ट दुष्टता क्यों दिखलावें?
यदि दिखलावें अनुज! तुरत वे मुहँ की खावें।
क्षार जलधि की तनिक नहीं शुचि ने क्षति की है,
पद्माकर की किंतु उसीने दुर्गति की है।

बलशाली के गेहमें खल-ताली बजती नहीं।
बिना ऐश्य-उद्योग के नियति कभी जगती नहीं॥

× × ×

(१३। ५८—६७)

चातुर्मास्यमें ग्रीष्म कितनी देरका? गरमी मिटी और वर्षा आयी; किंतु श्रीरघुनाथजीका व्यथित हृदय उससे भी रुष्ट ही हुआ। वे कहते हैं—

अन्यायी का राज्य नहीं स्थायी होता है,
अपहृत का परिणाम दुःखदायी होता है।
ग्रीष्म अकारण सरल जगत को तपा रहा था,
मनमाना दुख-मूल चक्र को चला रहा था।

इस कारण से अनुज! वह नष्ट आप ही हो गया।
और उसी के साथ ही ताप मही का खो गया॥

किंतु कभी हतभाग्य नहीं सुख को पाता है,
उसके सिर पर सदा दुःख आता जाता है।
कुम्भकार के गेह रहे या धोबी के घर,
जहाँ रहेगा, वहाँ भार को ढोवेगा खर।

उत्पीडक यद्यपि अनुज! ग्रीष्म गया इस देश से।
तदपि अभी वह है दुखी वर्षा ऋतु के क्लेश से॥

श्रीरा० व० अं० ६९—७०—

'ग्रीष्म-गर्वको धूल मिलाया मैंने बल से,
भूपर अपना रंग जमाया मैंने बल से ?
मेरे सम है कौन अन्य भी बली मही पर ?
मेरे सम क्या सुखी, गुणी है और कहीं पर ?'
मानो कहता है यही, मेघ गर्जता है नहीं।
अनुज ! कभी जड की नहीं जडता जाती है कहीं ॥

जिस कारण से अमित खलों को सुख होता है,
अनुज ! उसीसे सदा भलों को दुख होता है।
नृत्य-निरत हैं मोर मलिन मेघोन्नति से ज्यों,
अति उदास हो भाग रहे हैं राजहंस त्यों।
तम वाञ्छित है घूक को, किंतु चकोरक को नहीं।
जिसके जो अनुकूल है, उसको प्रियतम है वही ॥

होता है उपकार खलोंसे सदा खलों का,
होता है अपकार खलोंसे सदा भलों का।
पर इसमें तिलमात्र किसीका दोष नहीं है,
समझ देखिये, सदा प्रकृति का नियम यही है।
अनुज ! जलधि-जल जलद ने खारा ले मीठा दिया।
सर से पाया मधुर जल, पर उसको गँदला किया ॥

यदि अन्यायी-राज्य महा अन्यायी पावे,
क्यों न वहाँ की प्रजा और भी दुःख उठावे।
आकर जग को प्रथम ग्रीष्म ने खूब जलाया,
हा ज्यों ही वह टला, क्रूर मेघागम आया।
सुख-साधन जो थे बचे, घन ने उनको भी लिया।
अपने काले हृदय का खूब हमें परिचय दिया ॥

दुष्ट भूप का राज्य जहाँ पर हो जाता है,
खल-मण्डल ही वहाँ चैन करने पाता है।
देश-निकाला किंतु सज्जनों को मिलता है,
ईति-भीति का फूल वहाँ उत्कट खिलता है।
श्रुति-कटु कैसा हो रहा दादुर-गण का शोर है।
सज्जन जाने हैं कहाँ ? अनुज ! समय यह घोर है ॥

ताराओं के सहित शशी का पता नहीं है,
हाँ, नभ में खद्योत-मण्डली टिमक रही है।
हिंसक, लम्पट, चोर सदा स्वच्छन्द सुखी हैं,
व्यापारी बलहीन, दीन हैं, सदा दुखी हैं।
नीच नृपति की नीति की रीति सिखाने के लिये।
आये हैं ये घन मनो, अनुज ! दुःख को झेलिये ॥

चमक-दमक कर स्ववश खूब कर लिया सभी को,
प्रावृट्ने कर-हीन मनो कर दिया सभीको।
कर्मवीर निज कर्म नहीं करने पाते हैं,
अपने मन की तृषा नहीं हरने पाते हैं।
दुखदायक संसार में सुस्थिर रहता है नहीं।
जो आया, वह जायगा—अनुज ! भरोसा है यही ॥

रुका हुआ है अन्य देश का आना-जाना,
कह भी सकते नहीं किसीसे कुछ मनमाना।
दृग के आगे सदा हमारे तम छाया है,
बहुत दिनों के बाद समय ऐसा आया है।
पहिली-सी फिर शरद ऋतु कब आवेगी देश में ?
हम निरीह कबतक विभो ! पड़े रहेंगे क्लेश में ॥

तो भी हमें निराश कभी होना न चाहिये,
पर प्रमाद की नींद कभी सोना न चाहिये।
प्रावृट् का यह सदा रहेगा नहीं अँधेरा,
होता है क्या नहीं निशाके बाद सबेरा ?
अनुज ! धैर्य के साथ जो किया करेंगे काज को।
तो अरिगण को जीत कर पावेंगे निज राज को ॥

यम-किंकर से मेघ यहाँ पर जबसे आये,
तोड़ पुराने मार्ग उन्होंने नये चलाये।
दिनकर की कमनीय कान्ति खो गयी तभी से,
जलज-जालकी प्रभा मलिन हो गई तभी से।
आगे बढ़ने के लिये, पैर ठहरते हैं नहीं।
पङ्क-पिच्छिला हो गई, कैसी थी सुन्दर मही ॥

अगणित ऊष्मज जीव महीपर घूम रहे हैं,
अल्पकाल के लिये गर्व से झूम रहे हैं।
पर जब तक ये बने रहेंगे दुख देवेंगे,
स्वार्थ-निरत ये नीच हमें क्या सुख देवेंगे ?
इनका प्रादुर्भाव तो हुआ हमारे पाप से।
स्थायी पर ये हैं नहीं, मिट जावेंगे आपसे ॥

शक्ति और सम्पत्ति खलों की जब बढ़ती है,
उनकी अज्ञानता और भी तब बढ़ती है।
विधवा-सी यह भूमि उर्वरा सून्य रही है,
मरु है जलसे सिक्त जहाँ, जल-कार्य नहीं है।

अनघ ! मेघ अघ-ओघ हैं, अधिक दिनों रहते नहीं।
इनके अत्याचार को इसीलिये कहते नहीं॥
× × ×
(१३। ६९—८२)

वर्षा बीती देख, राम बोले हँस करके,
हँसे दीन ज्यों देख दैन्य हरते निज वर से।
लक्ष्मण ! देखो समय कभी क्या स्थिर रहता है ?
सुख पाता है वही, प्रथम जो दुख सहता है॥
अति दुखदायी नीति दुर्जनों की होती है,
पर सुखदायी सदा सज्जनों की होती है।
मेघों का उत्पात सदा जग स्मरण करेगा,
पर आया अब शरत्-काल दुख हरण करेगा॥
धन पाकर के नीच अन्य को दुख देते हैं,
वे ही हो धनहीन सभीको सुख देते हैं।
क्या करते थे मेघ नीर से पूर्ण रहे जब,
शान्ति-सुखद अति विशद हुए हैं वे कैसे अब ?॥
धुली हुई-सी मही हुई है, जल निर्मल है,
धूलि-कणों से हीन व्योम कैसा उज्ज्वल है ?
अन्यायी के बाद भूप यदि न्यायी आवे,
क्यों न देश की दशा तुरत ही पलटा खावे ?॥
काश, कमल, केवड़े अनुज ! फूले हैं कैसे ?
ये मेघों की मृत्यु तुरत भूले हैं कैसे ?
या उत्पीडक-पतन दुखद क्यों होगा जग में ?
कण्टक कैसे कभी रुचेगा अपने मगमें ?॥
आ बसते हैं सुभग राज्य में जैसे सज्जन,
हंस और आ बसे यहाँ वैसे ही खञ्जन।
पर क्रमशः खद्योत दूर होते जाते हैं,
दुष्ट कभी क्या भली जगह रहने पाते हैं ?
इन्द्र-धनुष अब नहीं दृष्टिगोचर होता है,
परदेशी का राग अधिक अस्थिर होता है।
पर नभ में शुक-पंक्ति छटा क्या दिखा रही है,
अनुज ! ऐक्य की प्रथा हमें यह सिखा रही है॥
उद्गतपन को छोड़ सूखती हैं सरिताएँ,
पातिव्रत ज्यों पाल रही हैं पतिव्रताएँ।
उनके दोनों कूल रहित हो गये पङ्क से,
ज्यों सतियों के चरित रहित हों दुष्कलङ्क से॥
लक्ष्मण ! दादुर-मोर मौन हो छिपे कहीं हैं,
कोयल भी निज कूक सुनाती कभी नहीं है।
धूर्तों की क्या सदा धूर्तता चल सकती है ?
या विधि की लिपि कभी किसी विधि टल सकती है ?
ये चातक, हे अनुज ! देख लो मूर्ख बड़े हैं,
श्वेत घनों के रूप-जाल में व्यर्थ पड़े हैं।
कभी क्रुद्ध हो मेघ उपल भी बरसाते हैं,
किंतु होश में वे न कभी कुछ भी आते हैं॥
जब अज्ञान-तमिस्र मनुज का खो जाता है,
निज हित में तब दत्त-चित्त वह हो जाता है।
मेघाडम्बर दूर हुआ है लक्ष्मण ! जब से,
निज उन्नति में लगा हुआ है यह जग तब से।
नृप उदार की प्रजा स्वत्व पाती है जैसे,
सुख-जीवन का और तत्त्व पाती है जैसे,
उसी भाँति व्यापार-लग्न संसार हुआ है,
शरदागम से अनुज ! बड़ा उपकार हुआ है।
शत्रु-शमन के लिये यही उत्तम अवसर है,
शीत-भीति है नहीं, नहीं आतप का डर है।
करके लङ्का-विजय जानकी-जान बचाओ,
अनुज ! शत्रु के साथ शीघ्र रण-रङ्ग मचाओ।
युक्ति करो अब वही, शत्रु को जिससे जीतें,
अनुज ! दुःख के दिवस हमारे जैसे बीतें।
अरि से बदला शीघ्र जिन्होंने नहीं चुकाया,
मानों मानव-जन्म उन्होंने धूल मिलाया।
जिसे सोचिये, उसे कार्य में परिणत करिये,
अनुज ! धैर्य के साथ शत्रु के मद को हरिये।
यदि यह अवसर बीत गया तो क्या फिर होगा,
है वह चञ्चल बड़ा, तनिक भी क्या स्थिर होगा !
यों देते उपदेश स्मरण सीता का आया,
रघुनायक को हुआ विरह का दुःख सवाया।
करने लगे विलाप, विकल हो प्राकृत नर-सम,
कहाँ छिपी है स्वर्णशलाके ! प्राणप्रिये ! मम !
निर्मल नभ यह शरच्चन्द्र से चमक रहा है,
यह गिरि कनक-समान मनोहर दमक रहा है।
किंतु प्रिये ! यह जगत् तमोमय मुझे हुआ है,
तुझ से रहकर अलग महा भय मुझे हुआ है।
हँसते हैं ये हंस, निरत हैं रति-क्रीड़ा में,
तुझसे होकर हीन पड़ा हूँ मैं व्रीड़ामें।
निशाचरों के बीच निशा यह तेरी कैसे
कटती होगी, प्रिये ! मिलेगी मेरी कैसे !

धर्म से, धीरता से, करो काम को;
वीरता के दिखा दो गुण-ग्राम को।
उग्र-स्वनों से हिला दो धरा-धाम को,
शत्रुओं के मिटा दो अभी नाम को।
दानवों का दुरुद्योग ढीला करो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

देह के, गेह के स्नेह को छोड़ दो,
नीति से प्रीति की रीति को जोड़ दो।
चाल से काल के भाल को तोड़ दो,
शक्ति से शत्रु की युक्ति को मोड़ दो।
युद्ध में क्रुद्ध हो खूब मारो, मरो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

युक्ति से भुक्ति को, मुक्ति को लीजिये;
धर्म-संग्राम में नाम को कीजिये।
आज लङ्का लङ्काङ्कित धूल हो,
देश के क्लेश का लेश निर्मूल हो।
युद्ध-क्षुब्धाब्धि को तीव्रता से तरो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

आपके हाथ में क्या नहीं रक्त है ?
आप श्रीनाथ के क्या नहीं भक्त हैं ?
राख हो लाखहू आँख जो खोल दो,
धूम-धावा धरा के लिये बोल दो।
स्वप्न में भी नहीं राक्षसों से डरो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

प्राण से, भी प्रणों को बड़े जानिये,
पामरों को मरे या सड़े जानिये।
क्रोध के बोध का शोध तो कीजिये,
पुष्ट हो मुष्टिका दुष्ट को दीजिये।
प्राण जावें भले ही, न पीछे टरो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

राक्षसावास को साँस लेने न दो,
जीत-विश्वास में ह्रास होने न दो।
शास्त्र-सम्बद्ध हो, शस्त्रको बाँध लो,
धैर्य्य से, शौर्य्य से शत्रु को साध लो।
चित्त में नित्य ही उच्च आशा भरो,
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

क्रूरता से सदा शूरता है सनी,
योग्यता से सदा भोग्यता है सनी,
देश-उद्देश के वेश को धार लो,
प्राकृतों से व्रती हो प्रतीकार लो।
दानवों की दुरुद्दण्डता को हरो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

सर्वभक्षी विपक्षी नहीं मानते,
वे हमेशा हमें भीरु हैं जानते।
मानवी शक्ति की हो परीक्षा, चलो,
दानवी शक्ति की हो समीक्षा, चलो।
शत्रुओं को भगा, पैर आगे धरो।
कर्मवीरो ! उठो, युद्ध-लीला करो ॥

(१९ । ६१–६८)

कुछ हिंदीके संतकवियोंकी रचनामें श्रीरामवचनामृत

(संकलनकर्त्ता और लेखक—श्रीरामलालजी)

(१)

श्रीरामका लक्ष्मणजीके प्रति उपदेशामृत

एक दिन पञ्चवटी-निवासकालमें श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामके चरणकी वन्दना करके निवेदन किया—'हे भानुकुलकेतु ! भवके भयको हरनेवाली ज्ञानवैराग्यसहित अपनी भक्तिका वर्णन कीजिये तथा यम, नियम, शम, दम और व्रत-दान आदि निरूपित कीजिये ।' श्रीराम लक्ष्मणकी जिज्ञासासे बहुत प्रसन्न हुए । राघवेन्द्रने विमल वचन कहे—

हिंसारहित न परधन हरई ।
सङ्ग विवर्जित सदगुन गहई ॥
सत्य वचन हिय धीरजताई ।
आस्तिक मौन सदा रह भाई ॥
ब्रह्मचरज अरु छमा न छाड़ै ।
निर्भय सदा पुन्य पग गाड़ै ॥
जम के ये दस अंग सोहाये ।
सुनहु नेम निगमागम गाये ॥
सौच सदा धर्मादर करई ।
जप तप मम पूजा मन धरई ॥
अर्थपोष गुरु सेवक साँचा ।
तीरथ अटन, कपट ते बाँचा ॥

श्रीरामकी स्तुति की। देवर्षि रावण-वधकी प्रेरणा देकर चले गये। श्रीराम असुरोंके संहार और देवोंके आनन्द-संवर्धनके लिये चिन्तित हो उठे। उन्हें यही चिन्ता हो गयी कि किन्हें वनवासका कारण बनाया जाय। उनके चेहरेपर (लीलामयी) उदासी छा गयी, उन्होंने माता कैकेयीका चित्त अपनी ओर आकृष्ट किया। वे अपने-आप आनन्दित होकर श्रीरामके पास आ गयीं। वे उनके पीछे नयन मूँदकर खड़ी हो गयीं। श्रीरामने कहा—'माता! आज मुझे कुछ भी नहीं अच्छा लग रहा है।' श्रीकैकेयीने उदासीका कारण पूछा। रामजीने कहा—

माता सबै जीव जग माहीं।
आपु स्वारथी, परहित नाहीं॥
जो परहित उपकार करि आवै।
सो परलोक बहुत सुख पावै॥
काहू को दुख कोउ न जानै।
अपने सुख को सब सुख मानै॥

श्रीकैकेयीने कहा—'राम! आप ऐसा न कहिये, सबके आप जीवन-प्राणके आधार हैं। सब लोग आपकी ही प्रसन्नताके लिये यज्ञ, योग, तीर्थ, व्रत और दान आदि करते हैं। जिन्होंने अपना पुण्य—सुकृत आपको नहीं समर्पित कर दिया, उन्होंने दुःख उठाया। आप क्यों उदास हैं, क्या दुःख है आपको? मुझे बताइये। श्रीरामने कहा—

'..................मोहि बनचारी।
राजहि कहि कर सो हितकारी॥
चौदह बरष अधिक नहिं सोई।
रावन आदि असुर-बध होई॥'

श्रीकैकेयीने कहा—'यदि इस कार्यमें कोई दोष न हो तो आपकी प्रसन्नताके लिये मैं कर सकती हूँ।' रामजीने कहा—

..................मूरख नर जे हैं।
माता तोहि अजस ते देहैं॥
करता-हरता मोहि न जानैं।
आनहि के सिर औगुन ठानैं॥

माता कैकेयीने कहा—'मैं अपयशका भय नहीं करती हूँ। आप जिस कार्यसे संतुष्ट होंगे, वही करूँगी। जो लोग अपयशका भय न करके आपका भजन करते हैं, वे निर्भय होते हैं। मुझे आपका ही भरोसा है।' श्रीरामने कहा—

ये तो भली कहत हो बाता।
तुम को दुःख जो होइह माता॥
मेरे बिरह पिता पुनि मरिहै।
तोहि अजस अति होइ न परिहै॥
भरत भोग तजि जोगी होई।
कौसिल्या दुख करिहै सोई॥
साढ़े सात सैकरा रानी।
बिधवा सबै होइहैं जानी॥
सीय मोहि तजि घर नहिं रहिहै।
लछिमन मोर संग भल गहिहै॥
बालक छोट सत्रुहन भाई।
सो मो बिन मरिहै बिलखाई॥
सुबुध साधु मम प्रान पियारे।
मोते कबहु रह्यो नहिं न्यारे॥
मोहि गये बन जब सुनि पैहै।
दुसमन दुष्ट देस दुख देहै॥
पिता कहे अरु जो नहिं करिये।
लगै दोष अपजस यह डरिये॥

गुर की सिष, पति की त्रिया, पुत्र पिता नहिं मा
लाल जु अग्या नहि करै, बध कीन्हो तिन जा

× × ×

को मो बिन नृप को कछु करिहै।
दासी दासकी सुधि को करिहै॥

× × ×

पसु-पंछी, गज-बाजि बिचारे।
मरिहै बिरह बिना ही मारे॥
अवध पुरीके बासी जेते।
ह्वैहैं सबहि उदासी तेते॥

इतना कहकर श्रीरामके नयन अश्रुमग्न हो ग
वे न कुछ कर पा रहे थे, न अब उनसे पश्चात्ताप करते बनता था। श्रीराम विचारमग्न हो उठे।

* (अवधविलास—उन्नीसवाँ प्रका

* 'श्रीअवधविलास' महात्मा लालदासकृत र रामपरक काव्य है, जिसकी रचना संवत् १७३२ वि हुई थी। उपर्युक्त अंश संवत् १८८१ वि० की लि प्रतिसे उद्धृत किया गया है। —सम्पादक

(३)

अश्वमेधकी अश्व-रक्षामें तत्पर श्रीशत्रुघ्नके प्रति श्रीरामकी नीतियुक्त सीख

अयोध्याका प्रसङ्ग है। महर्षि अगस्त्यसे श्रीरामने रावणकी वंश-परम्परा सुनी। अगस्त्यने ब्रह्मराक्षस-वधकी शान्तिके लिये अश्वमेध करनेकी सीख दी। उन्होंने श्रीराम-से कहा—'आप प्राकृत गुणोंसे परे पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, रावणका वध करके आपने जगत्को सुख दिया है। यद्यपि आप रावण—ब्रह्मराक्षसके वधके पापसे दूषित नहीं हो सकते, तथापि अश्वमेधका विधान आपके लिये परम मङ्गलमय है।' अश्वमेधका समलंकृत अश्व छोड़ दिया गया। उसकी रक्षाका भार श्रीशत्रुघ्नको सौंपकर श्रीरामने नीतियुक्त सीख दी—

जाहु तात ! हय-पालन काजा।
होहु बाट महा मंगल साजा॥
अवनि-बिजय करिहौ सब भाँती।
तुव भुज मह गुन रिपु आराती॥
जो रन माहिं चढ़े भट भारी।
तिनहिं बधो संग्राम प्रचारी॥
सैन समेत बाजि प्रतिपालहु।
सन्मुख लरहु, चढ़े जो कालहु॥
सोवत बसन-बिगत भयभीता।
सो भ्रमबुद्धि सुनहु मम नीता॥
समर दरपि अस भागत आवे।
राखहु तिनहिं तात श्रुति गावे॥

× × × ×

परधन बिषसम मानहु भाई !
तजहु नारि सब भाँति पराई॥
नीच संग सब बिधि परिहरहू।
साधु-समागम संतत करहू॥
छत्रिय बृद्ध चढ़े रन माहीं।
प्रथम प्रहार तात करि नाहीं॥
पूज्यवंत प्रजा मति नासहु।
मो आयसु निज हृदयँ प्रकासहु॥

× × × ×

बिप्र धेनु वैष्णव ब्रतधर्मा।
करहु प्रनाम छाड़ि सब कर्मा॥
जो यहि बिधि चलिहौ तुम ताता।
तो मंगल ह्वैहै मग जाता॥

अखिल लोक पति बिष्णु हरि जगव्यापक बर गात।
तासु रूप वैष्णव अवनि बिचरत है सुनि तात॥

महाबिष्णु सब के उरबासी।
साच्छी बपु धरि हृदय प्रकासी॥
संतत भजहि तिनहि छल त्यागी।
ते हरिरूप परम बड़भागी॥
सकल काम तजि सुनु, मम भ्राता !
तिन-कर दरस करहु मग जाता॥
जे निज-पर कछु हृदय न जाने।
सत्रु मित्र सपने नहि माने॥
तिन के दरस करत छिन माहीं।
तुरत सकल संसय नसि जाहीं॥
अवसि दरस तिन को तुम कीजौ।
दलि दुखजाल परम सुख लीजौ॥
वैष्णव बिप्र जिनहि प्रिय ताता।
ते वैकुंठ जीव जग जाता॥
निज नाते सन प्रीति बढ़ावे।
गुपत रहहि नहिं जगहि लखावे॥

जे संतत हरिनाम लहि हृदय बिष्णु बपु धारि।
सेवहिं सदा प्रसाद कहँ प्रेम समेत बिचारि॥

इहि बिधि चले सुपचवहु होई।
निस्चै साधु मोहि प्रिय सोई॥
बेद पढ़े नित, झगरत नाहीं।
सदा धर्मपथ साधत जाहीं॥
तिन कहँ कीजहु दंड-प्रनामा।
सकल भाँति तजि आपन कामा॥
जे हरि-हर-अज-सेवक जीवा।
गतबिरोध चल निज निज सीवा॥
पुनि श्रीगंग-गौरि भजि जेई।
इहि प्रकार नहि खलता सेई॥
ते पावन सरीर संसारा।
उत्तम जीव नीति-आगारा॥
तिनहि स्वर्गवासी अनुमानो।
इहि बिधि तात चीन्ह पहिचानो॥

× × × ×

दुखित जीव सरनागत देखी।
अभय-दान अस देइ बिसेषी॥
नारायन आश्रित इमि करहीं।
परम भागवत ते जग चरहीं॥
पुनि जेहि नाम लेत जग माहीं।
घोर कलुष राते नहिं जाहीं॥
तिन के जुगल चरन जल जाता।
संतत ध्यान मगन जे भ्राता॥
साधु-सिरोमनि ते जग माहीं।
कहहिं बेद बुध संसय नाहीं॥
पुनि सेवहिं बिधि इंद्रीतीती।
हृदय सुमिरि श्रीपतिहि सप्रीती॥
तिन कहँ करि प्रनाम जन जेई।
जन्म प्राप्त होय सुचि तेई॥

*(रामाश्वमेध १०वाँ अध्याय)

(४)

श्रीरामका ताराके प्रति ज्ञानोपदेश

किष्किन्धाका प्रसङ्ग है। वालीका प्राणान्त हो जानेपर तारा विलाप करने लगी। श्रीरामने उसे आत्मज्ञानके उपदेशसे प्रबुद्ध किया। श्रीमुख-वचन हैं—

सुनो, तारा! इतना पसारा जो प्रतीत होय,
प्रकृति के सत रज तम को परिनाम है।
प्रथम महत, पुन अहं, पुन, पाँच तन्मात्रा,
सबद, स्परस, रूप, रस, गंध नाम है॥
दस इंद्रिय, पंच महाभूत, मन षोडस—ये,
सबी चौबीस तत्व आतमा को धाम हैं।
सूछम सथूल ये सँघात सभी बुद्धि लग
सुख-दुख जनम-मरन को ये थाम है॥
कार्यवर्ग सब जड़ ये अनातमा है दुख,
छनभंगुर है परिनामि तन सभी ये।
आतमा असंग सत चित घन आनँद है,
उसी की चिदंस पाय होत चित सभी ये॥
जनम-मरन-दुख सुखते रहित सदा,
तिसी सुख रासि ते सुखासी होत सभी ये।
पति-पिता, पूत-तिया, लौकिक संबंध किया,
भास मात्र पेखिये प्रपंच झूठो—सभी ये॥
आतमा है सत, सो बिनास ते रहित सदा
व्यापक सो एकरस एक ही अनेक हैं।
देह आदि सभी—ये अनातमा असत्य जड़,
पंचभूतका बिकार भासत अनेक है॥
अपनी ही भूल ते अनेक होय फँस रहा,
भ्रम ते अनेक भासे, ज्ञान हुए एक है।
सोक-मोह-भ्रम छोर, तत्व को निचोर येहि,
सार बात धार तजो कथन अनेक है॥

ताराने श्रीरामसे ज्ञान प्राप्तकर देहाभिमान आदिका त्याग कर दिया, उनके चरण-कमलपर नतमस्तक प्रणाम किया।

*[बीजरामायण—किष्किन्धाकाण्ड १४—१६)

(५)

फुलवाड़ी-प्रसङ्गमें श्रीरामके शीलभरे वचन

श्रीमिथिला-निवास-कालमें एक दिन प्रातःकाल श्रीविश्वामित्रकी आज्ञासे श्रीराम राजा जनककी फुलवाड़ीसे फूल लेने गये। उनके साथ श्रीलक्ष्मणजी थे। श्रीराघवेन्द्रकी छवि देखनेके लिये माली उनके पास आये। श्रीरामने शीलभरी वाणीमें फूलके लिये उनसे बात की—

लेन प्रसून को आये इतै,
हम श्रीगुरु-पूजन के हित हाली।
बाग बिलोकि भयो मन मोद,
महीरुह फूले सुगंधि के साली॥
पै रसरंगमनी रखवारन
बूझे बिना नहिं लेहिं सुचाली।
ताते कहो तो उतारहिं फूल,
सुनो मिथिलेस-नरेस के माली॥

* रामाश्वमेध श्रीमधुसूदनदासजीद्वारा रचित एक सफल रामपरक प्रबन्ध-काव्य है, जिसकी रचना संवत् १८३९ वि० में हुई थी। उपर्युक्त अंश सन् १८७९ ई० की पहले-पहल छपी प्राचीन लीथोयन्त्रवाली प्रतिसे लिया गया है। —सम्पादक

* श्रीबीजरामायण अध्यात्मरामायणकी तत्त्वपरक शैलीमें रचित एक मौलिक रचना है। इसके रचयिता श्रीस्वामी अनुभवानन्दजीने रामायणके सातों काण्डके क्रमसे संक्षेपमें इसका समापन किया है। यह रामायण संवत् १९७७ वि० में पूरी हुई थी। —सम्पादक

माली श्रीरामके वचनसे विमुग्ध हो उठे। मालियोंने कहा—'आपका सुन्दर रूप देखकर हमारा हृदय स्नेहके सागरमें निमग्न हो गया है, आप लता-कुञ्जमें विश्राम कीजिये। फूलकी बात ही क्या है, हम अपने जीवन-प्राण न्योछावर करनेके लिये समुद्यत हैं। आप जितने फूल चाहेंगे, हम देंगे। आपके चरण बहुत कोमल हैं, कहीं उनमें फूलकी पँखुड़ियाँ न गड़ जायँ।' मालियोंके वचन सुनकर श्रीराम बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने उनकी सराहना की, मधुर-ललित वचन कहे—

जैसे महीप महा मिथिलेस जू,
तैसहि वेस वनी फुलवारी।
त्यों तुम रच्छक दच्छ सबै
कस नाहिं कहो अस बैन बिचारी॥
छोड़न जोग न पै इतनी,
रसरंगमनी गुरुसेवा हमारी।
फूल चुने श्रम लेस नहीं,
हमहीं निज हाथन लेब उतारी॥

मालियोंने निवेदन किया—'हम आपके सेवक हैं, आप हमारे नयनोंको सुख दीजिये; मिथिलेश-नन्दिनी आनेवाली हैं, उनकी रूपमाधुरीका रसास्वादन कीजिये।'

श्रीराम फुलवाड़ीमें भ्रमणकर फूल तोड़ने लगे। उस समय श्रीगिरिजा-पूजनके लिये सखियोंके साथ श्रीजानकीका आगमन हुआ। श्रीरामने लक्ष्मणसे कहा—

तात! सुनो, इत पूरि रही
कल कंकन-किंकिनि की झनकारी।
कान सुनी रसरंगमनी नहिं
आजु लगे धुनि यों मनहारी॥
मानौ महेस सों हारि मनोज
बिदेह के बाग कियो तप भारी।
पाय के सिद्धि, बजाय नँगारे
चल्यो अब जीतन को जग झारी॥
चंपक सो चारु गौर अंग रसरंगमनि
अंगराग राजै कल केसर-कियारी सी।
पल्लव रसाल कर-पल्लव हैं लाल,
नील बसन तमाल, लता कंचुकि सुधारी सी॥
कंज मुख नैन भृंग केस बिंबाधर बैन
पिक सुकनासा हास सुमनवहारी सी।

देखो तो लखन! देखैं फूली फुलवारी,
सोहैं जनकदुलारी गुलजारी फुलवारी-सी॥

कारन जासु रची धनु-जग्य,
सोई ये बिदेहसुता सुखदाता।
पूजन गौरि सखीजुत आईं
करैं फुलवाई प्रकासित गाता॥
जाहि बिलोकत मो मन छोभित
भो, सब हेतु सो जान बिधाता।
पै सुभदायक अंग सबै
फरकैं, सुनिये, रसराम सुभ्राता॥
भूलि कुपंथ न पाउँ धरैं,
रघुबंसिन की अस रीति अनूठी।
त्यों रसराम लरैं बढ़ि कै रन
में रिपु नाहिंन पावहिं पीठी॥
जाँचक आय न नाहीं लहैं, न
लहैं परकी पतनी मन डीठी।
है हम को जिय की परतीति,
लगै सपनें पर नारि न मीठी॥

× × ×

श्रीराम अपने भाई श्रीलक्ष्मणके साथ राजा जनककी फुलवाड़ीसे फूल लेकर श्रीविश्वामित्रके पास आ गये। उन्होंने बड़ी सरलता और विनम्रतासे अपने मनकी बात कही—

'नाथ विदेहको बाग बनो तरु-
बेलि रती लै मनोज मनोभा।
ताहि लखैं मिथिलेस-लली
गवनी जग जासु अलौकिक सोभा॥
औचक दृष्टि परी हमरी न
फिरी छवि सों छकि कै मन छोभा।
संग सनीरसरंग लखे
लखनौ इन को चित नेकु न लोभा॥'

श्रीविश्वामित्रने श्रीरामके स्वभावकी सराहना की। उनके शीलभरे वचनसे वे प्रसन्न हो उठे।

* [सीतारामायण—(युगलसंयोग, द्वितीय काण्ड)]

* श्रीसीतारामायण श्रीकामदेन्द्रमणिके शिष्य अवध-निवासी संत श्रीसीतारामशरण रामरसरंगमणिजीकी रचना है। इस ग्रन्थका प्रकाशन संवत् १९५७ वि०में सेठ छोटेलाल-लक्ष्मीचन्द्र [बम्बई] बुकसेलर, अयोध्याके द्वारा सम्पन्न हुआ था। —सम्पादक

(बाबा श्रीरघुनाथदासजी रामसनेही कृत 'विश्रामसागर'से)

(संकलनकर्ता—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

'विश्रामसागर संत श्रीरघुनाथदासजी रामसनेहीका ग्रन्थ है, इसके पूर्वार्धमें श्रीकृष्णचरित तथा उत्तरार्धमें श्रीरामचरित पद्योंमें वर्णित है। श्रीरामचरितके वर्णनमें बहुत कुछ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके श्रीरामचरितमानसका अनुकरण-अनुसरण किया गया है; किंतु कुछ स्थलोंपर इस ग्रन्थका वर्णन मौलिक वैभिन्न्य रखता है। इसके श्रीरामवचनामृतका कुछ अंश दिया जा रहा है।

श्रीराम-गीता

इसका उपदेश श्रीरामने लक्ष्मणलालको पञ्चवटीमें किया है। इस 'रामगीता'की विशेषता यह है कि यह प्रश्नोत्तरात्मक है। लक्ष्मणलाल प्रश्न करते गये हैं और भगवान् श्रीराम उन प्रश्नोंका उत्तर देते गये हैं।

एक दिवस लछमन सिर नाई।
बोले प्रभु ते आयसु पाई॥
नाथ बात सब बिधि तुम जानौ।
मैं पूछौं संछेप बखानौ॥
'जग-समुद्र मधि को आधारा ?'
'गुरु ! कृपालपद-पोत तिहारा॥'
'गुरु को ?' 'जो देवै हित बोधा।'
'सिष्य कौन ?' 'जो सुनै प्रबोधा॥'
बद्ध कौन ?' 'विषया अनुरागी।'
'को वा मुक्त ?' 'बिषय-रस-त्यागी॥'
'नरक सो कौन घोर ?' 'निज देही।'
'तृष्णा-त्याग, स्वर्ग-सुख ये ही॥'
'तमोद्धार किं ?' 'किंकर नारी।'
'मोक्षमार्ग ?' 'सतसंग बिचारी॥'
'सोवत को ?' 'जग रहे जे टेकी।'
'जागत को ?' 'सत-असत-बिबेकी॥'
'को वा सत्रु ?' 'निजेंद्री मीता।'
'सोई सुहृद, तिन्हैं जिन जीता॥'
'रंक कौन ?' 'ज्यहि तृष्ना चोखी।'
'धनी सो को ?' 'सब बिधि संतोषी॥'
'महा अंध को ?' 'जो मदनातुर।'
'निज भल करै' 'सोइ बड़ चातुर॥'
'छमावंत को ?' 'त्यहि श्रुति कहई।
'परुष बचन सुनि जो नहि दहई॥'
'मृतक कौन ?' 'ज्यहि कीरति नाहीं।'
'जीवित ?' 'जासु सुजसु जगमाहीं॥'
'दीरघ रुज किं ?' 'यह संसारा।'
'औषधि तासु ?' 'अनूप बिचारा॥'

'को हौं ? आयो कहाँ ते ? कित जैहौं ? का सार ?
को मे जननी ? को पिता ? याको कहिअ बिचार॥'

'किं अनीति ?' 'जहँ बेद-विरुद्धा।'
'परमतीर्थ किं ?' 'निज मन सुद्धा॥'
'बिन प्रतीति को ?' 'कंचन-कांता।'
'सेवा करन जोग को ?' 'संता॥'
'किं ज्वर ?' 'चिंता चित की जानो।'
'सठ को ?' 'जो बिन धर्म पिछानो॥'
'लाभ कौन बड़ ?' 'भक्ति हमारी।'
'हानि ?' 'न भज्यौ मोहि तनु धारी॥'
'को वा सूर ?' 'सुभावै जीते।'
'भूपन किं ?' 'जो सील न रीते॥'
'बिद्या किं ?' 'जो भेद मिटि जाई।'
'भेद ?' 'अविद्या है दुखदाई॥'
'लज्जा किं ?' 'नहिं करै बिकारा।'
'महाबीर ?' 'जिन मनहिं प्रहारा॥'
'धीरजवंत बली अति को वा ?'
'सुमुखि-कटाच्छ न मोहै जो वा॥'
'दुख किं ?' 'अनिति वस्तु में नेहा।'
'सुखप्रद को ?' 'मम चरन सनेहा॥'
'पातक-मूल ?' 'लोभ लखि परई।'
'पढ़न-सुनन किं ?' 'कुपथ बिसरई॥'
'त्यागी को ?' 'जो मन-बच-काया।
करि सतकर्म भजै फल पाया॥'
'सत्य बचन किं ?' 'जो मोहि लीन्हे।'
'पंडित को ?' 'बिकार तजि दीन्हे॥'
'मम स्वरूप जानै, सोइ ग्यानी।'
'मूरख किं ?' 'सो देह-अभिमानी॥'
'मार्ग कवन ?' 'जाते मोहि पावै।'
'दानी ?' 'जो मम भक्ति पठावै॥'
'महापतित को ?' 'हिंसा चारी।'
'धन्य कौन ?' 'जो पर उपकारी।'

'को वा श्रेष्ठ ?' 'निरत हरिकर्मा।'
'नीच कौन ?' 'जो करै कुकर्मा॥'
'संग्रह-जोग कहा ?' 'गुन मेरे।'
'जाइ न कुतै ?' 'कुसंगति नेरे॥'
'तप किं ?' 'बिषय-भोग परिहरई।'
'दया ?' 'जो भूतद्रोह नहिं करई॥'
'किं जमजाल ?' 'सो तामस मोहा।'
'प्रेम कहाँ ?' 'जहँ नहिं तन-छोहा॥'
'साधु कौन ?' 'जाके उर दाया।'
'हरि ते बिमुख करै, सोइ माया॥'
'दुख-सुख-सम सब काल ?' 'तितीछा।'
'किं बिग्यान ?' 'बिबेक परीछा॥'

हौं नहिं तन-मन-बचन-बुधि,जाति-बरन-कुल एक।
मैं हौं चेतन सबन में, याकों कहत बिबेक॥
थावर-जंगम सबन में, जहँ तक जीव जहान।
सम-सरूप निस्चय भयो, सोइ अनन्य बिग्यान॥
'जीव-ईस में भेद किं ?' यतनोइ अहै सदीव।
बद्ध दसामें जीव कहि, मोच्छ दसामें सीव॥
जो जानो चितरूप जीवता लहत कौन बिधि।
तो सुनिये, हे तात ! अबिद्याबृच्छ परम निधि॥
गुन सुपच्छ बिन ईस बिहँग गुन-पच्छ चाहि जब।
निबसत तापै आइ, होत गुन-पच्छ प्रगट तब॥
जथा वासना भ्रमत नित, है जीवत्व उपाधि इमि।
ग्यान कर्म करि होत है, मोच्छ-बंध श्रुति कहत इमि॥
जैसे महदाकासके, घटाकासको भेद।
तैसे मिटै उपाधि के जीव-ब्रह्म-निरभेद॥
सत्संगो वासनात्यागोऽध्यात्मविद्यां विचारयेत्।
प्राणस्पन्दनिरोधस्तु मुक्तिद्वारं चतुर्विधम्॥

पुरुष अजोगिहिं ब्रह्म न दरसै।
बिन बिराग जिमि ग्यान न सरसै॥
'बिरति कहा ?' 'बिधि लोक प्रजंता।
काक-बिष्ठसम समझै अंता॥'
'भूत कहा ?' 'भय-धीरज-धामा।'
'परम जाप किं ?' 'जो मम नामा॥'
'चुगल कौन ?' 'पर अवगुन खोलै।'
'मौनी ?' 'बचन जुक्ति ते बोलै॥'
'पिता ?' 'बिबेक, सुमति सोइ माता।'
'हरिजन-मिलन, मोच्छ सुख ताता॥'

'दुस्तर किं ?' 'सब जननि दुरासा।'
'रारि मूल किं ?' 'केवल हासा॥'
'पसु को ?' 'जो बिनु सुकृत रहावै।'
'बंधु ?' 'बिपतिमें काम जो आवै॥'
'स्त्रद्धा किं ?' 'जो मुदित अनालस।'
क्रिया-बिषै दुख सहै निरालस॥'
'किं बिस्वास ?' 'गवै सुनि साँची।'
'तोष कौन ?' 'निष्काम अजाची॥'
'निष्ठा किं ?' 'करिये जहँ प्रीती।
लखत अभाव होइ बिपरीती॥'
'रुचि किं ?' 'रहित सोच सुख पाये।
भाव छमादि सकल गुन आये॥'
'आसक्ती किं ?' 'प्रिय बिनु देखे।
रुचत न कछु तन, धन केहि लेखे॥'
'भोजन किं ?' 'जग तीनि प्रकारा—
उत्तम मध्यम नीच निहारा॥
मधुर मंजु मृदु सात्विक जानो।
तिक्त तात ! रजगुनी पिछानो॥
भच्छाभच्छ तामसिन केरे।
तिमि त्रैबिधिके मनुज निबेरे॥
पूजा तीनि भाँति की हेरी।
प्रतिमा, बैष्नव, आतम केरी॥
उत्तम आतम मध्यम साधू।
कछु कनिष्ठ प्रतिमा अवराधू॥'
'सांति सो कौन ?' 'विकार-विहीना।'
'निर अभिमान ग्यान किं ?' 'दीना॥'
'बसीकरन किं ?' 'कोमल बानी।'
'मारन मंत्र ?' 'छमा बड़ि जानी॥'
'जीव उभय किं बंध-बिमोच्छा ?'
'सहित रहित वासन अस्वच्छा॥'
'भाग्य ?' सुबाम कुमति पर केरी।'
'जगत मान्यता ?' 'आसा चेरी॥'
'परिमल किं ?' 'प्रन' 'धन किं ?' 'धर्मा।'
'करनी बिन बादै ?' 'बेसरमा॥'
ईस्वर सब पर प्रकृति नियंता।'
बहु बिधि कह्यो जानकी-कंता॥
सुनि प्रभु-वचन लखन हरषाने।
बैठे पुनि निज जाइ ठिकाने॥

(२)

महारानी कैकेयीने जो वरदान माँगा है, उसे सुनकर महाराज दशरथ बार-बार मूर्च्छित हुए हैं। वे उस समय भी मूर्च्छित ही थे, जब महामन्त्री सुमन्त्र श्रीरामको बुलाकर वहाँ ले आये। श्रीरामने मातासे महाराजकी इस अवस्थाका कारण पूछा। रानी कैकेयीने अपने वरदानकी बात बतलायी।

तब रघुपति गहि नृपहिं उठावा।
हाथ जोरि अस बचन सुनावा॥
जो जननी जाँचै बरदाना।
तामें अति हमार कल्याना॥

यक तौ बन मुनिजन-दरस, भरत प्रानप्रिय राज।
पुनि निदेस पितु-मातु कर, मोहिं बिधि दाहिन आज॥

ऐसेहु पर निज करहुँ न काजा।
जानेहु मोहि मूढ़न कर राजा॥
मूढ़ सो सत्रह बिधि के जानो।
कहे पूर्ब मनु तैस बखानो॥

कहैं इमपि पूरब मनु स्वयंभू, मूढ़ सत्रह होत जू।
जन जो असिष्यहि करत सिच्छा, तौन पहिले पोत जू॥
है जौन सेवत दारादि धन देत दूजो तौन जू।
करि तीन तो जो रच्छि सत्रुहि कुसल चाहत जौन जू॥
है सो चतुर्थ, जो कथत निजमुख कर्म-कारज पूर्ब जू।
जो बैर ठानत प्रबल सों है निबल, पंचम मूर्ख जू॥
मूढ़ छठवों, करत कुत्सित कर्म जो गुरुथान जू।
गुन कहत स्रद्धाहीन सों, सो मूर्ख सतवों ग्यात जू॥
गुरु-गोत्र तिय सों करत निंदित कर्म, अठवों तौन जू।
जो पुत्र तियगति मान चाहत, नौम सो अब भौन जू॥
निज बीज जो परखेत डारै, दसम मूरख खेद जू।
है सो इकादस मूर्ख, तियसों कहत जो निज मंत्र जू॥
अरु देन कहि नहिं देत जो, सो मूढ़ द्वादस गंथ जू।
जो भेद जाने बिना जल पततो, न तेरहों अन्य जू॥
जो चतुर्दसवों मूढ़ गुनतन कर्मको फल पाय जू।
अस पंचदस, जो जाचकनि सों कहत कटु रिस छाय जू॥
जो दान-भोग न करत, सोरहों मूढ़ सो धनवान जू।
निज बंधु भागहि हरन चाहत, सप्तदसम नदान जू॥
जो लखत लोक-प्रलोक नहिं, सो मूढ़ सबमें श्रेष्ठ जू।
सो उपाइ ऐसो समय तब, जब नभज है अस्पष्ट जू॥
धृति सम, दम, सुचिता, दया, सति प्रिय सुबचन नेम।
आनँदवर्धन समन अघ, दोउ दिसि दायक छेम॥
मोह-दीनता भूप के, करत सकल गुन नास।
ताते दोउ तजि राखिये स्वधरम सहित हुलास॥
सुत-तिय-तन-धन-धाम सोइ, जासों सधै स्वधर्म।
ताते देहु निदेस मोहि बन हित परिहरि भर्म॥

गुरु गोविन्दसिंहजीकी वाणीमें श्रीरामवचनामृत

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

खालसा-पंथके प्राण गुरु गोविन्दसिंह शूरवीर ही नहीं थे, विद्वान् थे। वे साम्प्रदायिकताके शत्रु थे। हिंदू जातिके उत्थानके लिये, उसमें नवजीवन फूँकनेके लिये उन्होंने अपने सर्वस्वका बलिदान कर दिया था। 'नृदेव देव राम हैं'—दशरथ-नन्दन श्रीरामके लिये उनकी आस्था थी। 'गोविन्द-रामायण' नामक उनका रामायण बड़ा ही सरस एवं सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है। पूरा रामायण वर्णनात्मक शैलीमें लिखा गया है। उसमें श्रीरामके कुछ ही वचन मिलते हैं।

पिताकी आज्ञासे श्रीराम वन-गमनके लिये प्रस्तुत होते हैं और अपनी धर्मपत्नी सीताको अवधमें रहनेके लिये कहते हैं। पर सीता 'मैं न तजौं पिय-संग, कैसो दुख जिय पै परै' कहती हुई साथ चलनेका आग्रह करती हैं। इसपर श्रीराम उनसे कहते हैं—

जो न रहौ ससुरार, कृसोदरि
जाहु पिता-गृह, तोहि पठै देउँ।
नैक सुभानन तें हम कौ जुह,
ठाट कहौ सुइ गाठ गढ़ै देउँ॥
जे कछु चाह करो धन की
टुक मोहि कहौ, सब तोहि उठै देउँ।
केतक औध को राज, सुलोचनि!
रंक को लंक निसंक लुटै देउँ॥

'हे कृशोदरि ! यदि तुम यहाँ ससुरालमें रहना नहीं चाहती तो अपने पिताके घर चली जाओ । कहो तो तुम्हें वहाँ भेज दूँ । तुम अपने सुन्दर मुखसे जो कुछ कहोगी, वही बात पूरी कर दूँगा । यदि तुम्हें कुछ धनकी इच्छा हो तो कहो; मैं सारा धन तुम्हें दे दूँगा । हे सुलोचने ! अयोध्याका राज्य ही क्या, मैं तुम्हारे लिये स्वर्णमयी लङ्काका राज्य भी कंगालोंको लुटा सकता हूँ ।'

फिर वनकी कठिनाइयोंको बताते हुए श्रीराम कहते हैं—

घोर सिया ! वन, तू सुकुमार
कहो, हम सों, कस कै निबहैहै।
गूंजत सिंह, डकारत कोल,
भयानक भील लखै भ्रम ऐहै॥
सूँकत साँप बकारत बाघ
भकारत भूत महा दुख पैहै।
तू सुकुमार रची करतार,
बिचार चले तुहि क्यूँ बनि ऐहै॥

'हे सीता ! वन बहुत डरावना है और तुम बहुत कोमल हो । मुझे बतलाओ, मेरे साथ तुम्हारा संग कैसे निभेगा ? वहाँ वनमें शेर गरजते हैं और कोल (सूअर) डकारते हैं । भयानक भीलोंको देखकर तुम डर जाओगी । वनमें साँप फुफकारते हैं, बाघ बोलते हैं और भयंकर भूत-पिशाच महा दुःख देते हैं । ईश्वरने तुम्हें बहुत कोमल बनाया है । जरा सोच-समझ लो, वनमें क्यों जाना चाहती हो ?'

किंतु सती सीता किसी भी परिस्थितिमें पतिसे अलग रहना नहीं चाहती । तब भगवान् श्रीराम पुनः समझाते हैं—

राम कहौं तुहि, बास करौ
गृह, सासकी सेव भली बिध कीजै।
काल ही बास बनै मृग-लोचनि !
राज करौं तुम सों, सुनि लीजै॥
जौ न लगै जिय औध सुभाननि !
जाहि पितागृह, साँच भनीजै।
तातकी बात गड़ी जिय जात,
सिधात बनै, मुहि आदिस दीजै॥

'सीते ! मैं सच कह रहा हूँ, तुम महलोंमें रहकर भलीभाँति सासोंकी सेवा करो । मैं कुछ दिन वनमें रह[illegible] कल ही समझो, लौट आऊँगा और तुम्हारे साथ राज्य करूँगा । परंतु यदि यहाँ जी न लगे तो पि[illegible] घर चली जाओ । मैं सच कह रहा हूँ, मेरे मनमें पित[illegible] बात बस गयी है । मुझे वनमें जाना ही चाहिये; बस, [illegible] मुझे आज्ञा दो ।'

फिर माता कौशल्याके समीप जाकर भगवान् श्रीर[illegible] कहते हैं—

तात दियो बनवास हमैं,
तुम देहु रजाय, अबै तहँ जाऊँ।
कंटक कानन बीहड़ गाहि
त्रयोदस बर्ष बिते फिरि आऊँ॥
जीत रहै तो मिलौं फिरि, मात !
मरी गए भूलि परी बखसाऊँ।
भूपति कै अरिणी बरते, बस के
बन मो फिर राज कमाऊँ॥

'मुझे पिताने वनवास दिया है । आप भी मुझे आज्ञा दें तो मैं वन जाऊँ । काँटों भरे जंगल तथा बीहड़ रास्ते पा[illegible] करके तेरह वर्ष बीतनेपर फिर आ जाऊँगा । यदि जीवित रहा तो फिर आ मिलूँगा; परंतु यदि मर गया तो इसी समय अपने अपराधोंके लिये क्षमा माँगता हूँ । मैं राजा दशरथ (पिता) को कैकेयीके ऋणसे उऋण करके तथा वनमें निवास करके फिर आकर राज-भोग करूँगा ।'

भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणसहित वन-गमन करते हैं । भरत और शत्रुघ्न उन्हें लौटानेके लिये चित्रकूट पहुँचते हैं । राम-वियोगमें दुखी भरत बड़े भाईसे प्रार्थना करते हैं । 'अब घर चालो, रघुबर मोरे, तज हठि लागैं सब पग तोरे'—'हे रघुवीर ! अब तो आप घर लौट चलिये, हठ छोड़ दीजिये । हम सब आपके पाँव पड़ते हैं ।' इसपर भगवान् श्रीरामने उत्तर दिया—

भरत कुमार ! न औ हठ कीजै।
जाहु घरै, न हमैं दुख दीजै॥
काज कह्यो जु, हमैं हम मानी।
त्र्योदस बर्ष बसैं बन धानी॥

'हे भरतकुमार ! अब अधिक हठ न करो और घर

लौट जाओ। हमें दुःख न दो; क्योंकि जो कुछ हमें पिताने कहा है, वह हमें पूरा करना है। अब तो तेरह वर्ष इस वनको ही अपना घर बनाना है। (यहाँ तेरह वर्षका कथन इसलिये है कि तबतक एक वर्ष बीत चुका था।)'

श्रीरामने आगे कहा—

त्र्योदस बर्ष फिरै फिरि ऐहैं।
राज-सिंहासन छत्र सुहैहैं॥
जाहु बरै, सिख मान हमारी।
रोवत तोरि उतै महतारी॥

'हे भरत! तेरह वर्ष बीत जानेपर हम (राम, लक्ष्मण और सीता) सब लौट आयेंगे तथा राज-सिंहासनपर बैठेंगे और छत्रसहित शोभा पायेंगे। तुम हमारा कहना मानो और घर लौट जाओ; क्योंकि उधर अयोध्यामें तुम्हारे बिना माता रो रही होंगी।'

तमिळके रामकथाग्रन्थोंमें श्रीरामवचनामृत

(संग्रहकर्ता और लेखक—श्रीर० शौरिराजन)

१—कम्बरामायण

यह ग्यारहवीं शतीका सर्वोत्तम तमिळ महाकाव्य है। इसके रचयिता स्वनामधन्य कविचक्रवर्ती कम्बन् थे। यह अनुपम महाकाव्य सम्पूर्ण तमिळ वाङ्मयका गौरवग्रन्थ है। भारतीय भाषाओंमें प्रणीत श्रीरामकथा-काव्योंमें श्रीवाल्मीकि-रामायणको छोड़कर अनूठी काव्यकला और सरस अभि-व्यञ्जनाकी दृष्टिसे तुलसीरामायणके समान यह 'कम्बरामायणम्' भी सर्वोत्तम माना जाता है।

महाकवि कम्बन्ने भी श्रीरामचन्द्रजीको मर्यादा-पुरुषोत्तम एवं भगवान् विष्णुका अवतार माना है।

बालकाण्ड

बालकाण्ड, पाँचवाँ पटल

प्रसङ्ग—१. प्रथमतः श्रीरामचन्द्रजीकी पुनीत वाणी, उनकी छात्रावस्थामें गुरुकुलसे संध्याको राजभवन लौटते समय वीथीमें मिले भक्त पौरजनोंसे कुशल-मङ्गल पूछनेके संदर्भमें निकली है—

मूल—एतिर् वरुम् अवर्हळै एमैयुडै इरैवन्
मुतिर् तरु करुणैयिन् मुकमलर् ऑळिरा,
"एतु विनै? इडर् इलै? इनिदुनुम् मनैयुम्?
मतितरु कुमररुम् वलियर् कॉल्?" एनवे

भावार्थ—हमारे प्रभु श्रीरामचन्द्रजी मार्गमें मिले नागरिकोंसे बड़ी प्रसन्नता और कृपाके साथ पूछते हैं—'क्या हाल-चाल है? तुमलोगोंको किसी बातका कोई कष्ट तो नहीं है? घरमें सब सकुशल हैं? तुमलोगोंके बुद्धिमान् पुत्र भले-चंगे हैं न?'

बालकाण्ड, सातवाँ (ताडकावध) पटल

प्रसङ्ग—२. राम और लक्ष्मण महर्षि विश्वामित्रके साथ उनके यज्ञके संरक्षणके लिये जा रहे हैं। अङ्ग (अनङ्ग) देशमें कामाश्रमपर एक रात बिताकर आगे चलते हैं। घोर मरुस्थलमें जा पहुँचते हैं। उस प्रदेशकी इस वीरान और संतापक स्थितिका कारण जाननेके लिये श्रीरामचन्द्रजी महर्षि विश्वामित्रसे इस प्रकार प्रश्न करते हैं—

मूल—'चुषिपडु गंगैअम् तोड्गल मोळियान्
विषिपड वेन्तदो? वेरुतान् उण्डो?
पषिपडर् मन्नवन् परित्त नाट्टिनूङ्गु
अषिवदु एन्? कारणम् अरिञ्, कूरु' एन्रान्

भावार्थ—'अभिज्ञ! यह प्रदेश कैसे उजाड़ हो गया और कैसे ऐसा घोर मरुस्थल बन गया? अपनी जटामें भँवरभरी गङ्गाको पुष्प-मालाकी तरह धारण करनेवाले शिवजीके तीसरे नेत्रकी प्रखर ज्वालासे यह प्रदेश झुलस तो नहीं गया है? अथवा कोई और कारण है? यह प्रदेश तो ऐसा वीरान और निदावभरा रहता है कि मानो यहाँ किसी निन्दित अत्याचारी राजाका कुत्सित शासन चला हो और उसीके परिणामस्वरूप इसकी ऐसी दुर्दशा हो गयी हो। यह भी नहीं है, तो फिर और क्या कारण है? कृपया बताइये।'

बालकाण्ड, आठवाँ (यज्ञ-संरक्षण) पटल

प्रसङ्ग—३. विश्वामित्रके यज्ञस्थलमें राम और लक्ष्मण धनुष

धारण किये पहरा दे रहे हैं। उस समय सुबाहु और मारीच बड़ी राक्षससेनाके साथ उस यज्ञको नष्ट करनेके लिये आ धमकते हैं। मुनिजन भयभीत होते हैं। तब श्रीराघव मुनिजनोंको अभयदान देते हुए आश्वासन-वचन बोलते हैं और युद्धके लिये संनद्ध हो जाते हैं।

मूल–कवित्तनन् करतलम्, 'कलंगळीर्' एन,
चेवित्तलम् निरुत्तिनन् विलैयिन् तेय्व नाण्;

भावार्थ–श्रीरामने उन भयाक्रान्त मुनिजनोंको अपना अभयदायक करकमल दिखाया और 'घबराइये मत!' कहकर अपने सर्वजयी धनुषको उठाकर उसपर डोरी लगा ली। एवं दिव्य प्रत्यञ्चाको अपने कानतक खींचकर वे राक्षसोंका नाश करने लगे।

प्रसङ्ग–४. यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ। विश्वामित्रने अतीव प्रसन्न होकर रामचन्द्रजीकी प्रशंसा की। तब रामचन्द्रजी मुनिवरसे पूछने लगे—'अब आगे हमारा क्या कर्तव्य है? आप निर्देश करें।'

मूल–कुन्हपोल् गुणत्तान् एतिर्, कोसलै कुरिशिल्,
'इन्रु यान् चेयुम् पणि एन्कोल्? पणि!' एन इशैत्तान्.

भावार्थ–गुणोंके शिखरस्थ कौसल्यानन्दनने महर्षि विश्वामित्रसे सविनय पूछा—'अब आगे मेरा कर्तव्य क्या है? आज्ञा दीजिये।'

बालकाण्ड, नवम (अहल्या-) पटल

प्रसङ्ग–५. विश्वामित्र महर्षिके साथ मिथिला जाते समय विदेह देशके उद्यानके पास एक पाषाण-शिलापर भगवान् रामचन्द्रजीकी चरणधूलि पड़ती है। उसी क्षण उस प्रस्तरसे शापमुक्ता अहल्या देवी, जो गौतम महर्षिकी पत्नी थी और उन्हींके शापसे प्रस्तररूपा हो गयी थी, निकल आती है। रामचन्द्रजीको विश्वामित्र अहल्यादेवीका संक्षिप्त परिचय उसपर लगे शापका वृत्तान्त बतानेके पूर्व देते हैं। उसे सुनकर विस्मयके साथ श्रीराघव विश्वामित्रसे यों पूछने लगे—

मूल–'एन्नैये! एन्नैये! इव् उलकु इयल् इरुन्तवण्णम्,
मुन्नै ऊष् विनैयिनालो! नडु ऑन्रु मुडिन्ततु उण्डो?
अन्नैये अनैयाट्कु इङ्ङन् अडुत्तवारु अरुळुक! एन्रान्.

भावार्थ–रामचन्द्रजीने विस्मित होकर कहा—'इस संसार-की भी कैसी प्रकृति है। इस प्रकारकी घटनाएँ क्यों होती हैं? क्या ये पूर्वजन्मोंके कर्मोंका परिणाम अतिरिक्त कोई और भी कारण [illegible] विराजनेवाली इन अहल्यादेवीकी ऐसी कृपया पूरा विवरण दीजिये।'

प्रसङ्ग–६. शापमुक्ता अहल्या जाना चाहती है। उस समय पुरुषो[illegible] शुभ वचन कहते हैं—

मूल–तीतु इला उतविचेय्द चे[illegible]
कोतु इलाक्कुणत्तान् चोम्म पोरुळ् ए[illegible]
'मा तवन् अरुळ् उण्डाक वा[illegible]
पोलु नी, अन्नै!' एन्न, पो[illegible]

भावार्थ–श्यामसुन्दर प्रभु श्रीरा[illegible] श्रीचरणोंसे कई कल्याणकारी उपकार हे[illegible] विश्वामित्रके (अहल्याशाप तथा च[illegible] वृत्तान्तका आशय समझकर, अहल्याके [illegible] तुम अब महान् तपस्वी गौतम महर्[illegible] रहो। उनके चित्तमें तुम्हारे प्रति [illegible] बीचमें आये दुःख-संतापोंको स्मरण [illegible] होओ। (पतिदेवके आश्रममें) जा[illegible] वचन सुनकर अहल्या श्रीरामके स्वर्णाभ[illegible] करके वहाँसे चली गयी।

बालकाण्ड, अन्तिम (परशुरा[illegible]

प्रसङ्ग–७. श्रीरामचन्द्रजी सीता-विव[illegible] से अयोध्या लौट रहे हैं। मार्गमें परशुरा[illegible] हैं 'शिव-धनुषको तोड़नेसे क्या हुआ [illegible] धनुषपर प्रत्यञ्चा लगाकर तो देखो।' [illegible] उस धनुषको झुकाकर डोरी लगा देते हैं [illegible] कहते हैं—

मूल–'''नन्रु ऑळिर् मुकत्तनाकि ''नार[illegible]
वेन्रि विल् तरुक'' एन्न, कोडुत्तनन्; नी[illegible]
तुनूरु इरुळ्वंडैयोम अंच, तोळुर. व[illegible]
'पूतलत्तु अरशैयेल्लाम् पोन्रुवित्त[illegible]
वेदवित्तु आय मेलोन् मैन्तन् नी; [illegible]
आतलिन् कोल्ललू आकातु; अम्पु इतु पि[illegible]
यातु इतक्कु इलक्कम् आवतु? इयम्पुति [illegible]

भावार्थ—परशुरामके वचन सुनकर श्रीरामने मुसकुराकर प्रसन्नवदनसे कहा—'भगवान् नारायणने अपने भुजबलसे जिस धनुषका उपयोग किया, वह विजयी धनुष मुझे दीजिये।' परशुरामने वह धनुष दिया। वीरवर रामने उसे अनायास झुका दिया और डोरी चढ़ा दी, यह देखकर घनी जटावाले परशुराम भयभीत हो गये।

फिर रामने कहा, 'यद्यपि आपने इस भूतलके राजकुलका विनाश किया है, तो भी आप वेदविद् महर्षिके पुत्र हैं और तापस-वेषमें विराज रहे हैं; अतः आप मेरे लिये अवध्य हैं। किंतु मेरा बाण भी व्यर्थ नहीं जा सकता; अतः इसका लक्ष्य क्या हो, शीघ्र बताइये।'

अयोध्याकाण्ड

अयोध्याकाण्ड, तीसरा कैकेयी (-दुष्कार्य)-पटल

प्रसङ्ग–८. कैकेयी मन्थराकी कुत्सित मन्त्रणाके अनुसार श्रीरामके राज्याभिषेकको रोककर उनके सिंहासनपर अपने पुत्र भरतको अभिषिक्त करनेपर तुली हुई है। राजा दशरथ मूर्च्छित पड़े हैं। कैकेयीके आदेशानुसार राम वहाँ आये हैं। श्रीरामसे कैकेयी राजाज्ञाके नामपर अपना निर्णय बतानेके लिये 'महाराजकी आज्ञा तुमको सुनाना चाहती हूँ' यों कहती है। यह सुनते ही श्रीराघव हर्षके साथ कहते हैं—

मूल–

"एन्नैये एव, नीरे उरैशेय इयैवदु उण्डेल्
उयन्तनेन् अडियेन्; एन्निन् पिरन्तवर् उळरो ? वाषि !
वन्तदु, एन् तवत्तिन् आय वरुपयन्, मट्रु ऑन्रु उण्डो ?
तन्तैयुम् तायुम् नीरे, तलैनिन्रेन, पणिमिन्" एन्रान्.

भावार्थ—माताजी ! आज्ञा देनेवाले मेरे पूज्य पिताजी हैं, उसे सुनानेवाली आप स्वयं माताजी हैं। मैं उसे सुनकर कृतार्थ होऊँगा और मेरा उद्धार होगा। मेरे समान सौभाग्यशाली मनुष्य और कौन हो सकता है ? मेरे भाग्यके कारण ही ऐसा शुभ फल मुझे मिला है। इससे (पिताजीके आज्ञा-पालनसे) बढ़कर और क्या अच्छा फल हो सकता है ? आप तो मेरे लिये माता-पिता दोनों हैं, आपका वचन मेरे लिये शिरोधार्य है। अतः आप आज्ञा दें।

प्रसङ्ग–९. राजाज्ञाके नामपर अपना मनोरथ रामसे कैकेयी बतलाती है। 'रामको चौदह वर्षतक वनमें वास करना है और भरतको राजा बनकर शासन करना है।' यह सुनकर राम अतीव प्रसन्न हो जाते हैं और कैकेयीसे वनगमनकी अनुमति माँगते हैं।

मूल–

"मन्नवन् पणि अन्राकिन्, नुम् पणि मरुप्पेनो ? एन्
पिन्नवन् पेट्र शेल्वम् अडियनेन् पेट्रदन्रो ?
ऍन् इनि उरुति अप्पाल् ? इप् पणि तलैमेल् कोण्डेन्
मिन् ओळिर् कानम् इन्रे पोकिन्रेन्; विडैयुम् कोण्डेन्"

भावार्थ—माता ! यदि यह महाराजका आदेश न हो, तो भी क्या आपकी आज्ञा मेरे लिये अस्वीकार्य होगी ? मैं क्या आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर सकता हूँ ? मेरे छोटे भाईने जो सम्पत्ति पायी, वह क्या मेरी नहीं होती ? अतः इससे बढ़कर मेरा हित और क्या हो सकता है ? मैं इस आज्ञाको शिरोधार्य करता हूँ। मैं अभी विद्युत्के समान चमकती किलकिलाती धूपसे युक्त अरण्यमें चला जाऊँगा, आपसे अब विदा ले रहा हूँ।

अयोध्याकाण्ड चौथा (नगर-निष्क्रमण-) पटल

प्रसङ्ग–१०. श्रीराम कौसल्यासे राजाज्ञाकी पहली शर्त बताते हैं तो वह भरतको राजतिलक करानेके लिये सहमत हो जाती है। पहले रामने यही कहा—

मूल–मंगै अम्मोषि कूरलुम् मानवन्
चेंगै कूप्पि, "निन्कातल् तिरुमकन्
पंगमिल् गुणत्तु एम्पि भरतने
तुंगमामुडि चूडुकिन्रान्।" एन्रान्

भावार्थ—कौसल्याके पूछनेपर रामने अपने सुन्दर कर जोड़कर निवेदन किया—'आपके प्रेमका पात्र, उत्तम गुणवाला मेरा प्रिय भाई भरत ही उत्तम राजमुकुटको धारण करनेवाला है।'

कौसल्याने इसे नियमविरुद्ध बताया, फिर कहा—'महाराजकी आज्ञाका भङ्ग करना तुम्हारा धर्म नहीं है। अतः इस आज्ञाको अपने लिये हितकर समझकर तुम अपने भाई भरतको राज्य दे दो और उसके साथ एक होकर चिरकालतक जियो।' माताकी यह बात सुनकर रामने कहा,—

मूल–"नायकन् एनै नल् नेरि उय्प्पतर्कु
एयदु उण्डु ओर् पणि"

भावार्थ—'चक्रवर्तीने मुझे सन्मार्गपर चलनेके लिये एक आज्ञा दी है।'

कौसल्याने आतुरताके साथ पूछा, 'वह आज्ञा क्या है?' तब रामने कहा—

मूल—"आण्डु ओर् एषिनोडु एष्‌ अकन् कानिडै माण्डमातवत्तोरुडन् वैकि पिन् मीण्डु नीवरल् वेण्डुम्' एन्रान्"

भावार्थ—'चक्रवर्तीने आज्ञा दी है कि चौदह वर्ष-पर्यन्त महान् काननमें ऋषियोंके साथ निवास करके मैं तब लौट आऊँ।'

यह सुनकर कौसल्या बहुत दुखी होती हैं, प्रलाप करती हैं। तब राम उनको सान्त्वना देते हैं। उनकी वाणी यह है—

मूल—...."अरुम् कर्पिनोय्! पोय्त्तिरत्तिनन् आक्कुतिमो पुकल्, मेय्त्तिरत्तु नम् वेन्तनै नी!"

भावार्थ—'अपूर्व पातिव्रत्यवाली माता! सत्यकी गरिमासे युक्त हमारे चक्रवर्तीको क्या आप असत्यवादी बना देंगी! कहिये तो?'

अतीव व्यथित अपनी माताको आश्वस्त करनेके हेतु श्रीरामने आगे कहा—

मूल—"शिरन्त तम्पि तिरुवुर, एन्तैयै
मरन्तुम् पोय् इलन् आक्कि, वनत्तिडै
उरैन्तु पेरुम् उरुति पेट्रेन्; इतिन्,
पिरन्तु यान् पेरुम् पेरु एन्पतु यावतो
विण्णुम् मण्णुम्, इव् वेलैयुम् मट्रुम् वेरु
एण्णुम् भूतम् एलाम् अषिन्तु एकिनुम्
अण्णल् एव मरुक्क, अडियेनक्कु
ओण्णुमो? इतक्कु उळ् अषियेल्" एन्रान्।

भावार्थ—श्रीरामने माता कौसल्यासे कहा—

'मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हुआ है कि मेरा उत्तम भाई राज्य पा रहा है। मेरे पिता ऐसे सत्यवादी हैं कि भूलकर भी कभी असत्य नहीं बोलते। मैं अरण्यमें निवास करके तब लौट आऊँगा। जन्म पानेका इससे बढ़कर और क्या फल प्राप्त हो सकता है! आकाश, धरती, समुद्र तथा अन्य (वायु, अग्नि आदि) भूत भले ही मिट जायँ, चक्रवर्तीकी आज्ञाका उल्लङ्घन मैं नहीं कर सकता। माँ! आप दुखी न हों।'

※

श्रीरामके ये वचन सुनकर कौसल्याने कहा, 'तात! मैं भी यह नहीं कह सकती कि तुम महाराजकी आज्ञाका तिरस्कार करो और वनमें मत जाओ। परंतु तुमको छोड़कर (तुमसे बिछुड़कर) मेरे प्राण रह नहीं सकते। अतः तुम अपने साथ मुझे भी वनमें ले चलो।'

तब रामने कहा—

मूल—"एन्नै नींगि इडर्क्कडल् वैकुरुम्
मन्नर् मन्ननै वर्प्पुरुत्तादु, उडन्
तुन्नु कानम् तोडरत् तुणिवदो?
अन्नैये! अरम् पार्क्किलै आम्" एन्रान्. (१)

"वरिविल् एम्बि इम् मण् अरशु आय् आवक्कु
उरिमै मानिलम् उट्रपिन् कोट्रवन्
तिरुविन् नींगित् तवम् चेयुम् नाळ्, उडन्
अरुमै नोन्पुकळ् आट्रुति आम् अन्रे! (२)

"चित्तम् नी तिकैक्किन्रतु एन्! तेवरुम्
ओत्त मातवम् चेय्दु उयर्न्दोर् अन्रे?
एत्तनैक्कुळ् आण्डुकळ्? ईण्डु, अवै
पल नाळ् पकल् अल्लवो? एन्रान्. (३)

"मुन्नर्, कोशिकन् एन्नुम् मुनिवरन्-
तन् अरुळ्तलै तांगिय विञ्चैयुम्
पिन्नर् एय्तिय पेरुम् निपेत्तवो?
इन्नम् नन्रु अवर् एयिन चेय्दले. (४)

"मा तवक्कु वषिपाडु इयैत्तु, अरुम्
पोतम् मुट्रि पोरु अरु विञ्चैकळ्
एतम् अट्रन तांकि, इमैयवर्
कातल् पेट्रु, इन्नकर् वरक् कण्डियाल्. (५)

"मकर वेलै मण् तोट्ट, वण्डु आडु तार्
सगरर् तातै पाणि तलै निन्रु, तम्
पुकर् इल् याक्कैयिन् इन् उयिर् पोक्किय
निकर् इल् माप् पुकष्‌ निन्रदु अन्रो? एना (६)

"मान् मरिक् करत्तान् मषु, एन्तुवान्
तान् मरुत्तिलन् तातै चोल्; तायैये,
ऊन् अरक्कुरैत्तान्; उरवोन् उरै
यान् मरुप्पदु एन्रु एण्णुवदो?" एन्रान्. (७)

भावार्थ—'माता! मुझसे वियुक्त होकर चक्रवर्ती दुःखसागरमें डूबे हुए हैं। ऐसी दशामें उन्हें सान्त्वना

दिये बिना मेरे साथ वनमें जानेका आपका निश्चय करना उचित नहीं है। कदाचित् आपने धर्मका ठीक-ठीक विचार नहीं किया हो। (१)

'दृढ़ धनुर्धारी भाई भरतको राज्य सौंपकर जब चक्रवर्ती राज्यकी सम्पत्तिसे पृथक् होकर तपस्यामें निरत होंगे, तब उनके साथ रहकर (वानप्रस्थाश्रममें) आप भी उत्तम व्रतोंका आचरण करेंगी। (२)

'आप क्यों इस प्रकार व्याकुल हो रही हैं? देवता भी महान् तपस्याके आचरणसे ही तो समुन्नत हुए हैं। मेरे वनवासके जितने वर्ष हैं, वे देवोंके लिये चौदह दिन ही तो हैं। (मनुष्योंका एक वर्ष देवोंके लिये एक दिवस माना गया है।) (३)

'पहले महर्षि विश्वामित्रकी कृपासे मैंने जो अपूर्व विद्याएँ (बला और अतिबला) प्राप्त कीं और उन्हें प्राप्त करनेके पश्चात् जिन कार्योंको करके मैं भाग्यवान् हुआ, वे व्यर्थ नहीं हुए। अब भी ऐसे मुनिवरोंकी आज्ञाका पालन करना मेरे लिये उत्तम ही है। (४)

'मैं महान् तपस्वियोंकी सेवा करके, अपार ज्ञान प्राप्त करके, दोषहीन अनुपम विद्याएँ सीखकर एवं देवोंका प्रेम भी पाकर इस नगरमें लौट आऊँगा, आप देखेंगी! (५)

'मगर-मच्छों एवं तिमिंगिलोंसे भरे सागरसे घिरी धरतीको खोदनेवाले, भ्रमरोंके गुंजारसे युक्त पुष्प-मालाएँ धारण करनेवाले सगरपुत्रोंने अपने पिताकी आज्ञाका पालन करके अपने प्राणोंको त्याग दिया था। इस साधनासे वे अपार कीर्तिके पात्र बन सके थे। (६)

'एक हाथमें हरिणको धारण करनेवाले शिवजीके दूसरे हाथमें जो परशु है, उसके समान (परशु) अस्त्र (कुल्हाड़ी-जैसा अस्त्र) रखनेवाले परशुरामने अपने पिता जमदग्निकी आज्ञाका उल्लङ्घन न करके अपनी माताका सिर काट दिया था। अतः पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना सर्वथा उचित नहीं है। इसके प्रति सोचना तक मेरे लिये अनुचित ही होगा।' (७)

श्रीरामने इस प्रकार अनेक संगत वचन कहकर माता कौसल्याको धैर्य बँधाया।

अयोध्याकाण्ड, चौथा (नगर-निष्क्रमण-) पटल

श्रीरामका वनगमन तथा भरतका राजतिलक

प्रसङ्ग—

११. कैकेयीके इस निर्णयको सुनकर लक्ष्मण बौखला उठते हैं। वे धनुष लेकर कैकेयी आदिका संहार करनेपर तुल जाते हैं। उस समय राम आकर लक्ष्मणको समझाकर शान्त करते हैं।

मूल—"इळैयान् इतु कूर, इरामन्, 'इयैन्त नीति
वळैयावरुम् नल्नेरि निन् अरिवु आकुम् अनूरे ?
उळैया अम् वट्रिड, ऊष् वषुवुट्र चीट्रम्
विळैयाद् निलत्तु, उनक्कु एंगन् विलैन्ततु ?'
—एनूरान्

भावार्थ—

लक्ष्मणकी रोषभरी बातें सुनकर रामने कहा, 'तुम्हारी बुद्धि तो सदा न्यायके अनुकूल मार्गमें चलती है; किंतु आज नीतिके विरुद्ध अविनश्वर धर्मको भी मिटा देनेवाला यह क्रोध तुम्हारे मनमें कैसे उत्पन्न हो गया?'

लक्ष्मण इसका उत्तर देते हैं—अपने उद्दाम क्रोधका कारण बताते हैं; तब रामजी उसका समाधान करते हैं—

मूल—"पिन् कुट्रम् मन्नुम् पयक्कुम् अरशु एनूरळ्, पेणेन्; मुन् कोट्र मन्नन्, 'मुडि कोळक' एनक् कोळक मूण्डनु
एन् कुट्रमनूरो ? इकल् मन्नवन् कुट्रम् यातो ?—
मिन् कुट्रु ओळिरुम् वेयिल् तीककोडु अमैन्त वेलोय् !
'नदियिन् पि.षैयनूरु नरुम् पुनल् इनूयै; अट्रे,
पतियिन् पि.षैयनूरु; पयन्तु नमैप् पुरन्ताळ्
मतियिन् पि.षैयनूरु; मकन् पिषैयनूरु; मैन्त !
विधियिन् पि.पै; नी इतवर्कु एनूकोल् वेकुण्डतु ?" एनूरान्

भावार्थ—

'उद्दीप्त अस्त्रधारी लक्ष्मण! चक्रवर्तीने जब राज्यका भार मुझे देनेकी बात कही, तब यह विचार किये बिना ही कि यह राज्य आगे अनेक कष्ट उत्पन्न करेगा, मैं इसे स्वीकार करनेको राजी हो गया। यह मेरा ही अपराध है। इसमें चक्रवर्तीका क्या दोष है?

'स्वच्छ जलके सूख जानेमें नदीका कोई दोष नहीं होता। इसी प्रकार (मुझे वन जानेकी आज्ञा देनेमें मुझपर अधिक प्रेम रखनेवाले) महाराजका कोई दोष नहीं है।

अब मुझे वनमें जानेकी आज्ञा देनेमें हमपर वात्सल्य रखनेवाली सुमना जननी माता कैकेयीका भी अपराध नहीं है। इसमें भरतका भी दोष नहीं है। वत्स! यह तो विधिका खेल है और वही दोषी ठहराया जा सकता है; अतः इसपर तुम क्यों क्रोध करते हो ?'

लक्ष्मणका ताप शान्त नहीं होता। वे अपने धनुषके बलपर कैकेयीको न्यायमार्गपर लानेका निश्चय करते हैं। वे महाराज दशरथको भी दण्ड देनेको संनद्ध हो जाते हैं। तब राम कहते हैं—

मूल······"ऐय निनूतन्
वाय् तन्तन कूर्त्तियो, मरै तन्त नावाल्?
नी तन्तदु अनूरे, नेरिमोर् कण् निलादु ईनूर
ताय् तन्तै एनूराल् अवरमेल् चलिक्किनूरदु एन्नो?"

भावार्थ—'लक्ष्मण! वेदोंके तत्त्वको जाननेवाले तुम मुँहमें जो कुछ बात आती है, उसीको कहे जा रहे हो? तुमने जो कहा, वह धर्ममार्गगामी लोगोंमें नहीं पाया जाता। तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध कार्य करनेवाले जब तुम्हारे माता-पिता ही हैं, तब उनपर तुम क्रोध कैसे कर सकते हो?'

इसपर भी लक्ष्मण शान्त नहीं हुए। तब राम फिर समझाते हैं—

मूल—वरदन् पकर्वान्: "वरम् पेट्रवळ्ताय् इव् वैयम्
शरतम् उडैयाळ् अवळ् एन्न तनित्तातै, चेप्पप्
भरतन् पेरुवान्; इनि यान् पडै क्किनूर चेल्वम्
विरतम्; इतिन् नल्लदु वेरु इनि यावदु?" एनूरान्
आनूरान् पकर्वान् पिनुम्, "ऐय! इव् वैय मैयल्
तोनूरा नेरि वाळ् तुणैत् तम्मुनैप् पोर् तोलैत्तो?
वानूरोर् पुकुपुम् तनित्तातैयै वाकै कोण्डो?
ईनूराळै वेनूरो, इनि इक् कतम् तीर्वदु?" एनूरान्।
"नन् चोक्कैळ् तन्तु आडु, एनै नाळुम् वळर्त्त तातै तन् चोल् कडन्तु, एर्कु अरशु आळ्वदु तक्कदु अनूराल् एन् चोल् कडन्ताल् उनक्कु यादु उळदु ईनम्?" एनूरान्।

भावार्थ—वरद रामचन्द्रजी लक्ष्मणसे कहने लगे—'माता कैकेयी ही, जिसने वर प्राप्त किया है, वास्तवमें इस राज्यको पानेका अधिकार रखती है; उसकी तथा हमारे पूज्य पिताजीकी आज्ञासे भरत इस राज्यका शासन-अधिकार प्राप्त करेगा। अब मैं जो सम्पत्ति प्राप्त करनेवाला हूँ, वह है तपस्या। वह इस राज्यसे भी अधिक सुखदायक है उससे बढ़कर उत्तम वस्तु और क्या हो सकती है?'

राम आगे बोले, 'भाई! तुम्हारा यह कोप कैसे शान्त होगा? क्या इस संसारकी मायासे अछूते रहकर पुनीत सन्मार्गपर जीवन बितानेवाले गुणी भाई भरतको समरमें मारकर, या महापुरुषोंके द्वारा प्रशंसित अनुपम कार्य करनेवाले पिताजीको पीड़ा पहुँचाकर, अथवा माताजी (कैकेयी) को तिरस्कृत करके ही तुम्हारा यह क्रोध शान्त हो सकेगा? बताओ तो।'

इन प्रभावकारी भद्र वचनोंको सुनकर लक्ष्मणका क्रोध किंचित् रुक जाता है; फिर भी अपनी वीरतापर किये गये इस प्रतिबन्धपर वे दुःख प्रकट करते हैं। तब राम कहते हैं—'अबतक जिन पिताने मुझे मधुर वचन कहकर तथा पाल-पोसकर बड़ा किया, उनके वचनका उल्लङ्घन या तिरस्कार करके तुम यदि कुछ कर बैठे, तो उससे तुम्हारी क्या कम हानि होगी, सोचो तो।'

प्रसङ्ग—१२. श्रीरामके वनगमनकी वार्ता सुनकर ममतामयी सुमित्रा अतीव दुःखसंतप्ता होकर धरतीपर गिर पड़ी और करुण स्वरमें विलाप करने लगी। तब राम उसके चरणोंको नमस्कार करके, सान्त्वनाप्रद वचन कहते हैं—

मूल—"पोर्वाळ अरशर्क्कु इरै पोय्त्तनन् आक्ककिलेन्; कार वान नेडुंगान् इरै कण्डु, पिन् मीळ्वेन्" एनूरान्।
"कान् पुक्किडिनुम्, कडल् पुक्किडिनुम्, कलिप् पेर् वान् पुक्किडिनुम्, एन्तक्कु अतवै माण् अयोत्ति यान् पुक्कदु ओक्कुम्; एनै यार नलिकिर्क्कुम् ईट्टार्? ऊन् पुक्कु, उयिर् पुक्कु, उणर् पुक्कु, उलैयवर्कै!" एनूरान्.

भावार्थ—

'हमारे समरशूर चक्रवर्तीको मैं असत्यवादी नहीं बनाऊँगा। काले मेघोंसे युक्त निबिड वनको एक बार देखकर मैं लौट आऊँगा। मैं वनमें जाऊँ, समुद्रमें जाऊँ, कोलाहलसे भरे देवलोकमें जाऊँ, मेरे लिये कोई भी स्थान महिमामय अयोध्याके समान ही होता है। मुझे दुःख देनेवाला कौन है? अतः आप व्याकुल न हों और दुःखतप्त होकर मूर्च्छित न हों।'

प्रसङ्ग—१३. कैकेयीकी भेजी हुई वल्कल आदि तापसोचित सामग्रीको धारणकर राम वनगमनके लिये तैयार हो जाते हैं।

तब वसिष्ठमुनि आकर रामको समझाकर रोकना चाहते हैं। उस समय रामका उत्तर यह है—

मूल—"अन्नवन् पणि तलै एन्ति आट्रलल्
एन्नदु कडन्; अवन् इडरै नीक्कुदल
निन्नदु कडन्; इदु नेरियुम्" एन्रान्.
"एन्रनन् एन्रै इरु वरंगळ्; एविनाळ्
इन्रवळ्; यान् अदु चेय्ति एल्लितेन्;
चान्रु एन निन्र नी तडुत्तियो ?" एन्रान्—
तोन्रिय नल् अरम् निरुत्त तोन्रिनान्.

भावार्थ—रामने वसिष्ठसे कहा, "चक्रवर्तीकी आज्ञाको सिरपर धारणकर उसका पालन करना मेरा कर्तव्य है। उनके शोकको दूर करना आपका कर्तव्य है, यही न्यायसङ्गत है।

'मेरे पिताने मेरी माताको वर दिया। मेरी माताने मुझे वन जानेकी आज्ञा दी। मैंने वह आज्ञा शिरोधार्य की। सबके साक्षी बने हुए आप क्या मुझको रोकनेका विचार कर रहे हैं ?" उज्ज्वल धर्मकी रक्षाके लिये उत्पन्न श्रीरामके ये वचन सुनकर वसिष्ठ अवाक् रह गये।

प्रसङ्ग—१४. श्रीराम सीतासे माताकी आज्ञा बताते हैं—

मूल—"पोरु इल् एम्पि पुवि पुरप्पान्; पुकष्
इरुवर् आणैयुन् एल्लिनेन्; इन्रु पोय्
करुवि मामष् कल्-तरम् कण्डु, नान्
वरुवेन् ईण्डु; वरुन्तलै नी" एन्रान्.

भावार्थ—'मेरा अनुपम भाई भरत राज्य करेगा। अपने आश्रयभूत गुरुजनोंकी आज्ञासे मैं मेघावृत गहन वनमें जाऊँगा और उस वनको देखकर लौट आऊँगा। तुम दुखी मत होओ।'

सीता हठ करती है कि 'मैं भी वनमें साथ चलूँगी।' तब राम काननमार्गकी आपदाओंको बताकर सीताको अपने साथ चलनेसे रोकते हैं।

मूल—'वल् अरक्करिन् माल् वरै पोय् विषुन्दु
अल् अरनिकन् उरुक्कु अषल् काट्टु अदर्क्
कल् अरक्कुम् कडुमैय अल्ल—निन्
चिल अरक्कुंड चेवडिप् पोदु' एन्रान्.

भावार्थ—'शीतल अलक्तकसे सजे तुम्हारे मृदुल चरण इस योग्य नहीं हैं कि राक्षस-जैसे भयानक पर्वतोंमें पिघली हुई लाख-जैसे तपते पत्थरोंपर तुम चलो।'

अयोध्याकाण्ड पाँचवाँ (सुमन्त्र प्रत्यागमन-) पटल

प्रसङ्ग—१५. अयोध्याकी सीमातक रथमें गये राम सारथि सुमन्त्रको लौट जानेकी प्रार्थना करते हैं—

मूल—
"ऊनम् इल् पेरुम् गुणम् ओरुंगु उडैय उन्नाल्
सेल् निकष्वदु उण्डु; अन् उरै केळ्' एन विळम्बुम्;
'पुण्ड पेर् अन्पिनोरैप् पोक्कुवदु अरिदु; पोक्काडु,
ईण्डु निन्रु एकल् पोल्लादु; एन्दै ! नी इरतम् इन्ने
तूण्डिनै मीळ्वदु आक्किन्, सुवट्टै ओर्न्दु, एन्नै, आंगे
मीन्डनन्' एन्न सोल्वर; इदु निन्नै वेण्डिट्रु" एन्रान्.

भावार्थ—'हे सुमन्त्र ! तुम दोषहीन हो और सब गुणोंके आगार हो। तुम्हें एक काम करना है, सुनो—

'मुझपर गाढ़ प्रेम रखनेवालोंको लौटाकर भेजना कठिन है। इनको यहाँसे भेजे विना मेरा यहाँसे आगे जाना भी उचित नहीं है। अतः पितृतुल्य सुमन्त्रजी ! तुम अभी इस रथको लौटाकर ले चलो। रथके चिह्नको देखकर सब लोग यह समझेंगे कि मैं अयोध्याको लौट गया हूँ। इससे सारी जनता नगरको वापस चली जायगी। तुमसे यही मेरी प्रार्थना है।'

रामके ये वचन सुनकर सुमन्त्र अतीव दुखी होते हैं। अयोध्याकी शोकमयी स्थिति बताकर लौट जाना नहीं चाहते। उनकी व्यथा दूर करनेके लिये राम बहुतेरा समझाते हैं। तब उनके वचन ये थे—

मूल—"पिरत्तल् एन्रु उरट्पिन् पेरुव यावैयुम्
तिरत्तुळि उणर्वदु ओर चेम्मै उळ्ळत्ताय् !
पुरत्तुरु पेरुम्पषि पोदु इन्रु एय्तलुम्
अरत्तिनै मरत्तियो, अवलम् उण्डु एना" ?
"मुन्नुपु निन्रु इरौ निरीइ, मुडिवु मुट्रिय
पिन्पुम् निन्रु, उरुतियैप् पयक्कुम् पेररन्,
इन्पम् वन्दु उरुम् एनिन् इनियताम्, इडैन्
तुन्पम् वन्तु उरुम् एनिन्, तुरक्कल आकुमो ?"...

—इत्यादि ग्यारह पद्योंमें राम सुमन्त्रको समझाते हैं।

भावार्थ—'इस संसारमें हमारा जन्म हुआ है। उस जन्मके साथ घटित होनेवाली सब बातोंको उचित बुद्धिसे सोचकर समझनेकी शक्ति तुम रखते हो। यह सोचकर कि

विपदा उत्पन्न हुई है, क्या तुम असाधारण रूपसे उत्पन्न होनेवाले अपयशको एवं धर्मतत्त्वको भूल जाओगे ?

'श्रेष्ठ धर्म सब कार्योंसे आगे रहकर यशको स्थिर बनाता है और मृत्युके पश्चात् भी शाश्वत फल प्रदान करता है। ऐसे धर्मका आचरण करते समय, यदि सुख हो, तो हम उसका आचरण करेंगे; परंतु यदि कष्ट हो, तो क्या हमारे लिये उस धर्मको छोड़ देना उचित होगा ?

'शत्रुओंके उज्ज्वल शस्त्रोंको वीरताके साथ अपने बलपर सहन करना शूरता नहीं है। मृत्युका भी सामना होनेपर अथवा सारी सम्पत्तिको खोनेकी आवश्यकता पड़नेपर भी धर्मका परित्याग न करना ही यथार्थ शूरता है।

'शत्रुओंके शरीरको भेदकर उसमें स्थित प्राणोंके अपहारक भालेको धारण करनेवाले हे सुमन्त्र ! यदि मैं वनगमनसे होनेवाले कष्टोंका विचार करके नगरको लौट जाऊँगा, तो क्या वैवस्वत मनुका यह कुल, जिसकी कीर्ति स्वर्गतक फैली हुई है, धर्मच्युत नहीं कहलायेगा ?

'आचरणके लिये दुस्साध्य सत्यका अनुसरण करनेवाले चक्रवर्ती दशरथने अपने प्राणप्रिय पुत्रको वनमें भेज दिया !'—ऐसी प्रख्याति उन चक्रवर्तीके लिये एक श्लाघनीय तपस्या ही होगी। उनकी आज्ञाको शिरोधार्य करके वन जाना मेरे लिये भी तपस्या ही है। अतः मेरे पितृतुल्य सुमन्त्रजी ! तुम मेरे वनगमनसे दुखी मत होओ।

'अयोध्यानगरीमें लौटकर तुम प्रथमतः मुनिवर वसिष्ठजीको नमस्कार करना और मेरे प्रणाम एवं मेरे वचनोंको उन्हें सुनाना। उन मुनिवरसे यह निवेदन करना कि वे स्वयं चक्रवर्तीके पास जाकर मेरा मनोभाव उनसे प्रकट करें।

'मुनिवरके द्वारा ही मेरे प्रिय भाई भरतको यह संदेश देना कि वह नीतिमार्गपर दृढ़ रहकर वेदज्ञ ब्राह्मणों तथा स्वर्गलोकवासियोंके (देवताओंके) लिये हितकारी कार्य करे; तथा अपने भद्र आचरणसे, मेरे वियोगके कारण, जो दुःख सब लोगोंको सता रहा है, उसे दूर करे।

'तुम वसिष्ठजीसे यह कहना कि इस समय मेरे मनको यह बात थोड़ी भी पीड़ा नहीं दे रही है कि मेरी छोटी माताके कारण एक बड़ा दुःख मुझे मिला है। अतः मेरे प्रति उन (वसिष्ठजी) की जैसी कृपा है, वैसी ही कृपा उस कैकेयी अथवा भरतपर भी रखें।

'सुमन्त्र ! तुम यहाँसे लौटकर महान् तपस्वी वसिष्ठके साथ राजप्रासादमें जाना और मेरे पिताके अपार दुःखको शान्त करनेका उपाय करना। उन चक्रवर्तीकी कृपा मेरे प्रिय भाई भरतपर भी बनी रहे—ऐसा उपाय करना—यही मेरी प्रार्थना है।

'हमारे पूज्य चक्रवर्तीको वसिष्ठके द्वारा मेरा यह संदेश पहुँचा देना कि चौदह वर्ष बीत जानेके बाद मैं अयोध्याको लौट आऊँगा और उनके चरणोंको प्रणाम करूँगा; अतः वे दुखी न हों।

'मेरी तीनों माताओंको क्रमके अनुसार मेरा प्रणाम पहुँचाना, फिर चक्रवर्तीके दुःखको शान्त करते हुए उनके निकट रहना।'—इस प्रकार रामने जो वेदोंके लिये भी अज्ञेय हैं और अब वनमें जाकर रहते हैं, सुमन्त्रसे कहा।

अयोध्याकाण्ड, आठवाँ (गुह-) पटल

प्रसङ्ग—

१६. श्रीराम, सीता और लक्ष्मण—तीनों पदयात्रासे गङ्गाजीके तटपर पहुँचे। तापस और मुनिवर आकर उनसे मिले। तब परम भक्त गुह (निषादराज) उनकी सेवामें आकर खड़ा हो गया। लक्ष्मणद्वारा उसका परिचय पाकर श्रीराम अतीव प्रसन्न हुए।

फिर सिंह-सदृश वीर रामने कहा—'आज यहाँ रहकर हम कल गङ्गा पार करेंगे। अतः तुम अपने परिवारके लोगोंके साथ अपने नगरमें जाकर सुखसे वास करो और कल प्रातःकालके समय नौका लेकर गङ्गातटपर आ जाओ।'

[मेघश्याम श्रीरामके यह कहनेपर प्रेमविह्वल निषादपति गुहने भावविभोर होकर निवेदन किया—'सारे संसारके स्वामी ! आपको इस वेषमें देखकर भी अभीतक नीच मैंने अपनी इन आँखोंको नोचकर नहीं फेंक दिया। अब आपको छोड़कर मैं अपने आवासमें नहीं लौट सकता। प्रभु ! अपनी शक्तिभर आपकी सेवा करता रहूँगा। मुझे यहीं आपके श्रीचरणोंके पास रहनेकी अनुमति दीजिये।']

यह सुनकर रामने सीता और लक्ष्मणसे कहा—

मूल—''तीराक् कातलन् आकुम्'' एनुरु, कण्णियिन मलर्न्द कण्णन्, ''यातिनुम् इनिय नण्प ! इरुत्ति ईण्डु, एम्मोडु'' एनुरान्.

भावार्थ–'यह निषादपति अपार भक्तियुक्त है।' फिर करुणापूरित मनसे, विकसित पुष्प-जैसे नेत्रवाले श्रीरामने गुहसे कहा, 'सबसे उत्तम स्नेहगुणसे सम्पन्न मित्र! तुम यहीं मेरे पास रहो!'

तब गुहने श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया और उमड़ते आनन्दके साथ, समुद्रके समान फैली अपनी सेनाको बुलाकर श्रीरामचन्द्रके आवासके चारों ओर पहरा देते रहनेकी आज्ञा दी। वह गुह स्वयं हाथमें धनुष लेकर और उसपर शरको भी चढ़ाकर श्रीरामका अङ्गरक्षक बनकर द्वारपर खड़ा हो गया। साथ ही, गरजते मेघके समान स्वरमें श्रीरामके चरणोंकी स्तुति करता हुआ खड़ा रहा।

प्रसङ्ग–

१७. श्रीराम चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं। तब आदर्श भक्त गुह प्रार्थना करता है—'मुझे भी साथ ले चलिये, मैं आप तीनोंकी सेवा करके जन्म-साफल्य पाऊँगा।' तब राम गुहका स्नेह सराहते हुए कहते हैं—

मूल–**''एनू उयिर अनैयाय् नी; इळवल् उन् इळैयान्; इन् नन्नुतलवळ् निन् केळ्; नळिर् कडल् निलम एललाम् उन्नुडैयदु; नान् उन् उरिमैयिन् उळेन्'' एन्ना।**

—इत्यादि चार पद्योंमें श्रीराम अपना उद्‌गार प्रकट करते हैं। उन पद्योंका भावार्थ यह है—

भावार्थ–

'तुम मेरे प्राणतुल्य हो, मेरा अनुज तुम्हारा अनुज है। सुन्दर ललाटवाली यह सीता तुम्हारी भाभी है। शीतल समुद्रसे घिरी सारी धरती तुम्हारी सम्पत्ति है। मैं तुम्हारी सेवाके स्वत्वाधिकारमें बँधा हुआ हूँ।

'जब दुःख हो, तभी सुख होता है। अतः यह सोचकर कि मैं तुमसे बिछुड़कर गया, तो फिर वापस आकर मिलूँगा ही नहीं, तुम दुःख मत करना। हमारा सम्मिलन फिर अवश्य होगा। तुम स्नेही स्वजनसे मिलनेके पूर्व हम चार भाई थे। अब तो अन्तहीन सुदृढ प्रेमसे आबद्ध हम पाँच भाई हो गये हैं—तुमको मिलाकर!

'उज्ज्वल तीक्ष्ण भालेको धारण करनेवाले गुह! जबतक मैं वनमें निवास करूँगा, तबतक तुम्हारा भाई यह लक्ष्मण मेरे कष्टोंका भार वहन करनेके लिये मेरे साथ रहेगा। मुझे दुःख देनेवाले शत्रु कहाँ हैं? तुम जाओ और मेरे-जैसे ही अपने आश्रित जनोंकी रक्षामें निरत रहो। जब मैं उत्तरकी ओर लौटकर आऊँगा, तब तुम्हारे आवासमें आकर ठहरूँगा। अपने दिये वचनसे मैं कभी विमुख नहीं होऊँगा।

'तुम्हारा भाई भरत अयोध्याकी प्रजाकी रक्षा करनेके योग्य गुणोंसे सम्पन्न है। यहाँके बन्धुओंकी रक्षा करनेवाला तुम्हारे सिवा कौन है? इसलिये तुम जाओ, तुम्हारे बन्धु मेरे बन्धु हैं, वे लोग दुखी होंगे। मेरी आज्ञासे यहाँके मेरे प्रिय जनोंकी रक्षा करते हुए तुम यहाँ रहो।'

अयोध्याकाण्ड, नवम (वनप्रवेश-) पटल

प्रसङ्ग–१८. चित्रकूट जाते समय राम, सीता और लक्ष्मण—तीनों वनमार्गमें चलते हैं। वनकी सुषमाका सुन्दर वर्णन करके श्रीराम सीताको प्रोत्साहित करते हैं। सोलह पद्योंमें रामद्वारा किये गये वनवर्णनका प्रसङ्ग है।

मूल–

''मनूरलिन् मलि कोलाय्! मयिल् इयल मड माने!
इन् तुयिल वदि कोपत्तु इनम् विरिवानम् एंगुम्,
कोनूरै कळ् चोरिपोतिन् कुप्पैकळ, कुल मालप्
पोन् तिणि मणि मानप् पोलिवन–पल–काणाय्!

—इत्यादि।

भावार्थ–तब रामचन्द्र सीताको वनके विविध दृश्य दिखाने लगे। सुगन्धित पुष्पमाला धारण करनेवाली! मोरनी-तुल्य सुन्दरि! यौवनपूर्ण हरिणके समान दृष्टिसे शोभायमान! देखो, मीठी नींदमें अलसाये ये इन्द्रगोप (बीरबहूटी) सर्वत्र फैले हुए हैं। कनैलके सुनहले कुसुमोंकी राशियाँ पड़ी हैं। इन सबका दृश्य ऐसा ही है, जैसे अनेक रत्न-जटित स्वर्णहार पड़े हों।

'भ्रमरोंके गुञ्जन और मेघध्वनिरूपी मृदङ्ग-वाद्यके साथ अपने पंख फैलाकर मनोहर ढंगसे नाचनेवाले ये लजीले मयूर, जैसे तुम्हारे सौन्दर्यको अनेक नेत्रोंसे देखकर आनन्दित हो रहे हैं।'—इत्यादि।

यों सुन्दर दृश्य देखते हुए और उनका वर्णन करते हुए श्रीराम अपने भाई और पत्नीके साथ चित्रकूट पर्वतके पास आ गये।

अयोध्याकाण्ड, दसवाँ (चित्रकूट-) पटल

प्रसङ्ग—१९. पूर्ववत् श्रीराम चित्रकूटके प्राकृतिक सौन्दर्य सीताको दिखाते हुए उसका रुचिर वर्णन करते हैं। छत्तीस पद्योंमें रामका चित्रकूट-वर्णन है ।

मूल—

"वाळुम् वेलुम् विट्टु अळायिन अनैय कण् मयिले !
ताळिन् एलमुम् तमालमुम् तोडर्तरु चारल्
नीळ मालैय तुयिलवन नीर् उण्ड कमलम् चूल्-
काळमेघमुम् नागमुम् तेरि किल—काणाय् !······
—इत्यादि ।

भावार्थ—'खड्ग और बरछा—दोनों एक साथ रक्खे गये हों, ऐसे लगनेवाले नेत्रोंसे युक्त हे सीता ! इस पर्वतकी तलहटी-में इलायचीकी लताएँ तथा तमाल फैले हैं। इस पर्वतकी चोटियोंपर सोनेवाले जलभरे मेघों एवं हाथियोंमें कोई भेद दिखायी नहीं पड़ता।

'सुनयने सीते ! इस उन्नत चित्रकूट पर्वतपर उछल-कूद करनेवाला पहाड़ी बकरा मूर्तिमान् कृष्णयजुर्वेदके समान दीखता है और वह शोभायमान मरकत-रत्नोंके कान्तिपुञ्जसे आवृत होकर, सूर्यदेवके हरितवर्ण अश्वके समान दिखायी पड़ता है ।

'रत्नहारसे विभूषित वक्षःस्थलवाली हे मोरनी ! मत्त गजोंको भी निगलनेवाले विशाल उदरवाले अजगरोंकी केंचुलियाँ—वह देखो ! बाँसोंके झुरमुटोंमें लगी हुई हिल रही हैं। वे केंचुलियाँ उद्यान-उपवनोंसे घिरी अयोध्या नगरीके सौधोंपर फहरानेवाले श्वेतपटके झंडों-जैसी तो नहीं लग रही हैं ?'······इत्यादि ।

प्रसङ्ग—२०. चित्रकूटके पास लक्ष्मण परिश्रम करके पर्ण-कुटी बना देते हैं। श्रीराम और सीताके उसमें आरामसे रहनेकी सुविधाएँ भी कर देते हैं। स्नेह तथा आदरके साथ की गयी अपने अनुजकी इस सेवाको देखकर श्रीराम भाव-विभोर हो जाते हैं। तब उनका उद्गार यही निकलता है ।

मूल—"एनूरु चिन्तित्तु इळैयवर् पार्तु, 'इरु
कुनूरु पोलक् कुववियं तोळिनाय् !
एनूरु कट्रनै नी इदु पोल् ?'' एनूरान्—
तुनूरु तामरैक् कण् पनि चोर्किन्ूरान्.
"अडरुम् चेल्वम् अळित्तलन् आणैयाल्
पडरुम् नल् अरम् पाळित्तु हरवियिन्
चुडरुम् मेय्प् पुकष् चूडिनेन् एनूपदु एन ?
इडर् उनक्कु इळैत्तेन् नेडु नाळ्,''—एनूरान्

भावार्थ—'सीतादेवीके पुष्पसे भी कोमल चरण काँटों और कंकड़ोंसे भरे ऊबड़-खाबड़ अरण्यमार्गमें चलकर अधिक क्लेशित होते हैं। उस सीताका और मेरा दुःख दूर करनेके लिये मेरे दोषहीन भाईके करोंने यह पर्णशाला बना दी। अहो ! जिनके कोई सहायक नहीं होता, उन्हें भी आवश्यक सुविधाएँ मिल जाती हैं—समीपवर्ती पदार्थ ही उनकी सब आवश्यकताएँ पूर्ण कर देते हैं'—यह विचार करके, फिर रामने लक्ष्मणसे कहा, 'दो पर्वतोंके समान पुष्ट कंधोंवाले भैया ! तुमने ऐसी सुन्दर पर्णशाला बनाना कब सीखा ? ········!'—यह कहते-कहते श्रीरामके विशाल कमलनयनोंसे आँसू बरस पड़े ।

उन्होंने फिर कहा, 'प्रिय भाई ! अपार सम्पत्तिको प्रदान करनेवाले पिताजीकी आज्ञासे वनमें आकर उत्तम धर्मका पालन करते हुए मैंने, सूर्यके समान उज्ज्वल सत्यरूपी यशको प्राप्त किया—ऐसा कह-लेनेमें क्या तथ्य है ? वह क्या अर्थ रखता है ? मैं तो कई दिनोंसे तुमको कष्ट ही देता आ रहा हूँ ।'—इस प्रकार रामचन्द्रजीने बड़ी वेदनाके साथ कहा ।

लक्ष्मण इसका विनयके साथ उत्तर देते हैं, 'इन सारे कष्टोंका कारण आप नहीं, कैकेयीका वर ही है। अतः आप चिन्तित न हों ।'

दोनोंके मनमें इस सम्बन्धमें विविध विचार उमड़ आते हैं। श्रीराम सोचने लगे कि 'इस लक्ष्मणके मानसिक कष्टको दूर करना असम्भव है ।' इसी विचारके साथ राम लक्ष्मणसे कहते हैं—

मूल—पिन्नुम् तम्बियै नोक्कि, पेरियवन्
"मन्नुम् चेल्वत्तिनर्क्कु उण्डु वरम्पु; इतनर्कु
एन्न केडु उण्डु ? इव् एल्लैयिल् इन्पत्तै
उन्नु, मेल् वरुम् ऊतियत्तोडु" एनूरान्.

'संसारमें प्राप्त होनेवाली सम्पत्ति सीमाबद्ध होती है। किंतु भविष्यमें अपार आनन्द उत्पन्न करनेवाले हमारे इस वनवासरूपी सुखके बारेमें विचार करके देखो, इसमें क्या कमी है ?'

अयोध्याकाण्ड, चौदहवाँ (पादुका-पट्टाभिषेक-) पटल)

प्रसङ्ग—२१. भरत श्रीरामके संदर्शन करने और उनको वापस लानेके लिये पूरी सेना तथा परिवारजनोंके साथ

चित्रकूटकी ओर आ रहे हैं। उन्हें देखकर लक्ष्मण इस संदेहसे क्रोधित हो जाते हैं कि भरत श्रीरामपर चढ़ाई करने आते हैं। तब राम लक्ष्मणको समझाते हैं और भरतकी गरिमाका बखान करते हैं।

मूल—"इलक्कुव ! उलकम् ओर् एष् नू, एष् म, नी,
'कलक्कुवन्' एनूपदु करुतिनाल्, अदु
विलक्कुवदु अरिदु; अदु विळम्बल् वेण्डुमो ?—
पुलक्कु उरित्तु ओरु पोरुळ्, पुकलक्, केट्टियाल्;
"नम् कुलत्तु उदित्तवर, नवैयिन् नीं गिनर्
एंगु उलप्पुरुवर्हळ् ? एण्णिन्, थान्रे
तम् कुलत्तु ओरुव अरुम् धरुमम् नीं गिनर् ?—
पोंगु उलत्तिरळोडुम् पोरुत्त तोळिनाय् !
—इत्यादि छः पद्योंमें रामके वचन वर्णित हैं।

भावार्थ—भरतपर क्रोधाविष्ट लक्ष्मणको देखकर श्रीरामने कहा, 'लक्ष्मण! यदि तुम चौदहों लोकोंको हिला देना चाहो तो तुम्हारे इस निश्चयको कोई रोक नहीं सकता। उसके बारेमें कुछ कहनेकी क्या आवश्यकता है ? पर मैं तुमसे एक उचित वचन कहना चाहता हूँ, इसे सुन लो।

'उन्नत कंधोंवाले लक्ष्मण ! हमारे कुलमें जो निष्कलङ्क गुणवाले राजा उत्पन्न हुए, उनकी गणना नहीं हो सकती; हमारे कुलमें कौन ऐसा हुआ, जो अपने कुलधर्मसे हटा हो ? तालवृक्ष-जैसी सूँडोंवाले हाथियोंकी सेनासे युक्त भरतने जो कार्य किया है, वह वेदविहित धर्मके अनुकूल ही है। तुम जैसा कहते हो, वैसा नहीं है—अर्थात् वह अधर्मकार्य नहीं है। इस सत्यको तुमने मेरे प्रति प्रेमाधिक्यके कारण सोचा नहीं।

'भरत मुझपर प्रेमके कारण ही यहाँ आयेगा और राज्य मुझे सौंप देगा—यों सोचनेके बदले क्या यह सोचना बुद्धिमत्ता है कि वह भरत सेनाके साथ आकर मुझसे युद्ध करेगा ?

'वीरवर लक्ष्मण ! उत्तम धर्मदेवता-जैसे एवं सदाचारी भरतके सम्बन्धमें इस प्रकार विपरीत सोचना क्या उचित है ? उसका यहाँ आना मुझे देखनेके लिये ही है, इसे तुम अभी समझोगे।'

प्रभु लक्ष्मणसे यों कहते रहे—इसी समय, भरत अपनी सेनाको पीछे छोड़कर अपनेसे कभी पृथक् न होनेवाले प्रेमयुक्त भाई शत्रुघ्नको साथ लेकर आगे बढ़कर श्रीरामचन्द्रके समीप आ पहुँचे। नमस्कारकी मुद्रामें दोनों हाथोंको जोड़, अञ्जलिबद्ध होकर शिथिल देहवाले, अश्रुपूर्ण नेत्रोंवाले तथा साकार दुःख बने हुए चित्र-जैसे आनेवाले भरतको सर्वज्ञ प्रभुने आँखें फाड़कर पूर्ण रूपसे देखा।

फिर मेघश्याम रामने लक्ष्मणसे कहा—

मूल—"कार्प् पोरु सेनि अक् कण्णन् काट्टिनान्,
'आर्प्पुं उरु वरि शिले इळैयऐय नी !
तेर्पॆरुन्तानैयाल् भरतन चीरित्र
पोर्प्पॆरुम् कोलत्तैप् पोरुन्त नोक्कु," एना

भावार्थ—'भाई ! वह देखो, मेरे प्राणप्रिय भरतको देखो ! रथ आदिकी विपुल सेनाको लेकर यह भरत कितने क्रोध और युद्धाभिसंधिके साथ मुझसे लड़ने आ रहा है, देखो ! कैसा युद्धोचित वेष धारणकर यहाँ आ रहा है, देखो !'

यह सुनकर लक्ष्मणका सारा क्रोध उतर गया। वे लज्जित-से हुए। उनका धनुष तथा अश्रु दोनों धरतीपर गिर पड़े।

प्रसङ्ग—२२. भरतके मुँहसे चक्रवर्ती दशरथकी मृत्युका समाचार सुनकर शोकविह्वल राम प्रलाप करते हैं। महाकवि कम्बने इस राम-विलापको सात पद्योंमें प्रस्तुत किया है। पहला पद्य है—

मूल—"नन्दा विळक्कु अनैय नायकने : नानिलत्तोर
तन्ताय् ! तनि अर त्तिन् ताये ! दया निलये !
एन्ताय् ! इकल् वेन्तर एरे ! इरन्तनैये !
अन्तो ! इनि, वाय् मैक्कु आर उळरे मट्रू ?" एन्रान्
—इत्यादि।

भावार्थ—अखण्ड दीप-सदृश हे शासक ! संसारके निवासियोंके लिये पितृतुल्य ! अनुपम धर्मके लिये माता बननेवाले ! दयानिलय ! मेरे पिता ! शत्रुरूपी हाथियोंके लिये सिंह बननेवाले ! तुम मृत हो गये। अब सत्यका यथार्थ आश्रय और कौन बनेगा ?...'—इत्यादि।

इस प्रकार विविध वचन कहकर विलाप करनेवाले रामको भाइयों तथा वहाँ आये हुए सामन्तोंने जाकर सँभाला, तब महान् तपस्वी वसिष्ठ उन्हें सान्त्वना देने लगे।

प्रसङ्ग—२३. दूसरे दिन, राम भरतसे उसके तापस वेषका कारण पूछते हैं—

मूल–"वरदन् तुंचिनान्, वैयम् आणेयाल्,
शरतम् निरुते, मकुटम् तांगलाय्,
चिरतवेडम्, वी पुनैकोल मेविनाय् ?
भरत ! कूरु' एनाप् परिन्तु कूरिनान्"

भावार्थ–"भरत ! सबके अभीष्ट पूर्ण करनेवाले चक्रवर्ती मर गये । उनकी आज्ञासे सारी पृथ्वी तुम्हारी हुई है । फिर, तुमने किस कारणसे मुकुट धारण न करके यह मुनिका वेष अपनाया है ?'

प्रसङ्ग–२४. भरत रामसे प्रार्थना करते हैं कि वे अयोध्याको लौट चलें और धर्मक्रमानुसार अपना शासनाधिकार स्वीकार कर लें । तब श्रीराम भरतको समझाते हैं—

मूल–"मुरै युम् वाय्मैयुम् मुयलुम् नीतियुम्
अरैयुम् मेनूमैयोडु अरलुम् आदि याम्
तुरैयुळ् यावैयुम् श्रुरुति नूल् विडा
इरैवर् एवलाल् इयैव कांडियाल्,

—इत्यादि सात पद्योंमें राम भरतको समझाते हैं ।

भावार्थ–'तात ! सदाचार, सत्य, सबके लिये अनुसरणीय न्याय, उत्तम धर्म इत्यादि वेदों तथा शास्त्रोंके अनुकूल चलनेवाले राजाके सुशासनसे ही तो प्रकट होते हैं।

'दृढ़ धनुर्धारी ! प्रशंसनीय शास्त्रोंका अध्ययन, दोषहीन ज्ञान, सच्चरित्रता, उत्तम आचरण—ये सब वन्दनीय गुरुजन ही हैं ।

'शास्त्रज्ञानके अभिज्ञ भाई ! माताने वर माँगा । पिताने भी आज्ञा दी । अपने उत्तम कुलकी नीतिके उपयुक्त कार्य ही मैंने किया । अब तुम्हारी प्रार्थनासे इस कार्यको छोड़ना क्या उचित होगा ?

'भाई ! पुत्रोंका कर्तव्य अपने कार्यसे माता-पिताकी कीर्तिको बढ़ाना होता है, या कभी न मिटनेवाला अपयश उत्पन्न करना है ?

'क्या मेरे लिये यह उचित है कि पिताके वचनको भुलाकर मैं वैभव तथा ऐश्वर्यपूर्ण राजभोगका उपभोग करता हुआ शासन करूँ और उससे इस लोकमें पिताको असत्यवादी तथा परलोकमें कठोर नरकभोगी बना दूँ ?

'पिताके दिये वरके अनुसार पृथ्वीका राज्य तुम्हारा है । तुम उस राज्यका निर्वाह करने योग्य शक्ति तथा सामर्थ्यसे युक्त भी हो । अतः अयोध्याराज्य तुम्हारा है, तुम राज्य करो ।'—रामने यों कहा तब भरतने बद्ध होकर सविनय कहा—

'तीनों लोकोंमें भी आपकी समता रखनेवाले हैं । आप मेरे बड़े भाई बनकर अवतीर्ण हुए राज्य—सम्पत्ति मेरी ही रहे, तो क्या हुआ ? अब आपको सौंप दिया है । राजन् ! आप अयोध्या मुकुट धारण कर लें । आपके वियोगसे सारा संसार हो रहा है । इस व्याकुलताको शान्त करते हुए अ चलिये और संसारकी रक्षा कीजिये ।'—यों कहक श्रीरामचन्द्रके मनोहर चरणोंको पकड़ लिया । त भरतसे कहा—

मूल–"पशैन्त चिन्तैनी परिविल् वैयम्
वशम् वेय् दाल्, अदु मुरैमैयो ? वशै
अशैन्त एन्तैयार भल्ल, अनुरु न
इशैन्त आण्डु एलाम् इनूरोडु पुरुमो

—इत्यादि चार पद्योंमें राम भरतको समझाते

भावार्थ–'मुझपर प्रेम होनेके कारण यदि तुम मेरे प्रति सौंप दोगे, तो क्या यह न्यायसंगत होगा ? डरकर पिताजीने जो वर दिया, उसको मानकर जिस व लिये मैं आया हुआ हूँ, क्या अब राज्य स्वीकार उस वनवासकी अवधि पूरी हो जायगी ?

'संसारमें क्या सत्यके अतिरिक्त अन्य कोई पर् है ? उस सत्यसे दुर्गुण भी मिट जाते हैं, किंतु सत् हानि नहीं होती है । तुम ठीक विचार कर देखो ।

'पिताकी आज्ञाके अनुसार मैं चौदह वर्ष वनमें करूँगा । तुम मेरी आज्ञासे इन चौदह वर्षोंतक विचलित न होते हुए पिताके दिये गये पालन करो ।······'

इस समय भरत आग्रह करके श्रीरामको अप ले चलनेके लिये कुछ कहना चाहते हैं; तब कुलगुरु भरतको शान्त करके रामसे यों कहने लगे—'गुरु होने मैं कहता हूँ कि 'तुम लौटकर राज्यका सुशासन गुरुकी आज्ञा पालनीय है ।'

तब राम वसिष्ठको प्रणाम करके उनसे निवेदन क

मूल—"आरिय चिन्तनै अरिञ ! ओनूरु उरै कूरुवदु उळदु" एनक्कु कूरल सेप्पिनान्. "चानूरवर् आक, तन कुरवर् आक, ताय् पोनूरवर् आक, मेय्प् पुतल्वराक, तान् तेनूतरु यलरुळान् चिरुव !—'चेय्वेन्'-एनूरु एनूरपिन् अव् उरै मरुक्कुम् ईट्ट दो ?

—इत्यादि चार पद्योंके द्वारा रामवचन अभिव्यक्त हुए हैं।

भावार्थ—'मधुपूर्ण कमलपर आसीन ब्रह्माके पुत्र ! चाहे कोई बड़े हों—गुरु हों, माता-पिता हों, सत्यपरायण पुत्र हों, चाहे कोई भी हों, किसीके लिये भी 'मैं यह कार्य करूँगा !'—यों प्रतिज्ञा कर लेनेपर उस प्रतिज्ञाको तोड़ना उचित नहीं है।

'माताकी आज्ञाको तथा पिताद्वारा अनुमत कार्यको जो पुत्र पूर्ण नहीं करता, उसके-जैसा पापी बनकर रहनेकी अपेक्षा कर्तव्य-अकर्तव्यके ज्ञानसे विहीन कुत्ता बनकर सर्वत्र भटकते रहना अच्छा है।

'पहलेसे ही माता-पिताकी आज्ञाको मैंने अपने सिरपर धारण कर लिया है। उसके पश्चात् आप अब दूसरी आज्ञा दे रहे हैं। महात्मन् ! अब मेरा कर्तव्य क्या है ? आप ही बतायें।'

तब वसिष्ठ रामकी प्रतिज्ञाके विरुद्ध कुछ नहीं कह सकनेके कारण मौन हो गये। उस समय भरतने कहा—'यदि ऐसी बात है, तो जो चाहे राज्य करे। मैं तो अपने बड़े भाईके साथ ही इस भयंकर वनमें रहूँगा।'

तब रामने भरतको समझाते हुए कहा—

मूल—······"मरुक्कपोलदु अनूरु;
यान् उनै इरन्तनेन्; इनि एनू आणैयाल्
आनदु ओर असैतियिन् अळित्ति, पार्" एना···,

'देवताओंके ये वचन—'राम पिताका वचन सुरक्षित करते हुए इस वनमें रहें और भरतका कर्तव्य है कि वे चौदह वर्षपर्यन्त राज्यकी रक्षा करें।'—उपेक्षा करने योग्य नहीं हैं। मेरा भी तुमसे यही आग्रह है। अब मेरी आज्ञासे तुम सुचारु रूपसे पृथ्वीका राज्य करो'—यों कहकर रामने भरतको अपनी बाँहोंमें भर लिया।

भरतने विवश होकर श्रीरामसे उनकी पादुकाएँ माँगीं। रामने दे दीं। भरतने आँसू बहाते हुए धूलि-धूसरित शरीरके साथ प्रभुकी दोनों पादुकाओंको सर्वोत्तम किरीट मानकर अपने सिरपर धारण कर लिया। फिर, धरतीपर गिरकर श्रीरामचन्द्रके प्रति साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे लौट चले।

अरण्यकाण्ड

अरण्यकाण्ड, तीसरा (अगस्त्य-) पटल

प्रसङ्ग—२५. राम दण्डकवनमें पहुँचे। वहाँके ऋषि-मुनि जब आकर रामसे राक्षसोंके उपद्रवके बारेमें शिकायत करते हैं, तब राम उनको आश्वासन देते हैं—

मूल—"पुक्कल् पुकुन्तिलरेल, पुरत्तु अंडत्तिन्
अकलुवरेनुम्, एन् अम्पोडुम् वीळ्वराल;
तक्कु इल् तुनूपम् तविरुतिर् नीर्" एना,
"वेन्तन् वीयवुम्, ताय् तुयर मेववुम्
एन्तल एम्पि वरुन्तवुम्, एन् नकर
मान्तर् वन् तुयर् कूरवुम्, यान् वनम्
पोन्तदु, एन्नुडैप् पुण्णियत्ताळ्" एनूरान्

—इत्यादि नौ पद्योंमें रामके वचन अङ्कित हैं—

भावार्थ—सूर्यकुलमें उत्पन्न वीर रामने कहा—'यदि वे राक्षस मेरी शरणमें आकर क्षमा नहीं माँगेंगे, तो भले ही वे इस ब्रह्माण्डको छोड़कर बाहर भी क्यों न भाग जायँ, मेरे बाण खाकर नीचे गिर पड़ेंगे। अब आपलोग इस अनुचित पीड़ासे मुक्त हो जाइये।

'मेरी माताका वर माँगना, मेरे पिताकी मृत्यु होना, मेरे गौरवपूर्ण भाई भरतका दुखी होना, मेरे नगरनिवासियोंका अत्यन्त वेदनासे व्यथित होना—इस सबके होते हुए भी मेरा वनगमन मेरे पुण्योंका ही फल है।

'यदि मैं उन राक्षसोंकी शक्तिका समूल नाश न करूँ, जो धर्मसे कभी विचलित न होनेवाले मुनियोंके महत्त्वको भूलकर स्वयं नीच बनकर उन्हें सताते हैं, तो मेरे लिये यही उचित होगा कि मैं उनके हाथ मर जाऊँ; अन्यथा मनुष्य-जन्म पानेसे मुझे क्या सुकृत—पुण्य मिलेगा ?

'उत्तम वेदज्ञ आप महानुभाव भी उन राक्षसोंके कबन्धोंको नाचते हुए सहर्ष देखेंगे। तभी दृढ़ धनुष तथा अनिवार्य बाणोंसे भरे तूणीरोंका वहन करनेवाली मेरी भुजाओंकी पीड़ा दूर होगी।'

'गो-ब्राह्मणों तथा अन्य साधु-सज्जनोंकी रक्षाके लिये जो

भावार्थ—'क्रूर राक्षसी ! संसारके सब प्राणियोंको दुःख देनेवाली क्रूर राक्षसी, तुम्हारी माताकी जननी ताड़काके प्राण जिस शरने हर लिये थे, वह अभीतक मेरे पास ही है। इतना ही नहीं, भुजबलसे युक्त तथा पुष्पमालाओंसे भूषित क्रूर राक्षसोंके कुलका विनाश करनेके लिये ही मैं उत्पन्न हुआ हूँ। तू अपना क्षुद्र व्यवहार छोड़ दे।

'हम चक्रवर्ती दशरथके पुत्र हैं और माताकी आज्ञा शिरोधार्यकर इस सुगन्धित वनमें आये हुए हैं। वेदज्ञों तथा तपस्वियोंके कहनेसे हम अपार सेनासमेत राक्षसोंके वंशका विनाश करेंगे और उसके पश्चात् ही पर्वतसदृश सौधोंवाली अयोध्या नगरीमें प्रवेश करेंगे—इसे ठीक समझ ले!

'राक्षसोंके सम्मुख सन्मार्गपर चलनेवाले देवतालोग खड़े नहीं रह सके और पराजित होकर भाग गये, तब यहाँ ये मनुष्य क्या कर सकेंगे?' ऐसा विचार तू मत कर। यदि तू शक्तिमान् है तो जा; क्रोधी, तीक्ष्ण शस्त्रधारी राक्षसोंमें तथा बलवान् यक्षोंमें जो अत्यन्त शक्तिमान् तथा पराक्रमी हैं, उन्हें ले आ! हम उन सबका विनाश कर देंगे।'

अरण्यकाण्ड, ग्यारहवाँ (मारीचवध-) पटल

प्रसङ्ग—२९. पञ्चवटीमें राक्षस मारीच स्वर्णमृगका रंग धारणकर सीताको चकमा देनेके लिये विचरता है। सीता उसे देखकर उसपर मुग्ध हो जाती हैं और उसे पानेकी अभिलाषा श्रीरामसे प्रकट करती हैं। तब उस मायावी मृगको देखकर लक्ष्मण कहते हैं, यह मायामय मृग है, इसे यथार्थ मृग नहीं मानना चाहिये।

इसपर श्रीराम कहते हैं—

मूल—"निल्ला उलकिन् निलै, नेमैयिनाल
वल्लारुम् उणर्न्तिलर्; मन् उयिर् ताम्
पल आयिर कोटि परन्तुळवाल्;
इल्लातन इल्लै—इळंकुमरा!
"एन् एनूरु निनैत्तदु, इळैत्तु उळम्? नम्
कन्नंगळिन् वेरु उळ काणुदुमाल्;
पोन्निन् ओळि मेनि पोरुन्तिय एष्
अन्नंगळ् पिरन्तदु अरिन्तिलैयो?
'मुरैयुम् मुडिवुम् इलै, मोय् उयिर्" एनूरु।

भावार्थ—'प्रिय भाई! यथार्थ विवेकसे सब कुछ जाननेवाले व्यक्ति भी इस अस्थिर संसारकी दशाको पूरा-पूरा नहीं जान सकते। इस संसारमें अनेक सहस्र कोटि प्राणी हैं। अतः संसारमें कोई वस्तु असम्भव है—ऐसी बात नहीं है।

'तुम्हारा मन क्या कहता है? हम अपने कानोंसे सृष्टिकी विचित्र वस्तुओंके बारेमें सुनते हैं। क्या तुम नहीं जानते कि पूर्वकालमें (कौशिक ऋषिके शापग्रस्त सात पुत्र) स्वर्णहंस पैदा हुए थे! सृष्टिके प्राणियोंकी कोई रूप-व्यवस्था या कोई सीमा नहीं है।'

इतनेमें मुग्धा सीतादेवी चिन्ता करने लगी कि वह स्वर्णमृग वनमार्गोंमें जाकर कहीं अदृश्य न हो जाय।

देवीका मनोभाव जानकर श्रीरामने पूछा—'देवि! कहाँ है वह हरिण? मुझे दिखाओ।' और वे उस हरिणकी ओर चल पड़े। लक्ष्मण चिन्तित होकर अपने बड़े भाईके पीछे-पीछे चले। उस समय वह मायामृग दिखायी पड़ा। उसे देखकर बिना विचारे राम मुग्ध होकर कह उठे—

मूल—"नन्रु इदु!
एन् ओक्कुम् एन्नल् आकुम्? इळैयव! इतने नोक्काय्;
तन्नोकुम् उवमै अल्लाल्, तनेयोक्कुम् उवमै उण्डो?
पल् नक्क तरळमोक्कुम्; पशुम् पुल् मेल् पटरुम् मेल ना
मिन् ओक्कुम्; चेम्पोन्, मेनि; वेळ्कयिन् विळंगुम् पुळ्ळि

—आदि दो पद्योंमें राम उस हरिणका वर्णन करते हैं।

भावार्थ—'अहो! यह तो बहुत सुन्दर है। भाई! उस सुन्दर हरिणको देखो, इसकी उपमा क्या हो सकती है? इसका उपमान यह स्वयं है। इसके दाँत उज्ज्वल मुक्ता-तुल्य हैं। हरी घासपर बढ़ायी गयी इसकी जीभ बिजली-जैसी है। इसकी सुन्दर देह अरुण स्वर्णके तुल्य है, जिसपर चाँदीकी-सी चित्तियाँ शोभित हो रही हैं।

'दृढ़ धनुर्धारी! इस हरिणकी सुन्दरताको देखनेपर स्त्री हो या पुरुष—कौन इसपर मुग्ध नहीं होगा। सब प्रकारके प्राणी इसे देखकर मुग्ध हो जाते हैं और इस प्रकार आकर इसे घेर लेते हैं, जैसे कि दीपकपर पतंग आकर गिरते हैं।'

तब लक्ष्मणने कहा, 'यह मृग कितना ही सुन्दरतम हो, इससे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। चलें, हम इसका पीछा करना छोड़कर लौट जायँ।'

बीचमें सीताजी अधीर होकर पतिदेवसे कह उठीं—

'हे चक्रवर्ती-पुत्र! मनमोहक इस हरिणको शीघ्र पकड़

श्रीरामचन्द्र अत्यन्त क्रोधित हो जाते हैं। तब वे रोषपूर्ण वचन बोले—

मूल—"पेण् तनि ओरुत्तितनै, पेतैनाळ् अरक्कन् पट्रिक्
कोण्डनन् एक, नी इक् कोळुर, कुलुंकल् चेह्ला
एण् तिशै इरुति आन उलकंगळ् इवट्रै, इन्ने
कण्ड वानवर् कलोडुम् कलैयुमारु, इन्रु काण्डि

"तारकै उतिरुमारुम्, तनिक् कदिर् पितिरुमारुम्
पेर् अकल् वानम् एंगुम् पिरंगु एरि पिरक्कुमारुम्
नी रोडु निलनुम् कालुम्, निन्रवुम् तिरिन्त यावुम्
वेरोडुम् परियुमारुम्, विण्णवर् विलियुमारुम्

"इक् कणम् ओन्ररिल् निन्र एषिनोडु एयु मेल्कीष्
मिक्कन पोन्रु तोन्रुम्, उलकंगळ वीयुमारुम्
तिक्कुडै अण्डकोळप् पुरत्तवुकुम् तीन्दु, नीरिन्
मोक्कुलिन् उडैयुमारुम्, काण्!" एन, मुनियुम् वेलै

भावार्थ—'एक अज्ञात राक्षस एक निस्सहाय स्त्रीको उठाकर ले गया और तुम्हारी ऐसी दशा हुई। तो भी आठों दिशाओंमें स्थित ये सब लोक विचलित हुए विना अबतक स्थिर खड़े हैं। देवतालोग अत्याचारको देखते हुए चुपचाप खड़े रहे। देखो, अभी मैं इन सबको विध्वस्त कर डालता हूँ।

'अभी तुम देखोगे कि सब नक्षत्र टूटकर गिर पड़ते हैं। अनुपम किरणवाला सूर्य चूर-चूर हो जाता है, विशाल आकाशमें सर्वत्र आग लग जाती है। जल, पृथ्वी, अग्नि, आकाश और पवन एवं सब अचर-चर वस्तुजाल समूल विनष्ट हो जाते हैं और देवतालोग मिट जाते हैं—यह सब तुम अभी देखोगे।

'पूज्य पितृतुल्य (जटायु)! तुम यह भी देखोगे कि किस प्रकार स्थित रहनेवाले तथा महान् लगनेवाले ये चतुर्दश लोक एक क्षणमें मिट जाते हैं। अष्ट दिशाओंकी सीमामें स्थित तथा ब्रह्माण्डके बाहर स्थित पदार्थ ही एक क्षणमें जलकर भस्म हो जाते हैं—यह सारा दृश्य तुम अब देखनेवाले हो।'

—इस प्रकार रामने क्रोधके साथ जटायुसे कहा।

प्रसङ्ग—३१. जटायुका प्राणोत्सर्ग हो गया। उसके वियोगसे श्रीराम अतीव दुखी हो गये। असह्य वेदनासे वे शोकविह्वल वचन बोलने लगे—

मूल—
"अरमृतले निन्रिलाद् अरक्कनिन्, आण्मै तीन्दैन्;
तुरन्तनेन्, तवम् चेय्केनो? तुरप्पेनो उयिरै? चोल्लाय्;
पिरन्तनेन् पेट्रु निन्र पेट्रियाल्, पेट्र तातै
इरन्तनन्; इरुन्तुळेन् यान्; एन् चेय्केन? इळवल्!" एन्रान्

भावार्थ—'भाई! धर्महीन राक्षससे मेरा पौरुष परास्त हुआ। क्या अब संन्यास लेकर तपस्या करूँ? या प्राण छोड़ दूँ? बताओ! मुझे पुत्रके रूपमें पाकर पिता मर गये। ऐसा जन्म पाकर मैं अबतक मरा नहीं! मैं क्या करूँ?'

रामके इस प्रकार कहनेपर, लक्ष्मणने उन्हें प्रणाम करके आश्वासन दिया—'विजयशील! विधिके परिणामसे ऐसी विपदाएँ आती हैं। अब उनको सोचकर दुखी होनेसे क्या प्रयोजन है? उन क्रूर राक्षसोंका समूल विनाश करना पहला कर्तव्य है। उसके पश्चात् जटायुकी मृत्यु आदि विपदाओंका स्मरण करके दुःख कर सकते हैं, अब तो दुःख करनेका समय नहीं है, शत्रु-नाश करनेका समय है।'

अनुजकी बात सुनकर राम कुछ स्वस्थ हुए। फिर अपनी व्याकुलता छोड़कर और बहते हुए आँसू पोंछकर रामने कहा—'भाई! मरे हुए पितृतुल्य जटायुकी अन्तिम क्रिया यथाविधि सम्पन्न करें।'

रामने लक्ष्मणकी सहायतासे जटायुकी अन्तिम क्रियाके सब संस्कार विधिविहित प्रकारसे सम्पन्न किये।

अरण्यकाण्ड, चौदहवाँ (अयोमुखी-) पटल

प्रसङ्ग—३२. अपमान और विरहतापसे व्याकुल श्रीराम अपनी दशापर दुखी होकर विभिन्न विचारोंके मध्य अकुला रहे हैं। लक्ष्मणसे दुःखतप्त वचन भी बोल देते हैं, लक्ष्मण उनको आश्वस्त करते रहते हैं।

इस संवादमें एक मार्मिक बात श्रीरामने कही—

मूल—"तिरत्तु इनातन, चेय् तवत्तोर् उर
ओरुत्तु, आलत्तु उयिर् तमै उण्डु, उपल्
मरत्तिनार्दल् वलिन्तनर् वाल्वरेल्
अरत्तिनाल् इनि आवदु एन्?" एन्नुमाल्.

भावार्थ—'कठोर तपस्या करनेवाले मुनिगण विपदामें पड़े रहें और उन मुनियोंके प्राणोंको पीड़ित करके संसारके प्राणियोंको खाकर विचरनेवाले अधर्मी राक्षस बलवान् होकर जीवित रहें, तब फिर धर्मसे क्या प्रयोजन हो सकता है?

काकभुशुण्डिका आनन्द

देखि मातु आतुर उठि धाई । कहि मृदु बचन लिए उर लाई ॥

काकभुशुण्डिपर कृपा
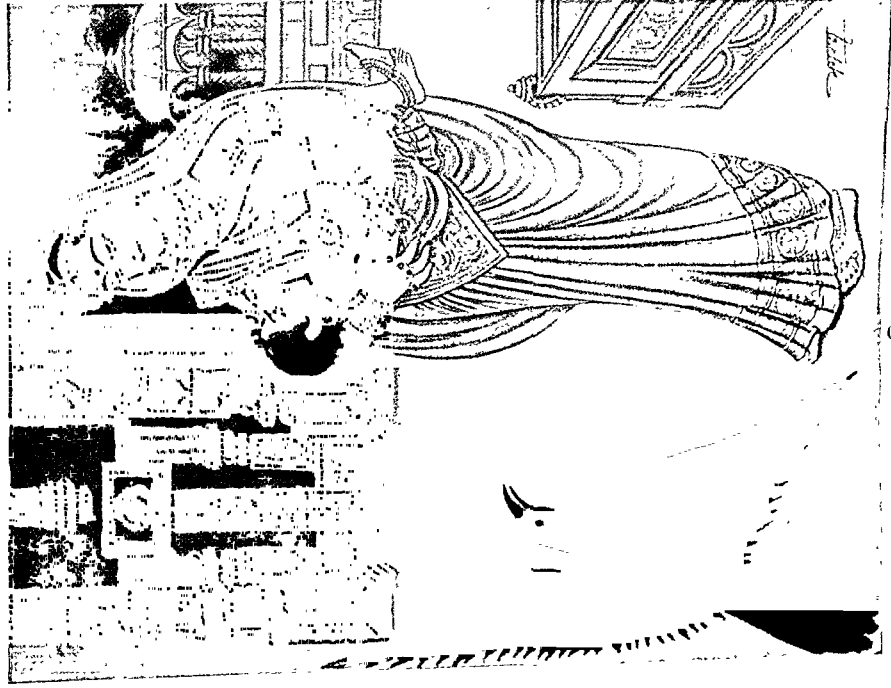
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ । दीनदयाल सकल दुख हरेऊ ॥

प्रसङ्ग–३३. श्रीरामने लक्ष्मणको आस-पास कहीं जलाशयके अन्वेषणके लिये भेजा। मार्गमें लक्ष्मणकी राक्षसी अयोमुखीसे मुठभेड़ हुई। विलम्ब होते देख रामचन्द्रजी व्याकुल हो उठे। उनको यह आशङ्का हुई कि भाई लक्ष्मणपर भी कोई विपदा पड़ी है। शोकमग्न होकर वे संतापके साथ बोले—

मूल–"नीर् कण्डनै इव् वषि नेडिनै पोय्,
चार् कोण्डु—एन इत्तुणै चार्क्किलनाल्;
वार् कोण्डु अणिकोंगैयै वव्विनर् पाल्
पोर् कोण्डननो ? पोरुळ उण्डु इदु" एना.

—इत्यादि तेरह पद्योंमें श्रीरामके व्यथापूर्ण वचन वर्णित हैं।

भावार्थ–"मैंने भाई लक्ष्मणसे कहा कि 'इस मार्गसे जाकर कहींसे जल ले आओ;' किंतु इतना विलम्ब हो जानेपर भी वह अभीतक नहीं लौटा। क्या उसने सीताका हरण करनेवाले राक्षसोंके साथ कुछ प्रयोजन सिद्ध होनेके विचारसे युद्ध छेड़ दिया है ?

"क्या सीताका अपहरण करनेवाला रावण मेरे प्रिय भाईको भी उठा ले गया ! अथवा, विषसे भी क्रूर—भयंकर उस रावणके मायाकृत्यसे और दुर्दैवके मारे वह मर तो नहीं गया ? हाय !

"इस घने अन्धकारमें मुझसे वियुक्त उस प्यारे लक्ष्मणके अतिरिक्त मेरे और नेत्र नहीं हैं—(अर्थात्, लक्ष्मण ही मेरे नेत्र हैं। उसके विना मैं अंधा-सा हूँ।) पहले ही सीता-वियोगसे घायल हुए मेरे हृदयमें अब एक नयी पीड़ा उत्पन्न हो गयी है। मैं कुछ भी सोच नहीं पा रहा हूँ। अब मैं कैसे उसका अन्वेषण करूँ !

"मेरे दुर्भाग्यको बदलनेका कुछ उपाय नहीं है। अब मेरे प्राणसम तुम भी अदृश्य हो गये हो। हे लक्ष्मण ! मुझे इस प्रकार छोड़कर तुमने भूल की है। यह तुम्हारा कार्य कठोर है। गुरुजन तुम्हारे इस कार्यको नहीं सराहेंगे।

"आयी हुई विपदाओंको दूर करनेमें समर्थ वीर ! तुमने मुझे असह्य दुःख दे दिया है। शत्रुओंसे भी प्रशंसित होनेवाले वीरवर ! क्या मुझसे घृणा करके इस भयंकर अरण्यमें पीड़ित होनेके लिये मुझे अकेला छोड़कर चले गये हो ? इतनी देरतक मुझसे वियुक्त होकर कहीं रह जाना क्या तुम्हारे लिये उचित है !

"मैं अपने पितासे वियुक्त हुआ। अपनी मातासे वियुक्त हुआ। लक्ष्मी-समान स्वर्णाभरणभूषित प्राणसङ्गिनी सीतासे भी वियुक्त हुआ। फिर मैं जो जीवित रहा, वह तुम एक अनुजके साथ रहनेसे—तुमसे वियुक्त न होनेसे ही तो रहा !

"जब मैं मायावी हरिणके पीछे चला, मुझे ढूँढ़ते हुए तुम हाथीके समान चले आये थे। अब तुम अदृश्य होकर सीताको ढूँढ़नेवाले मुझ दीनको, तुमको भी ढूँढ़नेके लिये दुखी बनाकर छोड़ गये हो !

"कौन बतानेवाला है, तुम कहाँ हो ? तुम्हारे न मिलनेपर मैं आज प्राणत्याग किये विना नहीं रहूँगा। यदि मैं मरूँगा तो मेरे स्वजनोंमेंसे भी कोई जीवित नहीं रहेगा। अतः हे कठोरहृदय ! तुम एक साथ सब स्वजनोंको मारनेवाले हो गये हो। यह क्या तुम्हारे लिये उचित है ?

"मान्धाता आदि हमारे पूर्वजोंके आचारके अनुसार राजा बनना छोड़कर मैंने अरण्यवास करनेका साहस किया। उस समय सच्चा बन्धु बनकर जब दूसरा कोई नहीं आया, तब तुम्हीं मुझ एकाकीके साथी बनकर आये। अब तुम भी मुझे छोड़कर चले गये ?"

इस प्रकार विलाप करते हुए प्रभु राम उठते, गिरते, स्तब्ध होते, प्रज्ञाहीन होते, फिर चेतते ! अन्ततः राम धैर्य खोकर प्राणत्याग करनेको संनद्ध हो गये।

इतनेमें, उधर लक्ष्मण राक्षसी अयोमुखीकी मायासे मुक्त हुए और उस राक्षसीकी नाक और अङ्गोंको उन्होंने काट दिया। तब उस राक्षसीने बड़ी व्यथासे जो चीख मचायी, वह ध्वनि रामके कानोंमें आ पड़ी। तब राम किंचित् आश्वस्त हुए और वे स्वस्थ होने लगे।

थोड़े समयके बाद, लक्ष्मणने लौटकर रामको प्रणाम किया। घटित वृत्तान्त सुनकर राम दुःखमुक्त हुए। फिर दोनों सीताको ढूँढ़ते हुए आगे बढ़े।

प्रसङ्ग–३४. श्रीराम सीताके वियोगसे उद्विग्न होकर असह्य विरहतापके साथ यों कहने लगे—

मूल–"नानवळ् मेय् इरै भरक्कलामैयिन्
आनदो ? अनूरु एनिनू, अरक्कर मायमो ?—
कानकम् मुष्पदुम्, काण्णिन् नोक्कुंगाल्
जानकि उरु एनत् तोनूरुम् तन्मैये !"

—इत्यादि पाँच पद्योंके द्वारा रामके विरहगत वचन व्यक्त होते हैं।

भावार्थ—'भाई! मेरी आँखोंको अरण्यमें सर्वत्र सीताका रूप ही दिखायी पड़ता है। यह क्या इसलिये कि मैं उसके रूपको नहीं भूल सका हूँ, या नहीं तो क्या यह भी राक्षसोंकी माया है?

'पतिव्रता नारियोंमें आभरण-सदृश उस सीताको मैं अपने आस-पास ही देखता हूँ। किंतु उसका स्पर्श करनेके लिये उद्यत होनेपर मैं स्पर्श नहीं पाता। क्या उसकी कटिके समान ही उसका आकार भी थोड़ा-थोड़ा करके क्षीण होता हुआ अदृश्य हो गया है?

'यदि यह रात्रि मुझे ऐसा दुःख दे, जो पृथ्वी, आकाश आदि पञ्चभूतों एवं मनके विचारसे भी बड़ा हो, तो क्या यह रात्रि शीतल, सुगन्ध तथा नीलवर्णसे युक्त कुन्तलोंवाली सीताकी आँखोंसे भी बड़ी होगी?'—इत्यादि।

अरण्यकाण्ड—सोलहवाँ (शबरी-मुक्ति-) पटल

प्रसङ्ग—३५. श्रीराम और लक्ष्मण शबरीके आश्रममें पहुँचे। तपस्विनी शबरीने उन दोनोंका आदर-सत्कार किया। रामने शबरीसे कुशल-मङ्गल पूछा, '**तीदु इन्रु इरुन्तनै पोलुम्?**' अर्थात् 'सुखसे रहती हो न?'

शबरीने रामकी स्तुति की, फल आदि देकर उनका आतिथ्य किया। थकान और भूख मिटनेपर संतृप्त होकर रामने शबरीसे कहा, '**एंगळ् वरुत्तुरु तुयरम् तीर्त्ताय्; अम्मनै! वाषि!**—अर्थात्, माता! हमारे मार्ग-गमनके श्रमको तुमने दूर किया; तुम्हारा श्रेय हो!'

किष्किन्धाकाण्ड

किष्किन्धाकाण्ड पहला (पम्पासरसी-) पटल

प्रसङ्ग—३६. श्रीरामचन्द्रजी पम्पासरोवरके समीप पहुँचे। वहाँके बालहंस, कमलपुष्प, लतिकाएँ आदिको देखकर वे कोमल पल्लवतुल्य सीतादेवीका स्मरण करके द्रवित हो उठे। उनका मन उद्विग्नतासे भर गया। उनका विवेक मन्द पड़ गया। असह्य वेदनासे वे रो पड़े। तब उनके मुखसे ऐसे शोकोद्‌गार निकले—

मूल—

वरि आर् मणिक् काल् वाळमे! मड अन्नं गाळ्! एनै नींगत् तरियाळ् नडन्ताळ्; इला अल्लल् वन्त पोदुम् तकवेयो! एरिया निन्र आरुयिरुक्कु इरंगिनाल, ईदु इसैयन्रो? पिरियाळु इरुन्तीर्! ओरु आट्रम् पेशिन्, पुशल पेरियाळो?''

—इत्यादि दस पद्योंद्वारा रामकी विरहोक्ति व्यक्त हुई है।

भावार्थ—'सुन्दर पैरवाले चक्रवाको! बालहंसो! कभी मुझसे अलग न होनेवाली सीता मुझसे बिछुड़ गयी है। अब वह मेरे साथ नहीं है। मैं विरहसे पीड़ित हूँ। तुम मुझे सता सकते हो। फिर भी यदि तुम दुखी प्राणोंपर दया करोगे, तो वह तुम्हारे यशका ही कारण होगा। कभी वियोगका अनुभव न किये हुए मुझ-जैसेको यदि कुछ सान्त्वना दोगे तो इससे क्या तुम्हारी कोई हानि होगी?

'पम्पासरोवर! सुन्दर कमलों और सुवासित खिले नीलोत्पलोंको दिखाकर तूने मेरे घायल और जलते हुए मनपर मलहम-सा लगा दिया। तुम सीताके नयनों तथा उसके वदनको दिखा रहे हो। क्या उसके रूपको एक बार भी नहीं दिखाओगे? जो अपने लिये सम्भव हो, उस वस्तुको न देकर लोभ करनेवाले व्यक्ति अच्छे नहीं होते।'

इस प्रकार मनकी वेदनासे आह भरते हुए श्रीरामने उस पम्पासरोवरके पुंनागवृक्षोंसे पूर्ण तटपर खड़े होकर फिर कहा, 'निर्दय, कठोर सरोवर! मैं मिटा जा रहा हूँ, फिर भी तुम कुछ भी नहीं कहते'—इस प्रकार कहते-कहते वे अत्यन्त पीड़ित हुए।

किष्किन्धाकाण्ड, दूसरा (हनुमान्-) पटल

प्रसङ्ग—३७. राम और लक्ष्मण ऋष्यमूक पर्वतके समीप पहुँचे तो उन्हें देखकर सुग्रीव भयभीत हुआ। परंतु हनुमान्‌ने ताड़ लिया कि ये राजकुमार सत्य और धर्मके स्वरूप हैं। अतः उनके पास जाकर हनुमान्‌ने अपना और सुग्रीवका परिचय देकर स्वागत किया। श्रीराम हनुमान्‌की शालीनता देखकर विस्मित हुए और अपने भाईसे बोले—

मूल—

''आट्रलम् निरैवुम्, कल्वि अमैतियुम्, अरिवुम् एन्नुम्, वेट्रमै इवनोडु इल्लैयाम्'' एन विळंब-लुट्रान्. ''इल्लाद उलकत्तु एंगुम्, इंगु इवन् इसैकळ् कूरक् कल्लाद कलैयुम् वेदक्कडलुमे—एन्नुम् काट् चि चोल्लाल तोन्रिट्रन्रो? यार् कोल इच् चोल्लिन् चेल्वन्? विल्लार् तोळ इळैयवीर! विरिंचनो? विडैयवनो?

"माणियाम् पडिवमनूरु, मद्दिवन् वडिवम् सैन्त!
आणि इत् बुल्कुक्कु एल्काम् एन्लाम्, आद्रुक्कुं एइ
चेण् उयर् पेरुमै तन्नैच् चिक्करत् तेलिन्लेन्, पिन्नरुक्
काणुति मेयम्मै" एन्रु.............,

भावार्थ—'वीर लक्ष्मण ! कोई विद्या, कोई शास्त्र और वेद ऐसा नहीं है, जिसका इस हनुमान्ने प्रशंसनीयरूपमें अध्ययन न किया हो। इसका गम्भीर ज्ञान इसके वचनोंसे ही प्रकट होता है। मधुर भाषा बोलनेवाला, यह क्या ब्रह्मदेव है ? या वृषभवाहन शिवजी हैं ? नहीं तो यह कौन है ?

'भाई ! इसका यथार्थ स्वरूप एक साधारण ब्रह्मचारी-का नहीं है। किंतु मुझे निश्चितरूपसे यह ज्ञात हो रहा है कि यह सर्वलोकोंके लिये आधार बन सके, ऐसे पराक्रम तथा अत्यधिक महिमासे सम्पन्न है। मेरे इस वचनकी सत्यता तुम आगे चलकर पहचान पाओगे।

'इस संसारके निवासी मुनियों, महानुभावों तथा स्वर्गके निवासी देवताओंमें कौन ऐसा है, जो इसकी-जैसी वाक्पटुता रखता हो ? समस्त वेदोंमें पारंगत इस ब्रह्मचारीके वचनोंके सम्मुख सर्वश्रेष्ठ त्रिमूर्तियोंका महान् कौशल भी नगण्य है।'

फिर रामचन्द्रजीने हनुमान्से कहा—

मूल—

"एव् वषि इरुन्तान्, चोल्ल कविक् कुलत्तु इरैवन् ? यांगल,
अव् वषि अवनैक् काणुम् अरुत्तियाल अणुक वन्तोम्;
इव् वषि निन्नै उट्र पुसक्कु, नी इन्नुरु चोन्न
चेव् वपि उळळत्तानैक् काट्टु इदि, तेरिय" एन्रान्-

भावार्थ—'उस कपिकुलनायक (सुग्रीव) को, जिसके सम्बन्धमें तुमने कहा है, देखनेकी इच्छासे ही हम यहाँ आये हैं। यहाँ तुमसे साक्षात् हुआ है। तुम्हारे मधुर वचनके सदृश ही, सन्मार्गपर चलनेवाले मनसे युक्त उस वानर राजाको हमें दिखाओ।'

तदनन्तर हनुमान्ने सुग्रीवका वृत्तान्त कहा, लक्ष्मणके मुँहसे श्रीरामका परिचय पाया, सीतापहरणका समाचार सुना और अयोध्याधीश दशरथकी महिमा सुनी। यह सब सुनकर हनुमान्ने भक्तिप्रवण होकर श्रीरामके चरणोंपर प्रणाम किया। तब राम स्तब्ध रह गये, फिर बोले—

मूल—"तकात चेय्दद्दु एन्नै नी ? तरुमम अनूराल्;

भावार्थ—'वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता हे ब्रह्मचारिन् ! तुमने यह कैसा अनुचित कार्य किया ! (तुमने ब्राह्मण होकर मुझ क्षत्रियके चरणोंपर क्यों प्रणाम किया ?)'

इसका उत्तर हनुमान्ने दिया, 'हे वीर-चक्रवर्ती ! यह दास तो कपिकुलमें उत्पन्न व्यक्ति है।' यह कहकर हनुमान्ने अपना वास्तविक रूप प्रकट कर दिया। बृहदाकारमें गम्भीरताके साथ खड़े हुए हनुमान्को देखकर राम और लक्ष्मण विस्मित हुए। तब रामने लक्ष्मणसे कहा—

मूल—"कीष्प् पडा निन्र नीङ्गि, किळप्प अरिदाकि,
एनूल्य् नाट्पडा मुरैकळालुम् नवैपडा ज्ञानत्तालम्,
कोट्पडाप् पदसे, ऐय ! कुरक्कु उरुक्कोण्डदु' एन्रान्-
"नल्लन निमित्तम् पेट्रोम्, नंबियैप् पेट्रोम्, नम्पाल्
इल्लैये, तुन्पम् आनदु, इन्पमुय् एय्तिट्र, इन्नुम्,
विल्लिनाय् ! इवनैय् पोलाम् कविक् कुलक् कुरिसिलुवीरन्
चोल्लिनाल एवल् चेय्वान् अवन् निलै चोल्लपाट्रो ?"

भावार्थ—'भाई ! वह मोक्षपद ही इस वानरका रूप लेकर उपस्थित हुआ है, जो क्षुद्र गुणोंसे रहित होकर (अर्थात् केवल सत्त्वगुणमय होकर) अमन्द प्रकाशसे युक्त नित्य वेदों एवं दोषरहित ज्ञानसे भी दुर्ज्ञेय है।

'इस महानुभावसे भेंट हुई, एक अच्छा साधन हमने प्राप्त किया, जो सीताके अन्वेषणके लिये अतीव सहायक बनेगा। अब हमारी विपदा मिट गयी समझो। हमें सुख प्राप्त होगा। धनुर्धर ! यदि यह महावीर, कपिकुलनायक (सुग्रीव) की आज्ञाका पालक है, तो न जाने वह स्वयं किस प्रकारके प्रभावसे संयुक्त है।'

किष्किन्धाकाण्ड, तीसरा (मैत्रीभाव-) पटल

प्रसङ्ग—३८. हनुमान्के प्रयत्नसे राम और सुग्रीवकी मैत्री हुई, दोनोंने मिलकर एक दूसरेके प्रति आदरभाव प्रकट किया। फिर कुशल-प्रश्नके साथ दोनोंमें वार्तालाप चला। तब रामके वचन सुग्रीवके लिये संजीवनी-जैसे थे—

मूल—"मैयरुतवत्तिन् वन्त शवरि, इस्पलैयिल् नी वन्तु
रायतिनै इरुन्त तन्मै, इयम्पिनळ्, यांगल् उट्र
कैयरु तुयरम् विन्नाल् कडप्पदु करुतिवन्तोम्;
ऐय ! निन् तीरुम्" एन्न।.....................

भावार्थ—'हे उत्तम ! दोषहीन, ...

अङ्गदको लङ्का भेजना

[पृष्ठ २७३

लक्ष्मणके लिये विलाप

[पृष्ठ १२५

रावणको विश्राम करके आनेका आदेश

[पृष्ठ १९२

विभीषणकी प्रार्थना

[पृष्ठ १३०

जानकीको लानेका आदेश

[पृष्ठ ९८

सीताजी पालकीसे लायी जा रही हैं

[पृष्ठ १५६

दशरथ-मिलन

[पृष्ठ १२९

पुष्पकमें विभीषणके साथ

[पृष्ठ १५८

—इत्यादि छः पद्योंमें रामके वचन वर्णित हैं।

भावार्थ—'उन्नत भुजाओंवाले सुग्रीव! मुझ पापीके हाथमें इस तेजस्वी धनुषको रखकर जीवित रहनेपर भी उस जानकीने अपने आभरण उतारकर फेंक दिये। क्या पतिव्रता नारियोंमें इस प्रकार करनेवाली अन्य कोई स्त्री भी होगी!

'उधर जानकी मेरे आगमनकी प्रतीक्षा करती हुई व्याकुल बैठी है। इधर मैं बड़े-बड़े पर्वतों और सरोवरोंमें भटकता हुआ, उसके आभरणोंके साथ रोता हुआ व्यर्थ समय व्यतीत कर रहा हूँ। डोरीवाले इस दीर्घ धनुषको ढोनेपर मुझे लज्जित होना चाहिये।

'यदि कोई किसी नारीका अपमान कर दे तो राह चलनेवाले व्यक्ति भी उस अपमान करनेवालेको रोकेंगे और उनसे युद्ध करके अपने प्राण भी त्याग देंगे। मैं तो अपने आपपर भरोसा रखकर जीवित रहनेवाली सीताके दुःखको भी दूर नहीं कर रहा हूँ।

'मेरे कुलमें ऐसे राजा उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने समुद्र खोदा था और जिन्होंने बाघ और हरिणको एक ही घाट पानी पिलाया था; किंतु, उसी वंशमें उत्पन्न हुआ मैं ऐसा हूँ कि आभरणधारिणी अपनी पत्नीको दुःखमुक्त करनेकी भी सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

'मेरे पिताने उस शम्बर नामक असुरको, जो यमराजके लिये भी दुर्निवार था और जो त्रिलोककण्टक था, मिटाकर देवेन्द्रका दुःख दूर किया था। उनका पुत्र होकर जन्मा हुआ मैं अपने धनुषके साथ अत्यन्त पीड़ा देनेवाले क्रूर अपवादको भी ढो रहा हूँ।

'सबसे प्रशंसनीय महिमासे युक्त मेरे पिताका सत्यव्रत यदि टूट गया तो उससे बड़ा अपवाद होगा—यह विचार करके मैंने राज्यमुकुट धारण नहीं किया। अब यहाँ मधुर स्वभाव एवं वाणीसे युक्त प्रिय पत्नीका शत्रुने अपहरण किया—सबसे बड़ा यह अपयश मुझे अवनत कर रहा है। मैं इससे कब मुक्त हो पाऊँगा!'

—श्रीराम इस प्रकारके शोकार्त वचन कहकर अत्यधिक दुःखसे मूर्छित हो गये। हनुमान्‌ने तब उन्हें सान्त्वना दी। तदनन्तर श्रीराम कुछ स्वस्थ होकर सुग्रीवसे बोले—

वैयकत्तु, इऱ् पडि तीर मायवदु
पेऱ्ऱेन्; निन् कुरै मुडित्तु अन्ऱि् वेय्कलेन्."

भावार्थ—'मित्र! तुम्हारे वचनोंसे मेरा दुःख शान्त हुआ। नहीं तो क्या मैं जीवित रह सकता था? मेरे लिये मृत्युसे बढ़कर हितकर अन्य कोई नहीं है। अपयशसे मुक्ति पानेके लिये वही कर्तव्य है। फिर भी जबतक मैं तुम्हारे दुःखको दूर न करूँ, तबतक मैं मृत्युको नहीं अपनाऊँगा।'

किष्किन्धाकाण्ड, सातवाँ (वालिवध-पटल)

प्रसङ्ग—७

४१. श्रीरामके द्वारा वालिवध हो चुका। मरनेके पूर्व वालीने रामके कृत्यकी अवहेलना की तो उसके उत्तरमें प्रभु बोले—

मूल—"कोल्लल् उट्रनै, उम्पियै, कोदु अवर्क्कुं
इल्लै एन्पदु उणन्दुम्, इरंगल;
अल्लैल् चेय्यल्, उनक्कु अभयम्, पिबै
पुल्लल् एन्नवुम्, पुल्ललै, पोंगिनाय्.
"ऊट्रम् उट्र उडैयान्, उनक्कु आरसर्
तोट्रम् एन्रु तोपुदु उयर् कैयनै,
कूट्रम् उण्णक् कोडुप्पेन्, एन्रु एण्णिनाय्;
नाल् तिशैक्कुम् पुरत्तैयुम् नण्णिनान्.
"अन्न तन्मै अरिन्तुम् अपूललै,
पिन्नवन् इवन् एन्पदुम् पेणलै;
वन्नितान् इड्ड शाप वरम्पुडैप्
पोन्मलैक्कु अवन् नण्णलिन्, पोकलै;"

—इत्यादि ग्यारह पद्योंके द्वारा श्रीरामके समाधानवचन व्यक्त हुए।

भावार्थ—'अपने भाई सुग्रीवको निरपराध जानकर भी उसपर तुमने दया नहीं की। जब वह तुमसे यह प्रार्थना कर रहा था कि मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, मेरे अपराधको क्षमा करो, तब भी उसको क्षमा न करके तुमने बड़े क्रोधके साथ उसे मारा-पीटा।

'सुग्रीव यह कहकर कि मैं तुम्हारे साथ युद्धमें पराजित हो गया हूँ, अपने सिरपर हाथ जोड़े खड़ा रहा; किंतु तुमने उसे नहीं छोड़ा, उसे मृत्युके हाथ सौंपना चाहते थे। तब वह चारों दिशाओंमें भागने लगा था।

पीछा करने लगे। फिर मुनिके शापसे सुरक्षित पर्वत ऋष्यमूक-पर जब सुग्रीव चला गया, तब तुम वहाँसे हटे।

'दया, कुलीनता, वीरता, विद्या और उसके द्वारा प्राप्त नीति—इन सबका प्रयोजन तो यही है कि पर-नारीके शील-की रक्षा करे।

'यदि स्वच्छ विवेकवाला भी यह सोचकर कि मैं बड़ा बलवान् हूँ, अपने मनको कुत्सित मार्गपर चलाये और निर्बलोंपर क्रोध करे, तो वह वीरधर्मसे भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे ही यदि कोई पर पुरुषकी सुरक्षित शीलवाली स्त्रीके चारित्र्यको मिटाता है, तो वह भी धर्मसे च्युत हो जाता है।

'धर्म क्या है?—तुमने यह नहीं सोचा। इहलोक तथा परलोकके फलों (यश और पुण्य) का विचार भी तुमने नहीं किया। यदि तुमने यह सोचा होता तो क्या अधर्मके साथ अपने छोटे भाईकी प्राणसमान पत्नीकी संगति प्राप्त करते?

'इन कारणोंसे तथा उस सुग्रीवके मेरे प्राणसम मित्र होनेसे, मैंने तुम्हारे प्राण हरण किये। इतना ही नहीं, पराये होनेपर भी बलहीनोंके दुःखको दूर करना ही मेरा ध्येय है। तुम्हारा यही अपराध है।'

जब रामने इस प्रकार अनुचित कार्य करनेवाले वालीको समझाया, तब वालीने उत्तर दिया—'प्रभु! तुम्हारा यह कथन मेरे लिये लागू नहीं होता; क्योंकि हम वानरोंके लिये अपनी इच्छाके अनुकूल कार्य करना कुछ अधर्म नहीं होता। हमारे कुलमें जब जैसा संयोग मिले, तब वैसा ही सम्बन्ध करनेका विधान है। हमारा मन जैसा चाहता है, वैसा ही हमारा आचरण भी होता है। इसके अतिरिक्त हम वानरोंके लिये वेदविहित विवाहका कोई विधान नहीं है। यही हमारे कुलकी रीति है, जिसके अनुसार मैंने किया और जिसे तुम अकृत्य समझते हो। तुम यह समझ लो कि मैंने ऐसा कोई पाप नहीं किया, जो मेरे कुलधर्मके प्रतिकूल हो।'

वालीके इस प्रकार कहनेपर रामचन्द्रने कहा—

मूल—"नलम् कोळ तेवरिन् तोन्रि नवैयरक्
कलंगला अरनल्नेरि काण्डलिन्
विलंगु अलामै विळंगियदु; आदलाल्
अलंगलाद्क्कुं, ईदु अडुप्पदु अनूर आमरो.

"पोरियिन् याक्कैयदो? पुलन् नोक्किय
अरिविन् मेलदु अनूरो, अरत्ताइनान्?
नेरियुम् नीमैयुम् नेरिदु उणर्न्द नी
पेरुतियो, पिषै उट्रु पेट्रितान्।"

—इत्यादि नौ पद्योंके द्वारा रामने वालीके आक्षेपका समाधान किया।

भावार्थ—'तुम उत्तम गुणवाले देवोंके पुत्र बनकर उत्पन्न हुए हो और शाश्वत धर्ममार्गके ज्ञाता हो। तुम पशु नहीं हो। अतः विजयमालाओंसे विभूषित रहनेवाले तुम-जैसे वीरके लिये ऐसा कार्य अनुचित ही है।

'क्या धर्म पञ्चेन्द्रियोंके वशीभूत शरीरसे ही सम्बन्ध रखता है? क्या वह विषयोंका विवेचन करनेवाले विवेकसे सम्बन्ध नहीं रखता? तुमने तो शरीरसे वानर होनेपर भी विवेकसे धर्मके महत्त्वको भलीभाँति जाना है। अतः पापकर्म करना तुम्हारे लिये उचित है?

'वह गजेन्द्र भी जन्मसे पशुजातिका ही तो था, जिसने एक मगरसे ग्रस्त होकर शङ्खधारी विजयशील भगवान् विष्णुको पुकारा था और अपने अनुपम विवेकके कारण मोक्षपद प्राप्त किया था।

'मेरे पिताके तुल्य वह जटायु भी तो एक गृध्र ही था, जिसने धर्ममार्गमें अपने मनको निरत रखकर स्वर्णकङ्कण-धारिणी लक्ष्मीसमान सीताके दुःखको दूर करनेके प्रयत्नमें भयंकर युद्ध किया और इस संसारसे मुक्ति प्राप्त की।

'पशुओंका स्वभाव ऐसा होता है कि वे भले और बुरेके विवेकसे हीन रहकर जीवन व्यतीत करते हैं। किंतु तुम्हारे मुखसे निकले वचन ही बता रहे हैं कि चिरंतन धर्मका ऐसा कोई मार्ग नहीं है, जिसे तुमने नहीं जाना हो।

'यह उचित है, यह अनुचित है—इस प्रकारका विवेक किसी व्यक्तिमें भी न हो, तो वह भी पशु ही होता है। और यदि कोई पशु भी मनुके बताये मार्गपर चले, तो वह देवतुल्य हो जाता है।

'किसी भी कुलमें उत्पन्न व्यक्तिकी महत्ता या क्षुद्रता उसके कार्यसे ही होती है, यह जानते हुए भी तुमने अन्यकी पत्नीके शीलको मिटाया'—इस प्रकार मनुनीतिपर दृढ़ रहनेवाले रामने कहा।

रामचन्द्रके ये वचन सुनकर कपिराज वालीने अपना

अकृत्य स्वीकार किया। फिर भी उसने रामसे पूछा, 'प्रभु ! ऐसी बात है तो तुमने मेरे समक्ष आकर युद्ध क्यों नहीं किया, छिपकर बलप्रयोग क्यों किया ?'

इस आक्षेपका उत्तर लक्ष्मण देने लगे, 'पहले ही तुम्हारा भाई सुग्रीव रामकी शरणमें आ गया था। तब उन्होंने उसे यह वचन दिया था कि नीतिसे भ्रष्ट हुए तुमको निहत करेंगे। यदि वे युद्धक्षेत्रमें तुम्हारे समक्ष आ जाते, तो कदाचित् तुम भी अपने प्राणोंके मोहसे उनकी शरण माँग बैठते (तो फिर राम क्या करते ?)—यही सोचकर मेरे बड़े भाईने तुम्हारे सामने न आकर छिपकर शरसंधान किया।'

यह सुनकर वालीका रहा-सहा संदेह भी दूर हो गया। श्रीरामके प्रति अत्यधिक समादर उसके मनमें बढ़ने लगा। श्रीरामसे अपने पापोंके लिये उसने क्षमा माँगी।

किष्किन्धाकाण्ड, नवाँ (सुग्रीवशासन-) पटल

प्रसङ्ग–४२. सुग्रीव किष्किन्धा-राज्यका राजा अभिषिक्त हुआ। श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणने उसका अभिषेक किया। जब सुग्रीवने रामके चरणोंको प्रणाम किया, तब राम उसे आशीर्वाद देने लगे—

मूल—

"ईण्डु निनूरु एक्कि नी निन् इन्निमल इरुक्कै एय् दि,
वेण्डुव मरपिन् एण्णि, विधिमुरै इयट्रिवीर !
पूण्डपेर रशुक्कु एट्रू यावैयुम् पुरिन्दु पोरिल्
माण्डवन् मैन्तनोडुम् वाष् ति, नल तिरुविन् वैकि.
"वाय्मैशाल अरिविन् वायृत्त मन्तिर मान्तरोडुम्
तीमै तीर् ओपुक्किन् वन्त तिरत् तोषिल् मरवरोडुम्
तूय्मैचाल् पुणर्च्चि पेणि तुकळरु तोषिलै आकि
चेय्मैयोडु अणिमै इन्रि, तेवरिन् तेरिय निट्रि,"

—इत्यादि ग्यारह पद्योंमें रामवचन अङ्कित हैं।

भावार्थ–'वीर सुग्रीव ! तुम यहाँसे अपने निवासस्थान किष्किन्धानगरमें जाओ और अपने कर्तव्य कर्मोंका ठीक-ठीक विचार करके यथाविधि उन्हें पूरा करो। यों जिस राज्यभारको तुमने अपने ऊपर लिया है, उसके लिये आवश्यक सब कार्य पूरे करो और युद्धमें मरे हुए वालीका जो प्रिय पुत्र है, उस (अङ्गद) के साथ उत्तम ऐश्वर्य भोगते हुए चिरकालतक जीते रहो !

'सत्यवादी, विवेकी मन्त्रियोंके साथ तथा दोषरहित सदाचारी एवं पराक्रमी सेनापतियोंके साथ पवित्र मैत्रीका भाव रक्खो और तुम स्वयं भी दोषहीन कार्य करते हुए इस प्रकार रहो कि वे (मन्त्री तथा सेनापति) तुम्हारे अति निकट या अति दूर न रहकर तुम्हें देवताके समान मानकर व्यवहार करें।

'संसार इतना विवेकपूर्ण है कि यदि कहीं धूम दिखायी पड़े, तो वह अनुमान कर लेता है कि वहाँ जलती आग ही होगी। अतः तुम्हें चाहिये कि तुम शास्त्रोंके द्वारा कथित कूटनीतिको भी अपनाओ। तुम हँसमुख रहो, मधुर वचन बोलो और दूसरोंके स्वभावको जानकर इस प्रकार आचरण करते रहो कि तुम्हारे प्रति वैर रखनेवालों-का भी हित हो।

'यह दोषरहित महान् ऐश्वर्य, जिसे देखकर देवगण भी मुग्ध होते हैं, तुमको प्राप्त हुआ है। तब उस सम्पत्तिके महत्त्वको ठीक-ठीक पहचानकर सदा सजग रहो; क्योंकि तीनों लोकोंके निवासी ऐसे होते हैं, जो मुनियोंके प्रति भी घनी मित्रता रखते हैं, कुछ उनके वैरी होते हैं, तो कुछ तटस्थ स्वभाव रखते हैं।

'उपर्युक्त तीनों प्रकारके स्वभाववालोंमेंसे तुम किसीके प्रति अहित बर्ताव न करना। अपने कर्तव्य कार्योंको पूरा करना। यदि कोई तुम्हारी निन्दा करे, तो भी उसके प्रति निन्दारहित मधुर वचन कहना। दूसरोंके धनका अपहरण करनेका लोभ न रखना। ये सब धर्म किसी भी व्यक्तिका उसके बन्धु-परिवारसहित उद्धार करनेवाले होते हैं। अतः तुम इसी प्रकारके धर्मका आचरण करना।

'पुष्ट कंधोंवाले सुग्रीव ! किसीको निर्बल जानकर उसका जी न दुखाना। मैं अपने बाल्यकालमें इस धर्म-मार्गसे च्युत हो गया और शरीरसे विकृत होकर भी बुद्धिसे बढ़ी हुई कुबड़ी (मन्थरा) के कारण मैं राज्यभ्रष्ट हो गया और अब तो (सीतासे भी बिछुड़कर) दुःखसागरमें डूबा हुआ हूँ। (इधर उस घटनाकी ओर संकेत है कि राम बाल्यकालमें अपने धनुषसे मन्थराके कूबड़को लक्ष्य करके मिट्टीकी गोली मारते थे, जिससे मंथरा मन-ही-मन चिढ़ती थी। इसीका बदला लेनेके लिये मन्थराने ऐसा उपाय किया, जिससे रामचन्द्रको राज्यभ्रष्ट होकर वन जाना पड़ा।)

'यह निश्चित जानो कि स्त्रियोंके कारण पुरुषोंको मृत्यु प्राप्त होती है। वालीका जीवन ही इसका प्रमाण है। और उन्हीं स्त्रियोंके कारण दुःख और अपयश भी उत्पन्न होते हैं। यह तुम मेरे जीवनसे जान सकते हो। इस विषयके ज्ञानसे बढ़कर अन्य हितकारी शिक्षा क्या हो सकती है?

'अपनी प्रजाकी इस प्रकार रक्षा करना कि वह यह कहे कि हमारे राजा राजा नहीं हैं, किंतु हमारा लालन-पालन करनेवाली माता हैं। तुम्हारे द्वारा ऐसा आचरण होनेपर भी यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा अहित करे तो उसे धर्मसे स्खलित न होते हुए दण्ड देना।

'यथार्थताका विचार करो, तो तुम्हें विदित होगा कि जन्म और मृत्यु सर्वदा अपने-अपने कार्योंके परिणाम-स्वरूप ही होते हैं। धर्मका अन्त जीवनका अन्त है—यह बड़े लोगोंका कथन है; तब अन्योंके बारेमें क्या कहा जाय?

'परस्पर आघातसे उन्माद उत्पन्न करनेवाले मल्लयुद्धमें कुशल वीर सुग्रीव! सम्पन्नता और निर्धनता—ये दोनों जीवोंके पुण्य और पापके फलोंके अतिरिक्त और भी कुछ है, इसे शास्त्रज्ञ विद्वान् भी नहीं जानते। (अर्थात् प्राणियोंके पाप-पुण्यके फलस्वरूप ही निर्धनता और सम्पन्नता होती है।) अतः पुण्यको छोड़कर क्या पापको ग्रहण करना कभी उचित हो सकता है?

'यही राजाओंके योग्य कर्तव्य है। विधि-विधानके अनुसार तुम राज्य करो। निकट आयी हुई वर्षा ऋतुके व्यतीत होनेके पश्चात् अपनी समुद्रसमान विशाल सेनाको लेकर मेरे पास आना। अब तुम जा सकते हो।'

सुन्दर श्रीरामने इस प्रकार सुग्रीवसे कहा।

यह सब सुनकर संतृप्त होकर सुग्रीवने श्रीरामसे प्रार्थना की—'अरिंदम! तुम्हारी शरणमें आकर हम तुम्हारी करुणाके पात्र बने हैं। तुमसे वियुक्त होकर जो ऐश्वर्य हम पायेंगे, वह दरिद्रतासे भी अधिक गर्हित होगा। अतः जबतक तुम्हारी देवीको अन्वेषण करनेका समय न आये, तबतक तुम हमारे साथ किष्किन्धा-नगरमें आकर निवास करनेकी कृपा करो।'—यों कहकर सुग्रीव श्रीरामके चरणोंपर गिर पड़ा।

सुग्रीवकी यह प्रार्थना सुनकर, मुस्कुराते हुए महाभाग रामने कहा—

मूल—

''वेन्तरिल इरुक्कै, एम्पोल् विरतियर्त्ति पैतक्कुं ओव्वा
पोन्दु अवण् इरुप्पिन्, एम्मैप् पोट्रुवे पो्दुदु पोमाल्
तेन्दु इनिदु इयट्रुम् उन्तन् अरशियल् धरुमम् तीर्ति.
''एप् इरण्डु आण्डुयान् पोन्दु एरिवनत्तु इरुक्क एन्रेन्;
वाषियाय्! अरशर वैकुम् वळनगर् वैकल ओल्लेनन्;
पाषियम् तडन्तोळ् वीर! पात्तिलै पोलमनूरो!
याषिशै मोषियोडन्रि, यानुरुम् इनूपमेन्नो ?''

—इत्यादि चार पद्योंके द्वारा रामने सुग्रीवके अनुरोध-को अस्वीकार किया।

भावार्थ—'प्रिय बन्धु सुग्रीव! राजाओंके निवास-योग्य नगर मेरे-जैसे व्रतधारियोंके लिये योग्य नहीं हैं और यदि मैं वहाँ आऊँ, तो मेरी सेवामें ही तुम्हारा सारा समय लग जायगा। तुम विचार किये जाने योग्य शासनकार्यसे स्खलित हो जाओगे।

'चिरंजीव! मैंने यह प्रण किया है कि चौदह वर्ष वनमें रहूँगा। अतः इस अवधिमें मैं राजाओंके निवासमें नहीं ठहरूँगा। वहाँ ठहरकर भी, मेरी प्राणप्रिया जीवन-सङ्गिनीके बिना क्या मैं सुख भोग सकूँगा?—यह तुमने कदाचित् सोचा नहीं।

'तात! यह अपयश क्या त्रिभुवनके विनाश होनेपर भी मिट सकेगा कि राक्षसके द्वारा अपनी पत्नीके बंदी बनाकर रक्खे जानेपर भी राम स्वयं अपने प्यारे मित्रों-सहित अपार सुखोंका उपभोग करता रहा।

'जिन लोगोंने गृहस्थाश्रमका त्याग नहीं किया है, वैसे लोगोंके आचरण-योग्य धर्मको मैंने पूरा नहीं किया। युद्धमें धनुष लेकर किये जानेवाले कर्तव्यको भी मैंने पूर्ण नहीं किया। यों व्यर्थ जीवन बितानेवाले मुझ-जैसेके लिये सब सुविधाएँ महत्त्वहीन और क्षुद्र हैं। उत्तम गृहस्थ-धर्मको छोड़कर वानप्रस्थव्रतका आचरण करके मैं अपने पापोंका परिहार करूँगा।'

किष्किन्धाकाण्ड, तेरहवाँ (अन्वेषणार्थ-प्रेषण-) पटल

प्रसङ्ग—४३. अपार वानर-सेना सीतादेवीके अन्वेषण करनेके लिये पंक्तिबद्ध होकर खड़ी है। सुग्रीव अपनी सेनाको

विशेषता और विशालताका परिचय रामको देते हैं। हनुमान्‌को दक्षिण दिशाकी ओर भेजनेका निश्चय हुआ। तब श्रीराम सीताके अङ्ग-लक्षण तथा आपसी एकान्त संदर्भ आदि हनुमान्‌को बताते हैं। इधर कम्बरामायणमें रामके ये वचन चालीस पद्योंमें वर्णित हुए हैं।

मूल—"पार्कडल पिरन्त चेय्य पवळत्तै पंचि ऊट्टि,
मेर्पट मतियम् चूट्टि विळंकुर निरैत्तनोय्य
काल्तकै विरल्कळ् ऐय! कमल मुम् पिरवुम् कंडाल्
पुर्पिल पुन् पडु अन्रि-इणैयडिक्कु उवमै एन्नो?"

—इत्यादि चालीस पद्योंके द्वारा रामने सीताके अङ्ग-लक्षण आदिका वर्णन किया है।

भावार्थ—'आञ्जनेय! सीताकी पदाङ्गुलियाँ ऐसी हैं, मानो क्षीरसागरमें उत्पन्न प्रवालके खण्डोंमें महावर लगाकर उनके ऊपरी भागमें अनेक चन्द्रोंको रख दिया हो। प्रसिद्ध कमल तथा अन्य पदार्थ भी उन सुन्दर पादोंके उपमान नहीं बन सकते।......'

इस प्रकार क्रमशः सीताके चरणयुगल, जानु, जङ्घा, कटि, जघन, उदर, नाभि, उदरकी त्रिवली, स्तन, भुजाएँ, हाथ, हथेलियाँ, कण्ठ, मुख, ललाट, दाँत, नासिका, नयन, केश इत्यादि अङ्गोंका उपमासहित सुन्दर वर्णन रामने किया। फिर उन्होंने हनुमान्‌से कुछ अभिज्ञानवचन भी कहे, जो सीता और राम दोनोंको ही ज्ञात थे—

मूल—"मुन्नैनाळ् मुनियोडु मुतिय नीर् मितिलैवाय्
सेन्नि नील् सळैयान् वेळ्वि काणिय चेल
अन्नम् आडुम् तुरैक्कु अरुकु निन्राळै, अक्
कन्निमाडत्तिडैक् कण्डदुम्, कणक्काय्"

—इत्यादि छः पद्योंके द्वारा रामने अभिज्ञावचन कहे।

भावार्थ—'मैं पूर्वमें विश्वामित्र मुनिके साथ जलसम्पन्न प्राचीन मिथिला नगरीमें जनक महाराजके यज्ञको देखनेके लिये गया था। तब उस परिखाके समीप, जिसमें हंस खेल रहे थे, कन्या-निवासके सौधमें स्थित सीताको मैंने देखा। यह बात तुम उससे कहना।

'अपार समुद्रसे भी अधिक अगाध पातिव्रत्य धर्मसे युक्त सीताने प्रतिज्ञा की थी कि 'पर्वत-समान धनुषको तोड़नेवाला व्यक्ति, यदि वह मुनिके साथ आया हुआ राजकुमार राम न होगा, तो मैं अपने प्राण त्याग दूँगी।' यह बात उसे सुनाना। इत्यादि।

श्रीरा० घ० सं० ७४—७५—

रामने यह सब कहकर, हनुमान्‌के हाथमें अपनी रत्नजटित मुँदरी दी और कहा, 'बुद्धिमान्! तुम्हारे सब कार्य सफल हों।'—ऐसी आशिष् देकर रामचन्द्रने हनुमान्‌को विदा किया।

सुन्दरकाण्ड

प्रसङ्ग—४४. सुग्रीवकी आज्ञापर वानरसेना टुकड़ियोंमें विभक्त होकर नाना दिशाओंमें सीताके अन्वेषणके लिये चल पड़ी। हनुमान्‌ने लङ्का जाकर सीताके संदर्शन किये, लङ्कादहन भी किया। फिर सीतादेवीकी चूडामणि लेकर श्रीरामचन्द्रके पास आये। इतनेमें व्याकुल होकर रामने सुग्रीवसे कहा—

मूल—'कुरित्तनाळ् इकन्तन कुन्र, तेन् तिशै
वेरिक् करुंकुषलियै नाडल मेयिनार्
मरित्तु इवण् वन्तिलर्, माण्डुळार् कोलो?
पिरित्तु अवर्क्कु उद्दुळदु एन्नै? पेट्रियोय्!

"माण्डनळ् अवळ्, इवळ् माण्ड वार्त्तैयै
मीण्डु अवर्क्कु उरैत्तलिन् विळितल् नन्रु एना,
पूण्डदु ओर् तुयर् कोडु पोन्रिनार कोलो?
तेण्डिनर् इन्नमुम् तिरिकिन्रार् कोलो?"

—इत्यादि चार पद्योंके द्वारा रामने अपनी चिन्ता व्यक्त की।

भावार्थ—'वानर-सेनाके इधर लौट आनेका निश्चित समय बीत चुका है, कोई लौटकर नहीं आया। सीताके अन्वेषणके लिये गये वानर वीरोंपर क्या कोई विपदा तो नहीं आ पड़ी? वे मृत्युके पंजेमें तो नहीं फँस गये? उनको क्या हो गया, पता नहीं चलता। सुग्रीव! मैं क्या करूँ?

'सीताका कहीं देहावसान हो गया हो और उस दुःखद समाचारको मेरे सामने न कहना ही अच्छा है—इसी विचारसे वानर वीर कहीं रुक तो नहीं गये? अथवा, अबतक सीताके अन्वेषण-कार्यपर ही लगे हुए हैं? या कहीं दिशाभ्रमसे पथ भूलकर भटक रहे हैं?

'यह भी सम्भव है कि लङ्कामें या मार्गमें ही राक्षसोंको देखकर हमारे वानर सैनिक उनके साथ भिड़ गये हों? उस भयानक समरमें हमारे

वीर स्वर्ग तो नहीं सिधार गये होंगे ! अथवा, राक्षसोंकी मायावी वृत्तिके कारण सब वानर वीर कारागस्त हो गये हों।

'सुग्रीव ! हमारे वानर वीरोंपर क्या बीती होगी ! —मुझे बताओ न ! निश्चित अवधिके बीत जानेसे, वे यह सोचकर कि मैं अतीव चिन्तित और दुखी रहूँगा, भयके कारण कहीं कष्ट झेलकर भी रुक तो नहीं गये ? अथवा, मेरी मनोव्यथा दूर करनेके लिये कहीं वे तपस्या तो नहीं कर रहे हैं ? वे क्या हो गये—मुझे बताओ ! मैं अशान्तिसे अकुला रहा हूँ।'

इतनेमें लङ्कासे विजयी बनकर हनुमान्‌जी आ गये। आते ही उन्होंने यह कहा—'मैंने देखा है पातिव्रत्यकी आभूषणस्वरूपा सीतादेवीको । प्रभु ! आप चिन्ता और दुःख अबसे छोड़ ही दें।'

श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मणके हृदयमें उस समय यह अमृत-तुल्य संजीवनी वाणी सुनकर कितना आनन्द उमड़ पड़ा और उनकी दशा कैसी हो गयी—यह वर्णनातीत है। सीतादेवीकी दी हुई चूडामणिको हनुमान्‌के हाथों-से पाकर श्रीराम पुलकित हो उठे। अश्रु बहाने लगे, सारी देह फड़क उठी। पसीना बह चला, वे अनिर्वचनीय भावोल्लासमें थिरक उठे।

थोड़े समयके बाद कुछ स्वस्थ होकर श्रीराम सुग्रीव-से बोले—

मूल—"कालम्‌ लाष, ईण्डु इलुम्‌ इरुत्ति पोकलाम्‌"

—'अब देरी न करना। हमें यहाँसे कूच करना होगा !'

सुग्रीवकी आज्ञा पाकर वानर-सेना उमड़ पड़ी। वह कूच करके दक्षिण सागरके तटपर (धनुष्कोटिपर) बारह दिनोंमें जा पहुँची।

युद्धकाण्ड

युद्धकाण्ड, चौथा (विभीषण-शरणागति-) पटल

प्रसङ्ग—४५. विभीषण अपने आप्त अमात्योंके साथ श्रीरामकी शरणमें आये। रामने वानर-सेनापतियोंसे मन्त्रणा की कि इस राक्षसकुलजात और रावणके अनुजको स्वीकार करें या तिरस्कार। अन्य सेनाध्यक्ष सुग्रीव, साम्ब, नील आदिने विभीषणको शरणमें लेनेका विरोध किया। किंतु अकेले हनुमान्‌ने जताया कि 'शरणमें आये व्यक्तिको, भले ही वह शत्रुपक्षका हो, राक्षसकुलका हो और दुर्मति हो, तिरस्कृत करना धर्म नहीं है; फिर, यह विभीषण तो साधु, धर्मज्ञ और विवेकी व्यक्ति है। इसे शरणमें लेना ही उचित है, धर्म है।' श्रीरामको हनुमान्‌के वचन ही ठीक जँचे और वे उन्हींके वचनानुसार विभीषणको अपने पक्षमें लेनेके लिये सहमत हो गये। उस समय अन्य वानर नेताओंको समझानेके उद्देश्यसे श्रीरामने नीतिपूर्ण वचन कहे।

मूल—

"करुत्तुर नोक्किप्‌ पोन्त कालमुम्‌ नन्रु, कातल्‌ अरुत्तियुम्‌ अरशिल्‌ मेट्टे, अरिविनुक्कु अवधि इल्लै, पेरुत्तु उयर्‌ तवत्तिनालुम्‌ पिषैप्पु इलन्‌ एन्नुम्‌ पेट्रि तिरुत्तियदाकुम्‌ अन्रे, नम्‌ वयिन्‌ चेन्र्द चेय्कै ? मट्टु इनि उरैप्पदेन्नो ? मारुति वडित्तुच्‌ चोन्न पेट्रियै पेट्रि, अन्नदु अनृ एनिन्‌ पिरिदु ओन्रानुम्‌ वेट्रियै पेरुक, तोर्क्क वीक वीयादु वा.पूक पट्टुतल्‌ अनूरि उण्डो, अडैक्कलम्‌ पकर्किनूरानै ?"

—इत्यादि पंद्रह पद्योंके द्वारा रामके प्रभावपूर्ण वचन अभिव्यक्त हुए।

भावार्थ—'सबके साथ विचार-विमर्श कर लेना अच्छा ही हुआ। यह समय भी उचित ही रहा। राजाको स्नेह-सौजन्य रखना स्वधर्म है। ज्ञानकी कोई सीमा नहीं है। यह विभीषण बड़ी तपस्याके कारण दोषरहित है—यह मन्तव्य हमारे लिये उसके प्रति सद्भावना रखनेको पर्याप्त है। यह हमारी स्थितिके अनुकूल कार्य है।

'विचक्षण विद्वान्‌ मारुतिके परामर्श देनेके बाद इस बातपर दुविधाकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। मारुतिके वचन अद्भुत और श्लाघ्य हैं। शरणागतकी रक्षा करनी ही चाहिये। विजय हो, पराजय हो, पतन हो या उन्नति हो—इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये और शरणागतको छोड़ना नहीं चाहिये।

'वह (विभीषण) अन्तिम समयपर आया है; पिता और माताको भी मारनेवाले राक्षसके कुलमें उत्पन्न हुआ हो—इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। हमारी शरण आनेकी प्रार्थना करता है; इसलिये वह स्वयं आकर स्नेह बरतनेवाला साथी है। बाकी वह [illegible]

वृत्तिवाला बन भी जाय और हमारा अहित करे, तो भी हमें यश मिलेगा कि 'हमने शरणागतका स्वागत किया है'''इत्यादि ।'

प्रसङ्ग—४६. रामकी आज्ञाके अनुसार विभीषणको सुग्रीव जाकर ले आये । विभीषणने रामके चरणोंमें प्रणाम किया और रामके सख्यको अपना अहोभाग्य माना । तब रामने प्रमुदित होकर उससे कहा—

मूल—

"एषिनोडु एषाय् निन्र उलकुम् एन् पेयरुम् एन्नाळ्
वा.पुम् नाळ्, अन्रु कारुम् वाळ् एयिट्रु अरक्कर् वैकुम्
ता.पुकट इलंकैच् चेल्वम् निन्नते तन्तेन्'' एन्रान्

भावार्थ—'विभीषण ! ये चौदहों लोक और मेरा नाम जबतक बने रहेंगे, तबतक राक्षसोंके उस राज्य—लङ्काराज्यरूपी सम्पत्तिको मैंने तुम्हें दिया है, तुम उसके स्वामी हो ।'

फिर रामने लक्ष्मणके द्वारा विभीषणको राजतिलक कराया । विभीषणने भरतकी तरह रामकी पादुकाओंको अपने सिरपर धारण करनेकी इच्छा प्रकट की । उसकी भक्ति तथा आत्मीयता देख राम प्रसन्न हुए और बोले—

मूल—

"गुहनोडुम् ऐवरानेम् मुन्पु, पिन् कुन्रु चू.पवान्
मकनोडुम् अरुवरानेम्, एम्मु.पै अन्पिन् वन्त
अकन् अमर् कातल् ऐय ! निन्नोडुम् ए.पुवर् आनेम्;
पुकल् अरु कानम् तन्तु पुतल्वराल् पोलिन्तान् नुन्तै''

भावार्थ—'प्रथमतः हम चार भाई हैं, फिर गुहके साथ हम पाँच भाई हुए; तदनन्तर सुग्रीवके साथ हम छः भाई हुए; अब तो तुम्हें भी मिलाकर हम सात भाई हो गये हैं । स्नेही भाई ! मुझे निबिड काननमें भेजकर हमारे पिता लाभान्वित ही हुए ?'

युद्धकाण्ड, छठा (समुद्रकी रामद्वारा भर्त्सना-) पटल

प्रसङ्ग—४७. समुद्र-तरणके लिये रामने विभीषणसे मन्त्रणा की । उन्होंने सुझाया कि समुद्रराजासे प्रार्थना की जाय । तदनुसार रामने दर्भासनपर आसीन होकर समुद्रराजाकी स्तुति करते हुए सात दिनोंतक तपस्या की । तब भी समुद्र-राजा आविर्भूत नहीं हुआ । तब क्रुद्ध होकर रामने कहा—

मूल—"ओन्रुम् वेण्डलरायिनुम् ओरुवर् पालोरुवर्
चेन्रुवेण्डुवरेल अवर् चिरुमैयिन् तीरार्,
इन्रुवेण्डियदु एरिकडले नेरितनै मरुत्तान्,
नन्रु, नन्रु !'' एन नकैयोडुम् पुकैयुक नक्कान्-
"पारम् नींगिय शिलैयिनन् इरावणन् परिप्पत्
तारम् नींगिय तन्मैयन्, आतलिन् तकैशाल्
वीरम् नींगिय मनितन्—एन्रु इकष्च्चि मेल् तिळैय
ईरम् नींगियदु, एरिकडलाम्'' एन इशैत्ताम्
"पुरन्तु कोडलुम् पुकषोडु कोडलुम् पोरुदु
तुरन्तु कोडलुम्, एन्रिवै तोन्मैयिल् तोडर्न्द,
इरन्तु कोडलिन् इयक्कैयुम् धरुमसुम् एंचक्
करन्तु कोडले नन्रु इनि निन्रतु एन् कष्रि ?
"कानिडैप् पुकुन्दु इरुंकनिकायोडु नुकर्न्द
ऊनुडैप् पोरै उडम्पिनन् एन्रु कोण्डु उणर्न्द
मीनुडैक्कडल् पेरुमैयुम् विल्लोडु निन्र
मानुडच् चिरुतन्मैयुम्, काण् पराल वानोर-
"एतमंचि नान् इरन्ततै एळिदु एन इक.षन्द-
ओतम् अंचिनोडु इरण्डुम् वेन्दु ओरुपोडियाक,
भूतमंचि वन्दु अंजलित्तु उयिर् कोण्डु पोरुम,
पादसंजलर् वेंचेवे पडर्वर्, एन् पडैजर्
"मरुमै कण्ड मेयुण् ञानियर् ञालत्तु वरिनुम्
वेरुमै कण्डपिन् यावरुम् यावदुम् विरुप्पार्
कुरुमै कण्डवर् कोपुंकनल् एन्निनुम् कूचार्
चिरुमै कण्डवर् पेरुमै कण्डु अल्लदु तेरार्''

भावार्थ—'भद्रपुरुष भी, जिसने पूर्वमें किसीसे कभी कुछ माँगा नहीं हो, विवशतासे कभी किसीसे कुछ माँग बैठे, तो वह अवश्य आदर पाता है । मैंने आज अपनी गरिमा छोड़कर इस समुद्रसे सहायता माँगी । इसने मेरी प्रार्थना नहीं सुनी—ठीक है !

'मैं राज्यभारसे मुक्त किया गया हूँ और राक्षस रावणके द्वारा पत्नी (सीता) से वियुक्त किया गया हूँ, इसलिये मैं वीरताशून्य नर हूँ—यही समझकर इस सागरने मेरी उपेक्षा की है और स्वयं शिष्टतासे विमुख रह गया ।

'यह परम्परागत रीति है कि स्वेच्छासे कोई दे, उसे स्वीकार करना या अपने यश और प्रतापसे अपेक्षित वस्तुको दूसरेसे पाना या तो वाञ्छित वस्तुके लिये उसके

भावार्थ-'पहले मेरे पिताजी मर गये, तब मैं अपने प्राण न छोड़कर जीवित रह गया। यही समझा कि पिताजी सारा संसार मुझे देकर गये हैं। जब मैं काननको आया तब भी मैं चिन्तित नहीं हुआ; क्योंकि तुम मेरे साथ रहे। हे लक्ष्मण! अब मैं क्या कहूँ? मेरे पास वचन नहीं हैं। भाई! मैं भी आ जाता हूँ, तात! मुझसे आगे जिया नहीं जायगा।

'लक्ष्मण! तुम्हीं मेरी माता हो; मेरे पिता हो, मेरी तपस्या तुम्हीं हो, तुम्हीं मेरी संतान हो, प्रिय सहोदर हो; मेरी सौभाग्य-श्री तुम्हीं हो; तुम मुझे छोड़कर कहाँ चले गये? तुम यश न पाओगे; क्योंकि मुझे छोड़कर जो गये हो। मैं अब भी जीवित रहता हूँ, मैं इतना कठोरचित्त हूँ!—धिक्कार है मुझे!

'मेरे साथ वनमें आकर तुमने कम कष्ट नहीं झेला है! मेरे प्रति तुमने कितना उपकार किया है! मेरी सुविधाके लिये तुमने कितना कुछ दुःख सहा है! कड़ी धूपकी परवा न करके तुम मेरी रखवाली करनेके लिये सदा खड़े रहे। उस थकानको मिटानेके हेतु अब सो रहे हो? यह निद्रा तुम्हारी कब टूटेगी?

'मैंने पहले मिट्टीके प्रति आसक्ति रखी, तो उसके फलस्वरूप मेरे माता-पिताको ऐसी व्यथा पहुँचायी, जैसे घावपर अंगार रखनेसे होती है। अर्थात् मैंने राजतिलक करा लेनेकी स्वीकृति दी, तो उसका परिणाम बड़ा ही दुःखदायक रहा। अब नारीपर (सीतापर) आसक्ति रखकर इधर आया और यह युद्ध छेड़ा, तो इसके फलस्वरूप ये 'लाभ' पा रहा हूँ। (भाई, बंधु साथी आदि शस्त्रास्त्र-प्रहारसे मृतप्राय हो गये। मेरी कैसी कीर्ति बढ़नेवाली है—हाय!)

'लक्ष्मण! तुम मर गये हो! मैं आगे जीवित नहीं रहूँगा। मेरे मर जानेके बाद अयोध्याराज्य शासकरहित हो जायगा। मेरी मृत्युका समाचार सुनकर भरत भी तत्काल प्राण छोड़ देगा! फिर बन्धु-बान्धव सब प्राण-त्याग कर देंगे। वे इस दुःखको सहन नहीं कर पायेंगे।

'भाई! तुमने मेरे लिये अपना धर्म, माता, पिता, बान्धव—सबका त्याग कर दिया। मुझे कभी भूले नहीं। मेरा अचूक साथी बननेके लिये तुम जन्मे थे। कानन जाते समय भी मेरा अनुसरण तुमने किया। एक क्षण भी मेरे बिना नहीं रहते थे, अब तो तुम चल बसे हो। यह दृश्य देखकर भी मैं जीवित रहता हूँ। मैं कितना तुच्छ, क्षुद्र हूँ!

'अभी कुछ दिन पूर्व शरणागत विभीषणको लङ्काका राज्य मैंने प्रदान किया। उस वादेको पूरा किये बिना ही, अब मैं मर जानेवाला हूँ। उसी दिन जब मारीच मायामृग बनकर आया था, मैंने तुम्हारे समझानेपर भी सत्यको नहीं पहचाना। हमारे कुलका ही मैं कलङ्क रह गया। मैंने ही अपने यशपर कुठाराघात किया। उस समय मैं मतिमान् रहकर भी मतिहीन हो गया था।······'

युद्धकाण्ड, चौबीसवाँ (संजीवनी-पर्वत-) पटल

प्रसङ्ग—५०. वानरवैद्य साम्बके निर्देशानुसार हनुमान् संजीवनी ओषधि लाने हेमकूट, उत्तरकुरु, नीलपर्वत आदि पार-कर ओषधिगिरिपर पहुँचे। वे उस गिरिको ही, जहाँ संजीवनी बूटी उगी और पनपी हुई थी, उठाकर ले आये। संजीवनीके दिव्य प्रभावसे सब मृतप्राय सैनिक, सेनाधीश आदि उज्जीवित हुए। लक्ष्मणकी भी चेतना लौट आयी। रामके आनन्दका वारापार नहीं था। कृतज्ञतासे भरकर रामने हनुमान्‌की प्रशंसा की—

मूल—"मुन्निन् तोन्‌रिनोर मुरैयिन् नींगलादु,
एन्निन् तोन्‌रिय तुयरिन् ईरुवोर्
मन्निन् तोन्‌रिनोम् मुन्नम्, माण्डुळ्ळोम्,
निन्नम् तोन्‌रिनोम्, नेरियिन् तोन्‌रिनाम्।
"अषियुंकाल् तरुम् उतविक्कु ऐयने!
मोषियुंकाळ् तरुम् उयिरुम् मुट्टमे?
पषियुम् कात्तु अरुम् पकेयुम् कात्तु एमै
वाषियुम् कात्तु नम् मरपुम् कात्तनै।
"ताषवु इंगु इरैप्पोषुदु तक्कदे
वाषि एम्पि मेल अनूपु माट्टलाल्!
एषुम् वीयुम्, एन् पकर्वदु?—एहैनाथ्
ऊषि काणुम् नी, उदनिनाय् अरो!
"इनूरु वीक्लादु एवरुम् एम्मोडु
निनूरु वीपुमा नेडिदु नलिकनाय्,
ओनूरुम् इन्नल नोय् उरुकिलादु, नी
एनूरुम् वाष्‌तियाल् इनिदु, एन् एन्नलाळ्!"

भावार्थ—'पुरखोंके नियमोंसे न हटकर चलनेवाले मुझ… जितने कष्ट और विपत्तियाँ आयीं, उन सबको दूर करनेके लि…

तुम अवतरित हुए हो। हम विपद्के मारे मर ही गये थे, फिर तुम्हारी कृपासे पुनर्जीवन पा गये। तुम धर्म और नीतिके स्वरूप हो!

'विनाशकी ओर जाते समय जो उद्धार करनेका उपकार करता है, उसका ऋण प्राण देकर भी चुकाया नहीं जा सकता। तुमने मेरे नाम जो कलङ्क लगनेवाला था, उसे दूर किया और शत्रुपक्षको जो गर्व रहा, उसको मिटाया। मेरे लक्ष्य-पथको तुमने प्रशस्त किया। हनुमान्! तुमने मेरे कुलकी ही रक्षा की है!

'इस युद्ध-भूमिमें तो मरना-मारना सहज है। हनुमान्! तुम युग-युग जियो! तुमने मेरे प्राणप्रिय अनुज लक्ष्मणपर अपार स्नेह रक्खा है। मैं क्या कहूँ? तुम अमर रहो! प्रलय-कालको तुम देख सकोगे—तुम्हारी आयु उतनी लंबी हो! तुमने कैसी उत्तम सहायता की है!

'आज सबको बचाकर—उज्जीवितकर मेरे प्रति पूर्ववत् जी रहनेका अवसर तुमने दिया है। तुम्हें कोई भी रोग नहीं ...येगा। तुम अमर रहो; आनन्दके साथ जियो—मैं तुम्हें यही वर देता हूँ—तुम अमर हो।'

युद्धकाण्ड, छब्बीसवाँ (माया-सीता-) पटल

प्रसङ्ग—५१. इन्द्रजित् हनुमान् आदिको चकमा देकर निकुम्भला-याग करने लगे। इस रहस्यका उद्घाटन विभीषणने किया, यथाशीघ्र उस यागको रोकनेमें ही हमारा निस्तार है; अतः वानर-सेनाके साथ लक्ष्मण तथा मुझे अभी इन्द्रजित्के साथ लड़नेकी अनुमति दें।—यह प्रार्थना रामसे की। रामने प्रोत्साहित होकर विभीषणके उपकारके लिये आभार प्रदर्शित किया और उसे गाढालिङ्गन करते हुए कहा—

मूल—
"ऐय! तीर्वदु पीरुलो तुनूपम्? नी उळै, तेय्वम् उण्डु, मारुति उळन्, नाम चेयूत तवम् उण्डु, वलियुम् उण्डाळ्।"

भावार्थ—'तात! हमारा दुःख दूर होगा या हमें और दुःख होगा, पता नहीं। (किंतु मुझे विश्वास है कि हमारा दुःख अवश्य दूर हो जायगा।) क्योंकि मेरे साथ—मेरे पक्षमें तुम हो, दैवका साथ है, मारुति है और हमारी की हुई तपस्या है तथा इनके साथ हमारा बाहुबल भी है।'

युद्धकाण्ड, सैंतीसवाँ (रावणवध-) पटल

प्रसङ्ग—५२. श्रीरामके बाणसे आहत होकर रावण अपने रथपर मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। तब राम शरसंधान छोड़कर चुप खड़े रहे। श्रीरामके सारथि मातलिने उन्हें समझाया, 'यह रावणवधका उत्तम समय है, चूकना नहीं; शीघ्र बाण-प्रहार करके रावणका वध करें।' तब रामने सारथिसे वीरोचित वचन कहे—

मूल—**"पडै तुरन्तु मयंकिय पण्पिनान्
इडै पेरुम् तुयर पार्त्तु, इकल् नीतियिन्
नडै तुरन्तु उयिर् कोटलुम् नन्मैयो?
कडै तुरन्तत्तु पोर्, एन् करुत्तु" एन्रान्,**

भावार्थ—'(यह रावण भले ही मेरा शत्रु एवं पातकी हो, फिर भी) अपनी सेनासे बिछुड़कर, आयुधोंसे विहीन होकर मूर्च्छित पड़ा है। इसकी इस अरक्षित दशासे लाभ उठाकर और नीतिमार्गसे विमुख होकर इसके प्राण हरण करना उचित नहीं है। यह युद्धधर्मके विपरीत है और लाञ्छन लगाने-वाला भीरु कृत्य है—यह मेरा दृढ़ मत है।'

युद्धकाण्ड—उनचालीसवाँ (विभीषण-राज्याभिषेक-) पटल

प्रसङ्ग—५३. रावणवध हो चुका है। श्रीरामने लक्ष्मणके द्वारा विभीषणको लङ्काराज्यके शासकरूपमें अभिषिक्त कराया और अपना वचन पूरा किया। विभीषणने श्रीरामके चरणोंमें प्रणाम किया। तब रामने उसको नीतियुक्त वचन कहे—

मूल—**"उरिमै मूवुलकुम् तोष्, उम्परतम्
पेरुमै नीति अरन् वषिप् पोरकिलादु,
इरुमैये अरशाळुति, ईरु इलात्
तरुमशील!" एन्रान्।
"मट्र उन्नुडैत्तमरोडु उयर् कीर्ति योय्! मन्नि वाष्क!"**

भावार्थ—'हे विभीषण! तुम लङ्काका सुशासन करो। तीनों लोक तुम्हारी बड़ाई करें—ऐसे नीतिपूर्ण, धर्मनिष्ठ रहकर शासन करो। देवोंके द्वारा निर्दिष्ट गरिमापूर्ण नीति और धर्मके मार्गोंसे कभी विचलित न होकर, भूमि तथा स्वर्गपर तुम्हारा अधिकार हो—ऐसा सुशासन करते रहो। हे अनुपम धर्मशील! तुम अपने परिवार तथा बन्धुजनोंके साथ युग-युग जीते रहो! यशस्वी बने रहो!'

[श्रीकम्बरामायण सम्पूर्ण]

तेलुगुमें श्रीरामवचनामृत

(संग्रहकर्ता-लेखक—श्री ए. वी० कामाक्षिराव, एम्० ए०)

यों तो तेलुगुमें रामचरितके पचासों ग्रन्थ हैं; पर गोन बुद्धारेड्डीद्वारा लिखित 'रङ्गनाथ-रामायण' तेलुगु भाषाकी लोकप्रिय रामायण है। वही तेलुगुकी प्रथम रामायण भी है। वह 'द्विपद' नामक गेय छन्दमें लिखी हुई सुन्दर सरल रचना है, जो विद्वान्, पण्डित एवं अपठित साधारणजन सबके बीच समादृत है। निम्नलिखित अंश उसी रामायणके अयोध्याकाण्डमेंसे लिये गये हैं।

श्रीरामचन्द्रजीको यौवराज्यके स्थानपर वनवासका आदेश प्राप्त हो गया। इस समाचारको सुनकर लक्ष्मण अत्यन्त क्रुद्ध हो जाते हैं और वे अपने भाई श्रीरामसे अनुरोध करते हैं कि 'आप इस आज्ञाका तिरस्कार कर दीजिये; क्योंकि यह आदेश धर्म एवं न्यायके विरुद्ध है।' माता कौसल्या भी लक्ष्मणका समर्थन करती हैं। तब श्रीरामचन्द्र यों कहते हैं—

मूल—"एमिटि की माटलित्त शोकिंप।
नेमिटि कनि रामुडेर्पड ब्रलिकें॥
बलुविडि दमतंड्रि पनुपुन दोल्लि।
चलमुन दमतल्लि जंपे भार्गवुड्॥
तरुणि किनुकमै तमतंड्रि पनुप।
दरिगोनियोक गोवु दरिगे कुंडिगुड्॥
तनमनोहर मैन तारुण्यमोसगि।
तनतंड्रि मुदिमिनि दालचे बूरुंड्॥
तमतंड्रि पनुपुन द्रव्वरे तोल्लि।
तमकिंचि सगर नंदनुलंबुनिधि॥
गडगि तंड्रिदि पंपु गैकोनि नाकु।
नडवुल नुंडुट यदि यंत पेद्द ?॥
नी वल्लभुनि माट नीकुनु नाकु।
भाविंचि चेयुटे परम धर्मंबु॥
ई लक्ष्मणुडु बालुडु एमियु नेरग
जालडु वीर विचारंबे कानि।
यनि नव्वुचुनु रामु डनु जन्मु जूचि
तन लोन शांत मंतयु दोप बलिके॥
"नीविक्रमंबुनु नी भुजाबलमु
नीविलुविलयु नी सुबुद्धियुनु।
नीमगतनमनु ने नेरुंगुदुनु
सौमित्रि नायेड सद्भक्ति गलिगि॥
येंत साहसमु नीविपुडु गोरितिवि
एंतटि बुद्धि ना कीवुसेप्पितिवि ?
गोनकोनि यिट्टु वेडुकोन्नदि तल्लि
यनुकंप निंचि पोम्मन्नाडु तंड्रि॥
यिल येल्ल जेकोनि यी राज्य पदमु
नलि नेलुचाडिक ना सहोदरुड्।
बलुविडि नेव्वरिपै नलगे दीवु
बल गर्वमुलु सूप वाडिये नीकु॥
नर्मिल दंड्रि वाक्यमु सेयुकंटे
धर्मंबु गलदे यी तंड्रि वाक्यंबु।
त्रोयुट कंटेनु दुरितंबु गलदे
वेयिविधंबुल वेदकि चूचि ननु॥
जनकुनि पनुपवश्यमु नीकु नाकु
-जननुलकु जेय सहजधर्मंबु।
गान नातनि पंपु गैकोनि नेनु
काननकेगुट गादनवलदु॥
परमपावनुलैन भानुवंशजुल
चरितंबु नीकु विचारिंप दगदे ?
कावलसिन पनुल गाकेल मानु
दैवयत्नमुलवि दाटंग दरमे ?"
यनि पेक्कु भंगुल ननुनयंबेसग
ननुजन्मु बोधिंचि "यनवात्म नीवु।
नाकु भक्तुडवय्यु नापंपु नेम्मि
गैकोनि कार्चिंपु गारवंबेसग॥
नीनिष्ठुर क्रममेल्ल बोविडुवु-
मेनरण्यमुलकु नेगेद; वेनुक।
नेल्ल भंगुल भक्ति नेडपक कोलिचि
तल्लिदंड्रुल मनस्तापंबु मान्यु॥"

इसके पश्चात् श्रीरामचन्द्र अपनी माताको यों समझाते हैं—

यनुनयालाप दीनास्युडै रामुडनिये।
"नोयम्म यिट्ला डंग दगुने॥

पतिये प्राणपदंबु, पतिये चुट्टंबु ।
पतिये दैवतमात्म बरिकिंप नट्टि ॥
पति बासि नावेंट परतेंतु ननुट
मति दलंपग धर्ममा तल्लिनीकु ?
वसुधेशु नानति वसुमतीभार ॥
मेसग ना भरतुन किच्चुट दप्पे ?
यवनीशु डिच्चेद नन्न या वरमु
लविरेंडु कैकेयि यडुगुट दप्पे ?
यनृतंबुनकु नोडि यकट राजेन्द्रु
डोनरंग वरमुलिट्लोसग गुट दप्पे ?
सा तंड्रि यानति शहि निर्वहिंप
नी तेरंगुन दलुटिदि नाकु दप्पे ?
चेकोनि पतिपंपु सेल्लिपकुन्न
नीकैन दप्पदु निक्कुवंबरय ॥
बूनि कानल केनु बोयिन पिदप
दीनुडै पोगल पार्थिवुनि नीवेपुडु ।
ननु नयिंचुचु सपर्यल नोनपुंचुनु
मनसु चुम्मलिकंबु माल्पंग वलयु ॥
दुरित दूरुंड बंधुर पुण्यरतुडु
भरतुंडु नाकन्न भक्ति निन्नरयुः ।
नीवु शोकिपकु मिक गललैन
भाविंप दशरथ पतिं योप्पडनकु ॥
कैकेयि विडुवक कलिसि वातपु
नाकु सेंसमु गोर ननु वीडुकोलुपु ।
मेनु नेम्मदि तोड नैतंचु कोरकु
बूनि भूसुरुल वेलपुल नर्थिगोलुवु ॥

श्रीरामचन्द्रने अपनी मातासे कहा—

भावार्थ—'आप ये कैसी बातें कर रही हैं ? इतना दुःख करनेकी क्या आवश्यकता है ? क्या भार्गव रामने अपने पिताकी आज्ञासे अपनी माताका वध नहीं किया था ? कुण्डिनने क्या अपने पिताके आदेशसे गायको नहीं मारा था ? क्या पूरुने पिताको अपना सुन्दर यौवन देकर स्वयं बुढ़ापा ग्रहण नहीं किया था ? क्या सगरके पुत्रोंने अपने पिताके आदेशसे समुद्रतलको खोदनेका कार्य नहीं किया ? तब पिताके आदेशसे मैं वनमें निवास करूँ तो कौन बड़ा कार्य है ? आपके पतिदेवकी बातें मानना आपका और मेरा परम धर्म है । यह लक्ष्मण अभी बालक है, आवेशमें आकर वीरोंके समान सोचनेके सिवा वह और कुछ नहीं जानता ।'

फिर श्रीरामचन्द्रने हँसते हुए अपने अनुजकी ओर देखकर बहुत ही शान्त-भावसे कहा—'सौमित्रि ! मेरे प्रति सद्भक्ति रखते हुए तुम कैसा दुस्साहस करना चाहते हो ? तुम कैसी सीख मुझे दे रहे हो ? माताने मुझे वन जानेका आदेश दिया और पिताने बड़ी कृपासे उसके लिये अनुमति दी और इस समस्त राज्यपर मेरा भाई राज्य करनेवाला है । फिर, भला, तुम किसपर क्रोध दिखाना चाहते हो ? यहाँ बल और गर्व दिखाना तुम्हें शोभा देता है ? श्रद्धासे पिताकी आज्ञाका पालन करनेसे बढ़कर तुम्हारा और क्या धर्म हो सकता है ? तुम चाहे किसी भी रीतिसे सोचो, पिताके आदेशको ठुकरानेसे बढ़कर और क्या पाप हो सकता है ? मेरे और तुम्हारे लिये ही नहीं, माताओंके लिये भी यही सहज धर्म है कि पिताजीके आदेशका पालन किया जाय । इसलिये तुम यह मत कहो कि मैं पिताके आदेशानुसार वन न जाऊँ । क्या तुम्हें सूर्यवंशजोंके पावन चरितका विचार नहीं करना है ? जो होनहार है, वह होकर रहेगा । दैवेच्छा अनिवार्य है ।'

इस तरह अपने अनुजको कई रीतियोंसे समझा-बुझाकर श्रीरामने कहा—'अनघ ! तुम मेरे प्रति श्रद्धा रखते हो । अतः मेरे आदेशका पालन करो । ऐसी निष्ठुर बातें छोड़ दो । मैं वन जाऊँगा । मेरे जानेके पश्चात् तुम हर तरहसे माता-पिताकी भक्तिपूर्ण सेवा करना और उनका क्लेश दूर करना ।'

इसके पश्चात् कौसल्याने जब रामके साथ वन जानेकी बात कही, तब श्रीरामचन्द्र अपनी माताको यों समझाने लगे—'माताजी ! आपका ऐसा कहना क्या उचित है ? आप विचारकर देखिये—स्त्रीके लिये पति ही प्राण है, पति ही बन्धु-बान्धव है, पति ही ईश्वर है । ऐसे पतिको छोड़कर मेरे साथ चलनेकी बात सोचना क्या आपके लिये उचित है ? महाराजने यदि राज-पाटका भार भरतको सौंप दिया तो इसमें क्या दोष है ? यदि माता कैकेयीने महाराजके द्वारा दिये गये वर माँगे तो क्या वह अनुचित है ? यदि महाराजने असत्यसे डरकर उन्हें वर दे दिये तो उसमें भूल ही क्या है ? पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं वन जानेको तैयार हो जाऊँ तो इसमें क्या दोष है ? सत्य तो यह है कि पतिकी आज्ञाके पालनमें बाधा देना आपकी भूल मानी जायगी । पतिकी आज्ञाका पालन करना आपके लिये

भी अनिवार्य है। अतः मेरे वन जानेके पश्चात् आप दुःखसे संतप्त महाराजकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए उनका संताप दूर करें। पुण्यात्मा भरत मुझसे अधिक आपकी भक्ति करते हैं। आप दुखी न हों। स्वप्नमें भी आप महाराज दशरथ-को दोष न दें। माता कैकेयीके साथ हिल-मिलकर रहें। मेरे कल्याणकी कामना करें और मुझे आज्ञा दें। आप ब्राह्मणों तथा देवताओंसे प्रार्थना करें कि मैं सकुशल वनसे लौट आऊँ।'

मलयालममें श्रीरामवचनामृत

[संग्रहकर्ता-लेखक—श्रीएल्० रामकृष्ण शर्मा, एम्० ए० (हिंदी), एम्० ए० (मलयालम), 'साहित्यरत्न']

आचार्य तुंचत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन

भारतके दक्षिणमें स्थित केरल-प्रदेशकी जनताकी भाषा मलयालम है। आधुनिक मलयालम साहित्यके पिताके रूपमें 'आचार्य तुंचत्तु रामानुजन एषुत्तच्छन'का नाम लिया जाता है। हिंदी-साहित्यमें गोस्वामी तुलसीदासका जो महत्त्वपूर्ण स्थान है, वही स्थान मलयालममें आचार्य रामानुजन एषुत्तच्छनको प्राप्त है। उनकी महान् कृति है 'अध्यात्म-रामायणम्'। जिस प्रकार उत्तर भारतके हिंदी-भाषा-भाषी आचार्य गोस्वामीकृत 'रामचरितमानस'का पठन-पाठन बड़ी श्रद्धाके साथ करते आ रहे हैं, वैसे ही केरलके घर-घरमें 'अध्यात्मरामायणम्'का पठन-पाठन होता है। गोस्वामीजी और एषुत्तच्छन दोनों समकालीन कवि भी हैं।

संस्कृत भाषामें विरचित 'अध्यात्मरामायण'के आधारपर 'मलयालम'में एषुत्तच्छनने अपने ग्रन्थका निर्माण किया है। इसमें उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभासे काम लिया है। प्रसङ्गोंको ध्यानमें रखकर कथाको मूल-ग्रन्थसे घटाने-बढ़ानेमें उन्होंने सम्पूर्णरूपसे स्वतन्त्रता बरती है। इसकी भाषा ललित, कोमल तथा गम्भीर है। ओज, प्रसाद एवं माधुर्य—इन तीनों काव्य-गुणोंका प्रसङ्गानुकूल समावेश इस ग्रन्थमें पाया जाता है। सूक्तियोंका वर्णन करते समय एषुत्तच्छनने अच्छी कुशलता दिखायी है।

आचार्य रामानुजन एषुत्तच्छनके इस अध्यात्मरामायणमें प्राप्त कुछ एक श्रीरामके वचनोंका संकलन यहाँ किया गया है, जिसका भावार्थ भी साथ-ही-साथ दिया गया है। अध्यात्मरामायणके अयोध्याकाण्डमें वनगमनके समय श्रीरामचन्द्रजी नारद मुनिसे कहते हैं—

मूल—वन्दे पदं करुणानिधे ! साम्प्रतं
नाना विषयसंगम् पूण्ड्र मेविन
मानसत्तोड्ड संसारिकळायुळ्ळ
मानवन्माराय मङ्ङळ्क्कु चिन्तिच्चाल्
ज्ञानियार्कुं तव पादपङ्केरुहम्
कण्टुकोळ्वानत्ति दुर्ल्लभं निर्णयं
पण्डु ञान् चेय्तोरु पुण्यफलोदयं
कोण्टु काण्मानवकाशवुं वन्नितु
पुण्डरीकोत्भव-पुत्र ! महामुने !
एन्नुटे वंशवुं जन्मवुं राज्यवुं
इन्नु विशुद्धमायवन्नु तपोनिधे !
एन्तालिनियेन्तु कार्यमेन्नुं पुन-
रेन्नोटरुळ्चेय्क वेणं दयानिधे !
एन्तोरुकार्यं निरूपिच्चेषुन्नळ्ळी ?
संतोषमुळ्क्कोण्टरुळ् चेय्कयुं वेणम्
मन्दनेन्नाकिलुम् कारुण्यमुण्टेन्किल्
संदेहमिल्ल साधिविवनेल्लासे

भावार्थ—'करुणानिधे ! हम आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। कई प्रकारकी सांसारिक विषय-वासनाओंमें लीन होकर रहनेवाले हमारे-जैसे मानवोंके लिये सोचनेपर भी आपसे ज्ञानियोंके चरण-कमल देखना निश्चय ही कठिन है। इसके पूर्व मैंने जो पुण्याचरण किये थे, उन्हींके फलस्वरूप आज आपके दर्शन हुए। ब्रह्माजीके पुत्र! आज मेरे कुल, जन्म एवं राज्य विशुद्ध हो गये। तपोनिधे! आप अपने पधारनेका कारण मुझसे कहें। आप कौन-सा कार्य सोचकर यहाँपर पधारे? आप प्रसन्न होकर सारी बातें मुझे बतानेकी कृपा करें। यद्यपि मैं मन्द हूँ; तथापि आपकी करुणा मुझपर हो तो मैं सब कुछ कर दूँगा।'

जब श्रीनारदमुनि श्रीरामचन्द्रजीको यह स्मरण दिलाते हैं कि 'आप यद्यपि सत्यनिष्ठ अवश्य हैं, तथापि

जन्म लेनेके कारण आपके लिये अपने अवतारका उद्देश्य ही भूल जाना सम्भव है,' तब श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—

मूल—सत्यत्ते लंघिक्कयिल्लोरुनाळुं थान्
चित्ते विषादमुण्टाकरुतुमूलम्
कालविळंबनमेन्तिनेन्नकूलल्ली
मूलमतिनुण्टतुं परञ्ञीडुवन्
कालावलोकनं कार्यसाध्यं नृणाम्
कालस्वरूपनल्लो परमेश्वरन्
प्रारब्ध-कर्म-फलोघक्षयं वरुं
नेरत्तोपिन्नु सद्भावतिल्लाकुंमे
कारणमात्रं पुरुषप्रयासमे-
न्नारुमरियातिरिक्कयुमल्लल्लो
नाळे वनत्तिनु पोकुन्नतुण्टुञान्
नाळीकलोचनन् पादङ्ङळ तन्नाण
पिन्नेच्चतुर्दश संवत्सरं वनं
तन्निल् मुनिवेषमोटु वाणीडुवन्
एन्नाल् निशाचरवंशवुं रावणन्
तन्नेयुं कोन्नु मुटिक्कुन्नतुण्टल्लो
सीतये कारणभूतयाक्कि कोण्टु
यातुधानान्वयनाशं वरुत्तुवन्
सत्यं इतेन्नरुळ्चेय्तु रघुपति
चित्तप्रमोदेन नारदनन्नेरम्
राघवन् तन्ने प्रदक्षिणवुं चेय्तु
देवमुनीन्द्रननुज्ञयुं कैक्कोण्टु
देवलोकं गमिच्चीटिनानदराव्

भावार्थ—'मैं कभी सत्यका उल्लङ्घन नहीं करूँगा। इसपर आप कभी दुखी न हों। यदि आपको इस बातपर कोई संदेह हो कि मैं क्यों विलम्ब कर रहा हूँ, तो उसका कारण आपसे बताऊँगा। संसारमें मनुष्योंका सारा कार्य समयका अवलोकन करनेसे ही सिद्ध हो जाता है। भगवान् भी कालस्वरूप तो हैं ही। जब हमारे पूर्वजन्मार्जित कर्म-फलोंका क्षय होगा तभी सारे कार्य सफल हो जायँगे, अन्यथा नहीं। मनुष्योंका प्रयत्न केवल कारणमात्र है। यह बात सब-के-सब जानते भी हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि मैं कल अवश्य काननके लिये प्रस्थान करनेवाला हूँ। भगवान्के चरण-कमलोंकी शपथ लेकर मैं कहता हूँ कि चौदह वर्षतक वनमें मुनि-वेषको धारण करके मेरा यह वचन सत्य है कि सीता[illegible] बनाकर मैं राक्षसवंशका सर्वनाश कर [illegible] जीके ये वचन सुनकर नारद मुनि [illegible] और उनकी परिक्रमा करके तथा अनु[illegible] देवलोकको चले गये।

दूसरा प्रसङ्ग

जब कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा[illegible] मेरे द्वारा तुमको यह बात कहलवाना चाह[illegible] वर्षोंतक तपस्वीका वेष धारण करके [illegible] तुम्हारा भाई भरत युवराज बने,' तब श्री[illegible] होकर मातासे यों कहा—

एन्नतु केट्टु श्रीरामनुं चं[illegible]
इन्नतिनेन्तोरु वैषम्य[illegible]
चेय्कभिषेकं भरतनु[illegible]
वैकाते पोवन् वनत्तिनु म[illegible]
एन्ततेन्नोटु चोल्लाञ्ञु
चिन्तिच्चु दुःखिप्पतिनेन्तु
राज्यत्ते रक्षिप्पतिन्नु मा[illegible]
राज्यमुपेक्षिप्पतिन्नु ञानुं
दण्डमत्रे राज्यभारं व[illegible]
दण्डकवासासिनेट्टमेळुतल्लो
स्नेहमेन्नेक्कुरिच्चेरममरुकुम-
देहमात्रं भरिक्केन्नु विधिवत्[illegible]
आकाशगंगये पातालल[illegible]
वेगेन कोण्टु चेन्नाक्कि भगी[illegible]
तृप्ति वरुत्ति पितृक्कळक्कु[illegible]
तृप्तनाक्कीटिनान् तातनु त[illegible]
यौवनं नल्कि जरानरयुं वा[illegible]
दिव्यन्मारायार पितृप्रसादत्ति[illegible]
अल्पमायुळ्ळोरु कार्यं निरूपि[illegible]
मत्पिता दुःखिप्पतिनिल्लव[illegible]

भावार्थ—'माता! इस बातमें कौन-सी कठि[illegible] भरतका अभिषेक करें। मैं अभी वनकी ओर च[illegible] हूँ। यह बात पिताजीने मुझसे क्यों नहीं कही? [illegible] बातपर सोच करके क्यों दुखी हो रहे हैं? [illegible]

त्याग करना और भी सरल है। राज्यका भार सँभालना तो एक प्रकारसे दुःखदायी है, पर दण्डकारण्यका वास अत्यन्त ही सुखदायी एवं आसान है। आपके हृदयमें मेरे प्रति इतना अधिक स्नेह है कि आपने मुझे केवल अपने शरीरका भरण-पोषण करनेकी भी आज्ञा दी है। भगीरथने आकाशगङ्गा-को पाताल-लोकमें शीघ्र पहुँचाकर अपने पितरोंका उद्धार कर दिया। पूरुने अपने पिता ययातिको वार्द्धक्यके बदलेमें अपना यौवन देकर संतृप्त किया। इस प्रकार पितरोंके प्रसादसे वे अमर बन गये। केवल इस छोटी-सी बातपर तनिक भी सोच-विचार करने तथा दुखी होनेकी पिताजीको कोई आवश्यकता नहीं।'

तीसरा प्रसङ्ग

श्रीरामचन्द्रजी अपने दुःखमग्न पिता दशरथजीको सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

मूल—एन्तिनेन्र् तातन् वृथैव दुःखिक्कुन्-
तेन्तोरु दण्डमितिन्नु महीपते!
सत्यत्ते रक्षिच्चु कोळ्ळुवान् ञङ्ङळ्क्कु
शक्ति पोरायकयुमिल्लितु रण्टिलुं
सोदरन् नाट्टं भरिच्चिरुन्नीटुक
सादरं ञान् अरण्यत्तिलुं वाणुवन्
ओर्क्किलो राज्यभारं वहिक्कुन्नतिल्
सौख्यमेरं वनत्तिन्कल् वाणीटुवान्
पतुमे दण्डमिल्लात कर्मं मम
मातावेनिक्कु विधिच्चतु मन्नल्लो

भावार्थ—'पिताजी! आप व्यर्थ ही क्यों दुखी हो रहे हैं! पृथ्वीपते! इस प्रकार दुखी होनेकी यहाँपर कौन-सी घटना घटी है? हम दोनोंमें सत्यकी रक्षा करनेकी पर्याप्त शक्ति है। मेरा भाई भरत राज्यका शासन सुव्यवस्थितरूपसे करे और मैं वनमें रहकर वहाँका शासन करूँगा। सच पूछा जाय तो राज्यका शासन करनेकी अपेक्षा वनका निवास कहीं अधिक सुखदायी है। मेरी माता (कैकेयी) ने जो काम मुझे सौंपा है, वह तो अत्यन्त ही सरल है और वह मेरे लिये बहुत श्रेष्ठ है।'

चौथा प्रसङ्ग

कैकेयीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा—'राम! तुम सत्यके बन्धनमें बँधे हुए अपने पिताके सत्यकी रक्षा करनेमें समर्थ हो और योग्य भी हो। पुत्र पुन्नामरूपी नरकसे अपने पिता-का त्राण करता है, इसीसे ब्रह्माजीने संतानके लिये 'पुत्र' शब्दका प्रयोग किया है।' यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी माता कैकेयीसे बोले—

मूल—एन्तयुमेट्टं व्यथितनाय् चोल्लिनान्
इन्नयेल्लां परयेणमो मातावे!
तातार्थमायिट्टु जीवनेत्तन्नेयुं
मातावु तन्नेयुं सीतये तन्नेयुं
ञानुपेक्षिप्पनतिनिल्ल संशयं
मानसे खेदमितिनिल्लेनिक्केतुं
राज्यमेन्नाकिलुं तातन् नियोगिक्किल्
त्याज्यमेन्नालेन्नरिक नी मातावे!
लक्ष्मणन् तन्ने त्यजिक्केन्नु चोल्किलुं
तत्क्षणं ञानुपेक्षिप्पनरिक नी
पावकन् तन्कल् पतिक्केणमेन्किलुं
एवं विषं कुटिक्केणमेन्नाकिलुं
तातन् नियोगिक्किलेतुमे संशयं
चेतसि चेट्टिल्लेनिक्केन्नरिक नी
तातकार्यं अनाज्ञसमेन्नाकिलुं
मोदेन चेय्युन्न नन्दननुत्तमन्
पित्रा नियुक्तनायिट्टु चेय्युन्नवन्
मध्यमनायुळ्ळ पुत्रनरिञ्ञालुं
उक्तमेन्नालुमिक्कार्यमेन्नाले
कर्तव्यमल्लेन्नु वेच्चटङ्ङुन्नवन्
पित्रोर्म्मलमेन्नु चोल्लुन्नु सज्जनं
इत्थमेल्लां परिज्ञातं मयाधुना
शक्याल् ताननियोगमनुष्ठिप्पान्
आकुलमेतुमेनिक्किल्ल निर्णयं
सत्यं करोम्यहं सत्यं करोम्यहं
सत्यं मयोक्तं मरिच्चु रण्टाय्वरा

भावार्थ—'माता! मैं पिताजीके लिये अपने जीवनको, माताको एवं सीताको भी त्याग दूँगा, इसमें कोई संदेह नहीं। मेरे मनमें इस सम्बन्धमें कोई खेद नहीं होगा। पिताजी आदेश दें तो मैं राज्य भी छोड़नेके लिये तैयार हूँ। यदि वे लक्ष्मणको त्याग देनेकी बात कहें तो मैं प्रसन्नतासे वह भी करूँगा। अग्निमें कूदना हो या विष-पान करना हो तो उसके लिये भी मैं सदैव तैयार हूँ। जो पुत्र अपने पिताका कार्य बिना

आज्ञाके उनकी रुचि देखकर ही प्रसन्नतापूर्वक करने लगता है, वह 'उत्तम' माना जाता है। पिताके आदेशको मानकर कार्य करनेवाला पुत्र 'मध्यम' माना जाता है। जो पिताके कहनेपर भी कार्य नहीं करता और उससे दूर रहता है, उसे सज्जन 'अधम' पुत्र मानते हैं। माता! इस प्रकार ये सभी तथ्य मैं जानता हूँ। अतः पिताजीके आदेशका पालन करना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। इसमें मुझे किसी भी प्रकारका तनिक भी दुःख नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ कि मेरा यह कहना कभी नहीं बदल सकता। यह सत्य है।'

पाँचवाँ प्रसङ्ग

जब चित्रकूटमें श्रीराम एवं भरतका मिलन हुआ, तब श्रीरामचन्द्रजी भरतको सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

मूल—मद्वाक्यमत्र केट्टालुं कुमार नी
यत्त्वयोक्तं मया तत्तथैव श्रुतं
तातनेन्ने पतिन्नालु संवत्सरं
प्रीतनाय् काननं वाष् केन्नु चोल्लिनान्
पित्रा निनक्कु राज्यं मातृसम्मतं
दत्तमायी पुनरेन्नतु कारणं
चेतसा पार्क्किल् नमुविकरुवर्क्कुम-
त्तातनियोगमनुष्ठिक्कयुं वेणं
यातोरुत्तन पितृवाक्यत्ते लंघिच्चु
नीतिहीनं वसिक्कुन्नतु भूतले
जीवन् मृतनवन् पिन्ने नरकत्तिल्
मेवुं मरिच्चालुमिल्लोरु संशयं
आकयाल् नी परिपालिक्क राज्यवुं
पोक्क ञान दण्डकं तन्निल् वाणीदुवन्

भावार्थ—'छोटे भैया! तुम्हारी बात मैंने सुन ली। अब तुम मेरी बात सुनो। पिताजीने मुझको आदेश दिया है कि 'तुम चौदह वर्ष संतोषके साथ वनमें रहो।' माताके कहे अनुसार उन्होंने तुमको अवधका राज्य दिया। अतः हम दोनोंको पूज्य पिताजीके वचनका पालन अवश्य करना चाहिये। जो व्यक्ति पिताके वचनका उल्लङ्घन करके नीति या नियमरहित जीवन बिताता है, वह जीवित रहनेपर भी मृतकके समान है। मरनेपर वह अवश्य ही नरकमें निवास करेगा, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। इसलिये तुम राज्यका पालन करो और मैं चौदह वर्षतक वनमें रहूँगा।'

छठा प्रसङ्ग (तारोपदेश)

वालीके मारे जानेके बाद उसकी पत्नी ताराको श्रीरामचन्द्रजी उपदेश देकर शान्त करते हैं—

मूल—एन्तिनुशोकं वृथा तव केळ्क नी
बन्ध मिल्लेतुमितिन्नु मनोहरे!
निन्नुटे भर्त्तावु देहमो जीवनो
धन्ये! परमार्थमेन्नोटु चोल्लु नी
पंचभूतात्मकं देहमेट्टं जडं
संचितं त्वङ्मांसरक्तास्थि कोण्डेटो-
निश्चेष्ट काष्ठ-तुल्यं देहमोर्क्क नी
निश्चयमात्मावु जीवन निरामयन्
इल्ल जननं मरणवुमिल्लकेळ्
अल्ललुण्टाकारकतु निनच्चेलुमे
निलक्कयुमिल्ल नटक्कयुमिल्लकेळ्
दुखविषयवुमल्लतु केवलं
स्त्री-पुरुष-क्लीब भेदङ्ङळुमिल्ल
तापशीतादियुमिल्लेन्नरिक नी
सर्वगन् जीवनेकन् परनद्वयन्
अव्ययन् आकाशतुल्यनलेपकन्
शुद्धमाय् नित्यमाय् ज्ञानात्मकमाय
तत्वमोर्त्तेन्तु दुखत्तिनु कारणं

भावार्थ—'सुन्दरी! तुम क्यों वृथा दुखी हो रही हो। यों दुखी होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम मुझसे यह बताओ कि तुम्हारा पति देह है या आत्मा। यह शरीर या देह तो पाँच भूतोंका बना हुआ है और यह चमड़ेसे ढका है। इसमें हड्डी, मांस, रक्त आदि भरे हुए हैं। यह अचेतन लकड़ीके समान निश्चेष्ट है। पर आत्मा निश्चय ही नाशहीन एवं चैतन्यपूर्ण है। उसके लिये न जन्म है न मृत्यु। अतः तुम्हें उसके सम्बन्धमें विचारकर दुखी होनेकी आवश्यकता नहीं। यह आत्मा चलता-फिरता नहीं, एक स्थानपर स्थायी रूपसे निवास भी नहीं करता। वह दुःखका विषय भी नहीं। उसके लिये स्त्री, पुरुष एवं नपुंसककी कोई भेद-कल्पना नहीं। अर्थात् आत्मा

कन्नडमें श्रीरामवचनामृत

(संग्रहकर्ता और लेखक—डॉ० श्री एन्० एस्० दक्षिणामूर्ति, एम्० ए०, पी०-एच्० डी०)

कन्नडमें रामायण-ग्रन्थोंकी कमी नहीं है। हिंदू-परम्परा तथा जैन-परम्पराके अनुसार प्रणीत इन ग्रन्थोंकी संख्या लगभग ३० है। इनमें अत्यन्त लोकप्रिय तथा जनादृत ग्रन्थ 'तोरवे-रामायण' है।

तोरवे-रामायणके कवि कुमार वाल्मीकि हैं। 'कुमार वाल्मीकि' कविका उपनाम है, उनका वास्तविक नाम सम्भवतः नरहरि था। उन्होंने काव्यारम्भमें श्रीमध्वाचार्यजीकी स्तुति की है, जिससे ज्ञात होता है कि वे माध्व-सम्प्रदायको माननेवाले थे। तोरवे विजापुरके पश्चिममें स्थित ग्राम है, जहाँ श्रीनृसिंह-मन्दिर है। कविके इष्टदेव भगवान् नृसिंह हैं, उनका काव्य उनके इष्टदेवको ही समर्पित है। कविका समय ई० १४००—१६०० के मध्य है।

तोरवे-रामायण वाल्मीकि-रामायणकी अपेक्षा अध्यात्म-रामायणके ही अधिक निकट है। उसके नायक 'राम नररूप नारायण' ही हैं। मन्दोदरी, रावण प्रभृति पात्र भी उनके अवतार-रहस्यको जानते हैं। काव्यमें सर्वत्र रामकी महानताका रम्य वर्णन है। रामका उदात्त चरित्र मानव-जीवनकी प्रेरणा प्रदान करनेवाला है।

भामिनी-षट्पदी कन्नडका एक प्रसिद्ध छन्द है। तोरवे-रामायणमें इसी छन्दका प्रयोग हुआ है। विविध संदर्भोंमें रामके श्रीमुखसे निकले वचनोंका कुछ संग्रह नीचे दिया जा रहा है—

प्रसङ्ग—१. विवाहका मङ्गल-कार्य सम्पन्न होनेके पश्चात् महाराज दशरथ अपने परिजन-परिवारके साथ अयोध्यानगरकी ओर प्रस्थान करते हैं। तब हरधनुर्भङ्गकी वार्तासे प्रलय-रुद्रके समान क्रुद्ध परशुरामका आगमन सब लोगोंके हृदयमें वैकल्य उत्पन्न करता है। धीरपुरुष राम भार्गवराम (परशुराम) के सम्मुख खड़े होते हैं। राम ये वचन कहते हैं—

मूल—ध्यान मौन समाधि शौच
स्नान जप तप नित्यनेम-
ज्ञान षट्कर्म प्रविस्तर देवताभजने।
मौनिगळिगिदु मार्गशर-
संधान समयोचितद शौर्या—
नून पार्थिवकर्म निमगिदु योग्यवल्लेंद ॥
× × ×

नीवु विप्ररु विप्रहिंसा
व्यावहारिकवेमगे दूष्यव
ला विशेषज्ञसिसूक्तिकरोदितार्थदलि।
नीवु वंद्यरु नमगे निमगि
न्नाव जंजड बेड तपद फला-
वळियॆ साकिन्नु विजयंगैयि नीवेंद ॥

गद्यानुवाद—'ध्यान, मौन, समाधि, शौच, स्नान, जप, तप, नियम, ज्ञान, षट्कर्म एवं भगवान्का भजन—ये मुनियोंके लिये शोभाकर हैं; शर-संधान करना तथा असीम बल प्रदर्शित करना तो पार्थिव-कर्म हैं, ये आपके योग्य नहीं हैं। × × × आप विप्र हैं, विप्रोंके साथ हिंसापूर्ण व्यवहार करना हमारे लिये निन्द्य है। आप हमारे पूज्य हैं, विशेष रूपसे आदरके पात्र हैं; आप किसी झंझटमें न पड़ें, तपस्याके सुफल ही आपके लिये पर्याप्त हैं। अब आप पधारें।'

प्रसङ्ग—२. भरतके राज्याभिषेक तथा रामके वन-गमनकी बात सुनकर कोपाग्निकी ज्वाला प्रसारित करते हुए कठोर वचन कहनेवाले लक्ष्मणको श्रीराम समझाते हैं—

मूल—वेदसतविदु जगके सूनृत
वादियॆ साक्षात शिवनो-
पादि सत्यविहीननॆ ता नरकभाजननु।
शोधिसै लेसागि पितृवच—
नोदयवनेले तम्म निज महा-
दुराग्रह तारदिरदपयशव नसगेंद ॥
काळवावुदु नोडु नेरॆदिह
मेलुणवरारीक्षिसनृलके
सोललहुदे तम्म तंदॆय मातिनतिगळॆदु।
मेलॆ कावैश्वर्यवदु ता
कीळुमाददे नम्मनी जन
जाल नगुवुदु पित्तनलुज्ञेयॆ राज्यपदवेंद ॥

भावार्थ—'यह वेदोंका मत है कि सत्यवादी पुरुष साक्षात् शिवजीके समान है, सत्यविहीन व्यक्ति नरकका भागी होगा। भैया! तुम ही भली प्रकारसे सोचो कि पिताजीने किस परिस्थितिमें प्रेरित होकर ये वचन कहे हैं। तुम्हारा यह महाकोप हमारे

अपयशका कारण हुए बिना न रहेगा । समय और परिस्थिति तो देखो ! अनृतके सामने सिर झुकायें, हार मान लें ! पिताजीके वचनोंको ठुकराकर ऊर्ध्वके शाश्वत ऐश्वर्य (यश) को निम्न कर दें ? हमें देखकर जन-समूह हँसेगा । पिताजी-की आज्ञा ही सच्चा राज्यपद है ।'

प्रसङ्ग–३. कैकेयीके मुँहसे दशरथ महाराजके द्वारा प्रदत्त वरकी बात सुनकर राम कहते हैं—

मूल–एसले नीव् बेडिदुदु ता
नेसुदोड्डितु तंदेयाडिद
भाषेगिदको भाषेयेनुता जननिगा राम ।
लेसुमाडिदिरनृतवेम्मव
नीशरलि होगदंते वटदलि
कासदिरि कल्मषवनुगिदन्वय विभूषणव ॥

भरतनाळलि राज्यवनु नीव्
नरपतिय चरणारविंदद
परमसेवानिरतरागिरि निम्मनुज्ञेयलि ।
चरिसुवेनु वनवासदलि गो-
चरिसुवेनु नीव् नुडिद वरुषद
परिगणने परियंतवेंदनु कैकेगा राम ॥

भावार्थ–'आपने ठीक ही (वर) माँगा । यह कौन-सी बड़ी बात है । मैं पिताजीके वचनोंका पालन करूँगा । आपने अच्छा किया (कि वर माँगा); हमारे वंशके राजाओंको अनृतसे बचाया, कल्मष दूरकर वंशको भूषित किया । भरत राज्य-का पालन करे, आप राजाके चरणारविन्दोंकी परम सेवामें निरत रहें, आपकी आज्ञाके अनुसार मैं अवधिपर्यन्त वनमें विचरण करूँगा । आपकी बात मान्य है ।'

प्रसङ्ग–४. चित्रकूटमें रोती हुई कैकेयी शुद्ध चित्तसे रामको गले लगाकर कहती है कि 'अब तुम धराका पालन करने चलो ।' तब राम कहते हैं—

मूल–निम्म मातनु मीरिद्वने
नम्मे नानेले ताये निजपित
नुम्मळिसदिरनाज्ञेयनु मीरिदनु मगनेंदु ।
नम्म पाडेनादियवनिय
ऎम्मेकारु सत्यमार्गव
नेम्मिदवरेनप्रबुद्धरेंदना राम ॥

भावार्थ–'माताजी ! मैंने कब आपकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है ? यदि अब मैं वैसा करूँ तो पिताजी यह समझकर कि बेटेने आज्ञाका उल्लङ्घन किया है, अवश्य दुखी होंगे । हमारी क्या स्थिति होगी ? हमारे पूर्वज सत्यमार्गगामी ही थे, तो क्या वे अप्रबुद्ध थे ?'

प्रसङ्ग–५. जटायुकी मृत्युके समय राम लक्ष्मणसे कहते हैं—

मूल–तंदे मृतवादंदु विपिनके
संदेवै सौमित्रि मित्रनु
तंदेगीतनु पितृसखरु तत्पितृसमानरले ।
एंदु नुडिवरु हिरियरदरिं
तंदे नमगीतनु कणा विधि-
यिंद विहित परेतकृत्यव माडबेकेंद ॥

भावार्थ–'सौमित्रे ! जिस दिन पिताजीकी मृत्यु हुई, उस दिन हम विपिन चले आये । यह (जटायु) पिताजीका मित्र है । बड़े लोग कहते हैं कि पिताके मित्र पिताके ही समान होते हैं । अतः यह हमारा पिता है, इसका क्रिया-कर्म विधिपूर्वक करना चाहिये ।'

प्रसङ्ग–६. सुग्रीव अपने भाईके साथ लड़ने जाते हैं; समान रूपवाले उन भाइयोंमें सुग्रीवको पहचाननेमें असमर्थ होनेके कारण राम सुग्रीवकी सहायता नहीं करते । पराजित सुग्रीव जब रामके प्रति निष्ठुर वचन कहते हैं, तब राम कहते हैं—

मूल–धरेयोळगे ता नीति शिष्यर
शरणुगतिकर सखर सोलद
धुरव कंडरे मेले कैमाडुवुदु शास्त्रविदु ।
गुरुलघुव निम्मिब्बराजिय
हरुहिनलि ता कंडुदिल्ल
धरिय कंडेनु केलके सिडिदिहुदनु नीनेंद ॥
अंब फळुहिदडार हरणव
कोंबुदो नानरियेनदरिं
नंबिदवरनु कोंदनेंबपहास जगदोळगे ।
इंबुगोंबुदु केळिदै प्रति
बिंबविल्लिब्बरिगे शौर्या
डंबरदलाजियलि रूपिनलेंदना राम

नोयदिरु चित्तदलि दशरथ
रायनाणे कपीश निश्चय
दायिगन दितिसंभवन दायिगन सभेयोळगे
रायननु माडुवेनु सातिदु
वायवादडे निरयनिळयद
यायिगळ गतियागलेंदनु नीडि नंबुगेय।

भावार्थ—'यह नीतिकी बात है कि जब शिष्य, शरणागत या मित्र युद्धमें पराजित नहीं होते, तब हमारा हाथ ऊपर रहेगा (हमारा गौरव बढ़ेगा) । तुम दोनोंके युद्धमें मैं नहीं पहचान सका कि कौन बड़े हैं, कौन छोटे हैं। फिर यह आश्चर्य देखा कि तुम गिरे हुए हो।

'न जाने माताजीने किसके प्राण लेनेके निमित्त मुझे भेजा है ! जो मुझपर विश्वास करते हैं, उन्हींका मैंने वध किया—ऐसी लोकनिन्दा न हो। सुनो, शौर्य-वीर्य और रूपमें मैं तुम दोनोंका अन्तर नहीं पहचान सका।

'मनको म्लान न करो। कपीश ! राजा दशरथकी शपथ है, मैं तुम्हारे शत्रुको मारकर तुम्हें राजा बनाऊँगा। यदि यह बात असत्य हो तो घोर नरकमें पड़नेवाले व्यक्तिकी गति मुझे प्राप्त हो।' प्रण करते हुए रामने कहा।

प्रसङ्ग—७. मृत्युके पहले वाली रामपर जो आरोप लगाते हैं, उनका उत्तर देते हुए राम कहते हैं—

मूल—एले कपीश्वर केळु परसति
गळुपि हायिकिकोंडे तम्मन
कोलेगेळसि होरवडिसि हायिकिकोंडे नादिनिय
बळकेयवु ता दोषकृत स-
म्मिळितवल्लवे नावु निन्ननु
कोलुवुदेनन्यायवे नी नोडिकोयेंद ॥
गुरु निजेशज्येष्ठरी मू-
वरु कणा पितृसमरु शिष्या
वरज शरणागतरु पुत्ररु धर्मशास्त्रदलि
सुरपसुत केळिवर सतियरि
गुरिसुवव बाहिरनला दु-
श्चरितविरे वधेगरुह नीने नोडिकोयेंद ॥
इरुळुगळ्ळद केलस दिवदा
चरणे धर्मद विरस तत्परि
सरद नडवळि निन्नोळिरे केळ्दरिदु नाविदनु
हरिसबहुदे हेळ नीनिह
परद नोडदे नडेवुदिदु सुज
नर मनक्कोडबडुवुदे नी नोडिकोयेंद ॥

भावार्थ—'सुनो, कपीश्वर ! परस्त्रीके लोलुप बनकर तुमने निज भ्रातृपत्नीको अपने वशमें रखा, भाईको भगाया। क्या ये दोष नहीं हैं ? हम तुम्हें क्यों नहीं मार सकते ? विचार करके देखो।

'धर्मशास्त्र कहता है कि गुरु, बड़े भाई और जेठ—ये तीनों पिताके समान हैं। शिष्य और शरणागत पुत्रोंके समान हैं। सुनो, सुरपसुत ! इनकी स्त्रियोंके साथ अत्याचार करनेवाला बहिष्कारके योग्य है, ऐसे दुश्चरितका वध अनुचित नहीं है। विचार करके देखो।

'निशाकी चोरीका काम तुम दिनमें ही करने लगे, तुम धर्मके प्रतिकूल आचरण करने लगे। ये सब हमने सुना-समझा। तुमको कैसे छोड़ा जाय ? तुम इह-परके विरुद्ध आचरण करने लगे तो सज्जनोंका मन कैसे मान सकता है ? तुम स्वयं विचार करो।'

प्रसङ्ग—८. पतिकी मृत्युपर विलाप करनेवाली ताराको राम समझाते हैं—

मूल—तरुणि केळायुष्यसोदला
दुरुतर प्रारब्धकर्मद
बरहविदु ता प्राणिगळिगंभोज संभवन
मरणवधिकृतजनन विदना-
दरिसलरियदे बयल हम्मिन
हरुहिनलि होदकुळिसुवुदु जगवेंदना राम ॥

भावार्थ—'सुनो, तरुणी ! आयु आदि प्राप्त होते हैं प्रारब्धकर्मके अनुसार। विधिके लेखके अनुसार ही प्राणियोंको मरण-जनन-क्रम मिलता है। इसको न समझकर जगत् संतापकी रज्जुमें बद्ध रहता है।'

प्रसंग—९. अपने अग्रजसे तिरस्कृत विभीषण रामकी शरणमें आते हैं। हनुमान् विभीषणके सम्बन्धमें सद्विचार व्यक्त करते हैं। तब राम कहते हैं—

मूल—धुरदोळिदिरादवरनिरिवुदु
शरणुहोक्कर सलहुवुदु पति
करिसुवुदु धर्मवनधर्मवगळिवुदवनियलि

अरसुगळिगिदु नयविनितु गो-
चरिसदिरे हगरणद नाटक-
दरसरेनिसरे जगदलेंदनुनगुत रघुनाथ ॥

भावार्थ—'युद्धमें सामना करनेवालेको मारना, शरणागत-जनोंकी रक्षा करना, अधर्मको दूरकर पृथ्वीमें धर्मकी प्रतिष्ठा करना—राजाओंका कर्तव्य है। ऐसा न करके व्यर्थ बड़बड़ानेवाले जगत्में क्या राजा कहलाने योग्य हैं ? रामने हँसते हुए कहा।'

प्रसङ्ग–१०. युद्धभूमिमें मृत रावणको देखकर जब विभीषण विलाप करने लगते हैं, तब राम सान्त्वनाके शब्द कहते हैं—

मूल—"मरुळुतन निनगुंटे केळै
वरविभीषणदेव जननके
मरण निज सौख्यक्के दुःखविदीगलनुसारि
तरुणतन वार्धिकके महदै-
श्वरिय विपदाश्रयके नीनिद
करुहनागरि विंगेनुत संतैसिदनु राम ॥
आरु नी नावारु नम्मय
नारियेत्तलु विपिनवेत्त कु-
बेरसहभवनवेत्त होम्मृगवेत्त वानरर
सेरुपडि तानेत्त दैव
प्रेरणेयदै सल्लदिदु ना-
वारु माडुवुदल्लवंगीकरणवेकेंद ॥"

भावार्थ—'विभीषण, यह कैसी मूर्खता है ! जन्म-मरण, सुख-दुःख, तारुण्य-वार्धक्य, महदैश्वर्य-विपदा—ये सब कालके अनुगामी हैं, यह बात भलीभाँति समझ लो। तुम कौन हो और हम कौन हैं ? हमारी पत्नी कहाँ ? विपिन कहाँ ? ऐश्वर्यपूर्ण प्रासाद कहाँ ? सोनेका हिरण कहाँ ? वानरोंकी संगति कैसे ? दैव-प्रेरणाके बिना ये सब सम्भव नहीं होते। हमारे हाथमें कुछ नहीं है। हम कुछ नहीं हैं। हम कुछ नहीं कर सकते।

प्रसङ्ग–११. पति-शोक-संतता मंदोदरीके प्रति रामके वचन—

मूल—"एत्ति मंडोदरिय हणेयनु-
दात्त करुणासिंधु नुडिदनु
होलुकोंडनु भारवनु निन्नातनपयशद
सत्तनन्यायदलि नीनद-
कत्तु माडुवुदेनु बिडु नेल
कोत्ति कळे चिंतेयनु चित्तद्रोळेंदना राम ॥
निनगे हेळुवुदेनु निन्नय
नेनहु तानज्ञानमोहक-
दनुभवके बल्लबलेयेंदुदु तोरुतिदे मनके…"

भावार्थ—'अपने चरणोंमें नमस्कार करती हुई मंदोदरीको ऊपर उठाकर करुणासिन्धुने कहा—'तुम्हारा पति अपयशके भारको वहन कर गया, अन्यायके कारण मृत हुआ। उसके लिये रोकर तुम क्या करोगी ? चिन्ता त्यागकर चित्तके भारको दूर करो। तुमसे क्या कहना है ? मनको यह प्रतीत हो रहा है कि तुम्हारा यह विलाप अज्ञानजन्य मोहक अनुभवका जाल है।…'

(२)

[क] (यह मोहनदासरायजीका पद है। इसमें रामकथाका सुन्दर पदोंमें संक्षिप्त वर्णन है।)

राग पुन्नाग तोडी—आदि ताल

तारम्मय्य रघुकुल रामचंद्रिरन ।
ईरेळु वरुषवु मीरि पोगुतलिदे
सेरदन्नोड्क मारपितन करे ॥
पर्णशालेयंते अल्लि सु-
वर्णद मृगवंते
कन्ये सीतांगने बयसिदळंते
स्वर्णाबर वेन्नट्टि पोदनंते ॥
लक्ष्मण अल्लिद पोगलु
तत्क्षण खल बंद
लक्ष्मियाकृतिय कोंडुपोगे कम-
लेक्षण होरटनु आ क्षणदल्लिगे ॥
अंजने सुतबंद—हरिपद
कंजकेरगिनिंद
कुंजरगमनेय कुरुह पेळेनुत,
निरंजन मूर्तिगे अंजदे बेसलिद ॥
शरधिय हारि-डंगुर
धरणि सुतेगे तोरि
सुरपुर गोपुर उरुहि चूडामणि
हरिगे समर्पिसि हरुषदलिदनंते ॥

सेतुवेयनु कट्टि—खलकुल-
नाथन तरिदोट्टि
सीतेसहित मोहन्न विठल जग-
न्नाथ होरटनंते कांते ॥

'ला दो माई रघुकुल रामचन्द्रको, चौदह वर्ष बीत रहे हैं, खाना-पीना नहीं रुचता, कामजनक रामको बुला लाओ।'

वह कोई पर्णशाला—वहाँ भामिनी सीताने सुवर्णमृगकी कामना की। पीताम्बरधारी उसका पीछा करते हुए गये।

लक्ष्मण वहाँसे गये—तत्क्षण खल (रावण) आया। लक्ष्मी-आकृति (सीता) को (चुरा) ले गया तो कमलेक्षण उसी क्षण (सीतान्वेषणार्थ) निकल पड़े।

अञ्जनासुत आये। हरि-पद-कञ्जमें प्रणत हुए। निडर होकर उन्होंने निरञ्जनमूर्ति (राम) से कहा—'कुञ्जरगमना (सीता) को पहचाननेके चिह्न बतायें।

(हनूमान्ने) नीरधिको पारकर, अँगूठी (मुद्रिका) धरणीसुताको दिखाकर (देकर), लङ्का-दहन करके सहर्ष हरि श्रीरामको चूडामणि समर्पित की।

सेतु-बन्धन करके, खलकुलनाथ (रावण)-का संहार कर, सीतासहित जगन्नाथ श्रीराम चले।'

[ख] (श्रीएच् लिंगराज अरस प्रणीत 'कर्णाट रामायणसंग्रह' से—)

भरतनीराज्यवनु नीनै
तरुवपरियंतरवु पोरेयलि
मरळि नीं बरलोडने निन्नय चरणकर्पिसलि।
तरणिवंशद कीर्तिलतेगी
गेरेदु निन्नय शौर्यजलवतु
सोरगुगुडदेये पर्बिसेन्नुते चदुर बीरिदळु ॥
माते नीनिदकेके चिंतिपु
देलरतिशय कार्यमिदु निज
तातनाडिद मात पालिसदातनें सुतने।
ख्यात रघुवंशजरु सति तनु
जातरिळेयेंबुरुव मायेगे
सोतु मनवतु धर्मसंरक्षणेयनुळिदपरे ॥

'तुम्हारे वापस आनेतक भरत इस राज्यका पालन करे, फिर तुम्हारे चरणोंमें (राज्य) समर्पित कर दे। रघुवंशकी कीर्ति-लताको तुम्हारा शौर्य-जल मिले, वह बढ़े।' कैकेयीने यों कहा। तब (श्रीरामने सविनय कहा—) 'मातः! तुम चिन्तित क्यों होती हो? यह कौन-सा बड़ा कार्य है। अपने पिताके सत्य-वचनका पालन न करनेवाला कैसा पुत्र है? विख्यात रघुवंशी पत्नी-पुत्र-भूमिरूपी मायामें पड़कर क्या धर्म-संरक्षण छोड़ देंगे?'

[ग] (कर्नाटकके अतिप्रसिद्ध आधुनिक कवि कुवेंपु [के० वी० पुट्टप्पा] जी के 'श्रीरामायणदर्शनम्' से—)

"ताळ्मे, वत्सा, ताळ्मे ;
दुडुकदिर् भरतदेवनं प्राज्ञनवनीपति ;
मरेयदिर् । प्रजेगळामेंबुदं नेने । हिंसे
सल्लदय्, नन्निगागियॆ नेलननित्तमगे।
भरतनं कोंदरपवादवल्लदे बेरे
फलवुंटे ? निन्नवोलेनगातनुं प्रियं।
नेलद सिरि ओलुमेगोसुगवल्ते ? कोंददं
सिरिगिरसरागे मरुभूमियोडेतनल्ते ?
सागरांबरे पृथ्वियेन्नय पराक्रमके
दुर्लभळे ? प्राणकिं प्रियतरमेनगे धर्मं।

—(श्रीरामके वचन लक्ष्मणके प्रति) 'शान्त रहो, शान्त रहो, वत्स! शीघ्रता न करो। भरत प्राज्ञ राजा है, भूलो मत। याद रक्खो कि हम उसकी प्रजा हैं। यहाँ हिंसाका काम नहीं, कृतज्ञताके लिये ही हमें धरणी दी गयी है। भरतको मार डालनेपर लोकनिन्दाके अतिरिक्त और क्या फल हमको मिलेगा? तुम्हारे समान ही वह भी मेरा प्यारा है। भूमि-श्री प्रेमके लिये है न? (सबको) मार डालनेके बाद राज्यके राजा बने तो मरुभूमिका प्रभुत्व ही रहेगा न? समुद्रवसना पृथ्वी मेरे पराक्रमके लिये क्या दुर्लभ है? धर्म मुझे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय है।'

[घ] (श्रीके० रामस्वामैय्यंगारकी कृति 'भरतभक्तिकाव्यम्' से—)

करुणामयं रामनतुळ सद्गुणनिलय
नरविंदलोचनं सकलाघमोचनं
शरणजनवत्सलं निर्मलसदानंदशांत धीमंतनल्ते
चरणयुगमं पिडिदु दैन्यदिं बेडुवें
धरणियं पालिसेंदेरगुवें बेडुवेन
लिळवेनानदवियोळ् रामसद्वचनागि तवकृपाशीर्वादविम् ॥

रामनिल्लद नाडु काडु गुरुदेव केळ्
रामनं नोडदिह कण् कल्लु राघवन
नाम भजने गैय्यदारसने केसरला रामचरित्तेयकेळद ।
पामरन कर्णंगळजगळस्तनमला
तामरस पदकेरगदिह शिरं बरिदलते
रामनं काणदिरे नानेंदु भरत मैयिक्किदं गुरुचरणके ॥

—[भरत-वचन वसिष्ठ महर्षिजीके प्रति]'राम करुणामय हैं, अतुल सद्गुण-निलय हैं, अरविन्दलोचन हैं; सकल अघ दूर करनेवाले, शरणागतवत्सल, निर्मल, सदानन्द, शान्त और धीमंत हैं। उनके युगलचरण पकड़कर दैन्यसे प्रार्थना करूँगा कि वे धरणीका पालन करें। आपके आशीर्वादके बलसे रामका सहचर होकर वनमें रहूँगा। जिस देशमें राम न हों, वह (देश नहीं,) जंगल है। गुरुदेव! रामको न देखनेवाले नेत्र (नेत्र नहीं,) पत्थर हैं। राघवका नाम-भजन न करनेवाली रसना कीचड़ है। रामचरितका श्रवण न करनेवाले पामरके कर्णयुगल अजा-स्तनमात्र हैं। तामरसलोचन (राम) के पदोंमें नत न होनेवाला सिर व्यर्थ है। रामको देखे बिना मैं नहीं रह सकता।'—यह कहकर भरत गुरुके चरणोंमें नतमस्तक हो गये।

बँगलामें श्रीरामवचनामृत

(१)

कृत्तिवासी रामायण

[रचनाकार—पं० कृत्तिवास ओझा, १५-१६वीं शती]

(सम्पादक—स्व० रामानन्द चट्टोपाध्याय, प्रवासीप्रेस, १३५२ बंगाब्द)

(संग्रहकर्ता—डा० रमानाथजी त्रिपाठी एम्० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०)

प्रसङ्ग—१. कौसल्याजीने श्रीरामसे कहा—पिताके वचनकी रक्षा करते हो और मातृवाणीका उल्लङ्घन करते हो? ऐसा तो मैंने किसी शास्त्रमें नहीं सुना। तब श्रीरामने उत्तर दिया—

मूल—श्रीराम बलेन, माता! शुन एक कथा।
पिता अतिशय मान्य तोमार देवता॥
देखह परशुराम पितार कथाय।
अस्त्राघात करिलेन मायेर माथाय॥
पितृसत्य आमि यदि ना करि पालन।
वृथा राज्य-भोग मम, वृथाइ जीवन॥
(पृष्ठ १०४, अयोध्या०)

भावार्थ—श्रीराम बोले, 'माता! एक बात सुनो। पिता अतिशय मान्य एवं तुम्हारे देवता हैं। देखो, परशुरामने पिताके कहनेसे माँके सिरपर अस्त्राघात किया। यदि मैं पितृ-सत्यका पालन नहीं करता तो राज्यभोग व्यर्थ है और मेरा जीवन भी व्यर्थ है।'

मूल—तारे पुत्र बलि ये कुलेर अलंकार।
पितृसत्य पालिया शोधये पितृधार॥
(पृष्ठ १०९, अयोध्या०)

भावार्थ—'उसे ही पुत्र कहा जायगा, जो कुलका अलंकार हो, जो पितृसत्यका पालन कर पितृऋणका शोध करे।'

प्रसङ्ग—२. सीताके वियोगमें दुखी श्रीरामने प्रमादी सुग्रीवको नारीके विषयमें बताया—

मूल—स्त्री थाकिले पुत्र हय संसारेर सार।
पुत्र ना हइले तार गति नाहि आर॥
पिण्ड देय गयाय से करये तर्पण।
संसारेर मध्ये भाइ पुत्र बड़ धन॥
स्त्री पुत्र परिवार केह नहे छाड़ा।
पुत्र ना थाकिले लोक बले आँटकुड़ा॥
तार मुख देखि श्राद्ध ये करिते जाय।
श्राद्धक्रिया वृथा तार शास्त्रे हेन कय॥
अतएव शुन, भाइ! भार्य्या बड़ धन।
ताहाते सन्तान हय संसार पालन।
ज्ञाति बन्धु सहोदर आर यत लोक।
सबार अधिक भाइ! नारी यत शोक॥
(पृष्ठ [illegible], किष्किन्धा०)

भावार्थ—'स्त्रीके रहनेपर पुत्र होता है, जो कि संसार (१. जगत्, २. गृहस्थी) का सार होता है। पुत्र न होनेपर उसकी

और गति नहीं है। वह गयामें पिण्ड देता और तर्पण करता है; भाई! संसारके मध्य पुत्र बड़ा धन है। स्त्री-पुत्र-परिवार कोई त्याज्य नहीं, पुत्र न रहनेपर लोग निपूता कहते हैं। उसका (निपूतेका) मुख देखकर जो श्राद्ध करता है, उसकी श्राद्ध-क्रिया व्यर्थ है—ऐसा शास्त्र कहते हैं। अतएव सुनो, भाई! भार्या बड़ा धन है, उससे संतति होती है और गृहस्थीका पालन होता है। जाति-बन्धु सहोदर जितने भी लोग मरें उनमें भाई! स्त्रीके (मरण) का शोक सबसे बड़ा होता है।'

प्रसङ्ग—३. श्रीराम सुग्रीवको मित्रका महत्त्व बताते हैं—

मूल—अपूर्ब्ब ना मानि, सूर्य हरे अन्धकार।
अपूर्ब्ब ना मानि आमि सीतार उद्धार॥
अपूर्ब्ब ना गणि मेघ बरिषये जल।
तोमारे अपूर्ब्ब मित्र मानि हे केवल॥
(पृष्ठ १८८, किष्किन्धा०)

भावार्थ—'अन्धकारको हरनेवाले सूर्यको मैं अपूर्व नहीं मानता, सीताका उद्धार भी मैं अपूर्व नहीं मानता, जल बरसानेवाले मेघको (भी) मैं अपूर्व नहीं गिनता। हे मित्र! मैं (तो) केवल तुम्हें अपूर्व मानता हूँ।'

प्रसङ्ग—४. विभीषणको शरण देनेके प्रसङ्गमें श्रीरामने कहा—

मूल—सेइत पुण्येते राजा गैल स्वर्गबास।
शरणागतेरे ना राखिले सर्ब्बनाश॥
बिभीषण थाक यदि आइसे रावण।
हइले शरणागत करिब पालन॥
(पृष्ठ २५३, सुन्दर०)

भावार्थ—'इसी पुण्यसे तो राजा (शिबि) स्वर्ग गये। शरणागतकी रक्षा न करनेपर सर्वनाश होता है। विभीषण (तो) दूर, यदि रावण आकर शरणागत हो तो उसकी रक्षा करूँगा।'

प्रसङ्ग—५. कलियुगके ब्राह्मणोंके पापोंका वर्णन करते हुए श्रीरामने कहा—

मूल—लोभ, मोह, काम, क्रोध—एइ महापाप।
एइ सब पापे विप्र पाय बड़ ताप॥
प्रतिग्रह करिबे उदर कारण।
प्रतिग्रह महापाप नाहिक तारण॥
एइ सब पापे जेबा करे अनाचार।
से विप्रेर पापे सब मजिबे संसार॥
(पृष्ठ २५३, सुन्दर०)

भावार्थ—'लोभ, मोह, काम, क्रोध—ये महापाप हैं; इन सब पापोंसे ब्राह्मण बड़ा दुःख पाते हैं। (वे) पेटके लिये दान ग्रहण करेंगे। दान-ग्रहण महापाप है, (यह) तारण नहीं है। इन सब पापोंके द्वारा जो अनाचार करेगा, उस विप्रके पापसे पूरा संसार डूबेगा।'

प्रसङ्ग—इसी प्रसङ्गमें श्रीराम कलियुगके राजाके विषयमें बताते हैं—

मूल—कलिर राजा प्रजा यदि ना करे पालन।
से पापे राजार हय अकाल मरण॥
(पृष्ठ २५३, सुन्दर०)

भावार्थ—'यदि कलिका राजा प्रजाका पालन नहीं करता (तो) उस पापसे राजाका अकाल मरण होता है।'

प्रसङ्ग—६. प्रथमयुद्धमें पराभूत रावणका वध न करते हुए श्रीरामने कहा—

मूल—रघुबंशे जन्म मोर, रामनाम धरि।
एकदिनेर रणे आमि बैरी नाहि मारि॥
(पृ० ३०४, लङ्का०)

भावार्थ—'रघुवंशमें मेरा जन्म है, रामनाम धारण करता हूँ; मैं एक दिनके रणमें वैरीको नहीं मारता।'

प्रसङ्ग—७. विभीषणपुत्र तरणीसेन रावणकी ओरसे लड़ने आया, यह राक्षस हृदयसे रामभक्त था। लक्ष्मणने उसके विषयमें संदेह प्रकट किया कि वह तो रावणकी विजय चाहता है; तब श्रीराम बोले—

मूल—श्रीराम बलेन—तुमि ना जान, लक्ष्मण।
भक्तेर विषय-वाञ्छा नहे कदाचन॥
(पृ० ३५१, लङ्का०)

भावार्थ—श्रीरामने कहा, 'लक्ष्मण, तुम नहीं जानते—भक्तको कभी विषय-वाञ्छा नहीं होती, अर्थात् वह निष्काम होता है।'

प्रसङ्ग—८. भक्त राक्षस तरणीसेन युद्धक्षेत्रमें श्रीरामको देख भक्ति-गद्गद हो, धनुर्बाण फेंक स्तुति करने लगा। उसने अनुरोध किया—'आप अपने करकमलसे मेरा सिर काटकर मुझे मोक्ष प्रदान कीजिये।' श्रीराम भी उसकी भक्तिसे विचलित हो उठे, वे विभीषणसे बोले—

मूल—केमने मारिब अस्त्र इँहार उपर।
एत बलि त्यजिला हातेर धनुःशर॥

अकारणे करिलाम सागर-बन्धन ।
त्यजिया लङ्कार युद्ध पुनः जाइ बन ॥
यत युद्ध करिलाम, श्रम हइल सार ।
बुझिलाम ना हइल सीतार उद्धार ॥
कार्य्य नाइ सीता आमि ना जाब राज्येते ।
केमने मारिब बाण भक्तेर अंगे ते ॥
कण्टक फुटिले मम भक्तेर शरीरे ।
शेलेर समान बाजे आमार अन्तरे ॥
भक्त मोर पिता-माता, भक्त मोर प्राण ।
केमने एमन भक्ते प्रहारिब बाण ॥
(पृ० ३५१-५२, लङ्का०)

भावार्थ—'मैं इनके ऊपर अस्त्र-प्रहार कैसे करूँगा' यों कहकर हाथका धनुर्बाण छोड़ दिया । '(मैंने) सागरका बन्धन व्यर्थ किया । लङ्काका युद्ध छोड़कर पुनः वन जाऊँगा । जितना युद्ध किया, केवल श्रम किया । समझ लिया सीताका उद्धार न हुआ । सीता नहीं चाहिये, मैं राज्यमें नहीं जाऊँगा । भक्तके अङ्गपर बाण कैसे मारूँगा ? मेरे भक्तके शरीरमें काँटा चुभनेपर (वह) मेरे अन्तरमें शेल (शल्य) के समान चुभता है । भक्त मेरा पिता-माता है, भक्त मेरा प्राण है; ऐसे भक्त-पर कैसे बाण प्रहार करूँगा !'

प्रसङ्ग–९. इसी प्रकार जब रावण भी युद्धक्षेत्रमें भक्तिविह्वल होकर श्रीरामकी स्तुति करने लगा, तब भी श्रीराम बोल पड़े—

मूल–कार्य्य नाइ राज-पाटे, पुनः जाइ बने ।
रावण परम भक्त मारिब केमने ॥
(पृ० ४१५, लङ्का०)

भावार्थ—'राजपाटमें काम नहीं, पुनः वन जाऊँगा । रावण परम भक्त है, उसे कैसे मारूँगा ?'—यों कहकर राम युद्ध-विमुख होकर बैठ गये ।

प्रसङ्ग–१०. माताओंने श्रीरामसे कहा, 'जानकीकी परीक्षा सागरतटपर हो चुकी, अब पुनः परीक्षाकी आवश्यकता नहीं ।' श्रीरामने उत्तर दिया—

मूल–राजा हये स्त्रीर यदि ना करे विचार ।
स्त्रीर अनाचारे नष्ट हइबे संसार ॥
(पृ० ५७१, उत्तर०)

भावार्थ–'राजा होकर यदि (कोई) स्त्रीका न्याय अन्यायका निरूपण ('विचार') न करे (तो) स्त्रीके अनाचारसे संसार नष्ट हो जायगा ।'

(२)

श्रीश्रीराम-रसायन

(संग्रहकर्ता-लेखक—पं० श्रीगौरीशङ्करजी द्विवेदी)

श्रीजानकीमुखाम्भोजमकरन्दमधुव्रतम् ।
नानाविलासपीयूषपाथोधिं राघवं भजे ॥

पण्डित श्रीरघुनन्दन गोस्वामीविरचित श्रीश्रीराम-रसायन महाकाव्य बंगभाषामें रामचरितपर एक अद्वितीय ग्रन्थ है । बँगलामें कृत्तिवासका रामायण प्रसिद्ध है । परंतु उसकी अपेक्षा श्रीश्रीरामरसायन महाकाव्य आकार-प्रकारसे द्विगुणित है और सर्वत्र रससे सराबोर है । भाषा और भावकी गम्भीरता, शब्द और अलंकारका माधुर्य, भक्ति और प्रेमका वैचित्र्य, ऐतिहासिक तत्त्व और ज्ञान-गौरवमें श्रीश्रीरामरसायन अपूर्व ग्रन्थ है । इस ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर भक्तिरसका स्रोत प्रवाहित करके कविने अपने काव्य-कुसुमको अधिकतर माधुर्यरससे अभिषिक्त किया है ।

स्थान-स्थानमें कुछ अतिरिक्त विषयोंका, जैसे महिराव वध, हनूमान्‌का महिरावणको काँखमें धारण करना, हनुमा का अन्न-भोजन, सीताके जन्मकी विशेषता, सीताका वनवा सीताके विरहमें श्रीरामचन्द्रके द्वारा स्वर्ण-सीताका निर्मा श्रीरामचन्द्रजीका अश्वमेधयज्ञ, शत्रुघ्नका यज्ञके अश्व साथ दिग्विजयके लिये भ्रमण, लव-कुशके साथ श्रीरामच का युद्ध और पराजय तथा यज्ञकी पूर्णता, वाल्मीकि लव-कुशके साथ अयोध्या जाना, श्रीरामके सामने ल कुशका रामायणगान, सीताका पाताल-प्रवेश, मातृशोक में लव-कुशका विलाप, श्रीरामचन्द्रके द्वारा लव-कुशादि सिंहासनारोहण, लक्ष्मण-वर्जन तथा श्रीरामचन्द्रका स्वग रोहण आदि प्रसङ्गोंका समावेश करके ग्रन्थको अधि उपादेय बना दिया गया है । इस महान् ग्रन्थके दो प्रसङ्ग में आये हुए कुछ रामवचन भावार्थसहित नीचे दि जाते हैं—

प्रसङ्ग–श्रीरामरसायनमें प्राकृतिक वर्णन भी स्थान स्थानमें प्राप्त होता है । प्रभु श्रीरामके द्वारा कथि पञ्चवटीक

शोभाका वर्णन करता है। पञ्चवटीका श्रीरामलीलामें एक प्रमुख स्थान है।

मूल—प्रवेशिया सेई वन, करि शोभा-निरीक्षण,
रामचन्द्र कहेन लक्ष्मणे।
देख, भाई ! पञ्चवटी, किवा शोभा-परिपाटी,
के वर्णिबे एकेक बदने॥
शुनियाछि एइ स्थाने, महामुनि पाँचजने,
यज्ञ करछिला बहुमत।
आछे पञ्च कुण्ड तार, दर्शन-स्पर्शने जार,
पूत हय पतित-दुर्गत॥
नाना-जाति तरु-लता, दिव्य फल-पुष्प-पाता,
ताहे गान करिछे भ्रमर।
कोकिल-मयूर-सारी, बिहङ्गम शारी शारी,
डाकितेछे सुमधुर स्वर॥
निकटेते गोदावरी, सुनिर्मल जार वारी,
शोभा करे कमल-उत्पल।
नाना पक्षी जले-स्थले, मृगकुल कूले खेले,
वायु बहे सुगन्ध-शीतल॥
आगे देख एक गिरि, जग-जन-मनोहारी,
अति उच्च जाहार शिखर।
स्वर्ण, रौप्य, हरिताल, हिङ्गुलेर खनि भाल,
बहुविध वृक्षेते सुन्दर॥
पर्वत निकट स्थान, तरुकुले शोभमान,
जुड़ाइल निरखि हृदय।
श्रीरघुनन्दन भने, तोमार विलास-स्थाने,
हेन शोभा आश्चर्य ना हय॥

भावार्थ—पञ्चवटीके वनमें प्रवेश करके, उसकी शोभा देखकर श्रीरामचन्द्र श्रीलक्ष्मणसे कह रहे हैं—भाई लक्ष्मण ! पञ्चवटीकी शोभा तो देखो। मनुष्य अपने एक मुखसे इसका क्या वर्णन कर सकता है ? सुनता हूँ कि इस स्थानमें पाँच महामुनियोंने यज्ञ किये थे। उस यज्ञके पाँच कुण्ड आज भी हैं, जिनके दर्शन और स्पर्शसे पतित और दुर्गतिको प्राप्त मनुष्य भी पवित्र हो जाते हैं। नाना प्रकारके वृक्ष और लताएँ, जिनमें दिव्य पुष्प और फल लगे हैं, शोभायमान हो रहे हैं। उनपर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। कोकिल, मयूर, शुक-सारिका आदि नाना प्रकारके विहङ्गम सुमधुर स्वरसे गान कर रहे हैं। निर्मल शोभावाली गोदावरी नदी समीपमें ही बह रही है, जिसमें भाँति-भाँतिके कमल शोभायमान हैं। नाना प्रकारके पक्षी इसके किनारे जल-स्थलमें विहार करते हैं, किनारेपर मृगोंके झुंड क्रीड़ा कर रहे हैं। सुगन्धित, शीतल पवन बह रहा है। सामने उस पर्वतको देखो, जो सबके मनको हरनेवाला है। उसका शिखर कितना ऊँचा है ! इस पर्वतमें सोना, चाँदी, हरताल और ईंगुरकी खानें भरी पड़ी हैं। नाना प्रकारके वृक्ष उसपर सुशोभित हैं। पर्वतके निकटके स्थान वृक्षोंसे शोभायमान हैं, जिनको देखकर हृदय शीतल हो जाता है।

श्रीरघुनन्दन कवि कहते हैं कि भगवान् श्रीरामका जो विलासस्थान है, उस पञ्चवटीकी ऐसी शोभा कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

प्रसङ्ग—ऋष्यमूक पर्वतपर श्रीहनुमान्‌जीके प्रति श्रीरामजीका ज्ञानगीता-कथन

मूल—एइ वाणी शुनि कृपामय रघुपति।
कहिछेन मृदुहास्य करि तार प्रति॥
शुन, शुन, वायुपुत्र ! स्थिर करि मन।
करि आमि तोमार प्रश्नेर विवरण॥
प्रीतिपात्र हओ तुमि बड़ई आमार।
एइ लागि तोहे कहि आमि शास्त्रसार॥
सृष्टि आदि लीला मोर आछे चिरदिन।
कपिवर ! हय सेइ आदि-अन्त-हीन॥
ताहाते प्रलयकाले यत शक्तिगण।
आमाते थाकये तारा करिया शयन॥
मोर इच्छा ना थाकिले सृष्ट्यादि-विषये।
से सकल शक्ति किछु करिते नारये॥
जबे मोर पुनः सृष्ट्यादिते इच्छा हय।
तबे क्रमे परकाशे सेइ शक्तिचय॥
माया-कर्म-काल आर बद्ध जीवगण।
एइ चारि शक्ति मोर सृष्ट्यादि-साधन॥
तार मध्ये माया-शक्ति हय सर्वसार।
सेइ करे सर्व कार्य, जे इष्ट आमार॥
अविचिन्त्य रूप तार, तर्क नाहि सहे।
दुर्घट घटना शक्ति करि तारे कहे॥
सत्त्व-रजः-तम नाम तीन गुण तार।
जाहा हैते जन्मे एइ सकल संसार॥

से मायार सम्बन्ध नाहिक मोर सने ।
तेहँ तारे बहिरङ्ग करि वेदे भणे ॥
स्पर्श नाहि तार किन्तु ताहार आश्रय ।
एइ मोर अविचिन्त्य महैश्वर्य हय ॥

भावार्थ—श्रीहनूमान्‌जीकी जिज्ञासा-वाणी सुनकर कृपालु श्रीरामचन्द्रजी मृदु मुस्कानके साथ उनसे कहने लगे—'हे पवनसुत! मन स्थिर करके सुनो। मैं तुम्हारी जिज्ञासाका उत्तर देता हूँ; क्योंकि तुम मेरे परम प्रेमपात्र हो। इस सम्बन्धमें मैं तुम्हें शास्त्रोंका सार सुना रहा हूँ। यह सृष्टि-स्थिति और प्रलयकी मेरी लीला चिरकालसे होती आ रही है। इसका न आदि है और न अन्त है। प्रलय-कालमें इनकी सारी शक्तियाँ मेरे भीतर सुप्तावस्थामें रहती हैं। मेरी इच्छाके बिना वे सारी शक्तियाँ सृष्टि-स्थिति और प्रलयके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कर सकतीं। जब पुनः मेरी सृष्टि आदि करनेकी इच्छा होती है, तब क्रमशः वे सारी शक्तियाँ प्रकाशमें आती हैं। माया, कर्म, काल और बद्ध-जीव—ये ही चार शक्तियाँ मेरी सृष्टि आदिके साधन हैं। इनमें माया-शक्ति ही सबमें मुख्य है। वही मुझे जो अभिप्रेत होता है, वह सारा कार्य करती है। वह माया अविचिन्त्य है, तर्कके द्वारा वह नहीं जानी जा सकती। वह अघट-घटन-पटीयसी है। सत्त्व, रज और तम—उसके तीन गुण हैं, जिनसे इस अखिल संसारकी उत्पत्ति होती है। उस मायाका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इसी कारण वेद-शास्त्र उसे बहिरङ्गा माया कहते हैं। मुझसे उसका तनिक भी स्पर्श नहीं है, किंतु यह मेरा सारा अविचिन्त्य महैश्वर्य उसीके आश्रयसे होता है।'

सेइ त प्रकृति मोर पाइ निरीक्षण।
प्रथमतः महत्तत्त्वे करये सृजन ॥
ताहारेइ चित्त करि सब शास्त्रे कय।
जन्मि सेइ करे प्रलयेर तमः-क्षय ॥
अहङ्कार तत्त्वेर ताहाते उपादान।
सात्त्विक राजस तार तामस आख्यान ॥
सात्त्विकाहंकार हैते जन्मये मन।
ताहार देवता चन्द्र अमृत-किरण ॥
एइ अहंकारे पाय इहारा जनम।
श्रोत्र आदि दशेन्द्रिय देव दशजन ॥
दिक्, वायु, सूर्य, शशी, अश्विनी-कोडर।
श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राणेर ईश्वर ॥
वह्नि-इन्द्र-श्रीउपेन्द्र-मित्र-प्रजापति ।
वाक्-पाणि-पाद-गुह्य-लिङ्ग-अधिपति ॥
एइ दशेन्द्रिये सृजे राजसाहंकार।
ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय द्विविध प्रकार ॥
आर ताहा हैते हय बुद्धिर जनन।
जाहाते करिया हय पदार्थस्फुरण ॥
सेइ अहंकार हैते जन्मे पञ्च प्राण।
जाहार शक्तिते हय देह क्रियावान् ॥
तामसाहंकार हैते जनमे आकाश।
ताहा हैते हय पवनेर परकाश ॥
पवन हैते तेज, तेज हैते जल।
जल हैते जन्मे एइ पृथिवी सकल ॥
शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध पाँच ताय?
क्रमे एक दुइ तिन चारि पाँच भाय ॥
तबेत जीवेर पुरुषार्थ साधिवारे।
सेइ सकलेते सृष्टि करिये संसारे ॥
ताहे तिन मायागुण आलम्बन करि।
प्रवेश करिये आमि तिन मूर्ति धरि ॥
रजोगुणे ब्रह्मा हय्या करिये सृजन।
सत्त्वगुणे विष्णुरूपे करिये पालन ॥
तमोगुण अवलम्बि रुद्रमूर्ति धरि।
पुनर्वार प्रलयेते संहरण करि ॥
एइ तिन जन ब्रह्मा-श्रीविष्णु-शङ्कर।
बुद्धि-चित्त-अहंकार तिनेर ईश्वर ॥
एइत संसारे मायाबद्ध जीवगण।
उपर्यधो-मध्ये मुह्य करये भ्रमण ॥
कर्म-अनुसारे पाइ नाना कलेवरे।
कभू सुख, कभू दुख उपभोग करे ॥
× × × ×
यदि केह तार मध्ये हय भाग्यवान्।
ईश्वरे करये स्तुति श्रद्धा-भक्तिमान् ॥
हेन स्तुति करे जेइ जीव शुद्ध मन।
जन्मि से संसार तरे करिया भजन ॥

'वही प्रकृति मेरा निरीक्षण प्राप्त करके पहले महत् तत्त्वका सृजन करती है, उसीको सब शास्त्र चित्त नाम पुकारते हैं। वह उत्पन्न होकर प्रलयके सारे अन्

कारको नष्ट करता है। उस महत्तत्त्वसे सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारका अहंकार उत्पन्न होता है। सात्त्विक अहंकारसे मन उत्पन्न होता है, उसका अधिष्ठातृ-देवता अमृतकिरण चन्द्र है। राजस अहंकारसे श्रोत्र आदि दस इन्द्रियाँ तथा उनके दस देवता उत्पन्न होते हैं। दिक् (दिग्देवता), वायु, सूर्य, चन्द और अश्विनीकुमार क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राणेन्द्रियके अधिपति हैं। वह्नि, इन्द्र, श्रीउपेन्द्र, मित्र और प्रजापति—ये पाँचों क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, गुह्य और लिङ्ग—इन पाँचों कर्मेन्द्रियोंके अधिपति हैं। ये दस इन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय भेदसे दो प्रकारकी हैं। पुनः इस राजस अहंकारसे बुद्धिकी उत्पत्ति होती है, जिससे पदार्थोंका स्फुरण होता है। इसी अहंकारसे पञ्च प्राण उत्पन्न होते हैं, जिनकी शक्तिसे देह क्रियावान् बनता है। तामस अहंकारसे आकाश उत्पन्न होता है और आकाशसे वायु उत्पन्न होती है, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे इस सम्पूर्ण पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। उन पाँचोंमें क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच विषय उद्भूत होते हैं। जीवका पुरुषार्थ साधन करनेके लिये इन सबसे प्राकृतिक सृष्टि होती है। मायाके इन तीन गुणोंका आलम्बन करके मैं तीन मूर्तियाँ धारण करता हूँ। रजोगुणसे ब्रह्मा होकर मैं सृष्टि करता हूँ, सत्त्वगुणसे विष्णु होकर उसका पालन करता हूँ और तमोगुणका अवलम्बन करके रुद्ररूप धारणकर प्रलयकालमें फिर उसका संहार करता हूँ। ये तीन देवता ब्रह्मा, श्रीविष्णु और शंकर क्रमशः बुद्धि, चित्त और अहंकारके अधिष्ठातृ देवता हैं। इसी संसारमें मायाबद्ध होकर जीवगण अधः, मध्य और ऊर्ध्व लोकमें बारंबार आवागमन करते रहते हैं। अपने कर्मोंके अनुसार नाना प्रकारके शरीर धारण करके कभी सुख और कभी दुःखका उपभोग करते हैं। ×× उन जीवोंमें जो भाग्यवान् होते हैं, वे श्रद्धा और भक्तिपूर्वक ईश्वरकी स्तुति करते हैं। जो-जो जीव शुद्ध मनसे इस प्रकार स्तुति करते हैं, वे भजन करके संसार-सागरसे तर जाते हैं।'

उत्कलमें श्रीराम-वचनामृत

(उत्कलीय रामायणमें उपदेश-वाणी)

(संग्रहकर्ता और लेखक—पं० श्रीसदाशिवरथ शर्मा, प्रत्नतत्त्वालंकार)

श्रीरामायणमें केवल रघु-कुल-तिलक श्रीराघवेन्द्रका जीवन-चरित्र ही नहीं है, उसमें भारतीय आदर्श जीवनका ज्वलन्त चित्र भी है। ईश्वर एवं पारमार्थिक भाव ही उसमें मूलरूपसे विद्यमान हैं। परंतु यदि कोई उसपर इतनी गम्भीर दृष्टि न डालकर, केवल मानवताकी दृष्टिसे देखे तो उसे रामायणके प्रत्येक सर्ग और प्रत्येक आख्यायिकामें एक नैतिक आदर्श अवश्य प्राप्त होगा। श्रीरामचन्द्रके अमृतमय चरित्र भगवद्-भावपर प्रतिष्ठित, मानवीय आदर्शसे व्याप्त एवं परमार्थके भावसे परिपूर्ण हैं।

स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्माने जगत्-कल्याणके लिये ही मायासे मनुष्यरूप धारण किया था। मानवताके प्रतीकरूपमें उन्होंने किस प्रकार मधुर लीला की, इसका वर्णन करते हुए 'महानाटकमें' हनुमान एवं उत्कलीय कवि मधुसूदन मिश्र कहते हैं—

तेषां रामः कुशिकतनयप्रार्थितो यज्ञसिद्ध्यै
तातस्याज्ञां शिरसि विदधल्लक्ष्मणेनानुयातः।
पौरस्त्रीभिर्नयनकमलैः सादरं वीक्ष्यमाणः
क्रव्यादानां निधनकुतुकी यज्ञभूमिं प्रतस्थे॥

इसमें मुख्य बात यह है कि श्लोकके अन्तिम चरणके अनुवादमें मधुसूदन मिश्रके अनुसार श्रीराम 'मानवोंके शत्रुका अर्थात् अमानवताका नाश करनेके लिये सर्वदा कौतुकी' हैं तथा यज्ञभूमिजयके कारण उनका नाम 'यज्ञभुक्' है।

नरारि निधने नीति नियत कौतुक।
यज्ञभूमि जयहेतु नाम यज्ञभुक॥
(१। ३७, पृष्ठ १३)

अन्तमें रघुवंशशिरोमणि भगवान् श्रीरामने मनुष्य-जातिके कल्याणके लिये नाना प्रकारके आदर्श उपस्थित करते हुए, स्थान-स्थानपर अनेक प्रकारसे उपदेशामृतका परिवेषण कर भगवत्तत्त्वका प्रतिपादन करके परमधामके लिये प्रयाण किया। आकर्षणकी वस्तु है—उसके आदर्श वर्णनमें कवि-पण्डितोंका अवदान और उपदेशकी वाणीके विभिन्न रूप।

जो महान् इतिहास महर्षि वाल्मीकिकी अमर लेखनीसे निस्सृत एवं नारद प्रभृति ऋषि-आचार्योंके द्वारा अनुसृत हुआ, उसका प्रभाव भारतमें सर्वश्रेष्ठ है। भारतके विभिन्न भाषा-साहित्यमें हजारोंकी संख्यामें उसके अनूदित रूपान्तर देखनेको मिलते हैं। संत तुलसीदास रामायणके युगप्रवर्त्तक हैं, किंतु वे भी उसकी संख्या निश्चित नहीं कर सके। विवश होकर उन्होंने कहा—'रामायन सत कोटि अपारा।'

वस्तुतः भारतवर्षमें श्रीरामसे सम्बन्धित ग्रन्थों एवं रामायण तथा उसके अनुवादोंकी संख्याका निर्णय करना असम्भव है। केवल छपी रामायणकी संख्याका निर्णय करना कठिन है। अमुद्रित और विद्वानोंके यहाँ रक्खी पाण्डुलिपियोंकी संख्याका निर्णय तो कैसे किया जा सकता है, इसे कोई भी समझ सकते हैं।

उत्कल एक प्राचीन देश है। उत्कलकी प्रान्तीय भाषा खीष्टीय ११वीं शताब्दीसे समर्थ साहित्यके रूपमें प्रख्यात है। इन्हीं सहस्राधिक वर्षोंके भीतर रामायणके अनुवाद एवं नयी रचनाओंकी संख्या इतनी बढ़ गयी है कि उसका निर्णय करना कठिन है। ग्रामाञ्चलोंमें तो प्रायः पाँच सौसे अधिक रामायणके अनुवाद देखनेको मिलते हैं।

उत्कलके इस रामायण-वैभवको चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(१) रामायणका आक्षरिक अनुवाद।
(२) रामायणका भावानुवाद।
(३) रामायणका संस्कृत-रूपान्तर।
(४) रामायणकी नाटकीय रचना या रामलीला।

इसमें रामायणका भावानुवाद पहले ग्रहण करनेका कारण उसमें स्व-साहित्यके भाव एवं अभिनव-चिन्तनका उत्तम प्रकाशन है।

उत्कल भाषाका सबसे प्राचीन रामायण-अनुवाद रूद्र पादका 'तेणपदी रामायण' अभीतक अप्रकाशित है। उत्कल भाषाका यह प्राचीन अनुवाद अनुमानतः नवम शताब्दीकी रचना है; क्योंकि इसकी शब्दावलि अत्यन्त प्राचीन है। इस क्षुद्रातिक्षुद्र रामायणमें उन्होंने सम्पूर्ण रामायणका आदर्श किस प्रकार स्थापित किया, निम्नलिखित उदाहरणसे प्रतीत होता है—

लीलान्तकु परम धरिले मानवायोनी
सूरुजवंश तारिण वडाइन्ते ये पुनी ॥
दशरथ वीरुजु नोहिछन्ति जातसे
अजपा राम नामकु कलेसे आतजात ये ॥
मुनीकु तारिले पापाणकु छलिले
भाङ्गिलेक शिव कोदण्ड परचण्ड वल ॥
हरिङ्कि कला घेनि येवेक ब्रह्म हेले
घरद्वार छाडिण वनस्ते गमन्त
सीतयाकु लुचाइ करिलेक छल
वानरमानङ्कर ये भागाइ पशुबल
वरुण बलकु शइले रुन्धिलाकु
कुणपकु नाशन्तिक सइतथितकु
दश मुण्डिआ दश गुणकु न्यायवन्तरेचुरण
शरण रक्षण ये वरन्त विभीषण
ए तेणपदी रामायण सूजन चिन्त
भणिले रुद्रदास तेण गुणमानन्त

'उन्होंने पवित्र सूर्यवंशकी प्रतिष्ठा, यशकी महिमा, अजपा-जपका नाम-वहनमें मन्त्र-प्रचार, मुनियोंकी रक्षा, ईश्वरकी विभूतिका प्रदर्शन, परशुरामसे कला ग्रहणकर पूर्णावतार-धारण, त्यागका आदर्श स्थापित करनेके लिये गृह-त्याग, सीताको छिपाकर माया-प्रदर्शन, अनुन्नत वानर-समाजको विवेक-प्रदान, समुद्रकी गम्भीरताका भेदन, सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये दस अवगुणोंका संहार, न्याय-प्रदर्शनके लिये राक्षसोंका संहार, शरणागतकी रक्षाके लिये विभीषणको शरण-प्रदान—इन त्रयोदश आदर्शोंका रामायणमें उल्लेख किया गया है।' इसी प्राचीन अनुवादसे ग्रन्थकारने रामायणके आदर्श लिये हैं। इसकी परवर्त्ती रचना शारलादासका रामायण-अनुवाद है।

शूद्र मुनिके विचारसे शारलादासने अनुमानतः खीष्ट १३वीं शताब्दीमें रामायण और महाभारतका अनुवाद किया था। इसका कुछ अंश अध्यापक श्रीआर्त्तवल्लभने 'प्राची प्रकाशन'से प्रकाशित किया था। उसमें उत्कलके प्रसिद्ध आदिकविने रामायणका शुद्ध पारमार्थिक यौगिक ग्रन्थके रूपमें परिचय दिया है। कितनी पाण्डुलिपियोंमें देखा जाता है कि उन्होंने रामायणके नायक और नायिकाओंको यौगिक आदर्श-से गौरवान्वित किया है। उनका कथन है—

अधगति नथिवा अयोध्या कटकाद्
दशइन्द्रि रुन्धिवा नरपति येगाद्

इडा ये सुमइत्रा पिङ्गला कइकइ
शुशुमणा नाडी ये कुशलाकु बोलाइ
शुशुमणा चक्ररु जात ये आत्माराम
स्थित शेष तत्त्व ये इडारु जात पुण
पिङ्गला अथयरु भरथ भरथरे
जात होइले चारितनय गुणङ्करे
याग ज्योतिरु ऋषिश्रृङ्ग ये भेदन
करि दश (इन्द्रिरु) जात चतुर्द्धा मूर्ति जाण
धर्म ये आत्माराम अरथ भरथ
शत्रु हरणे काम गुणरु पुत जात
पृथिवी लक्ष्मणकु सर्वसहा गुणरे
लक्ष्मण जात हेले विधिर क्रमरे
दशइन्द्रि नगरे सरसू रसधार
क्रीडा करिले तहिं परम योगेश्वर
× × × ×
पृथिवी तत्त्वकु आदिऋषि पिअर
जनक बोलाइ कलेक उद्धार
सेहु ये मइथिलि मन्थनरु जात
आत्मारामङ्क मायारूवे से प्रापत

शारलादास 'योगरामायणमें' कहते हैं कि 'अध या ऊर्ध्वगतिको योगगति कहते हैं। वह जहाँ सफल हुई, उसका नाम अयोध्या है। वहाँ दश इन्द्रियोंका दमन करनेवाले पुरुष राजा दशरथ थे। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना भार्यारूप उनकी सुमित्रा, कैकेयी और कौशल्या—तीन रानियाँ थीं। सुषुम्ना नाड़ीसे आत्माराम रामका प्रकाश हुआ। स्थितितत्त्व या शेषदेवका इडा नाडीसे, चञ्चलता-स्वरूपा पिङ्गला नाड़ीसे भरत या पालनकर्त्ता आदर्श राजाओं-का जन्म हुआ। ये ज्योतिर्मय यज्ञपुरुषसे उत्पन्न हुए। ऋषिप्रवर ऋष्यश्रृङ्गने उस तत्त्वको प्रकाशित किया। धर्म-स्वरूप श्रीरामचन्द्र, अर्थ या विभूतिस्वरूप भरत, कामस्वरूप शत्रुघ्न और सर्वसहनशीलताका पृथ्वीतत्त्व लक्ष्मण, मोक्षकर्त्ता वासुदेव हैं। यही राम-परिवार—रस-तत्त्वका प्रवाह सरयूके तटपर योगेश्वररूपसे क्रीड़ा करता था।'

वही रामायणके अनुवादक शारलादास जानकीके विषयमें कहते हैं कि 'आदिऋषि अर्थात् जनकने धरा-तत्त्व या भूमितत्त्वका उद्धार किया, उसी मन्थन या ज्ञानके अंदर-से मैथिली (मन्थनसार) प्रकट हुई; जो आत्मारामकी एकमात्र प्राप्या हैं।'

शारलाने छोटी-बड़ी सभी बातोंको योगानुभवकी आख्या देते हुए 'सुग्रीवको योगभ्रष्ट, ताराको ह्लादनी शक्ति, बालीको त्राटक, वानरोंको योगग्रन्थि (लाङ्गुडिआ), कुम्भकर्णको अज्ञान—मोह, इन्द्रजित्को ईर्ष्या या योगाभिमान प्रभृति नाना चित्रोंसे चित्रित करते हुए रामायणका वर्णन किया था। वह ग्रन्थ सम्पूर्ण सात काण्डोंमें अबतक प्राप्त नहीं हुआ। उसमें विपक्ष शक्ति रावणको योगान्तक विंश नाडियोंके अधिकारी (विंशबाहु), दश अवगुणोंका राजा बताया गया है। लोभ, काम, क्रोध, मद, अहंकार, आत्म-प्रशंसा, छल, मिथ्याभाषण, गर्व, प्रमाद या कापट्य—इन दस दोषोंसे पूरित (लुङ्क—छिपा हुआ) लङ्का भोगरूपी सागरके मध्य अवस्थित है। उसके राजा रावणको आत्मारामने अपने वशमें किया।' यह रामायणवाद खीष्टीय सोलहवीं शताब्दीमें उत्कल लिपि या उत्कल भाषामें दो हजार रामायणोंमें प्रचलित था।

मत्त बलरामदास श्रीचैतन्यदेवके सम-सामयिक प्रसिद्ध भक्त थे। उन्होंने श्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें 'जगमोहन रामायण' या 'दाण्डि रामायण'की रचना की थी। यह 'जगमोहन रामायण' उत्कलकी अत्यन्त प्रसिद्ध रामायण है। समग्र उत्कलमें इसका यथेष्ट प्रसार है। सर्वप्रथम खीष्ट १९२६ में यह मुद्रित हुई थी; परंतु यह प्रसिद्ध ग्रन्थरत्न अब भी प्रत्येक ग्राममें ताड़पत्रपर लिखा हुआ मौजूद है। उसमें पहले लिखा है—

कोटिए शह कवि ये रामायण लिहिले
ठुलकरि तत्त्वकु जगमोहन रचिले

इससे विदित होता है कि खीष्ट सोलहवीं शताब्दीके मध्यकालमें जगमोहन-रामायणकी रचनाके पूर्व दो हजार रामायण रचे जा चुके थे। मत्त बलराम कविने जगमोहन-रामायणका शुद्ध उत्कल भाषामें धारावाहिक अनुवाद किया है।

प्रसङ्ग—उत्कल भाषा-भाषियोंसे परिचित एक और रामायण है—दाण्डि-रामायण। यह अप्रकाशित है, जगमोहन-रामायणकी सम-सामयिक है। इसमें प्रसङ्ग-क्रमसे उपदेश-वाणी तथा देशज प्रथा-सम्बन्धी उपदेश मिलते हैं। इसमें

क उल्लेखयोग्य वाणी श्रीरघुनाथजीकी वन-यात्राके समय
ाती है ! पथ-प्रान्तमें एकत्र नर-नारी (प्रजा) को वर्णाश्रम-
र्मके सम्बन्धमें श्रीरामचन्द्रने एक सुन्दर उपदेश दिया है।

मूल—सुमन्तकु आगकरि यतिवेशे राम
बोइले नगरवासी वेनन्त विश्राम
राइ सङ्गे केन्हे हेउछरे तुंमे वाइ
भोग समुद्र फल एसनटि होइ
पाटके बोलन्ति शुणि योडि वेनिकर
आपणत पितृसत्य पालि विजेकर
आंभे जनमाने ये तोर पुत्र सम
पुत्र छाडि यिवा पिता अटइ विषम
शुणिण राघव हसि बोलन्ति उत्तर
पितार पालन धर्म अटइ
भरण पोषणे रखि भरथ मो भाइ
पालिब तुमकु मोर तुलुत निठाइ
एथकु चिन्ता नकर मान मोर बोल
शुण कहुथिबा कथा अन्यथा नकर

भावार्थ—महामन्त्री सुमन्त्रको आगे रखकर यति-वेशधारी
ीरामचन्द्र कहते हैं—'नगरवासियो ! अब विश्राम करो।
ाजा कभी स्वतन्त्र नहीं होते । वे पागलोंके सदृश होते हैं।
ुमलोग उनकी तरह पागलपन क्यों करते हो ? राजा भोग-
के समुद्रमें डूबे रहते हैं। इसी भोगलिप्साका परिणामस्वरूप
धर-उधर घूमना है।'

श्रीराघवेन्द्र सरकारकी बात सुनकर प्रजाने कहा—
आप पिताके वचन सत्य प्रमाणित करनेके लिये वन जा
रहे हैं। हम आपके पुत्र हैं। पुत्रको त्यागकर पिताको चले
ााना उचित नहीं।' प्रजाकी यह बात सुनकर श्रीरामचन्द्रजी
उत्तर देते हैं—'पुत्रका पालन करना पिताका धर्म है। इसी
ातिपालनके लिये पालन-विद्या-प्रवीण मेरा स्वनामधन्य भ्राता
रत मुझसे बढ़कर तुम्हारा पालन करेगा। इसलिये मेरी बात
ानकर, मेरे ये उपदेश सुनकर तुमलोगोंको लौट
ााना चाहिये—

मूल—ब्राह्मण ये नित्याचारे कालकाटुथिब
श्वपचकु अन्न देइ आपणे भुंजिब
मन्त्रार्थ नजाणि मन्त्र नवाइब केबे
मारण जारण तेजि निगमरभावे
सत्यर वसन पिन्धि न्यायर उत्तरि
धर्मर तिलक भाले शिरे भक्तिमणि
एसन्त वेशरे सदा रहिब भूसुरे

भावार्थ—(१) सभी ब्राह्मण नित्याचारसे कालक्षेप
करेंगे। पहले शूद्र या ग्रामान्तरालवासी श्वपच (हरिजन)
को अन्न देकर पीछे स्वयं भोजन करेंगे।

(२) मन्त्रार्थको जाने बिना मन्त्र-साधन नहीं करना।
वेद-विरोधी मारण-जारणादि तन्त्र-साधन वर्जन करना।

(३) सत्यरूपी वस्त्र पहनते हुए, न्यायरूपी उत्तरीय-
से भूषित होना। ललाटमें धर्मका प्रतीक तिलक धारण करना,
शिखा या शिरोभूषण तुमलोगोंका भक्तिस्वरूप मणि है।

मूल—शुण क्षत्रिय धरम क्षत्रिवंश वीरे
धइर्य दण्डकु धरि धर्म रक्षाकरि
अन्नवस्त्र पाटककु देव समकरि
गोरुङ्क पाइँ गोचर वाटिएक माणे
वाटिके पांचमाण ये विप्रदेवगणे
विधवा ये अपारग, शिशुपुत्र थिले
कउडिकु उणा करि कर नेब भले
निति तिनि घडि वसि गुहारि शुणिब
सेकाले द्वारे काहाकु वाध न पडिब
मठकोठु माणकरे न नेवरे भाग
देवार्च्चना विधि देखि देवदान भाग
दण्डपाट मानङ्कु ये नित्य आकटिब
अपराधिकि दण्ड देव आनकु वरजिब
गोगोष्ठमानङ्कु ये पृष्ठ करुथिब
भरथकु चक्रवर्त्ती पदरे मणिब

भावार्थ—क्षत्रिय वीरगण ! तुमलोग अपने वंशका धर्म
सुनो। धैर्यरूपी दण्ड हाथमें धारणकर तुमलोग धर्मकी रक्षा
करना। समस्त मानव-समाजको जाति-धर्मका विचार किये बिना
अन्न-वस्त्र समान रूपसे देना। बीस बीघा भूमिमें एक बीघा
भूमि गायके आहारके लिये निश्चितरूपसे रखना। जिसके
पास बीस बीघा जमीनपर खेती है, वे पाँच बीघा जमीन
देव-ब्राह्मणके लिये विनियोग करें। विधवा, अपाहिज,
किसीके छोटे शिशु (नाबालिग) से शुल्क कम लेना,
प्रत्यह तीन घड़ी या दो घंटे स्वयं अपनी प्रजाकी
आपत्ति सुनना। उस समय कोई किसी भी व्यक्ति-

मुँ मध्य गहन वने शयने सपने
मनरे भालुथिवित तुंभङ्कु यतने

भावार्थ-चारों वर्णोंमें शूद्रोंकी संख्या अधिक है। वजनदार पदार्थ जैसे नीचे जाता है, उसी प्रकार तुम-लोगोंको सब लोग 'नीच जाति' कहते हैं; किंतु तुम्हीं लोग अन्य जातियोंके कर्तव्यमें सहायक हो। जिस प्रकार पादुका स्वयं आघात सहनकर दूसरेके पैरको कष्ट नहीं होने देती, सुख पहुँचाती है, उसी प्रकार तुमलोग दूसरोंकी सेवा कर, स्वयं कष्ट उठाकर, दूसरोंको आनन्द देते हो, सुख पहुँचाते हो। इसी कारण ब्राह्मण पहले तुमलोगोंको भोजन देकर, बादमें स्वयं भोजन करते हैं। तुमलोग यदि शिविका-वहन नहीं करते तो राज्य-कार्य सुचारु रूपसे नहीं चलता और कोई नदी पार नहीं जा सकता। तुमलोगोंके अशुचि वस्त्र धो देनेपर वह शुद्ध वस्त्र रूपसे देवताओंके काम आयेगा। आशौचमें तुम-लोगोंका क्षुर लगनेसे सब वर्ण शुद्ध होंगे। इस कारण तुम्हीं लोग चारों वर्णोंके शोधक हो। तुमलोगोंको विवाह, उपनयन तथा पर्व आदिमें पहले वस्त्र और भोजन मिलता रहेगा। इसी सेवाके फलस्वरूप तुमलोग भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर सकते हो। योगी-मुनि जिस नामका मृत्युके समय उच्चारण करते हैं, उसी नामके सहारे कर्तव्य-पालन-धर्मसे, अजामिल-परित्राण-तुल्य तुम्हें स्वर्ग-सुखका लाभ हो सकता है। इस कारण तुम तृण होनेपर भी दारुसे न्यून नहीं। यह सब जानकर सेवाका आनन्द लाभ करो। इस प्रकार चलनेको रामराज्य समझना। मैं सर्वदा तुमलोगोंके हृदयमें वास करूँगा और वनमें रहकर भी मैं तुम लोगोंको शयन और स्वप्नमें स्मरण करता रहूँगा।

मूल-एमन्त वचन मानि भाषि रघुवर
रथे चढ़िले वहन चलइ यानवर
घर्घर शब्दरे ब्रह्माण्ड कम्पिला
शब्द धूलि उडाइ रथ चलिगला
(दाण्डिरामायणे अयोध्याकाण्डे)

भावार्थ-इतना कहकर श्रीरामचन्द्रजी रथमें बैठ गये। रथ घरघराता हुआ चलने लगा।

इसी वनगमनके पश्चात् मधुसूदन मिश्र महानाटकके अनुवादमें कहते हैं—

मूल-श्रीपुरुषोत्तम यहिँ जामाता अटन्ति
स्वयं भगवती लक्ष्मी कन्या होइछन्ति
विश्वामित्र मुनि दूत कार्यकु करन्ति
कूल पुरोहित निजे वसिष्ठ अटन्ति
कन्या दाता होइथिले विदेह राजन
सबु ग्रहमानेथिले एकादश स्थान
विधाता विपक्ष कथा के करे वखाण
निजे रामचन्द्र एवे याउछन्ति वन।

[जामाता पुरुषोत्तमो भगवती लक्ष्मीः स्वयं कन्यका
दूतो यस्य बभूव कौशिकमुनिर्यज्वा वसिष्ठः स्वयम्।
दाता श्रीजनकः प्रदानसमये चैकादशस्था ग्रहाः
किं ब्रूमो भवितव्यता हतविधे रामोऽपि यातो वनम्॥]
(महानाटके)

चिकिटि-रामायणमें इसी वनगमनको देखकर कवि चिकिटि राजेन्द्र कहते हैं—

भावार्थ-जिनके मस्तकपर धैर्यका जटाभार और युगल नयनोंसे दयाका झरना झरता रहता है, अधरपर शान्तिकी वाणी जगत्‌को सान्त्वना देती है, जिनके बाहुमूल देखकर प्रजा निर्भय होती है, वक्षःस्थल देखकर कामुक स्त्रियाँ संकुचित होती हैं और श्रीचरणोंका दर्शन करके ज्ञानी पुरुष 'विज्ञानी' कहलाते हैं, इस प्रकारके श्रीरघुनाथजी निर्दय होकर कैसे चले गये? यही आश्चर्यकी बात है। हमलोगोंके दुर्भाग्यका फल है।
(चिकिटि-रामायण)

मूल-शिरदेशे धैर्यर कुन्तल यार शोभा
नेत्रे दयाजल पुरि उछुलिछि किवा
अधरे शान्तिवाणी सान्त्वना बोलाइ
बाहुमूल दरशन प्रजाभय फेइ
याहार वक्ष देखिले कामुका रमणी
संकुचित हेउथान्ति लज्यारेटि पुणि
सुज्ञानी देखि ये पाद विज्ञानी बोलाए
एमन्त स्वरूप निर्दयरे चलियाए
एहा अटइ आंभर मन्दभाग्य फल
आश्चर्य अटइ जाण आहे जनवल
(राजेन्द्रकवि)

इसके उपरान्त चित्रकूट-वासके समय जब भरत श्रीराघवेन्द्र सरकारसे मिलनेके लिये आते हैं, तब श्रीभगवान्‌के विशेष उपदेश हैं।

श्रीपीताम्बरकृत दाण्डि-रामायणमें भरतको विदा करते समय प्रभु कहते हैं—'भाई भरत ! शोक परित्यागकर धैर्य रक्खो । पिताके वचनको सत्य प्रमाणित करनेके लिये मेरे वन-गमनके कारण राज्यमें अराजकता छा जाय और प्रजा कष्ट सहकर मर जाय, यह क्या रघुकुलके लिये कलङ्क नहीं ? इस कलङ्कसे त्राण पानेके लिये मैं तुम्हें समाचार दिये बिना ही वनमें चला आया । अयोध्यासे प्रस्थित होते समय यदि तुम रहते तो हमलोगोंका वनमें आना सम्भव नहीं हो पाता और न प्रजाको आदर्श शासन मिलता । इसलिये मेरी बात मानकर तुम मेरे स्नेह-राज्यमें रहते हुए अवधका शासन करो । तुम्हारे धर्मपूर्वक प्रजा-पालनके द्वारा ही मैं सुखी होऊँगा ।'

मूल—शासन ये तिनोटि वर्णरे अछिजाण
शान्ति समाधान पुण नरात्म भेदेण ॥
धराधामे नृपकुल शान्ति समाधाने
करन्ति शासन नरात्म भावकु तेजि ध्याने ॥
तुंभविनु मानविक वृत्ति के धरिब
मुँहि त दैवकु मायावशरे प्राभव ॥
सकल मायारु तुंभे होइछ निवृत्त
नरात्मभावु शासन करिबाकु बस ये ॥
राज्यसिंहासन भोग्यवस्तु नोहे जाण
भोग भद्रासन परे स्थापित निपुण ॥
सिंहासन चारि खुरा अतीव बडाइ
धइर्य क्षमा आचार भकति सार एहि ॥
ताहार उपरे निष्ठा कोमल आसन
असरप ये विभूति नृपङ्क भूषण ॥
चारिगोटि मणिमय स्तंभ विराजन्ति
स्तंभर गुणमान ये प्रभु वरवाणन्ति ॥
सत्य ये अक्रोध पुण अहिंसा नम्रता
चारिस्तंभ सिंहासने होइअछि पोता ॥
प्रशान्त मण्डप ताहा उपरे बसिछि
मर्यादार झुंपामान झलकुण अछि ॥
महत कलस तार परे अति शोभा
अनासक्त वानाउडे तहिं होइ लोभा ॥
नाद बिन्दु युक्त होइ पतका उडइ
फरफर झबदरे ब्रह्माण्ड कम्पइ ॥

एहि सिंहासने राजा विजयकु कले
टलमल हुए आद्यु टलियिबा प्राये
मात्रक देखिले जणा होइब सेकाले
भोग भद्रासन टलुथाएटि सबले
सुज्ञानी शासक ज्ञान खड्ग मुनरे
चापिदेले थयहेब टलमल तारे
संयमर ढाल हस्ते वहन धरिब
तेबे ईशविश्वासर वाना स्थिर होइण उडिब
वानास्थिर हेले भद्रासन स्थिरहेब
न्यायदण्ड धरिलेक दुरित नाशयिब ॥

भावार्थ—प्रभुने कहा—'शान्ति, समाधान और नरात्म-भावको शासन कहते हैं । पृथ्वीके सभी शासक शान्ति और समाधान कर सकते हैं; किंतु नरात्मभाव या मानवताके प्रति आत्मीयता तुम्हारे सिवा और कोई नहीं कर सकता । मैं माया-के वशवर्ती हूँ, तुम मायासे अतीत हो; इसलिये उपयुक्त शासक होकर मानवताकी प्रतिष्ठा करो ।

'राज्य-सिंहासन भोग-सिंहासन नहीं, वह भोगके भद्रासनपर प्रतिष्ठित मात्र है । उसके चार पद हैं—धैर्य, क्षमा, ईश्वर-भक्ति एवं आचार । निष्ठा उसका ऊपरी कोमल आसन, तकिया या पृष्ठासन-विभूति है । इस प्रकार सिंहासनके सत्य, अक्रोध, अहिंसा और नम्रता—चार स्तम्भ हैं । प्रशान्त मण्डपके यही चार उज्ज्वल मणिमय स्तम्भ हैं । उसमें मर्यादा-की झालरें झूलती हैं । महत् (मान) उसका कलश है । उसमें अनासक्त नाद-बिन्दुका प्रतीक ध्वजा फहराती है । उक्त सिंहासनपर बैठनेपर पहले वह हिलता है, किंतु सिंहासन हिलनेकी बात ठीक नहीं । नीचे रक्खा हुआ भोगका भद्रासन हिलता है । केवल ज्ञानी शासक ज्ञान-खड्गकी नोकपर उसे रखकर, अपने हाथमें संयमकी ढाल (चर्म) ग्रहणकर, ईश्वर-विश्वासरूपी ध्वजाके भारसे भद्रासनरूपी भोग स्थिर रखते हैं । भोगका भद्रासन स्थिर होनेपर न्यायरूपी राजदण्ड धारण करनेसे सारे विघ्न दूर हो जाते हैं ।'

मूल—विपद शत्रुर आगमन काल जाणि
धइर्य स्तभकु धरि रहिब सुज्ञानी ॥
येबे अपराधि आसि आपणा मनकु
अपराध वरवाणिब धरिण सत्यकु ॥
तेबे क्षमा आचरिब शुण नृपपुअ
आचारे देव ब्राह्मण पूजुथिब यर ॥

देवता अर्च्चन नित्य दण्डे करुथिले
आपद ये अकस्मात न पडइ भले ॥
विप्रसेवा करुथिले कुग्रह नाशयान्ति
आचार बोलि क्षत्रिये जाणिबे एमति ॥
अन्तरे बाहारे प्रभु निरंजनडारे
भक्ति रखिणथिब विभु अणाकारे ॥
निराकार रूप अवा साकार गुणाकार
रूप महिमाकु चिन्ता करुथिबा सार ॥
ईश्वर चिन्तनरु ये संतोष हुए जात
संतोषरु भोगसुख हुअइ निपात ॥
एहि चारि गुणरु ये निष्ठाजात हुए
निष्ठारु विभूति गुण प्रतिष्ठा बोलाए ॥
कीरति तुलिका सेहु छिट यश बोलि
जाणि असरप तहिं आत्रोरिब पुणि ॥

भावार्थ–'विपत्ति या शत्रुके आगमनका पता चलते ही धैर्यरूप स्तम्भका आश्रय लेना चाहिये । यदि कभी कोई अपराधी स्वयं उपस्थित होकर अपना अपराध स्वीकार कर ले तो उसे क्षमा कर ही देना चाहिये । आचाररूपी स्तम्भका गुण यह है कि आचरणके द्वारा नित्य देवता और ब्राह्मणकी सेवा होती रहे । इसके फलस्वरूप अकस्मात् आयी हुई आपत्तियोंसे अपनी तथा सम्पूर्ण राज्यकी रक्षा हो जाती है । वे आपदाएँ आतीं ही नहीं । ब्राह्मण-सेवाका परिणाम यह होता है कि अनिष्टकर ग्रहजनित कष्ट नष्ट हो जाते हैं । इस बातको क्षत्रिय-आचार समझना चाहिये। ईश्वर-चिन्तनसे—चाहे वह निराकार, साकार या लीला-विग्रहका हो—मनमें संतोष होता है । इससे स्वाभाविक ही भोगरूपी सुखका अभाव होने लगता है । इन चार स्तम्भोंके गुणोंमें निष्ठा होनेपर राजपुरुष प्रतिष्ठित होता है । निष्ठासे प्रतिष्ठारूपी सुखासन (तकिया) उपलब्ध होता है । इस तकियामें कीर्तिरूपी रूई और यशरूपी ऊपरका मनोरम वस्त्रावरण है ।'

मूल–सत्यहिं परम ब्रह्म अटन्ति सनातन
सत्य रखिथिले अप्रमाद नाश पुण ॥
क्रोधरे दहइ ज्ञान ज्ञान हजिगले
असूया अज्ञान हृदे पुरइटि हेले ॥
से निमन्ते अक्रोध स्तंभ धरिथिब
काहारि प्रति काणिचे हिंसा न वहिब ॥

मन ये मणिष मुख लोके ये दर्पण
मुख गति प्रकाशइ मुकुर येसन ॥
हसि देखिले दर्पण हसमुख दिए
विकृते विकृत मुख विभत्से देखाए ॥
सकलकु हसि नम्रतारे कथा कहि
तोषुथिले नम्रताकु पाइब निठाइ ॥

भावार्थ–राजाओंका सबसे बड़ा गुण या मण्डप निश्चय ही सत्य सनातन ब्रह्म है । सत्यके प्रभावसे निन्दा और प्रमाद प्रभृति अवगुण विनष्ट हो जाते हैं । अक्रोधरूपी स्तम्भका गुण महान् है । क्रोधसे ज्ञान लुप्त हो जाता है और अज्ञानसे असूयाका भाव हृदयपर शासन करने लगता है । इसलिये क्षत्रियको अक्रोधरूपी स्तम्भको पकड़े रहना चाहिये । किसी-के प्रति हिंसाका भाव अकर्तव्य है । मन मनुष्यके सुख और शक्तियोंका दर्पण है । जैसे दर्पणमें मुखकी भङ्गिमा दीखती है, दर्पणमें देखनेसे सुन्दर मुखभङ्गीके कारण सुन्दर मुख दीखता है, इसी प्रकार सबको विनम्रताके साथ सम्मान-प्रदान करनेसे सबसे विनम्र सम्मान प्राप्त होता है ।'

मूल–काउकला कोइलित कला ये अटइ
काउकार किवा द्रव्य हरण करइ ॥
कोइलिका घरे आणि दरब कि दिए
मिठा वचनरे सकलङ्क मनहरे ॥
काउ काआ काआ रव शुणिले गृहस्थ
उडाइण देउथाए होइ वेणुहस्त ॥
नम्रता गुणरे तेणु मिष्ट वाक्य बोलि
नृपठारु सुपयाए आदरिब भालि ॥
प्रशान्त भाव तेवे जगते दिशिब
मर्यादार पउरष परापत हेब ॥
झलमल झलमल मर्यादार झुम्पा
झुलिले होइ पितृ पुरुषङ्क कृपा ॥
महत कलसकु से ध्यान करुथिब
कथारे कर्मरे मानतल न करिब ॥
सबु उडियाइथिले भाग्यवलु केवे
मर्यादा कलस धरि चलिब अभावे ॥
सेहि कलसकु आश्राकरि पुण सबु
फेरिबरे वेल जाणि विचारन्तु बाबु ॥

भावार्थ–काक और कोयल दोनों पक्षियोंका रंग काला है। कौआ किसीका धन न लूटता और न नाश करता है तथा

कोयल न किसीको कुछ धन दे देती और न लाभदायक सिद्ध होती है। किंतु कोयलकी मधुर वाणी सबको प्रिय लगती है और काकके कर्कश स्वरमें अरुचि होती है। इसलिये राजाको सदा मिष्टभाषी होना चाहिये। इन सद्गुणों-से जगत्‌में प्रशान्त भाव विकसित होता है और मर्यादापूर्ण पुरुषत्वकी प्राप्ति होती है। मर्यादाभरणकी दीप्तिसे पितरोंकी अनुकम्पा उतरती है। महत् या मानरूपी कलशका नित्य ध्यान रखनेसे वाणी और मनमें मानका पतन नहीं हो पाता। दैव-दुर्विपाकसे सम्पूर्ण विभूतियोंके समाप्त हो जानेपर भी यदि केवल मानरूपी कलश ही बच जाय तो इसीसे सबका पुनरुद्धार हो सकता है।

मूल–सुज्ञान खडग करे थिले दुइधार
धारके अज्ञान नाशे अन्ये दुराचार ॥
संयम ढालकु वामकरे वहिथिब
भोग भद्रासने ये पाद पडियिब ॥
से सुख ग्रासिब तक्षणे मनमुन।
संयम ढाल तहिंरु तारिब वहन ॥
ढाल नथिवा करेरे येसने वीरजने
हटि पलान्ति शत्रुर भीषण गर्जने ॥
सेहिपरि भोगसुख संयम नथिले
देहकु देइण सुख मने तेवे हेले ॥
न्यायदण्ड धरि नित्य प्रजा पालुथिब
परापर ज्ञान केभे हृदे न धरिब ॥
विवेकर मन्त्र यदि संगे थिब रहि
मन्त्रीशहङ्क वचन सारदेव कहि ॥
सेहि वचनरे राजा धर्म चलाइब
मन्त्रिङ्क कहिला कर्म बोलिण बोलिब ॥
दूतरूपे रखिथिब बिचारकु दृढे
कथाकु विचारि कर्म करिवटि हेले ॥
हातक मापि चाखण्डे पाद बढाइब
पादक बढाइ चारि आडकु देखिब ॥
प्रमाद थिले सेठावे नाशिब प्रमाद
पुण पाद बढाइब होइ अप्रमाद ॥
नोहिले आगरे थिवा परमादमान
पछेथिवे पडि परमाद परमाण ॥
विचार दूतबारु ए कथाकु चिन्तिव
मुराट गांभीर्य प्रहरीकु जगाइब ॥
हृदे याहाथाउ नेत्रे मुराट प्रहरी
जगिथिले केहि हृदे नयिबे बहरि ॥
बुद्धिर कटुआलकु टाण करिथिब
आग पेशि ताहाठारु संवाद बुझिब ॥
सेहि संवादरु न्यायगति मति मणि
पोषुथिब पालुथिब वत्सरे धरणी ॥
एहि कथा मान बाबु मोर भले मानि
शासिबु परजा राज्य मोर आज्ञा वेनि ॥

भावार्थ–'सुज्ञानरूपी खड्गकी दो धार या तीक्ष्ण पार्श्व हैं। वह एक ओरसे अज्ञानका और दूसरी ओरसे शत्रुका संहार करता है। संयमरूपी ढाल हाथमें रहनेसे, यदि दुर्योगसे भोगरूपी भद्रासनमें पैरोंका स्पर्श होगा और साथ ही सुखमें मन जुड़ जायगा तो उस समय संयमरूपी ढाल अपना उद्धार कर लेगी। जैसे ढालरहित वीर शत्रुसे डर जाता है, वैसे ही भोगरूपी शत्रु संयमरूपी ढालके न रहनेसे अपने अधीन कर लेता है। न्यायरूपी दण्ड धारणकर प्रजाका पालन करना चाहिये। हृदयमें कभी भी 'स्व' और 'पर' की भावना नहीं रखनी चाहिये। विवेकरूपी मन्त्री साथ रहे तो सैकड़ों मन्त्रियोंका सार-वचन बता सकता है। इस प्रकार वाणीसे राजा धर्मका पालन कर सकेगा और मन्त्रियोंका कहा हुआ कर्तव्य बता सकेगा।'

'अपना विचार दूतकी भाँति दृढ़ रखें, बात सोच-विचारकर करे, हाथको नापकर उसके आधेमें पैर रखे, पैर रखकर चारों ओर देखे। जहाँ कहीं प्रमाद हो, उसे दूरकर दूसरा पैर सावधानीसे रखे। ऐसा करनेसे आगेका प्रमाद पीछे पड़ जायगा। विचाररूपी दूतके द्वारा इन सूत्रोंको जानना। विक्रमसूचक भङ्गिमासे द्वारपालको जगाना। हृदयमें जो कुछ भी हो किंतु आँखोंमें गाम्भीर्यरूप प्रहरी सजग रहे तो कोई हृदयसे निकल न सके। बुद्धि-रूपी कोतवालको समर्थ रखना। उसके द्वारा पहले संवाद विदित करना। उस संवादसे न्यायका निर्णय करना। हे वत्स! इस प्रकार राज्यका पालन-पोषण करना। इन बातोंको अच्छी प्रकार मानकर, मेरी आज्ञासे राज्य और प्रजाका शासन करते रहना।'

श्रीपीताम्बरकृत रामायण
(कल्पतरु पुस्तकालयद्वारा प्रकाशित)
पृष्ठ १२४

विप्र पीताम्बरकृत रामायण और कृष्णचन्द्र पट्टनायक-कृत वाल्मीकिरामायणके अनुवादमें ये ही उपदेश-वचन प्रायः समानरूपसे मिलते हैं। भरतको दिये गये राज्य-पालनसम्बन्धी उपदेशके अनन्तर पुनः शिक्षाप्रद प्रसङ्ग है—अरण्यकाण्डका 'सीता-हरण'। उत्कल देशकी रामायणमें इस प्रसङ्गमें वर्णन आता है कि जब श्रीसीताजीने मायामृगसे मुग्ध होकर उसकी खाल ले आनेके लिये भगवान् श्रीरामको प्रेरित किया, तब भगवान्ने सीताकी रक्षाका दायित्व लक्ष्मणको सौंपकर माया-मृगका पीछा किया, किंतु 'त्राहि लक्ष्मण' शब्द कानमें पड़ते ही श्रीसीताजीने लक्ष्मणको श्रीरामका पता लगानेके लिये दृढ़ एव कठोर आदेश दिया। उस समय जब लक्ष्मणको विवश होकर जाना पड़ा, तब उन्होंने अपने धनुषकी नोकसे पृथ्वीपर तीन रेखा खींचकर कहा—

मूल—बालक बचन बोलि नपुछ गो मात
दरोटि आपणे थाए केते गूढ़तत्त्व।
आपदरे परदेशे संपद बढ़तिरे
शत्रुथिवा स्थाने मन अस्थिर करिले
चञ्चल मन सेकाळे शत्रुरूप धरे।
चित्त चञ्चलरु मने कल्पनाकु संचारे
मन्द कल्पनाथिरु ये थिरता हुए हत।
मनकु स्थिर करगो भाषाह्‌ अनुगत
सत्यस्वरूप ये प्रभु रघुकुलनाथ
ताहाङ्क नामरे काटिलि देखगार मात।
केतेहें विपद अवा आसु वइदेही
ए गारकु डेइँकरि नयिव कदाणोइ॥

भावार्थ—'माता, मेरी बातोंपर ध्यान दें। मेरा कहना बच्चेकी बात मत समझिये। कभी-कभी बच्चे भी अपनी अस्पष्ट मधुर वाणीसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कहते हैं। आपत्तिकालमें, परदेशमें, उन्नतिके समय एवं शत्रुसे घिरी भूमिमें चित्तकी चञ्चलता सबसे बड़ा शत्रु है।

'चित्तकी चञ्चलतासे अनेक प्रकारकी बुरी भावनाएँ आ जाती हैं। बुरी भावनासे सत्प्रयत्न-निधारण-शक्ति नष्ट हो जाती है। इसलिये मनको स्थिर रखकर छोटी-छोटी बातको भी मानना आवश्यक है। मैं सत्यस्वरूप श्रीरघुनाथजीके नामसे यह रेखा खींचकर वनमें जा रहा हूँ। निश्चय ही आप स्मरण रखें कि किसी भी परिस्थितिमें मनको स्थिर रखकर इसकी सीमाके भीतर ही रहें। रेखाके बाहर पैर न बढ़ायें। बस, इतना ही मेरा अनुरोध है।'

श्रीराघवेन्द्रके पीछे लक्ष्मणके चले जानेपर लङ्काधिपति रावण यतिका वेश धारण कर बलपूर्वक भिक्षा माँगने पहुँचा। उस समय श्रीसीताजी एवं रावणके प्रश्नोत्तर कल्पतरुकृत रामलीला तथा शंकरदास कविकृत 'रामलीलामृत'में बड़े विशद एवं अत्यन्त शिक्षाप्रद हैं।

पर्णकुटीके बाहर यतिवेषधारी रावणने कहा—'इस कुटियामें कौन पुण्यात्मा रहता है? वह तपस्वीके क्षुधा-निवारणके लिये प्रस्तुत है क्या? तपस्वीकी सेवाका अवसर बड़े भाग्यसे मिलता है।'

जनकनन्दिनी श्रीसीतादेवीने कुटियाके भीतरसे उत्तर दिया, 'हे तपस्वी! मेरे स्वामी और देवर वनमें उत्तम आहार लाने गये हैं। पुरुषविहीन स्त्रीका तपस्वीकी सेवामें अधिकार नहीं।'

रावण बोला—'नीति-वाणी सुननेके लिये मेरे पास समय नहीं। भूखसे मेरी जान जाती है। ऐसे समय भोज्य-सामग्री घरमें रहते हुए जो गृहस्थ क्षुधार्तको भोजन नहीं देता, उसके पितृ एवं श्वसुर—दोनों कुल नरकमें जाते हैं।'

श्रीसीताजीने कहा—'आप तपस्वी एवं वयोवृद्ध हैं। आपके सम्मुख नववधूका उपस्थित होना मर्यादाके विरुद्ध है। आप तनिक ओटमें हो जायें। मैं भिक्षा-सामग्री रख देती हूँ, आप ग्रहण कर लीजियेगा।'

रावणने कहा—'मालूम होता है तुम किसी निम्न जातिकी स्त्री हो; क्योंकि निम्नकुलकी स्त्रियाँ दानकी वस्तु नीचे रख देती हैं। किंतु उच्चवंशकी स्त्रियाँ संकल्प किया हुआ दान अपने हाथमें लेकर भिक्षार्थीको भक्तिपूर्वक प्रणाम करके देती हैं। अधम श्रेणीकी भिक्षा मुझे अभीष्ट नहीं।'

'मेरे वंशकी मर्यादापर आँच आयेगी'—यह सुनकर माता जानकीने अपने हाथमें फल लेकर कुटियाके भीतरसे आगे बढ़ा दिया।

छली रावण बोला—

हच्चे रहि बलिदाता दान देइथिला
जाण गो जानकी किछि प्राभव लभिला।

तुंभे उच्चरे रहिण दान केन्हे देव
मुँ संन्यासी नीचहस्ते केसन्ते घेनिब।
नीचहस्तु दानकेवे निअन्तिकि यति
गारटेहुँ तळे आस यदि दाने स्तति।

(पीताम्बरकृत रामायण)

'उच्च आसनपर बैठकर दान देनेका फल महाराज बलिने भोग लिया । यहाँ आप भी उच्चासनपर खड़ी होकर दान देंगी और मैं नीचे खड़े होकर नीचे हाथमें दान लूँगा, यह नीतिविरुद्ध एवं अग्रहणीय है। यदि भिक्षा देना आपका उद्देश्य है तो रेख लाँघकर बाहर आइये।

एथुँ मुँ बाहुड़ि गले शून्यथाल बेनि
वनस्तरे नाशयिवे तो आत्मीय वेनि।
क्षुधार्त्तिकु खाद्यद्रव्य थाइण देखाइ
न देले दातार सर्व विनाशकु पाइ।

'कर्षित भूमिके बीच दान देनेका नियम नहीं। तुम आहार दिखाकर, छलपूर्वक मुझे नहीं दे रही हो। इससे मेरी क्षुधा दुगुनी तीव्र हो गयी । इस स्थितिमें मेरे लौट जानेपर तुम्हारे इष्ट स्वजनोंकी प्राप्ति पुनः सम्भव नहीं होगी। जो भिक्षान्न या खाद्यवस्तु क्षुधार्त्तको दिखाकर नहीं देता, उसका सर्वनाश हो जाता है।'

इस कथोपकथनके क्षुद्रातिक्षुद्र उपदेश-वचन उल्लेख्य हैं। इसके उपरान्त पुनः कुछ उपदेशात्मक वचन पक्षिराज जटायुके प्रसङ्गमें आये हैं। जटायुका 'पक्षीजटा' नामसे 'कल्पतरु' प्रभृति रामायणोंमें वर्णन किया गया है। जब भगवान् श्रीराम सीताके वियोगमें मायाग्रस्त व्यक्तिकी भाँति विलाप करते हुए जटायुके पास पहुँचे, तब जटायुने रावणके दुष्कर्म एवं श्रीसीताजीके असह्य दुःखकी बात बतायी। भगवान् श्रीरामने देखा कि जटायुने परहितके लिये अपना जीवन बलिदान कर दिया है, तब प्रभु बोले—'हे पक्षीश्रेष्ठ! आपने अण्डजोंकी अधम योनिमें जन्म लेकर भी संसारमें परोपकारका अत्यन्त श्रेष्ठ आदर्श स्थापित किया है। मनुष्य ही नहीं, अन्य चौरासी लक्ष योनियोंमें उत्पन्न हुए जीवोंमें आहार, निद्रा, भय और मैथुन सब हैं; किंतु किसी प्राणीने दूसरे प्राणीकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी आहुति दे दी हो, अबतक नहीं सुना। महर्षि दधीचिने लोकोपकारके लिये अपना शरीर-त्याग कर दिया था। आज तुम्हारे इस कर्मने पुनः उसी आदर्शकी प्रतिष्ठा की है। तुम परोपकारके हेतु और उसका स्वरूप कुछ सुनो—

'कितने पथिक मार्गमें रोगी व्यक्तिको देखकर घृणासे बचकर निकल जाते हैं, रोगीपर दृष्टि भी नहीं डालते। किंतु उसके दुःखसे वास्तविक दुखी होकर, दुःख प्रकटकर, उसकी आवश्यक सेवा और उपचार करनेसे मनुष्यको दश एकादशीका फल मिलता है। विपत्तिग्रस्त व्यक्तिके प्रति सहानुभूति प्रकट करना, राज-दरबारमें सच्ची बात कहकर निर्दोष व्यक्तिकी रक्षा करना, स्त्रियोंकी मर्यादा एवं संकटग्रस्त सतीत्वकी रक्षा करना, देवालय, पान्थशाला, कूप, तड़ाग आदिका पुनरुद्धार करना परोपकार है। इन शुभ कार्योंके करनेसे मनमें एक तृप्ति आती है। इस तृप्तिसे आयु-वृद्धि होती है। आज आपने मेरे लिये अपना अङ्ग-भङ्ग करवा लिया है, किंतु आपके हृदयमें उक्त तृप्ति स्थित है। आपके त्यागमय आदर्शका मैं ऋणी हूँ। मैं अपने ही हाथों आपका अन्तिम संस्कार सम्पन्न करूँगा। आप मेरे पितासे भी बढ़कर हैं।'

इतना कहकर भगवान्ने पुनः पितृधर्मके सम्बन्धमें कहा—'पिता वित्तोपार्जन करके अन्न-भोजनादिकी व्यवस्था करता है, किंतु पुत्र और पुत्रीको खिलानेके बाद स्वयं अवशिष्ट पदार्थ भोजन करता है। पक्षी पहले खाकर, फिर अपने उदरसे निकालकर अपने शावकोंका पेट भरते हैं। दूसरेको सुख देनेके लिये स्वयं दुःख सहना पिताका धर्म है। इस आदर्शको सम्मुख रखकर मेरा आपको पिताकी मान्यता देना आश्चर्यकी बात नहीं।' इस प्रकारके वचन कहकर राघवेन्द्र सरकारने जटायुकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की।

असमीयामें श्रीरामवचनामृत

(संग्रहकर्ता-लेखक—डा० श्रीरमानाथजी त्रिपाठी, पी०-एच्० डी०, डी० लिट्०)

असमीया-भाषाके मुख्य रामायण-लेखक हैं श्रीमाधव-कन्दली। इनका जन्म १४००ई०के आसपास हुआ था। कहते हैं किसी अज्ञात कारणवश इनकी रामायणके आदि-अन्त-हीन केवल पाँच काण्ड शेष रह गये थे। असम प्रदेशके सुप्रसिद्ध संत शंकरदेव (१४४९–१५६८ ई०) ने स्वयं उत्तरकाण्ड लिखकर तथा अपने प्रिय शिष्य श्रीमाधवदेव (१४८९–१५९६ ई०) से आदिकाण्ड लिखाकर माधव कन्दलीके रामायण-ग्रन्थकी पूर्ति की। आज असम देशमें इन तीनों लेखकोंके प्रयाससे रचित रामायण* का प्रचार है।

माधवकन्दली–(सप्तकाण्ड रामायणका मुख्य अंश)

प्रसङ्ग–कैकेयीद्वारा प्रवञ्चित एवं पीड़ित दशरथको अत्यन्त दुखी देखकर श्रीरामने आश्वासन देते हुए कहा—

मूल–पुत्र हुया न करय पितृक निस्तार।
सिटो पुत्र हैल पृथिवीर महाभार॥
जीयन्ते नोपोषो मरिवाक बाट चाहय।
नरक भुञ्जिते सिटो करय उपाय॥

बापक आज्ञाक बाधे आछो ताक धिक।
आज्ञा करा जेवे घरे घरे मागो भिख॥
देशान्तर करो नोहे हाते खाण्डा धरो।
हृदयत खाण्डा हानि प्राण परिहरो॥

निष्ठे बोलो यद्यपि बापर आज्ञा पागो।
राज्य परिहरि तेवे वनवासे जागो॥
(अयोध्याकाण्ड १६८९, १६९०, १६९१)

भावार्थ–'पुत्र होकर जो पिताका उद्धार नहीं करता, ऐसा पुत्र पृथ्वीके लिये महाभार है। (जो पिताके) जीते हुए उनका पोषण नहीं करता, उनके मरनेकी बाट देखता है, ऐसा (पुत्र) नरक भोगनेका उपाय करता है।

'पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करे, उसे धिक्कार है। यदि तुम आज्ञा दो (तो मैं) घर-घर भीख माँगूँ, विदेश चला जाऊँ अथवा हाथमें खाँड़ा धारण करूँ, और हृदयमें खाँड़ा मारकर प्राण त्याग दूँ।

'निष्ठापूर्वक कह रहा हूँ, यदि पिताकी आज्ञा पाऊँ तो राज्य छोड़कर वनवासके लिये चला जाऊँ।'

प्रसङ्ग–लक्ष्मण युद्धमें सभीको पराजित कर श्रीरामको युवराज बनानेके लिये सक्रोध तत्पर हैं, तब राम उन्हें समझाते हुए कहते हैं—

मूल–असार जीवन दिनमात्र कतिपय।
ताके लागि चिन्तिबोहो गोत्रर प्रलय॥
यदि प्रिय हव मोर वाक्य कर हित।
बापर चरणसेवा नित्य नित॥
मइ वन गैले पाला मातृक सकले।
राज्यभार बहिबे भरत भनुबले॥
(अयोध्याकाण्ड १७४७–१७६४

भावार्थ–'(यह) असार जीवन मात्र कतिपय दिनका है, इस (जीवन) के लिये मैं कुलके संहारकी बात सोचूँ!

'यदि मेरे प्रिय हो तो मेरे हितकर वचन मानो। नित्य पिताके चरणोंकी सेवा करो। मेरे वन जानेपर सकल माताओंका पालन करना। भरतके सहायक होकर राज्यभार वहन करना।'

प्रसङ्ग–वे क्षुब्ध और दुखी कौशल्याके असंतोषको दूर करते हुए बोले—

मूल–नारीर पतिसे गति आन देव नाइ।
तान बोल हेला करि पापक से पाय॥१७९०

भावार्थ–'पति नारीकी गति है, अन्य देव नहीं; उस वचनकी अवहेलना करके वह पापको प्राप्त होती है।'

प्रसङ्ग–श्रीराम सीताको अयोध्यामें रहनेका आदेश देकर नारी-धर्मके पालनकी शिक्षा दे रहे हैं—

मूल–आमि वन गैले द्विज देव आराधिबा।
उपवास व्रते मोर कल्याण साधिबा॥
भाइ मोर सबोध ...

* सप्तकाण्ड रामायण–सं० श्रीहरिनारायणदत्त बरुआ

मूल–मोहोर निमित्ते शोक कर पाप दुर।
यथात भकत थाके तै त विष्णुपुर॥
(उत्तरकाण्ड)

भावार्थ–'वत्स! मेरे लिये शोक दूर करो। जहाँ भक्त रहता है, वहीं विष्णुपुर है।'

माधवदेव—(सप्तकाण्ड रामायण—आदिकाण्ड)

प्रसङ्ग–विश्वामित्र यज्ञ-रक्षार्थ श्रीरामको दशरथसे माँगने आये, तब रामने कहा—

मूल–पुत्र हुया न पालय पितृर वचन।
चिरकाले नरकत पचे सिटो जन॥
(आदिकाण्ड)

भावार्थ–'पुत्र होकर पिताके वचनका पालन नहीं करता, ऐसा जन चिरकालतक नरकमें सड़ता है।'

प्रसङ्ग–श्रीराम परशुरामसे कहते हैं—

मूल–क्षमा से उचित धर्म्म होवय तोमार।
किसक करिला तुमि ताक परिहार॥
धर्म्म एरि अधर्म्म करय जिटो नर।
ताक दण्ड करिबे लागय क्षत्रियर॥
ब्राह्मणत जन्म धर्म्म धरिछा ऋषिर।
ताक एरि धर्म्म केने आचरा क्षत्रियर॥
शम दम दान दाया क्षमा तयू धर्म्म।
क्रोध अहङ्कार आदि क्षत्रियर कर्म्म॥
(आदिकाण्ड १४२०—१४२२)

भावार्थ–'तुम्हारा उचित धर्म क्षमा है, उसका परिहार तुमने कैसे किया? जो नर धर्मको छोड़कर अधर्म करता है, क्षत्रियको उसे दण्ड देना चाहिये। ब्राह्मण (-कुल)में जन्म और ऋषिका धर्म धारण किये हो। उसे छोड़कर क्षत्रियके धर्मका आचरण क्यों कर रहे हो? तुम्हारा धर्म है—शम-दम-दान-दया-क्षमा। क्रोध-अहंकार आदि तो क्षत्रियके कर्म हैं।'

गुजरातीभाषामें श्रीरामवचनामृत

(संग्रहकर्ता और लेखक—श्रीरामलालजी)

[श्रीगिरधरकृत गुजराती रामायणसे]

(श्रीरामके माता कौसल्याके प्रति बोधात्मक वचन)

कौसल्याका प्रश्न

प्रसङ्ग–एक समय श्रीराम अपनी माता कौसल्याके निवास-कक्षमें आकर बात करने लगे। माताने कहा कि 'संसारमें जितना सुख है, उतना दुःख भी है। राम! मैं क्या करूँ, मेरा मन आकुल हो रहा है—मुझे अन्न-जल कुछ भी अच्छा नहीं लगता'।...यों कहकर वे रोने लगीं। तब जगदाधार रामने माको आश्वासन देकर कहा—

श्रीरामका उत्तर

मूल–'हे मात दुःख शाने धरो, ए अशाश्वत संसार।
सहु रण सम्बन्धे मळे, आवी पुत्र ने परिवार॥
जेम वृक्ष उपर पक्षी बेसे, निशाए निरवाण।
ते प्रभाते सहु उडी जाए, ज्यां त्यां प्रमाण॥
वळी नावमां आवी मळे, एकठां बेसे त्यांहे।
ते पार उतरीने पळाय, प्रथक मारग मांहे॥
महा पर्वमां तिरथ विषे, टोळे मळे सौ जन।
ते पंच रात्रि पछी छोड्नुं, थाय नहीं दरशन॥
ए प्रकारे आ जगतमां छे, ग्रहस्थनो वेहेवार।
सौ पुरव संचे मळे आवी, सहोदर नर-नार॥
जेनी अवधपुरी थइ तेणे, क्षणु नव रहेवाय।
तेनी साथे छोड्ने जवाय नहीं, मानजो साचुं माय॥
आ देह जुठो सर्वथा, देह तणा जुठा भोग।
अ स्वप्न जेवुं जाणजो, सुख-दुःख-वियोग॥
व्यतिरेक आत्मा ए थकी, ते सदा छे सुखरूप।
प्रपंचमां पड़तो नथी, चैतन्य साक्षी अनूप॥

भावार्थ–माता! आप दुःख क्यों धारण करती हैं, यह संसार तो अशाश्वत—अनित्य है; पुत्र और परिवार मिलकर वैसे ही अलग हो जाते हैं, जिस तरह रणमें लड़नेवाले संयोगसे मिलते हैं और अलग हो जाते हैं। जिस प्रकार वृक्षपर पक्षी बैठते हैं और रात्रिके अन्तमें प्रभातकालमें

सब इधर-उधर उड़ जाते हैं; जिस प्रकार मनुष्य नावमें आकर मिलते हैं और एक ही साथ बैठते हैं; पर पार उतरते ही अलग-अलग रास्ता पकड़ लेते हैं; जिस प्रकार बहुत बड़े पर्वके अवसरपर किसी तीर्थस्थानमें सारा जन-समूह एक-दूसरेसे मिलता है, पर पाँच रातके बीतते ही किसीका दर्शन नहीं होता —कोई नहीं दीख पड़ता, उसी तरह इस जगत्‌में गृहस्थका व्यवहार देखा जाता है । सब सहोदर नारी-नर पूर्व कर्म-सम्बन्धसे एक-दूसरेके सम्पर्कमें आकर मिलते हैं । अवधपुरी जिसकी हो गयी थी, उसका भी क्षणभर रहना नहीं हो सकता । उसके साथ भी कोई नहीं जाता । मा ! आप सत्य मानिये । यह देह सर्वथा मिथ्या है, देहसम्बन्धी भोग—विषयसुख भी मिथ्या है । इसे स्वप्नके समान जानिये । सुख, दुःख, वियोग—सब स्वप्नके समान हैं । आत्मा इन सबसे भिन्न है, वह नित्य सुखरूप है । यह अनुपम है, चिद्घनरूप है । जगत्‌का साक्षी—द्रष्टा है, वह प्रपञ्चमें नहीं पड़ता ।'

प्रश्न-श्रीकौसल्याजीने कहा—'रघुपति ! मैं एक प्रश्न पूछती हूँ । यह देह और आत्मा एक है या देह अलग है ? सुख-दुःख देहको होते हैं या जीवात्मा इनका भोग करता है ? जब देहकी मृत्यु हो जाती है तब जीवात्मा किस स्थानपर निवास करता है ? राम ! यदि देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है तो जीव दुःखसे क्यों दुखी होता है और सुखसे प्रसन्न क्यों होता है ? मुझे आत्मा और देहका वास्तविक अन्तर—भेद समझाओ ।'

उत्तर-श्रीरामने कहा 'माता ! अपने प्रश्नोंका उत्तर सुनिये ।

मूल-आदि पुरुष जे प्रथम अेकजी ।
ते थकी प्रगट्या जीव अनेक जी ॥
अनेक-जीव ऊदे थया, तेनो कहुं विस्तार ।
जेम सुरजनुं प्रतिबिंब जळमां, स्थूळ सूक्ष्म सार ॥
अेम आदिपुरुषे ईक्षणा करी, माया उपर ज्यांहे ।
विकार पामी प्रकृति, महत्व प्रगट्युं त्यांहे ॥
महत्वथी अहंकार त्रिगुणी, सत्व रज तम जाण ।
ते त्रणे गुणथी विश्व सरवे, ऊपज्युं निरवाण ॥
भूत पंचे तमो गुणना, पृथ्वी, जळ, आकाश ।
तेज वायु पंच मळीने, थयो देह प्रकाश ॥
हवो रजोगुणथी इन्द्रियो दश, ऊपरनी निरवाण ।
मन बुधि चित्त अहंकार आशय, सतोगुण थी जाण ॥
शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्ध, अे विधे मात्रा पंच ।
चौवीस तत्त्व मळी बंधायो, देह जड परपंच ॥
पछे चतुरदश देवता मुक्या, इन्द्रियोंने स्थान ।
पण देह चइतन नव थयो, रह्यो अचेतन जडवान ॥
पंचास एकुन वायु मुक्या, तोये न उठ्‌युं स्वराट ।
पछे प्रवेश्या भगवान तेमां थयो चेतन घाट ॥
प्रतिबिंब तेमां ब्रह्मनुं, जे जीव चैतन-अंश ।
तेणे करी चैतन थयो, आ देह जड अवतंश ॥

भावार्थ-'सबसे प्रथम आदिपुरुष—परमात्मा एक ही थे । उनसे अनेक जीव आविर्भूत हुए, अनेक जीवोंका उदय हुआ । मैं उनका विस्तार निरूपित करता हूँ । जिस प्रकार सूर्य स्थूल-सूक्ष्म रूपमें जलमें प्रतिबिम्बित होता है, ठीक उसी प्रकार जब आदि पुरुषने ईक्षण किया—मायापर दृष्टि डाली, तब प्रकृतिमें विकार उत्पन्न हुआ । उससे (प्रकृति) महत्तत्त्व प्रकट हुआ, उससे सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणात्मक अहंकारकी उत्पत्ति हुई । तीनों गुणोंसे समस्त विश्व उत्पन्न हुआ । तमोगुणके विकारभूत पाँच भूतों—पृथ्वी, जल, आकाश, तेज (अग्नि) और वायुसे देह प्रकट हुई । रजोगुणसे उत्पन्न दस इन्द्रियाँ हैं । मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सत्त्वगुणसे उत्पन्न हैं; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—पञ्चतन्मात्रा हैं । इन चौबीस तत्त्वोंको मिलाकर प्रपञ्चरूप जड देहका सृजन हुआ । इन्द्रियोंमें चौदह देवता अधिष्ठित हुए; पर शरीर चेतन न बन सका, वह अचेतन और जड ही बना रह गया । इसके बाद उन्चास वायु उसमें—शरीरमें प्रविष्ट हुए; पर स्वराट् पूर्ण चेतन न हो सका । फिर उसमें भगवान्‌ने प्रवेश किया, तब वह चैतन्य हो गया । उसमें जो ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है, वही चिदंश जीव है । उसीसे यह जड देह चेतन हो गया ।'

मूल-जेम कोटी घट जळना भर्या, तेमा सुरज भासे अेक ।
अेम अेक ब्रह्मनी चैतन्यशक्ति, थया जीव अनेक ॥
अेम अनादि काळनी बांधी, कळा अेवी जाण ।
तेणे करीने थाय छे, आ विश्व केरी स्थाण ॥
अजर-अमर अे जीव छे, चैतन्यरूप अखंड ।
नथी नाश थातो कदापी, पडता अशाश्वत खंड ॥
ते जीव नखशिख रह्यो व्यापी, देह मांहे अरूप ।
ते देह तणा अभ्यास थी, पोते थयो तद्‌रूप ॥
ते जड-चैतननी ग्रंथिये करी, ऊदे थयो अहंकार ।
त्यारे अहंकृता मान्यु जीवे, देह तणो व्यवहार ॥

अहंकृतिरूपी मने वश, करीयो सदा लयलीन ।
दश इन्द्रियोना विषे देखाडी, कर्यो छे महादीन ॥
ते विषय माटे कर्म बहु विध, करावे छे मन ।
ओ कुसंगे करी मुक्त आत्मा, पामीयो बन्धन ॥

भावार्थ—'जिस प्रकार जलसे भरे करोड़ों घड़ोंमें एक ही सूर्य भासित होता है उसी प्रकार एक ब्रह्मको चैतन्य-शक्तिसे ही अनेक जीव आभासित हैं—प्रकट हैं । इस प्रकार अनादिकालसे ही यह कला चली आ रही है । यह विश्व-रूपी खान सदासे इसी रूपमें स्थित है । यह जीव अजर-अमर है, यह अखण्ड चैतन्यरूप है, अंशाश्वत जड अंशका नाश होनेपर भी यह कभी नष्ट नहीं होता । सूक्ष्मरूपसे यह जीवात्मा नखशिखपर्यन्त देहमें व्याप्त रहता है । इस देहके अध्यासके कारण—इसे अपना स्वरूप मान लेनेके कारण जीव स्वयं तद्रूप हो गया । जड-चेतनकी ग्रन्थि पड़ गयी और उसके फलस्वरूप अहंकारका उदय—देहाभि-मानकी उत्पत्ति—स्फुरण हो गया और जीवने इस देहाभिमानसे कर्ता देहके व्यवहारका अपनेको कर्ता मान लिया। अहंकाररूपी मनने जीवको वशमें कर लिया और उसीमें तल्लीन बना दिया । फिर उसे दस इन्द्रियोंके विषय दिखाकर—विषयलुब्ध करके अत्यन्त दीन कर दिया । उन विषयोंके लिये उससे मन अनेक प्रकारके कर्म करवाता है । यों मुक्त आत्मा कुसङ्गमें पड़कर बन्धनको प्राप्त हो गया है ।

मूल—चित्त विषय मांहे मळी गयुं, विषय चित्तमां तद्रूप ।
जेम लोह चुंबकने ग्रहे, अेम परस्पर अनुरूप ॥
शीत-उष्ण ने क्षीण-वृद्धि, देहतणो जे धर्म ।
अध्यासथी अे मानी ले छे, पीडा पामे पर्म ॥
क्षुधा-पिपासा प्राण मननो, धर्म हर्षने शोक ।
ते मानी ले छे जीव पोते, बंधने वळी मोक्ष ॥
अे प्रकारे आ जगत सखे, पड्युं माया मांहे ।
ते माटे देह नो धर्म सखे, मानी ले छे त्यांहे ॥
आ देह केरो भोग ज्यारे, पुरण थाये मात ।
त्यारे जीव मुकी निकळे जड, देह पडे साक्षात ॥
नव तत्वनुं वासना लिंग, ते जीव साथे जाय ।
करम संचित होय जेवां, देह तेवो थाय ॥
ते नवीन देह पामी करी, भोगवे चित्त कर्म ।
जे वरण मांहे अवतरे, आचरे तेवो धर्म ॥
अेम जन्म-मरण-प्रवाह केरो, न आवे वळी पार ।
अज्ञानथी लगुं आथडे, भुल्यो स्वरूप विचार ॥

भावार्थ—'चित्त विषयाकार और विषय चित्तमें तद्रूप हो गये हैं । जैसे लोहा चुम्बकको ग्रहण करता है, वैसे ही (चित्त और विषय) एक दूसरेके अनुरूप हो रहे हैं। शीत और उष्ण, ह्रास और वृद्धि—ये देहके धर्म हैं, अध्यासके कारण जीव इन्हें स्वगत मानकर बड़ी पीड़ा पाता है। क्षुधा और पिपासा प्राणके तथा हर्ष और शोक मनके धर्म हैं। जीव इन्हें अपनेमें आरोपितकर बन्धन और मोक्ष भी अपने मान लेता है। इस प्रकार यह समस्त जगत् मायाग्रस्त हो रहा है। इसीसे सारे देहके धर्मको जीवने अपनेमें मान लिया है। माता! जब इस देहका भोग पूरा हो जाता है, तब जीव इसे छोड़कर बाहर निकल जाता है और यह जड देह साक्षात् पड़ा रह जाता है । नौ तत्त्वोंका वासनामय सूक्ष्मशरीर जीवके साथ जाता है और संचित कर्मके अनुसार ही पुनः देहकी प्राप्ति होती है । नवीन देह पाकर चित्त कर्मका भोग करता है; जिस वर्णमें जन्म लेता है, उसीके अनुरूप आचरण करता है । इस प्रकार जन्म-मरणके प्रवाह-का कभी अन्त नहीं आता । अपने स्वरूपका ज्ञान भूल कर जीवात्मा अज्ञानवश भटकता रहता है ।'

मूल—जेम राजपुत्र भुली पडे, मळ्यो भिखारीनो संग ।
तेनी संगे भिक्षा मांगतो, भुली गयो कुल-रंग ॥
अेम जीव ईश्वर-अंश छे, चैतन्यघन साक्षात ।
ते विषय-संगे दीन थइ, दुःख पामतो बहु भात ॥
अे जीव केरो जीव छे, जे परमात्मा अविनाश ।
ते अन्तरजामी साक्षीवत, रहे सदा तेनी पास ॥
जे ब्रह्म पुरण प्रकाश छे, नित्य मुक्त संबन्ध ।
तेने जाणतो नथी जीव अे, थयो मुरख विषय अंध ॥

भावार्थ—'जिस तरह राजाका पुत्र भिखारीके संगमें अपनी कुल-मर्यादा भूलकर भिक्षा माँगता फिरता है, उसी प्रकार जीव, जो ईश्वरका अंश है, साक्षात् चिद्घन रूप है, विषयासक्तिके कारण दीन होकर अनेक प्रकारसे दुःख पाता है । अविनाशी परमात्मा जो जीवात्माके भी आत्मा हैं, वे सदा साक्षीके सदृश इसके पास रहते हैं, अन्तर्यामी हैं। जो ब्रह्म पूर्ण प्रकाश है, जो नित्य मुक्त सम्बन्धवाला है, जीवात्मा उसे नहीं जानता, यह मूर्ख विषयमें अंधा बना रहता है ।'

प्रश्न—कौसल्याने कहा—'राम ! विषय-वासनाके बन्धनमें ग्रस्त जीवात्माकी मुक्तिका उपाय बतलाओ ।'

समर्थ श्रीरघुवीरका उत्तर

मूल—
जीवने छुटवानो उपाय, सावधान थइ सुणो, माय !
सत्संग करे निरधार, तेथी समजे सरव विचार ॥

भावार्थ—'विषयासक्तिकी मुक्तिसे जो युक्त है, वह अर्थात् विषयसंगरहित योगी होनेपर ही जीवन्मुक्त कहलाता है। इस प्रकारके संतसे रँगे जानेका नाम ही सत्सङ्ग है। ऐसे संतकी शरणमें जाकर जो मनुष्य शुद्ध मनसे सेवा करता है, चाहे वह विषयी हो, चाहे पामर हो, दयावंत संत उसे सद्ज्ञान प्रदान करता है। वह सबसे पहले मेरे जन्म-कर्मका चरित्र—लीला सुनाता है, बड़े प्रेमसे मेरे गुणोंका गान करता है, नित्य मेरा नाम स्मरण करता है, मेरी मूर्ति—प्रतिमाकी सेवा करता है, वन्दन और अर्चा करता है, अनन्य भावसे मेरी दास्य भक्तिमें तत्पर होता है, चित्तमें और किसीकी उपासनाको स्थान नहीं देता, मुझे सदा प्रत्येक प्राणीमें विद्यमान बतलाता है और ऐसा समझकर अपने मनमें बसा लेता है। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, पुत्र, पुत्री, धाम—घर और धन—सर्वस्व मुझे समर्पित कर देता है। गर्वका परित्याग करके—अहंकार छोड़कर मेरा भजन करता है। यह नवधा भक्तिका प्रकार है। इसका अच्छी तरह क्रमपूर्वक आचरण करे। गुरु और शास्त्रमें पूर्ण विश्वास और श्रद्धा रखकर तथा मनमें निश्चय करके अभ्यास करे। मुझे अन्तर्यामी समझे, मेरी मूर्ति—रूपका ध्यान करे। जगत्के प्रति वैराग्य प्राप्त करे, सारे बुरे सङ्गका त्याग करे। संकल्पका त्याग कर मनपर विजय प्राप्त करे, इससे 'सम' की प्राप्ति थोड़ेमें ही हो जाती है। इन्द्रियोंको विषयासक्तिसे मुक्त करे, यह 'दम' साधन कहलाता है। मन और इन्द्रियोंके विरामके परिणाम-स्वरूप नित्त 'उपरति' प्राप्त करता है। द्वन्द्वज सुख-दुःख सहे। (यह तितिक्षा है)। बुद्धिमें आस्तिक 'श्रद्धा'—विश्वासमयी भक्ति-भावनाका उदय होनेपर सार और असार वस्तुतत्त्वका विवेक होता है, इसके परिणामस्वरूप 'समाधान' प्राप्त होता है। मुमुक्षु प्राणी साधनरूपी सम्पत्तिके द्वारा सद्ज्ञान पानेका अधिकारी हो जाता है, तब जीव अपने अविकारी स्वरूपको प्राप्त करता है। अतएव ब्रह्मका चेतनस्वरूप—योग जाननेके लिये गुरुकी शरणमें जाकर जीवात्मा उसकी सेवा करे।'

मूल—

गुरु आपे ते ज्ञान अखंड, जाणे आत्मा ओ पिंड ब्रह्मांड।
धन अंजन विधावन, आडरहित देखे जेम धन॥
ओम विश्व न भासे तेने, गुरु ज्ञानज आपे जेने।
जेम घर मांहे वस्तु होय, अंधारे नव देखे कोय॥
सुणे दीपक प्रगटी ज्यारे, आवे कर महि तत्क्षण त्यारे।
ओम अंतरमां अविनाश, कह्यो चेतन साक्षी प्रकाश॥
गुरु ज्ञान करावे तेनुं, मोटुं भाग्य होय जेनुं।
ज्यां जुवे त्यां मुजने देखे, हुं विना बीजुं अन्य न पेखे॥
जाणे व्यापक जेम आकाश, टळे देह इन्द्रिनो अध्यास।
जीवनमुक्त थाये ते जन, को काळे नव पासे पतन॥
ओवुं समजीने हे मात, मने आत्मा जाणे साक्षात।
पुत्रभावनी बुद्धि टाळो, मने अंतर मांही निहाळो॥
हुं छुं व्यापक अंतरजामी, गुणातीत ने गुण नो स्वामी।
सृष्टि ऊदे पोषण संहरता, हुं करुँ पण रहुं छुं अकरता॥
हुं छुं कारण रूप अनादी, को नथी जाणतुं मुज आदि।
हुं छुं धरुँ जन्म स्थापन धर्म, करी कर्म ने रहुं छुं अकर्म॥
ओवो जाणी मने हे माय, तजो पुत्र तणो अभिप्राय।
मनमांथी करो गृहत्याग, आणो विश्व उपर वइराग॥

भावार्थ—'गुरु उसे अखण्ड ज्ञान प्रदान करे, जिससे वह पिण्ड ब्रह्माण्डको आत्मा जान लेता है। जैसे धन-अञ्जन लगानेपर छिपा धन दिखायी देता है, वैसे ही गुरु जिसको ज्ञान दे देते हैं उसे विश्व नहीं दीखता, आत्मा ही दीखता है। जिस प्रकार घरमें रखी वस्तु किसीको अँधेरेमें नहीं दीख पड़ती है, पर दीपकके प्रकाशमें देखनेपर वह तत्काल हाथमें आ जाती है, ठीक उसी प्रकार अपने भीतर अविनाशी प्रकाश विद्यमान है, वही चेतन और सर्वसाक्षी कहा जाता है। जिसका बहुत बड़ा सौभाग्य होता है, उसे गुरु सद्ज्ञान प्रदान करते हैं, तब वह दिखायी देता है। जहाँ भी दृष्टि जाय, वहाँ मुझे ही देखनेका अभ्यास करे, मेरे सिवा दूसरा कुछ भी न देखे। आकाशकी तरह मुझे सर्वत्र परिव्याप्त समझे, इन्द्रिय और देहका अध्यास छोड़ दे—इन्द्रिय और देहको अपना रूप न माने, ऐसा प्राणी जीवन्मुक्त होता है। उसका किसी भी काल—अवस्थामें पतन नहीं होता। माताजी! यों समझकर वह मुझे साक्षात् आत्म-स्वरूप ही जानता है। आप मेरे प्रति पुत्र-बुद्धि छोड़ दीजिये, मुझे अपने भीतर व्याप्त देखिये। मैं सर्वव्यापक अन्तर्यामी हूँ; सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे सर्वथा अतीत हूँ और उन गुणोंका नियामक—स्वामी भी हूँ। मैं सृष्टि, पालन और संहार करता हूँ, पर सदा अकर्तारूपमें स्थित हूँ। मैं अनादि हूँ, कारणरूप हूँ, मेरी आदि—उत्पत्तिको कोई नहीं जानता। मैं धर्मकी स्थापनाके लिये जन्म लेता हूँ, कर्म करके भी अकर्मी बना रहता

करोड़ों तीर्थोंका निवास-स्थल है, चरण-तलमें अंकुश-ध्वज आदि अष्टादश चिह्न, जो समस्त कामनाओंकी सिद्धि प्रदान करते हैं, सुशोभित हैं, अङ्गमें करोड़ों कामकी सुन्दरता केन्द्रित है, करोड़ों सूर्यका प्रकाश उदित है, करोड़ों विद्युत्की चपलता और करोड़ों चन्द्रमाओंकी शीतलता और ज्योत्स्ना विलसित है। इस प्रकार नखशिखपर्यन्त उस मेरी चतुर्भुज मूर्तिके एक-एक अङ्गको अनन्य मनसे देखते रहनेपर वृत्ति स्वरूपाकार हो जाती है, तनका स्मरण नहीं रह जाता। इस तरहके अभ्यासद्वारा मन विजयी होता है। इसके बाद अन्तर्यामी निर्गुण ब्रह्मको लक्ष्यसे पहचाना जाता है।'

मूल–जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिओ, जीव वृत्ति जाण।
त्रिअवस्थामां ग्रह्यो अन्वय, साक्षीवत निरवाण॥
तुरीय जेनी भूमिका, पण रह्यो तुरीयातीत।
देहे इन्द्रि मननो प्रवर्तक, वळी प्रकाशक थाय रहित॥
मन इन्द्रिओनी वृत्ति ज्यारे, लीन थाओ ज्यांहे।
त्यां जाणपणुं छे जेनुं, तुरीये अवस्था मांहे॥
ते ज्ञप्ती मात्र स्वरूप कहिओ, सुखानंद अनूप।
ओ मात आत्मा जाणजो, ते ब्रह्म चैतन भूप॥
अध्यासनो अपवाद करतां, शेष रहे जे सत्य।
विधी तणो विधिओ सदा छे, निषेध अवधी अत्य॥
ओ समजवानी संज्ञा नथी, ग्रहण करवा वस्त।
ओ विना सरवे अशाश्वत, जे दृष्ट श्रुत समस्त॥
हे मात ओ आत्मा विषे, वृत्ति करो लयलीन।
पामशो परमानंद सुख, जेम महा जळमां मीन॥
अध्यास देहनो छूटशे, दुःख क्लेश थाये दूर।
निरवाण पदने पामशो, जशे वासना अंकुर॥
मम धाममां रहेशो अचळ, नहिं पुनर्भव संसार।
त्यां भोग परमानंद पदनो, सुखा तणो नहीं पार॥

भावार्थ–'जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति जीवात्माकी तीन वृत्तियाँ हैं, यह तीनों अवस्थाओंद्वारा ही ग्रहीत होता आया है, इस बातका यह स्वयं साक्षी है। यद्यपि इसका स्वरूप तुरीयातीत है तथापि तुरीयावस्था ही इसकी भूमिका है। यह देह, इन्द्रिय और मनका प्रवर्तक है, प्रकाशक है—यह उन्हें गति प्रदान करता है पर साथ-ही-साथ इन तीनोंसे रहित–नितान्त अलग भी है, स्वतन्त्र है। जब मन-इन्द्रियोंकी वृत्ति लीन हो जाती है और केवल स्वरूपका ही ज्ञान रह जाता है तब जीवात्माको तुरीयावस्थामें स्थित समझना चाहिये। यही उसका ज्ञानस्वरूप अथवा अनूप सुखानन्द है। माताजी! अब जान लीजिये, यह आत्मा ब्रह्म है, चेतन है। अध्यासको छोड़ देनेपर—जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना स्वीकार करना छोड़ देनेपर एकमात्र केवल सत्य बच जाता है। इसमें विधिकी विधि और निषेधका अन्त हो जाता है। यह समझनेकी बात नहीं; ग्रहण करनेकी वस्तु है। इसको छोड़कर जो कुछ भी देखा और सुना जाता है, वह सब कुछ अशाश्वत—विनश्वर है। माता! इस आत्मामें ही वृत्ति लीन कीजिये, जिस प्रकार जलमें मीनको महान् सुख मिलता है, उसी प्रकार आप परमानन्द प्राप्त करेंगी। देहका अध्यास छूटते ही—देहको अपना स्वरूप मान लेनेकी बातका त्याग करते ही, दुःख और क्लेश दूर हो जाते हैं। आप निर्वाण पद—मोक्ष प्राप्त करेंगी। वासनाका अङ्कुर नष्ट हो जायगा। आप मेरे धाममें सदा निवास करेंगी, संसारमें फिर जन्म नहीं लेना पड़ेगा। वहाँ परमानन्द पदका अपार सुख है, उसका पार नहीं पाया जा सकता।'

माताकी मुक्ति और रामकी मातृभक्ति

प्रसङ्ग–कौसल्याने आत्मज्ञानका मर्म समझा, उन्होंने श्रीरामको पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर-रूपमें जान लिया। पद्मासन लगाकर उन्होंने हरिके ध्यानमें—श्रीरामद्वारा निर्दिष्ट श्यामसुन्दर चतुर्भुज भगवान्‌के ध्यानमें अपना चित्त दृढ़ कर लिया। प्राणको उन्होंने ऊपर चढ़ा लिया, छः चक्रोंका भेदन कर वह दसवें द्वारपर पहुँच गया। माताका ब्रह्मरन्ध्र फट गया, तनमें योगकी अग्नि प्रज्वलित हो उठी, क्षणमात्रमें देह भस्ममें परिणत हो गयी, विमान आया, दिव्यरूपधारिणी कौसल्या उसमें बैठ गयीं, देवोंकी दुंदुभी बज उठी, पुष्प-वृष्टि हुई, विमान चल पड़ा। कौसल्याने अपवर्ग प्राप्त किया।

श्रीरामने वसिष्ठजीसे कहा—

मूल–मातना जेवुं सुख, जगत माँ नथी बीजुं जाण॥
संसार मांहे कुटुंब सरवे, स्वारथी निरधार।
मा बाप ते परमारथी, वात्सल्य प्रेम अपार॥
दस मास राखे गर्भमां, वेठे घणुं तव दुःख।
प्रसव्या पछी ते बाळकने, बहु विध पमाडे सुख॥
क्षणे क्षणे जोती रहे, रखे पुत्र ने दुख थाय।
ते रात-दिन पोषण करे, जेम पुष्टि पामे काय॥
ओ प्रकारे उछेरतां, पछी थाय मोटा तन।
तो ये भाव राखे रहित स्वारथ, प्रेमथी अनुदिन॥

ते मात केरो उरणियो, सुत को काळे नव थाय।
मातनी सेवा न करे, ते पुत्र नरक पळाय॥
मातनी आज्ञा भंग करी, दुरवचन बोले मुख।
ते पुत्र शूकर श्वान थइ, बहु जन्म पामे दुःख॥

भावार्थ—'माताके सुखके समान संसारमें दूसरा कोई भी सुख नहीं है—यह बात आप जान लीजिये। संसारमें समस्त कुटुम्बी स्वार्थी हैं, परमार्थी तो मा-बाप हैं। जिनमें अपार वात्सल्य प्रेम है। माँ दस मासतक बालकको गर्भमें धारण करती है, अपार वेदना सहती है। प्रसव होनेके बाद वह नवजातको अनेक प्रकार सुख देनेका प्रयत्न करती है। वह क्षण-क्षण उसकी देख-भाल करती है, कहीं पुत्रको दुःख न हो जाय—रात-दिन उसका पालन-पोषण करती है, जिससे उसकी काया पुष्ट हो जाय। इस तरह पालन-पोषणसे शरीर बढ़ जाता है; वह सदा प्रेमपूर्ण निःस्वार्थ भाव अपने बालकके प्रति रखती है। पुत्र किसी कालमें भी—कभी ऐसी वात्सल्यमयी जननीसे उऋृण नहीं हो सकता। जो पुत्र अपनी माँकी सेवा नहीं करता, वह नरकमें जाता है। जो पुत्र माँकी आज्ञाका उल्लङ्घन कर दुर्वचनका व्यवहार करता है, वह अनेक जन्मतक सूअर और कुत्तेकी योनिमें पैदा होकर दुःखका भोग करता है।'

मूल—त्रीया पुत्र बंधु मित्र थाशे, द्रव्यथी गुण गाय।
मा बाप नव कहेवाये कोइ ने, कर्या ते नव थाय॥
संसारमां तीरथ त्रिवेणी, मात पिता गुरु जेह।
अेनी सेवाथी सुख मळे बहु विध, मोक्ष पामे तेह॥
माटे सांभळो मुनिराज मुज पर, मातनुं घणुं हेत।
मुजने क्षणुं नव वीसरे, वात्सल्य प्रेमसमेत॥
हुं नित्य मुक्त अबंध छुं, मने कोइअे नव जीताय।
पण मात केरा स्नेहथी, मुज चित्त गद्गद थाय॥
मारा भक्त सेवा करे बहु विध, संत ज्ञानी सोय।
मातनां जेवां लाड मुजने, लडावे नहि कोय॥
हुं अजन्मा धरु जन्मते, वळी मातना सुख काज।
घणुं गमे मुजने लाड ते, सत्य मानजो महाराज॥

भावार्थ—'स्त्री, पुत्र, भाई और मित्र—सब-के-सब धनके लोभसे गुण गाते रहते हैं। उनमेंसे कोई भी मा-बाप नहीं कहा जाता; क्योंकि वे बनानेसे नहीं होते। जिसके लिये संसारमें माता-पिता और गुरु पवित्र त्रिवेणी तीर्थकी तरह हैं, वह उनकी सेवासे बहुत प्रकारके सुख प्राप्त करता है तथा उसे मोक्ष मिलता है। मुनिराज! सुनिये, मुझपर माँका अपार स्नेह है। यही कारण है कि क्षणभरके लिये भी उनका प्रेममय वात्सल्य मुझे नहीं भूलता। मैं नित्य-मुक्त हूँ, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हूँ, अबन्ध हूँ, मुझे कोई नहीं जीत सकता, सर्वशक्तिमान् हूँ मैं; पर माँके स्नेहसे मेरा चित्त गद्गद हो जाता है। मेरे भक्त अनेक प्रकारसे मेरी सेवा करते हैं। वे संत हैं, ज्ञानी हैं; पर कोई माताके समान प्रेमपूर्वक मेरा लाड़ नहीं लडाता। माँको सुखी करनेके लिये अथवा माँका वात्सल्य-सुख प्राप्त करनेके लिये ही मैं अजन्मा होकर भी जन्म लेता हूँ, पुत्ररूपमें प्रकट होता हूँ। हे महाराज! गुरु वसिष्ठजी! सच मानिये, मुझे यह माँका लाड बहुत ही अच्छा लगता है।'

इतना कहनेके बाद रामके नेत्र अश्रुपूर्ण हो उठे; फिर उन्होंने नीतिमय वचनोंके द्वारा वसिष्ठजीको धैर्य प्रदान किया। माँकी अन्त्येष्टि-क्रिया सम्पन्न की।

[गुजराती रामायण उत्तर० अध्याय ९४-९८]

(श्रीरामद्वारा विभीषणके राज्याभिषेकपर अभय-दान)

प्रसङ्ग—रावणका परित्याग कर उसके छोटे भाई विभीषणजीने श्रीरामकी शरणागतिका वरण किया, उनकी स्तुति की। श्रीरामने प्रसन्न होकर कहा—

मूल—'जेवा अमो छुं चार बंधु
अेम पांचमो तु मुज वीर।'

भावार्थ—'वीर विभीषण! जिस तरह हम चार भाई हैं, उसी प्रकार अब तुम मेरे पाँचवें भाई हो।'......

......'इसके बाद उन्होंने विभीषणका अभिषेक कर लङ्काका राज्य प्रदान किया। श्रीरामने स्वयं अपने हाथसे राजतिलककर कहा कि लङ्कामें अविचल रूपसे तुम राज्य करोगे। उस समय सुग्रीवने श्रीरामसे कहा कि आप मेरे एक निवेदन-पर ध्यान दीजिये। आपने विभीषणजीको लङ्का प्रदान कर विना विचारे काम किया है। यदि आज श्रीसीताको साथ लेकर रावण आ जाय और वह भी वैसे ही शरणागत हो तो आप उसे क्या प्रदान करेंगे? कृपया मुझे बताइये। तब श्रीरामने कहा—

मूल—'......जो रावण आवशे,
शरणागत करी हेत।
त्यारे मारी अयोध्या आपीश अेने,
वैभवराज समेत॥

हुं करीश तप वनमां जइ, राज करशे
रावण राय ।
पण विभीषणने जे लंका आपी,
ते मिथ्या नव थाय ॥

भावार्थ—'यदि शरणागत होकर रावण आयेगा तो उसे मैं अपनी अयोध्या समस्त वैभव और राज्यके साथ प्रदान कर दूँगा। मैं वनमें जाकर तप करूँगा और राजा रावण राज्य करेगा। पर मैंने विभीषणको जो लङ्का दी है, वह बात मिथ्या नहीं होगी। लङ्का उन्हींकी ही रहेगी।'

सब लोग प्रभु रामकी ऐसी वाणी सुनकर गद्‌गद हो गये। देवताओंने धन्य-धन्य कहा कि श्रीरामका वचन सत्य है।

श्रीगिरिधरकृत गुजराती रामायण सुन्दर० अध्याय २०

(श्रीरामद्वारा भक्तमहिमा-कथन, हनुमान्‌जीकी भक्तिकी परीक्षा)

प्रसङ्ग—लङ्का-विजयके पश्चात् अयोध्या लौटकर कुछ समयतक राजकार्यमें व्यस्त रहनेवाले श्रीराम विभीषण, सुग्रीव आदिको पुष्कल पुरस्कारसे सम्मानित कर विदा करने लगे, उन्होंने अञ्जनीसुत हनुमान्‌को छोड़कर शेष सखाओं और मित्रोंको वस्त्राभूषण पहनाये। सब लोगोंने मनमें विचार किया कि श्रीरामका हमलोगोंके अनुकूल आचरण है पर हनुमान्‌जीके प्रति उनका ऐसा भाव क्यों नहीं है ? उन्होंने आञ्जनेयको क्यों नहीं वस्त्राभूषण प्रदान किये ? पवन-कुमारने उनका मेरुके समान अपार उपकार किया है ? लोगोंके मनमें ऐसी आशंका उत्पन्न होते देखकर श्रीरामने हनुमान्‌जीको अपने पास बिठाकर कहा—

मूल—'……मारुती तुं, अनन्य भक्त महाभाग रे।
हुं सदा रह्यो तुज हृदे मां, पण मुज पासे कंई माग रे॥

× × ×

……सुण मारुततन, तु मने वहालो छे तन मन धन।
माटे माग्य मान्य मनवांछित आज, पुरु तारा सकळ
मनोरथ काज।'

भावार्थ—'हनुमान् ! तू महान् भाग्यशाली है। अनन्य भक्त है। मैंने सदा तेरे हृदयमें निवास किया है। इसलिये तू मुझसे कुछ माँग। पवनसुत ! तू मुझे तन-मन-धनसे भी प्रिय है, इसलिये माँग ले, माँग ले तू मनचाही वस्तु, आज मैं तेरा सारा मनोरथ पूरा कर दूँगा।'

तब हनुमान्‌जीने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि 'करुणासिन्धु भगवान् ! त्रिभुवननाथ ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो अपने चरणमें ही मुझे भक्ति प्रदान करनेकी कृपा कीजिये। मैं सर्वथा सत्य कहता हूँ कि मेरे मनमें कोई भी दूसरी इच्छा-वासना नहीं है।' यह सुनकर श्रीराम प्रसन्न हो उठे। हनुमान्‌जीके सिरपर अपने हाथ रख दिये।……उस समय जनकनन्दिनीने एक अमूल्य मणिमाला हनुमान्‌जीके गलेमें डाल दी। समस्त पृथ्वीकी अमूल्य समृद्धि भी उस मालाकी समता नहीं कर सकती थी। श्रीहनुमान्‌जी सभासे बाहर निकलकर एकान्तमें बैठकर दाँतसे यह देखनेके लिये तोड़ने लगे कि उसमें श्रीरामजी हैं या नहीं। उन्होंने इस तरह समस्त मणियोंको फोड़ डाला; सुग्रीवने हँसकर कहा कि 'आपने कपि-स्वभावका परिचय दे ही दिया, आपके मनमें सार-असारका तनिक भी विचार नहीं है। आपने दिव्य हारको तोड़कर छिन्न-भिन्न कर दिया, मणियोंको फोड़ डाला। आपने बहुत बड़े अविवेकका काम किया है।'

हनुमान्‌जीने कहा कि 'कपिराज ! मैंने यह काम अज्ञानवश नहीं किया है। इन मणियोंमें अवधविहारी हैं, यह देखनेके लिये ही मैंने इनको तोड़ा। इसमें मेरे प्राणाधार नहीं दीख पड़े, सैकड़ों पाषाण रामजीके बिना गलेमें भारके सिवा हैं ही क्या !'

तब सुग्रीवने कहा—'हनुमान्‌जी ! आपने अपने हृदयमें ही श्रीरामको छिपाकर रक्खा होगा ?' ऐसा वचन सुनकर पवनसुतने नखोंसे अपना हृदय चीर डाला। उस समय लोगोंकी दृष्टिमें सीताजीसहित पूर्णकाम श्रीराम उसी तरह युगलरूपमें रत्नसिंहासनपर हनुमान्‌जीके हृदयमें विराजमान दीख पड़े, जिस तरह वे सभामें सुशोभित थे। लोगोंका हृदय गद्‌गद हो गया, आँखोंसे आनन्दकी सुधा-सलिल-धारा उमड़ पड़ी। रामजीने उठकर हनुमान्‌जीको गलेसे लगा लिया। श्रीराघवेन्द्रने कहा—

मूल—सुणो विभीषण सुग्रीवादिक आज ॥
हुं रहु छुं भक्तना हृदय मांहे।
तेने मुकी नथी जातो क्षण क्यांहे ॥

तेम मुजमां सदा भक्तनो वास ।
हुं तेने वशछुं तेने मारे वश दास ॥
ते मुने जाणेछे तन मन धन ।
मुने प्रिय नथी ते विण को अन्य ॥
नथी अन्य प्रिय मुज भक्त सम,
बइकुंठ लक्ष्मि प्रजापति ।
मुज देह प्रभुता प्राण आदे,
तेथी अधीक जन्मगति ॥
ज्यां वेचे त्यां वेचाउं निशदिन,
भक्त आधीन हुं रहुं ।
मुजथकी मारा भक्त केरी,
अधीकता तमने कहुं ॥
हुं असुर मारुं सुर उगारुं,
सम विषमता मन ग्रही ।
निच उंच कर्मनो फळ प्रदाता,
जीवने भोक्ताउं सही ॥
ब्रह्मांड कोटी मांहे मारी
वृत्ति सघळे विस्तरी ।
वळी ज्यां जेवो त्यां तेवो,
देखाडुं लीला करी ॥

भावार्थ–'सुग्रीव-विभीषण ! तुमलोग सुन लो, मैं सदा भक्तके हृदयमें निवास करता हूँ। उसे छोड़कर मैं एक क्षणके लिये भी कहीं नहीं जाता हूँ—अलग नहीं रहता हूँ। इसी प्रकार भक्तका मुझमें सदा निवास है। मैं उसके वशमें हूँ और वह मेरा दास मेरे वशमें है। वह मुझे अपने तन-मन-धन समझता है—सर्वस्व मानता है और मुझे भी उसे छोड़कर कोई दूसरा प्रिय नहीं है। वैकुण्ठ, लक्ष्मी, प्रजापति—इनमेंसे कोई भी मुझे भक्तके समान प्रिय नहीं है। देह, प्रभुता, प्राण, समस्त जीवन आदिसे भी बढ़कर वह मुझे प्रिय है। वह यहाँ कहीं भी मुझे बेंच दे तो मैं वहीं बिक जाता हूँ। मैं सदा भक्तके ही अधीन रहता हूँ। मेरा भक्त मुझसे भी अधिक बड़ा है—प्रभावशाली है, यह मैं तुमसे कहता हूँ। मैं असुरोंका संहार और देवताओंका संरक्षण करता रहता हूँ। इस तरह मेरे मनमें समता और विषमता दोनोंका ही आधिपत्य है। मैं नीच और ऊँच—पाप और पुण्य कर्मोंका अलग-अलग बनाता हूँ, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डमें मेरी वृत्तिका विस्तार है, फिर जहाँ जैसा उचित है वहाँ वैसा लीला-कर्म दिखाता हूँ।'

मूल–मुज भक्त सम विषम नहिं,
जेने शत्रु मित्र समान छे।
अवगुण कोना नव जुवे,
जेने एक मारुं ध्यान छे ॥
मन कर्म वचन काया थकी,
जेणे वृत्ति मुने अर्पण करी ।
वळी कीटथी ब्रह्मा लगी
जाणे सकळ रुपे एक हरी ॥
अनेक गुण माया तणा,
तेमां लुब्ध न थाये कदा ।
पोते निज रूपे रहे,
स्वतन्त्र सेवे मुजने सर्वदा ॥
ते माटे मुजथी अधीक मम जन,
स्पृहा नहि जेने मोक्षनी ।
प्रत्यक्ष देखे सर्वमां मुने,
तजे वात परोक्षनी ॥
माटे घणी ममता मुने तेनी,
अहरनिश रक्षा करूं ।
अेवा भक्तने वश दास गिरिधर
थइ सदा पुंठळ करूं ॥
मुने सरवे भावे भजे, ज्यां त्यां मुजने जोय ।
सुणो सुग्रीव अेवा भक्त थी, बीजुं वहालुं नहि कोय ॥

'पर मेरा भक्त सम-विषम नहीं है—अनुकूल और प्रतिकूल भावसे सर्वथा परे रहकर वह शत्रु और मित्रके प्रति समान भाव रखता है। किसीके अवगुण—दोष-पर उसकी दृष्टि नहीं जाती; वह केवल मेरा ही ध्यान करता है। उसने मन, कर्म, वचन और शरीर-सम्बन्धी अपनी सारी वृत्ति—क्रिया मुझे समर्पित कर दी है और कीट—छोटे-से-छोटे जीवसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त समस्त प्राणियोंमें एकमात्र भगवान्‌का ही दर्शन करता है। सबको परमात्मा ही समझता है। प्रभावशालिनी मायाके बड़े-बड़े गुण हैं; पर वह उनमें कभी लुब्ध नहीं होता—नहीं फँसता। सदा अपने स्वरूपमें स्थित रहकर स्वतन्त्रभावसे—बिना किसी प्राणी या पदार्थकी [illegible] पराधीन हुए—सदा-सर्वदा मेरा ही भजन

करता है। यही कारण है कि मेरा भक्त मुझसे भी अधिक बड़ा है—विशेष प्रभावसम्पन्न है। उसको मोक्षकी भी इच्छा नहीं है। वह सबमें—सारी जड-चेतन सृष्टिमें सदा मुझे प्रत्यक्ष देखता है। परोक्षकी बात ही नहीं करता। इसीलिये मैं उसे बहुत चाहता हूँ—उसके प्रति मुझे बड़ी ममता रहती है। मैं उसकी रात-दिन अनवरत रक्षा करता हूँ। ऐसे भक्तके वशमें रहकर—अधीन रहकर मैं उसके पीछे-पीछे चलता रहता हूँ। जो मेरा सर्वभावसे—सर्वस्व समर्पण कर भजन करता है और जहाँ-तहाँ सर्वत्र जो मुझको ही देखता है, सुग्रीव! सुनो, उस भक्तके सिवा मुझे दूसरा कोई भी प्रिय नहीं है।'

इस तरह श्रीरामके वचन सुनकर सब लोग बहुत संतुष्ट हुए। कवि गिरिधरका कथन है कि श्रीहनुमान्‌जीकी महिमा देखकर मन आश्चर्यचकित हो उठा।

[श्रीगिरिधरकृत गुजराती रामायण उत्तरकाण्ड-अध्याय १३]

श्रीरामकी आत्मा-जिज्ञासा-लीला

प्रसङ्ग—श्रीविश्वामित्र राक्षसोंके संहार और यज्ञके संरक्षणके लिये श्रीरामको साथ ले जानेको अयोध्या आये। उनके दर्शनके लिये राजसभामें श्रीराम और लक्ष्मण सजकर प्रणाम करने आये। श्रीरामके ललाट-देशमें मुकुट, कानमें मणि-खचित कुण्डल, करमें कंकण, अङ्गुलीमें मुद्रिका, कटिमें मेखला, वक्षःस्थलपर मुक्तामाला, घनश्याम तनपर पीताम्बर आदि समलंकृत थे। विश्वको मोहित करनेवाले तथा भक्तोंकी रक्षाके लिये अवतार लेनेवाले श्रीराम साक्षात् वीरासनसे दीख पड़ते थे। मणिखचित पादुका उनके चरणोंकी शोभा बढ़ा रही थी। सभामें प्रवेश करते ही लोग हर्षित होकर उठ पड़े। श्रीरामने विश्वामित्रजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया। उन्होंने रामजीका हाथ पकड़कर उठा लिया और हृदयसे लगा लिया। कौशिक मुनिने श्रीरामका उस तरह आलिङ्गन किया, जिस तरह ज्ञानीको परम तत्त्व मिल जाता है। श्रीरामजी और लक्ष्मणजीने वसिष्ठजीकी पदवन्दना कर आसन ग्रहण किया। श्रीविश्वामित्रने अपने आगमनका कारण बताया। श्रीरामने राक्षसोंके संहारका आश्वासन दिया और जिज्ञासा की।

मूल—

ते दैत्य महा बळवंत छे, हुं करीश युद्ध अपार।
पण देह क्षणभङ्गुर छे, माटे कहो आत्मविचार॥
ते आत्मप्राप्ति कहो मुजने, वासना मोह जाय।
जेणे करी जन मोक्ष पामे, अन्य गति नव थाय॥
आत्मप्राप्ति बिना साधन, न शोभे वळी तेह।
जेम नासिका विण रूप सुंदर, प्राण विण जिम देह॥
दीपक विना मंदिर जेम, भरथार पाखे भामिनी।
इन्द्रियनिग्रह विण जोग मिथ्या, विधु विना जेम जामिनी॥
एम आत्मप्राप्ति विना साधन, सकळ जाणो व्यर्थ।
ते लक्ष श्री गुरु करावे, सरे गुरुसेवानो अर्थ॥
ते गुरुकृपा विना कदापी, नव उपजे निर्वेद।
सेवा थकी गुरु प्रसन्न थाये, आपे ज्ञान अभेद॥
जेणे गुरुसेवा न करी, चाल्यो ऊलंघी मर्याद।
पड़ी धूळ तेना ज्ञानमां, जेवो सुरापानीनो वाद॥
नव फळे वेद पुराण अध्ययन, बळो तेज प्रताप।
जेम अदातानुं ऊँचुं मंदिर लोभी नो तत्त्व-विचार॥
भ्रष्टनुं कुळ गोत्र तेवुं, अंत्यजनो आचार॥
एम गुरुकृपा विना जाणजो, तेनी व्यर्थ विद्या सर्व।
माटे आत्मसाधन कहो मुने, टळे असंबुद्धि गर्व॥

भावार्थ—'वह दैत्य बड़ा बलवान् है। मैं घोर युद्ध करूँगा। पर देह क्षणभङ्गुर—विनाशी है, इसलिये आत्मतत्त्वका वर्णन कीजिये। आप मुझे आत्मप्राप्तिकी साधना बताइये, जिससे वासना और मोहका नाश हो जाय। जिससे साधक मोक्ष पाते हैं; अन्य गति नहीं होती। जिस तरह नाकके बिना सुन्दर रूप अच्छा नहीं लगता, प्राणके बिना देहका कोई महत्त्व नहीं है, जिस तरह बिना दीपकके घर अन्धकारपूर्ण रहता है, पतिके बिना स्त्रीका जीवन महत्त्व-हीन है; इन्द्रियोंके संयमके बिना योगसाधन निरर्थक है और चन्द्रमाके बिना रात शोभाहीन दीख पड़ती है, इसी प्रकार बिना आत्मज्ञान प्राप्त किये सब साधन व्यर्थ समझिये। वह आत्मज्ञान गुरुकी कृपासे समझमें आता है, गुरुसेवाकी यही सार्थकता है। बिना गुरुकी कृपाके निर्वेद—विषयोंमें वैराग्यभाव ही नहीं उत्पन्न होता है। सेवासे गुरु प्रसन्न होते हैं और अभेद ज्ञान—आत्मज्ञान प्रदान करते हैं। जिसने गुरुकी सेवा नहीं की और मर्यादाका उल्लङ्घन किया, उसके ज्ञानपर धूल पड़ गयी। वह मदिरा पान करनेवाले

प्राणीके अनाप-शनाप प्रलापके समान निरर्थक है। उसके द्वारा वेद-पुराणके अध्ययनका कोई फल नहीं होता, उसके बल-तेज-प्रतापका कोई महत्त्व ही नहीं है। गुरुकी कृपाके बिना उसकी सारी विद्या उसी तरह व्यर्थ हो जाती है, जिस तरह विधवा युवतीका रूप शोभित नहीं होता—अच्छा नहीं लगता, दान न देनेवालेका ऊँचा प्रासाद शोभाहीन लगता है, लोभी प्राणीका तत्त्वचिन्तन व्यर्थ लगता है, आचारभ्रष्ट प्राणीका कुलगोत्र महत्त्व नहीं पाता और अन्त्यजके आचार—अन्त्यजद्वारा अपना विहित आचरणका परित्याग कर दूसरे वर्णोंके आचार-सेवनमें लग जानेके कार्यका कोई अर्थ नहीं निकलता। हे मुनि! मुझे आत्माकी साधनाकी बात समझाइये, जिससे मेरे अहंकारका नाश हो जायगा।'

श्रीरामकी वाणी सुनकर सारी सभा आनन्दमग्न हो उठी। विश्वामित्रजीने प्रसन्न होकर धन्य-धन्य कहा। उन्होंने वसिष्ठजीसे कहा कि 'आप आत्मज्ञान प्रदान कीजिये। अनन्त ब्रह्माण्डके ईश्वरने लीलाविग्रह धारण किया है; ये अपने गुरुसे ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। ये धर्म-पालक हैं।' इतना सुनते ही श्रीराम खड़े हो गये, गुरुके चरणका वन्दन किया, अशरण-शरण हाथ जोड़कर उनके सम्मुख बैठ गये। श्रीवसिष्ठने हँसकर कहा कि 'जगद्गुरु! आप सच्चिदानन्दघन पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर हैं, भला, मैं आपको क्या उपदेश दे सकूँगा। आप सदा एकरसरूप हैं। जिस तरह दाता ही याचकसे याचना करता हो, समुद्र ही सरका स्तवन करता हो, वाचस्पति ही गूँगेसे विचार पूछता हो, सूर्य ही दीपकके प्रकाशकी इच्छा करता हो, चन्द्रमा ही चकोरको देखता हो, कल्पतरु ही दुर्बलकी शरण लेता हो, सुखी प्राणी ही दान माँगता हो, इसी तरह जगन्नाथ! आप मुझसे ज्ञान पूछ रहे हैं।' इसके बाद गुरु वसिष्ठजीने रामजीको दीक्षा दी।

[श्रीगिरिधरकृत गुजराती रामायण बालकाण्ड अध्याय २२। १२—३१]

श्रीरामद्वारा प्रजाको आत्मसाधन और वर्णाश्रम-धर्मका उपदेश

प्रसङ्ग—एक समय बहुत बड़ा पर्व आया। अपने भाइयोंके साथ श्रीरामजी श्रीसरयूमें स्नान करने चल पड़े। साथमें गुरु, मित्र, प्रधान राजकर्मचारी, विद्वान् और ब्राह्मण, अयोध्याकी आबाल-वृद्ध समस्त प्रजा थी। स्नान करनेके उपरान्त श्रीरामने अनेक प्रकारके दान दिये। उसके बाद वे भगवती सरयूके तटपर जन-सभामें वृक्षकी शीतल छायामें आसनस्थ हो गये। शीतल-मन्द-सुगन्धित हवा बह रही थी। तदनन्तर श्रीरामने प्रजावर्गसे कहा—

मूल—

देवने दुरलभ मनुष्य देह छे, सकळ गुण भंडार।
ते निश्चे करीने मानजो, नहिं मळे वारंवार॥
आ जगत मां अेवो जन्म उत्तम, पामीने जे जन।
जेणे आत्मसाधन नव कर्युं, धीक्कार तेना तन॥
वळी अेवो देह पण अशाश्वत, क्षण मांहे वणशी जाय।
अे थकी नरक ने स्वर्ग वळी, अपवर्ग पंथ पलाय॥
महा निषिद्ध कर्मे नरक पामे, काम्य कर्मे स्वर्ग।
निज धर्म निष्काम भजे मुने, ते पामे अपवर्ग॥
माटे सर्व गरव शरीरनो, तजी नीमे राखे तन।
निज धर्ममां वर्ते सदा, मुजमां आरोपे मन॥

भावार्थ—'यह मनुष्य-देह देवोंको भी दुर्लभ है। समस्त गुणोंका आगार है यह। आप निश्चितरूपसे मान लीजिये कि इसकी प्राप्ति बारम्बार नहीं होती। इस जगत्‌में ऐसा उत्तम मनुष्य-जन्म पाकर भी जिस प्राणीने आत्मसाधन नहीं किया, उसके शरीरको धिक्कार है। यह देह भी अशाश्वत—अस्थायी है, क्षणमात्रमें इसका नाश हो जाता है। इससे नरक, स्वर्ग, अपवर्ग—सब मिलते हैं। निषिद्ध कर्मसे नरक और काम्य कर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। जो अपने धर्ममें स्थित होकर मेरा निष्काम भजन करता है, वह अपवर्ग (मोक्ष) पाता है। अतएव शरीरका गर्व छोड़कर नियमपूर्वक अपने धर्मका आचरण करना और मुझमें अपना मन लगाना चाहिये—मेरी भक्ति करनी चाहिये।

हवे वर्णाश्रमना धर्म कहुं, भाई सुणो श्रवणे तेह।
कर्म द्वादश विप्रने, वेदे कह्यां छे जेह॥
दान लेवुं आपवुं, भणे भणावे विद्याय।
क्रतु करावे पोते करे, ऐ षट करम समुदाय॥
शम दम उपरति तितिक्षा, श्रद्धा सात्यकी समाधान।
अे विना वळी छे कर्म बीजां, विप्र धर्म विधान॥
शुचि शान्ति आर्जव मौन धृति सत्य निर-अहंकार।
ब्रह्मने जाणे जयारय, अे ब्राह्मणनो संचार॥
क्षत्री प्रजानुं करे पालन, पूजे गोद्विज देव।
करे युद्ध शूरपणे सदा, तप यज्ञ करता सेव॥

कृषिकर्मवाणिज्य पशुपालन, वैश्यकर्म विचार ।
क्षत्री ब्राह्मणने नमे, चाले पोतानो वेहेवार ॥
त्रणे वरणनी आज्ञा पाळे, सेवा शूद्र सुजाण ।
मने भजे रही निज धर्ममां, तेनुं थाय परम कल्याण ॥
मंत्रोक्त मारग वेदनो, द्विज क्षत्रीने अधिकार ।
तंत्रोक्त मारग शास्त्रविधीये, वैश्य वर्ते सार ॥

'अब मैं वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण करता हूँ। आप लोग ध्यानपूर्वक सुनिये । ब्राह्मणके बारह कर्म हैं, वेदोंने ऐसा कहा है। दान लेना और देना, विद्या पढ़ना और पढ़ाना, यज्ञ कराना और स्वयं करना तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, सात्त्विक श्रद्धा एवं समाधान—विप्रका धर्म-विधान है; शुचिता, शान्ति, ऋजुता, मौन, धृति, सत्य, अहंकारशून्यता और ब्रह्मको यथार्थ रूपसे जानना ब्राह्मणका व्यवहार-स्वभाव है। क्षत्रिय प्रजाका पालन करे, गो, ब्राह्मण और देवताकी पूजा करे, वीरतापूर्वक युद्ध करे, तप और यज्ञ करे । खेती और व्यापार करना तथा पशुको पालना वैश्यका कर्म है, वह क्षत्रिय और ब्राह्मणको नमन करे—आदर दे, अपने व्यवहार—स्वाभाविक मर्यादामें स्थित रहे। बुद्धिमान् शूद्रका कार्य है तीनों वर्णोंकी आज्ञाका पालन कर अनुकूल सेवा करना, अपने धर्म-कर्ममें स्थित रहकर मेरा भजन करना—मुझसे प्रेम करना । इसीसे उसका परम कल्याण हो जाता है । मन्त्रोक्त वेद-मार्गपर चलना ब्राह्मण और क्षत्रियका अधिकार है। शास्त्रविधिके अनुरूप तन्त्रोक्त मार्गपर वैश्य चलता है।'

हवे ब्रह्मचारी प्रथम वय मां, पाळे व्रत प्रचंड ।
अष्ट प्रकारे त्याग त्रियनो, ऊर्ध्वरेत अखंड ॥
वळी बीजो आश्रम गृहस्थनो छे धर्म निर्मल जेर ।
करे संग ते निज पत्निनो, अन्यशुं नहिं स्नेह ॥
मात पिता गुरुनी करे सेवा, पित्री श्राद्ध प्रमाण ।
गो विप्र सुर अग्नि अतिथी, पूजे पाळे जाण ॥
करे उपार्जन निज न्यायथी, अन्न द्रव्य वस्तु पवित्र ।
करे पोषण निज परिवारनुं, सुणे मारां विशद चरित्र ॥
विवाह कर्म, मृतक क्रिया, आचरे निज कुळ रीत ।
ओवो धर्म गृहस्थाश्रमनो, पाळजो आणी प्रीत ॥
निज पुत्रने घर सोंपी जाये, दंपती वन मांहे ।
वानप्रस्थपणुं ते पाळे शिळव्रत रही त्यांहे ॥
सहु भोगनो परित्याग करे, फळ आहार भूमि-शयन ।

हवे छेलो आश्रम संन्यासी, जेने सरव कामनो त्याग ।
शिखासूत्रनो परित्याग तेने, जाणजो संन्यास ॥
ब्रह्मभूत थइ विचरे जगतमां, तजे देह इन्द्रिय अध्यास ।
परमहंस पण तेने कहिये, अखंड दृष्टि प्रकाश ॥
जोवन पणे स्त्रीने तजी, संन्यास ले जो कोय ।
रतु जाय त्रियाना अफळ, तेटली बाळहत्या होय ॥
स्त्री प्रसन्न थई जो आज्ञा दे, वैराग पामी प्राय ।
त्यारे दोष नहि ते पुरुषने, एवो निगम केरो न्याय ॥
एम चार वरणने चार आश्रम, तणां पाळे कर्म ।
तेमां रही मुजने भजे, त्यारे सफळ थाये धर्म ॥

'ब्रह्मचारी अपनी अवस्थाके प्रथम चरणमें कठोर आचरणका पालन करे। वह अखण्ड रूपसे ब्रह्मचर्यके द्वारा वीर्यकी रक्षा करे और आठ प्रकारसे स्त्रीके संगका सर्वथा परित्याग करे । दूसरा गृहस्थाश्रम है, इसका धर्म-आचरण बड़ा निर्मल है। गृहस्थ एकमात्र अपनी पत्नीसे ही प्रेम करे, दूसरीसे किसी भी प्रकारका स्नेह-बन्धन न स्वीकार करे । वह माता-पिता और गुरुकी सेवा तथा पितरोंका श्राद्ध करे। गो, ब्राह्मण, देवता, अग्नि और अतिथिकी पूजा और सत्कार करे; वह अन्न-द्रव्यका उपार्जन और पवित्र वस्तुकी प्राप्ति न्यायपूर्ण ढंगसे करे, अपने परिवारका पालन-पोषण करे तथा मेरा लीला-चरित्र—विशद यश सुने । अपने कुलकी रीतिके अनुसार विवाह-कर्म और मृतककी श्राद्धक्रिया आदि करे । यह गृहस्थाश्रमका धर्म है, आपलोग प्रीतिपूर्वक इसका पालन कीजिये । अपने पुत्रको घरका प्रबन्ध सौंपकर दम्पति—पति-पत्नी वानप्रस्थ-धर्मका पालन करते हुए तथा शिलोञ्छवृत्तिद्वारा जीवन-यापन करते हुए वनमें जाकर निवास करे। वे समस्त भोग-विषय-सुखका परित्याग करें तथा फलाहार और भूमिपर शयन करें, वल्कलसे शरीर ढककर वनमें तप करें।'

'अन्तिम आश्रम संन्यासीका है । वह सारे कर्मोंका त्याग कर दे और शिखा-सूत्रका परित्याग कर दे। इसे आप-लोग संन्यास जानिये । संन्यासी ब्रह्मभूत होकर समस्त जगत्में विचरण करे। देह और इन्द्रियका अध्यास छोड़ दे। इन्हें अपना स्वरूप न माने । वह परमहंस कहलाता है। वह अखण्ड दृष्टि-प्रकाश—अन्तर्ज्योतिसे सम्पन्न हो जाता है। यदि कोई युवती स्त्रीको छोड़कर संन्यास ले लेता है

हत्याका दोष लगता है। निगम—वेदका यह न्याय है—निर्णय है कि यदि स्त्री प्रसन्न होकर वैराग्य लेनेकी आज्ञा दे देती है तो उस पुरुषको दोष नहीं लगता। ये चार वर्णाश्रम हैं, इनमें रहकर जो आचरण करता है और मेरा भजन करता है, उसका धर्म सफल होता है।'

ते माटे सरवे प्रजाजन, सांभळो मुज वचन।
परनिंदा परधन परत्रिया, स्वप्ने न धरशो मन ॥
गो विप्र सुर गुरु तीर्थ साधु निगम भक्त सुजाण।
ए अष्ट अंगज माहरां, जे निंदे मूढ़ अजाण ॥
ते पापी पामे अधोगति, महा बिकट नरक निवास।
पछे निच योनि अवतरे, फल भोगवे दुःख राश ॥
निज धरम नीतिये करी, मुजने भजे निरभेद।
आ लोकमां सुख पामशे, परलोक मुक्ति वेद ॥

'इसलिये प्रजाजन ! मेरे कथनपर ध्यान दीजिये, आप स्वप्नमें भी अपने मनमें न किसी दूसरेकी स्त्रीकी बात सोचिये—न बसाइये, न दूसरेके धनका चिन्तन कीजिये और न दूसरेकी निन्दा कीजिये। गो, ब्राह्मण, देवता, गुरु, तीर्थ, साधु, भक्त और वेद मेरे आठ अङ्ग हैं, जो अज्ञानी मूर्ख इनकी निन्दा करता है वह अधोगति प्राप्त करता है—पतित हो जाता है। उसे विकट नरककी प्राप्ति होती है। उसके बाद वह नीच—कुत्सित योनिमें जन्म लेता है, दुःख-ही-दुःख फलरूपमें प्राप्त करता है। जो धर्म और नियमके द्वारा बिना किसी भेदभावके मेरा भजन करता है, वह इस लोकमें सुख और परलोकमें मुक्ति प्राप्त करेगा।'

श्रीरामकी ऐसी शिक्षा सुनकर लोग प्रसन्न हो उठे।
(श्रीगिरिधरकृत गुजराती रामायण उत्तर० अध्याय १७)

मराठीभाषामें श्रीरामवचनामृत

श्रीरामके खर-दूषणके प्रति शौर्यपूर्ण वचन

प्रसङ्ग—दण्डकारण्यका प्रसङ्ग है। लक्ष्मणजीद्वारा नाक-कान काट लिये जानेपर शूर्पणखा खर-दूषणको बदला लेनेके लिये बुला लायी। राक्षस-सेनाने श्रीरामको घेर लिया। खरने कहा कि मुझे सीताको अर्पण कर दीजिये, मैं युद्ध नहीं करूँगा।' श्रीरामने उसे धिक्कारा और क्रोधपूर्ण वचन कहे।

मूल—

तुजपासोनि गेली शक्ति ! वृथा बाळगसी गदा-गती।
गदे सहित पाडीन क्षितीं। तूं पापमूर्ति पापात्मा ॥
ब्राह्मण भक्षिले बहुत। ब्रह्महत्यांचा दोष अद्भुत।
बाण-धारा प्रायश्चित्त। मी निश्चित तुज देईन ॥
ते नकटी तुम्हां सांगातें। तुम्हांसी यश कैंचें येथें।
नकटियें निर्दाळिलें निश्चितें। हे खरातें लक्षेना ॥
नावें खर रूपें खर। शस्त्रभार वाहे खर।
न कळे बुद्धीचा विचार। ऐसा मूर्ख थोर तूं होसी ॥

भावार्थ—तुम्हारी शक्ति अब तुम्हारे पाससे चली गयी है। तुम व्यर्थ गदा चलानेका साहस कर रहे हो। तुम पापात्मा पाप-मूर्तिको मैं गदासहित पृथ्वीपर पटक दूँगा। तुमने बहुत-से ब्राह्मणोंका भक्षण किया है। ब्रह्महत्याका विकट—असाधारण दोष होता है। इसका यही प्रायश्चित्त है कि तुम मेरे बाणसे परलोक सिधार जाओ। तुम्हारे साथ यह नकटी शूर्पणखा है। तुम्हें यश किस तरह मिल सकता है? यह निश्चित है कि इसने तुम्हें नष्ट कर दिया है। तुम्हें यह दीख नहीं पड़ता है। तुम्हारा नाम 'खर' है। गधेकी तरह तुम्हारा मुख है। तुम गधेके समान शस्त्रोंका बोझा ढो रहे हो। तुम्हारा कोई कार्य बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। तुम बड़े मूर्ख हो।'

× × × ×

उपर्युक्त प्रसङ्गमें श्रीरामने दूषणके रथ और सारथिको छिन्न-भिन्न कर दिया। दूषण उन्हें मारनेके लिये हाथमें गदा लेकर दौड़ा। श्रीरामने कहा—

मूल—

'.........नांव दूषण। सांगतां न लाजसी आपण।
दूषण खरासी भूषण। निंद्य वदन दोघांचें ॥
धर्में दूषण कर्में दूषण। नामें दूषण कामें दूषण।
दूषणासी बल दूषण। आंगवण तुज कैंची ॥

भावार्थ—तुम्हें लज्जा नहीं आती कि तुम्हारा नाम दूषण है। दूषण ! तुम खरके भूषण हो। तुम दोनोंके ही मुख निन्दा—अपयशके पात्र हैं। तुम्हारा न केवल नाम ही दूषण है; धर्म, कर्म सब दूषित हैं। दूषणका बल भी दूषित होता है। तुममें विक्रम ही कहाँ है?

× × × ×

दूषण इन वचनोंको सुनकर रामकी ओर इस तरह दौड़ पड़ा, जिस तरह पतंगा दीपककी ओर जाता है।

[संत एकनाथकृत भावार्थरामायण—अरण्यकाण्ड]

(२)

श्रीसीता-हरणके पश्चात् श्रीरामके विलाप-वचन

प्रसङ्ग—स्वर्णमृगका पीछा करते हुए श्रीराम अपनी पर्ण-कुटीसे दूर चले आये। ……श्रीसीताजीको अकेली पाकर रावण उन्हें हर ले गया। श्रीरामने लौटकर कुटीको सीताजीसे शून्य देखा। उनके अभावमें उन्होंने वहाँ साक्षात् मृत्यु देखी। उन्होंने लक्ष्मणजीको सम्बोधित करते हुए अपनी विरह-व्यथा प्रकट की। उनके विलाप-वचन हैं—

मूल—

रुचिराक्षा नाहीं कीं वत्सा ! हें अन्य गेह वाटतसे।
इतर स्थळासि आलों चुकती अनभिज्ञ लोक वाट तसे॥

वत्सा ! मज जरि म्हणसी 'सीतेची हेचि होय दलशाला।'
तरि मीच रामनामा नसेन ! साध्वी दिसेल काशाला !!!

श्वशुराला परलोकीं गेलिस जरि तूं करावया नमना।
पुसल्यावांचुनि कैसी सीते ! झालीस आज यानमना ? ॥

मज राज्यकन्यके ! तूं वरूनियां पावलीस न सुखातें।
खातें हें चित्तातें; सांगों कोणास मीं स्वदुःखातें॥

भावार्थ—'वत्स लक्ष्मण ! सुन्दर नेत्रोंवाली सीता नहीं है क्या ? ऐसा तो नहीं है कि यह किसी दूसरेका घर है ? क्या मैं भूलसे दूसरे स्थलपर चला आया ? यहाँ तो सब कुछ अपरिचित ही है।

'वत्स ! यदि ऐसा कहते हो कि यह सीताकी ही पर्ण-शाला है तो यह सर्वथा निश्चित है कि मैं ही राम नहीं हूँ, कोई दूसरा ही व्यक्ति यहाँ आ गया है। साध्वी सीता किस तरह दीख पड़ेगी।

'सीते ! कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम अपने ससुर—महाराज दशरथको प्रणाम करनेके लिये परलोक तो नहीं चली गयी। परंतु बिना विचार किये ही, मुझसे बिना पूछे ही ऐसा किस तरह कर सकती ? आज तुम्हारे मनकी ऐसी स्थिति क्यों हो गयी ? यह कैसा व्यतिक्रम है ?

'राजकन्या ! जनकनन्दिनी !! मेरा वरण करनेके बाद—मुझसे विवाह करनेके बाद आजतक तुम्हें कभी सुख नहीं मिल सका। यह बात मेरे मनमें सदा चुभती है—मेरे चित्तको नित्य व्याकुल करती है। मैं अपने मनकी व्यथा किससे कहूँ !'

[महाकवि मोरोपन्तकृत मराठी मन्त्ररामायण—अरण्यकाण्ड ७१, ७२, ७७, ८०, ८१]

नैपालीभाषामें श्रीराम-वचनामृत

नैपालीभाषामें 'भानुभक्तको रामायण' नामक ग्रन्थ उत्तम काव्यग्रन्थ है। इसमें विस्तारसे श्रीरामचरितका वर्णन है। इस ग्रन्थसे श्रीरामके कुछ वचनामृत दिये जा रहे हैं।

प्रसङ्ग—अध्यात्मरामायणके प्रारम्भमें ही श्रीहनुमान्‌जीको श्रीजानकीने और श्रीरघुनाथजीने तत्त्वज्ञानका उपदेश किया है। वह प्रसङ्ग श्रीभानुभक्तने भी लिया है। उनके इस रामायणमें श्रीजानकीके उपदेशके पश्चात् श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—

मूल—

यस्तो हुन्छ परात्म आत्म यहि हो यो हो अनात्मा भनी।
आत्मा और परात्मलाइ बुझदा पाइन्छ मुक्ती पनी॥
आत्माको र परात्मको छ कति फेर् त्यो एक जानी लिनू।
जुन् जुन् चीज अनात्म हुन् उ त झुटा जानेर छाड़ी दिनू॥
आत्माको र परात्मको गरि विचार् एक् तत्त्व जान्यो जसै।
अज्ञान् सब् छुटि जान्छ ती पुरुषको मैं तुल्य हुन्छन् तसै॥

(श्रीबालकाण्ड ३८-३९)

भावार्थ—'यह परमात्मा ही है जिसे लोग आत्मा और अनात्मा (दोनों रूपोंमें) कहते हैं। जिसने आत्मा और परमात्माके एकत्वको समझ लिया, उसने मुक्तत्वको प्राप्त कर लिया। आत्मा और परमात्मामें क्या अन्तर है (कोई अन्तर नहीं है), जिसने इन दोनोंको एक समझ लिया और जो-जो वस्तुएँ अनात्मा (जड-मायिक) हैं, उन्हें असत्य समझकर त्याग दिया, विचार करके आत्मा और परमात्मा जैसे एक ही तत्त्व हैं, इसे ठीक अवगत कर लिया, उसका सब अज्ञान दूर हो गया। ऐसे पुरुष मेरे समान हो जाते हैं।'

× × ×

प्रसङ्ग—'महाराज दशरथने रानी कैकेयीके कहनेसे श्रीरामको वनवास दिया है।' यह समाचार मिलते ही कुमार लक्ष्मण उत्तेजित हो गये। उनके नेत्र लाल हो उठे, ओष्ठ फड़कने लगे। उन्होंने धनुष चढ़ा लिया और वे गरज उठे—'देखता हूँ मेरे प्रभुके स्वत्वको कौन छीनता है ? मैं बाधा देनेवाले सबको मार डालूँगा।' उन्होंने पिताके प्रति भी कठोर शब्द कहे। उन्हें शान्त करनेके लिये समझाते हुए श्रीराम बोले—

मूल—

सुन्यौ भाइ संसार्मा शरिर अति कच्चा छ जनको।
शरिर् कच्चा जानी न गर तिमि रिस् कत्ति मनको॥
सबै भोग् चञ्चल छन् बिजुलि सरि एक् छिन् न रहन्या।
विचार यस्तो राखी सहु तिमि बड़ो हुन्छ सहन्या॥

भावार्थ—'भाई लक्ष्मण ! सुनो, संसारमें मनुष्यका देह अत्यन्त कच्चा (नाशवान्) है। शरीरको नाशवान् जानकर न तो मनमें गर्व करना चाहिये और न क्रोध। सब भोग विद्युत्‌के समान चञ्चल हैं। वे एक क्षण भी (स्थिर) रहनेवाले नहीं हैं। यह विचार रखकर सहन करो; क्योंकि सहनशील ही महान् होता है।

भ्यागुतो खाँ भनि खोज्छ डाँस् मुख विषे साँपले धर्या कोपनी।
तस्तै भोग् गर्हला भनेर मनले भन्छन् दुनीयाँ पनी॥
क्याको रस् छ यहाँ विचार मनले काल्सर्पको मुख् परी।
क्या होला वन जाउँला इ सबलाइ आनन्द राखुन् हरी॥

'जैसे क्रोधी विषैले सर्पने मेढ़कको मुखमें पकड़ रक्खा हो और वह मेढ़क अपने भोजनके लिये समीप उड़ते आये मच्छर आदि ढूँढ़े, उसी प्रकार इस संसारके भोगोंमें गर्विष्ठ लोगोंको कहा गया है। अपने मनसे विचार करो कि काल-सर्पके मुखमें पड़े (प्राणीके लिये) यहाँ क्या—किसका रस (सुख) है। क्या हो गया जो मैं वनमें जा रहा हूँ। यहाँ सबको श्रीहरि आनन्दित रक्खें।

देश् देशका बाटुलिन्छन् बुझ तिसि मनले बाटका पाटि माहाँ।
बात्‌चित् गर्दै रहन्छन् खुसि सित मनले बन्धु ्झैं राति ताहाँ॥
प्रातःकाल् भो जसै ता उठि कन ति सबै दस् दिशा लागि जान्छन्।
बन्धूको सङ्ग यस्तो बुझि कन गुणिले दुःख सुख एक मान्छन्॥

'भाई ! जैसे देश-देशके यात्री मार्गमें जहाँ विश्रामस्थान है, वहाँ एकत्र रहते हैं तथा परस्पर बातचीत करके रात्रिभर वहाँ सुखसे बिताते हैं; किंतु जैसे ही सबेरा हुआ, सब उठकर अपने-अपने गन्तव्यकी दिशाओंको जाने लगते हैं। इस संसारको भी ऐसा ही समझो। यहाँ सगे-सम्बन्धियोंका साथ ऐसा ही है। समझनेपर यहाँ दुःख-सुख समान ही जान पड़ेंगे।

छाया तुल्य छ लक्ष्मि यौवन भन्या भेले सरीको भनी।
भन्छन् स्त्रीसुखलाइ स्वप्न सरिको साँचो कुरा हो भनी॥
यस्तै जानि पनी मनुष्यहरु सब् संसारमा भुल्दछन्।
भुल्नैका वशले अनेक् फजितले संसारि मै डुल्दछन्॥

'लक्ष्मी छायाके समान है। युवावस्था मिट्टीके ढलेके समान (अदृढ़) कही गयी है। स्त्रीका सुख स्वप्नसुखके समान (सत्पुरुष) कहते हैं। यह सच्ची बात दृढ़तापूर्वक कही गयी है। यह सब जानकर भी सब मनुष्य संसार- (की आसक्ति-) में भूल जाते हैं। इस भूल- (अज्ञान-) के वशमें होकर अनेक कष्ट उठाते हुए संसारमें भटकते रहते हैं।

जुन् यस् देह निमित्त यो रिस गर्यौ चिन्छौ कि कस्तो छयो।
हाड् माँसु र रगत् नसा यति कुरा जम्मा भई बन्छ यो॥
विष्ठा हुन्छ कि भस्म हुन्छ पछि तक् बाँच्तैन यो ता कसै।
यस्का खातिर घात् गर्यो पनि भन्या पाप् मात्र लाग्ला उसै॥

'जिस इस देहके लिये तुम यों क्रोधावेशमें आये हो, पहचानते हो कि वह किस तत्त्वका बना है ? यह देह हड्डी, मांस, रक्त, स्नायु इन सबके एकत्र होनेसे बना है। (मरनेके पश्चात्) यह या तो (पशु-पक्षी या कीड़ोंकी) विष्ठा बनेगा या (जलकर) भस्म बन जायगा। पीछे तो इसका कुछ भी बचेगा नहीं। इस देहके लिये जो किसीकी भी हत्या करता है, वह पापमात्रका ही भागी बनता है। (उसे दूसरा कोई लाभ नहीं होता।)

क्रोधै हो यमराज सर्व जनको वैतर्नि भन्नू पनी।
तृष्णा हो भनि यो बुझेर तिमिले कैल्हे न बिर्सा पनी॥
सन्तोष् लाइ बुझि कामधेनु सरिको सन्तोष मन्ले रहू।
रिस् गर्नु बढ़िया त छैन बनमा जान् असल् हो सहू॥

'सबके लिये क्रोध ही यमराज है और नरकके मार्गमें आनेवाली वैतरणी नदी तृष्णा कही गयी है। इस क्रोध और तृष्णाको कैसे बुझाया जाय, इसे कभी विस्मृत नहीं करना चाहिये। यह संतोषसे बुझती है; अतः कामधेनुके

समान संतोषको मनमें (स्थिर) रखलो । मेरे वनमें जानेकी बातसे तुम्हें बहुत क्रोध तो आया है; किंतु तुम शान्त होकर सहन करो ।

यस्तै हो सुन कर्मका वश हुँदा यस्तैन एक् ठाम् रही ।
कस्तै कोहि हवस् अवश्य करले जान् छ जाहाँ गई ॥
कर्मको फल भोग गर्छ दुनियाँ यै चित्तमा छेट भाइ ।
आमैले यहि बात् बुझी कन बिदा दीनू हवस् हामिलाइ ॥
(श्रीअयोध्याकाण्ड ३० । ३६)

'शान्त स्थिर होकर सुनो ! कर्मके वश होकर अबतक हम एक स्थानपर रहते थे । कितनी भी किसीकी आकाङ्क्षा हो, जो करना हो उसे भले कर डालो; किंतु मैं जानता हूँ जो (प्रयत्नकी) गति होती है । भाई ! यह बात हृदयमें रख लो कि इस संसारमें सबको कर्मका फल भोगना ही है । अतः यह बात समझकर हर्षपूर्वक हृदयसे मिलकर मुझे विदा दो ।'

× × ×

प्रसङ्ग—श्रीराम वनमें गये । उन्हें विदा देनेके स्थानपर लक्ष्मण और जानकीजी साथ गयीं । महाराज दशरथ इस वियोगको सहन न कर सके । वे स्वर्ग सिधारे । संदेश पाकर भरत-शत्रुघ्न ननिहालसे लौटे । पिताकी अन्त्येष्टि की । श्रीरामको लौटाने भरत चित्रकूट गये; किंतु श्रीरामने उन्हें चरणपादुका देकर लौटा दिया । चित्रकूटसे श्रीरघुनाथ विराधको मारते, शरभङ्ग, सुतीक्ष्णको सनाथ करते महर्षि अगस्त्यके आदेशसे पञ्चवटीमें रहने लगे । शूर्पणखाके नाक-कान उसीके दोषसे कटे और उसका प्रतिशोध लेने आकर खर-दूषण ससैन्य मारे गये । शूर्पणखाके उभाड़नेपर मारीचको स्वर्ण-मृग बनाकर रावण पञ्चवटी आया । श्रीजानकीके अनुरोधपर श्रीराम स्वर्ण-मृगके पीछे गये । अवसर पाकर रावणने वैदेहीका हरण कर लिया । जटायुने बाधा दी तो उनको दशग्रीव पक्षहीन कर गया । श्रीरघुनाथ माया-मृग मारकर लौटे । लक्ष्मण उन्हें बीचमें ही मिले । कुटियापर श्रीसीताजी थीं नहीं । वियोगव्याकुल, क्रन्दन करते श्रीराम वनमें जानकीको ढूँढ़ते बढ़े तो जटायुसे दशग्रीवकी दुष्टता ज्ञात हुई । उस मृत पक्षीका देह-संस्कार करके आगे दोनों भाई चले । कबन्ध उनके द्वारा मारा जाकर शापमुक्त हुआ । वहाँसे चलकर दोनों शबरीके आश्रम पहुँचे । शबरीने मानो जीवनका परम फल पाया । उसने कन्द-मूलसे सत्कार किया । उस भक्तिप्राणाको श्रीराम उपदेश करते हैं—

मूल—

नौ साधन कि त भक्ति छन् ति नवमा पैल्हे त सत्संग हो ।
पैल्हे साधन पो भयो पनि भन्या बाँकी रह्याका ति जो ॥
आठ् साधन्हरु हुन् ति ता क्रम मिलै मिल्छन् अगन्ह् सङ्गले ।
सन्तको सङ्ग भया सबै बनि गयो क्या हुन्छ कुन् सङ्गले ॥
सतको सङ्ग भै रह्याकी दिन दिन म उपर् भक्ति हुन्यो भयाकी ।
सज्जनको सङ्ग पाइ कन सब गुणमा पार पौंच्या गयाकी ॥
(श्रीअरण्यकाण्ड ११५-११६)

'भक्तिके नौ साधन हैं, उन नौमें पहिला साधन सत्सङ्ग है । यह प्रथम साधन यदि पूर्ण हो गया तो फिर और शेष ही क्या रह गया ? जो शेष आठ साधन हैं, वे तो सत्सङ्गके कारण स्वयं क्रम-क्रमसे प्राप्त हो जायँगे । संतका सङ्ग प्राप्त हुआ तो सब बात बन गयी । अब दूसरे किसीका सङ्ग करके क्या होगा । संतका सङ्ग हुआ तो दिन-दिन भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी । सज्जनका सङ्ग पाकर सब गुणोंसे पार पहुँच गया ही समझो ।'

× × ×

प्रसङ्ग—शबरीके यहाँसे चलकर पम्पासरोवर आये । समीप ही ऋष्यमूक पर्वत था । उधर बढ़ते ही सुग्रीवके भेजे हनुमान् मिले और उन्होंने सुग्रीवके समीप ले जाकर मित्रता करा दी । सुग्रीवने अपनी विपत्ति-कथा सुनायी । श्रीरामने वालीको मारकर सुग्रीवको कपीन्द्र बनानेका प्रण किया । श्रीरामकी प्रेरणासे सुग्रीवने वालीको ललकारा । द्वन्द्व-युद्ध तो बहानामात्र था, वाली श्रीरामके बाणसे मारा गया । मृत वालीका शव सामने पड़ा हो तो उसकी पत्नी ताराको कैसा शोक होगा, समझमें आनेकी बात है । उस क्रन्दन करती ताराको उपदेश करते हुए श्रीराम बोले—

हे ताराजि न रोउ आज मनले संसार छ झूटो भनी !
झूटो कुन् रितले छ यो भनि भन्या भन्छु म विस्तार पनी ॥
स ता निश्चै पोहूँ यहि शरिरमा लागि म गयाँ ।
शरिर मर्दा आफैं मइँ मरि गया झैं पनि भयाँ ॥
अहो ! अज्ञान मेरो भनि कन जहाँ तक् मन महाँ ।
लिंदैनन् ताहाँ तक् फजिति पनि छन् यै जन महाँ ॥

स्फटिक जस्तो जिव हो शरिरहरु लाहा बुझि लिनू ।
स्फटिक लाहाका सङ्ग धरि कन त दृष्टान्त छ दिनू ॥
लहाका सङ्ग् बस्ता स्फटिक म छु लाल् भन्छ जसरी ।
शरिर् मर्दा मर्छु म पनि भनि जिव भन्छ तसरी ॥

कर्मका बन्धन कठिन एवं उल्लेख योग्य नहीं रहा। मैंने भवसागरसे पार होनेका सहज मार्ग बतला दिया है। जिन्होंने मेरे इस स्वरूप और मेरे इन वचनोंको समझ लिया, उन्होंने कर्मके सब बन्धनोंको सहजमें ही तीक्ष्णतासे काट दिया।'

प्रभु श्रीरामके इस उपदेशको सुनकर ताराका शोक दूर हो गया और उसने देहाभिमानको भी छोड़ दिया।

पंजाबीभाषामें श्रीरामवचनामृत

(दिलशादरचित पंजाबी रामायणसे)

श्रीरामचन्द्रजीका वचन माता कैकेयीसे—

दे दस्स जल्दी किऊँ फिर ढिल्ल कीती।
गल दिल दे बिच्च न रक्ख माताँ॥
तू माँ ते मैं हाँ पुत्तर तेरा।
मैंनूँ समझ न तूँ हुण वक्ख माताँ॥
ज़ाहिरा ईश्वर नूँ वेखेआ नहिं किस्से।
माई-बाप ईश्वर परतक्ख माताँ॥
कैहँया तुस्साँ दा मोड़साँ नाँ कदी।
भावें पौन मुसीबताँ लक्ख माताँ॥
हुक्म माँ पिऊ दा मन्नेआँ नहिं।
पाके जनम मारी उस झक्ख माताँ॥
दिल दुखावे सतावे जो मा-पेआँ दा।
बैठा समझ ओ ताँ ज़हर चक्ख माताँ॥
माँ-बाप दा मरतबा ओ जाने।
खुली जिस दी ज्ञान दी अक्ख माताँ॥
दिलशाद जाणी इक दिन छोड़ दुनिया।
जाणा नाल नाहीं इक कख माताँ॥

'माता! तू हृदयमें बातको छिपाकर मत रख, शीघ्र आज्ञा दे, इतनी देर क्यों कर रही है? तू मेरी माता है और मैं तेरा पुत्र हूँ। माता! मुझको तू अपनेसे अलग मत समझ। ईश्वर किसीको प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर नहीं हुआ। परंतु माता, सबके लिये माँ-बाप प्रत्यक्ष ईश्वर हैं। मेरे ऊपर लाखों मुसीबतें क्यों न आयें, लेकिन जो मैं तुमसे कहूँगा उससे फिर कभी मुँह न मोड़ूँगा। जिसने अपने माता-पिताकी आज्ञा नहीं मानी, उसने मनुष्य-जन्म लेकर झख ही मारी—जीवनको व्यर्थ ही गवाँया। जो अपने मा-बापको सताता है, उनका दिल दुखाता है, हे माता! जान ले कि उसने विषपान कर लिया है। जिसके ज्ञानचक्षु खुले हुए हैं, वही मा-बापकी प्रतिष्ठाको जानता है। दिलशाद कवि कहते हैं कि माता! सबको एक दिन यह दुनियाँ छोड़कर जाना है और किसीके साथ यहाँसे एक तिनका भी नहीं जानेवाला है।'

श्रीरामचन्द्रजीका वचन माता कौसल्याजीसे

बैह्के कोल फिर एह समझान लगे।
ज़रा सुण मेरी लै तू गल माताँ॥
गए पिताजी वृद्ध हुण हो मेरे।
गेआँ घट शरीर दा बल माताँ॥
लैसी खबर कैकयी न विच मस्ती।
बैह्सी भरथ जद राज नूँ मॅल माताँ॥
होंदा भरथ इत्थे न सी डर कोई।
लैंदा भार सिर ते ओ झल माताँ॥
फिकर पिताजी दा मैनूँ है भारा।
जिह्दे नाल मैं गेआ हाँ घुल माताँ॥
मैं भी होन हुण उन्हाँ थीं दूर लग्गा।
पेआ हाँ बनबास नूँ चल माताँ॥
एह् ही वेला टैह्ल करन संदा।
जो करेगा पाएगा फल माताँ॥
जिन्हां खसम दी नहिं परवाह कीती।
नाल उन्हां दे तू न रल माताँ॥
पतिबरत जेहँया नहिं धरम कोई।
तप ते जप सारे निष्फल माताँ॥
इसे धरम डराए नीं लोक तिन्ने।
जावे ज़मीन आसमान भी हल माताँ॥
करदा एहो सहायता अन्त केले।
जद जावंदी जान निकल माताँ॥
तैरे वास्ते ईश्वर रूप है वन।
करके टैह्ल कर जनम सफ़ल माताँ॥
चौदह बरस मेरे ऐवें गुज़र जासन।
जिवें गुजर जांदे चौदाँ पल माताँ॥

नहिं परवाह वनवास विच कोई मैनूँ।
मेरे वास्ते न पई गल माताँ॥
सेवा पति दी धरम है इस्तरी दा।
निकल बाहर न धरम थीं ढल माताँ॥
मोह माया त्याग दिलशाद दिलों।
समझ है दुनिया सारी छल माताँ॥

माता कौशल्याजीके पास बैठकर श्रीरामचन्द्रजी समझाने लगे। 'माता! तू जरा मेरी बात सुन ले। मेरे पिताजी अब वृद्ध हो गये हैं, और माँ! उनके शरीरका बल घट गया है। और कैकेयी माता प्रमादमें रहकर उनकी खोज-खबर न लेगी। माँ! जब भरतको राज मिल जायगा और वह यहाँ रहेगा तब तो किसी बातका डर नहीं रहेगा। माँ! वह सारा भार अपने सिर झेल लेगा। मुझे पिताजीकी बड़ी चिन्ता है और इस बातसे मैं व्याकुल हो रहा हूँ कि मैं उनसे दूर हो रहा हूँ। माँ! अब मैं वनवासके लिये जा रहा हूँ। यही समय पिताजीकी टहल-सेवाका है। जो करेगा, उसे फल मिलेगा। जिस स्त्रीने पतिकी परवा नहीं की, माँ! उनके साथ तू मत मिल। पातिव्रतके समान कोई धर्म नहीं है, उसके सामने सारे जप-तप बेकार हैं। पातिव्रतधर्मसे तीनों लोक डरते हैं, इससे जमीन और आसमान भी हिल जाते हैं। माँ! तू प्राणपणसे इनकी अन्त समयमें सेवा-टहल करना। तेरे लिये ये ईश्वरके रूप हैं। माँ! इनकी सेवा करके तू अपना जन्म सफल कर ले। चौदह वर्ष मेरे वैसे ही बीत जायँगे, जैसे चौदह पल बीतते हैं। वनवासकी मुझे कोई परवा नहीं है। माँ! तू मेरे फिक्रमें उद्विग्न मत हो। पतिकी सेवा करना स्त्रीका धर्म है। माँ! तू अपने धर्मसे बाहर न जा। दिलशाद कवि कहते हैं कि माँ! मनसे मोह-मायाका त्याग कर। समझ ले कि यह सारी दुनियाँ छल—भ्रममात्र है।

सिन्धीभाषामें श्रीरामवचनामृत

(श्रीभक्तकोकिलजीके 'कोकिलकलरव'से)

(१)

श्रीअयोध्याधिपतये नमः

॥ भक्तनि जे शुभलछणनि जो वर्णनु॥

भक्तोंके लक्षणोंका वर्णन

सनेहसागर, रूपउजागर, कुरिबनिकेत करुणासिन्धू, दीनबन्धू, दुखरहित, दयाल, अजरा पुराण, बिना चाह जे रक्षकु, अज्ञाति सर्वज्ञ, अकुतोभय, आनन्दालय, कल्याणांगन श्रीकौशल्यानन्दनु भगवानु श्रीरामु चवे थो—

भावार्थ—स्नेहसागर, रूपउजागर, कृपानिकेत, करुणा-सिन्धु, दीन-बन्धु, दुःखरहित, दयालु, अजरापुराण, अयाचित रक्षक, अज्ञातसर्वज्ञ, अकुतोभय, आनन्दालय कल्याणांगन श्रीकौसल्यानन्दन भगवान् कहते हैं—

हे मारुतनन्दन! संसाररूपी वण जे प्रघट थियण जो बिजु माँ आहियां। जगत् खां अगिमें भी माँ सत् हुयुसि, हाणे भी माँ प्रकृति सहति सत् आहियां। सभिनी जीवनि जे अन्तमें भी माँ ज्योतीपु सत् थींदुसि। औं बिया जेके भी ध्याइण जोगु देवी देवता आहिनि तिनि खां परे रक्षा करण वारा मुहिंजा पद पंकज आहिनि, विछेप खे निवारणु करे निरवाशनकु शान्ति सुखु दींदा आहिनि। अविद्या जे निंड्र जो आवर्णु लही जदहिं जीवु जागे थो पोइ रस जी पुरीअ में प्रवेशु करणु चाहींदो आहे।

मुहिंजे पद पंकज खां परे रस जे स्थान जा मालिक रसिकराज सन्त आहिनि, मुहिंजी सेवा खां सहस्र गुणा वधीक रस भरियनि भगतनि जी सेवा आहे।

जेके मुहिंजे दासनि जा दास न आहिनि सिधो मुहिंजा दास था चवाइनि उहे मुहिंजा दास न आहिनि। पाखण्डी जमदण्डी थींदा। तोड़े मुहिंजो निर्मलु नामु जसु निष्कपटु चवंदा भक्ति कन्दा हुआ भी जमपुर वेंदा यां प्रेतजोनिमें भटकन्दा।

इहा गाल्हि बुधी मुहिंजा पूजारा ज्ञानी भक्त खेदु न मनिनि। सन्त मुहिंजे सिर जा साईं आहिनि। ब्रह्मा, शंकर, पद्मालयाऍं पहिंजे सुखरूप आत्मा खां भी किरोड़ गुणां भोरड़ा भक्त मूंखे प्यारा आहिनि। पहिंजनि प्यारनि सां, द्वेषु करण वारनि सां कीअँ प्रीति जो नातो रखंदुसि, जेके मुहिंजे पेरनि जी पूजा कन्दा, अन्दरमें सिर लाहिण जी आशा कन्दा तिनि ते कृपा कलरमें विज वांगियां थींदी।

श्रीरामचन्द्र बोले–हे मारुतनन्दन ! संसाररूपी वृक्षके प्रकट होनेका बीज मैं ही हूँ। संसारसे पहले भी मैं सत् था, अब भी अपनी प्रकृतिसहित मैं ही सत् हूँ, सब जीवोंके अन्तमें भी मैं ही ज्योतिस्वरूप सत् रहूँगा। जो भी ध्यान करनेयोग्य देवी-देवता हैं, उन सबसे परे सबकी रक्षा करनेवाले मेरे पदपङ्कज हैं। वे मनके विक्षेपको निवारणकर निर्वासनिक शान्ति-सुख प्रदान करते हैं। जब जीवके नेत्रोंसे अविद्याकी निद्राका आवरण दूर हो जाता है, तब वह जगा हुआ जीव प्रभुकी रसपुरीमें प्रवेश करनेकी इच्छा करता है। मेरे पद-पङ्कजसे भी परे रस स्थानके धनी मेरे प्यारे रसिकराज संत हैं। मेरी सेवासे भी उन रसभरे रसिकोंकी सेवा सहस्रगुना अधिक सुखदायी है। जो मेरे सेवकोंका सेवक न होकर मेरा सेवक कहलाता है, वह मेरा सेवक नहीं है। ऐसे लोग पाखण्डी यमदण्डी हैं, यदि ये मेरे निर्मल नाम एवं यशका निरन्तर गान करें, मेरी भक्ति करें, तो भी मेरे भक्तोंसे विमुख होनेके कारण वे यमपुरीमें जायँगे या प्रेतयोनिमें भटकेंगे। यह बात सुनकर मेरी पूजा करनेवाले ज्ञानी भक्त खेद न मानें; क्योंकि संत मेरे सिरके साईं है। मेरे भोले स्वभाववाले भक्त ब्रह्मा, शंकर, पद्मालया और अपने सुख-रूप आत्मासे भी कोटिगुना अधिक मुझे प्यारे हैं। अपने उन प्यारोंके साथ द्वेष रखनेवालोंसे मैं कैसे प्यार करूँगा ? वे मूढ़ मेरे पैरोंको तो पूजते हैं और सिर काटनेकी इच्छा करते हैं। उनपर मेरी कृपा ऊसरमें बीजके सदृश है !

ज्ञानी भक्त भी पहिंजे आत्मासुख औं बैकुण्ठ सुख वास्ते मुहिंजी सेवा कनि था पर मुहिंजा लाद्‌ला नंढिड़ा पुट्रिड़ा इन्हनि टोलनि औं खेदूअड़निमें न परिची करे केवल माखे ऍं मुहिंजे कुशल मनाइण वारी सेवा खे हृदेमें अविचलु विराजमान करे घोर नरकनि औं भूत प्रेतनि, पतंग पखियुनि जे भी जूणियुनि जो भयु नथा कनि।

ज्ञानी भक्त भी अपने आत्मसुख और वैकुण्ठादि सुखोंके लिये मेरी सेवा करते हैं; किंतु मेरे नन्हे लाड़ले प्रेमी बच्चे और किसी भी खिलौनेमें न रीझकर केवल मुझको और मेरी कुशल मनानेवाली सेवाको ही अपने हृदयमें सदा-सर्वदा अविचल विराजमान करते हैं। वे घोर नरकमें जानेसे अथवा भूत-प्रेत पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जानेसे भी नहीं डरते।-

कहिड़ा-लाल लछण ने सां भरियल मुहिंजा भक्तराज आहिनि ? चित खे चरणनिमें लगाईन्दा हुआ, अखियुनि मंझा आंसुनि जी झर वरसाईंदा हुआ, गद्-गद् कण्ठ वारी जिभिड़ीअ सां मिठ बोलड़ा नितु-नितु नवाँ गुण गाईंदा हुआ, पिरधन वारी विरुंह सां माखे प्रभाईंदा हुआ, जियें छिक जे समयमें मुँहु चिबो करे अखियूं पूरे, मथे निहारे तजछदे, सम्भिरी विहंदा आहिनि, तियें प्रियतम जे पूर पवण जी वेलड़ीअ में लज लोलपता छदे, अखियुनि खे पद पंकजमें गदे, सहायक गुर सन्तनि खे सदे, सजल बादल वति हृदय जिबान नेत्रनि खे भरींदा हुआ।

वैसे हैं वे मेरे लाल लक्षणोंवाले प्यारे मेरे भक्तराज। अपने चित्तको मेरे चरणोंमें लगाकर और आँखोंसे अश्रुओंका मेह बरसाते हुए गद्‌गद कण्ठ और रसीली रसनासे मधुर-मधुर नित्य नवीन मेरा गुण गान करते रहते हैं। प्रियतमकी रसस्फूर्ति होनेपर वे सर्वथा संकोचरहित वृत्तिसे लाज-लोलुपताको छोड़कर सावधान हो, उस रस-प्रवाहमें निमग्न हो जाते हैं। नेत्रोंकी दृष्टिको मेरे पदपङ्कजमें लगाकर, सहायक सद्‌गुरु संतोंका सादर स्मरण कर सजल जलदोंकी भाँति उस रससे हृदय, रसना और नेत्रोंको भर देते हैं।

मुहिंजो प्रतापु जाणी की न जाणी भोले भाव सां मुहिंजी भक्ति महाराणी खे माता वति समुझी अँगलु कन्दो हुयो, बाल वति भाकुरु पाईंदो हुयो, पहिंजा अवगुण गणींदो हुयो, मुहिंजा शुभगुण सुणींदो हुयो, जग जी तांति छदे मुहिंजे सुखी थियणजी रिथ रिथींदो हुयो, पघिरियल हियाँव वारी कियास भरी मुहिंजी गाल्हिड़ी गणींदो हुयो, विरह भरी वाणीअ में गद्‌गद् थी गूड़िही सिक वारी गलीअमें रहमत कन्दो हुयो, मुहिंजे दुख भरी लीला खे संभारे रुअन्दो हुयो, मुहिंजे सुख भरिये समय खे दिसी खिलंदो हुयो, खुशि थींदो हुयो, लज़ लाहे निर्मल नींहमें निरवारु थी नचंदो हुयो, माखे मिठी लोली देई खण्डु खीर खावाईंदो हुयो, चरणनि जी रज बरसाए अमित भुवननि खे पवित्रु कन्दो हुयो।

उन अद्भुत रंगति खे प्रेम भरी पंगति मे वँडींदो हुयो, उन दिलिबर जे दीदार वारे रंगमें बुधि कण्ठ अश्रु जो अद्भुत आनन्दु दिसन्दो हुयो, वरी कदहिं सुखु बन्द करे अखियूं हिक जगह ते अड़ाए, अकुण्ठित हृदय सां मुहिंजी मधुर लीला दिसन्दो हुयो, पृथ्वीअ जो रटनु कन्दो हुयो। श्रद्धावन्तनि खे मुहिंजे पद पंकज में भेट रखंदो हुयो, पहिंजे सुख समय खे साफल्यु थो करे।

मेरे प्रतापको जान अथवा न जानकर भोले भावसे मेरी भक्ति महाराणीको माताके समान जानकर उनकी गोदमें मचलते हुए, बालवत् भावमें विभोर हो भक्ति महारानीके गलेसे लिपट जाते हैं। अपने अवगुणोंसे लज्जित हो मेरे शुभ गुणोंको सुनकर हर्षसे भर जाते हैं। संसारकी चाह छोड़कर मुझे सुखी करनेकी अभिलाषा करते हुए पिघले-पिघले कोमल हृदयसे मेरी कथाका चिन्तन करते हुए विरह-भरी वाणीसे गद्‌गद हो प्रेमकी गह्वर गलीमें विचरण करते हुए वे मेरी दुःखभरी लीलाके स्मरणसे रोते और सुख भरी लीलाको देखकर हँस-हँसकर नाचते हैं, प्रसन्न होते हैं। मुझे मीठी-मीठी लोरी देते हैं, मधुर-मधुर खीर खिलाते हैं। उन भक्तोंकी चरणरजसे तीनों भुवन पवित्र होते हैं। वे उदारात्मा अपनी अद्भुत रंगतिको प्रेमियोंकी पङ्क्तिमें वितरण करते हैं। दिलदारके दीदारवाले आनन्दमें बुद्धि, कण्ठ, अश्रु आनन्दित होते रहते हैं। फिर कभी मुख बंद करके नेत्रोंकी दृष्टि एक जगह स्थिर कर अकुण्ठित हृदय मेरी मधुर लीलाको देखते रहते हैं और श्रद्धावानोंको मेरे पद-पङ्कजमें समर्पण करते हैं।

मुहिंजी नँढिड़ी भक्ति महाराणीअ जा भोलिड़ा बालिड़ा माखे जिहड़ा वणनि था तहिड़ो दुख मँझा निकतलु पहिरियों पुटु ब्रह्मा भी प्यारो न आहे, औं कल्याणकरु, ज्ञानगुरु, दानी अवढरु, पार्वतीवरु, श्रीभगवानु शंकरु भी माखे सुख-करु न आहे। औं गुलनि में घरवारी शुभ लक्षणनि सां सँवारी श्रीलक्ष्मी प्यारी भी मनहारी न आहे, औं सदां सुखरूप, चैतन्य चिद्‌रूप, आनन्द स्वरूप, सहज प्रकाशरूप आत्मा में भी सुञ पियो दिसां। जिहड़ा मिठड़ा वेणनि भरिया, कियासमें कड़िहिया, सिक जी गपमें गड़िया भगतिड़ा माखे मिठड़ा था लगनि।

इन्हनि प्यारनि कुरलाइँदड़नि दासड़नि जो जेको दासु न आहे उहो मुहिंजो दासु न आहे। जेको मुहिंजे दासनि जो दासु आहे, सो दृढ व्रती दासु आहे।

मेरी छोटी भक्ति महाराणीके लाड़ले भोले बालक जितने मुझे प्यारे लगते हैं, उतने अपनी नाभिसे निकले प्रथम पुत्र ब्रह्मा भी प्यारे नहीं हैं और कल्याणकारी ज्ञानगुरु औढ़र-दानी पार्वतीवर भगवान् श्रीशंकर भी मुझे इतने सुखकर नहीं हैं। कमलालया शुभलक्षणा प्रियतमा श्रीलक्ष्मी भी मनहारी नहीं हैं और सदा सुखरूप चैतन्य चिद्‌रूप आनन्द-स्वरूप सहज प्रकाशरूप अपने आत्मामें भी मुझे शून्यता भासती है। मीठे-मीठे वचनोंसे गुणगान करनेवाले मेरी विरहलीलासे व्यथितहृदय मेरी प्रीतिके दलदलमें फँसे हुए मेरे प्रेमी भक्त मुझे बहुत-बहुत प्यारे लगते हैं। ऐसे दर्दीले दिलके कसकीले हृदयवाले स्नेही भक्तोंके जो दास हैं, वे ही मेरे सच्चे दास हैं।

॥ इति श्रीमुखवाक्य ॥

(२)

ॐ तत्सत्

श्रीअयोध्याधिपतये नमः

॥ श्रीरामचन्द्र जो लखणलाल लाइ सनेहु ॥

श्रीरामचन्द्रका लक्ष्मणके प्रति प्रेम

जगदीश्वर जे जाप मे वेठल सियाराम जे कुशल मनाइणमें तत्परु थी हुई, कृपाल जननीअ खे बई हथिड़ा गुलनि जिहड़ा जोड़े, सभिनी रघुवँशियुनि ये सिरताजु श्रीरघुराजु प्रसन्नु थियो श्रीमाता जे चरण कमल स्वर्ण जे जोड़े वति, मधुर प्रेम भरियनि ते नीलमसणि वति मस्तकु धारणु कयांउँ, मानो मुद्रिका ते नीलमु रतनु शोभितु थियो हुयो प्रकाशु करण लगो।

अहिलाद सागरमें मगनु थी हुई गद्‌गद् वाक्य सां, पुत्र पुत्र कन्दी हुई, आनन्द जलु वरसाइंदी हुई, भुजाउनि सां उठाइंदी हृदय सां लाइंदी हुई, लख लख आशीष दींदी हुई, अमूल्य मणियुनि जे श्रॅंगार जूं घोरां घोरण लगी।

अम्ब जिहड़े लाल कपोलनि वारो मुखड़ो, न तृपति थियण वारनि चपड़नि सां चुम्बनु करण लगी। अखिड़ियुनि मां सनेह जलु वरसाइंदी हुई, जिहवा सां—हे राम! प्रिय पुत्र राम चवन्दी हुई, अपार माधुर्य रस खे प्राप्ति थी हुई सहति श्रद्धा जे सुन्दरु मुखड़ो दिसण लगी।

श्रीकौशल्याराणीअ खे इन्हींअ समय पुत्र भावना मय ईश्वर भावना आहे। राम हरपणीय प्रियता सां गद्‌गद् कम्पिति सर्वांग थी हुई श्रीमाता जू चवण लगी। कौशल इथिसा दिसी चवे थीः—

कृपामयी जननी कौसल्या श्रीसीतारामके कुशल मनानेमें तत्पर हुई श्रीजगदीश्वरका जाप कर रही थीं। इसी बीच रघुवंशियोंके मुकुटमणि राघवेन्द्र श्रीरामचन्द्र आये और दोनों करकमल जोड़कर अति प्रसन्नताके साथ स्वर्णयुगलके सदृश श्रीमाताके मधुर प्रेममय श्रीचरणोंमें अपना नीलमणिगणसदृश मस्तक रख दिया, मानो स्वर्णमुद्रिकामें नीलम रत्न सुशोभित और प्रकाशित हो गया हो। आह्लाद-सागरमें मग्न गद्‌गद वाणीसे 'पुत्र! पुत्र!' कहती हुई नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बरसाती हुई और प्रिय रामलालको भुजाओंसे उठाकर हृदयसे लगाती हुई माता लाख-लाख आशीष देने लगीं, अमूल्य मणियोंके भूषण न्यौछावर करने लगीं और रसाल-जैसे लाल कपोलोंवाले मुख-कमलको अतृप्त अधरोंसे चुम्बन करने लगीं। नेत्रोंसे स्नेह-जल बरसाकर जिह्वासे 'राम! प्रिय पुत्र राम!' कहती हुई अपार माधुर्यरसके प्रवाहमें बह चलीं। बड़ी ही स्नेहभरी श्रद्धासे माता श्रीरामचन्द्रका सुन्दर मुखचन्द्र देखने लगीं। उस समय श्रीकौसल्या महारानीकी ईश्वर-भावना, पुत्र-भावनामयी बन गयी। शरीर रोमाञ्चित हो गया। प्रियतासे—अत्यन्त प्रीतिसे गद्‌गद-कण्ठ और कम्पित-कलेवर होकर माता कहने लगीं। अत्यन्त कोमल करकमलोंको देखकर वे बोलीं—

मुहिंजा परदेसी पुत्र! विश्वामित्र सांणु गड्डिजी जो मँढपणमे परदेस वयें, उन रस्ते जो समाचारु अद्भुत रस सां भरियलु लक्ष्मण खां माँ बुधो।

तूं जदहिं पिंजरे में तोते खे आङुरि ते खीरणी रखी दींदि हुएं, त चकु पाइण वास्ते चतूं वातु फाड़ींदो हुयो। मुहिंजा भोलिड़ा सीधा साध पुट! उन्हीअ समय में भव खां आसू बहाऐ, चपिड़ा कम्बाऐ, आङुरि बाहिरि कढँदो हुएं, इहड़े डरपोक हृदयवारो तूं—अस्मे जेदनि दन्दनिवारी, छिहनि कोहनिमें शरीरवारी, राक्षसी ताड़का हचारीय खे रस्ते वेन्दे कीअँ हिकिड़े बाण सां उन खे यमराज सां परिणायुइ? वदो माखे त अश्चर्यु थो लगे।

'मेरे परदेशी बालक! विश्वामित्र मुनिके साथ जो तुम प्रवासको गये थे, उस रास्तेका अद्‌भुत रससे भरा हुआ समाचार बाल लक्ष्मणसे मैंने सुना। वत्स! तुम जब पिंजरेमें सुग्गेको अपनी अंगुलीसे खीर खिलाया करते थे और वह शुक जब मुँह फैलाकर खानेको उद्यत होता तब मेरे सरल-साधु शिशु! तुम भयभीत हो आँसू बहाते हुए कम्पित अधरोंसे अंगुलीको बाहर कर लेते। इतने भीरु हृदयवाले मेरे बालक राम! भयंकर राक्षसी ताड़का, जिसका विशाल शरीर कितने ही कोसोंमें था, उस निशाचरीको तुमने एक ही बाणसे कालके गालमें भेज दिया? यह सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है।

गुलनि जो खेनूअड़ो खेलणमें सखा सन्मुखु था उछिलींनि, केलें वाग्याँ शरीरु कम्पण थो लगे, अखिड़ियुनि ते हथिड़ा देई, गाड़हनि चपिड़नि सां बस-बस पियो करीं। सो समर भूमीअ में इन्द्रादिकनि खे थोरिड़ो जाणण वारा विकट भट सुबाहु मारीचु निशाचर अनन्त सेना सां सहस्रों पल भरमें भुगडनिवाँगे अग्नि बाण सां भुगइ।

तुम्हारे छोटे-छोटे सखा जब फूलोंका गेंद तुम्हारे सामने फेंकते तो केलेके समान तुम्हारा शरीर काँपने लगता, नेत्रोंपर हाथ रखकर लाल-लाल अधरोंसे तुम 'बस! बस! भैया' कहने लगते और अब समरभूमिमें इन्द्रादि देवोंको भी डरानेवाले विकराल सुभट सुबाहु मारीच आदिको एक ही पलकमें अपने अग्नि-अस्त्रोंसे चनोंकी तरह भून डाला।

काकुत्स्थ! जदहिं तूं चौगानमें खेनूअ रांदि करण वञे यां श्रीसरियू स्नान करण वञे त घोड़नि, हाथियुनि, रिथनि, पालिकियुनि जी चतुरंगिनी सेना वठी वञे। गह्वर घोर भयंकर बननिमें, तपस्वियुनि सांणु फलाहारी थिये, पदाचारी थियें। समय खे दिसी अँगल करण वारा, पुत्र प्यारा! पलभर तोखे पानु न मिलँदो हुयुइ, वारे-वारे उबासियूं पयूं अचिनी। बारह महीना भोजन खां सवाइ वन फल खाधइ। सत्गुर प्रसाद सां अनन्त भयंकर करवर बलाऊँ अवढर दानी जगत पितर पार्वती-शंकर तोतां टारे छड्डिया।

जब तुम चौगान खेलने या सरयूमें स्नानके लिये जाते तो चतुरंगिणी सेना साथ ले जाते; किंतु गह्वर घोर भयंकर वनोंमें तपस्वियोंके साथ फलाहारी और पादचारी बने घूमे। समय-समयपर मचलनेवाले मेरे प्यारे पुत्र! पलभर भी पान मिलनेमें विलम्ब होता तो तुम बार-बार जँभाई लेने लगते थे, किंतु मुनीश्वरके साथ बारह महीने तुमने

केवल वन्य फल ही खाये। सद्गुरुके प्रसाद और औढरदानी जगत्पिता पार्वतीपति शंकरकी कृपासे तुम्हारी रक्षा हुई।

श्रीरामचन्द्रोवाच

श्रीरामने कहा—

मिठिड़ी अमड़ि! ड्रियों लक्ष्मणु भी नँढिड़ो परमेश्वरु चउ।' गहवर घोर बननिउ में, वणनि जे हेठां वास भवनमें, जाखोड़नि जबरनि में, सर्वे सूरनि में, गिदड़नि बघड़नि में, हाथिनि रिछनि में, बब्बर शींहनि में, वासिंग नागनि जे फूँकुनि में, बिपति जे वंडण में को भी सम्बन्धी माता-पितादिक हमराहु न आहे। गूड़िही भयंकर वणराइ जिते दींहँ जो सूर्य जी ज्योति, राति जो चन्द्र चान्दिनी न हुजे, उते लखणदेव पलक नैन वाँग्यां मुहिंजी रक्षा कई।

मिठिड़ी माता! अहिड़ियुनि वणरायुनिमें भी शुभ लक्षण भ्राता, माँ चिन्तातुर तोखों विछुड़ियल खे प्रसन्न करण जा उपाव कयाई एं वनचर राक्षस आदिकनि अनेक विघ्ननि खां मुहिंजी रक्षा कयाई।

प्यारी मैया! और लखनलालको भी छोटा परमेश्वर कहो। गह्वर घोर वनोंमें, वृक्षोंके नीचे वास-स्थलमें, अति परिश्रमसाध्य कार्योंमें, सहस्रों कठिन क्लेशोंमें, भयंकर भेड़ियोंके बीचमें, बबर शेरोंके स्थानोंमें और अजगर-सर्पोंके मार्गोंमें जहाँ कोई भी विपत्तिमें मेरा साथी नहीं था, माता-पितादिकी भी सहायता नहीं पहुँच सकती थी, उस भयानक वृक्षावलीमें, जहाँ दिनमें सूर्यकी ज्योति और रात्रिको चन्द्रकी चाँदनी नहीं प्रवेश कर सकती थी, ऐसे बीहड़ वनोंमें लक्ष्मणदेवने पलक-नैनकी भाँति मेरी रक्षा की।

ममतामूर्ति मैया! ऐसे क्लेशप्रद स्थानोंमें मेरे शुभलक्षण भ्राताने मुझ चिन्तातुर, तुझसे बिछुड़े हुएको प्रसन्न करनेके अनेक उपाय किये। वनचरों-राक्षसों आदि अनेक विघ्नोंसे मेरी रक्षा की।

श्रीकौशल्या-वचन

देव कुमार वति प्रिय दर्शन! तुहिंजे लाल चरणनि जी धूड़ि सां पतिवंचक पाप मई मुनि पत्नी चवे थो लक्ष्मणु पवित्रु एं कृतार्थु थी, प्राणपति सां मिली, सा कथा कीअँ आहे? सुन्दर सुवन मिठा!

श्रीकौसल्याने कहा—प्रिय वत्स! लक्ष्मणने मुझे यह भी बताया कि तुम्हारे लाल-लाल चरणोंकी धूलिके स्पर्शसे पतिवञ्चका पापमयी मुनिपत्नी पवित्र और कृतार्थ होकर अपने प्राणपतिसे मिल गयी। मेरे सुन्दर सुअन! बताओ, वह कथा कैसे है?

श्रीरामचन्द्र-वचन

श्रीरामने कहा—

जय हुँजेई जननी! तू इन्हीअ कथा में भी लक्ष्मण जूं भलायूं बुधु। श्रीगंगा जे हूअ भरि वणनि खां सवाइ पट वीहनि कोहनि मे हुआ। इहे दिहाड़ा जेठ आखाड़ जा हुआ, भगवान् आदित्य जूं तप्त किरीणूं तीरनि वांग्याँ पयूं चुभनि, कांगनि जा विरही आवाज पया अचिनि। मुहिंजो ललाटु पवर सां भरिजी वयो, चपिड़ा प्यासमें शुष्कु थी विया। पृथ्वी जी वारी तलल, दुर्गम मार्ग खे दिसी पूर्ण अश्रु चंचल नेत्रनि खां वहाईंदो धरा ते मूर्छित थियुसि। पहण जे कीएँ वांग्याँ कठिन स्वभाव वारा रिषी अहिड़े मध्यान में धन्य-धन्य कन्दा अगिते हलनि पिया। तुम्बो पाणीअ जो भरे श्रीलक्ष्मणु आयो। व्याकुलचित सां मुहिंजो मस्तकु वक्षस्थल ते विराजित करे, माँ उन्मीलित अखिड़ियुनि वारे जे मुखडे में जल कण वरसाइण लगो। मुहिंजे हथिडनि मां धनुषु बाणु भी किरी पयो। सूर्य जे प्रचण्ड आतप खां क्लान्त वदनु थियो हुयो दिसी, माखे करील वृक्ष हेठां विहारे मस्तक जे वस्त्र जो हथ सां पंखो ठाहे, मुहिंजी आतप निवारणु कयाई, ठण्डिड़ो पाणी प्यायाई।

श्रीरामचन्द्र बोले—जय हो जननी! तेरी जय हो! इस कथामें भी लक्ष्मणके उपकार सुनो। श्रीगङ्गाजीके उस पार बीस कोसका एक वृक्षहीन मैदान था। ज्येष्ठ-आषाढ़के दिन थे। भगवान् मार्तण्डकी तप्त किरणें तीरोंकी तरह चुभ रही थीं। कागोंके विरही शब्द सुनायी पड़ते थे। मेरा ललाट पसीनेसे पूर्ण हो गया। प्याससे अधर शुष्क हो गये थे। पृथ्वीपर पड़ी बालू तप रही थी। ऐसा दुर्गम मार्ग देखकर मैं नेत्रोंसे अश्रु बहाता हुआ धरापर मूर्छित होकर गिर पड़ा। पत्थरके कीड़ेकी तरह कठिन स्वभाववाले ऋषि ऐसे मध्याह्नमें भी धन्य-धन्य कहते आगे बढ़ रहे थे। तब मुझे विकल देखकर श्रीलक्ष्मण जलका तुम्बा भरकर ले आया और व्याकुल चित्तसे मेरे मस्तकको अपने वक्षःस्थलपर विराजित कर मुझ उन्मीलित नेत्रोंवालेके मुखमें जलकण बरसाने लगा। मेरे हाथोंसे धनुष-बाण भी गिर पड़ा था। सूर्यके प्रचण्ड आतपसे क्लान्तवदन देखकर लक्ष्मणलालने मुझे करीलके वृक्षके नीचे बिठाया और

अपने वस्त्रका पंखा बनाकर वायु करके मेरा आतप निवारण किया। मुझे ठंडा जल पिलाया।

मिठी अमड़ि ! गहवर कान्तार में निवासु, माता पितादिक सम्बन्धियुनि खां वियोगित, औं निरमोहियुनि सां संगति, राक्षसनि ऍं प्रेतनि पिशाचनि जे रहण जा बड़ पीपल पाकर युगनि जा वण, उन बर पट में अहिल्या जे आश्रम में डाकिणियूं शाकिणियूं भूत बैताल माणुहुनि जूं मुँढियूं हथनिमें खणी बजाइनि नचनि पया। भयंकर अग्नि जूं लाटूं मुँहं मां कढँदा घूरां कन्दा अचनि पया। उते भी रक्षक लक्ष्मण जे धनुष बाण सभेई करिवर टारिया। अहिड़ियुनि विपतियुनि में जे लक्ष्मणु देंवु न हुजे हां त राघवजी कथा रहिजी बञे हां।

मीठी माता! गह्वर कान्तारमें निवास; माता, पिता आदि सम्बन्धियोंसे वियोग, निर्मोहियोंका संग, राक्षसों और प्रेतों-पिशाचोंके निवासस्थान; बड़-पीपल-पाकर युगोंके पुरातन जहाँ वृक्ष थे। उस अहल्याके आश्रममें, डाकिनी-शाकिनी, भूत-बैताल, मनुष्योंके मुण्ड हाथोंमें लेकर गाते-बजाते और नाचते थे। भयंकर अग्निकी लपटें मुखसे निकालकर घूर-घूरकर देखते थे। वहाँ भी रक्षक लक्ष्मणके धनुष-बाणने सभी कष्टोंको काट दिया। ऐसी विपत्तियोंमें यदि लक्ष्मणदेव मेरे साथ न होता तो राघवकी कथा ही अधूरी रह जाती।

माता भी, पिता मंत्री भी, शिष्यु दासु चवे भी, हथ जो हथियारु चवें, सुभटु सिरदारु चवें, पुनु चवें भी लक्ष्मणु, मिहिंजो प्रभु चवें भी इहो सुहृदु आहे। मिहिंजा नेण, श्रवण, तन, मन, वचन, बुधि, बलु, विक्रमु, समु लक्ष्मणु अथेई। दिसण में त हिकु रूपु आहे पर अनिक रूप धारे मिहिंजी सेवा कयाईं, इन्हीअ जो प्रतापु केतिरो बुधायांइ। हाणे बुधु भयंकरु आख्यानु अहिल्या आश्रम जो।

माता-पिता, मन्त्री, शिष्य, दास—जो कुछ भी कहो, वह सब कुछ मेरा लक्ष्मण है। हाथोंका हथियार कहो, सुभट सरदार कहो या पुत्र कहो तो वह लक्ष्मण है। मेरा प्रभु भी वही है, मेरा सुहृद् भी वही है। मेरे नेत्र, श्रवण, तन, मन, वचन, बुद्धि, बल, विक्रम—सभी लक्ष्मण है। देखनेमें तो एक रूप है, पर अनेक रूप धारण कर लक्ष्मणने मेरी सेवा की। उसका प्रताप मैं कहाँतक बताऊँ। अब सुनो, अहल्या-आश्रमका भयंकर आख्यान।

सूर्य जी प्रचण्ड तपति खों अगे थिया सीं, प्रदोसु समयु हुयो, त वरी गिरि तरंगिनी सरिता जे तीर वृती तपोवननि वारी गहवर वृक्षावली आई। हंस सारस कारण्डव बतकादि विहंगम गण आनन्द पूर्वक उन नदी जे निर्मल जलमें मछिली भोगु कन्दा हुआ रान्दियूं करनि पिया। उन्हनि खे पहिंजे परिवार सां भोजनु कन्दो दिसी, अड़ी असड़ि ! मूंखे तुहिंजे हथ जो भोजनु याद पयो, भुखिड़ी दाढी लगण करे मुहिंजे युगल नेत्रनि मँझां स्वतः अश्रु धार पातु थियण लगी। क्षुधा करे मुहिंजा चपिड़ा विह्वलु दिसी, करुणा वात्सल्य सागरु लक्ष्मणु शीघ्र भ्रमणु करे आहार उपयोगी भोजनु खुणी आयो। उन कमला जे कण्ठे जी ठण्डी छाँव में ट्रे पहर दीहँ चड़िहिये बिन्ही बिपति संगिनि श्रीमत्-नारायण खे भोगु लगाऐ उहे अमृत जहिड़ा ग्रास खणण लगा सीं।

सूर्यकी प्रचण्ड तपनसे आगे बढ़े तो प्रदोषका समय हो गया। फिर गिरितरंगिणी सरिताकी तटवर्तिनी वृक्षावली आयी। उस सरितामें हंस, सारस, कारण्डव, बतक आदि विहंगमगण आनन्दपूर्वक निर्मल जलमें मछलियाँ पकड़कर खाते हुए खेल रहे थे। उनको अपने परिवारसहित भोजन करते देख, मेरी मैया ! मुझे तुम्हारे हाथका भोजन याद आ गया। अधिक भूख लगनेके कारण मेरे युगल नेत्रोंसे स्वतः अश्रुपात होने लगा। क्षुधासे मेरे अधर विह्वल देख, करुणा-वात्सल्य-सागर लक्ष्मण शीघ्र भ्रमण करके आहारोपयोगी भोजन ले आया। उस नदीतटकी ठंडी छायामें हम दोनों विपत्तिसंगियोंने श्रीमन्नारायणको भोग लगाकर वह अमृत-समान भोजन पाया।

सूर्यनारायण अस्ताचल दांहँ गमनु कयो, सामने हिकु भारी घटा वाँगे आश्रम जे विच में प्रफुलित कदम्ब तरु शाखा ते मद मस्त मयूर मयूरी, कोयलि कोकिला, भ्रमर भ्रमरियूं नृत्यु पिया करिनि। लछिमण सहति अञा ओदही मुहिंजी दृष्टि वेई त हिकु अद्भुत दृश्यु दिठो सीं। हिक डार में दूँहं जे विच में बरंदी हुई अग्नि जी लाट मँझा आवाज अचनि पया, ओ राम ! लछिमण राम, हे श्रीराम। वारनि खे खिड़ाईंदड़ आलाप बुधी करे, लक्ष्मणु 'भ्राताजी, चई मुहिंजे बाँहँ खे चँबुड़ी पयो। वरी दिठो सीं, कुहरे में छिपी हुई पूर्णमासीअ जी स्वछ चान्दिनी वांग्याँ हिक

सुन्दरी जल मे पिये हुए सूर्य जे प्रतिबिम्ब वांग्याँ दीप्तिमान् थी हुई। सुर असुर तोड़े मनुष पखी कोई भी हुन खे नथो दिसी सिघे, श्रीराघव लक्ष्मण खां सवाइँ, छो जो गौतम जो श्रापु इन्हीअ तरहँ हुयो। 'दिव्य अंग कहिड़ा सुहिणा आहिनि मानो ब्रह्माजी उन खे अति यतन सां पहिंजे हथिड़नि सां मायाविनी गौतम गेहिनीअ खे सौन्दर्यता जे सांचेमें विझी निर्माणु कयो अथसि, इएँ लछिमन चयो।

सूर्यनारायणने अस्ताचलमें गमन किया। सामने एक भारी घटाकी तरह आश्रमके बीचमें प्रफुल्लित कदम्बतरु शाखापर मदमस्त मयूरी-मयूर, कोकिल-कोकिला, भ्रमर-भ्रमरियाँ नृत्य कर रहे थे। लक्ष्मणसहित मेरी दृष्टि उस ओर गयी तो मैंने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक डालमें धूएँके बीच जलती हुई अग्निकी लपटमेंसे आवाज आने लगी—'ओ राम ! लक्ष्मण राम ! हे श्रीराम !' रोंगटे खड़े करनेवाले शब्द सुनकर लक्ष्मण 'भ्राताजी' कहकर मेरी भुजाओंसे लिपट गया। फिर हमने देखा, कोहिरेमें छिपी हुई पूर्णमासीकी स्वच्छ चाँदनीकी तरह एक सुन्दरी जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बके प्रकाशकी भाँति दीप्तिमान् बनी हुई स्थित है। सुर, असुर, मनुष्य, पशु, पक्षी कोई भी उसे नहीं देख सकता था मेरे और लक्ष्मणके सिवा; क्योंकि गौतमका शाप इसी प्रकारका था। उसके दिव्य अङ्ग ऐसे सुन्दर थे मानो ब्रह्माने अति यत्नसे अपने हाथों उस मायाविनी गौतम-गेहिनीको सौन्दर्यके साँचेमें ढालकर निर्माण किया है। लक्ष्मणने ऐसा कहा।

वायूं हीं भक्षणु कन्दी हुई निराहारा निर्जला, थी हुई, हेठि भस्म जी सेजा खां बठी उन कदम्ब जे वृक्ष जी चोटीअ ताईं हेठि मथे लहे चढ़िहे थी। तपस्या जे तेज करे वैद्युति जी लाट मे अदृष्य थी हुई खे सत सहस्र वर्ष व्यतीतु थी विया आहिनि, इएँ मुनीश्वर चयो त–हीअ पतिव्रता महाभागा तव्हाँ जे दर्शनलालसा थियण करे, इन्द्र स्पर्श जो कूड़ो कलंकु पाण ते दियारे, रिषि गौतम जो श्रापु वठी, सा सतवन्ती अग्निजी लाट ते स्थानु करे, हे राघवेन्द्र ! तुहिंजे बिनि अखरनि वारे रसना खों वठी मस्तक ताईं ध्वनि पहुँचाइण वारे निर्मल नाम खे जपींदी, अमृत रसु पियन्दी हजारों वर्ष जियन्दी थी रहे। सभिनी खे जोड़ो करण वारा दशरथनन्दन ! हाणे उन खे महाभागा अहिल्या खे, देवरूपिणी सौन्दर्यशाला खे, रघुनन्दन ! दर्शनु देई प्राणनाथ सों मिलाइ। वत्स ! फल सां फलु मिलँदो आहे। तू हुन खे प्रीतम सां मिलाइ त तोखे भी हुअ ट्रिनि डींहँनि में पहिंजे प्रीतम सखा सां मिलाए।

वायु ही भक्षण करती हुई निराहारा निर्जला अहल्याकी वह नामध्वनि नीचे भस्मकी शय्यासे लेकर उस कदम्बवृक्षकी चोटीतक चढ़ती-उतरती थी। तपस्याके तेजके कारण विद्युत्की लपटमें अदृश्य बनी हुईको सत सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये हैं ऐसा मुनीश्वरने कहा—'यह पतिव्रता महाभागा तुम्हारी दर्शन-लालसाके कारण इन्द्र-स्पर्शका मिथ्या कलंक अपने ऊपर आरोपित कर गौतम ऋषिका शाप ग्रहण कर स्थित है। यह सतवन्ती अग्निकी लपटपर स्थान बनाकर हे राघवेन्द्र ! तुम्हारे दो अक्षरोंवाले रसनासे लेकर मस्तकपर्यन्त ध्वनि पहुँचानेवाले निर्मल नामको जपती हुई अमृतरस पीती हुई सहस्रों वर्षोंसे जीती रही है। सबको मिलानेवाले दशरथनन्दन ! अब इस महाभाग्यवती अहल्याको, देवरूपिणी सौन्दर्यशालाको दर्शन देकर उसके प्राणनाथसे मिलाओ। वत्स ! फलसे फल मिलता है। तुम इनको प्रियतमसे मिलाओ तो तुम भी तीन दिनके अंदर अपने प्रियतम सखासे मिलोगे।'

मिठिड़ी अमां ! ब्रह्मरिषि गाधिनन्दन जा बचन बुधा सीं, माखे सकुच लक्ष्मण खे भउ, बई हेठि मुँहुँ करे हलिया सीं। अन्दरि आश्रम में प्रवेशु कयो सीं, छाथो डिसिजे ? अहिल्या तपस्या जे ब्रह्म लक्ष्मी रूपी महां ज्वाला में दिव्य सुन्दरी बूटियल गुल वांगे बई हथ जोड़े कन्धु हेठि कयूं सुन्दर ध्वनि सां नामोचारु करे थी, श्रीराम ! श्रीराम ! श्रीराम ! अमृत जिहड़े नाद खे बुधी, मुहिंजो चितु औं करुणानिधि लक्ष्मण जो मनु भी उतम श्रद्धा सां गद्गद थी अश्रु जलु बहाए देवी अहिल्या जे पद्पंकज ते मस्तकु झुकायो सीं। अहिल्या खे पहिंजे पति जो चवणु हुयो त अजेय विक्रम लक्ष्मण श्रीराम जो अतिथि-सत्कारु कन्दीं अ तद्‌ाँ सां मिलँदींअ, सुमरणु करे इन्हीं पुराणे वचन जो, विन्दीं जा चरण पकिड़े पद पंकज ते भवँरे वाँग्यां किरी, सुमरणु करण सां अरवादि सामग्री हुन जे अगियां देवताउनि रखी पुष्प बरसाति कई। मां औं लक्ष्मण भी हुन जो अर्घ्य पाद्यादि ग्रहणु कयो, गन्धर्व अप्सरा नचण गाइण लगा, देवता नगारा वजाइण लगा, प्रसन्न ध्वनि थी वेई, टेटीह किरोड़ देवता इन्द्र खे प्रसन्नु दिसी, अहिल्या जी प्रशंसा करण लगा, देवनि जे मुख मँझां श्रीराम लक्ष्मण खे आश्रम में आयो बुधी रिषि गौतमु तिखो आयो वायू जे विमान में

चढ़िही। अगे वॉन्यां सुन्दरु शरीरु धारे बीठी हुई प्रियतमा पत्नी खे प्राप्ति करे अधिक प्रसन्न थियण करे, पारजात पुष्पनि सां असां बिन्हीअ जा चरण ढके, दम्पति स्तुति कई।

प्यारी जननी! ब्रह्मर्षि गाधिनन्दनके ये वचन सुनकर मुझे संकोच और लक्ष्मणको भय हुआ। दोनों नीचे मुख करके चलने लगे। आश्रमके भीतर प्रवेश करके हमने देखा कि—तपस्याकी मूर्ति ब्रह्म-लक्ष्मीरूपिणी अहल्या यहाँ ज्वालामें दिव्य सुन्दरी मुँदे हुए फूलकी तरह दोनों हाथ जोड़े मस्तक झुकाये सुन्दर ध्वनिसे नामोच्चार कर रही थी 'श्रीराम श्रीराम श्रीराम'। अमृतके समान मधुर नादको सुनकर मेरा चित्त और करुणानिधि लक्ष्मणका मन भी उत्तम श्रद्धासे गद्गद हो उठा। अश्रु-जल बहाते हुए देवी अहल्याके पादपंकजोंपर हमने मस्तक झुकाया।

अहल्याको उसके पतिने कहा था—'अजेयविक्रम राम-लक्ष्मणका अतिथि-सत्कार करोगी, तभी मुझसे मिलोगी' उस पुरातन वचनको स्मरणकर हम दोनोंके चरणोंको पकड़ वह भवँरेकी भाँति पदपंकजोंमें गिर पड़ी।

उनके स्मरणमात्रसे ही देवतालोग अर्घ्यादि सामग्री उनके सामने ले आये और पुष्पवर्षा करने लगे। मैंने और लक्ष्मणने भी उनका अर्घ्य-पाद्यादि ग्रहण किया। गन्धर्व-अप्सरा नृत्य-गान करने लगे। देवगण नगारे बजाने लगे। उनमें प्रसन्न ध्वनि होने लगी। तैंतीस कोटि देवता इन्द्रको प्रसन्न देख अहल्याकी प्रशंसा करने लगे। देवोंके मुखसे श्रीराम-लक्ष्मणको आश्रममें आये सुन, ऋषि गौतम वायुके विमानपर चढ़कर शीघ्रतापूर्वक वहाँ आये। पहलेकी भाँति सुन्दर शरीर धारण कर खड़ी हुई प्रियतमा पत्नीको प्राप्त कर अधिक प्रसन्न होनेके कारण ऋषिने पारिजात पुष्पोंसे हम दोनोंके चरणोंको ढक दिया। दम्पतिने स्तुति की।

एशियाके हृदयाञ्चलोंमें भगवान् रामकी वाणी

(लेखक—डा० श्रीलोकेशचन्द्रजी)

भगवान् राम भारतीय परम्पराओं और भावी बुभूषाके मर्यादापुरुषोत्तम हैं, जिनमें पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक और अन्य चिकीर्षाओंकी आविर्भूति अपने चरम उत्कर्षपर पायी जाती है। भगवान्की जीवनगाथा हमारी संस्कृतिकी अभिन्न संगिनीके रूपमें सारे एशियामें व्याप्त है और उन देशोंके वासियोंके लिये अजस्र प्रेरणाका स्रोत है। प्रस्तुत संक्षिप्त लेखमें हम कुछ एशियाई देशोंमें रामायणका जो प्रेरणात्मक स्वरूप मिलता है, उसकी झाँकियाँ प्रस्तुत करेंगे।

सन् ४७२ में 'चि-चिआ-य'ने 'त्सा-पाओ-त्साङ् चिङ्' नामक चीनी ग्रन्थका प्रारम्भ ही रामायणसे किया। 'चि-चिआ-य' संस्कृतके 'केकय' नामका लिप्यन्तर है। ग्रन्थके उपसंहारमें रामराज्यका गुणगान है। जब श्रीरामचन्द्रजी वनवाससे लौट आये तब भरतजीने अनेक बार आग्रह किया कि वे राज्य स्वीकार करें; परंतु भगवान् रामने उतनी ही बार अस्वीकार कर दिया। अनुज भरतकी बारंबार प्रार्थनासे उन्होंने सिंहासन स्वीकार किया। और फिर क्या था, चारों ओर मानवकल्याण पल्लवित हो उठा—

षिउङ् ति तुन् मु। फ़ङ्-षिङ् ता षिङ्। ताउ-चि सो पेइ। ० युआन् मङ् ला इ।.........। जन् त्स त्स छुआन् फङ् शि षिआउ चिङ्।.........। इ थ्सु चुङ् षिआउ यिन्-युआन् कु। फङ् यु इ शि। वु कु फङ् शु। ज़न् बु भि यि। येन्-फु- थि नइ। यि-छिए ज़न्-मिन्। चि छङ् फङ् मन्।

अर्थात्—'दोनों अग्रज और अनुजका एक दूसरेके प्रति प्रेम और आदर था। लोकचर्यापर इसका पूर्ण प्रभाव हुआ। सदाचार चारों ओर व्याप्त हो गया। प्रजा भी (सदाचरणमें) राजाकी अनुगामिनी हो गयी। ईश्वर-भक्ति और माता-पिताके प्रति आदर बढ़ा। जन-जन मनन, सेवा, पितृभाव और आस्थामें क्रियाशील हो उठा।

इस आस्था और पितृभक्तिके कारण वायु और वर्षा यथासमय गिरने लगीं। पञ्चधान्योंका बाहुल्य हुआ। प्रजामें कोई रोग न रहा। जम्बुद्वीपके सब लोग सम्पन्न हो गये।'

एशियाके उत्तरतम शिबिर देश (साइबेरिया) के बुर्यात् प्रदेशमें जहाँ हिमका साम्राज्य है, मोंगोलोंके आभ्यन्तर और बाह्य भागोंमें, और रूसकी महानदी वोल्गाके तटपर रहनेवाले काल्पुकोंमें भी भगवान् रामका चरित सुनाया जाता रहा। सम्राट् कुब्लइ खांके गुरु साचा पण्डित आनन्दध्वज (११८२-१२५१) ने 'एर्देनि-यिन् साङ् सुबाशिदि' लिखी। इसमें 'एर्देनि' रत्नका और 'सुबाशिदि' सुभाषितका मोंगोल रूप है। इसका पूर्ण-संस्कृत नाम 'सुभाषितरत्ननिधि' है। इसपर रिन्छेन्पा-ल्साङ्पो (रत्नश्रीभद्र) की टीका है, जिसमें रामायणका सारांश मिलता है। इसमें कहा गया है कि लङ्काधिपति रावण जनहितसे विमुख होनेके कारण नाशको प्राप्त हुआ। कथाका दृष्टान्तोद्देश है—

ओलान्-दुर् आख बोलुग्सान् येखे खुमुन् देमि आलिया नाग़ादुग्बा। ओरुथु आमुर् सानुरवुबा इद्गेन् ओग्दागान् दुर् नेङ् उलु शिनुग्थुगाइ। ओल्ज गुसेल्-दुर् नेङ् येसे शिनुग्सेन्-उ गेम्-इयेर।

ओरिदु मान्गोस्-उन् निगेन् ख़ाग़ान् लंगा-दुर् आलाग्दाग्सान्।

अर्थात् जनताके नेताओं, महापुरुषोंको व्यर्थ आमोद-प्रमोदमें अथवा पूर्ण लम्पटतामें लिप्त नहीं होना चाहिये। लोभ, काम आदिमें अतिलीन होनेके दोषसे प्राचीन कालमें राक्षसराज लङ्कामें मारा गया। 'रामन् खागान्' अथवा' राजा राम' की कथा शतियोंसे मोंगोलोंकी दूर-दूर तक फैली जातियोंको, शिविरके अस्थिवेधी शीतमें और गोबी मरुस्थलकी अग्निवर्षिणी ऊष्मामें, मनोरञ्जनके साथ-साथ नैतिक शिक्षणका साधन रही है। 'गेर्' अर्थात् कलामय गोल तम्बू रूपी घरके मध्यमें सुलगती हुई आगके चारों ओर तापते हुए परिवारमें मोंगोल बालक—कहीं बहुत दूर स्थित, अनजानी, पर पुण्यमयी, भारत-भूमिके 'रामन् खागान्' की कहानी सुनता है जो उसके लिये नये भावसे भर उठती है।

हमारे दक्षिण-पूर्वमें प्राचीन मन्दिरोंकी भूमि कम्बुज है, जिसकी स्थापना कम्बु स्वायम्भुवने धूमिल अतीतमें की थी। इसकी राजधानी नोम्पेन्में, जिसकी बिरुदावली 'क्रोङ् चतुर्मुख मंगल सकल कम्बुजाधिपति श्रेष्ठ परम इन्द्रप्रस्थपुरी राष्ट्रसीमा महानागर' है। आज भी 'अप्सरा'-नृत्य अभिनीत होते हैं। संस्कृतके नौ हजार शिलालेख कम्बुजके प्राचीन गौरवके साक्षी हैं। त्रिशूल जिसका राजचिह्न है, संस्कृत और पालिके शब्दोंसे अभिप्लुत जिसकी भाषा है, वहाँ आंकोरके विराट् वास्तुकलापमें बारहवीं शतीके सम्राट् सूर्यवर्मन् द्वितीयके कालके रामायण और महाभारतके दृश्य अंकित हैं। आज भी कम्बुज राजभवनके नृत्या-भिनयके कथानक प्रायः रामायणसे हैं। 'रामकीर्ति' शीर्षकसे रामचरित कम्बुजदेशमें साहित्यिक रूपमें उपलब्ध है। ऊर्जस्विनी काव्यमयी भाषामें बद्ध यह गद्यग्रन्थ कहीं-कहीं पर वाक्यामृतसे आप्लावित हो उठता है। जब भरतजी रामचन्द्रजीके आश्रमके पास पहुँचे तब वे और सुव्रत् (शत्रुघ्न) सेनाओंको छोड़ अकेले ही अग्रजके पास गये। राम अश्रुनयन थे। भरत, शत्रुघ्न उनके चरणोंमें मूर्छित गिर पड़े। रामचन्द्र-जीने उनको उठाया, उपचार किया और समाश्वासन दिया। सुध आते ही दोनों रामचन्द्रजीके चरणोंमें शीर्ष दे रो पड़े।

अे स्न्जु गित स्मान जा प्रास निरास रूप रतन व्रः रामा नारायण राज रिंङ कृन्द्वा काला किते द्रङ धरणी। अेभव्न प्रां प्रकार क्रौ भव्न मव्य नौ चक्खिन्द्रीय म्नैक स्न्जु सोतप्रिसप्रत्नी पान यल व्रः भक्त निर्मल। भव्न मवग नासोतिन्द्रीयसोत छल स्रोतवेक विज्ञाण स्कळ

सीता—धरणीदेवीकी गोदमें

[पृष्ठ १११

स्व ब्रः सूर मधुरसा । भवृत्र मवृथ नाघानिन्द्रीय आचिन्त्रौत्रकाल नासिक स्रोतगन्धा धुंसुगन्ध सुमाला । भवृत्र मवृथ ना अंग ईन्द्रीय जिवहिन्द्रीय जिव्हा अण्टाताटाल मुखा पान स्नेह स्नअङ पन्दूल स्लौ । भव्त्र मवृथ नाकायिन्द्रीयाचिण्ण वणासय ख्लवृनख्नु ख्नुंपान फूसबनौ ब्रः पाद् प्रसिर त्रिसेल सान्त ।

'हमने सोचा कि हमारे प्रिय राम नारायणराज हमसे छिन गये । अहो ! हम पञ्चऋद्धि-सम्पन्न हैं । पहली (ऋद्धि); चक्षुरिन्द्रियसे हम प्रभुको देख रहे हैं । दूसरी, श्रोत्रेन्द्रियसे हम मधुररस स्वर सुन रहे हैं । तीसरी, घ्राणेन्द्रियसे सुगन्ध सुमालाका अनुभव कर रहे हैं । चौथी, जिह्वेन्द्रियसे हम आपके प्रश्नोंका उत्तर दे सके हैं । पाँचवीं, कायेन्द्रियसे हम आपके दिव्य चरणोंका स्पर्श कर सके हैं ।'

कम्बुजसे आगे द्वीपान्तर (इण्डोनीसिया) में भी रामायणका प्रसार हुआ । नवीं शताब्दीमें प्राम्बाननके शैव मन्दिरमें रामायणका उत्किरण हुआ । इण्डोनीसियाकी तत्कालीन 'कवि' भाषामें योगीश्वरने मधुर, अलंकृत वाणीमें रामायणकी रचना की और इण्डोनीसियाके साहित्यमें भी रामायण ही 'आदिकाव्य' बना । इसका रचनाकाल ११वीं शतीके आस-पास है । इसमें संस्कृतिके रजनी, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, पुष्पिताग्रा, मालिनी, तुरगगति, वसन्ततिलका, शिखरिणी, मत्तमयूर आदि छन्द पाये जाते हैं । कवि योगीश्वरके शब्दोंमें रामचन्द्रजीका भरतको उपदेश सुनिये । रामचन्द्रजीने भरतको लौटनेको कहा; परंतु भरतने अपनी गुणहीनता और रामचन्द्रजीके गङ्गाके समान अगणित अप्रतिम गुणोंका उल्लेख करते हुए आग्रह किया कि वे लौटें और रामचन्द्रजीने भरतको प्रेरित किया कि वे जन-हितके लिये लौटें—

> दृदि सुमहुर् इका सं रामभद्रासि मस्वी ।
> मुलिह अत कितान्लॅन् क्ष यंयोध्या तमोलः ।
> यदिन् अलमँह सेवन् पादुकांक्वीकि रक्व ॥
> (३ । ५२

तिसपर भी रामचन्द्रने बारंबार आग्रह किया—'उ तुम लौट जाओ और अयोध्यामें रहो । यदि (राज्यद्व जन-) सेवा करनेमें संकोच हो तो मेरी पादुकाएँ जाओ, जो राज्य करेंगी ।'

> शील रह्यु रक्षन्, रागद्वेष हिलङ्कॅन् ।
> किम्बुरु य त होलन्, शून्याम्बक्त लवन् अवक् ॥
> न्याङ् त्रिनय गॅगॉन् आसिं सोलः किनलुलुतन् ।
> ल्वङ्‌भिमन सम्पत्तन्तॅकं प्रभु मङलिः ॥
> (३ । ५९

'सुशीलकी रक्षा करो, रागद्वेष छोड़ दो, नष्ट करो, मन और शरीरको इनसे शून्य करो । प्रकार सब लुभानेवाले विषयोंका परिवर्जन (विन करो । मेरे अनुज ! बहुत अभिमानी प्रभुका पतन हो जाता है ।'

> गॉङ् हॅकांर य त हिलन् । निन्दा तन् गवयाकॅन ।
> तं जन्मासुहर वॅक्स । येक प्रश्रय सुमुख ॥
> (३ । ६१)

'अत्यधिक अहंकारसे बचना चाहिये । निन्दा नहीं करनी चाहिये । कुलीन जन्मका मद नहीं होना चाहिये । हे सुमुख ! यही प्रश्रय है ।'

> निहन्त गवयॅन्त नित्य मङॅमित् प्रजामण्डल ।
> विहार पद्‌युन्त पहींङन् उमः भटारामॅङ्कन् ॥
> हवन् पथनि पन्चुरन् तलग सेतु तम्बक् तमन् ।
> पॅकॅन् ल्वतन् आसिं सकह्‌युननिकं प्रजा यद् गवे ॥
> (३ । ७०)

'इस प्रकार तुम नित्य प्रजामण्डलकी रक्षा करते हुए आचरण करना । विहार, मन्दिर, भटारके देवालय, मार्ग, धर्मशाला, निर्झर, तड़ाग, सेतु, मीनालय, उद्यान, मंडियाँ, पुल आदि जो भी प्रजा-रञ्जनके साधन हैं, उन सबका संधारण करना ।'

इस प्रकार इण्डोनीसियाके रामायण ककविन्में

२४ श्लोकोंमें रामचन्द्रजीने भरतको प्रकृति-रञ्जक राजाके धर्मका पालन करनेका उपदेश दिया। भरतजी अयोध्या लौटे और भक्तिपूर्वक राज्यकी रक्षामें निरत रहे—'भरत सिर तमोल: भक्ति मंराक्ष राज्य।'

भगवान् रामका आदर्श चरित भारतीय संस्कृतिके साथ-साथ विचरण करता हुआ एशियाके मानवकी साहित्यिक समृद्धिका कारण और उसकी प्रबुद्ध चेतनाका वरेण्य प्रतीक रहा है।

राम-राज्य

बहुत चर्चा होती है—'राम-राज्य' की। रामराज्यकी स्थापनाकी बात भी परम्परासे चली आ रही है। प्रशासनका परम आदर्श यह 'राम-राज्य' क्या है? कैसा होता है!

धर्म एवं ईश्वरभक्ति—ये रामराज्यके प्राण हैं। शासनकी सुव्यवस्था, प्रजाकी सुखमयता और सम्पन्नता, अनुशासन, सदाचार—ये राम-राज्यके शरीर हैं। निष्प्राण—मुर्दा शरीर टिकता नहीं—सड़ जाता है। दुर्गन्ध देता है। लोगोंको भी रोगी करता है। प्राणकी उपेक्षा करके जो लोग केवल 'राम-राज्य'का शरीर—ढाँचामात्र चाहते हैं, परमात्मा उन्हें सद्बुद्धि दें।

रामराज्यके स्वरूपका वर्णन अध्यात्मरामायणमें सूत्र-रूपसे तथा आनन्दरामायण एवं श्रीरामचरितमानसमें विस्तृत रूपसे है।

राघवे शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहाः॥
जना धर्मपराः सर्वे पतिभक्तिपराः स्त्रियः।
नापश्यत् पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवे॥

(अध्यात्मरामायण, उत्तर० ४। २१-२२)

'त्रिलोकीनाथ लक्ष्मीपति भगवान् रामके शासनकालमें पृथिवी धन-धान्यसे पूर्ण और वृक्ष-फलादिसे सम्पन्न थे। श्रीरघुनाथजीके राज्यमें समस्त पुरुष धर्मपरायण थे, स्त्रियाँ पति-सेवामें तत्पर रहती थीं और किसीको भी अपने पुत्रका मरण नहीं देखना पड़ता था।'

एकपत्नीव्रतो रामो राजर्षिः सर्वदा शुचिः।
गृहमेधीयमखिलमाचरन् शिक्षयन् जनान्॥

'राजर्षि भगवान् राम एकपत्नीव्रतका पालन करनेवाले थे। वे पवित्र-चरित्र रामजी लोगोंको शिक्षा देनेके लिये ही गृहस्थाश्रमके समस्त धर्मोंका पालन करते रहे।'

राघवे शासति भुवं लोकनाथे रमापतौ।
वसुधा सस्यसम्पन्ना फलवन्तश्च भूरुहाः॥
जनाः स्वधर्मनिरताः पतिभक्तिपराः स्त्रियः।
नापश्यत् पुत्रमरणं कश्चिद्राजनि राघवे॥

(आनन्दरामायण, सारकाण्ड १९६-१९७)

'श्रीसीतानाथ सर्वलोकेश्वर श्रीरामके पृथ्वीका शासक होनेपर पृथ्वी अन्नसे पूर्ण रहती थी। सभी वृक्ष भरपूर फलते थे। सभी मनुष्य धर्माचरणमें लगे रहते। सब स्त्रियाँ पतिभक्ता थीं। श्रीरामके राजा रहते किसीको अपने पुत्रकी मृत्यु नहीं देखनी पड़ी अर्थात् अकाल-मृत्यु नहीं होती थी।'

॥ श्रीरामदास उवाच ॥

रामराज्ये सदानन्दः सर्वानासीज्जनान् भुवि।
नासीत् कुत्रापि कलहश्चौर्यं निन्दाभयं तदा॥
राज्यमासीदसापत्नं समृद्धबलवाहनम्।
ऋषिभिर्हृष्टपुष्टैश्च रम्यं हाटकभूषणैः॥
संजुष्टमिष्टापूर्तानां धर्माणां नित्यकर्तृभिः।
सदा सम्पन्नशस्यं च सुचिरं क्षेत्रसंकुलम्॥
सुदेशं सुप्रजं सुस्थं सुतृणं बहुगोधनम्।
देवतायतनानां च राजिभिः परिराजितम्॥
सुयूपा यत्र वै ग्रामाः सुतवित्तर्द्धिराजिताः।
सुपुष्पकृत्रिमोद्यानाः सुसदाफलपादपाः॥
सुपद्मानीककासारा राजन्ते यत्र भूमयः।
सदम्भा निम्नगाराजिर्यत्र सन्ति न मानवाः॥

श्रीरामदास बोले—'शिष्य! रामचन्द्रजीके राज्यमें संसारके सब लोगोंको सदा आनन्द रहता था। उस समय न कहीं चोरी होती, न लड़ाई-झगड़ा होता,

न कोई किसीकी निन्दा करता और न कोई किसीसे डरता था। राज्य भी उस समय शत्रुओंसे रहित और विविध प्रकारके वाहन तथा सेनासे परिपूर्ण था। रामराज्यमें प्रजाजन हृष्ट-पुष्ट, ज्ञानी और सोने-चाँदीके गहनोंसे लदे रहते थे। इष्ट-आपूर्त आदि धार्मिक कृत्य होते रहते थे और सारे खेत धान्यसे परिपूर्ण रहा करते थे। भाव यह है कि उस समय समस्त देश सुन्दर था, प्रजा अच्छी थी और रहन-सहन उत्तम था। गौओंके चरनेको सुन्दर घास उपजती थी। गोधनकी अधिकता थी। सारा देश देवालयोंसे भरा पड़ा था। उस राज्यके सब गाँवोंमें यज्ञके सुन्दर यूप गड़े हुए थे। प्रजाके सब लोग धन-धान्य एवं पुत्र-पौत्रादिसे परिपूर्ण रहते थे और अच्छे-अच्छे फूलों तथा फल देनेवाले कृत्रिम बगीचोंसे सारा राज्य भरा रहता था। अच्छे-अच्छे कमलके फूलोंसे भरे कितने ही सरोवर थे और अहंकारके साथ घनघोर हाहाकार मचाकर बहनेवाली कितनी ही नदियाँ राज्यकी भूमिपर बह रही थीं। ऐसे ही कुछ स्थान बचते थे, जहाँ कि मनुष्योंका निवास नहीं था। बाकी सारी पृथ्वी मनुष्योंसे भरी थी।'

कुलान्येव कुलीनानि न चान्यायधनानि च।
विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्॥
नद्यः कुटिलगामिन्यो न यत्र विषये प्रजाः।
तमोयुक्ताः क्षपा यत्र बहुलेषु न मानवाः॥
रजोयुजः स्त्रियो यत्र न धर्मबहुला नराः।
धनैरनन्धो यत्रास्ति जनो नैव च भोजनम्॥
अनयस्यास्पदं यत्र न च वै राजपूरुषः।
दण्डः परशुकुद्दालवालव्यजनराजिषु॥
आतपत्रेषु नान्यत्र क्वचित् क्रोधापराधजः।
अन्यत्राक्षिकवृन्देभ्यः क्वचिन्न परिदेवनम्॥
आक्षिका एव दृश्यन्ते यत्र पाशकपाणयः।
जाड्यवार्ता जलेष्वेव स्त्रीमध्या एव दुर्बलाः॥
कठोरहृदया यत्र सीमन्तिन्यो न मानवाः।
औषधेष्वेव यत्रास्ति कुष्ठयोगो न मानवे॥
वेधोऽभ्यन्तः सुरत्नेषु शूलं मूर्तिकरेषु वै।
कम्पः सात्त्विकभावोत्थो न भयात् कापि कस्यचित्
संज्वरः कामजो यत्र दारिद्र्यं कलुषस्य च।
दुर्लभत्वं पातकस्य सुकृते न च वस्तुनः॥
इभा एव प्रमत्ता वै युद्धं वीच्योर्जलाशये।
दानहानिर्गजेष्वेव द्रुमेष्वेव हि कण्टकाः॥
जनेष्वेव विहारा वै न कस्यचिदुरःस्थली।
बाणेषु गुणविश्लेषो बन्धोक्तिः पुस्तके दृढा॥
दण्डत्यागः सदैवास्ति यत्र पाशुपते जने।
दण्डवार्ता सदा यत्र कृतसंन्यासकर्मणाम्॥
मार्गणाश्चापकेष्वेव भिक्षुका ब्रह्मचारिणः।
यत्र क्षपणका एव दृश्यन्ते मलधारिणः॥
प्रायो मधुव्रता एव यत्र चञ्चलवृत्तयः।
इत्यादिगुणवद्देशे रामो राज्यं शशास सः॥

'कुलीनता परिवारोंमें ही थी, अन्यायोपार्जित धन कुलीन (पृथ्वीमें गाड़कर नहीं रक्खा जाता) था। उस समय स्त्रियोंमें विभ्रम (विलास) दीखता था, किंतु पण्डितोंमें विभ्रम (मोह) नहीं होता था। उस देशमें कुटिल (टेढ़ी-मेढ़ी) बहनेवाली नदियाँ थीं, किंतु प्रजा कुटिलता (दुष्टता) से सर्वथा बची हुई थी। कृष्णपक्षकी रात्रिमें केवल तम (अन्धकार) रहता था, मनुष्योंमें तम (तमोगुण) नहीं दीखता था अर्थात् सारे मनुष्य उस समय सात्त्विक थे। स्त्रियाँ रजोयुक्त (रजस्वला) होती थीं, पुरुष रजोयुक्त (राजोगुणयुक्त) नहीं थे। उस राज्यके लोग पैसेसे (अन्ध) अंधे नहीं थे, किंतु भोजन अनन्ध (अन्धस्=अन्नसे शून्य) नहीं होता था अर्थात् सब लोग भरपेट अन्न खाते थे। उस समय राज्याधिकारियोंमें अन्याय नहीं दीखता था। दण्ड केवल कुल्हाड़ी, कुदाल, छातों तथा चँवरहीमें दीखता था। क्रोध एवं अपराधके कारण दण्डप्रयोग नहीं होता था। परिदेवन (जुआ) केवल चौपड़ खेलनेवालोंमें ही होता था। रामराज्यकी प्रजामें परिदेवन (शोक) नहीं

दीखता था। केवल चौपड़ खेलनेवालोंके हाथमें पाश (पासा) रहता था, प्रजाके किसी मनुष्यको पाश (फाँसी या फंदा) मिलता नहीं देखा गया। जडता (ठंढक) की बात केवल जलमें रहती थी। किसी मनुष्यमें जडता (मूर्खता) नहीं थी। केवल स्त्रियोंकी कमरमें क्षीणता रहती थी, मनुष्योंमें नहीं। कठोरता स्त्रियोंके स्तनोंमें रहती थी, पुरुषोंके (व्यवहार) में नहीं। केवल औषधोंमें कुष्ठ (ओषधि-विशेष) का योग दिखता था, किसी मनुष्यमें कुष्ठरोग नहीं था। वेध (बींधना) केवल रत्नोंमें पाया जाता था (बाण आदिके द्वारा नहीं)। शूल (त्रिशूल) केवल (भैरव आदि) देव-मूर्तियोंके हाथमें दीखता था, शूलीपर किसीको नहीं चढ़ाया जाता था, न किसीको उदरशूल आदि रोग होता था। सात्त्विक भावके उदय होनेपर लोगोंको कम्प होता था—भयसे नहीं। ज्वर केवल कामजन्य होता था, ज्वररूप व्याधि कहीं दिखायी नहीं देती थी। दरिद्रता (अभाव) केवल पापकी थी। पुण्यकी बहुलताके कारण दुर्लभता पातककी थी और लोगोंको कोई वस्तु दुर्लभ—अप्राप्य नहीं थी। मतवाले हाथी होते थे, मनुष्य नहीं और युद्ध जलकी लहरोंमें ही देखा जाता था। दान-हानि (मदके प्रवाहका रुक जाना) केवल हाथियोंमें थी, दाताओंमें नहीं। वृक्षोंमें ही कण्टक (काँटे) रहते थे, शत्रुरूप कण्टक कहीं नहीं था। मनुष्योंमें विहार होता था, किंतु किसीकी उरःस्थली (छाती) ऐसी नहीं देखी गयी, जो विहार (हारसे रहित) हो। केवल बाणोंमें गुणविश्लेष (प्रत्यञ्चाका वियोग) था, मनुष्योंमें गुणोंकी त्रुटि नहीं थी। पुरुषोंमें दृढबन्धोक्ति (कठिन बन्धनकी बातें) का नामतक नहीं था केवल पुस्तकोंके वेष्टनको दृढ़तासे बाँधा जाता था। शिवभक्तोंके लिये केवल दण्डत्याग किया जाता था, यानी उनको दण्ड नहीं दिया जाता था। दण्डरूपमें त्याग (जुर्माना) किसीको नहीं देना पड़ता था। केवल संन्यासियोंमें दण्ड-वार्ता (दण्डसम्बन्धी बातचीत) होती थी, और कहीं नहीं। मार्गण (बाण) केवल धनुषपर रहते थे, प्रजामें कोई मार्गण (भिखारी) नहीं था। भिक्षुक केवल ब्रह्मचारी थे। केवल क्षपणक (साधु) लोग शरीरपर मैल चढ़ाये रखते थे। प्रायः भौंरोंमें चञ्चलता दीखती थी, पुरुषोंमें नहीं। इस प्रकारके गुणवान् देशमें रामचन्द्रजी राज्य करते थे।'

धर्मेण राजा धर्मज्ञः सीतारामः प्रतापवान्।
चकार राज्यं निर्द्वन्द्वमयोध्यायां सुनिश्चलम्॥
विधाय राजधानीं तां विस्तृतां परिखान्विताम्।
एधाश्चक्रे महाबुद्धिः प्रजा धर्मेण पालयन्॥
ततताप सूर्य इव स दुर्हृदां हृदि नेत्रयोः।
सोमवत् सुहृदामासीन्मानसेषु स्वकेष्वपि॥
अखण्डमाखण्डलवत् कोदण्डं कलयन् रणे।
पलायमानैरालोकि शत्रुसैन्यबलाहकैः॥
स धर्मराजवद् राजा धर्माधर्मविवेचकः।
अदण्ड्येऽदण्डयन् रामो दण्ड्यांश्च परिदण्डयन्॥
पाशीव पाशयाञ्चक्रे वैरिचक्रं विदूरगः।
सोऽभूत् पुण्यजनाधीशो रिपुराक्षसवर्द्धनः॥
जगत्प्राणसमानश्च जगत्त्राणनतत्परः।
राजराजः स एवाभूत् सर्वेषां धनदः सताम्॥
स एव रुद्रमूर्तिश्च प्रैक्षिष्ट रिपुभीषणे।
विश्वेदेवास्ततस्तं तु स्तुवन्ति च भजन्ति च॥
असाध्यः स हि साध्यानां वसुभ्यो वसुनाधिकः
ग्रहाणां विग्रहधरो दस्रतोऽजस्ररूपधृक्॥
मरुद्गणानगणयंस्तु पितांस्तोषयन् गुणैः।
सर्वविद्याधरो यस्तु सर्वविद्याधरेष्वपि॥
अगर्वानेव गन्धर्वान् यश्चक्रे निजगीतिभिः।
ररक्षुर्यक्षरक्षांसि तद्दुर्गं स्वर्गसोदरम्॥
नागा नागांस्तिरश्चक्रुस्तस्य नागे बलीयसः।
दनुजा मनुजाकारं कृत्वा तं तु सिषेविरे॥
जाता गुह्यचरा यस्य गुह्यकाः परितो नृपु।
संसेविष्यामहे राजन् सुरास्त्वां स्वस्वभर्वैः॥
वयं यतस्त्वद्विषये सुरावासोऽपि दुर्लभः।
इत्युक्त्वा रामचन्द्रं ते मघवाद्याः सिषेविरे॥

अशिक्षयत् क्षितिपतेरिह यस्य तुरङ्गमान्।
आशुगश्चाशुगामित्वं पावमाने पथि स्थितः ॥
अगजान् यस्य तु गजान्नगवर्ष्मसुवर्ष्मणः।
अजस्रदानिनो दृष्ट्वाभवन्नन्येऽपि दानिनः ॥

'धर्मका तत्त्व जाननेवाले प्रतापशाली श्रीसीतासहित रामचन्द्रजीने अविचल एवं निर्द्वन्द्वभावसे धर्मपूर्वक राज्य किया। उन्होंने अनेक प्रकारकी खाइयोंसे सम्पन्न विशाल अयोध्याको अपनी राजधानी बनाया और धर्मपूर्वक प्रजापालन करते हुए प्रजाकी भलीभाँति उन्नति की। वे शत्रुओंके हृदय तथा नेत्रोंमें सदा सूर्यकी भाँति तपते थे और स्वजनों एवं मित्रोंके हृदयमें चन्द्रमाकी तरह ठंढक पहुँचाते थे। भागते हुए शत्रुरूपी मेघोंके द्वारा वे इन्द्रके समान समराङ्गणमें अपना धनुष प्रयोग करते हुए देखे जाते थे। महाराज रामचन्द्रजी धर्मराजकी तरह भलीभाँति धर्म-अधर्मकी विवेचना करके काम करते थे। जो दण्डके योग्य नहीं होता था, उसे दण्ड नहीं देते थे और जो दण्डके योग्य होता, उसे अवश्य दण्ड देते थे। शत्रुओंके समूहको यमराजकी तरह वे दूर देशोंमें जाकर बाँध लाते थे। रिपुरूपी राक्षसोंका भी उपकार करके रामचन्द्रजी संसारके सब महात्माओंसे ऊँचे दर्जेपर पहुँच चुके थे। जगत्की रक्षामें तत्पर रामचन्द्रजी जगत्के प्राण समान थे। सभी अच्छे मनुष्यों-को धनकी सहायता देकर वे स्वयं राजराज (कुबेर) हो रहे थे। शत्रुओंको भय दिखाते समय वे रुद्र रूपमें देखे जाते थे। यही कारण था कि सब विश्वेदेव उनकी स्तुति और भजन करते थे। वे साध्य (द्वादश देवता-विशेष) के लिये भी असाध्य थे और वसु (धन) की अधिकतासे अष्ट वसुओंसे भी श्रेष्ठ थे। नवग्रहोंके साक्षात् स्वरूप थे और सदा अश्विनीकुमारसे भी बढ़कर सुन्दर रूप धारण किये रहते थे। वे अपने असाधारण पराक्रमके कारण मरुद्गणोंको भी कुछ नहीं गिनते थे एवं सद्गुणोंसे भी तुषितनामक देवताओंको प्रसन्न कर चुके थे। सम्पूर्ण विद्याओंको धारण करनेके कारण वे समस्त विद्या-धरोंके शिरोमणि थे और अपने गीतके माधुर्यसे उन्होंने गन्धर्वोंका भी गर्व खर्व कर दिया था। संसारभरके यक्ष-राक्षस स्वर्गके समान कमनीय रामके किलेकी रक्षा करते हैं। उनके हाथी स्वर्गलोकके हाथियोंका भी पराभव कर देते थे। सारी दुनियाके दानव मनुष्यका वेष बना-बनाकर रामकी सेवा करते थे। गुह्यक (यक्ष) उनके राज्यके मनुष्योंमें घुसकर चारों ओर गुप्तचरोंका काम करते थे। इन्द्रादि देवता रामके समीप जाकर कहते—राजन्! हमारे पास जो कुछ वैभव है, वह सब लगाकर हम आपकी भलीभाँति सेवा-शुश्रूषा करेंगे। इस संसारमें श्रीरामके घोड़े वायुदेवताको जल्दी चलना सिखाते थे। उनके बड़े-बड़े पर्वतके समान ऊँचे हाथियोंकी अजस्र दानिता (सतत मदप्रवाह) को देखकर संसारके कंजूस मनुष्य भी दानी बन गये थे।'

सदोऽजिरे च बोद्धारो योद्धारश्च रणाजिरे।
न शास्त्रैर्विजिताः केचिन्-
न शस्त्रैः केनचित् क्वचित् ॥
न नेत्रविषये जाता विषये यस्य भूभृतः।
सदा नष्टपदा द्वेष्यास्तथा नष्टापदाः प्रजाः ॥
कलावानेक एवास्ति त्रिदिवेऽपि दिवौकसाम्।
तस्य क्षोणीभृतः क्षोण्यां जनाः सर्वे कलालयाः ॥
एक एव हि कामोऽस्ति स्वर्गे सोऽप्यङ्गवर्जितः।
साङ्गोपाङ्गाश्च सर्वेषां सर्वे कामा हि तद्भुवि ॥
तस्योपर्वतनेऽप्येको न श्रुतो गोत्रभित् क्वचित्।
स्वर्गे स्वर्गसदामीशो गोत्रभित् परिकीर्तितः ॥
क्षयी च तस्य विषये कोऽप्याकर्णि न केनचित्।
त्रिविष्टपे क्षपानाथः पक्षे पक्षे क्षयिष्यते ॥
नाके नवग्रहाः सन्ति देशास्तस्याऽनवग्रहाः।
हिरण्यगर्भः स्वर्लोकेष्वेक एव प्रकाशते ॥

हिरण्यगर्भाः सर्वेषां तत्पौराणामिहालयाः ।
सप्ताश्व एकः स्वर्लोके नितरां भासतेंऽशुमान् ॥
सदंशुकाः प्रतिगृहं बह्वश्वास्तत्पुरौकसः ।
सदप्सरा यथा स्वर्भूस्तत्पुर्यपि सदप्सराः ॥
एकैव पद्मा वैकुण्ठे गीयते विष्णुवल्लभा ।
तत्पौराणां गृहेष्वासन्छतपद्माः पृथक् पृथक् ॥
अनीतयश्चलद्भामा न राजपुरुषाः क्वचित् ।
गृहे गृहेऽत्र धनदा नाक एकोऽलकापतिः ॥
एवं रामो महान् श्रेष्ठः शौटीर्यगुणशोभनः ।
सौभाग्यशोभिरूपाढ्यः शौर्यौदार्यगुणान्वितः॥
विजितानेकसमरः श्रीसमर्पितमार्गणः ।

'जिनकी राजसभाके बुद्धिमान् पण्डित और रणाङ्गणमें सेनाके बड़े-बड़े योद्धा शास्त्र तथा शस्त्रसे किसीके द्वारा कभी पराजित होते हुए नहीं देखे गये, उन रामके राज्यमें जैसे शत्रु कहीं नहीं दीखता था, वैसे ही प्रजामें कभी किसी प्रकारकी विपत्ति भी नहीं दिखायी देती थी। देवताओंके स्वर्गमें केवल एक कलावान् था, किंतु रामके राज्यमें सभी मनुष्य कलाके भंडार हो रहे थे। स्वर्गमें केवल एक कामदेव था, वह भी अनङ्ग (अर्थात् बिना शरीरका)। किंतु रामराज्यमें सभी लोगोंके काम साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होते थे। रामके राज्यभरमें खोजनेपर भी कोई गोत्रभित् (कुलमें भेद—फूट डालनेवाला) मनुष्य नहीं मिल सकता था, किंतु स्वर्गमें देवताओंके राजा (इन्द्र) स्वयं गोत्रभित् (पर्वतोंका भेदन करनेवाले) हैं। रामराज्यमें कोई क्षयी (क्षयरोगी) नहीं सुना गया, किंतु स्वर्गमें चन्द्रमा पक्ष-पक्षमें क्षय होते रहते हैं। स्वर्गमें सर्वदा नौ ग्रह रहते हैं, किंतु रामका राज्य सबके लिये अनवग्रह (अदम्य) था। (सत्यलोक नामक सातवें) स्वर्गमें एक हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) रहते हैं, किंतु रामराज्यके प्रत्येक घर हिरण्यगर्भ थे अर्थात् उनमें सुवर्णराशि भरी हुई थी। स्वर्गमें केवल एक सप्ताश्व और अंशुमान् (सूर्य) हैं, किंतु रामके राज्यमें प्रत्येक व्यक्ति सदंशुक (अच्छे-कपड़े पहननेवाले) और सातकी कौन कहे, कितने ही घोड़े बाँधनेवाले लोग विद्यमान थे। जिस तरह स्वर्गमें अच्छी-अच्छी अप्सराएँ हैं, उसी तरह रामके राज्यमें भी सदप्सर (सुन्दर जलवाले सरोवर) थे। ऐसा सुना जाता है कि स्वर्ग (वैकुण्ठ) में केवल एक विष्णुकी प्रिया पद्मा (लक्ष्मी) हैं, किंतु रामके राज्यमें सैकड़ोंसे भी अधिक पद्मपति (पद्मसंख्यक रुपये रखनेवाले) लोग थे। रामके राज्यमें कभी किसी प्रकारकी ईतिका भय नहीं देखा गया और ऐसे राजपुरुष नहीं थे, जो कान्तिविहीन अथवा अनीतिमान् रहे हों। स्वर्गमें केवल एक कुबेर हैं, किंतु रामके राज्यमें घर-घरमें धनद दिखायी देते थे। इस तरह रामचन्द्र औदार्य-गुणसे युक्त और सर्वश्रेष्ठ थे। रामचन्द्र सौभाग्य, रूप, शौर्य्य, औदार्य आदि गुणोंसे सम्पन्न थे। अनेक युद्धोंमें उन्होंने विजय पायी थी और संसारके भिक्षुओंको उन्होंने *श्रीसम्पन्न बना दिया था।'*

सीतारञ्जितवामाङ्ग उग्रः परपुरंजयः ॥
अनेकगुणसम्पूर्णः पूर्णचन्द्रनिभद्युतिः ।
सततावभृथक्लिन्नमूर्धजः क्षितिपर्षभः ॥
प्रजापालनसम्पन्नः कोशप्रीणितभूसुरः ।
पार्वतीकान्तचरणयुगलध्यानतत्परः ॥
विश्वेश्वरकथालापपरिक्षिप्तदिनक्षयः ।
सीतासंक्षालितपदस्तत्क्रीडापरितोषितः ॥
शशास राज्यं धर्मेण बन्धुपुत्रसमन्वितः ।
रामे शासति साकेतपुर्यां राज्यं सुखेन वै ॥
हृष्टपुष्टाः प्रजाः सर्वाः फलवन्तोऽभवन्नगाः ।
आसन् सदा सुकुसुमैर्विनम्राः सौख्यदा नृणाम्॥
एकपत्नीव्रताः सर्वे पुमांसस्तस्य मण्डले ।
नारीषु काचिन्नैवासीदपतिव्रतधर्मिणी ॥
अनधीतो न विप्रोऽभून्न शूरो नैव बाहुजः ।
वैश्योऽनभिज्ञो नैवासीदर्थोपार्जनकर्मसु ॥
अनन्यवृत्तयः शूद्रा द्विजशुश्रूषणं प्रति ।
तस्य राष्ट्रे समभवन् सीतारामस्य भूपतेः ॥

अविप्लुतब्रह्मचर्यास्तद्राष्ट्रे ब्रह्मचारिणः ।
नित्यं गुरुकुलाधीना वेदग्रहणतत्पराः ॥
अन्येऽनुलोमजन्मानः प्रतिलोमभवा अपि ।
स्वपारम्पर्यतो द्रष्टुं मनाग्वर्त्म न तत्यजुः ॥

'उनके वामभागमें सीताजी बैठी रहती थीं । इस कारण उनकी शोभा और भी बढ़ जाती थी । वे सबसे उग्र तथा शत्रुओंके नगरको विजय करनेमें सिद्धहस्त हो चुके थे । अनेक गुणोंसे वे पूर्ण थे और पूर्ण चन्द्रमाके समान उनकी कान्ति थी । सर्वदा अवभृथ (यज्ञान्त) स्नान करनेसे उनके केश भींगे रहते थे । वे सब राजाओंमें श्रेष्ठ थे । प्रजाका पालन करनेमें वे कुशल थे और खजानेके धनसे ब्राह्मणोंको प्रसन्न रखते थे । वे सदा शिवके युगल चरणोंके ध्यानमें तत्पर रहते थे । सर्वदा शिवजीकी कथाएँ कहते-सुनते दिन-रात बिताते थे । सीता उनके पैर धोया करती थीं और उनके साथ विविध प्रकारकी क्रीड़ाएँ करनेसे राम प्रसन्न रहते थे । उन्होंने भाइयों और पुत्रोंके साथ धर्मयुक्त राज्य किया । रामके शासनकालमें अयोध्याकी प्रजा हृष्ट-पुष्ट रहती थी और वृक्ष फल-फूलसे लदे रहनेके कारण झुके रहते और वे मनुष्योंको सुखी रखते थे । उनके राज्यमें सभी पुरुष एकपत्नीव्रती थे और स्त्रियोंमें भी कोई ऐसी नहीं थी, जो अपने पातिव्रत-धर्मका पालन न करती रही हो । उस समय कोई ऐसा ब्राह्मण नहीं था, जो न पढ़ा हो और कोई क्षत्रिय भी ऐसा नहीं था, जो शूरवीर न हो । कोई ऐसा वैश्य नहीं था, जो धन कमानेकी कलासे अनभिज्ञ हो । उन राजा सीतारामके शासनकालमें राज्यभरके शूद्र और किसी प्रकारकी वृत्ति न करके एकमात्र द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) की सेवामें लगे रहते थे । उनके राज्यमें ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यकी रक्षा करते हुए गुरुकुलमें रहकर वेदाध्ययन करते थे । अनुलोम क्रमसे एवं प्रतिलोम क्रमसे उत्पन्न सभी लोग अपने परम्परागत धर्मका तनिक भी त्याग नहीं करते थे ।'

अनपत्यो न तद्राष्ट्रे धनहीनस्तु कोऽपि न ।
विरुद्धसेवी नो कश्चिदकालमृतिभाङ् न च ॥
न शठा नैव वाचाटा वञ्चका नो न हिंसकाः ।
न पाखण्डा नैव भण्डा न रण्डा नैव शौण्डिकाः ॥
श्रुतिघोषो हि सर्वत्र शास्त्रवादः पदे पदे ।
सर्वत्र सुभगालापा मुदा मङ्गलगीतयः ॥
वीणावेणुप्रवादाश्च मृदङ्गमधुरस्वनाः ।
सोमपानं विनान्यत्र पानगोष्ठी न कर्णगा ॥
मांसाशिनः पुरोडाशं नैवान्यत्र कथंचन ।
न दुरोदरिणो यत्राधर्मिणो न च तस्कराः ॥
पुत्रस्य पित्रोः पदयोः पूजनं दैवपूजनम् ।
उपवासो व्रतं तीर्थं देवताराधनं परम् ॥
नारीणां भर्तृपदयोः स्वर्चनं तद्वचःश्रुतिः ।
समर्चयन्ति सततं निजमग्रजमादरात् ॥
समर्चयन्ति मुदिता भृत्याः स्वामिपदाम्बुजम् ।
हीनवर्णैरग्रवर्णो वर्ण्यते गुणगौरवैः ॥
वरिवस्यन्ति भूयोऽपि त्रिकालं भूमिदेवताः ।
सर्वत्र सर्वे विद्वांसः समर्च्यन्ते मनोरथैः ॥
विद्वद्भिश्च तपोनिष्ठास्तपोनिष्ठैर्जितेन्द्रियाः ।
जितेन्द्रियैर्ज्ञाननिष्ठा ज्ञानिभिः शिवलिङ्गिनः ॥
मन्त्रपूतं महार्हं च विधियुक्तं सुसंस्कृतम् ।
वाडवानां मुखाग्नौ च हूयतेऽहर्निशं हविः ॥
वापीकूपतडागानामारामाणां पदे पदे ।
शुचिभिर्द्रव्यसम्भारैः कर्तारो यत्र भूरिशः ॥

'रामके राज्यमें कोई संतानविहीन तथा निर्धन नहीं था और कोई ऐसा भी नहीं था, जो अपनी मर्यादाके विरुद्ध आचरण करनेवाला हो । उनके राज्यमें कोई अकाल-मृत्युका ग्रास नहीं बन सका । उस समय न कोई शठ, न बकवादी, न वञ्चक, न हिंसक, न पाखण्डी, न भण्ड, न स्त्रीविहीन और न कलार (मद्य बेचनेवाला) ही था । सर्वत्र वेदध्वनि तथा पद-पदपर शास्त्रसम्बन्धी वाद-विवाद सुनायी देता था । चारों ओर अच्छी-अच्छी

दम्भरहित हैं, धर्मपरायण हैं और पुण्यात्मा हैं। पुरुष और स्त्री सभी चतुर और गुणवान् हैं। सभी गुणोंका आदर करनेवाले और पण्डित हैं तथा सभी ज्ञानी हैं। सभी कृतज्ञ (दूसरेके किये हुए उपकारको माननेवाले) हैं, कपट-चतुराई (धूर्तता) किसीमें नहीं है।

राम राज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

[काकभुशुण्डिजी कहते हैं—] 'पक्षिराज गरुड़जी! सुनिये। श्रीरामके राज्यमें जड, चेतन सारे जगत्‌में काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंसे उत्पन्न हुए दुःख किसीको भी नहीं होते (अर्थात् इनके बन्धनमें कोई नहीं है)।

भूमि सप्त सागर मेखला।
एक भूप रघुपति कोसला॥
भुअन अनेक रोम प्रति जासू।
यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी।
यह बरनत हीनता घनेरी॥
सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी।
फिरि एहिं चरित तिन्हहुँ रति मानी॥

'अयोध्यामें श्रीरघुनाथजी सात समुद्रोंकी मेखला (करधनी) वाली पृथ्वीके एकमात्र राजा हैं। जिनके एक-एक रोममें अनेकों ब्रह्माण्ड हैं, उनके लिये सात द्वीपोंकी यह प्रभुता कुछ अधिक नहीं है। बल्कि प्रभुकी उस महिमाको समझ लेनेपर तो यह कहनेमें [कि वे सात समुद्रोंसे घिरी हुई सप्तद्वीपमयी पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् हैं] उनकी बड़ी हीनता होती है। परंतु गरुड़जी! जिन्होंने वह महिमा जान भी ली है, वे भी फिर इस लीलामें बड़ा प्रेम मानते हैं।

सोउ जाने कर फल यह लीला।
कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥
राम राज कर सुख संपदा।
बरनि न सकइ फनीस सारदा॥

'क्योंकि उस महिमाको भी जाननेका फल यह लीला (इस लीलाका अनुभव) ही है, इन्द्रियोंका दमन करनेवाले श्रेष्ठ महामुनि ऐसा कहते हैं। रामराज्यकी सुख-सम्पत्तिका वर्णन शेषजी और सरस्वतीजी भी नहीं कर सकते।

सब उदार सब पर उपकारी।
बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी।
ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

'सभी नर-नारी उदार हैं, सभी परोपकारी हैं और सभी ब्राह्मणोंके चरणोंके सेवक हैं। सभी पुरुषमात्र एकपत्नीव्रती हैं। इसी प्रकार स्त्रियाँ भी मन, वचन और कर्मसे पतिका हित करनेवाली हैं।

दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥

'श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें 'दण्ड' केवल संन्यासियोंके हाथोंमें है और 'भेद' नाचनेवालोंके नृत्यसमाजमें है और 'जीतो' शब्द केवल मनके जीतनेके लिये ही सुनायी पड़ता है (अर्थात् राजनीतिमें शत्रुओंको जीतने तथा चोर-डाकुओं आदिको दमन करनेके लिये साम, दान, दण्ड और भेद—ये चार उपाय किये जाते हैं। रामराज्यमें कोई शत्रु है ही नहीं, इसलिये 'जीतो' शब्द केवल मनके जीतनेके लिये ही कहा जाता है। कोई अपराध करता ही नहीं, इसलिये दण्ड किसीको नहीं होता; 'दण्ड' शब्द केवल संन्यासियोंके हाथमें रहनेवाले दण्डके लिये ही रह गया है। तथा सभी अनुकूल होनेके कारण भेदनीतिकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी, 'भेद' शब्द केवल सुर-तालके भेदके लिये ही कामोंमें आता है।)।

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।
रहहिं एक सँग गज पंचानन॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई।
सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

'वनोंमें वृक्ष सदा फूलते और फलते हैं। हाथी और सिंह [वैर भूलकर] एक साथ रहते हैं। पक्षी और पशु सभीने स्वाभाविक वैर भुलाकर आपसमें प्रेम बढ़ा लिया है।

कूजहिं खग मृग नाना बृंदा।
अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा।
गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥

'पक्षी कूजते (मीठी बोली बोलते) हैं, भाँति-भाँतिके पशुओंके समूह वनमें निर्भय विचरते और आनन्द करते

हैं। शीतल, मन्द, सुगन्धित पवन चलता रहता है। भौंरे पुष्पोंका रस लेकर चलते हुए गुंजार करते जाते हैं।

लता बिटप मागें मधु चवहीं।
मनभावतो धेनु पय स्रवहीं॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी।
त्रेताँ भइ कृतजुग कै करनी॥

'बेलें और वृक्ष माँगनेसे ही मधु (मकरन्द) टपका देते हैं। गौएँ मनचाहा दूध देती हैं। धरती सदा खेतीसे भरी रहती है। त्रेतामें सत्ययुगकी करनी (स्थिति) हो गयी।

प्रगटीं गिरिन्ह बिबिधि मनि खानी।
जगदातमा भूप जग जानी॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी।
सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥

'समस्त जगत्के आत्मा भगवान्को जगत्का राजा जानकर पर्वतोंने अनेक प्रकारकी मणियोंकी खानें प्रकट कर दीं। सब नदियाँ श्रेष्ठ, शीतल, निर्मल और सुखप्रद स्वादिष्ट जल बहाने लगीं।

सागर निज मरजादाँ रहहीं।
डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा।
अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥

'समुद्र अपनी मर्यादामें रहते हैं। वे लहरोंके द्वारा किनारोंपर रत्न डाल देते हैं, जिन्हें मनुष्य पा जाते हैं। सब तालाब कमलोंसे परिपूर्ण हैं। दसों दिशाओंके विभाग (अर्थात् सभी प्रदेश) अत्यन्त प्रसन्न हैं।

बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज।
मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र कें राज॥

'श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें चन्द्रमा अपनी [अमृतमयी] किरणोंसे पृथ्वीको पूर्ण कर देते हैं। सूर्य उतना ही तपते हैं, जितनेकी आवश्यकता होती है और मेघ माँगनेसे [जब जहाँ जितना चाहिये, उतना ही] जल देते हैं।

हरषित रहहिं नगर के लोगा।
करहिं सकल सुर दुर्लभ भोगा॥
अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं।
श्रीरघुबीर चरन रति चहहीं॥

'नगरके लोग हर्षित रहते हैं और सब प्रकारके देवदुर्लभ (देवताओंको भी कठिनतासे प्राप्त होने योग्य) भोग भोगते हैं। वे दिन-रात ब्रह्माजीको मनाते रहते हैं और [उनसे] श्रीरघुवीरके चरणोंमें प्रीति चाहते हैं।

सब कें गृह गृह होहिं पुराना।
राम चरित पावन बिधि नाना॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं।
करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥

'सबके यहाँ घर-घरमें पुराणों और अनेक प्रकारके पवित्र रामचरित्रोंकी कथा होती है। पुरुष और स्त्री सभी श्रीरामचन्द्रजीका गुणगान करते हैं और इस आनन्दमें दिन-रातका बीतना भी नहीं जान पाते।

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥

'जहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्रजी स्वयं राजा होकर विराजमान हैं, उस अवधपुरीके निवासियोंके सुख-सम्पत्तिके समुदायका वर्णन हजारों शेषजी भी नहीं कर सकते।

नारदादि सनकादि मुनीसा।
दरसन लागि कोसलाधीसा॥
दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं।
देखि नगरु बिरागु बिसरावहिं॥

'नारद आदि और सनक आदि मुनीश्वर सब कोसलराज श्रीरामजीके दर्शनके लिये प्रतिदिन अयोध्या आते हैं और उस [दिव्य] नगरको देखकर वैराग्य भुला देते हैं।

जातरूप मनि रचित अटारीं।
नाना रंग रुचिर गच ढारीं॥
पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर।
रचे कँगूरा रंग रंग बर॥

'[दिव्य] स्वर्ण और रत्नोंसे बनी हुई अटारियाँ हैं। उनमें [मणि-रत्नोंकी] अनेक रंगोंकी सुन्दर ढली हुई फर्शें हैं। नगरके चारों ओर अत्यन्त सुन्दर परकोटा बना है, जिसपर सुन्दर रंग-बिरंगे कँगूरे बने हैं।

नव ग्रह निकर अनीक बनाई।
जनु घेरी अमरावति आई॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा।
जो बिलोकि मुनिबर मन नाचा॥

'मानो नवग्रहोंने बड़ी भारी सेना बनाकर अमरावतीको आकर घेर लिया हो। पृथ्वी (सड़कों) पर अनेकों रंगोंके (दिव्य) काँचों (रत्नों) की गच बनायी (ढाली) गयी है, जिसे देखकर श्रेष्ठ मुनियोंके भी मन नाच उठते हैं।

धवल धाम ऊपर नभ चुंबत।
कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं।
गृह गृह प्रति मनि दीप बिराजहिं॥

'उज्ज्वल महल ऊपर आकाशको चूम (छू) रहे हैं। महलोंपरके कलश [अपने दिव्य प्रकाशसे] मानो सूर्य-चन्द्रमाके प्रकाशकी भी निन्दा (तिरस्कार) करते हैं। [महलोंमें] बहुत-सी मणियोंसे रचे हुए झरोखे सुशोभित हैं और घर-घरमें मणियोंके दीपक शोभा पा रहे हैं।

मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरीं बिद्रुम रची।
मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनक मनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि खचे॥

'घरोंमें मणियोंके दीपक शोभा दे रहे हैं। मूँगोंकी बनी हुई देहलियाँ चमक रही हैं। मणियों (रत्नों) के खंभे हैं। मरकतमणियों (पन्नों) से जड़ी हुई सोनेकी दीवारें ऐसी सुन्दर हैं मानो ब्रह्माने खास तौरसे बनायी हों। महल सुन्दर, मनोहर और विशाल हैं। उनमें सुन्दर स्फटिकके आँगन बने हैं। प्रत्येक द्वारपर बहुत-से खरादे हुए हीरोंसे जड़े हुए सोनेके किंवाड़ हैं।

चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।
राम चरित जे निरख मुनि ते मन करहिं चोराइ॥

'घर-घरमें सुन्दर चित्रशालाएँ हैं, जिनमें श्रीरामजीके चरित्र बड़ी सुन्दरताके साथ सँवारकर अङ्कित किये हुए हैं और जिन्हें मुनि देखते हैं, तो वे उनके भी चित्तको चुरा लेते हैं।

सुमन बाटिका सबहिं लगाईं।
बिबिध भाँति करि जतन बनाईं॥
लता ललित बहु जाति सुहाईं।
फूलहिं सदा बसंत कि नाईं॥

'सभी लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारके पुष्पोंकी वाटिकाएँ यत्न करके लगा रक्खी हैं, जिनमें बहुत जातियोंकी सुन्दर और ललित लताएँ सदा वसन्तकी तरह फूलती रहती हैं।

गुंजत मधुकर मुखर मनोहर।
मारुत त्रिबिधि सदा बह सुंदर॥
नाना खग बालकन्हि जिआए।
बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥

'भौंरे मनोहर स्वरसे गुंजार करते हैं। सदा तीनों प्रकारकी सुन्दर वायु बहती रहती है। बालकोंने बहुत-से पक्षी पाल रक्खे हैं, जो मधुर बोली बोलते हैं और उड़नेमें सुन्दर लगते हैं।

मोर हंस सारस पारावत।
भवननि पर सोभा अति पावत॥
जहँ तहँ देखहिं निज परिछाहीं।
बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥

'मोर, हंस, सारस और कबूतर घरोंके ऊपर बड़ी ही शोभा पाते हैं। वे पक्षी [मणियोंकी दीवारोंमें और छतमें] जहाँ-तहाँ अपनी परछाईं देखकर [वहाँ दूसरे पक्षी समझकर] बहुत प्रकारसे मधुर बोली बोलते और नृत्य करते हैं।

सुक सारिका पढ़ावहिं बालक।
कहहु राम रघुपति जनपालक॥
राज दुआर सकल बिधि चारू।
बीथीं चौहट रुचिर बजारू॥

बालक तोता-मैनाको पढ़ाते हैं—"कहो 'राम,' 'रघुपति', 'जनपालक।'" राजद्वार सब प्रकारसे सुन्दर है। गलियाँ, चौराहे और बाजार सभी सुन्दर हैं।

बाजार रुचिर न बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइए॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥

'सुन्दर बाजार है, जो वर्णन करते नहीं बनता; जहाँ वस्तुएँ बिना ही मूल्य मिलती हैं। जहाँ स्वयं लक्ष्मीपति राजा हों, वहाँकी सम्पत्तिका वर्णन कैसे किया जाय। बजाज (कपड़ेका व्यापार करनेवाले), सराफ (रुपये-पैसेका लेन-

देन करनेवाले) आदि वणिक् (व्यापारी) बैठे हुए ऐसे जान पड़ते हैं मानो अनेक कुबेर हों । स्त्री, पुरुष, बच्चे और बूढ़े जो भी हैं, सभी सुखी, सदाचारी और सुन्दर हैं ।

उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर ।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर ॥

'नगरके उत्तर दिशामें सरयूजी बह रही हैं, जिनका जल निर्मल और गहरा है । मनोहर घाट बँधे हुए हैं, किनारेपर जरा भी कीचड़ नहीं है ।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा ।
जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा ॥
पनिघट परम मनोहर नाना ।
तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना ॥

'अलग कुछ दूरीपर वह सुन्दर घाट है, जहाँ घोड़ों र हाथियोंके ठट्ट-के-ठट्ट जल पिया करते हैं । पानी नेके लिये बहुत-से [जनाने] घाट हैं, जो बड़े ही हर हैं । वहाँ पुरुष स्नान नहीं करते ।

राजघाट सब बिधि सुंदर बर ।
मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर ॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर ।
चहुँ दिसि तिन्ह के उपबन सुंदर ॥

'राजघाट सब प्रकारसे सुन्दर और श्रेष्ठ हैं, जहाँ चारों के पुरुष स्नान करते हैं । सरयूजीके किनारे-किनारे ताओंके मन्दिर हैं, जिनके चारों ओर सुन्दर उपवन गीचे) हैं ।

कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी ।
बसहिं ग्यानरत मुनि संन्यासी ॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई ।
बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई ॥

'नदीके किनारे कहीं-कहीं विरक्त और ज्ञानपरायण, [और संन्यासी निवास करते हैं । सरयूजीके किनारे-नारे सुन्दर तुलसीजीके झुंड-के-झुंड बहुत-से वृक्ष मुनियोंने [लगाये हैं ।

पुर सोभा कछु बरनि न जाई ।
बाहेर नगर परम रुचिराई ॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा ।
बन उपबन बापिका तड़ागा ॥

'नगरकी शोभा तो कुछ कही नहीं जाती । नगरके बाहर भी परम सुन्दरता है । श्रीअयोध्यापुरीके दर्शन करते ही सम्पूर्ण पाप भाग जाते हैं । [वहाँ] वन, उपवन, बावलियाँ और तालाब सुशोभित हैं ।

बापीं तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं ।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं ॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं ।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं ॥

'अनुपम बावलियाँ, तालाब और मनोहर तथा विशाल कुएँ शोभा दे रहे हैं, जिनकी सुन्दर [रत्नोंकी] सीढ़ियाँ और निर्मल जल देखकर देवता और मुनितक मोहित हो जाते हैं । [तालाबोंमें] अनेक रंगोंके कमल खिल रहे हैं, अनेकों पक्षी कूज रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं । [परम] रमणीय बगीचे, कोयल आदि पक्षियोंकी [सुन्दर] बोलीसे मानो राह चलनेवालोंको बुला रहे हैं ।

रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ ।
अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ ॥

'स्वयं लक्ष्मीपति भगवान् जहाँ राजा हों, उस नगरका कहीं वर्णन किया जा सकता है । अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ और समस्त सुख-सम्पत्तियाँ अयोध्यामें छा रही हैं ।

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं ।
बैठि परसपर इहइ सिखावहिं ॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि ।
सोभा सील रूप गुन धामहि ॥

''लोग जहाँ-तहाँ श्रीरघुनाथजीके गुण गाते हैं और बैठकर एक दूसरेको यही सीख देते हैं कि 'शरणागतका पालन करनेवाले श्रीरामजीको भजो; शोभा, शील, रूप और गुणोंके धाम श्रीरघुनाथजीको भजो ।'

जलज बिलोचन स्यामल गातहि ।
पलक नयन इव सेवक त्रातहि ॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि ।
संत कंज बन रबि रनधीरहि ॥

'कमलनयन और साँवले शरीरवालेको भजो। पलक जिस प्रकार नेत्रोंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार अपने सेवकोंकी रक्षा करनेवालेको भजो। सुन्दर बाण, धनुष और तरकस धारण करनेवालेको भजो। संतरूपी कमलवनके [खिलानेके] लिये सूर्यरूप रणधीर श्रीरामजीको भजो।

काल कराल ब्याल खगराजहि।
नमत राम अकाम ममता जहि॥
लोभ मोह मृगजूथ किरातहि।
मनसिज करि हरि जन सुखदातहि॥

'कालरूपी भयानक सर्पके भक्षण करनेवाले श्रीरामरूप गरुड़जीको भजो। निष्कामभावसे प्रणाम करते ही ममताका नाश कर देनेवाले श्रीरामजीको भजो। लोभ-मोहरूपी हरिनोंके समूहके नाश करनेवाले श्रीरामरूप किरातको भजो। कामदेवरूपी हाथीके लिये सिंहरूप तथा सेवकोंको सुख देनेवाले श्रीरामको भजो।

संसय सोक निबिड़ तम भानुहि।
दनुज गहन घन दहन कृसानुहि॥
जनकसुता समेत रघुबीरहि।
कस न भजहु भंजन भव भीरहि॥

'संशय और शोकरूपी घने अन्धकारके नाश करनेवाले श्रीरामरूप सूर्यको भजो। राक्षसरूपी घने वनको जलानेवाले श्रीरामरूप अग्निको भजो। जन्म-मृत्युके भयको नाश करनेवाले श्रीजानकीजीसमेत श्रीरघुवीरको क्यों नहीं भजते?

बहु बासना मसक हिम रासिहि।
सदा एकरस अज अबिनासिहि॥
मुनि रंजन भंजन महि भारहि।
तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥

'बहुत-सी वासनाओंरूपी मच्छरोंका नाश करनेवाले श्रीरामरूप हिमराशि (बर्फके ढेर) को भजो। नित्य एकरस, अजन्मा और अविनाशी श्रीरघुनाथजीको भजो। मुनियोंको आनन्द देनेवाले, पृथ्वीका भार उतारनेवाले और तुलसीदासके उदार (दयालु) स्वामी श्रीरामजीको भजो।'

एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान।
सानुकूल सब पर रहहिं संतत कृपानिधान॥

'इस प्रकार नगरके स्त्री-पुरुष श्रीरामजीका गुण-गान करते हैं और कृपानिधान श्रीरामजी सदा सबपर अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं।

जब ते राम प्रताप खगेसा।
उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका।
बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥

[काकभुशुण्डिजी कहते हैं—] 'हे पक्षिराज गरुड़जी! जबसे रामप्रतापरूपी अत्यन्त प्रचण्ड सूर्य उदित हुआ, तबसे तीनों लोकोंमें पूर्ण प्रकाश भर गया है। इससे बहुतोंको सुख और बहुतोंके मनमें शोक हुआ।

जिन्हहि सोक ते कहउँ बखानी।
प्रथम अबिद्या निसा नसानी॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने।
काम क्रोध कैरव सकुचाने॥

'जिन-जिनको शोक हुआ, उन्हें मैं बखानकर कहता हूँ—[सर्वत्र प्रकाश छा जानेसे] पहले तो अविद्यारूपी रात्रि नष्ट हो गयी। पापरूपी उल्लू जहाँ-तहाँ छिप गये और काम-क्रोधरूपी कुमुद मुँद गये।

बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ।
ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा।
इन्ह कर हुनर न कवनिहुँ ओरा॥

'भाँति-भाँतिके [बन्धनकारक] कर्म, गुण, काल और स्वभाव—ये चकोर हैं, जो [रामप्रतापरूपी सूर्यके प्रकाशमें] कभी सुख नहीं पाते। मत्सर (डाह), मान, मोह और मदरूपी जो चोर हैं, उनका हुनर (कला) भी किसी ओर नहीं चल पाता।

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना।
ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥
सुख संतोष बिराग बिबेका।
बिगत सोक ए कोक अनेका॥

'धर्मरूपी तालाबमें ज्ञान, विज्ञान—ये अनेकों प्रकारके कमल खिल उठे। सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक—ये अनेकों चकवे शोकरहित हो गये।

यह प्रताप रबि जाकें उर जब करइ प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥

'यह श्रीरामप्रतापरूपी सूर्य जिसके हृदयमें जब प्रकाश करता है, तब जिनका वर्णन पीछेसे किया गया है, वे (धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक) बढ़ जाते हैं और जिनका वर्णन पहले किया गया है, वे (अविद्या, पाप, काम, क्रोध, कर्म, काल, गुण, स्वभाव आदि) नाशको प्राप्त होते (नष्ट हो जाते) हैं।'

श्रीरामके राज्यमें कुत्तेको भी न्याय मिला

एक दिन श्रीरामके द्वारपर कार्यार्थी (न्यायार्थी) के रूपमें कोई कुत्ता आया। श्रीरामकी आज्ञासे उसे दरबारमें उपस्थित किया गया। उसने 'सर्वार्थसिद्ध' नामक एक भिक्षुकपर यह आरोप लगाया कि उन्होंने अकारण मुझे ...े मारकर मेरा मस्तक फोड़ दिया है। वे ब्राह्मण भिक्षु बुलवाये गये और उनसे श्रीरामने पूछा—

...या दत्तः प्रहारोऽयं सारमेयस्य वै द्विज।
... तवापकृतं विप्र दण्डेनाभिहतो यतः॥
...धः प्राणहरः शत्रुः क्रोधो मित्रमुखो रिपुः।
...धो ह्यसिर्महातीक्ष्णः सर्वं क्रोधोऽपकर्षति॥
...पते यजते चैव यच्च दानं प्रयच्छति।
...धेन सर्वं हरति तस्मात् क्रोधं विसर्जयेत्॥
...न्द्रियाणां प्रदुष्टानां हयानामिव धावताम्।
...र्वीत धृत्या सारथ्यं संहृत्येन्द्रियगोचरम्॥
...नसा कर्मणा वाचा चक्षुषा च समाचरेत्।
...यो लोकस्य चरतो न द्वेष्टि न च लिप्यते॥
...तत् कुर्यादसिस्तीक्ष्णः सर्पो वा व्याहतः पदा।
...रिर्वा नित्यसंक्रुद्धो यथाऽऽत्मा दुरनुष्ठितः॥
...नीतविनयस्यापि प्रकृतिर्न विधीयते।
...कृतिं गूहमानस्य निश्चयेन कृतिर्ध्रुवा॥
(वाल्मीकिरा०, उत्तर० २। २०–२६)

'ब्रह्मन्! आपने इस कुत्तेके सिरपर जो यह प्रहार ... है, उसका क्या कारण है? विप्रवर! इसने आपका क्या अपराध किया था, जिसके कारण आपने इसे डंडा मारा है? क्रोध प्राणहारी शत्रु है। क्रोधको मित्रमुख[1] शत्रु बताया गया है। क्रोध अत्यन्त तीखी तलवार है तथा क्रोध सारे सद्गुणोंको खींच लेता है। मनुष्य जो तप करता, यज्ञ करता और दान देता है, उन सबके पुण्यको वह क्रोधके द्वारा नष्ट कर देता है। इसलिये क्रोधको त्याग देना चाहिये। दुष्ट घोड़ोंकी तरह विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियोंको उन विषयोंकी ओरसे हटाकर धैर्यपूर्वक उन्हें नियन्त्रणमें रक्खे। मनुष्यको चाहिये कि वह अपने पास विचरनेवाले लोगोंकी मन, वाणी, क्रिया और दृष्टिद्वारा भलाई ही करे। किसीसे द्वेष न रक्खे। ऐसा करनेसे वह पापसे लिप्त नहीं होता। अपना दुष्ट मन जो अनिष्ट या अनर्थ कर सकता है, वैसा तीखी तलवार, पैरोंतले दबा हुआ सर्प अथवा सदा क्रोधसे भरा रहनेवाला शत्रु भी नहीं कर सकता। जिसे विनयकी शिक्षा मिली हो, उसकी भी प्रकृति नयी नहीं बनती। कोई अपनी दुष्ट प्रकृतिको कितना ही क्यों न छिपाये, उसके कार्यमें उसकी दुष्टता निश्चय ही प्रकट हो जाती है।'

ब्राह्मणने अपराध स्वीकार किया और दण्ड देनेके लिये कहा। उस समय सभामें बैठे हुए ऋषियोंने ब्राह्मणको अदण्ड्य बताया। तब उस कुत्तेने कहा—'भगवन्! आप मेरी इच्छा पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर चुके हैं। अतः मेरी इच्छा है कि इस ब्राह्मणको कुलपति बना दीजिये। कालञ्जरमें एक मठकी गद्दी खाली है, वहींकी महन्थी इसे दे दीजिये।' श्रीरामने ऐसा ही किया। ब्राह्मण पूजित हो हाथीकी पीठपर बैठकर बड़े हर्षके साथ वहाँ चला गया। तब श्रीरामके मन्त्री मुस्कराते हुए बोले—'इस ब्राह्मणको दण्ड क्या मिला? यह तो वरदान प्राप्त हुआ।' श्रीरामके पूछनेपर कुत्ता बोला—'मैं ही पहले कालिञ्जरके मठका कुलपति था। यद्यपि यज्ञशिष्ट अन्नका भोजन करता और शुभकर्मोंमें तत्पर रहता था, तो

---

१. जो ऊपरसे मित्र जान पड़े किंतु परिणाममें शत्रु सिद्ध हो, वह 'मित्रमुख' शत्रु है। क्रोध अपने प्रतिद्वन्द्वीको सतानेमें सहायक-सा बनकर आता है, इसीलिये इसे मित्रमुख कहा गया है।

भी केवल कुलपति होनेके कारण मुझे इस अधम योनिमें आना पड़ा। जो ब्राह्मण, देवता, स्त्री और बालकके लिये दिये धनको देकर वापस ले लेता है, वह अपने प्रियजनों-सहित नष्ट हो जाता है।' यों कहकर कुत्ता काशी चला गया और वहाँ उपवासद्वारा मृत्युको प्राप्त हो मुक्तिका भागी हुआ।

श्रीरामने पक्षियोंका भी न्याय किया

दण्डकारण्यमें एक विशाल वृक्षपर एक गृध्र रहता था। उसके समीप ही दूसरे वृक्षपर एक उल्लूने अपना निवास बनाया था। गृध्रको अपने स्थानमें कुछ असुविधा लगी, अतः वह उल्लूके निवासमें जा बैठा।

उल्लूने पूछा—'तुम यहाँ क्यों आये ?'

गीध—'तुम क्यों आये यहाँ ?'

उल्लू—'मेरा तो यह घर है।'

गीधके मनमें तो बेईमानी थी। वह बोला—'घर तो यह मेरा है। तुम्हारा घर यहाँ कहाँसे आया ?'

दोनोंमें झगड़ा प्रारम्भ हो गया। गीध बलवान् था, शरीरसे भारी था; किंतु उल्लू उड़नेमें तेज था। उसकी चोंच और पंजे तीक्ष्ण थे। दोनोंने देखा कि परस्पर लड़नेमें दोनों घायल होंगे। संयोगवश उस समय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम महर्षि अगस्त्यका दर्शन करने आये थे। अतः दोनोंने उनके समीप जाकर उनसे अपने विवादका निर्णय करानेका निश्चय किया। दोनों श्रीरामके समीप गये।

दोनोंने उन अयोध्यानाथके चरणोंमें प्रणाम किया। इसके बाद गीध बोला—'प्रभो ! आप त्रिलोकीनाथ हैं, सर्वज्ञ हैं और सब प्राणियोंकी स्थिति जानते हैं। वनमें मैंने बहुत परिश्रम करके तो अपना घोंसला बनाया था और अब यह उल्लू उसे अपना बताकर उसका हरण करना चाहता है। अतः आप इसे प्राणदण्ड दें।'

गीधकी बात सुनकर उल्लू बोला—'मर्यादापुरुषोत्तम ! आप सम्राट् हैं, अपराधी प्राणियोंको दण्ड देना आपका कर्तव्य ही है। जैसे आप मनुष्योंके स्वामी हैं, मेरे भी स्वामी हैं; क्योंकि पक्षियोंके स्वामी गरुड़ आपके सेवक हैं। यह गीध बलपूर्वक मेरे घरमें घुस आया है और मुझे सता रहा है। आप शासक हैं, आपको जो उचित लगे, करें।'

दोनोंकी बातें सुनकर श्रीरामने अपने मन्त्रियोंको बुलाया। उनके आ जानेपर गीधसे पूछा—'तुमने यह घर कितने वर्षोंसे बनाया है ?'

गीध बोला—'जबसे इस पृथ्वीको मनुष्योंने अपने बाहुबलसे जलसे ऊपर उठाया और फैलाया है, तबसे ही यह मेरा घर है।'

पूछनेपर उल्लूने बतलाया—'सृष्टिके प्रारम्भमें जब पृथ्वीपर वृक्ष उत्पन्न हुए, तबसे यह मेरा निवास है।'

दोनोंकी बातें सुनकर श्रीरघुनाथजीने मन्त्रियोंसे सम्मति माँगते हुए कहा—

राम उवाच

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न चास्ति सत्यं
न तत्सत्यं यच्छलमभ्युपैति ॥
ये तु सभ्याः सभां गत्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते।
यथा प्राप्तं न ब्रुवते सर्वे तेऽनृतवादिनः ॥
न वक्ति च श्रुतं यश्च कामक्रोधात्तथा भयात्।
सहस्रं वारुणाः पाशाः प्रतिमुञ्चन्ति तं नरम् ॥
तेषां संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात्सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥

(पद्मपुराण, १ । ३९ । १०१–१०४)

श्रीराम बोले—'वह सभा सभा नहीं है, जिसमें वृद्ध (ज्ञानवृद्ध) पुरुष न हों। वे वृद्ध सच्चे ज्ञानवृद्ध नहीं हैं, जो धर्मसम्मत बात न कहें। वह धर्म नहीं है, जिसमें सत्य न हो और जिसमें छल सम्मिलित हो, वह सत्य सत्य नहीं है।

'जो सभासद् सभामें जाकर चुपचाप सोचते हुए बैठे रहते हैं और (अवसरके अनुसार) प्राप्त समस्यापर अपनी सम्मति नहीं देते, वे सब असत्य (के समर्थक बनकर) असत्यभाषी माने जाते हैं।

'जो किसी लोभसे, क्रोधवश या भयके कारण जैसा
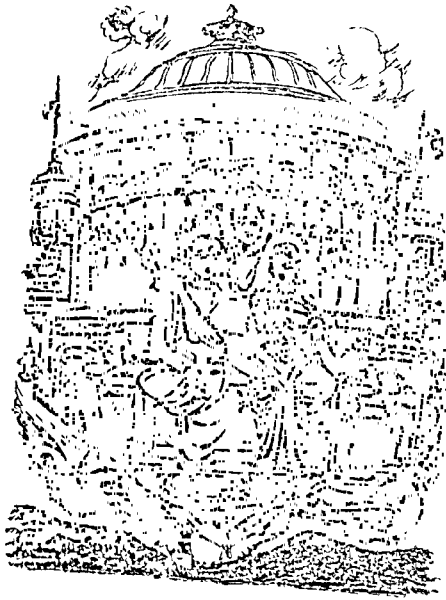
पुष्पक विमानपर [पृष्ठ १२०
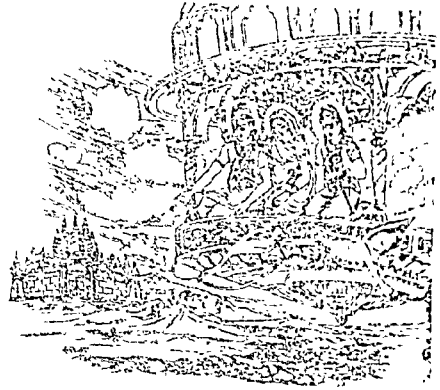
पुष्पक विमानसे सीताको दिखा रहे हैं
[पृष्ठ १००

हनुमानको पुष्पक विमानसे अयोध्या भेजना

हनुमान्की मूर्छा

[पृष्ठ १६२

विभीषणका बन्धन

[पृष्ठ १६१

रामराज्यमें कुत्तेको न्याय मिला

[पृष्ठ ६६४

रामराज्यमें उल्लूको भी न्याय मिला

[पृष्ठ ६६५

तो ढूँढ़े भी नहीं मिलते थे। वहाँके सभी स्त्री-पुरुष धर्मात्मा, इन्द्रिय-निग्रही, हर्षयुक्त, सुशील और महर्षियोंके समान पवित्र थे। सभी स्नान करते, कुण्डल-मुकुट-माला धारण करते, सुगन्धित वस्तुओंका लेपन करते, उत्तम भोजन करते और दान देते थे; परंतु वे सभी आत्मवान् थे। सभी अग्निहोत्र और सोमयाग करनेवाले थे। क्षुद्र विचारका, चरित्रहीन, चोर और वर्णसंकर कोई नहीं था। वहाँके जितेन्द्रिय ब्राह्मण निरन्तर अपने नित्यकर्मोंमें लगे रहते थे। दान देते थे, विद्याध्ययन करते थे, परंतु निषिद्ध दान कोई नहीं लेता था। अयोध्यामें कोई भी नास्तिक, झूठा, ईर्ष्या करनेवाला, अशक्त और मूढ़ नहीं था। सभी बहुश्रुत थे। ऐसा कोई न था, जो वेदके छः अङ्गोंको न जानता हो, व्रत-उपवासादि न करता हो, दीन हो, पागल हो या दुखी हो। अयोध्यामें सभी स्त्री-पुरुष सुन्दर और धर्मात्मा राजाके भक्त थे। चारों वर्णोंके स्त्री-पुरुष देवता और अतिथिकी पूजा करनेवाले, दुखियोंको आवश्यकतानुसार देनेवाले, कृतज्ञ और शूरवीर थे। वे धर्म और सत्यका पालन करते थे, दीर्घजीवी थे और स्त्री-पुत्र-पौत्रादिसे युक्त थे। वहाँके क्षत्रिय ब्राह्मणोंके अनुयायी, वैश्य क्षत्रियोंके अनुयायी और शूद्र तीनों वर्णोंके सेवारूप सुकर्ममें लगे रहते थे। नगरी राजाके द्वारा पूर्णरूपसे सुरक्षित थी। विद्या-बुद्धि-निपुण, अग्निके समान तेजस्वी और शत्रुके अपमानको न सहनेवाले योद्धाओंसे अयोध्या उसी प्रकार भरी हुई थी, जैसे गुफाएँ सिंहोंसे भरी रहती हैं। अनेक प्रकारके घोड़े और बड़े-बड़े मतवाले हाथियोंसे नगरी पूर्ण थी। उसका 'अयोध्या' नाम इसीलिये पड़ गया था कि वहाँ कोई भी शत्रु युद्धके लिये नहीं आ सकता था।

अब आजके भारतसे इसका मिलान कीजिये।

(संकलित)

महाप्रस्थान

श्रीरामने परमधाम जाना निश्चय किया है, यह समाचार सुनकर अयोध्याके सब लोग एकत्र हो गये। उन सबने श्रीरामसे प्रार्थना की कि आप हमें भी अपने साथ ले चलें। श्रीरामने दक्षिण कोशलमें कुशको और उत्तर कोशलमें लवको अभिषिक्त कर दिया। कुशकी राजधानी कुशावती हुई और लवकी श्रावस्ती। श्रीरामने अयोध्याको निर्जन करके जानेका निश्चय किया। शत्रुघ्न भी अपने सुपुत्र सुबाहुको मधुराका और दूसरे पुत्र शत्रुघातीको विदिशाका राज्य देकर श्रीरामके चरणोंमें उपस्थित हो गये। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वानर, रीछ और राक्षस भी सुग्रीवको आगे करके वहाँ आ पहुँचे। उस समय श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—

सुग्रीवको साथ ले जानेका निश्चय

सखे शृणुष्व सुग्रीव न त्वयाहं विनाकृतः।
गच्छेयं देवलोकं वा परमं वा पदं महत्॥
(वाल्मीकि रा०, उत्तर० १०८। २५)

'सखे सुग्रीव! मेरी बात सुनो। मैं तुम्हारे बिना देवलोकमें और महान् परमपद या परमधाममें भी नहीं जा सकता।'

तदनन्तर वे राक्षसराज विभीषणसे बोले—

यावत् प्रजा धरिष्यन्ति तावत् त्वं वै विभीषण।
राक्षसेन्द्र महावीर्य लङ्कास्थः स्वं धरिष्यसि॥
यावच्चन्द्रश्च सूर्यश्च यावत् तिष्ठति मेदिनी।
यावच्च मत्कथा लोके तावद् राज्यं तवास्त्विह॥
शासितश्च सखित्वेन कार्यं ते मम शासनम्।
प्रजाः संरक्ष धर्मेण नोत्तरं वक्तुमर्हसि॥
किंचान्यद् वक्तुमिच्छामि राक्षसेन्द्र महाबल।
आराधय जगन्नाथमिक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥
आराधनीयमनिशं देवैरपि सवासवैः।
तथेति प्रतिजग्राह रामवाक्यं विभीषणः॥
राजा राक्षसमुख्यानां राघवाज्ञामनुस्मरन्।
तमेवमुक्त्वा काकुत्स्थो हनूमन्तमथाब्रवीत्॥
जीविते कृतबुद्धिस्त्वं मा प्रतिज्ञां वृथा कृथाः।
मत्कथाः प्रचरिष्यन्ति यावल्लोके हरीश्वर॥
तावद् रमस्व सुप्रीतो मद्वाक्यमनुपालयन्।
एवमुक्तस्तु हनुमान् राघवेण महात्मना॥

वाक्यं विज्ञापयामास परं हर्षमवाप च ।
यावत् तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ॥
तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ।
जाम्बवन्तं तथोक्त्वा तु वृद्धं ब्रह्मसुतं तदा ॥
मैन्दं च द्विविदं चैव पञ्च जाम्बवता सह ।
यावत् कलिश्च सम्प्राप्तस्तावज्जीवत सर्वदा ॥
तानेवमुक्त्वा काकुत्स्थः सर्वांस्तानृक्षवानरान् ।
उवाच बाढं गच्छध्वं मया सार्धं यथोदितम् ॥

(वाल्मीकि रा०, उत्तर० १०८ । २७–३८)

'महापराक्रमी राक्षसराज विभीषण ! जबतक संसारकी प्रजा जीवन धारण करेगी, तबतक तुम भी लङ्कामें रहकर अपने शरीरको धारण करोगे । जबतक चन्द्रमा और सूर्य रहेंगे, जबतक पृथ्वी रहेगी और जबतक संसारमें मेरी कथा प्रचलित रहेगी, तबतक इस भूतलपर तुम्हारा राज्य बना रहेगा। मैंने मित्रभावसे ये बातें तुमसे कही हैं । तुम्हें मेरी आज्ञाका पालन करना चाहिये । तुम धर्मपूर्वक प्रजाकी रक्षा करो । इस समय मैंने जो कुछ कहा है, तुम्हें उसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिये । महाबली राक्षसराज ! इसके सिवा मैं तुमसे एक बात और कहना चाहता हूँ । हमारे इक्ष्वाकुकुलके देवता हैं भगवान् जगन्नाथ (श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु) । इन्द्र आदि देवता भी उनकी निरन्तर आराधना करते रहते हैं । तुम भी सदा उनकी पूजा करते रहना ।'

राक्षसराज विभीषणने श्रीरघुनाथजीकी इस आज्ञाको अपने हृदयमें धारण किया और 'बहुत अच्छा' कहकर उसका पालन स्वीकार किया । विभीषणसे यों कहकर श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्‌जीसे बोले—'तुमने दीर्घकालतक जीवित रहनेका निश्चय किया है । अपनी इस प्रतिज्ञाको व्यर्थ न करो । हरीश्वर ! जबतक संसारमें मेरी कथाओंका प्रचार रहे, तबतक तुम भी मेरी आज्ञाका पालन करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विचरते रहो ।' महात्मा श्रीरघुनाथजीके यों कहनेपर हनुमान्‌जीको बड़ा हर्ष हुआ और वे इस प्रकार बोले—'भगवन् ! संसारमें जबतक आपकी पावन कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर ही रहूँगा ।' इसके बाद भगवान्‌ने ब्रह्माजीके पुत्र बूढ़े जाम्बवान् तथा मैन्द और द्विविदसे भी कहा—'जाम्बवान्‌सहित तुम पाँचों व्यक्ति (जाम्बवान्, विभीषण, हनुमान्, मैन्द और द्विविद) तबतक जीवित रहो, जबतक कि प्रलय एवं कलियुग न आ जाय' (इनमेंसे हनुमान् और विभीषण तो प्रलयकालतक रहनेवाले हैं और शेष तीन व्यक्ति कलि और द्वापरकी संधिमें श्रीकृष्णावतारके समय मारे गये या मर गये ।) उन सबसे यों कहकर श्रीरघुनाथजीने शेष सभी रीछों और वानरोंसे कहा—'बहुत अच्छा, तुमलोगोंकी बातें मुझे स्वीकार हैं । तुम सब अपने कथनानुसार मेरे साथ चलो ।'

इसके अनन्तर श्रीरामने पुरोहितसे कहा—

अग्निहोत्रं व्रजत्वग्रे दीप्यमानं सह द्विजैः ।
वाजपेयातपत्रं च शोभमानं महापथे ॥

(वाल्मीकि रा०, उत्तर० १०९ । २)

'मेरे अग्निहोत्रकी प्रज्वलित आग ब्राह्मणोंके साथ आगे-आगे चले । महाप्रयाणके पथपर इस यात्राके समय मेरे वाजपेय यज्ञका सुन्दर छत्र भी चलना चाहिये ।'

तदनन्तर तेजस्वी महर्षि वसिष्ठने महाप्रस्थानकालोचित धर्मका विधिपूर्वक अनुष्ठान किया । फिर श्रीरामचन्द्रजी सूक्ष्म वस्त्र धारण किये परब्रह्मके प्रतिपादक वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए दोनों हाथोंमें कुश ले सरयूके तटकी ओर चले । उनके दाहिने पार्श्वमें एक हाथमें कमल लिये श्रीदेवी उपस्थित थीं और वामभागमें भूदेवी । आगे-आगे उनकी व्यवसाय (संहार-) शक्ति चल रही थी । चलनेके अतिरिक्त उनमें कोई दूसरी चेष्टा नहीं दिखायी देती थी तथा वे लौकिक सुखका परित्याग करके देदीप्यमान सूर्यकी भाँति प्रकाशित होते हुए घरसे निकले थे और गन्तव्य पथपर बढ़ रहे थे । समस्त आयुध भी पुरुष-शरीर धारण करके भगवान्‌के साथ चले । चारों वेद, गायत्री, ओंकार और वषट्कार भी उनके पीछे-पीछे चले । अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, बालक, वृद्ध, दासियाँ और सेवक—सभी श्रीरामके

अनुगामी हुए। भाई, मन्त्री तथा पुरवासी जनोंने भी उन्हींका अनुसरण किया। रीछ, वानर और राक्षस भी श्रीरामके साथ चले। सरयूके तट पहुँचनेपर ब्रह्माजीने अन्तरिक्षसे ही उनका स्वागत किया और अपने सनातन स्वरूपमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना की। भाइयोंसहित सरयूके जलमें प्रविष्ट हो श्रीरामने सशरीर वैष्णव तेजमें प्रवेश किया। उस समय सब देवताओंने उनकी स्तुति करके उन्हें साधुवाद दिया। तब विष्णुरूपमें विद्यमान महातेजस्वी श्रीराम ब्रह्माजीसे बोले—

इमे हि सर्वे स्नेहान्ममानुयाता यशस्विनः।
भक्ता हि भजितव्याश्च त्यक्तात्मानश्च मत्कृते॥

(वाल्मीकिरा०, उत्तर० ११० । १७)

'ये सब लोग स्नेहवश मेरे पीछे आये हैं। ये सब-के-सब यशस्वी और मेरे भक्त हैं। इन्होंने मेरे लिये अपने लौकिक सुखोंका परित्याग कर दिया है, अतः ये सर्वथा मेरे अनुग्रहके पात्र हैं।'

ब्रह्माजीने कहा—'भगवन्! यहाँ आये हुए सब लोग संतानक लोक (साकेतधाम) में जायँगे।' ब्रह्माजीके यों कहते ही सरयूके गोप्रतार घाटपर आये हुए सब लोगोंने सानन्द गोता लगाया और सब-के-सब दिव्य रूप धारणकर विमानपर जा बैठे। स्थावर और जंगम—सभी तरहके प्राणी सरयूके जलसे अपने शरीरको भिगोकर उस समय तत्काल दिव्य लोकमें जा पहुँचे।

श्रीरामार्चाविधि और माहात्म्य

पहले पवित्र स्थानपर स्वच्छ जल और मिट्टीसे लिपी-पुती परिमार्जित भूमिमें सुन्दर मण्डप बनाना चाहिये। उस मण्डपमें लाल चाँदनी, पताका और तोरण लगाने चाहिये एवं सुन्दर चार दरवाजे बनाने चाहिये। यह सब काम करनेमें श्रद्धाका होना अत्यन्त आवश्यक है। दरवाजोंपर चावलके ऊपर जलसे भरे हुए ऐसे कलशोंकी स्थापना करनी चाहिये, जिनमें भगवान्‌के चित्र अङ्कित हों, पल्लव डाले हुए हों और जिनपर दीपक रक्खे हुए हों एवं जो वस्त्रसे ढके हुए हों। चारों कोनोंपर फलवाले केलोंके खंभे लगाये और मण्डपके बीचमें चौकोना उत्तम और चिकना पीठ बनाये। उस श्रेष्ठ और सुन्दर पीठको पीले वस्त्रसे ढक दे और नीले, पीले, सफेद एवं काले चावलके चूर्णोंसे उसपर इक्कीस कोष्ठका यन्त्र बनाये और बड़े आनन्दसे उस यन्त्रपर आवरण-देवताओंकी पूजा करे। इसके बाद संकल्प करे—

ॐ आद्यपुराणपुरुषोत्तमाय ब्रह्मणे नमः।

ओमद्य श्रीब्रह्मणो द्वितीयपरार्द्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे जम्बूद्वीपे भरतखण्डे आर्यावर्त्ते अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकनक्षत्रे अमुकतीर्थे अमुकस्थाने अमुकगोत्रः अमुकनामा सकलपापक्षयपूर्वकसर्वारिष्टपरिहारार्थं मनोऽभिवाञ्छितशुभफलप्राप्त्यर्थं च श्रीसीतारामप्रीतये यथाशक्तिसम्पादितसामग्र्या आवरणदेवतापूजापूर्वकं श्रीरामार्चां तन्माहात्म्यकथाश्रवणं चाहं करिष्ये इति।

अब क्रमसे आवरण-देवताओंके आवाहनपूर्वक पूजामन्त्र लिखे जाते हैं। संकल्पके पश्चात् साधकको चाहिये कि हाथमें यव, अक्षत और तिल लेकर सम्पूर्ण आवरण देवताओंका आवाहन करे—

माहेश्वरि नमस्तुभ्यमिहागच्छ शिवप्रिये।
पूर्वभागे समातिष्ठ गृह्यतां पूजनं मम॥
ॐ माहेश्वर्यै नमः॥

गणाधिप नमस्तुभ्यमिहागच्छ गजानन।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं गृह्यतामिदम्॥
ॐ गणाधिपाय नमः॥

महाशक्ते नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रदे।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम्॥
ॐ महाशक्त्यै नमः॥

महालक्ष्मि नमस्तुभ्यमिहागच्छ जगद्धिते।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरुष्व मे॥
ॐ महालक्ष्म्यै नमः॥

महादुर्गे नमस्तुभ्यमिहागच्छ सुरार्चिते।
पीठस्य पश्चिमे भागे तिष्ठ स्वीकुरु पूजनम्॥
ॐ महादुर्गायै नमः॥

भो गायत्रि नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रदे।
तिष्ठ पीठोत्तरे भागे पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ गायत्र्यै नमः ॥

भो सावित्रि नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रदे।
तिष्ठ पीठोत्तरे भागे पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥
ॐ सावित्र्यै नमः ॥

सरस्वति नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुचिव्रते।
पीठकस्योत्तरे भागे तिष्ठ पूजा प्रगृह्यताम् ॥
ॐ सरस्वत्यै नमः ॥

नमो वः सर्वमातृभ्य इहागच्छत तिष्ठत।
पीठकस्योत्तरे भागे पूज ' प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ सर्वमातृभ्यो नमः ॥

सिद्धे देवि नमस्तुभ्यमिहागच्छ सुखप्रदे।
ईशाने त्वं समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ सिद्धिदेव्यै नमः ॥

बुद्धे नमोऽस्तु ते मातरिहागच्छ सुभाषिणि।
ईशाने हि समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥
ॐ बुद्धिदेव्यै नमः ॥

लोकमातर्नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रदे।
अग्निकोणे समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ लोकमात्रे नमः ॥

महादेवि नमस्तुभ्यमिहागच्छ वरानने।
नैर्ऋत्ये तिष्ठ देवेशि पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥
ॐ महादेव्यै नमः ॥

देवमातर्नमस्तुभ्यमिहागच्छ कृपाम्बुधे।
वायव्ये देवि संतिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ देवमात्रे नमः ॥

नमो वो वास्तुदेवेभ्य इहागच्छत तिष्ठत।
याम्यनैर्ऋत्ययोर्मध्ये पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ वास्तुदेवेभ्यो नमः ॥

नमो वो लोकपालेभ्य इहागच्छत तिष्ठत।
रक्षोवरुणयोर्मध्ये पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ लोकपालेभ्यो नमः ॥

भो मनो त्वमिहागच्छ नमस्तुभ्यं सुखप्रद।
पश्चिमे ह्युपविश्याथ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीमनवे नमः ॥

नमो वः श्रीवसिष्ठाद्या इहागच्छत तिष्ठत।
वायुवरुणयोर्मध्ये पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीवसिष्ठादिभ्यो नमः ॥

अधिप्रत्यधिदेवेभ्य इहागच्छत तिष्ठत।
मारुतोत्तरयोर्मध्ये पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ अधिप्रत्यधिदेवेभ्यो नमः ॥

भो ब्रह्मंस्त्वमिहागच्छ नमस्तुभ्यं सुराधिप।
उत्तरेशानयोर्मध्ये तिष्ठ गृह्णीष्व मेऽर्चनम् ॥
ॐ ब्रह्मणे नमः ॥

नमोऽस्तु वो नवग्रहा इहागच्छत तिष्ठत।
ईशानपूर्वयोर्मध्ये पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ नवग्रहेभ्यो नमः ॥

नमो वो दशदिक्पाला इहागच्छत तिष्ठत।
पूर्वाग्निकोणयोर्मध्ये पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ दशदिक्पालेभ्यो नमः ॥

गौरीपते नमस्तुभ्यमिहागच्छ महेश्वर।
अग्निदक्षिणयोर्मध्ये तिष्ठ पूजां गृहाण मे ॥
ॐ गौरीपतये नमः ॥

श्रीकोसले नमस्तुभ्यमिहागच्छ सुखाम्बुधे।
मध्यभागे समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीअयोध्यायै नमः ॥

श्रीसरयूवीश्वराराध्ये नमस्तुभ्यं जगद्धिते।
श्रीकोसलोत्तरे भागे तिष्ठ पूजा प्रगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीसरय्वै नमः ॥

गङ्गादेवि महाभागे इहागच्छ नमोऽस्तु ते।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीगङ्गादेव्यै नमः ॥

भो भूशक्ते नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रदे।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥
ॐ भूशक्तये नमः ॥

वह्निबीज नमस्तुभ्यमिहागच्छ सुरार्चित।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं संगृहाण मे ॥
ॐ वह्निबीजाय नमः ॥

भोः केसरिन्नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुचिव्रत।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ श्रीकेसरिणे नमः ॥

भोः सुषेण नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रद।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरुष्व मे ॥
ॐ सुषेणाय नमः ॥

ऋक्षराज नमस्तुभ्यमिहागच्छ शुभप्रद।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं प्रतिगृह्यताम् ॥
ॐ ऋक्षराजाय नमः ॥

भो अङ्गद नमस्तुभ्यमिहागच्छ दृढव्रत।
याम्यभागे समातिष्ठ संगृहाण ममार्चनम्॥
ॐ श्रीअङ्गदाय नमः॥

भोः सुग्रीव नमस्तुभ्यमिहागच्छ प्रभोः प्रिय।
दक्षिणे ह्युपविश्याथ गृह्यतामर्चनं मम॥
ॐ श्रीसुग्रीवाय नमः॥

श्रीविमलादिशक्तिभ्य इहागच्छत वो नमः।
पश्चिमे ह्युपविश्याथ पूजनं प्रतिगृह्यताम्॥
ॐ श्रीविमलादिशक्तिभ्यो नमः॥

विभीषण नमस्तुभ्यमिहागच्छ प्रभोः प्रिय।
पीठकस्योत्तरे भागे पूजनं प्रतिगृह्यताम्॥
ॐ श्रीविभीषणाय नमः॥

नमो वो मन्त्रिणश्चाष्टाविहागच्छत तिष्ठत।
पूर्वभागे मया दत्तं पूजनं प्रतिगृह्यताम्॥
ॐ अष्टमन्त्रिभ्यो नमः॥

श्रीमते चक्रवर्तीन्द्र इहागच्छ नमोऽस्तु ते।
पूर्वभागे समातिष्ठ श्रीकौसल्यादिभिः सह॥
ॐ सपत्नीकाय श्रीदशरथाय नमः॥

श्रीलक्ष्मण नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः।
याम्यभागे समातिष्ठ पूजनं संगृहाण मे॥
ॐ सपत्नीकाय श्रीलक्ष्मणाय नमः॥

श्रीभरत नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः।
पीठकस्योत्तरे भागे तिष्ठ पूजां गृहाण मे॥
ओं सपत्नीकाय श्रीभरताय नमः॥

श्रीशत्रुघ्न नमस्तुभ्यमिहागच्छ सहप्रियः।
पीठस्य पश्चिमे भागे पूजनं स्वीकुरुष्व मे॥
ओं सपत्नीकाय श्रीशत्रुघ्नाय नमः॥

श्रीहनुमन्नमस्तुभ्यमिहागच्छ कृपानिधे।
पूर्वभागे समातिष्ठ पूजनं स्वीकुरु प्रभो॥
ओं श्रीहनुमते नमः॥

इस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सब देवताओंका आवाहन करके पृथक्-पृथक् कोष्ठोंमें उनके नाम-मन्त्रोंसे भगवान् श्रीरामकी प्रसन्नताके लिये परमभक्तिसे उनकी पूजा करनी चाहिये। 'ॐमाहेश्वर्यै नमः' आदि नाम-मन्त्र जो प्रत्येक आवाहन-मन्त्रके साथ आये हैं, उन्हींसे षोडशोपचार पूजा करनी चाहिये और कहना चाहिये—

अत्र मे पूजिता देवा मया पूजोपचारकैः।
संतुष्टाः सम्प्रयच्छन्तु ममाभीष्टफलं सदा॥

इस पीठपर मैंने [illegible] जिन देवताओंकी पूजा की है, वे प्रसन्न होकर सदैव मेरे [illegible] करते रहें।

उपर्युक्त प्रार्थना करनेके [illegible] भगवान् श्रीरामकी पूजा [illegible] करनी चाहिये।

सर्वप्रथम हाथोंमें पुष्प लेकर उनके [illegible] परमपुरुष परमात्माका नीचे लिखे अनुसार ध्यान करना चाहिये—

अथ ध्यानम्

रक्ताम्भोजदलाभिरामनयनं पीताम्बरालंकृतं
श्यामाङ्गं द्विभुजं प्रसन्नवदनं श्रीसीतया शोभितम्।
कारुण्यामृतसागरं प्रियगणैर्भ्रात्रादिभिर्भावितं
वन्दे विष्णुशिवादिसेव्यमनिशं भक्तेष्टसिद्धिप्रदम्॥

'जो भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेवाले हैं; ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि निरन्तर जिनकी सेवा किया करते हैं; हनुमान्, सुग्रीव एवं भरत आदि भाई बड़े प्रेमसे जिनकी आराधनामें लगे रहते हैं; जो अहैतुक और अनन्त करुणारूपी अमृतके सागर हैं; जिनके साथ श्रीसीताजी शोभायमान हो रही हैं, उन श्यामसुन्दर, द्विभुज, पीताम्बरधारी, प्रसन्नमुख, लाल कमलके दलके समान सुन्दर नेत्रवाले भगवान् श्रीरामकी मैं वन्दना करता हूँ।'

ध्यानके पश्चात् पुष्पाञ्जलि लेकर भगवान् श्रीरामका आवाहन करना चाहिये—

आगच्छ जानकीनाथ जानक्या सह राघव।
गृहाण मम पूजां च वायुपुत्रादिभिर्युतः।
...इत्यावाहनमन्त्रः।

फिर नीचे लिखे मन्त्रोंसे पूजा करनी चाहिये—

सुवर्णरचितं राम दिव्यास्तरणशोभितम्।
आसनं हि मया दत्तं गृहाण मणिचित्रितम्॥
...इत्यासनसमर्पणमन्त्रः॥

इदं पाद्यं मया दत्तं दिव्यं नरवरोत्तम।
प्रसीद जानकीनाथ गृहाण सम्मुखो भव॥
...इति पाद्यसमर्पणमन्त्रः॥

दिव्यौषधिरसोपेतं दिव्यसौरभ्यसंयुतम्।
तुलसीपुष्पदर्भाढ्यमर्घ्यं मे प्रतिगृह्यताम्॥
...इत्यर्घ्यसमर्पणमन्त्रः॥

कर्पूरवर्तिसंयुक्तं गोघृतेन सुपूरितम् ।
नीराजनं गृहाणेदं कृपया भक्तवत्सल ॥
···इति नीराजनसमर्पणमन्त्रः ॥

मणिसौवर्णमाल्यैश्च युक्तं पुष्पाञ्जलिं प्रभो ।
गृहाण जानकीनाथ कृपया भक्तवत्सल ॥
···इति पुष्पाञ्जलिसमर्पणमन्त्रः ॥

श्रीफलं स्वादु दिव्यं च सुधाधिकतरं प्रियम् ।
सदक्षिणं गृहाणेदं प्रणतार्त्तिहर प्रभो ॥
···इति सदक्षिणश्रीफलबलिसमर्पणमन्त्रः ॥

श्रीवल्लभानन्त जगन्निवास
श्रीराम राजेन्द्र नमो नमस्ते ।
त्वया सनाथं कुरु मामनाथं
नाथ प्रभो दीनदयालुमूर्ते ॥
···इति स्तुतिमन्त्रः ॥

समस्तैरुपचारैश्च या पूजा तु मया कृता ।
सा सर्वा पूर्णतां यातु ह्यपराधं क्षमस्व मे ॥
···इति अपराधक्षमापनमन्त्रः ॥

यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च ।
तानि सर्वाणि नश्यन्तु प्रदक्षिणपदे पदे ॥
···इति प्रदक्षिणामन्त्रः ॥

राजेन्द्रपुत्राय परात्पराय
स्वच्छाय सस्मेरशुभाननाय ।
श्यामाय रामाय सहप्रियाय
नमः सदाभीष्टफलप्रदाय ॥
—इति नमस्कारमन्त्रः ॥

सहप्रियस्त्वं हृदये वस प्रभो
मुखे यशोनामगुणानुवादनम् ।
प्रीत्यार्चनं ते करवाणि संततं
प्रदेहि मह्यं कृपया कृपाम्बुधे ॥

दयाब्धे जानकीनाथ महाराजकुमारक ।
ममाभीष्टं कुरुष्वाद्य शरणागतवत्सल ॥
—इति प्रार्थनामन्त्रः ॥

उपर्युक्त मन्त्रोंसे पूजा करनेके पश्चात् भगवान्‌की शरण ग्रहण करे—

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजां चैव न जानामि त्वं गतिः परमेश्वर ॥
—इति शरणमन्त्रः ॥

'हे परमेश्वर ! मुझे आवाहनका ज्ञान नहीं है, विसर्जनका ज्ञान नहीं है और पूजाका भी ज्ञान नहीं है । मेरे एकमात्र तुम्हीं शरण हो, तुम्हीं आश्रय हो ।'

इति स्तुत्वा शुभं तस्य माहात्म्यं शृणुयाद्विधे ।
तस्याशु राघवः प्रीत्या दद्यात्सर्वेप्सितं महत् ॥

'हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार स्तुति करके उनके मङ्गलमय माहात्म्यका श्रवण करना चाहिये । जो साधक यों करता है, भगवान् श्रीराम प्रसन्न होकर शीघ्र ही उसकी बड़ी-से-बड़ी सम्पूर्ण अभिलाषा पूर्ण कर देते हैं ।'

श्रीरामार्चामाहात्म्य

श्रीपार्वतीने शिवजीसे कहा—'भगवन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशारद हैं । लोगोंके उपकारके लिये आपने अनेकों उपाय बतलाये हैं । उन यत्नोंमें बहुत-से तन्त्र हैं, यन्त्र हैं, मन्त्रोंके अनेकों भेद हैं, विविध प्रकारके स्तोत्र हैं और योग, यज्ञ एवं व्रत हैं, सब प्रकारकी सिद्धियोंको देनेवाले तप हैं एवं दान हैं । इतना सब होनेपर भी अनेक क्लेशोंसे युक्त होकर लोग दुखी हो रहे हैं । लोग धनहीन, पुत्रहीन एवं आधि-व्याधिसे व्याकुल हो रहे हैं । उनकी कोई क्रिया सिद्ध ही नहीं होती; वे उपाय करते-करते थक गये हैं । इसलिये हे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ प्रभो ! आप अच्छी तरह सोचकर ऐसा उपाय बतलायें, जिससे सबको तुरंत विश्वास हो जाय और जो सम्पूर्ण अभिलषित वस्तुओंकी प्राप्ति करा दे, जिससे निश्चय सिद्धि प्राप्त हो जाय ।' श्रीमहादेवजी बोले—'हे देवि ! हे पार्वति ! तुम धन्य हो, तुम बड़ी पुण्यवती हो; और तो क्या कहूँ, तुम स्वयं पुण्यरूपा हो । क्योंकि तुम सर्वदा सब लोगोंका कल्याण चाहती रहती हो । हे देवि ! प्रेमसे सुनो; मैं एक बड़ा ही अद्भुत उपाय बतलाता हूँ, जिसके करनेसे दुर्लभ सिद्धि सहज ही प्राप्त हो जाती है । वह उपाय है—'भगवान् श्रीरामचन्द्रका यज्ञ' । वह समस्त साधनोंको सिद्ध करनेवाला है; धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको प्राप्त करानेवाला है; मानसिक शान्ति, संतोष और शारीरिक पुष्टि अर्थात् स्वास्थ्य देनेवाला है । ब्रह्मा यज्ञसे ही विश्वकी सृष्टि करते हैं, विष्णु इस यज्ञसे ही विश्वकी रक्षा करते हैं और हे पार्वति ! मैं रुद्ररूपसे इस यज्ञके प्रभावसे ही (प्रलयके समय) सारे जगत्‌का नाश करता हूँ । बिना श्रीरामयज्ञके

हुए। उन्होंने तुम्हें वर दिया और फिर वे अन्तर्धान हो गये। उस समय तुमने भक्तोंको भगवान्‌का प्रसाद देकर फिर स्वयं पाया था। तुम्हारे मनमें जो-जो अभिलाषा थी, तुम्हारा जो अभीष्ट था, वह सब पूर्ण हो गया। जो प्रेमी पुरुष अपने भाई-बन्धुओंको बाँटकर रामार्चाका प्रसाद स्वयं प्राप्त करता है, उसकी मनोकामनाएँ अवश्य शीघ्र ही पूरी हो जाती हैं। हे ब्रह्मन्! यदि कोई रामार्चाका प्रसाद नहीं खाता तो वह बड़े-बड़े दुःखोंसे दुःखित होकर नरकमें जाता है। मनसे, वाणीसे, कायासे, कर्मसे हुए करोड़ों जन्मके किये ब्रह्महत्यादि बड़े-बड़े पाप भगवान् रामका प्रसाद पाते ही नष्ट हो जाते हैं। हे ब्रह्मन्! जो इस प्रकार शास्त्रोक्त विधानसे रामार्चा करता है, उसके मनकी अभिलाषाएँ शीघ्र ही पूरी हो जाती हैं।' हे पार्वति! इतना कहकर विष्णु अन्तर्धान हो गये। लोकपति ब्रह्माने भगवान् श्रीरामकी पूजा की, उससे उनके सभी अभीष्ट सिद्ध हो गये। ब्रह्माने जो-जो सोचा, वह सब तुरंत प्राप्त हो गया। ब्रह्मलोकमें देवगण सदा भगवान् श्रीरामकी पूजा किया करते हैं। रामार्चाके भावसे वे सब परमानन्दसे युक्त रहते हैं और सबके लिये जो दुर्लभ हैं, ऐसे विविध प्रकारके भोग भोगा करते हैं।'

श्रीपार्वतीने कहा—हे देव! हे देवेश! पहले किन-किन महात्माओंने रामार्चा की है, मैं वह सुनना चाहती हूँ। आप सर्वदा मुझे प्रसन्न रखते हैं, इसलिये मुझसे अब यह बात कहें। श्रीशिवने कहा—देवि! सुनो। मैं पूजा-माहात्म्यसे संयुक्त पुण्यस्वरूप एवं पापोंसे छुड़ानेवाली तथा सब प्राणियोंका कल्याण करनेवाली उस कथाका वर्णन करता हूँ। मथुरा नगरमें एक बड़ा ही धर्मज्ञ ब्राह्मण रहता था। वह पृथुक नामसे प्रसिद्ध था और महारोगसे पीड़ित था। उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने अनेकों प्रकारके यत्न किये, परंतु वह रोगकी बाधाओंसे मुक्त नहीं हो सका। इससे उसे बड़ी ग्लानि हुई। वह एकाएक घरसे निकल पड़ा और बहुत दुःखी होकर व्याघ्र आदिसे संयुक्त वनमें भटकने लगा। वह मृत्युका निमित्त ढूँढ़ रहा था। हे देवि! आत्महत्याके पापके भयसे उसने विष खाकर अपने शरीरका त्याग नहीं किया। वनमें भटकते-भटकते उस ब्राह्मणको भृगुपुत्र महर्षि ऋचीकके दर्शन हुए। उसने महाबाधासे पीड़ित और दुःखसे आर्त होकर ऋचीकके चरणोंमें प्रणाम किया और रोने लगा। ऋचीकने उस ब्राह्मणसे कहा—'भाई! तुम क्यों रो रहे हो? कुछ कारण तो बताओ।' ऋचीककी बात सुनकर पृथुकने कहा—'हे द्विजश्रेष्ठ! मैं ब्राह्मण हूँ और पृथुक नामसे प्रसिद्ध हूँ। हे विद्वन्! मैं सब व्याधियोंसे युक्त और महारोगसे पीड़ित हूँ। जिस उपायसे मेरा दुःख नष्ट हो, हे कृपानिधे! आप कृपा करके मुझे वही उपाय बतलायें।' ब्राह्मणकी बात सुनकर ऋचीकको बड़ी दया आयी और उन्होंने ब्राह्मणसे कहा—'तुम रामार्चा करो।'

पृथुकने कहा—हे विद्वन्! हे परंतप! आप रामार्चाकी विधि बतायें। उसकी बात सुनकर ऋचीकने कहा—''हे ब्राह्मण! तुम मेरे वचन सुनो। कुशनामके पुत्र गाधि मेरे श्वशुर हैं और बड़े धार्मिक हैं। उन्हें पहले कोई पुत्र नहीं था, इससे निरन्तर वे दुखी रहते थे। उनकी लड़की मेरी पत्नी है, उसने मुझे प्रसन्न किया। मैंने प्रसन्न होकर उससे कहा—'हे सुन्दरि! तुम वर माँगो।' उसने कहा—'हे प्रभो! मैं यह वर माँगती हूँ कि मेरे भाई हो जाय।' 'हे महाभागे! ऐसा ही हो।' इस प्रकार कहकर मैं भृगुके पास चला गया। और हे ब्राह्मण! ब्रह्मवेत्ता भृगुको मैंने वह वृत्तान्त सुनाया। भृगुने मेरी बात सुनकर यह कहा—'हे पुत्र! गाधिको पुत्र प्राप्त करानेके लिये उन दोनों स्त्री-पुरुषोंसे विधिपूर्वक प्रेमसे रामार्चा कराओ। रामार्चाके प्रसादसे शीघ्र ही उन्हें सत्पुत्र प्राप्त होगा।' उसकी विधि सुनकर मैं अपने श्वशुर गाधिके पास आया और वे सब बातें कहीं। उन्होंने पत्नीके साथ विधिपूर्वक भगवान् श्रीरामकी पूजा की। उस समय भगवान् श्रीरामके प्रसादको पानेसे गाधिकी धर्मपत्नीने गर्भ धारण किया। उसके गर्भसे बड़ा ही धार्मिक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ, जो क्षत्रियसे ब्राह्मण हो गया। मैंने पहले भृगुसे श्रीरामार्चा सुनी है। वह सौभाग्य एवं संततिको देनेवाली है तथा सम्पूर्ण अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाली है। इसलिये हे महाभाग! तुम इस परम सुख देनेवाले महायज्ञका अनुष्ठान करो।' ऋचीककी बात सुनकर वह ब्राह्मण अपने घर चला गया।

''हे देवि! उस ब्राह्मणने भगवान् श्रीरामकी पूजा की, नैवेद्य भोजन करनेसे उसका महारोग नष्ट हो गया और

पृथुक ब्राह्मण अत्यन्त सुखी हो गया। उसे बहुत ही शीघ्र फल मिला; उसके बाद वह सर्वदा रामार्चामें ही रत रहने लगा। एक दिन पूर्णिमाको पृथुक रामपूजा कर रहा था। उस पूजामें उसके सब भाई-बन्धु एकत्र थे। वहाँ एक धीवर आया। वह सर्वदा हिंसामें लगा रहनेवाला और दुष्ट था। उसका नाम था बन्धुक। वहाँ उसने रामार्चा देखी और भगवान् रामके उत्तम प्रसादका भोजन किया। उसके पश्चात् वह निर्धन अत्यन्त लोभके कारण दूसरे देशमें चला गया। वह बड़ा पापी था। उसने बड़े-बड़े क्षय किये थे। सौराष्ट्रदेशमें बाघके द्वारा वह मारा गया। बड़े क्रोधी और भयंकर यमदूत उसे लेनेके लिये आये। वे पाशोंसे बाँधकर उसे ले ही जाना चहते थे कि भगवान् श्रीरामके पार्षद वहाँ आ गये। उन्होंने यमदूतोंको पीड़ित करके कहा कि 'यह तो बड़ा शुद्ध और धार्मिक है। इसे, भला, दण्ड कैसे दिया जा सकता है?' यमराजके दूतोंने कहा—'यह बड़ा पापी है; इसने गौ-ब्राह्मणोंकी हत्या की है, चोरी की है और सदा हिंसामें लगा रहा है।'

"पार्षदोंने कहा—'हे पापियोंको पीड़ा देनेवाले यमदूतो! जिसने एक बार भी रामार्चाका प्रसाद पा लिया है, वह शुद्ध है। धर्म, अर्थ, काम—तीनोंसे युक्त है और वह साकेतमें जाता है।' इतना कहकर उसे पुष्पकमें बैठाकर वे भगवान् रामके पास चले गये। यमदूतोंने यमराजके पास जाकर वह वृत्तान्त सुनाया। यमराजने मन-ही-मन श्रीभगवान् रामके महान् प्रभावका चिन्तन किया।

"हे देवि! तदनन्तर भगवान् श्रीरामको प्रणाम करके धर्मराजने अपने दूतोंसे कहा कि एक बारका किया हुआ रामकीर्तन, एक बारका किया हुआ रामपूजन सर्वश्रेष्ठ फल देनेवाला है। जो एक बार श्रीरामका प्रसाद पा ले, वह तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला, सब पापोंसे मुक्त एवं देवता और दानवोंका पूजनीय हो जाता है। भगवान्के अनुग्रहका पात्र होनेके कारण वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें उत्तम संत है। रामार्चाके प्रभावका पूर्णतया वर्णन कोई नहीं कर सकता। यह रामार्चा रामस्वरूप होनेके कारण सब प्राणियोंको सिद्धि देनेवाली है। जो रामार्चासे सिद्ध न हो जाय, ऐसा कोई काम नहीं है। यमराज इस प्रकार अपने दूतोंको समझाकर भगवान् रामके भजनमें लग गये। इस प्रकार श्रीरामपूजाका प्रभाव सर्वथा अनिर्वचनीय है। हे देवि! जो रामार्चा करते हैं, वे ही श्रेष्ठ मनुष्य हैं। वे सम्पूर्ण महर्षियोंके पूजनीय, रामस्वरूप हो जाते हैं। दस लाख अश्वमेध और दस लाख राजसूय रामार्चाके प्रसादके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं हैं।

"हे प्रिये! श्रीरामकी पूजा करके श्रीरामका प्रसाद जो हनुमान्‌को देता है, उसके सब अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं। प्रसन्न मनसे जो-जो वस्तु श्रीरामचन्द्रको अर्पण करे, वह सब विशेषरूपसे श्रीवायुनन्दन हनुमान्‌जीको भी अर्पित करनी चाहिये। वायुनन्दन श्रीहनुमान्‌जी रामार्चासिद्धिके साक्षात् फलस्वरूप हैं, इसलिये पूरी शक्तिसे भक्तोंकी कामना पूर्ण करनेवाले हनुमान्‌जीको प्रसन्न करना चाहिये।

श्रीपार्वतीजीने कहा—"हे स्वामिन्! हे कृपासिन्धो! और किस-किसने संसारमें यह कल्याणप्रद रामार्चा की? आप कृपा करके कहें; क्योंकि मुझे सुननेसे बड़ा आनन्द होता है।

श्रीमहादेवजीने कहा—"देवि! पहले विश... नगरीमें एक वैश्य रहता था, उसका नाम था सरम। ... बड़ा धनी था और साथ ही असत्यवादी था। उ... देवताओंकी मानता मानी, ब्राह्मणोंको दान कर... संकल्प किया, परंतु न पूजा की, न दान किया। हे दे... इस पापसे उसका सारा धन नष्ट हो गया। वह अ... दीन, मलिन, दुःखी, भूखा, प्यासा और दरिद्र ... इधर-उधर भटकने लगा। दुःख असह्य हो जानेके ... उसने आत्महत्याका विचार किया। वह वैश्य हिमाल... गया, जहाँ भगवान् नारायण रहते हैं। भ... नारायणने उस वैश्यको अत्यन्त दीनतासे युक्त दे... उसपर कृपा की।

"ब्राह्मणका रूप धारण करके वे सरमके पास ... भगवान्‌ने सरमसे कहा—'तुम कौन हो और ... इतने दुःखी हो रहे हो?' उनकी बात सुनकर ब्रा... प्रणाम करके सरमने कहा—'हे महाभाग, मैं वै... और मेरा नाम सरम है। मैं पहले बड़ा धनी ... बड़ा सुखी था। साथ ही उद्धत भी था। न... किस पापसे मेरा सब धन नष्ट हो गया। ... बहुत दुःखित और दीन हो गया। अनेकों ... उपद्रवोंसे व्याकुल हो गया। प्रतिदिन भाइयोंसे

होने लगा, खानेको अन्न न रहा, पहननेको वस्त्र नहीं रहा । हे ब्राह्मण ! अब मैं भीख माँगकर खाता हूँ, मरनेके निकट पहुँच गया हूँ, अब कैसे जीवन धारण करूँ ?' हे देवि ! वैश्यकी बात सुनकर दयालु ब्राह्मणने कहा ।

'अत्यन्त कृपणतासे, लोभसे और असत्यसे धन और सुखका सर्वथा नाश हो जाता है तथा बहुत दुःख होता है । तुमने प्रतिज्ञा करके भी देवताओं और ब्राह्मणोंको दान नहीं किया । दुर्बुद्धे ! यही कारण है कि तुम्हें इतना बड़ा दुःख भोगना पड़ रहा है ।'

वैश्यने कहा—हे ब्राह्मणदेवता ! सचमुच मैंने सच्ची बात तो कभी कही ही नहीं । देवता और ब्राह्मणोंको कहकर भी नहीं दिया । बिना कारणके ही मेरे सब ऐश्वर्य एवं भाई-बन्धु नष्ट हो गये । हे महाभाग ! अब ऐसा उपाय बताइये, जिससे मैं सुखी हो जाऊँ ।

ब्राह्मणने कहा—हे वैश्य ! जो अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण नहीं करते, जो रामभक्तिसे पराङ्मुख हैं, उनके सब धर्म नष्ट हो जाते हैं और वे अपने वंशके साथ यमपुरीको जाते हैं । जो देवता और ब्राह्मणको देनेका वादा करके नहीं देता, यदि उसके दर्शन हो जायँ तो उस पापको मिटानेके लिये चान्द्रायण व्रत करना चाहिये । असत्यसे बढ़कर कोई पाप नहीं है और सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है । इसलिये बुद्धिमान् पुरुष असत्यका परित्याग करके सत्यका आश्रय लेते हैं । जो असत्यका आश्रय लेते हैं, वे पापी पद-पदपर विघ्नोंसे पराजित होते हैं, दरिद्र हो जाते हैं, वंशहीन हो जाते हैं और उन्हें बड़े-बड़े रोग घेर लेते हैं । अनेकों जन्ममें भी उनका दुःख मिटना कठिन है । मनुष्य सच्चे मनसे जो कुछ करता है, उसका फल बहुत ही शीघ्र प्राप्त करके वह देवताओंके साथ आनन्द-विहार करता है ।

वैश्यने कहा—भगवन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता एवं परम दयालु हैं । मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी है, बड़े-बड़े पाप किये हैं, कृपणता की है; अब मैं अत्यन्त दीन हो रहा हूँ, आप मुझपर कृपा करें । हे महाभाग ! मुझपर कृपा करके आप वह उपाय बतायें, जिससे सुगमतासे मेरे दुःख और पाप नष्ट हो जायँ । ब्राह्मणने कहा—'तुम यथाशक्ति विधिपूर्वक सावधानीके साथ रामार्चा करो । उसके करनेपर सब पापोंका नाश हो ही जाता है, इसमें संदेह नहीं ।'

वैश्यने कहा—'हे कृपासिन्धो ! आप विधि बतलाइये, मैं वह पूजा कैसे करूँ, जिससे मेरी सब आपत्ति शीघ्र ही नष्ट हो जाय ?'

ब्राह्मणने कहा—केलेके खंभेसे शोभायमान, तोरण, पताका एवं लाल-पीली चाँदनीसे युक्त मण्डपका निर्माण करे । उसके बीचमें अनेक दिव्य उपचारोंसे भगवान् श्रीरामकी पूजा करे । हे वैश्यवर्य ! रामपूजामें ब्राह्मण और साधुओंका भी सत्कार करे । जो ऐसा करता है, वह इस लोकमें सब सुख भोगकर श्रीरामके साथ आनन्दित होता है । जो मनुष्य रामार्चाका प्रसाद पाता है, उसे आयु, आरोग्य और ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं—इसमें संदेह नहीं । जो नीच मनुष्य रामार्चाका प्रसाद त्याग देते हैं, वे वंशहीन एवं दुखी होकर घोर नरकमें जाते हैं । जो मनुष्य रामार्चाका प्रसाद मित्रों और भाई-बन्धुओंको बाँटता नहीं, वह अवश्य दरिद्र होता है । इसलिये रामभक्तों और मित्रोंके साथ रामार्चा अवश्य करनी चाहिये । यों करनेवाला बहुत ही शीघ्र अपने दुर्लभ वाञ्छित फलको प्राप्त करता है । वह इस लोकमें सुख भोगकर मृत्युके पश्चात् मोक्ष प्राप्त करता है । अतः श्रद्धाके साथ रामार्चा करनी चाहिये, धनकी कंजूसी नहीं करनी चाहिये । हे महाभाग ! रामार्चाके हवन, पूजन, दानमें मनुष्य जो कुछ व्यय करते हैं, उसका कोटि-कोटि गुना प्राप्त करते हैं । हे देवि ! इतना कहकर वह धर्मवेत्ता ब्राह्मण चुप हो गया ।

सरमने कहा—हे ब्राह्मणदेव ! पहले किसने यह पूजा की है अथवा अबतक किसीने नहीं की ? महाभाग ! आप रामार्चाकी पवित्र कथा कहिये । ब्राह्मणने कहा—'मधु-कैटभ दैत्यको मारनेके लिये मैंने संकल्प करके यह पूजा की थी । पहले सृष्टिके आदिमें नारद आदिके साथ ब्रह्माने भी की है ।' इतना कहते ही वैश्यने ब्राह्मणको पहचान लिया, उन्हें भगवान् समझकर अत्यन्त आनन्दयुक्त होकर वह पृथ्वीपर दण्डवत् गिर पड़ा और कहने लगा—'हे प्रभो ! मुझ पापीकी रक्षा करो ।' भगवान् नारायणने वैश्यको अत्यन्त प्रेमसे परिपूर्ण देखकर अपना स्वरूप प्रकट किया और उसे रामार्चाकी विधि बतलायी ।

श्रीशिवजीने पार्वतीजीसे कहा—भगवान् इतिहासके साथ विधिका वर्णन करके अन्तर्धान हो गये । हे देवि ! सरम वैश्यने विधिपूर्वक रामार्चा की । पूजामें भगवान

श्रद्धायुक्त होकर श्रीरामार्चा करनी चाहिये।' और हे प्रिये! पूजाकी सामग्री वाचकको दे देनी चाहिये। भक्तिसे उसे भोजन कराना चाहिये। द्रव्य और दिव्य वस्त्रादिकोंसे उसे संतुष्ट करना चाहिये। हे देवि! संक्षेपसे मैंने मङ्गलमय रामार्चाका वर्णन किया। रामार्चनकी महिमाका वर्णन तो कोई भी नहीं कर सकता। जो रामार्चामें लगे हुए हैं, जो रामनामके परायण हैं, उनके दर्शनसे ही सब सिद्धियाँ मिल जाती हैं। वे मनुष्य धन्य हैं। हे देवि! इस प्रकार तुम्हें रामार्चाकी कल्याणमयी कथा मैंने सुनायी।

''जो इसको सुनते हैं और कहते हैं, उनके सब अभीष्ट सिद्ध हो जाते हैं। जो पापी और भाग्यहीन हैं, उनका इसमें प्रेम नहीं होता।

''भगवान् श्रीराम जिसको सब प्रकारका नित्य सुख देना चाहते हैं, भगवान्‌की पूजामें उसका परम प्रेम हो ही जाता है।

सद्धर्मनिरतो दान्तो रामार्चनपरायणः।
सर्वभूतहितः साधुः श्रीरामस्यातिवल्लभः॥
यद्यच्चिन्तयते कामं तत्तदाप्नोति निश्चितम्।

''सद्धर्मपरायण, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, रामार्चा करनेवाला, सम्पूर्ण प्राणियोंका हित चाहनेवाला, परोपकारी पुरुष भगवान् श्रीरामको बहुत ही प्रिय होता है। वह जिस-जिस वस्तुका चिन्तन करता है, वह-वह वस्तु निश्चितरूपसे प्राप्त कर लेता है।

इह लोके सुखं भुक्त्वा प्राप्नुयाद्रामसंनिधिम्।
रामरूपामृतानन्दसिन्धौ मग्नो भवेद् ध्रुवम्॥

''वह इस लोकमें सुख भोगकर भगवान् श्रीरामका सांनिध्य प्राप्त करता है और रामरूपी अमृत और आनन्दके समुद्रमें निश्चय ही मग्न हो जाता है।''

(श्रीशिवसंहिताके आधारपर)

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम

(रचयिता—श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम०, ए०, बार-एट-ला)

मर्यादा-महिमासे मण्डित, भारत-वन्दित राम।
पीती-रसना सुधा-सार-रस जपकर उनका नाम॥ १॥
पिता-वचनका पालन करने राम गये वनवास।
कर दानव-दल-दलन मिटाया ऋषि-मुनियोंका त्रास॥ २॥
दीन-हीन लोगोंपर प्रभुने किया प्रदर्शित प्यार।
महापुरुषका मूल-मन्त्र है समताका व्यवहार॥ ३॥
गया माँगने शरण विभीषण, खा रावणकी लात।
गले लगाया उसे रामने होकर पुलकित गात॥ ४॥
पायी प्रभुकी शरण तुरत ही मिटी हृदयकी भीति।
शरणागतकी रक्षा करना, प्रचलित भारत-नीति॥ ५॥
रावणकी मृत देह देखकर बोले कृपा-निधान।
मरण अन्त है सब वैरोंका, अब यह भ्रात-समान॥ ६॥
जीती जिस लंका नगरीको, हुआ घोर संग्राम।
उसे विभीषणको लौटाकर किया कृत्य अभिराम॥ ७॥
नैतिक मूल्योंके संस्थापक, पथप्रदर्शक राम।
परम पुरुष पुरुषोत्तम वे ही, दिव्य गुणोंके धाम॥ ८॥
राम-नाम तो मनमें जपना, करना करसे काम।
'जुगल' जगत्-हितमें रत रहना, जीवन-लक्ष्य ललाम॥ ९॥

रामस्तवराजः

श्रीगणेशाय नमः ॥ अस्य श्रीरामचन्द्रस्तवराजस्तोत्रमन्त्रस्य सनत्कुमार ऋषिः । श्रीरामो देवता । अनुष्टुप्छन्दः । सीता बीजम् । हनुमान् शक्तिः । श्रीरामप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

इस श्रीरामचन्द्रस्तवराजस्तोत्र-मन्त्रके सनत्कुमार ऋषि, श्रीराम देवता, अनुष्टुप् छन्द, सीता बीज तथा हनुमान् शक्ति हैं और श्रीरामकी प्रसन्नताके लिये जपमें इसका विनियोग है ।

सूत उवाच

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं व्यासं सत्यवतीसुतम् ।
धर्मपुत्रः प्रहृष्टात्मा प्रत्युवाच मुनीश्वरम् ॥ १ ॥

सूतजी कहते हैं—एक समयकी बात है, धर्मनन्दन राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थका तत्त्वतः ज्ञान रखनेवाले सत्यवतीकुमार मुनीश्वर व्यासजीसे इस प्रकार प्रश्न किया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद ।
किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम्॥ २ ॥
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं ब्रूहि मे मुनिसत्तम ।

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आप योगियोंमें श्रेष्ठ हैं, सम्पूर्ण शास्त्रोंके विशेष विद्वान् हैं; अतः मैं आपके मुखसे यह सुनना चाहता हूँ कि तत्त्व क्या है ? सर्वोत्तम जपनीय मन्त्र कौन-सा है ? तथा कौन-सा ध्यान मोक्षका साधक है ? मुनिप्रवर ! ये सब बातें आप मुझे बताइये ॥ २½ ॥

वेदव्यास उवाच

धर्मराज महाभाग शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ ३ ॥
यत्परं यद्गुणातीतं यज्ज्योतिरमलं शिवम् ।
तदेव परमं तत्त्वं कैवल्यपदकारणम् ॥ ४ ॥

वेदव्यासजीने कहा—महाभाग धर्मराज ! सुनो, मैं सब बातें ठीक-ठीक बताता हूँ । [तत्त्व क्या है ! यह सुनो—] जो सर्वोत्कृष्ट, तीनों गुणोंसे अतीत, निर्मल एवं कल्याणमय है, वही कैवल्य पदका कारणभूत परम तत्त्व है ॥ ३-४ ॥

श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम् ।
ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः ॥ ५ ॥

[अब सर्वोत्तम जपनीय मन्त्र सुनो—] 'श्रीराम' यह परम उत्तम जपनीय मन्त्र है । इसीको 'तारक ब्रह्म' कहा गया है । यह ब्रह्महत्या आदि पापोंका नाश करनेवाला है—ऐसी वेदवेत्ताओंकी मान्यता है ॥ ५ ॥

श्रीराम रामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा ।
तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः ॥ ६ ॥

जो लोग 'श्रीराम राम' इस मन्त्रका सदा जप करते हैं; उन्हें भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे—इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥

स्तवराजं पुरा प्रोक्तं नारदेन च धीमता ।
तत्सर्वं सम्प्रवक्ष्यामि हरिध्यानपुरःसरम् ॥ ७ ॥

पूर्वकालमें बुद्धिमान् महात्मा नारदजीने जिस स्तवराज-का पाठ किया था, वह सब मैं श्रीहरिके ध्यानपूर्वक बताऊँगा ॥ ७ ॥

तापत्रयाग्निशमनं सर्वाघौघनिकृन्तनम् ।
दारिद्र्यदुःखशमनं सर्वसम्पत्करं शिवम् ॥ ८ ॥

वह स्तवराज आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंकी अग्निको शान्त करनेवाला है; सम्पूर्ण पापराशिका उच्छेद तथा दरिद्रताके दुःखको दूर करनेवाला है । वह मङ्गलमय स्तोत्र समस्त सम्पदाओंकी प्राप्ति कराने-वाला है ॥ ८ ॥

विश्वामित्रवसिष्ठादिमुनिभिः परिसेवितम् ।
सनकादिमुनिश्रेष्ठैर्योगिवृन्दैश्च सेवितम् ॥१९॥

विश्वामित्र तथा वसिष्ठ आदि मुनि सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। सनक-सनन्दन आदि मुनिवर एवं योगियोंके समुदाय उनकी समाराधनामें संलग्न हैं ॥ १९ ॥

रामं रघुवरं वीरं धनुर्वेदविशारदम् ।
मङ्गलायतनं देवं रामं राजीवलोचनम् ॥२०॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञमानन्दकरसुन्दरम् ।
कौसल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम् ॥२१॥

रघुवीर राम बड़े वीर हैं। धनुर्वेदके विशिष्ट ज्ञाता हैं। दिव्यविग्रह, कमलनयन श्रीराम मङ्गलके आश्रय हैं। सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थ एवं तत्त्वके ज्ञाता हैं। आनन्दकारक सौन्दर्यसे सुशोभित हैं। कौसल्यानन्दन भगवान् श्रीराम अपने एक हाथमें धनुष और दूसरेमें बाण धारण करते हैं ॥ २०-२१ ॥

एवं संचिन्तयन् विष्णुं यज्ज्योतिरमलं विभुम् ।
प्रहृष्टमानसो भूत्वा मुनिवर्यः स नारदः ॥२२॥

(इस भगवान्के स्वरूपका ध्यान करना चाहिये।) इस प्रकार निर्मल, व्यापक, ज्योतिर्मय विष्णुस्वरूप श्रीरामका बारंबार चिन्तन करके मुनिवर्य श्रीनारदजीका हृदय-पङ्कज आनन्दातिरेकसे खिल उठा ॥ २२ ॥

सर्वलोकहितार्थाय तुष्टाव रघुनन्दनम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा चिन्तयन्नद्भुतं हरिम् ॥२३॥

वे दोनों हाथ जोड़ अद्भुत महिमावाले श्रीहरिका चिन्तन करते हुए सम्पूर्ण लोकोंके हितके लिये रघुकुलनन्दन श्रीरामका स्तवन करने लगे ॥ २३ ॥

यदेकं यत्परं नित्यं यदनन्तं चिदात्मकम् ।
यदेकं व्यापकं लोके तद्रूपं चिन्तयाम्यहम् ॥२४॥

जो एक मात्र—अद्वितीय, परम नित्य, अनन्त, चिन्मय, केवल तथा लोकमें सर्वत्र व्यापक है, श्रीरामके उस स्वरूपका मैं चिन्तन करता हूँ ॥ २४ ॥

विज्ञानहेतुं विमलायताक्षं
प्रज्ञानरूपं स्वसुखैकहेतुम् ।
श्रीरामचन्द्रं हरिमादिदेवं
परात्परं राममहं भजामि ॥२५॥

जो विज्ञानके हेतु, विमल विशाल नयनोंसे सुशोभि प्रज्ञानस्वरूप तथा आत्मानन्दकी उपलब्धिके अद्वित कारण हैं उन आदिदेव, परात्पर हरि लोकरम श्रीरामचन्द्रजीका मैं भजन करता हूँ ॥ २५ ॥

कविं पुराणं पुरुषं पुरस्तात्
सनातनं योगिनमीशितारम् ।
अणोरणीयांसमनन्तवीर्यं
प्राणेश्वरं राममसौ ददर्श ॥२६

इतना कहते-कहते नारदजीको प्राणवल्लभ श्रीराम प्रत्यक्ष दर्शन हुए । वे श्रीराम कवि (त्रिकालदर्शी पुराणपुरुष, आदिपुरुष, सनातन, योगी, ईश्वर, अणुसे अणु तथा अनन्त बल-पराक्रमके सिंधु हैं ॥ २६ ॥

नारद उवाच

नारायणं जगन्नाथमभिरामं जगत्पतिम् ।
कविं पुराणं वागीशं रामं दशरथात्मजम् ॥२७

दर्शनके पश्चात् श्रीनारदजी बोले—जो नाराय (जीवमात्रके अधिष्ठान), जगन्नाथ, मनोहर, सम्पू जगत्के पालक, कवि, पुराणपुरुष तथा वाणीपति है उन दशरथनन्दन श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥२७

राजराजं रघुवरं कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
भर्गं वरेण्यं विश्वेशं रघुनाथं जगद्गुरुम् ॥२८

जो राजाओंके भी राजा, रघुकुलके श्रेष्ठ पुरुष तथ कौसल्या माताका आनन्द बढ़ानेवाले हैं, जो सर्वोत्कृ तेज, समस्त विश्वके अधीश्वर, रघुकुलके नाथ तथ जगद्गुरु हैं; उन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ॥२८

सत्यं सत्यप्रियं श्रेष्ठं जानकीवल्लभं विभुम् ।
सौमित्रिपूर्वजं शान्तं कामदं कमलेक्षणम् ॥२९॥

जो सत्यस्वरूप हैं, सत्य भाषण जिन्हें प्रिय है, जो श्रेष्ठ हैं, जनककिशोरीके प्राणवल्लभ हैं तथा सर्वत्र व्यापक हैं, उन शान्तस्वरूप एवं सर्वकामपूरक लक्ष्मणाग्रज कमलनयन श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २९ ॥

आदित्यं रविमीशानं घृणिं सूर्यमनामयम् ।
आनन्दरूपिणं सौम्यं राघवं करुणामयम् ॥३०॥

जो अदितिनन्दन, ईश्वर, घृणि, सूर्यस्वरूप, रोग-रहित, आनन्दमय, सौम्य तथा करुणामय हैं; उन राघवेन्द्र श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३० ॥

जामदग्निं तपोमूर्तिं रामं परशुधारिणम् ।
वाक्पतिं वरदं वाच्यं श्रीपतिं पक्षिवाहनम् ॥३१॥

जो तपोमूर्ति, परशुधारी जमदग्नि-कुमार परशुराम-स्वरूप हैं; वाणीके अधिपति, वरदायक, प्रत्येक शब्दके वाच्यार्थरूप तथा गरुड़वाहन लक्ष्मीपति हैं; उन श्रीराम-को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३१ ॥

श्रीशार्ङ्गधारिणं रामं चिन्मयानन्दविग्रहम् ।
हलधृग्विष्णुमीशानं बलरामं कृपानिधिम् ॥३२॥

जो सच्चिदानन्दविग्रह, शार्ङ्गधनुष धारण करने-वाले, हलधररूप, विष्णुस्वरूप तथा ईशानस्वरूप हैं; उन करुणा-वरुणालय बलरामरूपधारी श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३२ ॥

श्रीवल्लभं कृपानाथं जगन्मोहनमच्युतम् ।
मत्स्यकूर्मवराहादिरूपधारिणमव्ययम् ॥३३॥
वासुदेवं जगद्योनिमनादिनिधनं हरिम् ।
गोविन्दं गोपतिं विष्णुं गोपीजनमनोहरम् ॥३४॥
गोगोपालपरीवारं गोपकन्यासमावृतम् ।
विद्युत्पुञ्जप्रतीकाशं रामं कृष्णं जगन्मयम् ॥३५॥

जो श्रीवल्लभ, कृपानाथ, जगन्मोहन, अच्युत, मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपधारी, अविनाशी, वासुदेव, जगत्-की उत्पत्तिके स्थान, आदि-अन्त-रहित, हरि (भयहारी), गोविन्द (गौओंके इन्द्र), गोपति, विष्णु, गोपीजन-मनोहर, गौओं और गोपालोंसे आवृत, गोपकन्याओंसे घिरे हुए, विद्युत्पुञ्जके समान पीतवस्त्रधारी, श्यामविग्रह एवं जगन्मय हैं, उन श्रीकृष्णस्वरूप श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३३–३५ ॥

गोगोपिकासमाकीर्णं वेणुवादनतत्परम् ।
कामरूपं कलावन्तं कामिनीकामदं विभुम् ॥३६॥
मन्मथं मथुरानाथं माधवं मकरध्वजम् ।
श्रीधरं श्रीकरं श्रीशं श्रीनिवासं परात्परम् ॥३७॥

जो गौओं तथा गोपिकाओंसे आवृत, वेणुवादनमें तत्पर, इच्छानुसार रूपधारी, सम्पूर्ण कलाओंसे सम्पन्न, अपनी कामना करनेवाली प्रेयसियोंकी इच्छा पूर्ण करने-वाले, व्यापक, कामदेवस्वरूप, मथुरानाथ, माधव, मकरध्वज, श्रीधर, श्रीकी प्राप्ति करानेवाले, श्रीजीके स्वामी, लक्ष्मीनिवास तथा परात्पर पुरुषोत्तम हैं; उन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ३६-३७ ॥

भूतेशं भूपतिं भद्रं विभूतिं भूमिभूषणम् ।
सर्वदुःखहरं वीरं दुष्टदानववैरिणम् ॥३८॥
श्रीनृसिंहं महाबाहुं महान्तं दीप्ततेजसम् ।
चिदानन्दमयं नित्यं प्रणवं ज्योतिरूपिणम् ॥३९॥
आदित्यमण्डलगतं निश्चितार्थस्वरूपिणम् ।
भक्तिप्रियं पद्मनेत्रं भक्तानामीप्सितप्रदम् ॥४०॥
कौसल्येयं कलामूर्तिं काकुत्स्थं कमलाप्रियम् ।
सिंहासने समासीनं नित्यव्रतमकल्मषम् ॥४१॥

जो भूतनाथ, भूपति, भद्रस्वरूप, विभूतिमय, भूमि-के भूषण, सर्वदुःखहारी, वीर, दुष्टों तथा दानवोंके वैरी, श्रीनृसिंहस्वरूप, विशालबाहु, महान् उद्दीप्त, तेजस्वी, चिदानन्दमय, नित्य, प्रणवरूप, ज्योतिर्मय, सूर्यमण्डलमें व्याप्त, निश्चित अर्थस्वरूप, भक्तिप्रिय,

कमलनयन, भक्तोंके अभीष्टदाता, कौसल्याकुमार, कला-मूर्ति, ककुत्स्थकुलभूषण, कमलावल्लभ, सिंहासनपर आसीन, नित्यव्रतधारी तथा नित्य हैं; उन श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३८—४१ ॥

विश्वामित्रप्रियं दान्तं स्वदारनियतव्रतम् ।
यज्ञेशं यज्ञपुरुषं यज्ञपालनतत्परम् ॥४२॥
सत्यसंधं जितक्रोधं शरणागतवत्सलम् ।
सर्वक्लेशापहरणं विभीषणवरप्रदम् ॥४३॥
दशग्रीवहरं रौद्रं केशवं केशिमर्दनम् ।
वालिप्रमथनं वीरं सुग्रीवेप्सितराज्यदम् ॥४४॥
नरवानरदेवैश्च सेवितं हनुमत्प्रियम् ।
शुद्धं सूक्ष्मं परं शान्तं तारकं ब्रह्मरूपिणम् ॥४५॥

जो विश्वामित्रजीको परम प्रिय हैं, जिनके मन और इन्द्रियाँ सदा वशमें हैं, जो नियमपूर्वक अपनी ही पत्नी-में अनुराग रखनेवाले हैं; जो यज्ञके स्वामी, यज्ञपुरुष, यज्ञपालन-परायण, सत्यप्रतिज्ञ, क्रोधविजयी, शरणागत-वत्सल, सर्वक्लेशापहारी, विभीषणको वर देनेवाले, दशमुख रावणका संहार करनेवाले, रौद्ररूप, केशिमर्दन, केशव, वालीको मथ डालनेवाले वीर, वानरराज सुग्रीव-को अभीष्ट राज्य प्रदान करनेवाले, नर, वानर तथा देवताओंसे सेवित, हनुमान्‌जीके प्रियतम, शुद्ध एवं सूक्ष्मस्वरूप, परम शान्त तथा तारक ब्रह्मरूप हैं; उन भगवान् श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४२—४५ ॥

सर्वभूतात्मभूतस्थं सर्वाधारं सनातनम् ।
सर्वकारणकर्तारं निदानं प्रकृतेः परम् ॥४६॥
निरामयं निराभासं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
नित्यानन्दं निराकारमद्वैतं तमसः परम् ॥४७॥
परात्परतरं तत्त्वं सत्यानन्दं चिदात्मकम् ।
मनसा शिरसा नित्यं प्रणमामि रघूत्तमम् ॥४८॥

जो सम्पूर्ण भूतोंके आत्मारूपसे उनके भीतर स्थित हैं, सबके सनातन आधार, समस्त कारणोंके कर्ता, प्रकृतिके परम निदान (कारण), निरामय, आभास-शून्य, निरवद्य, निरञ्जन, नित्यानन्द, निराकार, अद्वैत, अज्ञानान्धकारसे परे, परात्परतर, तत्त्वरूप तथा सत्या-नन्दविज्ञानघनस्वरूप हैं; उन श्रीरघुश्रेष्ठ श्रीरामको सिर नवाकर मैं मनसे प्रणाम करता हूँ ॥ ४६—४८ ॥

सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ।
नमामि पुण्डरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम् ॥४९॥

जो सूर्यमण्डलके मध्यभागमें उसके आत्मारूपसे विराजमान हैं, अमेय हैं और श्रीगुरुचरणोंकी सेवामें तत्पर रहते हैं; उन सीतासहित कमलनयन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४९ ॥

नमोऽस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः ।
नमोऽस्तु रामदेवाय जगदानन्दरूपिणे ॥५०॥

ग्रहों और नक्षत्रोंके अधिपति, वसुदेवनन्दन श्री-कृष्णचन्द्रको बारंबार नमस्कार है । जगदानन्दस्वरूप श्रीरामदेवको प्रणाम है ॥ ५० ॥

नमो वेदान्तनिष्ठाय योगिने ब्रह्मवादिने ।
मायामयनिरासाय प्रपन्नजनसेविने ॥५१॥

जो वेदान्त-निष्ठ (उपनिषदोंमें ब्रह्मरूपसे प्रति-पादित), योगी, ब्रह्मवादी, मायामय जगत्‌का बाध करनेवाले तथा शरणागतजनोंका सेवन (उनपर अनुग्रह) करनेवाले हैं; उन श्रीरामको नमस्कार है ॥ ५१ ॥

वन्दामहे महेशानचण्डकोदण्डखण्डनम् ।
जानकीहृदयानन्दवर्धनं रघुनन्दनम् ॥५२॥

महेश्वरके प्रचण्ड कोदण्ड (धनुष) का खण्डन तथा श्रीजनकनन्दिनीके हार्दिक आनन्दका संवर्धन करनेवाले श्रीरघुनन्दनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५२ ॥

उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय रामाय ते
कामाय प्रमदामनोहरगुणग्रामाय रामात्मने ।
योगारूढमुनीन्द्रमानससरोहंसाय संसारवि-
ध्वंसाय स्फुरदोजसे रघुकुलोत्तंसाय पुंसे नमः ॥५३॥

जो प्रफुल्ल निर्मल एवं कोमल नीलोत्पल-दलके समान श्याम हैं, कमनीय कामस्वरूप हैं, जिनका

गुणसमुदाय प्रमदाजनोंके मनको हर लेनेवाला है तथा जो योगारूढ़ मुनीश्वरोंके मानससरोवरमें विहार करनेवाले हंसरूप हैं; उन संसार-बन्धनके नायक उद्दीप्त तेजस्वी रघुकुलभूषण एवं योगियोंके हृदयमें रमण करनेवाले आप श्रीरामस्वरूप परम पुरुषको नमस्कार है ॥ ५३ ॥

भवोद्भवं वेदविदां वरिष्ठ-
मादित्यचन्द्रानलसुप्रभावम् ।
सर्वात्मकं सर्वगतस्वरूपं
नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥५४॥

जो संसारके स्रष्टा, वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ, सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान उत्तम प्रभावशाली, सर्वस्वरूप, सर्वत्र व्यापक और तमसे परे हैं; उन भगवान् श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ५४ ॥

निरञ्जनं निष्प्रतिमं निरीहं
निराश्रयं निष्कलमप्रपञ्चम् ।
नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं
निरन्तरं राममहं भजामि ॥५५॥

जो निरञ्जन, निरुपम, निरीह, अन्य आश्रयसे रहित, निष्कल (निरवयव अथवा अखण्ड), दृश्य-प्रपञ्चसे अतीत, नित्य, ध्रुव, निर्विषयस्वरूप तथा निरन्तर (व्यवधानशून्य—व्यापक) हैं; उन श्रीरामचन्द्रजीका मैं भजन करता हूँ ॥ ५५ ॥

भवाब्धिपोतं भरताग्रजं तं
भक्तिप्रियं भानुकुलप्रदीपम् ।
भूतत्रिनाथं भुवनाधिपं तं
भजामि रामं भवरोगवैद्यम् ॥५६॥

जो भवसागरसे पार होनेके लिये जहाज हैं, जिन्हें भक्ति प्रिय है, जो पाँचों भूतों तथा तीनों लोकोंके नाथ हैं, संसाररूपी रोगका निवारण करनेके लिये एकमात्र वैद्य एवं चतुर्दश भुवनोंके अधिपति हैं; उन सूर्यवंशप्रदीप भरताग्रज श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ५६ ॥

सर्वाधिपत्यं समराङ्गधीरं
सत्यं चिदानन्दमयस्वरूपम् ।
सत्यं शिवं शान्तिमयं शरण्यं
सनातनं राममहं भजामि ॥५७॥

जो सर्वेश्वर, समराङ्गणके धीर वीर, सत्यात्मा, चिदानन्दस्वरूप, सत्य, शिव एवं शान्तिमय हैं, उन शरणागतवत्सल सनातन श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ५७ ॥

कार्यक्रियाकारणमप्रमेयं
कविं पुराणं कमलायताक्षम् ।
कुमारवेद्यं करुणामयं तं
कल्पद्रुमं राममहं भजामि ॥५८॥

जो कार्य जगत् तथा क्रिया (प्रवृत्ति) के कारण, प्रमाणोंकी पहुँचसे परे, कवि (सर्वज्ञ), पुराणपुरुष, कमलनयन, सनकादि कुमारोंके वेद्य तथा कल्पवृक्षरूप हैं; उन करुणामय श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ५८ ॥

त्रैलोक्यनाथं सरसीरुहाक्षं
दयानिधिं द्वन्द्वविनाशहेतुम् ।
महाबलं वेदनिधिं सुरेशं
सनातनं राममहं भजामि ॥५९॥

त्रिभुवनपति, सरसीरुहलोचन, दयानिधान, द्वन्द्वोंके विनाशके हेतु, महाबलशाली, वेदनिधि तथा सनातन देवेश्वर श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ५९ ॥

वेदान्तवेद्यं कविमीशितार-
मनादिमध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम् ।
अगोचरं निर्मलमेकरूपं
नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥६०॥

जो वेदान्तवेद्य, कवि (क्रान्तदर्शी), ईशिता (ऐश्वर्यसम्पन्न) तथा आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं; उन अचिन्त्य, अगोचर, निर्मल, एकरूप एवं अज्ञानान्धकारसे अतीत आदिपुरुष श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६० ॥

अशेषवेदात्मकमादिसंज्ञ-
मजं हरिं विष्णुमनन्तमाद्यम् ।
अपारसंवित्सुखमेकरूपं
परात्परं राममहं भजामि ॥६१॥

सम्पूर्ण वेद जिनके स्वरूप हैं, जो सबके आदि कहे जाते हैं, जो अजन्मा, हरि (भवतापका हरण करनेवाले), विष्णु (व्यापक), अनन्त, आदिपुरुष, अपार विज्ञानानन्दसिन्धु तथा एकरूप हैं; उन परात्पर श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ६१ ॥

तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं
स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम् ।
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं
विश्वेश्वरं राममहं भजामि ॥६२॥

तत्त्वस्वरूप, पुराणपुरुष, अपने तेजसे सम्पूर्ण विश्वको परिपूर्ण करनेवाले, एक (अद्वितीय) तथा सूर्यमण्डलमें नारायणरूपसे विराजमान हैं; उन राजाधिराज विश्वनाथ श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ६२ ॥

लोकाभिरामं रघुवंशनाथं
हरिं चिदानन्दमयं मुकुन्दम् ।
अशेषविद्याधिपतिं कवीन्द्रं
नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥६३॥

जो तमसे परे, सच्चिदानन्दस्वरूप, सम्पूर्ण विद्याओंके अधिपति, कवीन्द्र तथा मुकुन्द हरिरूप हैं, उन लोकाभिराम रघुवंशनाथ श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६३ ॥

योगीन्द्रसंघैश्च सुसेव्यमानं
नारायणं निर्मलमादिदेवम् ।
नतोऽस्मि नित्यं जगदेकनाथ-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥६४॥

योगीन्द्रोंका समुदाय जिनका सदा भलीभाँति सेवन करता है तथा जो मल-विक्षेपादि दोषोंसे रहित अपनी कान्तिसे सूर्यके समान प्रकाशमान तथा जगत्के एकमात्र स्वामी श्रीरामको मैं नित्यप्रति नमस्कार करता हूँ ॥ ६४ ॥

विभूतिदं विश्वसृजं विरामं
राजेन्द्रमीशं रघुवंशनाथम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमूर्तिं
ज्योतिर्मयं राममहं भजामि ॥६५॥

जो ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले, विश्वस्रष्टा, सबके विराम (विश्राम) स्थान, अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तमूर्ति तथा ज्योतिर्मय हैं; उन सर्वेश्वर रघुवंशनाथ राजाधिराज श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ६५ ॥

अशेषसंसारविहारहीन-
मादित्यगं पूर्णसुखाभिरामम् ।
समस्तसाक्षिं तमसः परस्ता-
न्नारायणं विष्णुमहं भजामि ॥६६॥

जो समस्त संसार-विहारसे रहित, सूर्यमण्डल-मध्यवर्ती, परिपूर्ण आनन्दसे अभिराम, सबके साक्षी तथा तमसे परे हैं; उन सर्वव्यापी नारायणस्वरूप श्रीरामका मैं भजन करता हूँ ॥ ६६ ॥

मुनीन्द्रगुह्यं परिपूर्णकामं
कलानिधिं कल्मषनाशहेतुम् ।
परात्परं यत्परमं पवित्रं
नमामि रामं महतो महान्तम् ॥६७॥

जो मुनीन्द्रोंके लिये अत्यन्त गोपनीय तत्त्व, परिपूर्णकाम, कलाओंके निधान, पापनाशके हेतुभूत, परात्पर परम पवित्र एवं महान्‌से भी महान् हैं; उन श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ६७ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवेन्द्रो देवतास्तथा ।
आदित्यादिग्रहाश्चैव त्वमेव रघुनन्दन ॥६८॥

रघुनन्दन ! आप ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, देवेन्द्र समस्त ग्रहरूप हैं ॥ ६८ ॥

तो मेरी इतनी ही प्रार्थना है कि आप मुझे अपने युगल चरणारविन्दोंकी भक्ति प्रदान करें ॥ ८०½ ॥

ततः परमसम्प्रीतः स रामः प्राह नारदम् ॥८१॥

नारदजीकी इस बातसे भगवान् श्रीराम बड़े प्रसन्न हुए और उनसे बोले—॥ ८१ ॥

श्रीराम उवाच

मुनिवर्य महाभाग मुने त्विष्टं ददामि ते ।
यत्त्वया चेप्सितं सर्वं मनसा तद् भविष्यति ॥८२॥

श्रीरामने कहा–मुनिवर्य ! महाभाग मुने ! मैं तुम्हें अभीष्ट वर देता हूँ । तुमने अपने मनमें जिस-जिस वस्तुकी इच्छा की है, वह सब तुम्हें प्राप्त होगी ॥८२॥

नारद उवाच

परं न याचे रघुनाथ युष्मत्-
पादाब्जभक्तिः सततं ममास्तु ।
इदं प्रियं नाथ वरं प्रयाचे
पुनः पुनस्त्वामिदमेव याचे ॥८३॥

नारदजी बोले—रघुनाथ ! मैं दूसरी कोई वस्तु नहीं माँगता, आपके चरणारविन्दोंकी भक्ति ही मुझे सदा प्राप्त हो । नाथ ! यही मेरा प्रिय वर है, जिसके लिये मैं याचना करता हूँ और बारंबार आपसे इसीको माँगता हूँ ॥ ८३ ॥

व्यास उवाच

इत्येवमीडितो रामः प्रादात्तस्मै वरान्तरम् ।
वीरो रामो महातेजाः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥८४॥
अद्वैतममलं ज्ञानं स्वनामस्मरणं तथा ।
अन्तर्दधौ जगन्नाथः पुरतस्तस्य राघवः ॥८५॥

व्यासजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! नारदजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् श्रीरामने उन्हें उनका अभीष्ट वर तो दिया ही; यह दूसरा वर और भी दिया । सच्चिदानन्द-विग्रह वीराग्रगण्य महातेजस्वी श्रीरामने नारदजी-को निर्मल अद्वैत ज्ञान तथा निरन्तर स्वनाम-स्मरणका वर दिया । इसके बाद जगदीश्वर श्रीरघुनाथजी उनके सामनेसे अन्तर्हित हो गये ॥ ८४-८५ ॥

इति श्रीरघुनाथस्य स्तवराजमनुत्तमम् ।
सर्वसौभाग्यसम्पत्तिदायकं मुक्तिदं शुभम् ॥८६॥

यह श्रीरघुनाथजीका परम उत्तम स्तवराज सब प्रकारके सौभाग्य तथा सम्पत्तिका दाता है । मोक्ष देनेवाला तथा मङ्गलमय है ॥ ८६ ॥

कथितं ब्रह्मपुत्रेण वेदानां सारमुत्तमम् ।
गुह्याद्गुह्यतमं दिव्यं तव स्नेहात्प्रकीर्तितम् ॥८७॥

ब्रह्मपुत्र नारदजीके द्वारा कथित यह उत्तम स्तव-राज सम्पूर्ण वेदोंका सार तत्त्व है । गुह्यसे भी गुह्यतम तथा दिव्य है । युधिष्ठिर ! इसे मैंने तुम्हारे स्नेहवश प्रकट किया है ॥ ८७ ॥

यः पठेच्छृणुयाद्वापि त्रिसंध्यं श्रद्धयान्वितः ।
ब्रह्महत्यादिपापानि तत्समानि बहूनि च ॥८८॥

जो श्रद्धापूर्वक तीनों संध्याओंके समय इसका पाठ अथवा श्रवण करेगा, उसके ब्रह्महत्या आदि पातक तथा उसके समान अन्य बहुत-से उपपातक नष्ट हो जायँगे ॥ ८८ ॥

स्वर्णस्तेयं सुरापानं गुरुतल्पगतिस्तथा ।
गोवधाद्युपपापानि अनृतात्सम्भवानि च ॥८९॥
सर्वैः प्रमुच्यते पापैः कल्पायुतशतोद्भवैः ।

सुवर्णकी चोरी, मदिरापान, गुरुपत्नीगमन, ब्रह्म-हत्या तथा इनके संसर्गसे होनेवाले जो महापातक हैं, और गोवध आदि जो उपपातक तथा असत्यभाषणसे होनेवाले जो पाप हैं, वे सब पहलेके लाखों कल्पोंमें क्यों न उपार्जित किये गये हों, उन सब पापोंसे इस स्तोत्रका पाठक अथवा श्रोता मुक्त हो जाता है ॥८९½॥

मानसं वाचिकं पापं कर्मणा समुपार्जितम् ॥९०॥
श्रीरामस्मरणेनैव तत्क्षणान्नश्यति ध्रुवम् ।
इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ॥९१॥

मन, वाणी तथा क्रियाद्वारा उपार्जित समस्त पाप श्रीरामके स्मरण मात्रसे ही तत्काल नष्ट हो जाते हैं—यह ध्रुव सत्य है । यह सत्य है, यह सत्य है; इस विषयमें यह सत्य ही कहा जाता है ॥ ९०-९१ ॥

स्तोत्रम्

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥ १ ॥

श्रीरघुनाथजीका चरित्र सौ करोड़ श्लोकोंमें बद्ध है और उसका एक-एक अक्षर भी मनुष्योंके महान् पापोंको नष्ट करनेवाला है ॥ १ ॥

ध्यात्वा नीलोत्पलश्यामं रामं राजीवलोचनम् ।
जानकीलक्ष्मणोपेतं जटामुकुटमण्डितम् ॥ २ ॥
सासितूणधनुर्बाणपाणिं नक्तंचरान्तकम् ।
स्वलीलया जगत्त्रातुमाविर्भूतमजं विभुम् ॥ ३ ॥
रामरक्षां पठेत्प्राज्ञः पापघ्नीं सर्वकामदाम् ।
शिरो मे राघवः पातु भालं दशरथात्मजः ॥ ४ ॥

जो नीलकमलदलके समान श्यामवर्ण, कमल-नयन, जटाओंके मुकुटसे सुशोभित, हाथोंमें खड्ग, तूणीर, धनुष और बाण धारण करनेवाले, राक्षसोंके संहारकारी तथा संसारकी रक्षाके लिये अपनी लीलासे ही अवतीर्ण हुए हैं, उन अजन्मा और सर्वव्यापक भगवान् रामका जानकी और लक्ष्मणजीके सहित स्मरण कर प्राज्ञ पुरुष इस सर्वकामप्रदा और पापविना-शिनी रामरक्षाका पाठ करे। मेरे सिरकी राघव और ललाटकी दशरथात्मज रक्षा करें ॥ २–४ ॥

कौसल्येयो दृशौ पातु विश्वामित्रप्रियः श्रुती ।
घ्राणं पातु मखत्राता मुखं सौमित्रिवत्सलः ॥ ५ ॥

कौसल्यानन्दन नेत्रोंकी रक्षा करें, विश्वामित्रप्रिय कानोंको सुरक्षित रक्खें तथा यज्ञरक्षक घ्राणकी और सौमित्रिवत्सल मुखकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

जिह्वां विद्यानिधिः पातु कण्ठं भरतवन्दितः ।
स्कन्धौ दिव्यायुधः पातु भुजौ भग्नेशकार्मुकः ॥ ६ ॥

मेरी जिह्वाकी विद्यानिधि, कण्ठकी भरतवन्दित, कंधोंकी दिव्यायुध और भुजाओंकी भग्नेशकार्मुक (महादेवजीका धनुष तोड़नेवाले) रक्षा करें ॥ ६ ॥

करौ सीतापतिः पातु हृदयं जामदग्न्यजित् ।
मध्यं पातु खरध्वंसी नाभिं जाम्बवदाश्रयः ॥ ७ ॥

हाथोंकी सीतापति, हृदयकी जामदग्न्यजित् (परशुरामजीको जीतनेवाले), मध्यभागकी खरध्वंसी (खर नामके राक्षसका नाश करनेवाले) और नाभि-की जाम्बवदाश्रय (जाम्बवान्के आश्रयस्वरूप) रक्षा करें ॥ ७ ॥

सुग्रीवेशः कटी पातु सक्थिनी हनुमत्प्रभुः ।
ऊरू रघूत्तमः पातु रक्षःकुलविनाशकृत् ॥ ८ ॥

कमरकी सुग्रीवेश (सुग्रीवके स्वामी), सक्थियों-की हनुमत्प्रभु और ऊरुओं (जाँघों) की राक्षसकुल-विनाशक रघुश्रेष्ठ रक्षा करें ॥ ८ ॥

जानुनी सेतुकृत्पातु जङ्घे दशमुखान्तकः ।
पादौ विभीषणश्रीदः पातु रामोऽखिलं वपुः ॥ ९ ॥

जानुओं (घुटनों) की सेतुकृत्, जङ्घाओं (पिंडलियों) की दशमुखान्तक (रावणको मारनेवाले), चरणोंकी विभीषणश्रीद (विभीषणको ऐश्वर्य प्रदान करनेवाले) और सम्पूर्ण शरीरकी श्रीराम रक्षा करें ॥ ९ ॥

एतां रामबलोपेतां रक्षां यः सुकृती पठेत् ।
स चिरायुः सुखी पुत्री विजयी विनयी भवेत् ॥१०॥

जो पुण्यवान् पुरुष रामबलसे सम्पन्न इस रक्षाका पाठ करता है, वह दीर्घायु, सुखी, पुत्रवान्, विजयी और विनयसम्पन्न हो जाता है ॥ १० ॥

पातालभूतलव्योमचारिणश्छद्मचारिणः ।
न द्रष्टुमपि शक्तास्ते रक्षितं रामनामभिः ॥११॥

जो जीव पाताल, पृथ्वी अथवा आकाशमें विचरते हैं और जो छद्मवेषसे घूमते रहते हैं, वे रामनामोंसे सुरक्षित पुरुषको आँख उठाकर देख भी नहीं सकते ॥११॥

रामेति रामभद्रेति रामचन्द्रेति वा स्मरन् ।
नरो न लिप्यते पापैर्भुक्तिं मुक्तिं च विन्दति ॥१२॥

'राम', 'रामभद्र', 'रामचन्द्र'—इन नामोंका स्मरण करनेसे मनुष्य पापोंसे लिप्त नहीं होता तथा भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

जगज्जैत्रैकमन्त्रेण रामनाम्नाभिरक्षितम् ।
यः कण्ठे धारयेत्तस्य करस्थाः सर्वसिद्धयः ॥१३॥

जो पुरुष जगत्को विजय करनेवाले एकमात्र मन्त्र रामनामसे सुरक्षित इस स्तोत्रको कण्ठमें धारण करता है (अर्थात् इसे कण्ठस्थ कर लेता है), सम्पूर्ण सिद्धियाँ उसके हस्तगत हो जाती हैं ॥ १३ ॥

वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत् ।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमङ्गलम् ॥१४॥

जो मनुष्य वज्रपञ्जर नामक इस रामकवचका स्मरण करता है, उसकी आज्ञाका कहीं उल्लङ्घन नहीं होता और उसे सर्वत्र जय और मङ्गलकी प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥

आदिष्टवान्यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हरः ।
तथा लिखितवान्प्रातः प्रबुद्धो बुधकौशिकः ॥१५॥

श्रीशंकरने रात्रिके समय स्वप्नमें इस रामरक्षाका जिस प्रकार आदेश दिया था, उसी प्रकार प्रातःकाल जगनेपर बुध कौशिकने इसे लिख लिया ॥ १५ ॥

आरामः कल्पवृक्षाणां विरामः सकलापदाम् ।
अभिरामस्त्रिलोकानां रामः श्रीमान्स नः प्रभुः ॥१६॥

जो मानो कल्पवृक्षोंके बगीचे हैं तथा समस्त आपत्तियोंका अन्त करनेवाले हैं, जो तीनों लोकोंमें परम सुन्दर हैं, वे श्रीमान् राम हमारे प्रभु हैं ॥ १६ ॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।
पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥१७॥
फलमूलाशिनौ दान्तौ तापसौ ब्रह्मचारिणौ ।
पुत्रौ दशरथस्यैतौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥१८॥
शरण्यौ सर्वसत्त्वानां श्रेष्ठौ सर्वधनुष्मताम् ।
रक्षःकुलनिहन्तारौ त्रायेतां नो रघूत्तमौ ॥१९॥

जो तरुण अवस्थावाले, रूपवान्, सुकुमार, महाबली, कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले, चीरवस्त्र और कृष्णमृगचर्मधारी, फल-मूलका आहार करनेवाले, संयमी, तपस्वी, ब्रह्मचारी, सम्पूर्ण जीवोंको शरण देनेवाले, समस्त धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ और राक्षसकुलका नाश करनेवाले हैं, वे रघुश्रेष्ठ दशरथकुमार राम और लक्ष्मण—दोनों भाई हमारी रक्षा करें ॥ १७–१९ ॥

आत्तसज्यधनुषाविषुस्पृशावक्षयाशुगनिषङ्गसङ्गिनौ ।
रक्षणाय मम रामलक्ष्मणावग्रतः पथि सदैव गच्छताम् ॥

जिन्होंने डोरी लगा हुआ धनुष ले रक्खा है, जो बाणपर हाथ फिरा रहे हैं तथा अक्षय बाणोंसे युक्त तूणीर लिये हुए हैं, वे राम और लक्ष्मण मेरी रक्षा करनेके लिये मार्गमें सदा ही मेरे आगे चलें ॥ २० ॥

संनद्धः कवची खड्गी चापबाणधरो युवा ।
गच्छन्मनोरथान्नश्च रामः पातु सलक्ष्मणः ॥२१॥

सर्वदा उद्यत, कवचधारी, हाथमें खड्ग लिये, धनुष-बाण धारण किये तथा युवा-अवस्थावाले भगवान् राम लक्ष्मणजीसहित आगे-आगे चलकर हमारी तथा हमारे मनोरथोंकी रक्षा करें ॥ २१ ॥

रामो दाशरथिः शूरो लक्ष्मणानुचरो बली ।
काकुत्स्थः पुरुषः पूर्णः कौसल्येयो रघूत्तमः ॥२२॥

वेदान्तवेद्यो यज्ञेशः पुराणपुरुषोत्तमः ।
जानकीवल्लभः श्रीमानप्रमेयपराक्रमः ॥२३॥
इत्येतानि जपन्नित्यं मद्भक्तः श्रद्धयान्वितः ।
अश्वमेधाधिकं पुण्यं सम्प्राप्नोति न संशयः ॥२४॥

(भगवान्का कथन है कि) राम, दाशरथि, शूर, लक्ष्मणानुचर, बली, काकुत्स्थ, परम पुरुष, पूर्ण, कौसल्येय, रघूत्तम, वेदान्तवेद्य, यज्ञेश, पुराणपुरुषोत्तम, जानकीवल्लभ, श्रीमान् और अप्रमेयपराक्रम—इन नामोंका नित्यप्रति श्रद्धापूर्वक जप करनेसे मेरा भक्त अश्वमेध यज्ञसे भी अधिक फल प्राप्त करता है—इसमें कोई संदेह नहीं है ॥२२–२४॥

रामं दूर्वादलश्यामं पद्माक्षं पीतवाससम् ।
स्तुवन्ति नामभिर्दिव्यैर्न ते संसारिणो नराः ॥२५॥

जो लोग दूर्वादलके समान श्यामवर्ण, कमलनयन, पीताम्बरधारी भगवान् रामका इन दिव्य नामोंसे स्तवन करते हैं, वे संसारचक्रमें नहीं पड़ते ॥ २५ ॥

रामं लक्ष्मणपूर्वजं रघुवरं सीतापतिं सुन्दरं
काकुत्स्थं करुणार्णवं गुणनिधिं विप्रप्रियं धार्मिकम् ।
राजेन्द्रं सत्यसंधं दशरथतनयं श्यामलं शान्तमूर्त्तिं
वन्दे लोकाभिरामं रघुकुलतिलकं राघवं रावणारिम् २६

लक्ष्मणजीके पूर्वज, रघुकुलमें श्रेष्ठ, सीताजीके स्वामी, अतिसुन्दर, ककुत्स्थकुलनन्दन, करुणासागर, गुणनिधान, ब्राह्मणभक्त, परम धार्मिक, राजराजेश्वर, सत्यप्रतिज्ञ, दशरथपुत्र, श्याम और शान्तमूर्ति, सम्पूर्ण लोकोंमें सुन्दर, रघुकुलतिलक, राघव और रावणारि भगवान् रामकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ २६ ॥

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥२७॥

राम, रामभद्र, रामचन्द्र, विधातृस्वरूप, रघुनाथ, प्रभु, सीतापतिको नमस्कार है ॥ २७ ॥

श्रीराम राम रघुनन्दन राम राम
श्रीराम राम भरताग्रज राम राम ।
श्रीराम राम रणकर्कश राम राम
श्रीराम राम शरणं भव राम राम ॥२८॥

हे रघुनन्दन श्रीराम ! हे भरताग्रज भगवान् राम ! हे रणकर्कश प्रभु राम ! आप मेरे आश्रय होइये ॥ २८ ॥

श्रीरामचन्द्रचरणौ मनसा स्मरामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ वचसा गृणामि ।
श्रीरामचन्द्रचरणौ शिरसा नमामि
श्रीरामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥२९॥

मैं श्रीरामचन्द्रके चरणोंका मनसे स्मरण करता हूँ, श्रीरामचन्द्रके चरणोंका वाणीसे कीर्तन करता हूँ, श्रीरामचन्द्रके चरणोंको सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ तथा श्रीरामचन्द्रके चरणोंकी शरण लेता हूँ ॥ २९ ॥

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः ।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालु-
र्नान्यं जाने नैव जाने न जाने ॥ ३०॥

राम मेरी माता हैं, राम मेरे पिता हैं, राम स्वामी हैं और राम ही मेरे सखा हैं । दयामय रामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं, उनके सिवा और किसीको मैं नहीं जानता—बिल्कुल नहीं जानता ॥ ३० ॥

दक्षिणे लक्ष्मणो यस्य वामे च जनकात्मजा ।
पुरतो मारुतिर्यस्य तं वन्दे रघुनन्दनम् ॥३१॥

जिनकी दायीं ओर लक्ष्मणजी, बायीं ओर जानकीजी और सामने हनुमान्जी विराजमान हैं, उन रघुनाथजीकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ३१ ॥

लोकाभिरामं रणरङ्गधीरं
राजीवनेत्रं रघुवंशनाथम् ।
कारुण्यरूपं करुणाकरं तं
श्रीरामचन्द्रं शरणं प्रपद्ये ॥३२॥

जो सम्पूर्ण लोकोंमें सुन्दर, रणक्रीडामें धीर, कमलनयन, रघुवंशनायक, करुणामूर्ति और करुणाकी खान हैं, उन श्रीरामचन्द्रजीकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३२ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये ॥३३॥

जिनकी मनके समान गति और वायुके समान वेग है, जो परम जितेन्द्रिय और बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, उन पवननन्दन वानराग्रगण्य श्रीरामदूतकी मैं शरण लेता हूँ ॥ ३३ ॥

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥३४॥

कवितामयी डालीपर बैठकर मधुर अक्षरोंवाले 'राम-राम' इस मधुर नामको कूक लगाते हुए वाल्मीकिरूप कोकिलकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ३४ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥३५॥

आपत्तियोंको हरनेवाले तथा सब प्रकारकी सम्पत्ति प्रदान करनेवाले लोकाभिराम भगवान् रामको मैं बारंबार नमस्कार करता हूँ ॥ ३५ ॥

भर्जनं भवबीजानामर्जनं सुखसम्पदाम् ।
तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम् ॥३६॥

'राम-राम' इस प्रकार घोष करना सम्पूर्ण संसारबीजोंको भून डालनेवाला, समस्त सुख-सम्पत्तिकी प्राप्ति करानेवाला तथा यमदूतोंको भयभीत करनेवाला है ॥ ३६ ॥

रामो राजमणिः सदा विजयते रामं रमेशं भजे
रामेणाभिहता निशाचरचमू रामाय तस्मै नमः ।
रामान्नास्ति परायणं परतरं रामस्य दासोऽस्म्यहं
रामे चित्तलयः सदा भवतु मे भो राम मामुद्धर ॥३७॥

राजाओंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी सदा विजयी होते हैं। मैं लक्ष्मीपति भगवान् रामका भजन करता हूँ। जिन रामचन्द्रजीने सम्पूर्ण राक्षससेनाका ध्वंस कर दिया था, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। रामसे बड़ा और कोई आश्रय नहीं है। मैं उन रामचन्द्रजीका दास हूँ। मेरा चित्त सदा राममें ही लीन रहे; हे राम! आप मेरा उद्धार कीजिये ॥ ३७ ॥

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे ।
सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥३८॥

(श्रीमहादेवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—) हे सुमुखि! रामनाम विष्णुसहस्रनामके तुल्य है। मैं सर्वदा 'राम, राम, राम' इस प्रकार मनोरम राम-नाममें ही रमण करता हूँ ॥ ३८ ॥

इति श्रीबुधकौशिकमुनिविरचितं
श्रीरामरक्षास्तोत्रं सम्पूर्णम् ।

श्रीरामके प्रति

सूर्य-चन्द्रके बहु रूपोंमें
स्वयं प्रकाशित शोभाधाम!
ओ मानसके अन्तरालमें
बसनेवाले! तुम्हें प्रणाम।
जीवन-नौकाके कैवर्त्तक,
दिव्यरूप, लोचन अभिराम;
कविकी कविता, प्रकृति-नटीके
नाट्यकार, ! हे पूरण काम ॥

भक्तोंके भगवान, मान,
अभिमान, काल, सीताके राम!
दीनों-दुखियोंके उद्धारक,
परम विलक्षण, सुखके धाम!
हे अनन्त, अविनाशी, अक्षय!
अद्भुत सभी तुम्हारे काम;
दो सुबुद्धि, वह अष्टयाम
रसना ले राम! तुम्हारा नाम ॥

—गौरीशंकर गुप्त

क्षमा-प्रार्थना

सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः ।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥
सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम् ।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥
आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥
मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥
(वाल्मीकि० अयोध्या० सर्ग १२, ३३)

'वीर श्रीरामचन्द्रने सत्यके द्वारा समस्त लोकोंपर, दानके द्वारा द्विजोंपर, सेवाके द्वारा माता-पिता-आचार्यादि गुरुजनोंपर और धनुष-बाणके द्वारा युद्धमें शत्रुभाव रखनेवालोंपर विजय प्राप्त की है। सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-सेवा—ये सद्गुण भी श्रीराममें अटलरूपसे रहते हैं। क्रूरताका अभाव, दया, शास्त्रज्ञान, शील, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह—ये छः गुण पुरुषोत्तम श्रीरामको सदा सुशोभित रखते हैं। वस्तुतः धर्मके सारतत्त्व-स्वरूप महान् तेजस्वी श्रीराम सम्पूर्ण मनुष्योंके मूल हैं तथा जगत्के दूसरे प्राणी पत्र, पुष्प, फल और शाखास्वरूप हैं।'

ऐसे अनन्त-कल्याणगुण-समुद्र भगवान् श्रीरामके वचनामृतका कुछ संग्रह भगवान् श्रीरामकी कृपासे ही इस अङ्कमें हो सका है। 'रामराज्य' तथा 'मर्यादापुरुषोत्तम' भगवान् श्रीरामकी चर्चा बहुत होती है, परंतु श्रीरामके गुण, आचरण और वचनोंका अनुसरण न होकर अनुसरण होता है—रामविरोधी रावणके गुण, आचरण एवं वचनोंका ही। इसीसे आज जगत्में प्रायः सर्वत्र सभीके जीवनपर 'रावण' छाया है। इसीसे 'रामराज्य'के नामपर सर्वत्र रावण-राज्यका प्रसार हो रहा है, इसीसे सबके मूल भगवान्को भूलकर बुद्धि तथा ज्ञानका अभिमान करनेवाले रावणमति मानव अनवरत केवल भोग-लिप्साके प्रवाहमें बहे चले जा रहे हैं और इसीसे आज प्रायः सर्वत्र सर्वतोमुखी पतनको ही उत्थान मानकर प्रायः सभी सुखके भ्रमसे अग्निकी लपटमें जल मरनेके लिये उसी ओर उड़कर जानेवाले पतंगोंकी भाँति विनाश, संताप और नरककी दारुण अग्निमें जलकर भस्म होनेके लिये दौड़े जा रहे हैं। ऐसी अवस्थामें इस महापतनसे बचनेके लिये भगवान् श्रीरामके चरित्र-गुणके साथ ही श्रीरामकी कल्याण-सुधामयी दिव्य ज्ञानमयी वाणीका पठन, स्मरण, मनन लोक-परलोक—भौतिक-आध्यात्मिक दोनों ही दिशाओंके लिये एकमात्र परम साधन है। इसीसे हम मार्गभ्रष्टोंको यथार्थ मार्गदर्शन मिल सकता है, और मिल सकता है मार्गके लिये पाथेय, प्रकाश, सहायक सङ्ग, पथप्रदर्शक ज्ञान एवं अनन्य भगवच्छरणागतिका परम अमोघ बल। इसीलिये 'कल्याण'के पाठकोंके अनुरोधसे यह प्रयास किया गया है। इस प्रयासमें शक्ति और प्रेरणा है—'श्रीरामकृपाकी' और सामग्री है 'श्रीरामके अनन्त परम पवित्र वचन'। हमारा तो सौभाग्य है जो श्रीरामकृपासे हमें यह सुअवसर प्राप्त हुआ है।

इसमें श्रीवाल्मीकिरामायण, अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण, स्कन्दपुराण, पद्मपुराण, उपनिषद्, श्रीरामचरितमानस आदि अनेक ग्रन्थोंके साथ ही संस्कृतके अन्य विभिन्न ग्रन्थों, हिंदीके ग्रन्थों एवं भारतकी प्रधान-प्रधान विभिन्न भाषाओंके ग्रन्थोंसे भी श्रीरामवचनोंका संग्रह किया गया है। स्थान-संकोचादि कारणोंसे सब ग्रन्थोंके सभी वचन नहीं लिये गये हैं। कई रामगीताएँ तथा कई रामसम्बन्धी उपनिषद् तथा कुछ आवश्यक स्तोत्र-मन्त्रादि भी दिये गये हैं। रामगीताओंमें एक रामगीता स्कन्दपुराणोक्त लिखी गयी है, परंतु वर्तमानमें उपलब्ध स्कन्दपुराणमें वह नहीं मिली। चीज अच्छी लगी, इसलिये दे दी गयी है।

श्रीरामवचनामृतादिके संकलन और अनुवादका कार्य भी हमारे कुछ सम्मान्य सहयोगी पुरुषोंने ही किया है। उनमें पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय शास्त्री 'राम' और ठाकुर श्रीसुदर्शनसिंहजी प्रधान हैं। पं० श्रीजानकीनाथजीने भी संग्रहमें सहायता की है। हम उनके कृतज्ञ हैं। उनके अतिरिक्त पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी तथा हमारे अन्यान्य सभी साथियोंने संग्रह, लेखन, प्रूफ-संशोधन आदि कार्योंमें पर्याप्त सहयोग दिया है। उनकी प्रशंसा आत्मप्रशंसा ही है। तमिळ, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ भाषाओंके वचन संग्रह करनेवाले विभिन्न आदरणीय दक्षिणी विद्वान् हैं; परंतु उनकी सारी व्यवस्था बड़ी लगनसे की है केन्द्रिय

हिंदी संस्थान, आगराके प्राध्यापक हमारे प्रिय डॉ०श्रीन०वी० राजगोपालन एम० ए०, पी-एच० डी०, व्याकरणशिरोमणि महोदयने। बँगलाका संग्रह करनेवाले हैं डॉ० श्रीरमानाथजी त्रिपाठी एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्० और पण्डित श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी। असमीयाका संग्रह भी उपर्युक्त श्रीत्रिपाठीजीने ही किया है। गुजराती-मराठीका श्रीरामलालजीने किया है तथा उत्कल भाषाके वचनोंका संग्रह करनेवाले हैं उत्कलीय विद्वान् पं० श्रीसदाशिवरथजी शर्मा प्रत्नतत्त्वालंकार एवं सिंधीका संग्रह दादा श्रीप्रेमानन्दजीके द्वारा प्रेषित है। हम इन सभीके प्रति हृदयसे कृतज्ञ हैं।

इस प्रकार इस अङ्कका प्रायः सारा काम विभिन्न महानुभावोंके द्वारा ही सम्पन्न हुआ है। हमारे द्वारा तो केवल इसके सम्पादनका कुछ काम हो सका है। सम्पादनकार्यमें हमलोगोंसे भ्रम-प्रमादवश सदा ही भूलें होती हैं। इस बार कुछ दूसरे विशेष कार्य आ गये, इसलिये और भी अधिक भूलें हुई होंगी। प्रूफ देखनेमें भी भूलें रही हैं। इन सबके लिये हम अपने लेखकों, ग्राहकों और पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं।

इसके अतिरिक्त, (१) विभिन्न ग्रन्थोंसे श्रीराम-वचनामृतका संग्रह होनेके कारण एक ही प्रसङ्गके वचन बार-बार आये हैं। (२) बहुत-से उपयोगी वचन छूट गये हैं। (३) अनुवाद तथा मुद्रणमें भूलें रही हैं। (४) सम्मान्य लेखकोंके कृपापूर्वक भेजे हुए लेख नहीं छप सके हैं और (५) सम्मान्य पाठकोंकी सम्मतिके प्रति आदर रहनेपर भी उनके निर्देश किये हुए सभी विषय इस अङ्कमें नहीं आ सके हैं। इन सारी त्रुटियोंके लिये हम सभीसे क्षमायाचना करते हैं। हमारी परिस्थितिपर विचार करके कृपया क्षमा करें।

अवश्य ही हमें इस बातसे बड़ा संतोष है और इसे हम अपना परम सौभाग्य मानते हैं कि भगवान्‌की कृपासे इस अङ्कका सम्पादन करनेमें हमें भगवान् श्रीरामके पवित्र चरित्रोंका पठन, स्मरण, अध्ययन करनेका तथा उनके वचनामृत-समुद्रमें समय-समयपर आकण्ठ अवगाहन करनेका सुअवसर मिला।

विनीत,

हनुमानप्रसाद पोद्दार }
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

गोरक्षा-महाभियान-समितिमें मैं क्यों सम्मिलित हुआ ?

(दूसरा पत्र)

श्रीहरिः		गोरखपुर, २५ । १२ । ६६

सम्मान्य महोदय ! सादर प्रणाम !

आपका अत्यन्त सौजन्य तथा स्नेहसे पूर्ण दूसरा लंबा पत्र मिला। आपकी अयाचित स्नेहभावनाके सामने मैं नतमस्तक हूँ। आपके कुछ प्रश्नोंका संक्षिप्त उत्तर नीचे लिख रहा हूँ।

साधनाकी बात लिखने-कहनेकी नहीं हुआ करती। यह तो अपने व्यक्तिगत जीवनका परम गोपनीय रहस्य है। फिर आपने तो बड़े विस्तारके साथ एक-एक बातका स्पष्ट उत्तर चाहा है। आप क्षमा करेंगे, मैं सबका उत्तर लिखनेमें असमर्थ हूँ। पर आपने बहुत स्नेहपूर्ण आग्रह किया है—इसलिये मैं क्या चाहता था, इसे संकेतसे लिख रहा हूँ। वास्तविक स्थिति कैसी-क्या है—इस सम्बन्धमें कुछ भी कहना नहीं बनता। यह अनुभवकी वस्तु है, वाणीका विषय नहीं। लिखने-कहनेमें न्यूनाधिकता आ जाती है और अनुभवकी ऊँची-नीची स्थितिका वर्णन करनेके लिये शब्दोंका अभाव होनेसे लिखना सम्भव भी नहीं है। और इष्ट तो है ही नहीं—

हुआ समर्पण प्रभुचरणोंमें, जो कुछ था सब 'मैं' 'मेरा'।
अग-जगसे उठ गया सदाको 'चिर संचित सारा डेरा'॥
मेरी सारी 'ममता'का अब रहा 'एक प्रभुसे सम्बन्ध'।
'प्रीति', 'प्रतीति', 'सगाई'—सब ही मिटी; खुल गये सारे 'बन्ध'॥
'प्रेम' उन्हींमें, 'भाव' उन्हींका, उनहींमें 'सारा संसार'।
उनके सिवा शेष कोई भी बचा न, जिससे हो 'व्यवहार'॥

इस स्थितिमें चराचर जगत्‌का सभी कुछ मेरे लिये भगवान्‌का स्वरूप है और जगत्‌में जो कुछ हो रहा है—सब उन्हीं लीलामय भगवान्‌की लीला है। 'लीला' और 'लीलामय' अभिन्न हैं। अतएव जो कुछ भी किया जाता है, वह किया नहीं जाता, होता है, और होता है उन्हींका

'राज्य' (State) शब्दकी परिभाषा

१२. यदि प्रसंगमें दूसरा अर्थ अपेक्षित न हो तो इस भागमें 'राज्य' के अन्तर्गत भारतकी सरकार और संसद्, तथा राज्योंमेंसे प्रत्येककी सरकार और विधान-मण्डल तथा भारत राज्यक्षेत्र (Territory of India) के भीतर अथवा भारत-सरकारके नियन्त्रणके अधीन सब स्थानीय और अन्य प्राधिकारी भी हैं।

इससे यह सिद्ध है कि 'राज्य' (State) शब्दका अर्थ केवल प्रान्त ही नहीं है, केन्द्र-सरकार भी है।

संसद्के विश्रान्तिकालमें राष्ट्रपतिकी अध्यादेश-प्रख्यापनकी शक्ति

१२३. उस समयको छोड़कर जब कि संसद्के दोनों सदन सत्रमें हैं, यदि किसी समय राष्ट्रपतिका समाधान हो जाय कि तुरंत कार्यवाही करनेके लिये उसे बाधित करनेवाली परिस्थितियाँ वर्तमान हैं तो वह ऐसे अध्यादेशोंका प्रख्यापन (जारी) कर सकेगा जो उसे परिस्थितियोंसे अपेक्षित प्रतीत हों।

राष्ट्रीय हितमें राज्यसूचीके विषयके बारेमें कानून बनानेकी संसद्की शक्ति

२४९. इस अध्यायके पूर्वगामी उपबन्धोंमें किसी बातके होते हुए भी, यदि राज्य-परिषद्ने उपस्थित और मत देनेवाले सदस्योंकी दो तिहाईसे अन्यून संख्याद्वारा समर्थित संकल्पद्वारा घोषित किया है कि राष्ट्रीय हितमें यह आवश्यक या इष्टकर है कि संसद्-राज्यसूची (State List) में प्रगणित और उस संकल्पमें उल्लिखित किसी विषयके बारेमें कानून बनाये तो जबतक वह संकल्प प्रवृत्त है, संसद्के लिये उस विषयके बारेमें भारतके सम्पूर्ण राज्यक्षेत्र अथवा उसके किसी भागके लिये (For the whole or any part of the territory of India) कानून बनाना विधिसंगत होगा।

यदि आपातकी उद्घोषणा प्रवर्तनमें हो तो राज्यसूचीमेंके विषयोंके बारेमें कानून बनानेका संसद्की शक्ति

२५०. इस अध्यायमें किसी बातके होते हुए भी संसद्को, जबतक आपातकी उद्घोषणा प्रवर्तनमें है (while a Proclamation of Emergency is in operation) भारतके सम्पूर्ण राज्यक्षेत्रमें अथवा उसके किसी भागके लिये राज्यसूचीमें प्रगणित विषयोंमेंसे किसीके बारेमें कानून बनानेकी शक्ति होगी।

आपातकी उद्घोषणा अभी प्रवर्तनमें ही है। अभी-अभी गत १० दिसम्बरको सम्मान्य श्रीचौहान महोदय स्वयं इसकी घोषणा कर चुके हैं।

इस समय संसद्का सत्र चालू नहीं है। अतः इस परिस्थितिमें संसद्के सारे अधिकार राष्ट्रपतिको अनुच्छेद १२३ के अनुसार प्राप्त है।

वस्तुतः हमारे संविधान-निर्माताओंने समस्त देशके लिये इस एक राज्यनीतिके नैदेशिक सिद्धान्त (Directive Principles of State Policy) का निर्माण किया था। इस नैदेशिक सिद्धान्तका पालन करते हुए ही उपर्युक्त अनुच्छेद १२३ और २५० के संविधान-अधिकारके अनुसार राष्ट्रपति तुरंत सम्पूर्ण भारतके लिये गोहत्या-बंदीका अध्यादेश प्रख्यापन कर सकते हैं।

अनुच्छेद २४९ के अनुसार राष्ट्रहितके लिये भारत-सरकारको समस्त भारत या किसी भी भागके लिये कानून बनानेका अधिकार है।

'राष्ट्रहित' इसमें प्रत्यक्ष है। देशकी बहुसंख्यक हिंदू-जनताकी इच्छाओंका आदर करते हुए सरकारके लिये ऐसा करना आवश्यक और अनिवार्य भी है जिससे हिंदूसमाजके परम सम्मान्य धार्मिक नेताओंके आमरण अनशनके फल-स्वरूप देशभरमें व्याप्त तीव्र मार्मिक वेदना मिटायी जा सके।

उपर्युक्त अनुच्छेदोंको देखनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि 'भारत-सरकार राज्य-सम्बन्धी विषयपर कानून नहीं बना सकती या संविधानमें संशोधन नहीं कर सकती'—कहना उसका केवल बहानामात्र है। अभी हालमें ही गत ३ दिसम्बरको भारत-सरकारने संविधानके बीसवें संशोधनका विधेयक स्वीकृत कराया है जिससे केवल एक राज्य (State) के थोड़ेसे न्यायाधीशोंकी नियुक्तिको वैध सिद्ध करनेके लिये बात-की-बातमें संविधानतकको बदल दिया गया। राज्यसूचीके एक विषयको संघसूचीमें, या समवर्ती राज्य और केन्द्र दोनोंकी सूचीमें रखकर संविधानमें संशोधन क्यों नहीं किया जा सकता। इसका कोई भी प्रत्यक्ष कारण नहीं है।

यह दूसरी बात है कि 'गोहत्या-निवारण' को 'राष्ट्रहित' ही न समझा जाय, या देशके पूजनीय महात्माओंकी मुमूर्षु स्थितिको कोई महत्त्व ही न दिया जाय।

आश्वासनमात्र पर्याप्त नहीं

रही बात प्रधान मन्त्री या गृहमन्त्रीद्वारा आश्वासन प्राप्त करके आन्दोलन बंद कर देनेकी, जिसकी चर्चा आज-कल बहुत सूत्रोंसे चल रही है। यह बात अत्यन्त विचारणीय है। प्रथम तो जब राष्ट्रपति पूर्ण प्रतिबन्धकी घोषणा कर सकते हैं तब केवल आश्वासनकी बात ही क्यों उठायी जाय? फिर यह भी सोचनेकी बात है कि इस आश्वासनका मूल्य क्या होगा? दो मास बाद नया चुनाव होगा और यह कोई नहीं कह सकता कि नये चुनावके बाद बननेवाली सरकारमें वर्तमान मन्त्रीगण ही ज्यों-के-त्यों अधिकारारूढ़ हो जायँगे। ऐसी अवस्थामें आजके अधिकारियोंके दिये हुए आश्वासनोंको माननेके लिये वे नये मन्त्री क्यों बाध्य होंगे? वे कह सकते हैं कि 'उनका यह विचार हो सकता है, पर हमारा दूसरा हो सकता है।' इस स्थितिमें केवल आश्वासनके आधारपर आन्दोलन बंद कर देना कदापि उचित नहीं है। इससे गोमाताके प्राणकी रक्षाके लिये देशमें बढ़ती हुई त्यागकी पवित्र भावनापर बहुत बड़ी ठेस लगेगी और यह जनताके साथ एक प्रकारका धोखा होगा। आन्दोलन बंद करानेका प्रयत्न करनेवाले सज्जन नम्रताके साथ बलपूर्वक सरकारको क्यों नहीं समझाते कि वह देशके बहुसंख्यक हिंदुओंकी मानस-पीड़ा समझे और तुरंत सर्वथा गोवध-निषेधकी घोषणा कर दे।

अब तो गायके साथ बैलको शामिल करने तथा संविधानमें संशोधन करनेका आश्वासन देनेसे भी इन्कार कर दिया गया है।

भगवत्प्रीत्यर्थ प्राणत्यागका महत्त्व

अब अन्तमें आन्दोलन करनेवाले महानुभावोंसे मेरा यह नम्र निवेदन है कि आन्दोलन न आरम्भ किया गया होता तो कोई बात नहीं थी, पर अब आन्दोलन प्रारम्भ हो गया है। हजारों नर-नारी जेल जा चुके हैं और जा रहे हैं। बहुत-से लोग गोलियोंके शिकार हो चुके हैं। हमारे पूज्य आचार्य आमरण अनशन कर रहे हैं। अवश्य ही उनका व्रत और निश्चय बड़ा ही पवित्र और महान् है। शरीर तो एक दिन जाता ही है और जाता भी तभी है जब प्रारब्धके अनुसार श्वास पूरे हो जाते हैं, पर मृत्युमें इस प्रकारका पवित्र निमित्त प्राप्त होना बड़े ही सौभाग्यकी बात है। लोग कुत्ते-बिल्लीकी मौत मर जाते हैं; लेकिन धर्मरक्षाके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ गोमाताकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे जो मरता है, वह मरता नहीं। भौतिकरूपसे उसका नाम अमर हो जाता है और परमात्मामें बुद्धि लगी रहे तो उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' दोनोंका भागी होता है वह त्यागी महापुरुष।

संत श्रीविनोबाजीका मत

अभी उस दिन प्रसिद्ध संत श्रीविनोबाजी भावेने, जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी तथा संत श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी गोवंशकी पूरी रक्षाके पवित्र उद्देश्यसे जो महाव्रत कर रहे हैं उससे बहुत चिन्ता प्रकट की है और अपनी पूर्ण सहानुभूति लिखित रूपमें व्यक्त की है और कहा है कि 'मृत्यु तो जब होनी होती है, तभी होती है। खाता-पीता आदमी भी मर जाता है। ये पवित्र उद्देश्यसे मरने जा रहे हैं, अतएव मुझे इनके मरनेकी चिन्ता नहीं है। मुझे दुःख तो सरकारके इस रवैयेपर है। मेरा प्रार्थनामें विश्वास है। मैं प्रार्थना करता हूँ, देखें, भगवान् उन लोगों (सरकार) को कैसी बुद्धि देते हैं।'

शान्तिपूर्ण आन्दोलन चालू रहना आवश्यक

ऐसी परिस्थितिमें आन्दोलन बंद करनेका प्रश्न उठता ही नहीं। हाँ, हम प्रत्येक स्थितिमें, सरकारके द्वारा दमनके प्रत्येक अवसरपर भी अपनी ओरसे पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण अहिंसाके व्रतपर अडिग रहें—इसका हमें निरन्तर पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिये; क्योंकि हम सदासे ही सिद्धान्ततः पूर्ण अहिंसा एवं पूर्ण शान्तिके व्रती रहे हैं और रहेंगे। पर सब लोग न तो आन्दोलनमें भाग ले सकते हैं, न आवश्यक ही है। सबको अपनी-अपनी परिस्थितिके अनुसार प्रयत्न करना चाहिये। समझानेवाले प्रभावशाली लोग हमारे वरिष्ठ शासकोंको समझायें, प्रेमीलोग प्रेमसे अनुनय-विनय करें, दैन्यभाववाले दया उपजाते हुए भीख माँगें, अधिकारी शान्तिके साथ बलपूर्वक अपने अधिकारकी माँग करें, बहुमतका आदर करनेके लिये सरकारको बाध्य करें। समाचारपत्र निर्भीक होकर न्याय और सत्यका पक्ष लेते हुए सरकारको प्रबुद्ध करें। जगह-जगह सभाएँ हों, सत्याग्रह चलता रहे। सबका भला चाहते हुए अपनी माँगका समर्थन जनता और सरकार—सभीसे करायें।